ओ३म्

बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यम्

भाष्यकार

श्री पण्डित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ

प्रकाशक

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर, रोहतक

॥ ओ३म् ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यम्

भाष्यकार

श्री पण्डित शिवशङ्कर शर्मा
काव्यतीर्थ

प्रकाशक :

हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकुल झज्जर रोहतक
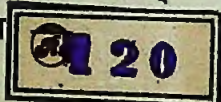
ओ३म्

भूमिका
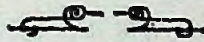
ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषदें अति प्राचीन और सुप्रसिद्ध हैं। मुख्यतया इनही दशों की संगति लगाने के लिये बादारायण व्यास ने वेदान्त शास्त्र रचा है। श्री शङ्कराचार्य श्री रामानुजाचार्य प्रभृतियों ने इनकी इतनी प्रतिष्ठा की है कि इन दशों को साक्षात् वेद नाम से अपने अपने ग्रन्थों में पुकारते हैं और श्रुति के प्रमाण की जहां-जहां आवश्यकता होती है वहां-वहां इनके वाक्य दिखलाते हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी भी इन ही दशों को प्रमाणकोटि में मान गये हैं। इन दशों में भी बृहदारण्यकोपनिषद् अन्तिम है। अन्यान्य उपनिषदों की अपेक्षा इसकी आकृति भी बड़ी है, अतः इसका नाम बृहत् और अरण्य अर्थात् वन में नियमपूर्वक इसका अध्ययन अध्यापन होता था अतः इसको आरण्यक कहते आए हैं। यजुर्वेद की यह उपनिषद् है। यजुर्वेद की अनेक शाखाएं हैं। उनमें से माध्यन्दिन और काण्व दो शाखाओं में यह उपनिषद् पाई जाती है। इन दोनों में किंचिन्मात्र पाठभेद है। श्री शङ्कराचार्य ने काण्व शाखा के पाठ के अनुसार ही भाष्य किया है। तब से वही उपनिषद् सर्वत्र प्रचलित हुई। अभी तक जितनी उपनिषदें जहां कहीं छपी हैं वहां वहां काण्व शाखा के अनुसार ही छपी हैं। अतः मैंने भी इसी का भाष्य किया है। यजुर्वेद का जो विख्यात शतपथ ब्राह्मण है उसके १४ वें और अन्यान्य काण्डों में यह विद्यमान है। इसके छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में कई एक ब्राह्मण और ब्राह्मण में कई एक खण्ड होते हैं। इसके बनाने हारे कौन हैं यह अभी तक निर्णीत नहीं हुआ है, परन्तु याज्ञवल्क्य नाम के ऋषि इसके रचयिता हैं ऐसा प्रतीत होता है। इसके समय का भी निर्णय करना एक महा दुष्कर कार्य है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि वेदान्तशास्त्र और वैयाकरण-पाणिनि आदियों से बहुत पूर्व समय की यह उपनिषद् है।

सामान्य दृष्टि—उपनिषदों में से एक इसी में कर्म और ज्ञान दोनों काण्डों का वर्णन पाया जाता है। इनमें बहुतसी ऐसी बातें हैं जिनकी गन्ध भी अन्यान्य उपनिषदों में नहीं है इससे उस समय के सामाजिक, धार्म्मिक और राजकीय अवस्था के बहुतसे आचार विचार जाने जाते हैं। विचार की स्वतन्त्रता का प्रवाह बह रहा है। ब्रह्मज्ञान तो इसके मुख्य विषय हैं ही किन्तु आत्मोन्नति के साधन और आत्मा के गुण इसमें जितने कथित हैं प्रायः अन्यान्य उपनिषदों में उतने नहीं। मैं यहां दो चार उदाहरण अति संक्षेप से दिखलाता हूं क्योंकि इसकी भूमिका अति लघु लिखूंगा। श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि—हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि ॥ २० ॥ हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता ॥ २१ ॥ हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितम् ॥ २२ ॥ हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २३ ॥ कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठिता इति हृदये इति ॥ २४ ॥ बृ० उ० ३।९। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है, हृदय में ही श्रद्धा, रेतः, सत्य और वाणी आदि प्रतिष्ठित हैं। यदि विज्ञान शास्त्रानुसार विचारा जाय तो निःसन्देह यही सिद्ध होता है कि सारी क्रियाएं हृदय में प्रतिष्ठित हैं। इन्द्रिय केवल लघु साधन हैं।

दूसरे स्थान में कहते हैं कि "एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्" एतद् ब्रह्म एतत्सर्वम् ॥१॥ बृ० उ० । ५ । ३ । हृदय ही प्रजापति है अर्थात् सम्पूर्ण लौकिक वैदिक क्रियाओं का सृष्टिकर्ता यही हृदय है । यही ब्रह्म है । अर्थात् इस मानव शरीर में इससे बढ़कर कोई पदार्थ नहीं यही सब है । पुनः कहते हैं—"सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनम्" ॥ २ । ४ । ११ ॥ सब विद्याओं का एक मुख्य स्थान यह हृदय है । इतना ही नहीं याज्ञवल्क्य कहते हैं "हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति । हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म" ॥ ४ । १ । ७ ॥ हे सम्राट् जनक ! इसी हृदय में सर्व भूत प्रतिष्ठित हैं हे सम्राट् ! यही परम ब्रह्म है अर्थात् महान् है । बुद्धिमान् जन ही इस विषय को समझ सकते हैं कि कैसा यह अद्भुत सिद्धान्त मनुष्यों के कल्याणार्थ ऋषि ने प्रकाशित किया है । अतएव ऋषि कहते हैं—"स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग्धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्योपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानान व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निश्वसितानि" । २ । ४ । १० ॥ गीली समिधाओं से यदि अग्नि प्रज्वलित किया जाय तो उसमें से जैसे पृथक् पृथक् बहुत से धूम निकलते हैं वैसे ही इसी महान् आत्मा का यह निश्वास है जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान है । इसी महान् आत्मा के ये निश्वास हैं । इससे बढ़कर कौनसा सत्य सिद्धान्त हो सकता है । यदि मानवजाति में सब से बढ़कर कोई त्रुटि है तो वह यह है कि वह अपने आत्मा को नहीं पहचानता है अपने आत्मा के गुण इसे मालूम नहीं, इसी प्रत्यक्ष आत्मा से सारी विद्याएं निकली हैं और निकल रही हैं और निकलती जायंगी इस भेद को न जानकर मनुष्य मूढ़ बन रहा है । अतएव जब चाक्रायण उषस्त ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म=महान् कौन है जो आत्मस्वरूप है और जो सर्व के अन्तर में है । याज्ञवल्क्य ने कहा "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः । योऽपानेन अपानिति । यो व्यानेन व्यानिति इत्यादि" ३ । ४ । १ ॥ जो प्राण अपान, व्यान और उदान आदि से जीवनयात्रा कर रहा है वही अपरोक्ष महान् आत्मा है । ऋषि याज्ञवल्क्य ने इस मानव शरीर को बहुत ही पवित्र माना है प्रथम तो यह कहते हैं कि ये नयन, कर्ण, नासिका, जिह्वा आदि ऋषि हैं । २ । ३ । ४ ॥ पुनः कहते हैं कि यह वाणी अग्निदेव है । नासिका वायुदेव है । नेत्र आदित्यदेव है कान दिग्देव है । मन चन्द्रदेव है ॥ १ । ३ । १२-१६ ॥ पुनः कहते हैं इनकी तृप्ति के लिये आहुति डालो यथा ॥ ६ । ३ । २ ॥ में देखो "ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा । प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा । वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा । चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा । श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा । मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहा" ज्येष्ठ श्रेष्ठादि शब्दों के अर्थ में किसी को सन्देह न हो अतः स्वयं उपनिषद् कहती है कि "प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च । वाग्वै वसिष्ठा । चक्षुर्वै प्रतिष्ठा । श्रोत्रं वै सम्पद् । मनो वै आयतनम् ॥ ६ । ११ । ६ ॥ पुनः इन इन्द्रियों को ब्रह्म नाम से अर्थात् अति महान् नाम से पुकारते हैं यथा —वाग्वै ब्रह्मेति ॥ २ ॥ प्राणो वै ब्रह्मेति ॥ ३ ॥ चक्षुर्वै ब्रह्मेति ॥ ४ ॥ श्रोत्रं वै ब्रह्मेति ॥ ५ ॥ मनो वै ब्रह्मेति ॥ ६ ॥

यदि उपनिषद् के इस महान् सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो मुक्तकण्ठ से सर्व विद्वान् एकमत होके कहेंगे कि निःसन्देह मानवेन्द्रिय बहुत ही बड़े हैं जब तक इनकी पवित्रता और इनके परम गुणों को मनुष्य न जानेगा तब तक उन्नति नहीं कर सकता । अब मैं उस समय की कुछ

सामाजिक, धार्मिक और राजकीय दशा दिखलाना चाहता हूं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण उस समय अच्छे प्रकार बन चुके थे ॥ १ । ४ । ११—१५ तक देखो परन्तु अधिकांश गुण कर्म से ही वर्णव्यवस्था मानी जाती थी। क्षत्रिय कुछ वंशज हो चले थे ऐसा प्रतीत होता है। क्षत्रिय से ब्राह्मण विद्याध्ययन करते, परन्तु शुश्रूषा आदि सेवा वचनमात्र से करते साक्षात नहीं क्योंकि जब पंचालदेशाधिपति क्षत्रिय जैवलि प्रवाहण के निट गौतमवंशीय एक ब्राह्मण विद्याध्ययन करने को गया है वहां यह लिखा है कि "वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स्होपायनकीर्त्योवास" ॥ ६ । २ । ७ ॥ पहिले के ब्राह्मण भी वचनमात्र से क्षत्रिय के निकट उपनीत हुए हैं अतः यह गौतम भी शुश्रूषादि की वचनमात्र से कीर्त्तन करते हुए उनसे विद्याध्ययन करने लगे। अजातशत्रु ने कहा है कि यह उलटी बात है कि क्षत्रिय के निकट जाकर ब्राह्मण विद्याध्ययन करे ॥ २ । १ । १५ ॥ पुनः लिखा है कि—"तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये" ॥ १ । ४ । ११ ॥ राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय के नीचे ब्राह्मण बैठता है। उस समय बड़ी बड़ी सभाएं होती थीं और उसमें देश देश के विद्वान् और अन्यान्य मनुष्य निमन्त्रित होते थे। जैसे जनक की सभा में बहुत दूर दूर देश से मनुष्य इकट्ठे हुए थे। अत्यन्त रोचक और परमाभ्युदयसूचक वार्त्ता यह थी कि स्त्रियां भी समानरूप से सभा में आती थीं और केवल प्रश्नोत्तर की ही अधिकारिणी नहीं थीं किन्तु निर्णय करने का भी अधिकार रखती थीं। जैसे सम्राट् की सभा में श्रीमती गार्गी थी। यद्यपि याज्ञवल्क्य की दो भार्य्याएं थीं तथापि सार्वजनीन नियम एक ही स्त्री रखने का था। राज्यप्रबन्ध के अनेक स्थान भिन्न भिन्न नियत थे। जैसे—"तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्यः अन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्ते ॥ ४ । ४ । ३७ ॥ उग्र, प्रत्येनस् सूत और ग्रामणी इन चार प्रकार के हाकिमों के नाम आते हैं—उग्र शब्द से प्रतीत होता है कि फौजी हाकिम। प्रत्येनस्=प्रति एनस्। एनस्=पाप, इस से प्रतीत होता है कि एक एक पाप वा अपराध के लिये निर्णेता एक एक (मजिस्ट्रेट) नियत होता था। जैसे चारों के लिये एक निर्णेता। दुराचारी व्यभिचारी के लिए एक मजिस्ट्रेट। हत्यारे के लिये एक भिन्न मजिस्ट्रेट। सूत का काम रथ, नौका आदिकों के विवाद का शमन करने का था और ग्रामणी शब्द से प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राम में शान्ति स्थापना के लिये एक एक ग्रामनायक रक्खा जाता था। उस समय राजा और आचार्य में परस्पर शिष्य और गुरु का भाव था, जैसे जनक महाराज सम्राट् थे परन्तु श्री याज्ञवल्क्य के आने पर सिंहासन पर से उठकर नमस्ते किया करते थे। "जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य" ॥ ४ । २ । १ ॥ पुनः अपने आचार्य के निकट दासत्व को भी स्वीकार करते थे। यथा सम्राट् जनक कहते हैं कि—"सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति" ॥ ४ । ४ । २३ ॥ वह मैं परमपूज्य आपको सम्पूर्ण विदेह देश देता हूं और दासत्व के लिये मैं अपने को भी समर्पित करता हूं। उस समय स्त्रियों की बहुत ही उच्च दशा थी। स्त्रीजाति यज्ञ के समान परम पवित्र मानी जाती थी। इसका प्रत्येक अङ्ग यज्ञाङ्ग माना जाता था।

ज्ञान और कर्मकाण्ड—जैसे प्रत्येक उपनिषद् ज्ञान की श्रेष्ठता और कर्मकाण्ड की तदपेक्षया अश्रेष्ठता बतलाती हैं। वैसे यह भी ज्ञान की परम श्रेष्ठता का उपदेश देती है। पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में आता है कि—"ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्ति" इत्यादि ॥ ६ । २ । १५ ॥ जो अरण्य में श्रद्धापूर्वक सत्य परमात्मा की उपासना करते हैं वे प्रकाश

में प्राप्त होते हैं और अन्ततो गत्वा ब्रह्म को प्राप्त करते हैं "तेषां न पुनरावृत्तिः" उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् बहुत समय तक मुक्ति सुख का लाभ उठाते हैं और "अथ ये यज्ञेन, दानेन, तपसा लोकान् जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति"। इत्यादि ॥ ६ । २ ॥ १६ ॥ जो यज्ञ से, दान से और तप से लोकों को जीतते हैं वे अन्धकार में जाते हैं और अन्ततो गत्वा कुछ दिन साधारण सुख भोगकर "एवमेवानुपरिवर्त्तन्ते" इसी प्रकार जन्म मरण के प्रवाह में बहते रहते हैं।

विशेष दृष्टि—१ छान्दोग्योपनिषद् की कई एक कथाएं समानरूप से इस में आई हैं। यथा (क)—देवों का उद्गीथ द्वारा विजय पाना—"देवासुरा ह वै तत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्या-स्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति"। छान्दोग्योपनिषद् (छा० उ०) १—२ द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ बृ० आ० उ० १—३ समान है परन्तु बृहदारण्यक में कुछ विशेषरूप से वर्णन है। दोनों को तुलना करके पढ़िये (ख)—पञ्चाग्निविद्या=श्वेतकेतु को पञ्चाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि के निकट जाना और यहां इसका परास्त होना पुनः इसके पिता गौतम को राजा से विद्या ग्रहण करना इत्यादि वर्णन छा० उ० और बृ० उ० दोनों में प्रायः तुल्य है। छा० उ० पञ्चम प्रपाठक के तृतीय खण्ड से लेकर दशम खण्ड तक और बृ० उ० के षष्ठाध्याय के द्वितीय ब्राह्मण को देखिये। छा० उ० में किञ्चित् मात्र विशेष वर्णन है (ग)—छा० उ० पञ्चम प्रपाठक के और बृ० उ० षष्ठाध्याय के आरम्भ में प्राण-संवाद वर्णित है। दोनों उपनिषदों में यह आख्यायिका भी प्रायः तुल्य ही है। (घ)—इसी प्रकार श्रीमन्थकर्म बृ० उ० ॥ ३० । ६ । ३ ॥ में बृहत्रूप से और छा० उ० ॥ ५ । २ में स्वल्परूप से वर्णित है।

२—छा० उ० की रीति के समान बृ० उ० में भी कई एक वर्णन आए हैं। जैसे महाश्रोत्रिय अर्थात् महावैदिक प्राचीनशाल और उद्दालक आदि कई एक ब्राह्मण मिलकर कैकेय देश के राजा अश्वपति के निकट वैश्वानर के अध्ययन के लिये गये हैं और उनसे विद्याध्ययन किया है इसी प्रकार अनूचान अर्थात् वैदिक बालाकि नाम के एक ब्राह्मण ने काशी के राजा अजातशत्रु के निकट परास्त होकर उनसे विद्याध्ययन किया है। इस प्रकार छा० उ० और बृ० उ० के अनेक विषय समान हैं।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीसंवाद उपनिषद् में दो बार प्रायः तुल्य रूप से आया है। द्वितीय और चतुर्थ अध्याय के अन्त में देखिये—इसी प्रकार वंशब्राह्मण भी तीन स्थानों में प्रायः समानरूप से वर्णित है। इसमें सन्देह नहीं कि इस उपनिषद् में पुनरुक्ति अधिक है।

बहुत आदमी कहते हैं कि इस में कुसंस्कार के विषय हैं—जैसे बृ० उ० २ । ३ में लिखा है कि पतञ्चल नाम के किसी पुरुष की कन्या गन्धर्वगृहीता थी इस शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य "गन्धर्वेणामानुषेण सत्त्वेन केनाचिदाविष्टा" करते हैं इस से सिद्ध है कि जैसे आज कल मूर्ख गंवार आदमी भूत खेलता है इसी प्रकार यह कन्या भी किसी अदृश्य गन्धर्व से पकड़ी हुई थी और आज कल के समान खेलती भी होगी यह कुसंस्कार की बात है।

उ०—यहां गन्धर्व शब्द का अर्थ गानविद्या सिखाने वाला अध्यापक करने से कोई दोष नहीं आता। श्री शंकराचार्य का अर्थ सर्वथा अमान्य है। (ख) पुनः कहते हैं कि इसमें विज्ञानशास्त्र की विरुद्ध बातें हैं जैसे बृ० उ० ३—६ के गार्गी याज्ञवल्क्य के संवाद में आता है कि यह पृथिवी जल

के आधार के ऊपर है वह जल वायु के, वायु अन्तरिक्ष के, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक के, गन्धर्वलोक आदित्यलोक के, आदित्यलोक चन्द्रलोक के, चन्द्रलोक नक्षत्रलोक के, नक्षत्रलोक देवलोक के, देवलोक इन्द्रलोक के, इन्द्रलोक प्रजापति लोक के और प्रजापति लोक ब्रह्मलोक के आधार पर ठहरा हुआ है। यह सर्वथा विज्ञानविरुद्ध बात है। पृथिवी किसी जल के ऊपर नहीं और न सूर्यलोक चन्द्रलोक के अधीन है।

उत्तर—मैंने अपने भाष्य में इसका आशय संक्षेप से दर्शाया है जिससे शंका सर्वथा दूर हो जाती है श्री शङ्कराचार्य आदि के अर्थ सर्वथा त्याज्य हैं।

प्रश्न—बृ० उ० ॥ ३ । ३ में लिखा है कि सूर्य्य का रथ एक अहोरात्र में निरंतर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवरथाह्न्य कहलाता है ३२ रथाह्न्य के बराबर यह लोक है इस लोक के चारों तरफ द्विगुण पृथिवी है और पृथिवी के चारों तरफ द्विगुण समुद्र है इन दोनों लोकों के मध्य में उतना अवकाश है जितना चाकू का अग्रभाग अथवा मक्खी का पांख हो इत्यादि संदिग्ध और विज्ञानविरुद्ध बात है इसी प्रकार पञ्चमाध्याय दशम ब्राह्मण में आया है कि जब पुरुष मरता है तब वायु में जाता है वायु अपने देह में उसको उतनी जगह देता है जितना रथ के चक्र का छिद्र हो उस छिद्र से विद्वान् ऊपर आदित्य लोक को जाता है पुनः आदित्य लोक से चन्द्रलोक को जाता है। यह वर्णन भी सर्वथा विज्ञान- प्रतिकूल है क्योंकि प्रथम वायु कोई चेतन देव नहीं जो किसी जीव को वह रास्ता बतला सके और चन्द्र पृथिवी के निकटस्थ व सूर्य दूरस्थ है। इस अवस्था में सूर्यलोक से चन्द्रलोक में जाने का वर्णन सर्वथा असंगत है इस प्रकार की बहुत सी ऊटपटांग बातें भरी पड़ी हुई हैं।

उत्तर—कोई ऊटपटांग बातें नहीं इस भाष्य को उस उस स्थल पर देखिये तो शंका दूर हो जायगी।

शङ्का—इसमें स्त्रीजाति की बड़ी नीच अवस्था दिखलाई गई है प्रथम इसके कर्त्ता धर्त्ता याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां एक साथ थीं दूसरी बात बृ० उ० ॥ ६ । ४ में लिखा है कि यदि स्त्री राजी न हो तो उसको दण्ड से मारकर भी अपने वश में लावे यह बिलकुल जंगलीपन की बात है।

समाधान—याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं परन्तु इससे कोई यह बात सिद्ध नहीं होती कि उस समय ऐसे सब कोई थे और यह विधि थी इसके विरुद्ध उस समय के अन्यान्य ग्रन्थों में एक स्त्रीव्रत अनेक स्थल में पाया जाता है। स्त्रीजाति को तो उपनिषद् परमपवित्र यज्ञस्वरूप मानती है परन्तु यदि कोई स्त्री कर्कशा हो तो उसको दंड का भय दिखलाने को कहा गया है न कि मारने के लिये कोई आज्ञा आती है।

शङ्का—षष्ठाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मारण मोहन आदि कई एक घृणित और निन्दनीय विषय वर्णित हैं जैसे—किसी पुरुष की स्त्री का कोई जार (यार) हो तो उसके मारने का मारण प्रयोग लिखा है इसी प्रकार स्खलित वीर्य को अंगुली से उठाकर स्तनों और भौंहों के बीच में लगाने की चर्चा पाई जाती है, इत्यादि।

उत्तर—मेरा भाष्य एकबार देखने मात्र से सब शङ्काएं दूर हो जायंगी।

भाष्य के सम्बन्ध में वक्तव्य ॥

ईश्वर की कृपा से यह भाष्य अब मुद्रित हो प्रकाशित भी हो गया है। इसकी रचना में अनेक विघ्न समय समय पर उपस्थित होते रहे। करीब ५ पांच वर्ष पहिले आधा भाष्य लिखा गया पुनः इसकी समाप्ति "येन केन प्रकारेण" एक वर्ष में हुई है। ईश्वर का ही कुछ ऐसा अनुग्रह था कि अब यह भाष्य सब जिज्ञासु पुरुषों के निकट पहुंच सकता है मुझे कोई ऐसी आशा नहीं थी। इसके लिये मैं दो चार महाशयों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता। प्रथम अजमेर निवासी वैश्यकुलावतंस तथा हिन्दू सुपरिऑरिटी ग्रन्थ के रचयिता श्रीमान् बाबू हरविलासजी शारदा बी. ए. सहकारी मन्त्री, श्रीमती परोपकारिणी सभा तथा कनवीनर वैदिक पुस्तकालय कमेटी, अजमेर। कायस्थकुल-कमल श्रीमान् बाबू गौरीशंकरजी बार ऐट्ला, मन्त्री, आर्यप्रतिनिधिसभा राजस्थान। तथा क्षत्रिय-वंशप्रदीप तथा परोपकारिणी सभा सभासद्, जोबनेर वास्तव्य श्रीमान् ठाकुर कर्णसिंहजी। इन तीनों महाशयों के सुप्रबन्ध से मैं इस कार्य को निर्विघ्न समाप्त करने में समर्थ हुआ हूँ। इसके पश्चात् बाबू गणेशीलालजी भी, जो इस समय वैदिक पुस्तकालय के प्रबन्धकर्त्ता हैं, धन्यवाद के पात्र हैं, क्योंकि इन्होंने अनेक पत्र द्वारा मुझे प्रेरणा कर और बुला भाष्य की समाप्ति कराई। अन्त में पुनः उस परमात्मा को नमस्कार कर पाठकों से निवेदन करता हूं कि अनेक विघ्न के और करीब छः वर्ष के अन्तर के कारण से भी जो इसमें कहीं न्यूनता हो गई हो उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं। इति शुभम् ॥

अजमेर,
ता० २-६-१९११ ई०

निखिल मनुष्य हिताऽऽकांक्षी—
शिवशङ्कर.

❋ सूचीपत्र ❋

* ओ३म् तत्सत् *

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये

अवपातनिका

आलस्यं मृत्युरित्याहुर्यत्नं जीवनमित्युत ।

यथाबोधं यथाशक्ति च नूनं सर्वश्चेतनो व्याप्रियमाणो दृश्यते । तद्यथा—पिपीलिकाः खलु सततं कणशः कणशोऽशनं समाहृत्य २ विवरं प्रपूरयन्ति । पुत्तिका वल्मीकसंचयनात् क्षणमपि न विरमन्ति । भ्रमराः कुसुमेभ्यो मधु संगृह्णानाः स्वव्यापारं न कदाप्यवहेलयन्ति । विहगा अनवरतस्वकूजनैः चपलस्वभावप्रणोदितैः स्वोत्पतनावपतनैश्च गृहानुपवनानि उद्यानानि पादपान् अरण्यानि सचेतनानीव कुर्वन्तो भूषयन्तश्चाऽऽप्रदोषात् स्वनियोगमशून्यं विदधति । अहो ! अचेतना अपि सूर्यादयो महता वेगेन भ्रमन्तः क्षणिकामपि विश्रान्तिं न कांक्षन्ति । क्षणमपि स्तिमिते समीरणे कथमिव व्याकुली भवन्ति जीवाः । भगवती वसुन्धरा नैरन्तर्येण उच्चावचान् पदार्थान् प्रसुवाना महता रंहसा धावति । एवं ये प्राणिनः क्षणायुषः सन्ति तेऽपि यथाबलं यथामनोरथं चेष्टमाना एव दृष्टाः । एवं जीवनप्रदा इमे स्थावरा अपि चेष्टमाना अतितरां शोभन्ते । तेषां मध्ये मनुष्यो महाचेष्टावानित्यत्र कः संशयीत । इतरेषां तु नियता नैसर्गिकी जीवनायाऽऽवश्यिकी चेष्टा प्रतीयते न तथा मानवी । दृश्यतां तावन्मनुष्याणां मध्ये केचित् क्रियां प्रशंसन्ति । निन्दन्ति च केचन । सन्ति चेदानीमपि परमहंसाभिधायिनो येऽशनमपि स्वहस्तेन कर्तुं नेच्छन्ति, नग्ना विचरन्ति, न चीवरयन्ते, न स्नान्ति, न शौचमाचरन्ति । तद्विपरीताः खलु बहवः । अतो न समा न च नियता मानवी क्रिया । अस्वाभाविकान्यपि कर्म्माणि अनुष्ठीयन्ते मानवजात्या । तद्यथा—दिवास्वापो रात्रिजागरणम् । स्वल्पे वयसि परिग्रहग्रहणम् । बह्वीनां स्त्रीणामेकेन पुरुषेणावरोधः । अतिभयङ्करः पुत्रीवधः । सतीदाहः । भृग्वादिपतनमग्निप्रवेशः । ब्राह्मणादिजातिभेदः । इत्येवंविधं बहु स्वभावविरोध्यपि हठादभ्यासेन स्वाभाविकीभूतमस्ति । स्वभुजबलेन जगद्वशीकरणचेष्टा । स्वजातिवधाय लक्षशः सैन्यस्थापनम् । इतरान् दरिद्रीकृत्य स्वार्थसिद्धये बहुललना-परिच्छद-चतुरङ्गसेना-प्रासादोद्याननटविट-धूर्तादि-पालनमित्येवंविधं सर्वमनावश्यकमेव ।

अपने २ बोध और सामर्थ्य के अनुसार सब चेतन परिश्रम करता हुआ दीखता है । पिपीलिकाएं सतत एक २ कण को इधर उधर से इकट्ठा कर अपने विवर को पूर्ण करती रहती हैं । पुत्तिकाएं वल्मीक के ढेर करने से क्षणमात्र भी विराम नहीं लेतीं । ये भ्रमर कुसुमों से मधु संग्रह करते हुए अपने व्यापार का कदापि भी निरादर नहीं करते । विहग अनवरत अपने २ कूजन से और

चञ्चल स्वभाव-प्रेरित निज उत्पतन और अवपतनों से गृहों, उपवनों, वृक्षों तथा वनों को मानो सचेतन और भूषित करते हुए, रात्रिपर्य्यन्त अपने नियोग (अनुष्ठेयकार्य) को शून्य नहीं करते। अहो! अचेतन सूर्यादि पदार्थ भी बड़े वेग से घूमते हुए एक क्षण भी विश्रान्ति नहीं चाहते। एक क्षण भी जब वायु स्तिमित होजाता तब जीव कैसे व्याकुल होते। भगवती वसुन्धरा निरन्तर उत्तम, मध्यम, निकृष्ट विविध पदार्थों को पैदा करती हुई बड़े वेग से दौड़ रही है। जिन प्राणियों की क्षण भर ही की आयु है वे भी अपने बल और मनोरथभर चेष्टा करते हुए देखे गये हैं। इसी प्रकार स्थावर भी चेष्टायमान हैं जिन में चेतनशक्ति गाढ सुषुप्ति में पड़ी हुई है और जो जगत् में जीवनप्रद और अति सुशोभमान दीखते हैं, उन सब में मनुष्य महाचेष्टावान् जीव है इसमें कौन सन्देह कर सकता है। परन्तु अन्य जीवों की चेष्टा नियत स्वाभाविक जीवन के लिये आवश्यक प्रतीत होती किन्तु मानवी चेष्टा वैसी नहीं। देखो, मनुष्यों में कोई क्रिया की प्रशंसा और कोई निन्दा करते। आजकल भी ऐसे परमहंस नामधारी मनुष्य पाये जाते हैं जो अपने हाथ से अशन भी करना नहीं चाहते, नग्न ही विचरते न तो वस्त्र उपार्जन करते और न धारण करते, न स्नान, न किसी प्रकार के शौच ही करते। परन्तु इसके विपरीत बहुत हैं। इस हेतु मनुष्यों की क्रिया समान और नियत नहीं है और अस्वाभाविक कर्म्म भी मनुष्य करता है, जैसे-दिवा-स्वाप, रात्रि-जागरण, थोड़ी ही वयोवस्था में स्त्रीग्रहण। अतिभयङ्कर महाघोर पुत्रीवधरूप कर्म, सतीदाह, पर्वत पर से गिरकर मरना, अग्निप्रवेश, मनुष्यों में ब्राह्मणादि जातिभेद इत्यादि २ स्वभावविरोधी कर्म हैं। तथापि ये स्वाभाविक बना लिये गये हैं। मनुष्यों के अनावश्यक कार्य भी बहुत हैं, जैसे—अपने भुजबल से जगत् को वश में करने के लिये चेष्टा करनी। अपनी ही जाति के वध के लिये लाखों सेना स्थापन। दूसरों को दरिद्र बनाकर स्वार्थसिद्धि के लिये बहुतसी स्त्रियां, वस्त्र चतुरङ्गसेना, प्रासाद, उद्यान, नटविट, धूर्तादिकों का प्रतिपालन इत्यादि २ अनावश्यक ही हैं॥

अतो ब्रूमो मनुष्याणां चेष्टा बह्वी अनियता अनावश्यिकी अस्वाभाविकी च। इत्थम् उभे चेष्टे तु महदन्तरं सूचयतः। नहि सर्वान् स्वबन्धूनुच्छेत्तुं प्रयतमानो दृष्टः कश्चिच्छार्दूलः। मनुष्यस्तु तथा दृष्टः। श्रूयते किल परशुरामो निखिलानि राजन्यकुलानि समुन्मूलयितुं प्रतिजज्ञे। तथैव रामोपि रक्षांसि। महारथानां रघुप्रभृतीनां दिग्विजय-व्यापारोपि तादृगेव। पितृवधकोपितः सम्राड् जनमेजयस्त्रिलोकव्यापिनो निःशेषतया सर्पान् वह्निसात् कर्तुं चकमे। इदानीमपि सन्ति सहस्रशो राजानो ये सम्पूर्णां पृथिवीं स्वायत्तां विधित्सन्ति। अशेषैर्मनुष्यैः शिरोभिर्वन्द्यमानान् स्वचरणांश्च दिदृक्षन्ते। ईश्वरः खलु तदुद्योगे यदि विघ्नं नोत्पादयेत् न च स्वबन्धव एव तदीयशात्रवमुत्पाद्य तदीय-मनोरथव्याघातं न कुर्य्युस्तर्हि कांस्कानत्याचारान् नाचरेदिति वक्तुमपि कठिनमेव। केचिज्जगतः सकल-श्रेष्ठिनोऽति शाययितुं कामयन्ते। केचिद्विद्यया सर्वानभिभूय न मादृशः कोपि कदापि भवेदित्याशासते। इत्थं विभिन्नचेष्टा निरवधिकचेष्टा मनोरथस्यापि सीमामुल्लङ्घ्य वर्तितुमिच्छति मानवजातिः। मानवमानसिकव्यापारवेगमुपश्लोकयितुं स्वयंवाग्देव्यपि कदाचिदेव समर्था भवेत्। नेतरजीववत् परिच्छिन्ना मानवी चेष्टा। न केवलं शरीर-पोषणपरा। न च पृथिव्यन्त-विश्रामा। नैहिकनिखिल-पदार्थप्राप्तौ समाप्ति-मती। किं तर्हि अदृश्यानपि स्वकपोलकल्पनया पदार्थीकृतानपि च पदार्थान् उपलब्धुं समीहन्ते। अतो मनुष्येषु क्वचिन्महत्यशान्तिः। क्वचिच्छान्तिः। क्वचिन्निष्क्रियता। क्वचित् कर्म्मपरायणता इत्येवंविधपरस्परविरुद्धोभयगुणा दृश्यन्ते मानवाः।
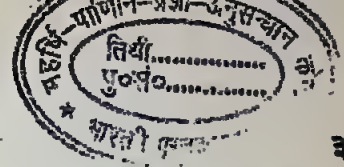
इस हेतु कहना पड़ता है कि मनुष्य की चेष्टा अनियत, अस्वाभाविक और अनावश्यक भी होती है। इस प्रकार ये दोनों चेष्टाएं (मनुष्य की और अन्य जीवों की चेष्टा) बहुत अन्तर रखतीं क्योंकि कोई भी शार्दूल सकल निज बन्धुओं के नाश करने का प्रयत्न करता हुआ नहीं दीखता। परन्तु मनुष्य में ऐसी लीला है। सुना जाता है कि परशुराम ने निखिल क्षत्रियकुलों को मूल से उखाड़ने की प्रतिज्ञा की थी। वैसी ही प्रतिज्ञा राम ने राक्षसों के बध के लिये की। महारथ रघु प्रभृतियों का दिग्विजय व्यापार भी वैसा ही है। पिता के बध से कुपित हो महाराज जनमेजय ने त्रिलोकी-व्यापी सर्पों को भस्म करना चाहा। आज भी अनेक राजा हैं जो सम्पूर्ण पृथिवी को अपने ही अधीन में करना चाहते और पृथिवीस्थ समस्त मनुष्यों से वन्द्यमान अपने चरणों को देखना चाहते हैं यदि इनके उद्योग में ईश्वर विघ्न न डाले वा अन्य निजभाई ही शत्रु बनकर इनके मनोरथ को न रोकें तो ये कौन २ अत्याचार न करें, सो कहना कठिन है। कोई जगत् के सकल सेठों को अतिक्रम करना चाहते। कोई विद्या से सबों को हरा, मेरे समान कोई न होवे, ऐसी आशा किया करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की भिन्न २ चेष्टाएं हैं और उनकी अवधि नहीं है। मनुष्यजाति मनोरथ की सीमा को भी लांघकर रहना चाहती है। मनुष्य के मानसिक व्यापार सम्बन्धी वेग को श्लोकों में वर्णन करने को वाग्देवी भी कदाचित् ही समर्थ होवे। अतः यह सिद्ध हुआ कि इतर जीववत् मनुष्य की चेष्टा परिच्छिन्न भी नहीं, केवल शरीर-पोषण-पर्य्यन्त ही नहीं। पृथिवी के अन्त तक ही विश्राम लेनेवाली नहीं और न ऐहिक निखिल पदार्थ प्राप्ति होने से ही समाप्ति होनेवाली है किन्तु अदृश्य भी निज कल्पना से पदार्थीकृत (अर्थात् जो पदार्थ न था वह पदार्थ बनाया गया हो) पदार्थों की भी प्राप्ति की इच्छा करनेवाली है। इसी हेतु मनुष्यों में कहीं बड़ी अशान्ति और कहीं शान्ति, कहीं निष्क्रियता और कहीं बड़े वेग से कर्मपरायणता देखी जाती है।

अत्र प्रथमं तावन्मीमांस्यते कीदृश्या मानव्या चेष्टया भाव्यम्। मनुष्येषु महानयमनुग्रहः प्रतिभातीश्वरस्य यद् विवेकसहिता इमे सृष्टाः तद्विवेकविवृद्ध्यै वेदा अपि प्रदत्ताः। तैरेव मनुष्यचेष्टापि निर्णेतुं शक्या। किन्त्विदानीं विवादग्रस्तत्वात् शासनार्थं प्रदत्ता अपि वेदास्तावत्कंचित्कालच्चोपादीयन्ते। सामान्यविवेकेनैव सर्वं पर्य्यालोचयामः। ननु विवेकतारतम्यात्तेन निश्चयकरणासामर्थ्यमिति ब्रूयुश्चेत्। न, आवश्यक-कार्य्यविधौ एकदेशिकानां विवेकस्य साम्यप्रायदर्शनात्। तथाहि क्षुधया म्रियमाणेषु कस्य नानुक्रोशः। चोरितेषु प्रियेषु धनेषु जातव्यथः को विवेकी चौर्यवृत्तिं साध्वीं मन्येत। एकाकी प्रोषितो दैवाद्रुग्णोपरिचितैर्निराकांक्षिभिः सद्भिरुपचरितः शायितः पायितो भोजितश्चिकित्सितोऽन्ततोविशल्यीकृतः सन् कः खलु परस्परसाहाय्यकं कथमिव नानुमोदेत। एवमेव विवेकेन पर्य्यालोचिताः सर्वेऽत्याचाराः सर्वेषां दृष्टौ हेयत्वमेव प्राप्स्यन्ति। इत्थमात्मानंदर्शनानि पुरस्कृत्य विमृश्यन्तो जनाः न क्वापि न्याय्यान् पथः प्रविचलिष्यन्ति।

अब यहां विचार किया जाता है कि मानवी चेष्टा कैसी होनी चाहिये। मनुष्यों के ऊपर ईश्वर का यह महान् अनुग्रह है कि विवेक सहित मनुष्य बनाये गये। उस विवेक की वृद्धि के लिये ही ईश्वर ने वेद दिये और उनही से हम निर्णय कर सकते हैं परन्तु सम्प्रति वेदों को भी विवादग्रस्त कर दिया अतः थोड़ी देर तक वेदों को नहीं लेते। किन्तु सामान्य विवेक को ही लेकर विचार आरम्भ करते हैं। यदि यह कहैं कि विवेक के न्यूनाधिक्य होने से हम लोग केवल विवेक से निर्णय करने में

असमर्थ होवेंगे यह कहना उचित नहीं क्योंकि आवश्यक कार्य की विधि में एक देश निवासियों का विवेक प्रायः तुल्य ही देखने में आता है। देखो! क्षुधा से मरते हुए मनुष्यों पर किसको दया नहीं उपजती। निज प्रियवस्तु की चोरी होजाने से किसको व्यथा उत्पन्न नहीं होती और इस अवस्था में कौन विवेकी पुरुष चौर्यवृत्ति को अच्छी मानता। अनुमान करो कि कोई एकला ही विदेश गया और दैवयोग से कहीं रुग्ण हो गया। तदनन्तर किन्हीं आकांक्षारहित अपरिचित अच्छे पुरुष ने उसकी शुश्रूषा की, सुलाया, पिलाया, खिलाया और दवाई करवाकर नीरोग करवाया, अब कहो वह मनुष्य परस्पर की सहायता का अनुमोदन करेगा या नहीं। इस प्रकार यदि विवेक से सकल अत्याचार अच्छे प्रकार विचारित होवें तो सबों की दृष्टि में वे त्याज्य ही ठहरेंगे। इस प्रकार अपने आत्मदृष्टान्त आगे रखकर यदि मनुष्य विचार करे तो कहीं भी न्याययुक्त पथ से नहीं गिरेगा।

ननु सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं, भूयांसि संवत्सराणां सहस्राणि अयुतानि वा लक्षाणि वा कोटयो वाऽर्बुदानि वा शङ्खानि वा व्यतीयुः। तदन्तरेऽभूवन् असंख्येया जनहितहेतवो महर्षयो मुनय आचार्या धर्मरक्षका धर्मस्थापकाः शान्तिप्रचारका आत्मबलिप्रदातारोपि लोकोत्तरमतयः प्रभावशालिनः पुरुषाः। तथापि न प्रशशाम वैरम्। न निववृतेऽकिञ्चनता। न जहावज्ञानता। न कचित् पलायांचक्रे तुमुलसंप्रहारः। किं बहुनोक्तेन भ्रातृव्यशब्दएव शत्रुतायाः स्वाभाविकत्वमनादित्वमाप्रलयस्थायित्वं च गमयति। ईश्वरस्येदृश्येव सृष्टिः प्रतिभाति। न तत्रास्माकं जीवानां दोषः। अनादिकालप्रवृत्तो देवासुरसंग्रामोत्र प्रमाणम्। किमिदानीं स शान्तिं समाप्तिं च नीतः। अस्ति भोरेकमपि निदर्शनं निरुपद्रवं कस्यापि युगस्य कस्यापि धर्मावतारस्य सम्राजोपि वा। धर्मावतारः किल श्रूयते युधिष्ठिरः। सोऽपि दैवविप्रयोगादाचार्य्य-गुरु-पितृ-पितामह-प्रपितामह-भ्रातृश्वशुरश्यालेष्टमित्रादि-संहार-कारिण्यां संग्राममहत्यां पतितोऽभूत्। एक एव किल महाभारताख्यः कलहः सर्वाणि ब्राह्मतेजांसि क्षात्रवीर्याणि वाणिज्यशक्तीः समहार्षीदित्याहुः। अतो विवेककथापि रिक्तैव प्रतिभाति। क इदानीं वसिष्ठम्वा कृष्णम्वा भीष्मम्वा विवेकिनं न मन्यते। तैरपि तु अत्याचरितम्। यदि शिष्टैः दुष्टा आततायिनः संहर्तव्या अतस्तेषामीदृशी प्रवृत्तिरिति वाच्यम्। इदमपि निर्णेतुमशक्यम्। अन्योन्यं हि दुष्टमज्ञानिनं धर्मविरहितं व्यवहरन्ति जनाः। सर्वः स्वार्थं समीहते। का तर्हि व्यवस्थाशा। को विवेको नाम को वाऽविवेकः। धर्मनाम्ना सर्वं विडम्बनमात्रं प्रतिभाति।

यहां पर एक भारी आशङ्का उपस्थित होती है कि सृष्टि के आरम्भ से आज तक कितने सहस्र, अयुत, लक्ष, कोटि, अर्बुद वा शङ्ख वर्ष बीत गये। इसके बीच २ में महर्षि, मुनि, आचार्य्य, धर्मरक्षक, धर्मस्थापक, शान्तिप्रचारक, आत्मबलिप्रदाता, लोकोत्तरमति और बड़े २ प्रभावशाली पुरुष हुए तथापि वैर शान्त न हुआ। दरिद्रता न गई अज्ञानता ने किसी का पिण्ड न छोड़ा। तुमुल संग्राम कहीं भाग न गया। बहुत क्या कहें "भ्रातृव्य" शब्द ही दिखलाता है कि शत्रुता स्वाभाविक, अनादि और प्रलय पर्य्यन्त स्थायी है। ईश्वर की ऐसी ही सृष्टि है यहां हम जीवों के दोष नहीं। इसमें अनादिकाल से प्रवृत्त देवासुर-संग्राम प्रमाणभूत है। क्या आज वह देवासुर-संग्राम शान्त होगया ? नहीं। क्या किसी युग का वा किसी धर्मात्मा सम्राट् का भी एक निरुपद्रव दृष्टान्त दिखला सकते हैं ? जगत् भर में युधिष्ठिर महाराज धर्मावतार कहे जाते। क्या इनको भी दैव के विप्रयोग से गुरु आचार्य्य पितामह प्रपितामह भ्राता श्वशुर श्याल इष्ट मित्रों का भी संहार करनेवाली संग्रामरूप महाहत्या में

गिरना नहीं पड़ा ? आश्चर्य की बात है कि एक ही महाभारत नामक कलह ने सम्पूर्ण ब्राह्मतेज, क्षात्रवीर्य, व्यापार शक्तियां हरण करलीं। इस हेतु मुझे विवेक की कथा भी रिक्त=अर्थशून्य ही प्रतीत होती है। कौन आदमी इस समय कह सकता है कि वसिष्ठ वा कृष्ण वा भीष्मपितामह विवेकी नहीं थे। परन्तु उन्होंने भी अत्याचार किया यदि यह कहा जाय कि दुष्ट और आततायियों का संहार करना ही उचित है तो मैं कहता हूं इसका भी निर्णय अशक्य है क्योंकि एक दूसरे को अज्ञानी धर्महीन कहा करते हैं। क्योंकि सब कोई स्वार्थ चाहता है तब व्यवस्था की आशा कैसे हो सकती है ?

इत्याक्षेपे ब्रूमः—अज्ञानता सर्वानर्थबीजमिति सर्वैराप्तैर्व्यवस्थापितम्। तथा हि। शलभा अग्नौ पतित्वा म्रियन्ते। इत्यत्र सुनिपुणतया विचार्यमाणे वस्तुनि अज्ञानतैव हेतुः प्रतीयते। अज्ञानी बालो विषधरमपि हस्तेन ग्रहीतुमिच्छति, स एव पुनरपि विदितः सन् तस्माद्भीत्वा पलायते। तं व्यापादयितुम्वा प्रयतते। इदानीमपि अज्ञानी खलु भारतवर्षीयो ब्राह्मणः पवित्रस्यापि शूद्रीकृतस्य नरस्यान्नं भुक्त्वाऽऽधुना व्यथते प्रायश्चित्तं विधाय सुखयति। प्राचीनशिष्टाचारव्यवहारस्तु पुनरपि शूद्रैरेवान्नं पाचयितव्यमिति दृश्यते, इहत्य एव ज्ञानी संन्यासी चाण्डालस्यापि शुद्धोदनमभ्यवहृत्य न किञ्चन शोचति। रुग्णे बालके कस्याश्चिद् डाकिन्या अयं व्यापार इति मन्यन्ते स्म। सम्प्रति ज्ञानविवृद्धौ न कोपि विवेकी डाकिनीं मन्यते। तेन सहस्रशो मनुष्याणां चिकित्सयोद्धारो जातः। दुर्बोधो जनो राहुनिबन्धनं ग्रहणं मत्वा स्वाज्ञानेन दुःखशतानि भुङ्क्ते। ग्रहतत्त्वविदस्तु किञ्चिदपि न शोचन्ति। सन्तीदृशानि उदाहरणशतानि यानि विद्याविद्ययोर्महदन्तरं सूचयन्ति। अतो ब्रूमः—विवेकेनोत्पन्ने ज्ञानाऽऽलोके पुनरपि न स्थास्यत्यज्ञानान्धतमसम्। ननु पुरा यदि स नोदियाय। कथमिदानीं तदीयोदयस्य प्रत्याशा। उदयस्वीकारेपि नाविद्यायाः सर्वांशेन प्रहाणिर्दृष्टा कदापि। इत्याशङ्कायां ब्रूमः—नहि सर्वावच्छेदेनाऽज्ञानस्योच्छित्तिर्भवितेत्यत्रोर्मिति वयमपि ब्रूमः। यथोदितेपि सूर्ये क्वचित्तिष्ठत्येवान्धकारः, न तेन तु कार्ये हानिः। भवनमभितो वर्त्तमान आलोके भवनस्थं तमोव्याहतमिव न कार्य्ये विघ्नमुत्पादयितुं शक्नोति। एवमेव प्रवृद्धायां विद्यायां समुदिते च विवेके क्वचिल्लीना अविद्या न दुःखाकरिष्यति। पुराणान्यपि सन्त्युदाहरणानि यानि प्रजास्वक्लेशं दर्शयन्ति। तथाहि—जानश्रुतिर्हि पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति। अन्या चाप्याख्यायिका सेयम्—स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच—"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्य्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः"। यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मै धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु मे भगवन्त इति॥ छा० उ०। मदीयमेवाऽन्नं सर्वे भिक्षवोऽश्नन्त्वित्याशयेन सर्वत्रराज्यं शालामापनं पौत्रायणस्य जानश्रुतेर्महतीमुदारतां धर्म्मपरायणता मौचित्यपालयितृत्वं च दर्शयति। एतेन देशे शान्तिः क्षुधया चामरणं प्रदर्शितम्। महाराजस्याश्वपते राज्ये तु चौर्याद्यभावोपि गम्यते।

इस आक्षेप पर कहा जाता है कि सब आप्त जनों ने स्थिर किया है कि अज्ञानता ही अनर्थ बीज है। देखो ! शलभ अग्नि में गिरकर मर जाते हैं यहां निपुणता के साथ विचार करने पर भी अज्ञानता ही कारण प्रतीत होती है अज्ञानी बालक विषधर सर्प को भी हाथ से पकड़ना चाहता है।

जब वही ज्ञानवान् होता है तब उस सर्प से डरकर भाग जाता है वा उसको मारने की चेष्टा करता है। देखो. आजकल अज्ञानी भारतवर्षीय ब्राह्मण पवित्र शूद्र का (जो यथार्थ में शूद्र नहीं है जिसको हठात् शूद्र मान लिया है) अन्न खाकर बहुत मानसिक दुःख से व्यथित होते और प्रायश्चित्त कर सुखी होते, किन्तु प्राचीन शिष्टाचार व्यवहार तो यह बतलाता है कि शूद्रों को ही अन्न पकाना चाहिये। देखते हैं कि यहां के ज्ञानी संन्यासी चाण्डाल का भी शुद्ध भात खाकर कुछ भी शोक नहीं करते। जब कोई लड़का रुग्ण होता तो अज्ञानीजन कहते हैं कि किसी डाइन का यह व्यवहार है। इस हेतु मेरा लड़का रुग्ण हुआ है। अब ज्ञान की वृद्धि होने से कोई विवेकी पुरुष डाकिनी को नहीं मानता। इससे सहस्रशः मनुष्यों का चिकित्सा से उद्धार हुआ है, दुर्बोधजन राहुकृत ग्रहण मान सैकड़ों दुःखों को भोगते हैं परन्तु ग्रहण के तत्व जाननेहारे कुछ भी शोक नहीं करते। ऐसे शतशः उदाहरण हैं जो विद्या और अविद्या में बड़ा अन्तर सूचित करते। इस हेतु कहते हैं कि विवेक से ज्ञानरूप आलोक की उत्पत्ति होने पर अज्ञानान्धकार नहीं ठहर सकता और तब ही निर्णय की भी सम्भावना है। यहां पुनः शङ्का होती है कि पूर्व समय में यदि उस ज्ञानाऽऽलोक का उदय न हुआ तो अब उसके उदय की प्रत्याशा कैसे हो सकती है। उत्तर—यह हम भी स्वीकार करते हैं कि सर्वथा अज्ञानता की उच्छित्ति (विनाश) कदापि भी होनेवाली नहीं क्योंकि सूर्य के उदय होने पर भी कहीं अन्धकार रहता ही है परन्तु उस अन्धकार से कार्यहानि नहीं होसकती। जब गृह के चारों तरफ आलोक वर्त्तमान रहता तो भवनस्थ भी तम व्याहत सा हो कार्य्य में विघ्न उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार अतिशय विद्या की वृद्धि होने से विवेक के उदय होने पर कहीं विलीना भी अविद्या दुःखोत्पादन में समर्था नहीं होगी और अति प्राचीन भी बहुत उदाहरण हैं जो प्रजाओं के क्लेशों के अभाव दिखलाते हैं। जैसे—पौत्रायण जानश्रुति महाराज किसी एक समय में हुए। वे श्रद्धापूर्वक दान दिया करते थे और बहुत देते थे अर्थात् याचक की इच्छा को पूर्ण करनेहारे थे और इनके गृह पर प्रतिदिन अन्न बहुत पकाये जाते थे। इन्होंने अपने राज्यभर में भोजनशालाएं बनवाई थीं कि सब कोई मेरे ही अन्न को ग्रहण करें। अन्य भी आख्यायिका है। वह यह है—केकय देश के अधिपति अश्वपति नाम के राजा बड़े आत्मज्ञानी थे, इनके निकट कई एक जिज्ञासु आत्मतत्त्व विचार के लिये आये। उनका विधिपूर्वक सत्कार कर एक दिन प्रातःकाल उठ और अपने अतिथियों के निकट आ, अपने राज्य का वृत्तान्त सुनाने लगे। हे मेरे माननीय ब्राह्मणो! मेरे राज्य में न चोर, न कृपण, न मद्यप, न व्यभिचारी ही है। व्यभिचारिणी तब कैसे होंगी। हे मेरे पूज्यो! मैं यज्ञ करनेवाला हूं इस हेतु मेरे गृह और राज्य को पवित्र मान आप लोग निःशङ्क हो निवास करें। एक २ ऋत्विक् को जितना धन दूंगा उतना आप लोगों को भी दूंगा, इत्यादि छान्दोग्य उपनिषद् में देखो। अब विचार करो कि ये दोनों आख्यायिकाएं कैसा प्राचीन वृत्तान्त हम लोगों के निकट प्रकट करती हैं। मेरे ही अन्न को सब भिक्षुक खायं इस अभिप्राय से राज्यभर में धर्मशालाओं का बनवाना सूचित करता है कि—जानश्रुति पौत्रायण बड़े उदार, धर्मपरायण, औचित्यपालयिता थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देश में बड़ी शान्ति थी और क्षुधा से मरण का अभाव था और द्वितीय आख्यायिका तो विस्पष्टतया कहती है कि राजा अश्वपति के राज्य में चोरी आदिक किञ्चित अत्याचार नहीं था।

अन्यच्च—"सोभिषिक्तोऽभिषेक्त्रे ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्यात्। सहस्रं दद्यात्। क्षेत्रं चतुष्पाद् दद्यात्। अथाप्याहुः—असंख्यातमेवापरिमितं दद्यात्। अपरिमित वै क्षत्रियः।"

ऐतरेयः ८। २०॥

और भी सुनो – जब राजा अभिषिक्त होवे तब वह अभिषेक्ता ब्रह्मवित् पुरुष को हिरण्य देवे क्षेत्र और चतुष्पद् पशु देवे। दूसरे आचार्य कहते हैं कि असंख्यात अपरिमित धन देवे क्योंकि क्षत्रिय अपरिमित होता है।

एतेनोपार्जितधनस्य सत्पात्रेषु निक्षेपेण देशस्य माङ्गल्यमेव सूचयति। अन्यच्च—असंख्येयापरिमितद्रव्यविश्राणनं राज्यस्यात्यन्तिकं सुखित्वमवगमयति। सर्वस्य सर्वस्मिन् महाभिषेकेऽपरिमितदानविधिर्भवति। तथापि श्रूयते महाभिषेकेणाभिषिक्ता बभूवुरनेके राजान इति। तथाहि—

यह वृत्त उपार्जित धन को सत्पात्रों में रखने से देश के मङ्गल को ही दिखला रहा है और असंख्येय अपरिमित द्रव्य के दान की विधि गमक है कि राज्य में अत्यन्त सुख था। सब के सब महाभिषेक में अपरिमित दान की विधि होती है। तथापि सुना जाता है कि अनेक महाराज महाभिषेक से सिक्त हुए। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण के बहुत प्रमाण हैं उनमें से कुछ के प्रमाण यहां देते हैं।

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण तुरः कावषेयो जनमेजयं पारिक्षितमभिषिषेच ॥१॥

इसी परमैश्वर्यप्रद महाभिषेक से तुर कावषेय ऋषि ने जनमेजय पारिक्षित को अभिषिक्त किया था ॥ १ ॥

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण च्यवनो भार्गवः शार्य्यातं मानवमभिषिषेच ॥ २ ॥

इसी ऐन्द्रमहाभिषेक से च्यवन भार्गव महर्षि ने मनुपुत्र शार्य्यात को अभिषिक्त किया ॥ २ ॥

एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण सोमशुष्मा वाजरत्नायनः शतानीकं शात्राजितमभिषिषेच ॥ ३ ॥

इसी ऐन्द्र महाभिषेक से सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने शत्राजित के पुत्र शतानीक को अभिषिक्त किया ॥ ३ ॥

एवमेव—आम्बाष्ठ्यः, युध श्रौष्ठिरौग्रसैन्यः, विश्वकर्मा भौवनः, सुदाः पैजवन इत्यादयो बहवो राजानोऽभिषिक्ताः। ऐतरेयब्राह्मणेऽष्टमपञ्चिकां पश्य। श्रूयते किल पुरा सर्वस्वदक्षिणो विश्वजिन्नाम यज्ञो बभूव। यत्र राजभिस्तद्दिनान्तागतानि सर्वस्वानि प्रजाभ्यो दीयन्ते। कथमीदृश्यः प्रजाः दुःखिता भवितुमर्हन्ति कथञ्च राज्ये प्रजोपद्रवः। यत्र यस्य यदेवाभीष्टं तदेव मनोरथपूरं प्रदीयते। एतेन सिद्ध्यतितराम्—चिरन्तनकालेऽपि महती शान्तिर्मनुष्यता च परन्तु न सर्वदा समानता। अतोपि चिरन्तनदृष्टान्तैरद्यापि तथा समयो भवितुमर्हतीत्याशां कर्तुं कल्पाः। पुरा विवेको नोदियायेत्यपेशलं वचः। सर्वेषु युगेषु मनुष्यधर्मसाम्यात्। अन्यच्च। यत्पुरा नाभवत्तदद्यापि न भवति न च भविष्यतीत्यपि नियमो न विद्वद्भिः स्वीकरिष्यते। विनिगमकाभावात् तद्विपरीतदर्शनाच्च। वैशेषिकन्यायशास्त्रद्वयं कणभक्षाक्षिचरणाभ्यां प्राङ् नासीदिति निश्चीयते आसीदपि न तादृशम्। आग्नेयशकट-विद्युत्तार-छायाग्राहियन्त्र-ग्रन्थमुद्रायन्त्र-शब्दग्राहियन्त्र-दूरवीक्षण-परमाणुवीक्षण-व्यवहितपदार्थवीक्षणयन्त्र-नूतननूतनाग्नेयविद्याऽस्त्रविद्याप्रभृतयो विद्याः पुरा नासन् आसन्नपि मध्ये विनष्टाः पुनरपि नव्यैः प्रकाशिताः। इत्थं पदार्थविद्या-भूगर्भविद्या-पशुपक्षिविद्यादयोऽनेका अभिनवोदया विद्याः प्रतिभान्ति जगति। वेदे

विद्यमानापि महर्षिभिर्ज्ञातापि आकर्षणविद्या मध्ये सर्वैरैवोच्छिन्नमूलिका पुनरपि पाश्चात्यैः स्वविवेकबलेन प्रकाशिता। इत्थमहरहरिदानीमपि आचार्य्या नूतनं नूतनमाविष्कारं कुर्वन्तो दृश्यन्ते। अन्यच्च। पुरायुगीना एव विवेकिनो बभूवुर्नाद्यतना न तथा भविष्यन्तीत्यत्र हेतुः कोपि वाच्यः। कालधर्मश्चेत्। अज्ञानिनामियं कथा। नहि नित्यो विभुरचेतन एकरसः कालो न्यूनाधिक्येन विशेषाविशेषं जनयेत। तथा च सांख्यसूत्रम्—"न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्॥ १। १२॥" ननु इह हि शीतर्तुमपेक्ष्य ग्रीष्मर्तौ कुशला अपि स्वस्था अपि न तावन्ति कार्य्याणि सम्पादयन्ति। निरुपद्रवे च समये भूयान् व्यापारोदयो विद्योपचयो विविधकलाभिर्भावश्च श्रूयते। सोपप्लवे च समये न तथा दृश्यते। यौवने च यथा कार्य्यक्षमता न तथा वार्द्धके इदं च कालस्य वृद्धत्वं प्राप्तम्। अन्यच्च। अनुमीयतां तावत् कश्चित् सर्वसम्पन्नो देशः केनापि समरप्रियेणाविवेकिना राज्ञा वा वीरेण वा नितरां विदलितः विनाशितनिखिलबुधकुल उच्छिन्नराजन्यगण उत्खातितधनहेतुकवैश्यजातिः। तदा तस्य कीदृश्यवस्था भविष्यति। कोला भीलाः किरातादयश्च आर्य्यैर्विदलिता अद्यापि वन्यदशाया बहिर्गन्तुं न समर्थाः। एष सर्वः कालस्यैव प्रभावः। इत्याशङ्कायां समाधत्ते—प्रकृतेः सर्वदा साम्यादृतूनामुदाहरणं तुच्छतरम्। य एवर्तवः पुरा त एवेदानीमपि। ग्रीष्मर्तुरपि न सर्वत्र समानः बदरिकाश्रमे ग्रीष्मर्तुरेव कार्यसम्पादकः। हिमालयेपि तथा। तथा मनुष्यः स्वबुद्धिबलेन आतपेऽपि धारागृह-जलोक्षितवीरणावरणादिकनिष्पादनेन सर्वत्र शीतर्तुं कर्तुं समर्थः। अथवा तादृशं स्थानं परित्यज्य कार्ययोग्यं स्थानान्तरमाश्रयितव्यम्। पुरा निरुपद्रवो देश आसीदिति प्रशंसामात्रम्। नित्यस्य विभोः कालस्य वयोवस्थाविचारस्तु बालप्रलापसमः। कोलभीलनिदर्शनेन कालप्रभावसिसाधयिषापि न विवेकिनां मनोभिरञ्जिका। न वयं हि ब्रूम एकत्रैवाभ्युदयः। सार्वभौमोऽयं प्रस्तावः कचिदभ्युदयः कचिद्ह्रास इति प्रकृत्यैव जायते। विजयिषु जायतान्तद्द्वियाद्युदयः। अतो न कालधर्मः कारणं तत्र।

इसी प्रकार आम्बाष्ठ्य, युधाश्रेष्ठि औग्रसैन्य, विश्वकर्मा भौवन, सुदा पैजवन इत्यादि अनेक राजा अभिषिक्त हुए हैं। जिनको अपरिमित धन प्रजाओं में बांटना पड़ा। ऐतरेय ब्राह्मण अष्टम पञ्चिका देखो। और भी सुनते हैं कि पूर्वकाल में राजा लोग सर्वस्व-दक्षिणा नाम यज्ञ करते थे। जिसकी पूर्ति के उद्देश से उस दिन तक जो कुछ धनधान्य आते थे वा घर में विद्यमान हैं सब ही धन प्रजाओं में बांट दिया जाता था। कैसे ऐसी प्रजाएं दुःखिता हो सकती हैं और कैसे ऐसे राज्य में उपद्रव हो सकता है। जहां जिसका जैसा अभीष्ट रहता वह मनोरथ भर दिया जाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरातन काल में भी कभी २ बड़ी शान्ति और मनुष्यता थी परन्तु सर्वदा समानता नहीं रही। अतः चिरन्तन दृष्टान्तों से आज भी हम आशाबद्ध हो सकते हैं कि वैसा ही समय आज भी हो सकता है। अब दूसरी बात यह है कि मान लिया जाय कि पूर्वकाल में देश में विवेकोदय नहीं हुआ। क्या इससे यह सिद्ध होगा कि जो पूर्व में नहीं था वह अब न होता और न होगा। इस नियम को कौन विद्वान् स्वीकार करेगा। देखो—वैशेषिक न्याय ये दोनों शास्त्र कणाद और गौतम के पूर्व नहीं थे यह निश्चय है। यदि थे भी तो वैसे नहीं। आग्नेयशकट (रेलगाड़ी), विद्युत्तार (बिजली का तार), छायाग्राहीयन्त्र (फोटोग्राफी), ग्रन्थमुद्रायन्त्र (छापाखाना), शब्दग्राही (फोनोग्राफी), दूरवीक्षण, परमाणुवीक्षण व्यवहितपदार्थवीक्षणयन्त्र (एक्सरे) नूतन २ आग्नेयविद्या अस्त्रविद्याएं आदि पूर्व में नहीं थीं।

यदि थीं भी तो मध्य में विनष्ट होगई थीं यह स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु वे सारी विद्याएं अभी विद्वानों ने प्रकाशित की हैं। इसी प्रकार पदार्थविद्या, भूगर्भविद्या, पशुपक्षी सम्बन्धी विद्या प्रभृति अनेक विद्याएं जगत् में नवीन ही आविर्भूत हुई हैं। आकर्षण विद्या यद्यपि वेद में विद्यमान थी और ऋषियों को भी विदित थीं तथापि मध्य में यह समूल नष्ट होगई पुनरपि पाश्चात्य विद्वानों ने निज विवेक बल से प्रकाशित की। इस प्रकार दिन २ आज भी आचार्य्यगण नूतन २ आविष्कार करते देखे जाते हैं। इस हेतु सब समय में मनुष्यों की विद्या और विवेक की वृद्धि हो सकती है। और यह भी विचारो कि पूर्व युग के ही मनुष्य विवेकी हुए आजकल के वैसे नहीं हो सकते इसमें कोई हेतु भी कहना चाहिये। यदि कहो कि इस में कालधर्म ही हेतु है तो यह कथन अज्ञानियों का सा है क्योंकि नित्य, विभु, अचेतन, एकरस, काल न्यूनाधिकता से विशेषाविशेष को उत्पन्न नहीं कर सकता। सांख्यशास्त्र कहता है कि काल से बन्धन वा मुक्ति नहीं होती क्योंकि कालव्यापी, नित्य और सब से सम्बन्ध रखने वाला है। यदि कालकृत बन्धन हो तो मुक्त पुरुष को भी बन्धन होजाय। क्योंकि यहां पर भी काल है। अर्थात् जो काल सत्ययुग में था वही काल आज भी है। काल से यदि किसी को विघ्न होता तो सामान्यरूप से सब युग वालों को होना चाहिये। यहां शङ्का होती है कि शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में कुशल भी स्वस्थ भी मनुष्य उतने कार्य सम्पादन नहीं करते। यह काल का ही प्रभाव है। निरुपद्रव समय में बहुव्यापारोदय, विद्योपचय, विविधकलाविर्भाव सुना जाता है परन्तु उपद्रवसहित समय में नहीं। और भी सुनो यौवनावस्था में जैसी कार्य्यक्षमता होती है वैसी वार्द्धक्य में नहीं। अब कालरूप पुरुष को वृद्धता प्राप्त होगई। और यह भी अनुमान करो कि एक देश सर्वगुणसम्पन्न है उसको कोई समरप्रिय अविवेकी राजा वा वीर अत्यन्त विदलित कर वहां के सकल विद्वान् कुलों को नष्ट, राजकुलों को उच्छिन्न करदे और धनहेतु वैश्य जाति को उखाड़ डाले तब उस देश की क्या अवस्था होगी? कोल, भील और किरातादि आर्य्यों से विदलित हो आज भी वन्य दशा से बाहर नहीं निकल सके। यह सब काल का ही प्रभाव है।

उत्तर—ऋतुओं का उदाहरण ठीक नहीं क्योंकि सब युग में ऋतुओं की समानता है जो ऋतु पहले थे वे अब भी हैं। ग्रीष्मऋतु की सर्वत्र समानता नहीं। बदरिकाश्रम में ग्रीष्म ऋतु ही कार्यसम्पादक है हिमालय पर्वत और उस के समीपदेशों में भी यही दशा है और मनुष्य अपने बुद्धिबल से आतप में भी धारागृह, जलोक्षित खसखस की टट्टी आदियों के निष्पादन से सर्वत्र शीतऋतु करने में भी समर्थ है अथवा वैसे स्थान को त्याग कार्य्ययोग्य अन्य स्थान का आश्रय करलेवे। उपद्रव के सम्बन्ध में इतना कहना पड़ता है कि पूर्व समय में उपद्रव नहीं था यह केवल प्रशंसामात्र ही है और आप भी इसको स्वीकार कर चुके हैं। काल की वयोवस्था का विचार बालक-प्रलाप के समान है और कोल भील आदिकों के उदाहरण से काल प्रभाव को साधने की इच्छा भी विवेकी जनों को मनोभिरञ्जक नहीं है हम यह नहीं कहते हैं कि एक ही स्थान में अभ्युदय वा अपचय हो यहां सम्पूर्ण पृथिवी से सम्बन्ध रखनेहारा यह प्रस्ताव है। एक नष्ट होता है और एक उदित होता है। एक द्वीप का अभिभव दूसरे का विजय यह सार्वकालिक नियम है। विजयी पुरुषों में ही तब तक विद्या आदि का उदय होवे। इस हेतु इसमें कालधर्म कारण नहीं हो सकता॥

आयुर्विचारः॥

सम्प्रत्यायुषां ह्रासान्नाभ्युदयसम्भव इति नितरां मिथ्याप्रलापः। वेदेषु सर्व-कालायुःसमानत्ववचनात्। तद्यथा—इयं नार्युपब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु

मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ १ ॥ दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ३ ॥ जरां गच्छ परिधत्स्व वासः········ । शतं च जीव शरदः सुवर्चा············ । शतञ्च जीवामि शरदः पुरूचीः । कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । इत्यादीनि वेदवचनानि मनुष्यस्य शतायुष्ट्वमामनन्ति । ऋषयोपि शतायुर्वै पुरुष इत्येव निश्चिक्युः ।

आयुविचार ॥

यदि यह कहा जाय कि आज कल के पुरुषों की आयु कम होगई है पहले बहुत जीते थे इस हेतु पूर्ववत् आज के लोग नहीं हो सकते सो यह कथन भी उचित नहीं । यह अत्यन्त मिथ्या प्रलाप है । क्योंकि वेदों में सब काल के लिये आयु समान ही कहा गया है । देखो—"इयं नारी" इत्यादि मन्त्रों में १०० ही वर्षों की आयु का वर्णन है । अथ मन्त्रार्थः—(इयम्+नारी) विवाहसम्बन्धी यह मन्त्र है । यह स्त्री (उपब्रूते) ईश्वर से प्रार्थना करती है कि (मे+पतिः+दीर्घायुः+अस्तु) मेरा पति दीर्घायु होवे (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवे (अस्याः) इस नवोढा स्त्री के (यः+पतिः+दीर्घायुः) जो पति है वह दीर्घायु होवे । (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (जीवाति) जीवे ॥ २ ॥ आगे प्रार्थना के मन्त्र हैं—(चक्षुः) ज्ञानस्वरूप अथवा नेत्र के ज्योतिःप्रद (देवहितम्) पदार्थमात्र का हितकारी (शुक्रम्) शुद्ध (पुरस्तात्) सामने (उच्चरत्) उदित=हृदय में भासित (तत्) उस प्रत्यक्षादि अगोचर ब्रह्म को मनोवृत्ति द्वारा हम उपासक (शरदः+शतम्) १०० वर्ष (पश्येम) देखें (शरदः+शतम्+जीवेम) उसकी कीर्ति देखते हुए १०० वर्ष जीवें (शरदः+शतम्+शृणुयाम) उसकी कृपा से उसकी विभूति को १०० वर्ष सुनें (शरदः+शतम्+प्रब्रवाम) १०० वर्ष व्याख्यान करें (शरदः+शतम्+अदीनाः+स्याम) सौ वर्ष अदीन होवें (शरदः+शतात्+भूयः) पुनः १०० वर्ष उस तेज को देखें । पुनः विवाह के ये मन्त्र हैं—वर कन्या से कहता है (जराम्+गच्छ) पूर्णावस्था को प्राप्त होओ । ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक (वासः+परिधत्स्व) वस्त्र पहिनो (शतम्+च+जीव) १०० वर्ष जीओ (सुवर्चाः) शुभ्रतेज वाली होओ················ ईश्वर स्वयं कहता है कि मनुष्य (कर्माणि) वेदविहित शुभ कर्मों का (कुर्वन्+एव) अनुष्ठान करता हुआ ही (इह) इस लोक में (शतम्+समाः) १०० वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे, इत्यादि वेदवचन मनुष्य की १०० वर्ष की आयु को दिखलाते हैं । ऋषि लोगों ने भी "शतायुर्वै पुरुषः" ऐसा ही निश्चय किया है ।

ननु शतशब्दस्य बहुनामसु, अनन्तसंज्ञासु च पाठात् तेन परिमित-शताब्दी निर्णेतुं न शक्या । तथा दृश्यतेऽपि । इदानीमपि कोऽपि शरदः शतमतिक्रम्य मृतो दृष्टः । अतो न शतशब्दोऽवधारयिता । अत्र समाधत्ते—अन्यदप्युक्तं वेदे तदपि विचार्य निर्णेतव्यम् ॥ "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ।" पूर्ववचनैस्तु सामान्यतो नृणामायुर्वर्षशतं विधायकस्यचिद्योगिनः समाध्याद्युपायैः कदाचित् त्रिगुणितं भवितुमर्हतीति अस्माद् वेदवचनाल्लभ्यते । अन्यथा विकल्पेन युगभेदेन वाऽऽयुषः परिमाणेन विहितेन भाव्यम् । तथा च कचिदपि शतशब्दवत् सहस्रायुतलक्षादिः शब्दोपि प्रयोक्तव्यः । न तत्प्रयोगः कचिदाम्नायते । अतोऽनुमीयते

शतशब्दो मध्यमसंख्यावाचकः। यथा लोकेऽस्य पुरुषस्य प्रायः विंशतिर्गावः सन्तीति वाक्यं न त्रिंशतोऽधिका न च दशभ्यो न्यूना अपि प्रत्याययति। अत्र विंशतिशब्दस्तत्समीपस्थसंख्यामपि समुच्चिनोति। किन्तु न दूरस्थां संख्यां त्रिंशतं चत्वारिंशतम्वा संगृह्णाति। न्यूनतायामपीदृशी व्यवस्था।

इसमें कोई शङ्का करते हैं कि शत शब्द "बहु" और "अनन्त" नामों में पठित है अर्थात् शत शब्द का अर्थ बहुत और अनन्त है। इस हेतु परिमित १०० वर्ष निर्णय करना उचित नहीं और वैसा देखा भी जाता है। आज कल भी कोई कोई १०० वर्ष को अतिक्रमण करके मरा हुआ देखा गया है। कोई १२० वर्ष बीतने पर मरता है। इस हेतु इन वेदमन्त्रों में आया हुआ शतशब्द अवधारणवाची नहीं किन्तु बहुवाची है। इस शङ्का का यह समाधान है कि आपका कथन ठीक नहीं है अन्य बात भी वेद में कही गई है उसका भी विचार कर निर्णय करना चाहिये। "त्र्यायुषं जमदग्नेः" इस मन्त्र में त्रिगुण आयुष का प्रमाण मिलता है। अर्थात् सामान्यतः मनुष्यों की आयु १०० ही वर्ष परिमित है। किसी योगी की समाधि आदि उपायों से कदाचित् वह आयु त्रिगुणित हो सकती यह पूर्वोक्त वेदवचन से लाभ होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो विकल्प करके अथवा युग के भेद से आयु का परिमाण विहित होना चाहिये था और कहीं भी शत शब्द के समान सहस्र (१०००) अयुत (१००००) लक्ष (१०००००) आदि शब्द का भी प्रयोग करना था। परन्तु वैसा प्रयोग कहीं भी विहित नहीं। इस से अनुमान होता है कि १०० (सौ) वर्ष और कुछ अधिक आयु की अवधि है। यह शत शब्द मध्यम संख्यावाचक है। जैसे लोक में कहते हैं कि इसको प्रायः २० गायें हैं। इस कथन से यह नहीं आता है कि इसको २० ही गायें हैं किन्तु ३० से अधिक नहीं और १० से कम नहीं यह प्रतीत होता है। यहां विंशतिशब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी बोधक है परन्तु दूरस्थ संख्या तीस वा चालीस का भी संग्रह करने हारा नहीं। अन्यथा तीस चालीस शब्द का ही प्रयोग करता। न्यूनता में भी यही व्यवस्था है। अर्थात् ऐसे स्थलों में संख्यावाचक शब्द स्वसमीपस्थ संख्या का भी ग्राहक होता है। इस हेतु वेदस्थ शतशब्द स्वसमीपस्थ ११०, १२०, १३०, १४०, १५० और ७०, ८०, ९० आदि का ग्राहक हो सकता इससे अधिक का नहीं अर्थात् २००, ३०० आदि का बोधक नहीं हो सकता क्योंकि तब द्विशत त्रिशत शब्द का प्रयोग होना ही उचित होता। इसी हेतु "त्र्यायुषं" मन्त्र की भी आवश्यकता हुई। इससे यह सिद्ध हुआ कि शत शब्द से सौ से अधिक का ग्रहण हो सकता है। अतः १२० वा १३० वा १५० वर्ष तक जीकर मरने में कोई दोष नहीं।

ननु कश्चिज्जातः सन्नेव म्रियते। कथमेतत्। भवतामाशयस्तु नवतेर्वा अशीतेर्वा सप्ततेर्वा पञ्चाशतो वा न्यूनेन नायुषा भाव्यम्। इत्थमूर्ध्वगणनायामपि पञ्चाशदुत्तराच्छतादधिकमायुर्न भवितुमर्हति। अत्र समाधीयते। अत्र जीवनकालस्यैव परिमाणं विहितं न मरणकालस्य। अयमाशयो यदि मनुष्यः पूर्णायुः स्यात् तथापि शतं वर्षाणि जीविष्यति। मध्यमसंख्यान्यायात् पञ्चाशदधिकशतवर्षाण्यपि जीवेत्। न ततोप्यधिकमितिनिर्णयः। योगिनान्तु त्र्यायुषं जीवनम्। यथा दण्ड्यस्य कारागार-निवासावधिः क्रियते। अवधिं समाप्य न पुनस्तत्र क्षणमपि स्थाप्यः। यदि च तस्य शुद्धाचारः सद्व्यवहारश्च भवति। तदा प्रागपि अवधेर्मोचनीयः। अयमाशयो दण्ड्यमवधेरधिकं क्षणमपि बन्धयितुं न शक्नोति। मोचनन्तु प्रागपि कर्तुं समर्थः। एवमेव दार्ष्टान्तिकेऽपि

योज्यम् । अन्यच्च--सत्ययुगीनेषु प्राचीनतमेषु ग्रन्थेषु मनुष्य-जीवन-व्यवस्थाप्रस्तावो यादृश उपबद्धस्तादृगेव । सम्प्रत्यपि दृश्यते । प्रथमं तावद्वेदानुशासनमेव दृश्यताम्—

पुनः शङ्का होती है कि कोई तो उत्पन्न होता ही मर जाता है और आप का आशय तो यह प्रतीत होता है कि नवति (९०) वा अशीति (८०) वा सप्तति (७०) वा पञ्चाशत् (५०) से न्यून आयु नहीं हो सकती । इसी प्रकार ऊर्ध्वगणना में भी १२० से अधिक नहीं । तब क्यों इससे न्यून अवस्था में आदमी मर जाता है । सुनो—यहां केवल जीवनकाल का ही परिमाण विहित है मरण का नहीं अर्थात् यह आशय है कि यदि मनुष्य पूर्णायु होवे तथापि शत वर्ष ही जीवेगा अर्थात् मध्यम संख्या—न्याय से ५० वर्ष अधिक शत वर्ष पर्यन्त जीवेगा उससे अधिक नहीं यह निर्णय है और योगियों का आयुष भी जीवन है । इस में यह एक दृष्टान्त भी है जैसे अपराधी पुरुषों की कारागार-निवास की अवधि की जाती है । अवधि को समाप्त कर क्षणमात्र भी उसको वहां नहीं रख सकते परन्तु यदि उसका शुद्ध आचार और शुद्ध व्यवहार हो तो अवधि के पहिले भी छूट सकता है अर्थात् दण्डनीय पुरुष को अवधि से अधिक क्षणमात्र भी बांध नहीं सकते परन्तु अवधि के पूर्व छोड़ सकते हैं । अच्छे आचरण देख जब चाहे तब छोड़ दे । इसी प्रकार मरण का नियम नहीं, जीने का नियम है । सत्ययुग के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य के जीवन की व्यवस्था सम्बन्धी प्रस्ताव जैसा कहा है आज भी वैसा ही देखते हैं, दोनों में अन्तर कुछ नहीं पाते । प्रथम वेद का अनुशासन ही देखो—

दशमासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि । निरैतु जीवोऽक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ ऋग्वेद ५ । ७८ । ९ ॥ इति वेदवचनाद्दशमासावधिर्मातृगर्भनिवासो विहितः । इदानीमप्ययमेवावधिः ।

गर्भवास सम्बन्ध में वेद कहता है कि—(कुमारः) गर्भस्थ बालक (अधि मातरि) मातृगर्भ में (दश+मासान्+शयानः) दश मास वास करके (अक्षतः+जीव) निरुपद्रव जीवित (निरैतु) निकले और माता को भी किसी प्रकार की क्षति न पहुंचे । इस वेदवचन से दश मास के अभ्यन्तर ही सब की उत्पत्ति की व्यवस्था है । यही आज भी मनुष्य में नियम देखते हैं ।

अन्यच्च—"भोः किं पुण्यमिति ब्रह्मचर्यमिति । किं लोक्यमिति ब्रह्मचर्यमेवेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यं, तच्चतुर्धा वेदेषु व्यूह्य द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यम् । द्वादशवर्षाण्यवरार्धमपि स्नायंश्चरेद् यथाशक्त्यपरम् ॥" गो० ब्रा० २ । ५ ॥

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में देखो कोई पूछता है (भोः किं पुण्यम्) हे आचार्य ! पुण्य क्या है (ब्रह्मचर्यम्+इति) ब्रह्मचर्य ही पुण्य है (किं लोक्यम्) हे आचार्य ! किस कर्म से अच्छा लोक प्राप्त होता है (ब्रह्मचर्यम्+एव+इति) लोकप्रद भी ब्रह्मचर्य ही है (तस्मै+एतत्+प्रोवाच) तब आचार्य ने उस से कहा कि हे शिष्य ! (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षम्) ४८ (अड़तालीस) वर्ष (सर्ववेदब्रह्मचर्यम्) सब वेदों के लिये ब्रह्मचर्य है अर्थात् चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य है (तत्+चतुर्धा+वेदेषु+व्यूह्य+द्वादशवर्षम्+ब्रह्मचर्यम्) विभाग करके प्रत्येक वेद के लिये १२ वर्ष का ब्रह्मचर्य है यदि इतना भी न हो सके तो ६ (छः) वर्ष का ब्रह्मचर्य रक्खे ।

इत्येवंविधगोपथब्राह्मणवचनात्सत्ययुगेऽपि अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं विहितं सर्ववेदाध्ययनार्थम् । एकवेदाय द्वादशवर्षम् । इदानीमपि साङ्गान् सोपाङ्गान् सब्राह्मणान् सोपनिषत्कान् चतुरो वेदान् अष्टाचत्वारिंशद्वर्षैरेव समापयितुं शक्नोति । द्वादशवर्षैः पुनरेक एव वेदः समापयितुं शक्यः । पुनः—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् । तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥

इत्यनेन मनुवचन-प्रामाण्येनापि सत्ययुगीनानामपि वेदत्रयाय षट्त्रिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं दृश्यते । इदानीमपि एतादृशः कालावधिः । यदि सत्ययुगीनानां लक्षवर्षमायुः स्यात् तर्हि तच्चतुर्थांशकालिकं ब्रह्मचर्यं विधेयम् । तच्च न क्वापि दृश्यते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषदि "पुरुषो वाव यज्ञः" इत्युपक्रम्य पुरुषस्य षोडशोपेतं शतवर्षमायुः परिगणितम् । "तत्र यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातः सवनम्" । "अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्" । "अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम्" इति पुरुषे यज्ञत्वाध्यारोपेण प्रदर्शितम् । खण्डान्ते—एतद्यज्ञविद् ऐतरेयो महीदासः षोडशं वर्षशतमजीवत् । " प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद" इति फलं च दर्शयामास । यज्ञतत्त्वविदोपि सत्ययुगीनस्यापि अनूचानस्यापि ऐतरेयब्राह्मणस्य प्रणेतुरपि महीदासस्य षोडशोत्तरवर्षशतमायुः प्रदर्शितम् । इदानीमपि सदाचारवान् पुरुषस्तावताऽऽयुषा जीवन् दृष्टः । अग्रे प्राकृतभाषायामेव प्रकृतविषयोऽवलोकनीयः । ग्रन्थबाहुल्यात् संस्कृतं परिहीयते ।

यह गोपथ ब्राह्मण का वचन है । सत्ययुग में भी सब वेदों के लिये ४८ वर्षों का ही ब्रह्मचर्य विहित है । एक २ वेद के लिये १२ वर्ष हैं । आज भी अङ्ग, उपाङ्ग ब्राह्मण और उपनिषद् सहित चारों वेदों को ४८ वर्षों में पढ़ सकते हैं । द्वादश वर्ष में केवल एक ही वेद साङ्गोपाङ्ग समाप्त कर सकता । (षट्त्रिंशद्) तीन वेदों के लिये ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य होना चाहिये । अर्थात् १२ (बारह) प्रत्येक वेद के लिये । इस प्रकार चारों वेदों के लिये ४८ वर्ष होंगे । अशक्यावस्था में अर्ध वा एकपाद ब्रह्मचर्य रक्खे । इस मनुवचन के प्रमाण से भी सत्ययुगियों के लिये भी ३६ वा ४८ वर्ष ब्रह्मचर्य विहित है । आज भी उतने ही काल तक है । यदि उस समय लक्ष वर्ष आयु होता तो उसका चतुर्थांश ब्रह्मचर्यकाल कहना उचित था परन्तु सो कहीं नहीं देखते । पुनरपि छान्दोग्योपनिषद् में यह दिखाया गया है कि पुरुष ही यज्ञस्वरूप है । इतना कह पुरुष की आयु ११६ वर्ष नियत की है । उनमें २४ वर्षों का प्रातःसवन, ४४ वर्ष का माध्यन्दिनसवन, ४८ वर्ष का तृतीय सवन । पुरुष में यज्ञ का अध्यारोप करके यह वर्णन है और उपसंहार में उस यज्ञ के तत्वविद् महीदास ११६ वर्ष जीते रहे यह दिखलाया गया है और जो कोई इसको जानता है वह भी उतनी आयु पावेगा ऐसा फल कहा गया है । अब विचार करो कि सत्ययुगनिवासी, अनूचान, यज्ञतत्वविद्, महीदास ऐतरेय की भी ११६ वर्ष आयु कही गई है । आज भी सदाचारवान् पुरुष उतनी आयुष जीता हुआ देखा गया है । आगे प्राकृत भाषा में ही इस विषय को देखो ।

यदि सत्ययुगी पुरुषों की आयु लक्ष वा अधिक वर्ष की होवी तो उनके लिये ब्रह्मचर्य के भी वर्ष अधिक होने चाहियें क्योंकि सम्पूर्ण आयु को चार विभागों में बांटकर तदनुसार चार आश्रम विहित हैं । ब्रह्मचर्य्य के लिये कुछ अधिक वर्ष दिये गये हैं क्योंकि विद्याध्ययन मुख्य कर्त्तव्य है सो भी सब के लिये नहीं । पक्षान्तर में प्रायः चतुर्थ भाग ही होवेगा क्योंकि मनुजी के अनुसारः—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥
मनु० २ । ३६ ॥

गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन होना चाहिये । गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य का । पुनः—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥
मनु० २।३७॥

यदि ब्रह्मतेजस्वी बनाना चाहे तो पञ्चम वर्ष में ब्राह्मण अपने पुत्र का उपनयन करवावें। इसी प्रकार बलार्थी राजा का षष्ठ वर्ष में और धनार्थी वैश्य का अष्टम वर्ष में उपनयन होना चाहिये। अब मानलो कि ५ वें वर्ष में उपनीत होकर मध्यम संख्या १८ वर्ष तक आचार्य कुल में पढ़ने से २३ वें वर्ष में ब्रह्मचर्य समाप्त होता है। परन्तु इतने वर्ष में पूर्णविद्या जैसे आज नहीं होती वैसी ही पूर्व में न होती थी क्योंकि ३६ वर्ष का ब्रह्मचर्य रक्खा है परन्तु यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पूर्व समय में भी चारों वेदों के वक्ता विरले ही होते थे। एक विद्या में परम निपुणता को प्राप्त होते होंगे। अन्यों में साधारण परिश्रम करते थे। इसी हेतु प्रत्येक वेद के लिये १२ (बारह) वर्ष ब्रह्मचर्य के हिसाब से प्रायः ठीक २ चतुर्थ भाग होता है। मनुस्मृति के अन्यान्य विषय पर भी यदि विचार किया जाय तो यही विदित होगा कि शतवर्ष परिमित आयु है। देखोः—

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

३० वर्ष का पुरुष विवाह करे। इससे यह सिद्ध हुआ कि ३० वर्ष तक आचार्य-कुल में वास कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। पुनः—

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ ४।१६९॥

आयु के द्वितीय भाग को गृहस्थाश्रम में बितावे। पुनः—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

जब गृहस्थ देखे कि त्वचा शिथिल होगई, केश पक गये और पुत्र का भी पुत्र हो गया तब वानप्रस्थाश्रम का ग्रहण करे। पुनः—

वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥

इस प्रकार आयु के तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम में रह आयु का चतुर्थ भाग सब संग छोड़ कर सन्न्यास में बितावे। यद्यपि वानप्रस्थ और सन्न्यास के काल का नियम नहीं तथापि पौत्र जब हो जाय तब वानप्रस्थाश्रम को ग्रहण करे यह नियम देखा जाता है। ३० वें वर्ष में पुत्र और ६० वें वर्ष में पौत्र हो जायगा। इस से सिद्ध होता है कि ६० वें वर्ष के अनन्तर वानप्रस्थाश्रम को अवश्य ग्रहण कर लेवे। पुनः ३० वर्ष वानप्रस्थाश्रम करके अर्थात् ९० वर्ष के अनन्तर सन्न्यास का ग्रहण करे। यदि यहां तीस वर्ष तक जीता रहा तो तो सब वर्ष मिलके १२० (एक शत और बीस) वर्ष की आयु सिद्ध होती है। अब एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि मनुस्मृति में कहा गया है कि—

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः॥
मनु० १।८३॥

सत्ययुग के मनुष्य रोगरहित और बड़े सुखी थे और ४०० वर्ष की आयु उनकी थी। द्वापर, त्रेता और कलियुग में एक २ पाद आयु घटती गई। इससे यह सिद्ध होता है कि पहले चार सौ वर्ष की आयु थी। उत्तर—सुनो थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि सत्ययुग में ४०० वर्ष की आयु थी तथापि आजकल के लोगों का कथन तथा पुराण का गप्प बिलकुल जाता रहता है क्योंकि पुराण कई एक सहस्र वर्ष की आयु बतलाता है। अब इस पर यह विचार करो कि मनुजी

धर्मशास्त्रकर्त्ता सत्ययुग में थे । इनका धर्मशास्त्र सूत्ररूप में था इसी का प्रायः अनुवाद आजकल की मनुस्मृति प्रतीत होती है । संभव है कि पूर्व धर्मशास्त्र से इन में कुछ न्यूनाधिक्य हो । परन्तु जब यह मनुजी के नाम पर है और इस से प्राचीन श्लोकबद्ध कोई धर्मशास्त्र नहीं मिलता तो इससे निश्चय है कि प्राचीन धर्मशास्त्र के सब विषय लिये गये होंगे । अथवा मुख्य २ विषय तो अवश्य ही लिये गये होंगे । सत्ययुग के ग्रन्थ में उस समय के नियम अवश्य होने चाहियें । अब मनुस्मृति के ऊपर दृष्टि दो तब पता लग जायगा । अधिक से अधिक ३६ वर्ष तक वेद का अध्ययन सो भी सब के लिये नहीं । और अधिक से अधिक ३० वर्ष में विवाह, सो भी सब के लिये नहीं इस प्रकार मनु के पूर्व कथनानुसार १२० वर्ष की ही आयु सत्ययुग में सिद्ध होती है । अब जो ४०० वर्ष की आयु कही गई सो केवल उस युग की प्रशंसामात्र है क्योंकि "अरोग" और "सर्व-सिद्धार्थ" ये दो विशेषण भी हैं । क्या सत्ययुग में रोग नहीं था ? क्या सब कोई सिद्धार्थ ही थे ? यह कदापि नहीं हो सकता । इसका कोई उदाहरण भी नहीं मिलेगा । ग्रन्थ के विस्तार भय से उदाहरण नहीं देते परन्तु महर्षि विश्वामित्र सदृश पुरुष ने सत्ययुग में ही दुःख पाये । वसिष्ठ और विश्वामित्र में बड़ी लड़ाई हुई । परशुराम ने क्या २ लीला रची थी । यह सब सत्ययुग की ही बात है अथवा जैसा मैंने त्र्यायुष मन्त्र के ऊपर लिखा है कि योगियों को त्रिगुण आयु प्राप्त हो सकता है सत्ययुग में अधिक योगी थे अतः वैसा कहा है । इसके आगे के श्लोक देखने से भी मनु का भाव विस्पष्ट हो जायगा । देखोः—

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम् ॥ १ । ८४ ॥

मनुष्यों की आयु जितनी वेद में कही गई है. उतनी जाननी चाहिये । १०० वर्ष की आयु वेदोक्त है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आयु तो सब युग में १०० ही वर्ष की है परन्तु योगाभ्यास से कदाचित् किसी की आयु बढ़ सकती है सो भी ३०० सौ से अधिक नहीं यह भाव है । मनु के सब श्लोक प्रमाण भी नहीं ॥

वैद्यक के प्रमाण—सुश्रुत ग्रन्थ सब से प्राचीन माना जाता है कहा जाता है कि सुश्रुत सत्ययुग में हुए । इस ग्रन्थ का प्रमाण भी देखो—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे । समत्वागतवीर्यौ तो जानीयात् कुशलो भिषक् ॥

पुरुष और स्त्री क्रम से पचीस और सोलह वर्ष की अवस्था में जब प्राप्त होवें तब दोनों का समान वीर्य जानो अर्थात् २५ वें वर्ष में पुरुष और सोलहवें वर्ष में स्त्री युवा होती है । आज भी इतनी ही अवस्था में यौवन प्राप्त होता है । पुनः—

वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति । षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यवयः । तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिश्चेति । तत्राऽऽविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रिय-बलवीर्य-सम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत् परिहानिर्यावत् सप्ततिरिति ॥

सूत्रस्थान सुश्रुत अ० ३५ । २० ॥

अर्थ—अवस्था ३ प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध । सोलहवें वर्ष की अवस्था से लेकर ७० (सत्तर) वर्ष की अवस्था पर्य्यन्त मध्य अवस्था होती है । फिर इसके ये भेद हैं—वृद्धि (बढ़ना), यौवन (जवानी), सम्पूर्णता (परिपूर्णता या स्थिति) और हानि (घटाव), जिसमें २० वर्ष तक वृद्धि और तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन और चालीस वर्ष की अवस्था में सब धातु उपधातु सब इन्द्रिय और बल वीर्य की पूर्णता होती है इसके उपरान्त ७० (सत्तर) वर्ष की अवस्था तक कुछ न कुछ घटाव होने लगता है । पुनः—

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रिय-बलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखा-लित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभि-मृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥ ५१ ॥ सूत्रस्थान सुश्रुत संहिता । अध्याय ३५ ॥

अर्थ—सत्तर वर्ष की अवस्था से ऊपर सब धातु इन्द्रिय बल वीर्य्य दिन २ क्षय ही होता जाता है और शरीर की त्वचा में सलवट पड़जाती हैं । सम्पूर्ण बाल सफेद व पीले पड़ जाते और उड़ भी जाते, खांसी श्वास आदिक उपद्रवों से पीड़ित हो सब कार्यों में असमर्थ होजाता है । जैसे—पुराना जीर्ण मकान मेघ बरसने पर गिर पड़ता है ऐसे जीर्ण अवस्था वाले को वृद्ध कहते हैं ॥ ५१ ॥

यह सुश्रुत बहुत प्राचीन ग्रन्थ समझा जाता है यदि सत्ययुगादिक में मनुष्य की आयु १०० से अधिक १०००० वर्ष की होती तो वृद्ध भी तो २. ४ सहस्र वर्षों के पश्चात् होता परन्तु ऐसा वर्णन किसी सच्छास्त्र में नहीं देखते । इससे भी यही निष्कर्ष होता है कि पूर्व समय में भी इतनी ही आयु होती थी । यहां इसी प्रकार यह भी जानना चाहिये कि उस समय के लोगों के शरीर का आकार भी प्रायः आजकल के समान ही था क्योंकि वैद्यक में शरीर के प्रत्येक अङ्गों का नाप दिया हुआ है । अङ्गों की लम्बाई चौड़ाई मोटाई आदि सब कुछ लिखी हुई है ।

"सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिनपरताधिकरणम्"

मीमांसा का प्रमाण—जैसे उत्तर-मीमांसा (वेदान्तशास्त्र) उपनिषदों के अर्थ का वर्णन करती है वैसे पूर्वमीमांसा ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों की संगति लगाती है । ताण्ड्यमहाब्राह्मण में ऐसा वर्णन है किः—

पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः सम्वत्सराः । पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः । पञ्चपञ्चाशत एकविंशाः । विश्वसृजामयनं सहस्रसम्वत्सरम् ॥

ताण्ड्य महाब्राह्मणम् ॥२५ । १८ । १ ॥

यहां "पञ्च पञ्चाशतः" का अर्थ पञ्चगुणित पञ्चाशत् (५०) है अर्थात् ५० × ५ = २५० पचास अधिक दोसौ । "पञ्च पञ्चाशत्" शब्द चार बार आया है अतः २५०×४ = १००० सब मिलकर एक सहस्र वर्ष होता है । प्रथम २५० वर्षों में त्रिवृत् स्तोम । द्वितीय २५० में पञ्चदश स्तोम । तृतीय २५० में सप्तदश स्तोम और चतुर्थ २५० वर्षों में एक विंशस्तोम प्रधानतया होता है । अब शङ्का होती है कि १००० वर्ष का यज्ञ ब्राह्मणग्रन्थों में विदित है सो यह मनुष्यों के लिए है या देवों के लिये या जिसकी आयु सहस्र वर्ष की हो उसके लिये है । इस असमंजस की निवृत्ति के लिये जैमिनि "सहस्र शब्द का अर्थ एक सहस्र दिन है" इस नाम का एक अधिकरण आरम्भ करते हैं अर्थात् एक वर्ष का अर्थ एक दिन है । इस पर प्रथम पूर्वपक्ष सूत्र लिखते हैं यथा—

सहस्र-सम्वत्सरं तदायुषामसंभवान् मनुष्येषु ॥ ६ । ७ । ३१ ॥

भाव यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित जो सहस्र वर्ष का यज्ञ है वह (तदायुषम्) जिनकी आयु १००० वर्षों की होती है उनके लिये होसकता मनुष्य के लिये नहीं क्योंकि (मनुष्येषु) मनुष्यों में (तदायुषाम्+असंभवात्) उतनी आयु का असंभव है अर्थात् मनुष्य जाति में १००० वर्ष आयु नहीं होती इस हेतु अन्य देवादियों के लिये यह यज्ञ है । मनुष्य के लिये नहीं । इस पर पुनः कहते हैं कि—

अपि वा तदधिकारान् मनुष्यधर्म्मः स्यात् ॥ ६ । ७ । ३३ ॥

(अपि वा) देवादियों का अधिकार शास्त्र में नहीं है । इस हेतु वह (मनुष्यधर्मः+स्यात्) मनुष्य का ही धर्म है क्योंकि (तदधिकारात्) शास्त्र में मनुष्य का ही अधिकार है अर्थात् मनुष्य के लिये ही १००० वर्ष का यज्ञ है क्योंकि यज्ञ करने में मनुष्य का ही अधिकार है । यदि कहो कि मनुष्य की उतनी आयु नहीं फिर कैसे उतने वर्षों का यज्ञ कर सकता है ? यदि कहो कि रसायन योग-साधन आदि उपायों से आयु बढ़ जायगी, इस पर कहते हैं कि सो नहीं हो सकता ।

नासामर्थ्यात् ॥ सू० ३३ ॥

यह द्वितीय पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये पूर्व में जो कहा गया कि १००० वर्ष के यज्ञ में मनुष्य का ही अधिकार है अन्य का नहीं सो (न) नहीं हो सकता क्यों ? (असामर्थ्यात्) सामर्थ्य नहीं होने से, न इतनी मनुष्य में स्वतः सामर्थ्य है और न औषध आदि से ही उतनी आयु हो सकती। इस सूत्र का जो भाष्य है सो लिखकर अनुवाद करे देता हूं ।

न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टम् । येन सहस्रसम्वत्सरं जीवेयुः । एतानि हि अग्नेर्वर्द्धकानि वलीपलितस्य नाशकानि स्वरवर्णप्रसादकानि मेधाजननानि । नैतावदायुषो दातॄणि दृश्यन्ते । ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योग् जीवनमप्यनुमास्यते । न इति ब्रूमः । कुतः शतायुर्वै पुरुष इत्यनुवादः । स एवं ज्योग् जीवे न अवकल्पते । अत्र उच्यते शतान्यायुरस्येति विग्रहीष्यामः । नैवं संख्याशब्दानां समास इष्यते । न च गमकानि भवन्ति । द्विवचनबहुवचनान्तानामसमास इति चाभियुक्तवचनात् ।

अर्थ—(रसायनानाम्) रसायनों का (एतत्सामर्थ्यम्) यह सामर्थ्य (न+दृष्टम्) नहीं देखा गया है (येन) जिससे (सहस्रसंवत्सरम्+जीवेयुः) १००० वर्ष मनुष्य जी सके (हि) क्योंकि (एतानि) ये रसायन (अग्नेः+वर्धकानि) अग्नि के वर्धक हैं (वलीपलितस्य+नाशकानि) वृद्धावस्था के कारण से जो केशादि शुक्ल हो गये हैं उनके नाशक हैं (स्वरवर्णप्रसादकानि) उत्तम स्वर और वर्ण के देने वाले हैं परन्तु (एतावदायुषः+दातॄणि) इतनी आयु के देनेहारे (न+दृश्यन्ते) नहीं देखे जाते (ननु) इस पर शङ्का होती है कि (स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव०) रसायन से उत्तम स्वर और सुन्दर गौरादि वर्ण की वृद्धि होती है यह तो आप भी मानते हैं तब इसी से अनुमान कर लेवेंगे कि (ज्योक्+जीवनम्) अधिक जीवन भी होता है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं—(न+इति+ब्रूमः) नहीं । ऐसा नहीं हो सकता (कुतः) क्योंकि (शतायुः+वै+पुरुषः) पुरुष की आयु १०० वर्ष ही की है (इति+अनुवादः) यह वेदों का अनुवाद ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है इस हेतु (सः+एवम्+ज्योक्+जीवे+न०) उस पुरुष की आयु की अधिक कल्पना नहीं हो सकती । पुनः शङ्का होती है कि:—(शतान्यायुरस्य इति विग्रहीष्यामः) ॥

"शतायु" यहां "शतानि+आयुः+अस्य" ऐसा समास करेंगे तो इससे कई सौ वर्ष आयु होती है यह सिद्ध होगा । इसका उत्तर (नैवम्) ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि संख्या शब्दों में ऐसा समास नहीं होता अन्यथा बड़ी आपत्ति होगी किसी ने कहा कि यह बालक 'पञ्चवर्ष' है (पांच वर्ष का है) अब यहां (पञ्च च पञ्च च पञ्च चेति पञ्च । पञ्चवर्षाणि यस्य स पञ्चवर्षः) ऐसा समास करने पर यह बालक कितने वर्षों का है यह निश्चय नहीं हो सकता । ५, १०, १५, २०, २५, ३०, ३५, १००, १०००, १०,०००, १००,०००, १०,००,००० पांच वर्ष से लेकर कोटियों का अर्थ हो

जायगा। फिर संख्यावाचक शब्दों में कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। इस हेतु संख्यावाचक शब्द में द्विवचन बहुवचन करके कदापि समास नहीं होता। इस हेतु यह सिद्ध हुआ कि रसायन से केवल बल, स्वर, वर्ण आदिक की वृद्धि होती हैं आयु की नहीं। अतः उतनी आयु के असंभव के कारण वह यज्ञ मनुष्य के लिये नहीं कहा जा सकता। अतः अन्य प्रकार से समाधान करते हैं।

स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ॥ सू० ३७ ॥

कार्ष्णाजिनि आचार्य कहते हैं कि (सः) यह यज्ञ (कुलकल्पः+स्यात्) कुलकल्प है अर्थात् शास्त्रों में मनुष्य का ही अधिकार है और १००० (सहस्र) वर्ष का यह यज्ञ कहा गया है (एकस्मिन्+असंभवात्) एक पुरुष में उतनी आयु का होना असम्भव है। एक आदमी इसको कदापि नहीं कर सकता परन्तु विहित विधि को पूर्ण करना भी उचित है सो जिस प्रकार हो वैसा करना चाहिये। सो "कुलकल्प" के विना नहीं हो सकता अर्थात् इस यज्ञ को यदि किसी के पिता ने आरम्भ किया हो तो पिता के मरने पर उसके पुत्र करें। इसके बाद इसका पुत्र करे जब तक सहस्र वर्ष पूरा न हो तब तक उसके कुल के लोग इस विधि को पूरा करते जायं इसी का नाम "कुलकल्प" है। इस प्रकार से यह यज्ञ समाप्त हो सकता है ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य का पक्ष है। इस पर अन्य आचार्य कहते हैं—

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यादिति ॥ ३८ ॥

पूर्व में जो "कुलकल्प" कहा गया है सो भी उचित नहीं क्योंकि (एकस्य+एव+प्रयोगः) एक ही पुरुष का यह कर्त्तव्य है (कृत्स्नसंयोगात्) क्योंकि सम्पूर्ण विधि से संयोग एक ही आदमी का है अर्थात् जो सम्पूर्ण विधि को समाप्त करने में समर्थ हो उसी का यज्ञ में अधिकार है। इसका भी कारण यह है कि प्रयोग करनेवाले में ही फल कहा गया है। इस हेतु "कुलकल्प" भी उचित नहीं, इतना वादानुवाद करके आगे सिद्धान्त सूत्र कहते हैं। यथा—

विप्रतिषेधात्तु गुणयन्यतरः स्यादिति लाबुकायनः।

भाव यह है कि सम्वत्सर शब्द या पञ्चपञ्चाशत् शब्द गौण मानना पड़ेगा। यहां सम्वत्सर शब्द ही गौण अर्थ में है यह लाबुकायन आचार्य्य कहते हैं इस पर हेतु देते हैं।

सम्वत्सरो विचालित्वात् ॥ ३९ ॥

(विचालित्वात्) सम्वत्सर शब्द विचाली अर्थात् विचलित होने हारा है अर्थात् यह शब्द केवल वर्ष में ही रूढ़ नहीं किन्तु अन्यान्य अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यहां किस अर्थ में है इस पर कहते हैं:—

अहानि वाभिसङ्ख्यत्वात् ॥ ४० ॥

यहां सम्वत्सर शब्द "एकदिन" के अर्थ में है। इस प्रकरण में सम्वत्सर शब्द दिनवाचक है। यह निश्चय किया है।

अब आप विचार सकते हैं कि यदि पूर्व समय में मनुष्यों की अधिक आयु होती तो इतनी शङ्का करने की आवश्यकता न होती और वर्ष शब्द का अर्थ दिन नहीं करते।

और यह भी कदाचित् जैमिनि कह देते कि सत्ययुग में इतनी आयु का मनुष्य हुआ करता था। अतः ऐसी विधि कीगई अब उतनी आयु न होने से वह यज्ञ नहीं हो सकता परन्तु वैसा नहीं कहा इससे निश्चय होता है कि जैमिनि आदि आचार्य वैदिक आयु के परम विश्वासी थे। मैं बहुत क्या लिखूं ऐसी २ बातें सर्वथा वेदशास्त्रविरुद्ध होने से सब के लिये त्याज्य हैं। जब कलियुग के लोग अल्पज्ञ होने लगे तब ही ऐसी २ कुसंस्कार की बातें फैलाईं।

स्फुट बातें—शतक्रतु यह नाम इन्द्र का है परन्तु इन्द्र नाम जीवात्मा का है यह वर्णन विस्तार से वैदिक इतिहासार्थ निर्णय में देखो। वह जीवात्मा शतक्रतु कहाता है जिसकी १०० (सौवों) वर्षों की आयु जन्म से लेकर मरण तक क्रतु अर्थात् शुद्ध वैदिक व्यवहार में बीता है और जिसका बाल्यावस्था से मरण पर्यन्त जीवन शुद्ध है वही शतक्रतु इन्द्र है। वही जीवात्मा महान् ऐश्वर्यशाली होगा अतएव जो शत यज्ञ करेगा वही इन्द्र होगा ऐसी आख्यायिका पुराणों में चली आती है इस शब्द से भी मनुष्य की शतायु सिद्ध होती है।

उपनिषदादि ग्रन्थों में ७२००० (बहत्तर हज़ार) नाड़ियों का वर्णन आता है। यह भी शतायु का प्रदर्शक है। जैसे ३६० दिन और ३६० रात्रि का एक वर्ष माना गया है। दोनों मिलकर ७२० अहोरात्र होते हैं अर्थात् प्रायः एक वर्ष में ३६० दिन और ३६० रात्रियां होती हैं। अब ७२० को १०० से गुणा करो क्योंकि १०० वर्ष की आयु है अब ७२०×१०० के गुणा से ७२००० (बहत्तर सहस्र) हो जाते हैं। इन ही आश्रय से जीवात्मा कार्य करता है। अतः ये शरीरस्थ नाड़ीवत् नाड़ियां कहाती हैं। पश्चात् इस का वास्तविक तत्त्व न समझ कर शरीर की नाड़ियों को ही ७२००० सहस्र मानने लगे। कोई कहते हैं कि श्रीरामचन्द्र आदिक महापुरुष कई सहस्र वर्ष जीते रहे परन्तु यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि उपनयन के पश्चात् ही विश्वामित्र आके लक्ष्मणसहित राम को यज्ञरक्षार्थ वन लेगये और इसी यात्रा में सब भाइयों का जनकपुर में विवाह होगया। किसी ग्रन्थ से इस समय राम की उम्र ३० वर्ष से अधिक सिद्ध नहीं होती। प्रत्युत बहुत ग्रन्थकार १६ वर्ष से न्यून ही मानते हैं। एवमस्तु। अब १४ वर्ष रामचन्द्र को तो वनवास मिला इस यात्रा में वालि और रावण आदि शत्रुओं को मार रामचन्द्र की लीला प्रायः समाप्त हो जाती है। अब मैं पूछता हूं कि कई सहस्र वर्ष जीवन धारण कर श्रीराम क्या करते रहे क्या इसकी दिनचर्या बतला सकते हो? यदि इनकी लीला का पूरा हिसाब किया जाय तो सब ही १०० वर्षों के आभ्यन्तर ही समाप्त हो जाती है। अतः अनेक सहस्र वर्ष की आयु कल्पना करनी सर्वथा अज्ञानता की बात है।

इति संक्षेपतः॥

सर्वकाल में आचार्यों की विद्यमानता।

नतु तर्हीदानीमपि कथं न तादृशा भुवमनुगृह्णन्ति महाभागा इति भवानेव साधयतु। शृणु—इदानीमपि तादृशो भवन्ति। येषामाचार्याणां ग्रन्थैष्वधीतिनो भूत्वेदानीं पण्डितायन्ते ते सर्वे प्रायः कलिभवा एव। तद्यथा—महाभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिर्पदानां व्याकर्त्ता, कुसुमाञ्जलेर्विरचयितोदयनाचार्यो बहूनामाचार्याणामपि व्याकुलयिता, कृत्स्नस्य सांख्यशास्त्रस्य सप्तत्यैवाऽऽर्याभिः संघटयिता श्रीमानीश्वरकृष्णः, सर्वेषां सांख्यादि-शास्त्राणामपि भ्रमप्रदर्शकोऽद्वैत-संप्रदाय-प्रथमाचार्यः श्रीशङ्कराचार्यः, अस्यापि खण्डयिता वैष्णवधर्मस्य व्यवस्थापयिता च श्रीरामानुजस्वामी, ज्योतिःशास्त्रे नूतनगणितानामाविष्कर्त्ता भास्कराचार्यः, इमेऽन्येऽप्यभूषयन् पृथिवीं शतश आचार्या कलावेव। ऐतिह्येन ज्ञानन्तां तेषां नामधेयानि। निशामय नवतममुदाहरणम्—यत्स्वल्पेनैव कालेन दिगन्तमप्यतिक्रान्तं जगत्प्रशंस्यम्। कैर्हतभाग्यैर्मन्दपुरुषैः भुवनविदित आम्नायतत्त्वपारदृश्वा निसर्गत एव जनितार्षज्ञानः प्रशमितसमस्तपाखण्डलीलः पुनरुज्जीवितमूर्च्छितवेदपुरुषो निरस्तसमस्ता-धुनिकविबुधगर्वो भगवान् दयानन्दो न ज्ञायते। यः खलु सर्वान् पूर्वाचार्यानतिशय्य तिष्ठति। नायमृषिरेव योऽयं महर्षिपदं प्रापितो गुणग्राहिणीभिर्भारत-सन्ततिभिः। कृतं बहुलेखेन जिह्वायासकेन। स्वदेशान् द्वीपान्तराणि च गत्वा पश्याचार्याः शतशोऽथ सहस्रशः कुशाग्रबुद्धय ईश्वरप्रणिहितमतयो दृष्टतत्त्वा अद्यतनसमयालङ्कारभूताः।

शङ्का—तब आजकल भी वैसे महाभाग्यवान् पुरुष पृथिवी पर अनुग्रह क्यों नहीं करते आप ही इसको सिद्ध करें ?

उत्तर—आज भी वैसे होते हैं। जिन आचार्यों के ग्रन्थ पढ़कर आज पण्डित बनते वे सब ही प्रायः इसी युग के हैं। व्याकरण के विस्तार करनेवाले महाभाष्कार भगवान् पतञ्जलि, बहुत आचार्यों को भी व्याकुल करनेवाले कुसुमांजलि आदि ग्रन्थों के कर्त्ता उदयनाचार्य, सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त को केवल ७० आर्या छन्दों में घटानेवाले श्रीमान् ईश्वरकृष्ण, सब सांख्यादि शास्त्रों के भी भ्रमप्रदर्शक अद्वैतमत के प्रथमाचार्य श्रीशङ्कराचार्य, इन के मत का भी खण्डन करनेहारे वैष्णव धर्म के व्यवस्थापयिता श्रीरामानुज स्वामी, ज्योतिष् शास्त्र में नूतन २ गणित के आविष्कर्ता भास्कराचार्य, ये सब और अन्य भी शतशः आचार्य इसी कलियुग में हुए हैं। अति नवीन नाम भी सुनो जो थोड़े ही समय में दिशाओं के अन्त को भी अतिक्रमण करना चाहता है और जिसकी प्रशंसा सम्पूर्ण जगत् कर रहा है। भुवनविदित, वेदतत्त्वों के जिन्होंने पार तक देखा है, स्वभावतः जिनको आर्षज्ञान उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने समस्त पाखण्डियों की लीला शान्त की, मूर्च्छित वेदपुरुष पुनरपि उज्जीवित किये, निखिल आधुनिक विद्वानों का गर्व निरस्त किया ऐसे परमपूज्य महर्षि दयानन्द को कौन हतभाग्य मन्दपुरुष नहीं जानता है जो सब पूर्वाचार्यों को अतिक्रमण कर स्थित हैं। ये केवल ऋषि ही नहीं हुए किन्तु गुणग्राही भारत-सन्तानों ने महर्षिपदवी तक इनको पहुंचाया। जिह्वा के दुःखप्रद बहुत लेख से क्या प्रयोजन, देश और द्वीपान्तरों में जा आजकल भी शतशः सहस्रशः कुशाग्रबुद्धि ईश्वरभक्त आजकल के अलङ्कारस्वरूप आचार्यों को देखो। जिससे ज्ञात होगा कि आजकल भी बड़े २ आचार्य और विवेकी होते हैं।

नतु पुरापि यदि विवेकिनोऽभूवन् भवन्त्यधुनापि तर्हि किमुद्दिश्याकाण्डताण्डव-प्रस्तावो भवताम्। विरम विरम तावत् समनःसर्वाङ्गखेदकराल्लेखात्। सत्यमेतत्। स्वतो न विवेकोत्पाद अपेक्षते तु किमपि। यदि शैशवात्प्रभृति न कापि शिक्षा, न सतां सङ्गतिर्न पदार्थावलोकनम्, न चोपदेशश्रवणं स्यात्तर्हि कथं स उत्पद्येत। अतः शिक्षार्थो ग्रन्थो लेख्य एव। स चोत्तरोत्तरजानां पुरुषाणां सहायकः। ननु यथादिसृष्टौ पदार्थावलोकनेन स्वयमुद्भूतं ज्ञानं तथेदानीमपि भविष्यति। अत्रोच्यते—आद्यावपि अनादिर्वेदो वै शिक्षको बभूव। तस्मात्सर्वे बोधवन्तः। येषां तु वेदाऽस्वीकारपक्षः। तत्रापि अस्त्येव लेखप्रयोजनं सहायकत्वेन सापेक्षत्वात्। आहुस्तद्वादिनः—आसीत्पृथिवी प्रथममितरप्राणिभिः पूर्णा। जज्ञिरे पश्चान्मनुष्याः। जातेष्वपि तेषु वर्षसहस्रपूगानि जनिरपि नाभूद्विद्यायाः। केऽपि पर्वतगह्वरानध्यास्य रात्रिं नयन्ति स्म। केऽपि वृक्षानारुह्य हिंस्रसत्त्वेभ्य आत्मानं त्रायन्ते स्म। प्रस्तरपिण्डो, दारुलगुडश्चेत्येवंविधानि तेषामस्त्राणि। नोखलमूसले, न चुल्लिः, न भाण्डानि, न क्षेत्राणि, न हलानि, न धुर्याः, न वाहाः, न पात्राणि, न शकटानि, न गन्त्र्यः, न गावो नाश्वा इत्यादीन् परमोपयोगिनोऽहरहः कांक्षितान् पदार्थानपि न विदुः। अपक्वैव भोजकाः। अकुटीरा अवाससश्च। किं बहुना पशुकल्पा एवासन्। गच्छत्सु बहुषु कालेषु शनैः शनैः सामान्या विद्या क्षेत्रादिसम्बन्धिनी विज्ञाता। सापि कस्मिंश्चिद्देशे नाभूदद्यापि। यद्यत् किञ्चित् तैर्विदितं तत्तत्प्रथमं गीतिषु निबद्धं कथासु च कीर्तितम्। कतिपयवर्षलक्षगमनानन्तरं ते लिपिं ज्ञातवंतः। ततो लिलिखुर्ग्रन्थान्। तदाप्रभृति पूर्ववृत्तान्तज्ञा अभूवन् केचन। ते च ग्रन्था उत्तरोत्तरभाविसन्तानानामुपकारिण उपकुर्वन्ति स्म। इत्थं पूर्वलिखितग्रन्थादि-पठनपाठन-व्यवहारेण स्वानुभवसम्पत्त्या च सम्प्रति ईदृशा इयंतो विद्वांसो जाता जायन्ते च। यदि लेख-परिपाटी सम्प्रत्यवसीदेत् तर्हि भूयोपि सर्वे तामेव शैशवीं दशां भजेयुः। अतोप्युत्तर-साहाय्यार्थो ग्रन्थस्तु लेख्य एवेति तेषामपि राद्धान्तः। तत्राप्यहं नेदं नवीनं रचयामि ऋषिप्रणीतानामेव ग्रन्थानामाशयमाधुनिकप्राकृतभाषया तथा सरलसंस्कृतभाषया च प्रकटयितुं प्रयते। यतो नाधुना सर्वे संस्कृतं पठन्ति। पठन्तोपि नार्षभाषाध्ययनाय कालं यापयितुं शक्नुवन्ति पठनीय-बाहुल्याद् आर्षग्रन्थानां भाषाकाठिन्याच्च। अन्यच्च यदि बोद्धारो न लिखेयुर्नोपदिशेयुस्तर्हि पुनरपि सैव प्राचीनतमा दशाऽऽपतेत्। अतोपि लेख्यम्। अत्र सांख्यसूत्रद्वयमुदाहृत्याव-साययामीमं प्रासङ्गिकं लेखम्।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात्तत्सिद्धिः। इतरथाऽन्धपरम्परा॥ सां० ३। सू० ७९—८०॥

शङ्का—यदि पूर्व में भी विवेकी पुरुष हुए आज भी होते हैं तब किस उद्देश से अस्थान और असमय में नृत्य का प्रस्ताव कर रहे हैं। मन सहित सर्वाङ्गखेद कर लेख से विराम करना ही अच्छा है।

उत्तर—आपका कथन सत्य है परन्तु स्वतः विवेक की उत्पत्ति नहीं होती किसी वस्तु की अपेक्षा करता है। यदि शैशवावस्था से न शिक्षा, न सत्सङ्गति, न पदार्थावलोकन और न उपदेश-श्रवण हो तो तब वह विवेक कैसे उत्पन्न होगा? इस हेतु शिक्षार्थ ग्रन्थ लेख्य है। वह उत्तरोत्तर पुरुष का सहायक होता है।

शङ्का—जैसे आदि सृष्टि में पदार्थों के देखने से स्वयं ज्ञान उत्पन्न हुआ वैसा ही आज भी होगा।

उत्तर—आदि में भी निश्चय वेद शिक्षक हुआ उससे सब कोई बोधवान् हुए परन्तु जिनका वेद स्वीकारपक्ष नहीं है वहां पर भी लेख का प्रयोजन है ही क्योंकि भावी सन्तान के सहायक होने के लिये उसकी अपेक्षा है। इस सिद्धान्त के माननेहारे कहते हैं कि यह पृथिवी पहले अन्यान्य प्राणियों से पूर्ण हुई, पश्चात् मनुष्य उत्पन्न हुए, मनुष्यों के उत्पन्न होने पर भी अनेक सहस्र वर्षों तक विद्या का जन्म नहीं हुआ। कोई तो पर्वत के गह्वरों में वास कर रात्रि काटते थे और कोई उच्च वृक्षों पर चढ़ हुए जन्तुओं से अपनी रक्षा करते थे पत्थर और काष्ठ की छुरी उन के अस्त्र थे। न ऊखल, न मूसल, न चूल्हा, न भाण्ड, न खेत, न हल, न बहनेवाले, न ढोनेवाले, न गाय, न घोड़े, न काटने के हँसुए, न शकट, न छोटी गाड़ियां थीं। प्रति दिन जिनके विना आज कार्य्य नहीं चल सकता ऐसे परमोपयोगी पदार्थों को भी वे लोग नहीं जानते थे। विना पकाया हुआ भोजन करनेहारे थे, न कुटी और वस्त्र इनको थे। बहुत क्या कहूं वे प्राचीन लोग पशुओं से किञ्चित् न्यून ही थे। इस प्रकार बहुत काल व्यतीत होने पर धीरे २ साधारण खेत आदि की विद्या इन्होंने जानी वह भी किसी २ देश में आज भी नहीं। उन्होंने जो कुछ जाना प्रथम उन सबों को गीत में बनाया और कथाओं में कहने, सुनने और सुनवाने लगे। कतिपय लक्ष वर्ष बीतने पर उन्होंने लिपि जानी। तब ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। तब से कोई २ पूर्ववृत्त के जानने हारे होने लगे। वे ग्रन्थ उत्तरोत्तर सन्तान के उपकारी हुए। इस प्रकार पूर्वलिखित ग्रन्थों के पठन पाठन व्यवहार से और अपने अनुभव की सम्पत्ति से आजकल ऐसे और इतने विद्वान् उत्पन्न हुए और हो रहे हैं। यदि लेख-परिपाटी आज समाप्त हो जाय तो पुनरपि सब कोई उसी शैशवी दशा को प्राप्त होवें। इस हेतु उत्तरोत्तर सहाय्यार्थ ग्रन्थ तो लेख्य है यह उनका भी सिद्धान्त है। उस में भी मैं तो कोई नवीन ग्रन्थ नहीं बनाता ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के आशय को आधुनिक भाषा के और सरल संस्कृत भाषा के द्वारा प्रकाशित करने के लिये प्रयत्न करता हूं। जिस हेतु आजकल सब कोई संस्कृत नहीं पढ़ते, पढ़नेहारे भी आर्षभाषाध्ययन के लिये समय बिता नहीं सक्ते क्योंकि पढ़ने के लिये बहुत हैं और आर्षभाषा की कठिनता भी है। अतः यदि बोद्धा न लिखें और न उपदेश देवें तो पुनरपि वही प्राचीनतम दशा आ पड़ेगी इस हेतु भी लिखना चाहिये। इस विषय में सांख्यशास्त्र के दो सूत्र दे यह प्रासङ्गिक लेख समाप्त करता हूं।

उपदेश्य (शिष्य) और उपदेष्टा (आचार्य्य) दोनों के होने से जगत् में कल्याण की आशा होती यदि ये दोनों न होवें तो जगत् में अन्धपरम्परा फैल जाय। विज्ञानभिक्षुक ने प्रसङ्ग से इनका तात्पर्य्य अन्य प्रकार से भी वर्णन किया है परन्तु यहां उसका प्रसङ्ग नहीं।

स्वाध्यायप्रशंसा ॥

अत्र प्रथमं तावदृषीणां पन्था अनुकरणीयः। तमिमं पन्थानमिमानि वाक्यानि विस्फुटं प्रकाशयन्ति। तद्यथा—

स्वाध्याय प्रशंसा ॥

इस में प्रथम ऋषियों के मार्ग का अनुकरण करना उचित है। ये वक्ष्यमाण वाक्य उस मार्ग को विस्फुटतया प्रकाशित करते हैं। वे ये हैं—

"आचार्य्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेण+अभि समावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधद्+आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि

सम्प्रतिष्ठाप्य+अहिंसन् सर्वाणि भूतानि+अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते" ॥ छान्दोग्यो० ८ । १५ । १ ॥

इममार्षं पन्थानमनु कुर्वन्तो जनाः कथङ्कारं न विवेकिनो भविष्यन्ति । ऋषेर्भरद्वाजस्य ब्रह्मचर्य्यव्रतं निरीक्ष्यताम् ।

(आचार्य्यकुलात्) आचार्य के गृह पर जाकर (यथाविधानम्) विधिपूर्वक (वेदम्+अधीत्य) वेद पढ़ (गुरोः) आचार्य के (अतिशेषेण+कर्म्म) सब शुश्रूषा गोचारण आदि सेवा कर (अभिसमावृत्य) पश्चात् गुरु की आज्ञा से समावर्तन कर अर्थात् गुरुकुल से लौट (कुटुम्बे) विवाह कर अपने कुटुम्ब के साथ रहता हुआ (शुचौ+देशे) पवित्र स्थान में (वेदम्+अधीयानः) वेद को पढ़ता हुआ (धार्मिकान्) मनुष्यों को धार्म्मिक (विदधत्) बनाता हुआ (आत्मनि) अपने में (सर्वाणि+इन्द्रियाणि) सब इन्द्रियों को (सम्प्रतिष्ठाप्य) स्थापित कर अर्थात् वश में कर (अन्यत्र+तीर्थेभ्यः) विद्यालयों वा धर्म्मशालाओं से अन्यत्र भी (सर्वाणि+भूतानि) किसी प्राणी की (अहिंसन्) हिंसा न करता हुआ जो आदमी इस संसार में बरतता है (स) वह (एवम्) पूर्वोक्त प्रकार से (यावदायुषम्) आयु पर्य्यन्त (वर्तयन्) बरतता हुआ पुरुष (ब्रह्मलोकम्) अन्त में ब्रह्मानन्द को (अभिसम्पद्यते) प्राप्त होता है (न+च+पुनः+आवर्तते) पुनः २ क्लेश को नहीं पाता । जो कोई इस आर्षपन्थ का अनुकरण करेंगे वे क्यों नहीं विवेकी होवेंगे । ऋषि भरद्वाज के ब्रह्मचर्य-बल को देखो ।

तैत्तिरीया आमनन्ति—"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्य्यमुवास । तं ह जीर्णिं स्थविरं शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमेनेन कुर्या इति ब्रह्मचर्यमेवैनेन चरेयमिति होवाच" । तै० ब्रा० ३, १०, ११, ३, ४ ॥ भरद्वाजवद्विद्याभिलाषिभिः प्रथम भाव्यम् । नाको मौद्गल्यः स्वाध्यायप्रवचनयोरेव प्रशस्यतमत्वमाह । तद्यथा—"स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः ।" तैत्तिरीये । पुनः—"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । तानि त्वयोपास्यानि ।" तै० । पुनः—"अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव.........अथयत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव.........अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव" । इत्येवंविधानि छान्दोग्यवचनानि ब्रह्मचर्यं पदे पदे स्तुवन्ति । पुनः सन्ति शतपथब्राह्मणवचनानि स्वाध्यायं प्रति विशेषाऽऽदराणि तद्यथा—

तैत्तिरीय लोग कहते हैं (भरद्वाजो+ह) ऋषि भरद्वाज (त्रिभिः+आयुभिः) तीन बाल्य यौवन और वार्धक्य आयुओं से (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (उवास) करते रहे (तम्+ह+जीर्णिम्+स्थविरम्) जब वह जीर्ण और स्थविर होगये तब इनके निकट (इन्द्रः) इन्द्र ने (उपव्रज्य) आकर (उवाच) कहा (भरद्वाज) हे भारद्वाज ! (यत्ते) जो आप को चतुर्थ आयु दूं तो उस आयु से आप क्या करेंगे ? इस पर भरद्वाज ने कहा कि इस से भी मैं ब्रह्मचर्य ही करूंगा । इस इतिहास से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकाल के ऋषि बड़े ही विद्याभिलाषी थे और जिन्होंने ऐसा परिश्रम किया वे ही ऋषि भी हुए । इस हेतु ऋषि भरद्वाज के समान विद्याभिलाषी होने चाहियें । नाक मौद्गल्य ऋषि वेद के पढ़ने पढ़ाने को सब तपस्या से प्रशस्यतम मानते हैं पुनः कहा गया है कि स्वाध्याय=पढ़ना । प्रवचन=उसके व्याख्यान उपदेश अध्यापन आदि इन दोनों से (न प्रमदितव्यम्) कदापि भी प्रमाद न करे । पुनः (अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते) जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जिसको सत्रायण नाम यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है । जो अनाशकायन नाम का यज्ञ कहलाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की स्तुति छान्दोग्यश्रुति पद २ में करती है। विद्याध्ययनरूप व्रत का ही नाम ब्रह्मचर्य है। पुनः शतपथ ब्राह्मण के वचन स्वाध्याय की कहां तक स्तुति करते हैं सो देखो ऋषि कहते हैं।

"अथातः स्वाध्यायप्रशꣳसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान् साधयते सुखं स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रियसंयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः। प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिं लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च ॥ १ ॥ ये ह वै के च श्रमाः। इमे द्यावापृथिवीऽअन्तरेण स्वाध्यायो हैव तेषां परमता काष्ठा य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २ ॥ यद्यद्ध वाऽअयं छन्दसः स्वाध्यायमधीते तेन तेन हैवास्य यज्ञक्रतुनेष्टं भवति य एवं विद्वान्स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ ३ ॥ यदि ह वा अप्यभ्यक्तः। अलंकृतः सहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतऽआ हैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते तस्मात्स्वाध्यायाऽध्येतव्यः ॥ ४ ॥ मधु ह वाऽऋचः घृतꣳ ह सामान्यमृतं यजूꣳषि ॥ ५ ॥ मधुना ह वाऽएष देवांस्तर्पयति। य एवं विद्वानृचोऽहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः ॥ ६ ॥ घृतेन ह वाऽएष देवाँस्तर्पयति। य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्यायमधीते तऽएनं तृप्ता० इत्यादि ॥ ७ ॥ अमृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति। य एवं विद्वान्मजूꣳष्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्ता० ॥ ८ ॥ यन्ति वाऽआप एत्यादित्यः। एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वाऽएता देवता नेयुर्न कुर्युरेवꣳ हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंव्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय" ॥ १० ॥ शतपथ ब्रा० कां० ११। अ० ५। ब्रा० १—८ तथा १० ॥

(अथातः स्वाध्यायप्रशंसा) आगे स्वाध्याय की प्रशंसा कहते हैं—(स्वाध्यायप्रवचने) पढ़ना पढ़ाना (प्रिये+भवतः) ये दोनों वस्तु परमप्रिय हैं क्योंकि (युक्तमनाः+भवति) इस कर्म से उसका मन तत्त्वयुक्त होता (अपराधीनः) किसी के अधीन नहीं रहता अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता (अहः+अहः) प्रति दिन (अर्थान्) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पदार्थों को (साधयते) सिद्ध करता (सुखं+स्वपिति) सुख से जीवन बिताता (आत्मनः+परमचिकित्सकः+भवति) अपने आत्मा का परमवैद्य बनता (इन्द्रियसंयमः) इन्द्रियों का संयम होता (एकारामता+च) और ब्रह्म में अनवच्छिन्न विश्रान्ति लाभ करता। ब्रह्म एक होने पर भी बहुत होता (प्रज्ञावृद्धिः) प्रज्ञा की वृद्धि (यशः) यश (लोकपक्तिः) ऐहिक पारलौकिक सुख की परिपक्वता (वर्धमाना प्रज्ञा) बढ़ती हुई प्रज्ञा (चतुरः+धर्मान्) चार धर्मों से (ब्राह्मणम्+अभिनिष्पादयति) ब्राह्मण को युक्त करता है। वे चार ये हैं—(ब्राह्मण्यम्) ब्राह्मण्य (प्रतिरूपचर्या) गुणानुसार आचरण (यशः+लोकपक्तिः) यश और लोक-परिपक्वता इन चारों पदार्थों को बढ़ती हुई प्रज्ञा देती है और (लोकः+पच्यमानः) परिपक्व होता हुआ लोक भी (चतुर्भिः+धर्मैः) चार धर्मों से (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (भुनक्ति) पालन करता है। वे ये हैं—(अर्चया+च) पूजा से (दानेन+च) दान से (अज्येयता+च) हानि को न होने देने से (अवध्यतया+च) और न वध्य होने देने से अर्थात् विद्वान् की सदा पूजा होती दान मिलता रहता किसी प्रकार की हानि न होती और अपराधी होने पर भी वध्य नहीं होता ॥ १ ॥ (इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरेण) इस द्यावापृथिवी के मध्य में (ये+ह+वै+के+च+श्रमाः) जो कोई श्रम=तपस्याएं हैं (तेषाम्) उन

तपस्याओं में (स्वाध्यायः+वै) स्वाध्याय ही (परमता+काष्ठा) परमकाष्ठा है अर्थात् स्वाध्याय ही तपस्या की चरम काष्ठा है (यः+एवम्) जो ऐसा जानता हुआ (स्वाध्यायम्+अधीते) स्वाध्याय का अध्ययन करता है (तस्मात्+स्वाध्यायः+अध्येतव्यः) इस हेतु स्वाध्याय (वेद) अध्ययन करना चाहिये ॥ २ ॥ (अयम्) यह ब्रह्मचारी (छन्दसः) वेदों में से (यद्+यद्+ह) जो २ (स्वाध्यायम्+अधीते) स्वाध्याय पढ़ता अर्थात् वेद के जितना २ छन्द वा भाग पढ़ता जाता है (तेन०) उस २ अध्ययन रूप यज्ञ से यज्ञ ही होता (यः) जो कोई इस प्रकार जानता हुआ स्वाध्याय करता है। इस हेतु वेद अवश्य पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यदि+ह+वा+अभि) यदि वा वह (अभ्यक्तः) शरीर में तैलादि युक्त हो (अलंकृतः) विविध भूषणों से अलंकृत हो। अथवा (सुहितः) समाहित हो (सुखे+शयने+शयानः) अथवा अच्छे शयन पर सोता हुआ अर्थात् किसी अवस्था को प्राप्त हो किसी समय में (स्वाध्यायम्+अधीते) वेद को पढ़ता है (सः) वह अध्येता (आ+नखाग्रेभ्यः+तप्यते) शिर से लेकर नख पर्यन्त तपस्या ही करता है (यः+एवम्) जो कोई इस प्रकार इत्यादि। इस चतुर्थ कण्डिका का भाव है कि येन केन प्रकारेण वेद शास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिये। इसके लिये यदि व्रत होसके तो अच्छा है यदि व्रत न हो भूषणादि परित्याग न कर सके, गृह को भी न छोड़ सके पृथिवी पर न शयन करके अच्छे पर्य्यङ्क पर ही शयन करे तब भी कोई क्षति नहीं, परन्तु स्वाध्याय अवश्य करे। स्वाध्याय का किसी अवस्था में परित्याग न करे यही एक बड़ी भारी सब से श्रेष्ठ तपस्या है ॥ ४ ॥ (मधु+ह+वा+ऋचः) ऋग्वेद मधु (घृतम्+ह+सामानि) सामवेद घृत (अमृतम्+यजूंषि) और यजुर्वेद अमृत है ॥ ५ ॥ (मधुना+हवा) ऋग्वेद रूपी मधु से (अयम्) यह पढ़नेहारा (देवान्+तर्पयन्ति) देवों को तृप्त करता है (यः) जो ऐसा जानता हुआ प्रतिदिन वेद को पढ़ता है (ते) वे देव (तृप्ताः) तृप्त होकर (एनम्) इस को (सर्वैः०) सब काम और सब भोगों से तृप्त करते हैं ॥ ६ ॥ (घृतेन०) सामवेदरूपी घृत से वह देवों को तृप्त करता है इत्यादि० ॥ ७ ॥ (अमृतेन०) यजर्वेदरूपी अमृत से देवों को तृप्त करता है इत्यादि ॥ ८ ॥ (यन्ति+वै+आपः) प्रतिक्षण जल चलते ही रहते (आदित्यः+एति+चन्द्रमाः+एति+नक्षत्राणि+यन्ति) सूर्य्य, चन्द्र और नक्षत्र भी अपना अभ्यास कदापि नहीं त्यागते (यथा+हवै+एताः+देवताः+न+इयुः+न+कुर्युः) यदि ये देवताएं इस प्रकार न आवें और न अपना कार्य करें तो पृथिवी की क्या गति होगी ? (एवम्+हैव०) इसी प्रकार उस ब्राह्मण को भी जानो जो स्वाध्याय को नहीं करता है ब्राह्मण के स्वाध्याय न करने से भी वैसी ही हानि होती है (तस्मात्०) इस कारण ऋग्, यजु, साम अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई भाग भी अवश्य पढ़े इस व्रत का लोप कभी न करे इस प्रकार ऋषिगण स्वाध्याय की प्रशंसा करते आते हैं।

मनुश्चातुराश्रम्ये स्वाध्यायमनुशास्ति "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यम्" इत्यादिभिर्ब्रह्मचर्य्याश्रमे। "सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः। यथातथाऽध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता" ॥ मनु० ४। १७ ॥ "यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति। तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते" ॥ मनु० ४। २० ॥

मनुजी महाराज चारों आश्रम में स्वाध्याय का अनुशासन करते हैं—(१) "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यम्" इत्यादि से ब्रह्मचर्याश्रम में। (२)—"सर्वान् परित्यजेदर्थान्" इत्यादि से गृहस्थाश्रम में। अथ श्लोकार्थ—(स्वाध्यायस्य विरोधिनः) स्वाध्याय करनेहारे (सर्वान्+अर्थान्) वारम्वार धनिक के गृह पर जाना, कृषि और लोकयात्रा आदि सब कार्यों को (परित्यजेत्) छोड़ देवे। यदि इन सबों से स्वाध्याय में विघ्न हो तो छोड़ देवे और (यथा+तथा) येन केनोपाय से अपना निर्वाह करता हुआ (अध्यापयन्)

पढ़ता पढ़ाता हुआ ही काल को बितावे (हि) क्योंकि (सा+अस्य+कृतकृत्यता) पठन पाठन ही जीवन की कृतकृत्यता है। यदि यह न हुई तो सब ही नष्ट समझो (यथा+यथा+हि) जैसे २ (पुरुषः) पुरुष (शास्त्रम्) शास्त्र (समधिगच्छति) जानता जाता है (तथा+तथा) वैसे २ (विजानाति) पदार्थों को जानता जाता है (च) और (विज्ञानम्) विज्ञान (अस्य) इसको (रोचते) रोचक होता जाता है ॥

इत्यादिभिः श्लोकैर्न केवलं गार्हस्थ्ये स्वाध्याय एव विहितः स्वाध्यायस्य तु विरोधीनि यानि यानि कार्याणि भवेयुस्तानि तानि सर्वाणि त्यक्तव्यानीत्यपि, वानप्रस्थाश्रमे—"स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।" ६। ४८ इत्यादिभिः श्लोकैः। पारिव्रज्ये—"सन्न्यस्य सर्वकर्माणि कर्म्मदोषानपानुदन्। नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्य्ये सुखं वसेत्"॥ ६। ६५॥ एवंविधैः श्लोकैः। केचन सन्न्यासिनां स्वाध्यायादि-सर्व्व-कर्म्म-सन्न्यासमाहुस्तदसत्। "अनाश्रितं कर्म्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः"॥ गीता ६। १॥

"यज्ञदानतपः कर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्"। १८। ५॥ "नियतस्य तु संन्यासः कर्म्मणो नोपपद्यते॥ मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः"। १८। ७॥ इत्यादिभ्यः श्रीकृष्णवाक्येभ्यः। अप्रसङ्गादिदमिह न सम्यङ्-मीमांसे॥

इत्यादि श्लोकों से न केवल गृहस्थों के लिये स्वाध्याय का ही विधान करते किन्तु स्वाध्याय के विरोधी जो २ कार्य होवें स्वाध्याय की रक्षा के लिये उन सब का परित्याग करना विहित करते हैं। वानप्रस्थाश्रम में—(३) "स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्" इत्यादि श्लोकों से और संन्यासाश्रम में—(४) "संन्यस्य सर्वाणि कर्माणि" इत्यादि श्लोकों से। इस प्रकार चारों आश्रमों में स्वाध्याय की विधि मनुजी कहते हैं—कोई संन्यासियों के लिये स्वाध्याय आदि सब कर्म्म का परित्याग कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि "अनाश्रितः कर्मफलम्" इत्यादि श्रीकृष्ण के वाक्यों से सिद्ध है कि स्वाध्याय आदि कर्म्म वे अवश्य करें। ये त्याज्य नहीं हैं। इन प्रमाणों से बुद्धिमान् मनुष्य अनुमान कर सकता है कि स्वाध्याय के ऊपर कितना ज़ोर दिया गया था। जब तक वैसा स्वाध्याय यहां रहा तब तक बड़े विवेकी जन हुए। जब यहां से अन्यत्र स्वाध्याय चला गया तब वहां ही विवेकी जन उत्पन्न होने लगे। इस अवस्था में जिन्होंने स्वाध्याय का कुछेक अंश को भी पाया वे अवश्य विवेकी हुए। इस हेतु स्वाध्याय प्रथम विवेकोत्पत्ति में उत्तम कारण है।

स्वाध्यायस्य हानिकारं वस्तु ॥

अहो पुरोभागिता भारतहतकस्य। स्वाध्याये ह्यपि विवेकविरोधिनः श्राव्यन्ते भूयिष्ठाः कुसंस्काराः। ते च शिशूनां वर्णिनामन्तःकरणं प्रविश्य निघ्नन्ति। तद्यथा—अविवेकिन आचार्य्याः शिक्षन्ते—इयं व्याकरणस्य चतुर्दशसूत्री नृत्यतो महेश्वरस्य ढक्कातो निर्गता न केनचिन् मनुष्येण प्रणीता। साक्षाद्दिनमणिरेव रूपान्तरं विधाय ज्योतिःशास्त्रं मनुष्यानध्यापयद् अन्यथा कः खलु पृथिवीगोचरो भूत्वा ग्रहादीनां मानगमनादि वेत्तुं समर्थः स्यादित्येवमाद्याः प्रभूताः कुसंस्काराः सर्वेषु शास्त्रेषु बालकेभ्यः शिक्ष्यन्ते। ते चाचार्य्यमुखाच्छ्रुत्वा तान् सर्वान् अवितथानेव मन्यन्ते। तैरपि स्वशिष्येभ्यः,

इत्यन्धपरम्परा अद्यापि न निवृत्ता। तथा चाभाणकः—"अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे" स्यादेतत्। परस्परं भाषन्ते च देवानामेताः कृतयो न वयं मनुष्या ग्रन्थान् निर्म्मातुं पारयिष्यामः। यदि वा श्रीभगवत्याराधिता प्रसन्ना स्यात्तर्हि तद्वरप्रसादेन कदाचिद्वयमपि तत्कार्य्यं सम्पादयेम आगच्छत भगवतीमेवाराधयेम किमध्ययनेन देवतानुग्रहविरहिणा। इत्थमनेके स्वाध्यायं विहाय देव्याराधनेनापि फलमलब्ध्वाऽन्ते चोन्मत्ता जायन्ते। अपरे तु अधीयन्तोऽपि असत्सामर्थ्यबहिर्भूतं ग्रन्थादिप्रणयनमिति मत्वा सर्वदोदासतेतमाम्। केचन सम्प्रति केवलं पुण्यायैव ग्रन्थान् प्रत्यहमावर्तयन्ति न ज्ञानाय नान्धोपदेशाय च किं बहुना अद्यतनी स्वाध्यायशैल्यपि विवेकस्थाने मौढ्यमेव जनयति यदि प्रचलिता संस्कृतस्वाध्यायशैली एवमेव स्थास्यति तर्हि न विवेकोदयस्य प्रत्याशा।

आश्चर्य की बात है कि यह हत भारतवर्ष दोष ही देखता है क्योंकि स्वाध्याय में भी विवेकविरोधी बहुत कुसंस्कार सुनाये जाते वे बच्चे ब्रह्मचारियों के अन्तःकरण को पैठ कर नष्ट करते हैं। वे अविवेकी आचार्य कहते हैं कि व्याकरण के ये चौदहों सूत्र नृत्य करते हुए महादेव की ढक्का से निकले हैं किसी मनुष्य ने नहीं बनाए। साक्षात् सूर्य ने ही अन्य रूप धारण करके ज्योतिःशास्त्र मनुष्यों को पढ़ाया, अन्यथा कौन पृथिवीस्थ हो ग्रहादिकों के मान और गमनादि जानने में समर्थ हो सकता इस प्रकार के बहुतसे कुसंस्कार सब शास्त्रों में बालकों को सिखलाते हैं। वे बच्चे आचार्य के मुख से सुन कर उस सब को सत्य ही मानने लगते। वे अपने शिष्यों को सिखलाते। इस प्रकार आज भी वह अन्धपरम्परा निवृत्त न हुई। यहां एक आभाणक है कि अन्धे को पकड़ कर चलता हुआ अन्धा जैसे पद २ पर गिरता पड़ता है ऐसी ही दशा इन शिक्षकों की है। अच्छा जो हो। बच्चे परस्पर कहते हैं कि ये सब शास्त्र देवों की रचना है। हम मनुष्य हो के वैसे ग्रन्थों को बनाने में कदापि भी समर्थ न होवेंगे अथवा यदि वह देवी आराधित होने पर प्रसन्न हों तब उनके वर के प्रसाद से कदाचित् हम भी वह कार्य कर सकें। इस हेतु आओ हम सब भगवती की आराधना करें। देवतानुग्रहरहित अध्ययन से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार अनेक बालक स्वाध्याय को छोड़ देवी की आराधना करने लगते हैं। वहां पर भी फल न पाकर अन्त में उन्मत्त हो जाते हैं। अन्य पुरुष पढ़ते हुए भी हमारे सामर्थ्य से ग्रन्थादि प्रणयन बाहर है यह मानकर सर्वदा उदास ही रहते हैं। कोई आज कल केवल पुण्य के लिये ग्रन्थों की प्रतिदिन आवृत्ति किया करते हैं, ज्ञान और उपदेश के लिये नहीं। बहुत क्या कहूँ आजकल की स्वाध्यायशैली भी विवेकस्थान में मूढ़ता ही उत्पन्न करती है। यदि प्रचलित संस्कृत स्वाध्यायशैली अब भी ऐसी ही रहेगी तो विवेकोदय की प्रत्याशा नहीं है।

आप्तनिर्णय-प्रमाणता ॥

ननु इमे कुसंस्कारा, इमे सुसंस्कारा, इमे ग्राह्या, इमे हेया इत्यत्र केनोपायेन केन प्रमाणेन वा निर्णयान्तं वयं प्रतिपत्स्यामहे ? इत्यत्रापि विवेक एव हेतुः। स्वातन्त्र्येण परस्परसंवादश्चापि निरपेक्षाणां लोकहितैषिणां परीक्षकाणां च सत्यमसत्यञ्च निर्णेष्यति। यद्यप्यत्रापि नैकान्ततो निर्णयः संभवति। मनुष्यबुद्धिपरिच्छिन्नत्वात्। नहि सर्वः सर्वं जानाति तथा च बहुला ईश्वरीयविद्या इदानीमपि वेदेषु प्रकृतिषु च गुप्ता अविदिततया स्थिता दृष्टाः प्रत्यहं नवनवाविष्कारोभयँल्लोकेषु दृश्यते। तथापि निजसामयिकमत्यवधिर्निर्णयो भवितुमर्हति। अनागताः पुनः स्वधिया यथाज्ञानोदयं निर्णेष्यन्ति।

ननु अनया विचलितया व्यवस्थया सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः स्यात्। कथमिव—प्रथमं तावन्न सर्वः सर्वस्मिञ्छ्रद्दधाति य एव केषांचित्पूज्यास्त एवेतरेषां व्यतिक्रमणीयाः। न प्रत्यक्षेण नानुमानेन वा धर्माभ्युपगमः। रूपाद्यभावान्नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरो लिंगाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम्। अतोऽत्र शब्द एवाश्रयितुं शक्यते तेन व्यवस्थापि स्थिरत्वं प्राप्ता सुखाकरिष्यति। स्यादेतत्। कथन्तुशब्दैर्विवादोपशमः। शास्त्रकृतां प्रसिद्ध-माहात्म्यानां कपिलकणभुक्प्रभृतीनामपि हि परस्परविप्रतिपत्तयो दृश्यते।

अतः "कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा" इति न्यायेन विवादविषयी-भूतत्वाच्छब्दानां तत् प्रामाण्यमस्वीकुर्वन्तो वयं तावद् ब्रूमः कञ्चित् कालं परीक्षकाणा-माप्तानां बुद्धावेव तिष्ठेम। नन्वस्मिन्पक्षेऽपि बहुविवादोत्थानावसरः कुतः कस्याऽऽप्तस्य सिद्धान्तमनुसरेम कपिलस्य कणादस्य वा मनोर्याज्ञवल्क्यस्य वा बुद्धस्य शङ्कराचार्य्यस्य वा आधुनिकानामाप्तानां वा। अन्यच्च—यः कश्चिद्विषयो बुद्धिमद्भिः स्थाप्यते स एव बुद्धिमत्तरैर्व्युत्थाप्यते इतरैः कैश्चिद् बुद्धिमत्तमैश्च बालविचारोयमिति परिहस्यते युक्ति-भिरुपपत्तिभिश्च शतेन खण्ड्यते। अतः शब्दगम्येऽर्थे मा शङ्का कृता इत्यस्माकं राद्धान्तः सौष्ठवः। सत्यमेतत्। तथापि विवादप्रशमनार्थमेवैष पन्था अंगीक्रियते नतु विवादविवृद्ध्यै। शब्दानां प्रामाण्येऽभ्युपगम्यमाने सत्येव "वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः" इति न्यायं चरितार्थं करिष्यामः। तथाहि—सर्वे साम्प्रदायिकाः सूर्यान्धकारवत् परस्पर-विरुद्धमपि स्वस्वमतमागमैः प्रमाणयन्ति। यत्र मद्यपानं स्मृतिकारा महापातकेषु गणयन्ति तत्र तान्त्रिकास्तदेव पुण्यमामनन्ति इत्थं वैष्णवतान्त्रिकादीनि मतानि परःसहस्राणि परस्परविरुद्धानि दृष्ट्वापि कः परीक्षको बृहस्पतिबुद्धिरपि आगमैर्निर्णेतुं शक्नुयात्। अतः सर्वानितरशब्दान् विहाय वेदोपदेशमनुसरतां न विवादावसर इति यौष्माकीनं वचोवयमपि स्वीकुर्म्मस्तथापि परस्परविरुद्धव्याख्याभाष्यादिभिर्वेदार्थानामावृतत्वेन निर्णया-संभवान्न तदङ्गीकुर्मः। तद्यथा—जीवच्छरीरदाहमस्वीकुर्वतां शिरांसि श्रीरामानुजीया "अतप्ततनूः" इति मन्त्रं प्रमाणयन्तश्चूर्णीकरिष्यन्ति। मद्यपाः खलु "स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्राम्" ॥ यजुः० १६। १॥ "आसन्दी रूपं राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी" ॥ यजुः० १६। १६॥ इत्यादीन् मन्त्रानुपन्यस्यन्तः सुरापान-निषेधकानां कां दशां गमयिष्यन्तीति न जाने। किं बहुना—स्वार्थसाधनतत्परैः सम्प्रति वेदार्थोऽपि कदर्थीकृतः। अत इहाप्या-प्तानां परीक्षकाणां बुद्धिविचारादिव्यतिरेकेण न किमपि शरणम्। अतो ब्रूम आप्ता एवाश्रयितव्याः। ये च स्वसमये बुद्धिमत्तमत्वेन सर्वैर्गृह्यन्ते त एव निर्णेतृत्वेन नियोक्तव्याः। ते च सम्यक् परीक्ष्यावश्यं वेदानेव धर्म्मनिर्णायकान् वक्ष्यन्ति। यत ईश्वरोक्तत्वाद् वेदेषु न कश्चिद् भ्रमः। न च तर्कप्रतिष्ठास्वीकारेण वेद उच्छेदं प्राप्स्यतीति भयं कार्य्यम्। न हीश्वरात्कोप्यधिकस्तार्किकः। परःसहस्रा अपि तार्किका एकमप्यर्थं वैदिकं प्रत्याख्यातुं न समर्थाः।

प्रश्न—ये कुसंस्कार, ये सुसंस्कार, ये ग्राह्य और ये त्याज्य हैं इस विषय के निर्णय के अन्त तक हम किस उपाय वा प्रमाण से पहुंचेंगे ?

उत्तर—यहां पर भी विवेक ही हेतु है और निरपेक्ष लोकहितैषी परीक्षकों का सम्वाद भी सत्य और असत्य का निर्णय करेगा। यद्यपि यहां पर भी सर्वथा निर्णय सम्भव नहीं क्योंकि मनुष्य की

बुद्धि परिच्छिन्न है । सब कोई सब नहीं जानता और अनेक ईश्वरीय विद्याएं अब भी वेदों और प्रकृतियों में गुप्त और अविदितरूप से स्थित देखी जाती हैं क्योंकि प्रतिदिन नूतन २ आविष्कार लोकों में हो रहे हैं तथापि अपने समय की बुद्धि की सीमा तक निर्णय हो सकता है और भावी पुनः अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय कर लेंगे ।

प्रश्न—इस विचलित व्यवस्था से सब व्यवहार का उच्छेद हो जायगा । कैसे—पहिले तो सब-सब में श्रद्धा ही नहीं रखता और जो ही किन्हीं के पूज्य हैं वे ही अन्यों के अपूज्य हैं । प्रत्यक्ष वा अनुमान से धर्म की सिद्धि नहीं क्योंकि रूपादिक के अभाव से यह प्रत्यक्षगोचर नहीं । लिङ्गादिक के अभाव से अनुमानादिक का भी गोचर नहीं इस हेतु यहां शब्द का ही आश्रय लेना उचित है इससे व्यवस्था भी स्थिर हो सुखकारिणी होगी ।

उत्तर—ऐसा हो परन्तु शब्दों से विवाद की शान्ति कैसे हो सकती है क्योंकि शास्त्र के रचनेहारे जिनका माहात्म्य जगत् में प्रसिद्ध है ऐसे कपिल कणाद आदिकों का भी परस्पर विवाद है ।

इस हेतु "कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा" * इस न्याय के अनुसार शब्दप्रमाण को विवाद-विषयीभूत होने से उसकी प्रमाणता को न स्वीकार करते हुए हम कहते हैं कि कुछ काल आप्त परीक्षकों की बुद्धि के आश्रय में रहें ।

प्रश्न—इस पक्ष में भी बहुत विवादों के उत्थान का अवसर है क्योंकि जिस किसी विषय को बुद्धिमान् स्थापित करते हैं उसको उनसे अधिक बुद्धिमान् मिथ्या बतला देते हैं और उनसे भी अधिक बुद्धिमान् "यह बालक का विचार है" इस प्रकार हंसते हैं अथवा सैकड़ों युक्तियों और उपपत्तियों से खण्डन करते हैं । इस हेतु कहते हैं कि जो केवल शब्दगम्य विषय है उसमें शङ्का नहीं करनी चाहिये। यह हम लोगों का अच्छा सिद्धान्त है ।

उत्तर—हां सत्य है तथापि विवाद के प्रशमनार्थ ही इस मार्ग को स्वीकार करते हैं न कि विवाद की विवृद्धि के लिये । शब्दों की प्रमाणता के अङ्गीकार करने पर ही "वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः" इस न्याय को हम लोग चरितार्थ करेंगे क्योंकि सब ही साम्प्रदायिक सूर्य और अन्धकारवत् परस्पर विरुद्ध रहते भी स्व २ मत को आगमों (शब्दप्रमाणों) से प्रमाणित करते हैं । देखो—जहां स्मृतिकार मद्यपान को महापातकों में गिनते हैं वहां तान्त्रिक उसको पुण्य मानते हैं । वैष्णव तान्त्रिक आदि परस्पर विरुद्ध सहस्रों मतों को देखकर भी कौन परीक्षक बृहस्पति बुद्धिवाले भी शब्दप्रमाणों से निर्णय करने में समर्थ होवेंगे ? यदि ऐसा कहो कि सकल अन्य शब्दों को छोड़ वेदोपदेश के अनुसरण करनेहारे को कोई भी विवादावसर नहीं होगा तो यह कहना सर्वथा ग्राह्य है हम भी स्वीकार करते हैं तथापि इससे निर्णय होना संभव नहीं क्योंकि वेदों के अर्थ परस्पर विरुद्ध व्याख्यानादिकों से आवृत होरहे हैं । देखो—रामानुजीय सम्प्रदायी "अतप्ततनूः" इस मन्त्र को प्रमाण में देते हुए जीवित शरीर के दाह को न स्वीकार करनेहारे पुरुषों के शिरों को चूर्ण २ कर देवेंगे । इसी प्रकार मद्यपायी जन "स्वाद्वीं त्वा" "आसन्दी रूपं" इत्यादि मन्त्रों को पेश करते हुए सुरापान के

---

* यदि (कपिलः) सांख्यकर्ता कपिल महर्षि (सर्वज्ञः) सर्वज्ञ थे ऐसा स्वीकार करें तो (कणादः) वैशेषिक शास्त्रकर्ता कणाद ऋषि (न+इति) सर्वज्ञ नहीं थे इसमें (का+प्रमा) क्या प्रमाण है अर्थात् एक को अच्छा एक को न्यून मानने में कोई युक्ति नहीं इस अवस्था में कैसे निर्णय होता है ॥

निषेधकों को किस दशा को पहुँचावेंगे मैं नहीं कह सकता। बहुत क्या कहूँ। आजकल वेद का अर्थ भी कदर्थ कर रक्खा है, तब कैसे निर्णय हो। इस हेतु यहां पर आप्त परीक्षकों के बुद्धि विचारादि के अतिरिक्त शरण नहीं है। इस हेतु हम कहते हैं कि आप्त लोग ही आश्रयितव्य हैं। जो आप्त अपने समय में परमबुद्धिमान् करके सब लोगों से स्वीकृत हैं उनको ही निर्णय के लिये नियुक्त करो। अच्छे प्रकार परीक्षा करके वे अवश्य ही वेदों को ही धर्मनिर्णायक मानेंगे क्योंकि ईश्वरोक्त होने से वेदों में कोई भ्रम नहीं होसकता। यदि ऐसा कहो कि तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार करने पर वेद नाश को प्राप्त होगा। इस हेतु तर्क को हम स्वीकार नहीं करते। मैं कहता हूं ऐसा भय मत करो क्योंकि ईश्वर से बढ़कर कोई तार्किक नहीं। सहस्र तार्किक मिलकर भी वेद के एक अर्थ का भी प्रत्याख्यान नहीं कर सकते॥

ननु "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" "कोऽद्धा वेद क इह प्रवोचत्" "इयं विसृष्टिर्यत आवभूव" "अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्"। इत्येवमादिभ्यः श्रुतिस्मृतिभ्यः केवलेनाऽऽगमेन बोध्ये वस्तुनि तर्को नाऽऽदर्त्तव्य इति सर्वेषामाप्तानामपि स्वीकारात्कथं धर्म्म विषये तर्काग्रहः। अभिहित-वचनानि शुष्कतर्कान् निवारयन्ति। अन्यथाऽशक्यो हि निर्णयः सम्प्रति बहुशोऽवोचाम। अत आप्ताः सद्भिस्तर्कैर्यत्किमपि निर्णयन्ति तदितरैः स्वीकर्त्तव्यमिति न व्यवस्थायां विचलनं किमपि। इममर्थमिदानीं प्रचलितभाषायां निबध्नामि तत्रैव द्रष्टव्यम्।

शङ्का—(नैषा०) यह बुद्धि तर्क से दूर नहीं होसकती है (को०) कौन जानता है कौन व्याख्यान कर सकता है कि यह विचित्र सृष्टि कहां से हो गई ? (अचिन्त्याः०) जो अचिन्त्य पदार्थ हैं वहां तर्कों को न लगाना चाहिये। इत्यादि श्रुति स्मृतियों से केवल आगमबोध्य वस्तु में तर्क का आदर नहीं करना चाहिये। यह सब आप्तों को स्वीकार होने से धर्म विषय में कैसे आप तर्क का आग्रह करते हैं।

उत्तर—सुनो. कथित वचन शुष्क तर्क का निवारण करता है अन्यथा आजकल निर्णय नहीं होसका यह बारम्बार हमने कहा है। इस हेतु आप्त पुरुष सत् तर्कों से जो कुछ निर्णय करें उसको अन्य लोग स्वीकार करें ऐसा करने पर व्यवस्था में कोई विचलन नहीं होगा।

प्रश्न—बहुत से बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि धर्म और शास्त्रों में भेद है। धर्म में न कोई तर्क वितर्क और न आधुनिक आप्तों की प्रमाणता, किन्तु शास्त्रों में ये दोनों बातें स्वीकृत हैं अतएव अपने षड्दर्शनों में तर्क और युक्तियों का महासमुद्र तरङ्गायमान हो रहा है और जिनका सिद्धान्त इन दोनों से सुपुष्ट है वे ही परम मान्यगण्य हैं। शास्त्रों में ही "उत्तरोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्" की भी घोषणा है। धर्म की ऐसी व्यवस्था नहीं।

उत्तर—इस पर इतना मुझ को लिखना पड़ता है कि यद्यपि आर्यावर्त्त की यह व्यवस्था नहीं। यहां शास्त्रों के ऊपर ही धर्म स्थिर है। शास्त्र इसके अङ्ग माने गये हैं। मैं पूछता हूं कि जो बात तर्कों से, वितर्कों से. विविध युक्तियों और उपपत्तियों से अथवा शास्त्रों से मिथ्या समझी जाय क्या उसका मानना कदापि धर्म समझा जायगा ? नहीं। सत्यता ही का नाम धर्म है। वस्तुगत धर्म ही का नाम सत्यता है।

प्रश्न—यदि कहो कि लाखों तर्कादिकों से स्वर्गादिकों की कदापि भी सिद्धि न होगी तब इसके विधायक सकल धर्मग्रन्थ मिथ्या ठहरेंगे। इसका क्या उत्तर है?

उत्तर—ये मिथ्या ही हैं। कोई बुद्धिमान् इसको नहीं मानता। रोचक और भयानक बातें प्रवृत्ति के लिये कही गई हैं। यदि धर्म में तर्क आदिकों को आदर न होता तो सृष्टि की आदि में से आजतक एक ही सम्प्रदाय रहता आज भी सहस्रों सम्प्रदाय चल रहे हैं। बहुतसे पुरुष यह शङ्का करेंगे कि तब पुरातन ऋषियों की बड़ी अप्रतिष्ठा और उपेक्षा होती जायगी। यह भी कथन ठीक नहीं क्योंकि सत्यता सर्वदा एकरस रहती है। चिरन्तन ऋषियों ने जिस सत्यता को देखा आज भी आप्त उसको देखते और देखेंगे। सर्वदा से हाथी को सूंडवाला कहते आए। किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं हुआ। धर्म्मवस्तु भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष है। पुनः ऋषि लोग ईश्वरीय पुस्तकों की सहायता से सत्यता को स्थिर करते आए तब इस में व्यवस्थाभेद कैसे हो सकता है? यदि कहो कि प्रत्यक्ष भेद का अपलाप कैसे करें कौन महापुरुष शाक्त और वैष्णव की, आधुनिक वेदान्त और न्याय की एकता सिद्ध कर सकता है। अज्ञानकृत ये सारे भेद हैं जो आप्त ईश्वरीय ज्ञान को अपना अस्त्र बनावेंगे उन में कोई भेद उतना नहीं होगा। ईश्वरीय ज्ञान वेद और यह सृष्टि है। इन दोनों में कोई भेद नहीं। बुद्धिमान जन इस को विचारें वेदों और सृष्टि के पदार्थों के जानने के लिये परिश्रम करें तब देखेंगे कि ये दोनों एक ही वस्तु हैं। सृष्टि के तत्वविदों को ही आप्त कहते हैं। सृष्टि और वेद दोनों ही ईश्वरकृत हैं तब आप्त पुरुष कैसे इन दोनों में भेद लगा सकते हैं। अतः आप्तों की प्रमाणता स्वीकार करने में कोई क्षति नहीं। अलमति-विस्तरेण विवेकिपुरुषेषु॥

आत्मनिर्भरताया अभावः॥

सर्वेषु कार्येषु कृतविद्यानामधीतप्रकृतिविलासानां पक्षरहितानां मनीषिणामात्म-निर्भरतैव सर्वनिर्णेत्री। बहुशतवर्षेभ्यो भारतवर्षीया आर्य्या नात्मानं स्वकीयमध्यासते। अतस्तेषां बुद्धिः सर्वथैव मन्दायिता। अन्तराऽन्तरा कियन्तो जना आत्माऽऽदेशानुकरणे प्रयतमाना अपि पश्चात्तु स्ववंश्यैर्वा स्वग्रामीणैर्वा स्वजानपदैर्वा दैशिकैर्वा बाध्यमाना नाऽऽविचारान्तं स्वातन्त्र्यं लेभिरे। ततस्ते किञ्चिदिव विपर्यस्य परिणमय्य वा प्रचलित-सिद्धान्तमेव स्थापयामासुः स्वसम्प्रदायम्। अत्र रामानुज-रामानन्द निम्बार्कादयः प्रमाणम्। केचन समन्ताद्विप्रकीर्णान् कुसंस्कारान् समुन्मूलयितुं प्रवृत्ताः। तेषां मतन्तु प्रचलितानि मतानि अपेक्ष्य साधीयोऽप्यत्रत्यास्त्रैवर्णिका नोररीचक्रुः। अत्र कबीरनानकादय उदा-हरणम्। गतेषु कालेषु एतेषामपि मतकुल्याः पौराणिक-व्यामोहाब्धि निपतिताः। अतोऽत्रत्येतिहासपर्यालोचनेन स्थिरीक्रियते यत् प्रविरला एवात्मनिर्भरत्वस्य महिमानं विदांचक्रुः। अतएव निकृष्टमपि नीचमपि वेदविरुद्धमपि स्वबोधेनापि विपरीतमपि गतानु-गमनमेव रुरुचेऽत्रत्येभ्यो जनेभ्यः। जातोऽस्य महाभयङ्करः परिणामः। अनेनैव कारणेन ईदृशी कर्त्तव्याकर्त्तव्यविचारविमूढा वातुला मतिरुत्पन्ना यदाऽऽहता निपतिता इदानीमपि नोत्थातुं शक्नुवन्त्यार्या वात्योत्खातिता महावृक्षा इव। अत्र पञ्चषाण्येमान्युदाहरणानि येषां श्रवणमपि हृदयविदारकं सताम्।

आत्म-निर्भरता का अभाव ॥

कृतविद्य, प्रकृतिविलास के अध्ययनशील और पक्षरहित मनीषियों की आत्मनिर्भरता ही सब कार्यों में निर्णय करनेहारी होसकती है। दो तीन सहस्र वर्षों से भारतवर्षीय आर्य्य अपने आत्मा के ऊपर निर्भर नहीं हैं। अतः इनकी बुद्धि सर्वथा मन्द होगई। बीच २ में कितने ही मनुष्य आत्मा के आदेश के अनुसार चलने में यत्नवान् हुए परन्तु पश्चात् अपने वंशजों से वा अपने ग्राम के रहनेहारों से वा अपने जानपदों से वा देशवासियों से बाध्यमान और निवार्यमाण हो अपने विचार के अन्त तक स्वतन्त्रता को उन्होंने न पाया, तब प्रचलित सिद्धान्त को ही किञ्चित् उलट पलट कर अपने सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें रामानुज, रामानन्द, निम्बार्क आदि प्रमाण हैं। कोई सर्वत्र विस्तीर्ण कुसंस्कारों को जड़ से उखाड़ने में प्रयत्न करने लगे। उनका मत प्रचलित मतों की अपेक्षा साधु भी था तथापि यहां के त्रैवर्णिकों ने स्वीकार नहीं किया। इसमें कबीर, नानक आदि उदाहरण हैं। बहुत काल व्यतीत होने पर उनकी भी मतरूप कृत्रिम नदियां पौराणिक-व्यामोहरूप समुद्र में डूब गईं। इस हेतु यहां के इतिहास की पर्य्यालोचना से स्थिर किया जाता है कि बहुत कम पुरुष आत्म-निर्भरता की महिमा को जानते थे। यहां के लोगों ने निकृष्ट भी नीच भी वेदविरुद्ध भी अपने बोध से विपरीत भी "गतानुगमन" को ही पसन्द किया। इस का बड़ा भयङ्कर परिणाम हुआ। इसी कारण से यहां ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमूढ वातुला (पगली वायु से आहत) मति उत्पन्न हुई और बवण्डर से उखाड़े और गिराये हुए महावृक्ष के समान जिससे आहत और नीचे गिरकर अब भी आर्यों को उठने की शक्ति नहीं है। इस विषय में पांच छः ये उदाहरण हैं। जिन का श्रवण भी सज्जनों के हृदय का विदारक है ॥

प्रथमं निरपराधानां जीवन्तीनां विधवानां काष्ठादिवदग्नौ बलात् प्रक्षेपः। उच्चैः क्रन्दतामात्मशिशूनां कार्य्यसिद्ध्याशया देवतायै समर्पणेन, गङ्गाद्यानां नदीनामम्भसि प्रवाहेण तथा चैवंविधेभ्यो ग्रामादिदेवेभ्यश्च प्रदानेन बालहत्याकरणम्। विवाहभीत्या पुत्रीहत्या। एकस्मै वराय कन्याशतप्रदानम्। पाषाणशिलादिमूर्तिभिः सह कन्योद्वाहनम्। पर्वताग्रिपत्यात्महननम्। काशीप्रभृतितीर्थस्थानेष्वात्महत्या किमत्र बहुवक्तव्यं नितान्त-निकृष्टमपि लिङ्गभगादिपूजनं सर्वत्र प्रचारितं महाधूर्तैः। इत्येवंविधाः परःसहस्रा अननुष्ठेया वेदेषु काप्यदृष्टाः क्रिया अपि कृतवन्तः। ईदृशनिन्द्यतमक्रियानुष्ठानाय न केवलं स्वाभिमतमेव प्रकाशयामासुः किन्त्वत्र वसिष्ठवाक्यं नारदवचनञ्च प्रमाणम्, अत्र साक्षात् पराशरो विधिं करोति, अत्र स्वयमेव श्रीकृष्णः श्रीरामश्चोपदिशति, इत्येवंविधानां प्रामाणिकानां नाम्ना बहून् ग्रन्थान् विरचय्य जगद् वञ्चयामासुः। इमे कितवा मूढा मन्दमतयो निर्दयाः प्रस्तरहृदयाः स्वार्थसाधनपारवश्येन नाजीगणन् महापातकानि, नान्व-कार्षुर्ऋषिचरितानि, नाश्रोषुर्वेदवचांसि, अमूमुहन्नाश्रितान् धर्मभीरून् मुग्धान् भारत-वासीयान्। इमे अत्याचारा न कैश्चिदपि दोषज्ञैर्निवारिताः। धर्माभिधानेन यानि यानि पातकानि कितवैः पाटच्चरैश्च संचारितानि तानि तानि समधिकदृढानि भूत्वा विवेकपुरुषम् अगाधे समुद्राम्भसि निमज्जयामासुः। आत्मनिर्भरताविरहादेव तत् सर्वं समुत्पन्नमनिष्टजातम् ॥

देखो, निरपराध जीती हुई विधवाओं को काष्ठवद् अग्नि में फेंकना। कार्यसिद्धि की आशा से उच्चस्वर से चिल्लाते हुए अपने बच्चों को भी देवताओं के लिये समर्पण करने से अथवा गङ्गा आदि नदियों के जल में प्रवाहित करने से अथवा ऐसे ग्रामादिदेवों को भी देने से बालहत्या करनी। विवाह के भय से पुत्रियों की हत्या करनी। एक ही वर को सौ २ कन्याएं देनी। पाषाण शिवादिक के साथ कन्या का विवाह कर देना। पर्वत पर से गिरकर आत्महनन करना। काशी प्रभृति तीर्थस्थानों में आत्महत्या। बहुत यहां क्या कहना है अत्यन्त निकृष्ट लिङ्ग-भगादि के पूजन को भी महाधूर्तों ने चलाया। इत्यादि सहस्रों अकर्तव्य और जिनकी वेदों में कहीं भी चर्चा नहीं ऐसी भयङ्कर क्रियाएं भी यहां के लोग करते रहे और ऐसी क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये न केवल अपनी सम्मति ही प्रकाशित करते थे किन्तु यहां इस विषय में वसिष्ठ और नारद ऋषि के वाक्य प्रमाण हैं। यहां साक्षात् पराशर ही विधि करते हैं। यहां स्वयमेव श्रीकृष्ण और राम उपदेश देते हैं। इस प्रकार के प्रामाणिक आचार्यों के नाम से बहुत ग्रन्थों को रचकर इन धूर्तों ने जगत् को वञ्चित किया। मूढ़, मन्दमति, निर्दय और प्रस्तर-हृदय उन धूर्तों ने अपने स्वार्थसाधन के परवश होकर महापातकों को नहीं गिना। ऋषि-चरित्रों का अनुकरण नहीं किया। वेद-वचन न सुने किन्तु आश्रित, धर्मभीरु, मुग्ध भारतवासियों को मोहित किया। किन्हीं विद्वानों ने इन अत्याचारों का निवारण नहीं किया। धर्म के नाम से धूर्तों और पाटच्चरों ने जिन २ पातकों का सञ्चार किया उन्होंने अधिक दृढ़ हो विवेक-रूप पुरुष को अगाध समुद्र के जल में डुबो दिया। यह सब अनिष्ट आत्म-निर्भरता के न रहने के कारण से ही उत्पन्न हुआ है।

इमे कुलधर्मा ग्रामधर्मा देशधर्माश्च चिररात्राय प्रवृत्ताः सर्वैः पूर्वजैरादृताः कथमस्माभिर्हातव्याः कथमद्यतनस्य तव कथां युक्तिं वा स्वीकृत्यानेकशताब्द्याऽऽगतधर्मपरिहारेण लोकेषु हास्यतां प्राप्य निन्दां शिरसि धारयेम। यदि किं पूर्वजश्चोर आसीदित्यनेन सर्वैरस्माभिश्चौरैर्भाव्यमिति पृच्छेत्तर्हि नायं श्राव्यः कर्णौ पिधाय गन्तव्यमिति भणित्वा क्रुध्यन्तो निन्दितुम्वा योद्धुम्वा प्रारम्भन्ते। ग्रामीणा अपि वेदादिसच्छास्त्रवर्जमधीतपञ्चषड्ग्रन्थास्तानेवानुकुर्वन्ति। ये केचन सम्यगधीतिनस्तेऽपि मननव्यापारविरहितया अबुधा एव। तथा चोक्तम्—"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्। लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति" न हि शास्त्रपाठमात्रं काञ्चित् जनान् विबुधयति। तद्धि मननादिशास्त्रमपेक्षते। विवेकिनामीदृशान् निन्द्याचारान् पश्यतामपि औदासीन्यम् अनभिज्ञान् प्रत्युत अविवेके द्रढयति। यद्यपि बहुशो विज्ञाः सत्यतां प्रार्थयतां पथ्याऽऽगच्छन्ति। तथाप्युत्तमाः सत्यव्रता लोकहितेप्सवो न कदापि प्रमाद्यन्ति स्वानुष्ठानात्॥

ये कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, देश-धर्म बहुत दिनों से प्रवृत्त हैं सर्व पूर्वजों से आदृत होते आये हैं। हम कैसे इनको त्यागें? कैसे आज तेरी कथा वा युक्ति को स्वीकार कर अनेक शताब्दी से आते हुए धर्म के परित्याग से लोक में हास्य को प्राप्त हो निन्दा शिर पर धारण करें। इस के उत्तर में यदि यह कहा जाता है कि क्या पूर्वज चोर थे इस हेतु हम सब को भी चोर ही होना चाहिये। इस पर इस की बात सुनने के योग्य नहीं। कान बन्द कर यहां से चले जाना चाहिये ऐसा कह क्रुद्ध होते हुए निन्दा वा युद्ध करना आरम्भ करते हैं। ग्राम के रहनेहारे वेदादि सच्छास्त्रों को छोड़ केवल पांच छः ग्रन्थों के अध्ययन करने हारे इन के अनुकरण करते हैं और जो कोई सम्यग् पढ़ने हारे भी हैं। वे भी मनन व्यापार के न करने से अबुध के समान ही हैं। ऐसा कहा गया है (यस्य०) जिस को स्वयं बुद्धि

नहीं है उस को शास्त्र क्या करता है। लोचनहीन पुरुष को दर्पण क्या करेगा? केवल शास्त्रपाठमात्र किन्हीं मनुष्यों को विद्वान् नहीं बनाता क्योंकि वह मननादि शास्त्र की अपेक्षा रखता है। ऐसे निन्द्य आचारों को देखते हुए भी विवेकी पुरुषों की उदासीनता अनभिज्ञ पुरुषों को अविवेक में दृढ़ करती है। यद्यपि ऐसे बहुतसे विघ्न सत्यता के फैलाने हारों के मार्ग में आते हैं परन्तु उत्तम, सत्यव्रत, लोकहितेप्सु जन अपने कार्य से कदापि प्रमाद नहीं करते।

आत्मबलोपायः ॥

आदौ पौनःपुन्येन प्रचलितव्यवहारा अध्येतव्याः। भूयोभूयस्तेषां गुणा दोषाश्च गम्भीरया निर्जनसेवापरिष्कृतया विमलया मेधया आत्मनि मीमांसनीयाः। दैशिकाः सुप्रसिद्धाः पक्षविरहिता गुणिनश्चात्र प्रष्टव्याः। इत्थमस्यां मीमांसायां बहुकालः प्रथमं यापयितव्यः। समस्तकार्यजालं विहाय स्वकीयादर्थादपि समधिकतरं विज्ञाय भाविनीषु सन्ततिषु स्वदेशस्य सर्वास्ववस्थासु च करुणरसपूर्णां गम्भीरां दृष्टिं दत्वा चास्मिन् साध्ये सन्नद्धेन भाव्यम्। यथा रक्तः पुरुषः कामतन्मयो भवति। यथा धनलोलुपो धनार्जने रात्रिन्दिव-मुन्माद्यति। यथा योगी परमभक्तो वेश्वराराधने निमज्जति। यथा शिशुः क्रीडासक्तः पानाशनादिकमपि विस्मरति। किं बहुनोक्तेन, निजप्राणसमर्पणपरेणाप्यस्मिन्ना-सञ्जनीयम्। जगत्यस्मिन् नातोऽधिकं शुभं कर्म। यज्ञो नाम यदि कश्चित्पदार्थस्तर्ह्ययं महायज्ञः। यदि संसारे भक्तिरस्ति तर्हीयं महती गरीयसी भक्तिः, यदि वीरता स्यात्तर्हीयं महावीरता। यदि पुरुषकारो नाम तर्ह्यतो को वा समधिकतरः पुरुषकारः यदीश्वराज्ञा-पालनमभीष्टं तर्हीदमेव यत्नेन रक्षितव्यम्। वर्तमानकाले हि तेन कोटिशो जना ज्ञानोदयं समासाद्यापूर्वसुखं भुञ्जते। देशे च शान्तिप्रवाहः स्रवति। भाविनः सन्तानाः समुन्नति-सोपानाऽऽरोहणाय प्राप्तावकाशा जायन्ते। लोकाः स्वातन्त्र्यं भजमाना ईश्वरीयमहिमानं प्रति प्रवणा भवन्ति। स्वातन्त्र्यपुरःसरं विचारयन्तो विचक्षणा नवं नवं पदार्थमा-विष्कुर्वन्ति। नहि जीवात्मने स्वातन्त्र्यादन्यत् किञ्चन रोचते। यत उक्तम्—"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। इति विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः" सर्वात्मप्रत्यय-प्रत्यक्षोऽयं विषयः। किमिह बहुवक्तव्यम्। अस्मादपि किमपि गुरुतरं कार्यं जगति साधनीयं मनुष्यशरीरेणास्तीति नाहं वेद्मि। अतोऽत्र कियती निष्कपटता कियती स्वार्थपरित्यागिता कियती बुद्धिगम्भीरता कियती बहुसुश्रुतता कियती अध्ययनप्रवचन-शीलता च आवश्यकत्वेनापेक्षितास्तीति सर्वजगद्धितैषिभिश्चिन्तनीयम्। अतोऽस्मिन् माङ्गलिके मनुष्येष्टिक्रतौ महाव्रते सम्यक्सम्पादनाय स्वमात्मानं दीक्षेत। नक्तं दिवं नैरन्तर्येणानुष्ठानं विधातव्यम्। आध्यात्मिकं भूयोभूयो मननमेवास्यानुष्ठानम्। इत्थं शान्तो जितेन्द्रियः समाहितचेताः परमोदारो निर्वैरोऽसमुद्धतो निरुद्वेगोऽशङ्कोऽभय आत्म-विश्वासीश्वरप्रेमपरायणः परमास्तिकतासम्पन्नो महामनस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भूत्वा अस्यां मनुष्येष्टौ प्रवर्तेत। तेन समाधिस्थेनात्मना तदा यो हि निर्णयः स्यात् सोऽनुसरणीयः। अन्ये चापि प्रयत्नेनानुसारयितव्याः। स्थाने स्थाने विदुषां समितिं विधाय

तदनाचारविध्वंसाय कायेन मनसा वाचा धनैर्विद्यया लोकैः सर्वथा शक्त्या प्रयतितव्यम्। न कुलीनेभ्यो न ग्रामीणेभ्यो न दैशिकेभ्यो न राजन्येभ्यो न कस्मादपि हेतोर्विवेकस्थापनाय भेतव्यम्। स्वोदाहरणान्यपि तथैव दर्शयितव्यानि। यतश्चोक्तम्।

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्। धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥

तस्मात्सदुपदेष्टा यथानुशास्ति तथैव स्वयमपि वर्तेत अन्यथा दाम्भिकत्वात् स्वयं यथेष्टाचरणाच्च सर्वैर्हीयते उपदेश्येषु च न श्रेयोऽभ्युदयः प्रत्युत धर्मग्लानिरुपदेष्टृषु चाश्रद्धोपचीयते। सत्येवं तदन्यागमिष्यत्सु सर्वगुणगुम्फितेषूपदेष्टृष्वपि अश्रद्धयाऽनन्त-भाविकल्याणव्याघातः। तेन स महान् पापीयान् भवति य एवमाचरति। अतो यथा स्वोपदेशं वर्तितव्यम्। न हि भूलिङ्गन्यायं चरितार्थीकुर्वता जना अविश्वासं लम्भयितव्याः। वरमुपदेशान्मौनसाधनम्। अन्यच्च—"देशे सन्ति विचक्षणाः सर्वविधाः। ते नानुसरन्ति सन्मार्गम्। कथमहमेव कर्तुं वा प्रचारयितुं वा प्रयतेय। जनापवादांश्च शृणुयाम्। किं मदीयैवोपलब्धिः। मदीया एव सर्वे फलानां भोक्तारः। अतः किमनेन जनरुचिविपरीतेन कलहिना बहुलप्रयासेन" इति विचार्य्य नोदासितव्यम्। अनेन हि देशे हानिरुपजायते। पुरुषकारएव मनुष्यतां सूचयति। कदाचिदिदमपि दृष्टं यत् प्रथमं प्रजा अश्रुतपूर्वविषयं ग्रहीतुं बोद्धुम्वा न शक्नुवन्ति, अतः क्रुध्यन्ति, उपदेष्टरि प्रस्तरलोष्ठादिकं प्रक्षिपन्ति, लगुडैः प्रहरन्ति, वानरीं विभीषिकां दर्शयन्ति, कदाचिद् गुप्तस्थाने घातयन्त्यपि। सर्वमत्याहितं कर्तुं धर्माभासान्धास्तदा प्रयतन्ते परन्तु शनैः शनैर्बोध्यमानास्त एव चरणयोः पूजयन्ति। मृते च तस्मिन्नुपदेष्टरि "अहो अबोद्धारो ज्ञानलवदुर्विदग्धा वयं न तं महात्मानं लोकोत्तरमतिं पर्य्यचैष्मेत्येवं बहु विलप्य तदीयसिद्धान्तं सहर्षं गृह्णन्ति लोकाः। अतः सत्याभिसन्धायोपदेष्टव्यं न च जनमनसां विनोदाय। अतो विवेकोत्पादाय बहुधा चेष्टितव्यम्। प्राणपणेनापि सर्वं साधनीयम्।

आत्मबलोपाय

प्रथम प्रचलित व्यवहारों का पुनः २ अध्ययन करे और उन के गुण दोषों की गम्भीर, निर्जनसेवा से परिष्कृत और विमल बुद्धि से वारम्बार मन में मीमांसा करे। देश के रहने हारे सुप्रसिद्ध और पक्षरहित गुणिजन भी इस में प्रष्टव्य हैं इस प्रकार इस विचार में बहुत काल बितावे। समस्त कार्य की चिन्ता छोड़ इस को निज कार्य से भी बहुत अधिक समझ भविष्यत् सन्तानों और देश की सब दशाओं पर पूरी दृष्टि दे इस कार्य में सन्नद्ध होवे जैसे रक्त पुरुष कामतन्मय होजाता, जैसे धनलोभी धन के उपार्जन में रात दिन उन्मत्त रहता, जैसे योगी वा परमभक्त ईश्वर के ध्यान में निमग्न रहता, जैसे बालक निज क्रीड़ा में पड़ कर खाना पीना भी भूल जाता। बहुत क्या कहें, अपने प्राण को समर्पण कर इस में लग जाय। इससे बढ़कर जगत् में कोई शुभ कार्य्य नहीं। यदि यज्ञ नाम कोई पदार्थ है तो यह महायज्ञ है। यदि संसार में कोई भक्ति पदार्थ है तो यह महाभक्ति है। यदि कोई वीरता है तो यह महावीरता है। यदि कोई पुरुषकार है तो इस से बढ़कर कोई पुरुषकार नहीं। क्योंकि इससे वर्तमान में कोटिशों पुरुष ज्ञान प्राप्त कर अपूर्व सुख को भोगते हैं। देश में शान्ति फैलती है। भविष्यत् सन्तानों को दिन २ समुन्नति-सोपान पर चढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है। लोक स्वतन्त्र हो ईश्वरीय महिमा की ओर झुकते हैं स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करते हुए विचक्षण नव २ पदार्थ को

आविष्कृत करते। जीवात्मा को स्वतन्त्रता से बढ़कर कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं है कहा गया है "सब ही परवश दुःख और सब आत्मवश सुख है। यही संक्षेप से दुःख सुख का लक्षण जानना"। यह विषय सब आत्मा का प्रत्यक्ष है इस में अधिक क्या कहें। मैं नहीं कह सकता कि इस से बढ़कर भी अन्य कार्य मनुष्य शरीर से साधनीय है। इस हेतु इस में कितनी निष्कपटता, कितनी स्वार्थ-परित्यागिता, कितनी बुद्धि-गम्भीरता, कितनी बहुसुश्रुतता और कितनी अध्ययन-प्रवचनशीलता की आवश्यकता है। इस हेतु इस महान् मांगलिक मनुष्येष्टि यज्ञ के सम्पादनार्थ प्रथम स्वयं इस महाव्रत में दीक्षित होवे। रात्रिन्दिवा निरन्तर इसका अनुष्ठान करता जाय। आध्यात्मिक विचार ही इसका अनुष्ठान है। इस प्रकार शान्त, जितेन्द्रिय, समाहितचेता, परम उदार, निर्वैर, निरुद्धत, निरुद्वेग, निःशङ्क, निर्भय, आत्मविश्वासी, ईश्वरप्रेमपरायण, परम आस्तिकतासम्पन्न महामनस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी होकर इस मनुष्येष्टि में तत्पर होवे। तब उस समाधिस्थ आत्मा से जो कुछ निर्णय होवे उसका अनुसरण करे। अन्यों से प्रयत्न पूर्वक करवावे। स्थान २ में विद्वानों की समिति बनवाकर उस अधर्म और अनाचार के नाश के लिये काय, मन, वचन, धन, विद्या, लोग और सब शक्ति से यत्न करे। न कुल के, न ग्राम के, न देश के मनुष्यों से, न राजपुरुषों से और न किसी हेतु से विवेक-स्थापन के लिये भय करे। अपना भी उदाहरण वैसा ही दिखलावे। जिस हेतु कहा गया है (कि सब कोई दूसरों के उपदेश में बड़ा पाण्डित्य खर्चते परन्तु विरले ही महात्मा निज कथनानुसार धर्म के लिये अनुष्ठान करते) इस हेतु वह उपदेष्टा जैसा अनुशासन करता हो वैसा ही वर्ताव रक्खे। ऐसा न करने से उन को दाम्भिक और यथेष्टाचारी समझ सब कोई त्याग देते हैं और उपदेश्य पुरुषों में श्रेय का अभ्युदय भी नहीं होता। प्रत्युत धर्म की ग्लानि और उपदेष्टाओं में अश्रद्धा बढ़ती जाती है। ऐसा होने से उस के पीछे आने हारे सर्वगुणसम्पन्न भी उपदेष्टाओं में अश्रद्धा के कारण अनन्त भावी कल्याण का नाश हो जाता। इस हेतु वह महान् पापी होता जो ऐसा करता है। इस हेतु निज उपदेश के अनुकूल आचरण किया करे। * भूलिङ्ग नामक पक्षी सम्बन्धी न्याय को चरितार्थ करता हुआ वह मनुष्यों को अविश्वासी न बनावे। इस अवस्था में उपदेश से मौन साधन अच्छा है और भी "देश में बहुत विचक्षणजन विद्यमान हैं, वे सत्यमार्ग का अनुसरण नहीं करते, तब क्यों मैं ही उसको करने के लिये वा प्रचार के लिये प्रयत्न करूं, जनापवादों को सुनूं, क्या मेरी ही उपलब्धि है। क्या मेरी ही स्वजातियां इसके फलों की भोक्ता होवेंगी। इस हेतु मनुष्यों की रुचि के विपरीत, कलहयुक्त और बहुलप्रयास साध्य व्यापार से क्या प्रयोजन?" यह विचार कर उदासीन न होवे इससे देश में बड़ी हानि होजाती है। पुरुषकार ही मनुष्यता का सूचक है। कभी यह देखा गया है कि प्रथम प्रजाएं अश्रुतपूर्व विषय को ग्रहण वा समझने में समर्था नहीं होतीं, अतः क्रोध करती हैं, उपदेष्टा के ऊपर पत्थर ढेला आदि फेंकती। लाठियों से प्रहार करती हैं, वानर के समान विभीषिका दिखलातीं। कदाचित् गुप्त स्थान में उसको

---

* भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी होता है। वह प्रायः हिमालय पर्वतीय देश में वास करता है। "मा साहसं कुरु" साहस मत करो ऐसी इसकी बोली होती है। परन्तु यह पक्षी स्वयं सिंह के दाँत में लगे हुए मांस को निकाल २ कर खाया करता है अर्थात् यह अपने कथन से विरुद्ध आचरण करता है। ऐसे ही जो जन परोपदेशमात्र में तो कुशल हैं परन्तु स्वयं जो मन में आता है सो करते हैं। ऐसे पुरुषों के लिये भूलिङ्ग पक्षी का दृष्टान्त दिया जाता है। महाभारत में इसकी कथा कई एक स्थान में आई है। सभापर्व अध्याय ४३ वें में इस प्रकार है—

मरवा भी देती हैं। सब प्रकार से अत्यहित (अनाचार, अकर्तव्य) करने को पाप से उस समय धर्माभासान्ध होकर नहीं डरतीं परन्तु शनैः २ समझाने पर वे ही प्रजाएं उस उपदेश के चरणों को पूजने लगती हैं। उसके मरने के पश्चात् 'अहो अबोद्धा ज्ञानलव-दुर्विदग्ध' हम लोग उस लोकोत्तर बुद्धिवाले महात्मा को नहीं पहिचान सकीं, इस प्रकार बहुत विलाप कर तदीय सिद्धान्त को सहर्ष ग्रहण करती हैं इस हेतु सत्य की वृद्धि के लिये उपदेश करना ही चाहिये। मनुष्यों के मनोविनोद के लिये नहीं। इस हेतु विवेकोत्पादन के लिये बहुत चेष्टा करे। प्राणपण से भी इसको सिद्ध करे।

एतदर्थं द्वीपान्तरमपि प्रव्रजेत्। नह्येकमेव द्वीपं भगवता न्यायकारिणा धार्मिकै-स्तत्त्वदर्शिभिराप्तैर्मण्डितम्। समस्तेष्वपि स्थात् सर्वत्रैव महाभागा जनिताः। आदेया विद्यास्तेभ्योऽवश्यं गृह्णीयात्। आदाय च स्वदेशे च विस्तारयेत्। यदि तत्रैव न्यूनता तर्हि स्वकीया एव विद्यास्तत्र दद्यात्। धर्मेऽपि निर्णयाद् यदुत्तमं सिध्येत्। परस्परं तद् गृह्णीयात्। न हि सत्यात्परो धर्मः। यत्र निश्छलं सर्वप्रमाणसिद्धं सत्यं विराजते तत्रैव कल्याणम्। इत्थं विनिमयेनापि देशस्य महन्मङ्गलं भवति। म्लेच्छदेशा नाभिगन्तव्या इति भीरूणामबोधोपहतचेतसां च कथाः। म्लेच्छानपि हि धर्मपरायणान् विधाय ब्राह्मणपदवीं प्रापयेदिति विदुषां धार्मिकाणां नृणाञ्च कर्तव्यता। नह्येकस्मिन्नेव देशविशेषे म्लेच्छा निवसन्ति। अशुद्धाचरणा विद्या-विनय-कारुण्य-सत्यतादि-सद्गुणग्रामविहीना

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत। मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥२७॥
भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे। भीष्म ! तस्य सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥२८॥
मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल। साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥२९॥
सा हि मांसार्गलं भीष्ममुखात् सिंहस्य खादतः। दन्तान्तर्विलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥३०॥
इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम्। तद्वत्त्वमप्य धार्म्मिष्ठ सदावाचः प्रभाषसे ॥३१॥

अर्थः—यहां शिशुपाल और भीष्मपितामह का संवाद है। शिशुपाल कहता है कि भीष्म ! यह आपकी बुद्धि का दोष है पूर्व में मैंने कहा था कि जैसे भूलिङ्ग पक्षी अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता है, वैसे ही आपकी बुद्धि अपनी प्रकृति को ही प्राप्त है ॥ २७ ॥ हे भीष्म ! हिमालय के एक किनारे में भूलिङ्ग नाम का एक पक्षी रहता है उसकी बोलियां अर्थविगर्हित सुनने में आती हैं ॥ २८ ॥ क्योंकि सर्वदा वह "मत साहस करो मत साहस करो" ऐसा बोलता हुआ सुना जाता है परन्तु स्वयं इसको अत्यन्त उल्लंघन करता है ॥ २९ ॥ क्योंकि मांस खाते हुए सिंह के दांतों में लगे हुए मांस को निकाल कर खाया करता है ॥ ३० ॥ हे भीष्म ! इसमें सन्देह नहीं कि सिंह की इच्छा से वह जी रहा है। नहीं तो उसका सब साहस क्षण में निकल जाता। तद्वत् आप भी इन राजाओं की इच्छा से ही ऐसा साहस कर ऐसी २ बात बोल रहे हैं। आपसे बढ़कर कौन अधर्मी होगा। इस श्लोक पर भी ध्यान देना चाहिये—

न गाथा गाथिनं शास्ति, बहुचेदपि गायति। प्रकृतिं यान्ति भूतानि, भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥

महाभा० सभापर्व ४० ॥

कितने ही गाया करें परन्तु गानेवाले को गाथा अनुशासन नहीं करती। प्राणी अपने स्वभाव को ही प्राप्त होता है, जैसे भूलिङ्ग पक्षी ॥

हि सर्व एव म्लेच्छाः। ईदृशा म्लेच्छाः सर्वत्रैव गृहे गृहे ग्रामे ग्रामे निवसन्ति। गृहं गृहमपवित्रताऽसत्यता चाधिकरोति। अनेन किं गृहमपि त्याज्यम्? न। पृथिव्यां सर्वे जनाः शिष्टाचारैर्योजयितव्या इत्येषां शिष्टानां कर्तव्यता। अत्र चाभाणकः—

"नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते" "न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते" यद्येवमुच्येत—

"अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितम्। स्थले कमलरोपणं, सुचिरमूषरे वर्षितम्॥ श्वपुच्छमवनामितं, बधिरकर्णजापः कृतः। कृतान्धमुखमण्डना, यदबुधो-जनस्सेवितः"॥

अतो म्लेच्छा अबुधास्तान् प्रति शिक्षाध्यापनादिव्यापाराः पूर्वोदाहरणसमाः। नहीदं वाच्यम्। ईदृशानामज्ञानिनां सर्वत्र विद्यमानत्वात् सर्वत्रैवोपदेशविच्छेदप्रसङ्गः स्यात्। नहि सर्वो देशोऽबोधो भवितुमर्हति। यदि स्यादेव तथापि यदा पशूनपि विहगानपि शिक्षितुं वयं समर्थास्तदा मनुष्यान् कथन्न मनुष्यान् विधातुं पारयिष्यामः। अत एषा सर्वा विद्याविहीनानां कथेति त्यजेत्। अन्यान्देशान् द्वीपान्तराणि च सर्वदा गच्छेत्। द्वीपान्तरयात्रायां सन्ति वेदेषु बहूनि प्रमाणानि। अन्यच्च—रघुरामाद्यः सर्वान् देशान् गत्वाऽजैषुः। ऋषयोऽपि देशान्तराणि स्वगमनेन पवित्रीकृत्योपदिदिशुः। अद्यतना भारतकुलाङ्गारा मूढधियो विदेशयात्रां निवारयन्ति। यदा ईदृशो मूढा अनधीतवेदा अविदितार्षमार्गाः प्रचलितव्यवहारानुमोदनेन मूर्खजनाभिनन्दिनः स्वार्थान्धा मानवप्रेम-वासनाविरहिताः पूर्वापराविचारिणोऽदीर्घदर्शिनो भारतवर्षं स्वजन्मना दूषितवन्तोऽपवित्री-कृतवन्तस्तदैव विवेकोऽस्मान्निष्क्रम्य द्वीपान्तरमाश्रितः।

एतदर्थं अन्य द्वीपों में भी जावे क्योंकि न्यायकारी भगवान् ने एक ही द्वीप को धार्मिक तथा आप्त पुरुषों से मण्डित नहीं किया क्योंकि ईश्वर का सर्वत्र सम ही स्नेह है। इस हेतु सर्वत्र महा-भाग्यशाली पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनसे ग्रहणयोग्य विद्याएं अवश्य लेलेनी चाहिये और लेकर स्वदेश में उनका विस्तार करे। यदि वहां ही न्यूनता हो तो अपनी ही विद्याएं देवे. धर्म के विषय में भी निर्णय से जो उत्तम सिद्ध होवे परस्पर उसी का ग्रहण करे। सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। जहां निश्छल सर्वप्रमाणसिद्ध सत्य विराजता है वहां ही सर्व कल्याण है। इस प्रकार विनिमय से भी देश में महाकल्याण होता है "म्लेच्छ देश में न जाना चाहिये" यह भीरुओं और अज्ञों की कथा है क्योंकि म्लेच्छों को भी धर्मपरायण बनाकर ब्राह्मणपदवी तक पहुँचाना ही विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का काम है। म्लेच्छ किसी एक ही देश में नहीं रहते किन्तु जिनके शुद्ध आचरण नहीं हैं और विद्या, विनय, कारुण्य, सत्यतादि सद्गुण से जो रहित हैं वे सब ही म्लेच्छ हैं ऐसे म्लेच्छ सर्वत्र पाये जाते हैं। घर २ अपवित्रता, असत्यता वास कर-रही है इस हेतु क्या घर भी छोड़ देना चाहिये? नहीं। लोगों को शिष्ट बनाना ही शिष्टों का काम है। यहां एक आभाणक है:—

"भिक्षुक के डर से पाक करना बन्द नहीं करते वा मृगों के भय से गृहस्थ खेती करना नहीं छोड़ते" यदि ऐसा कहो कि जैसा "अरण्य-रोदन, मृत-शरीर में उबटन लगाना, स्थल में कमल-रोपण, ऊसर में वृष्टि, कुत्ते के पुच्छ को नवाना, बधिर के कर्ण में जप और अन्ध पुरुष के मुख का मण्डन करना व्यर्थ है वैसी ही अबुधजनों की सेवा है" जिस हेतु म्लेच्छ अबुध हैं इस हेतु इनको

सिखलाना, पढ़ाना, पूर्व उदाहरण समान होंगे। नहीं यह बात नहीं। ऐसे अज्ञानी सर्वत्र विद्यमान हैं फिर आप कहीं उपदेश नहीं कर सकते। देश के देश सब ही अज्ञानी नहीं हो सकते। यदि होवें तब भी जब पशुपक्षियों को भी हम शिक्षित कर सकते हैं तो क्या मनुष्य को मनुष्य नहीं बना सकते। अतः यह सब विद्याविहीन पुरुषों की बात है। इसको त्यागो। अन्य देशों और द्वीपों में बराबर जाओ। इसमें वेद के बहुत प्रमाण हैं। रघु रामादिकों ने सब देशों में जाकर विजय किया। ऋषि सब देश में जाकर उपदेश देते थे। आजकल के भारत-कुलाङ्गारों ने इसको रोक रक्खा है। ऐसे २ मूढ़ जब देश में उत्पन्न हुए तब ही विवेक ने भागकर अन्य द्वीपों का आश्रय लिया।

आत्मशक्तिः

आत्मवतां नहि किमप्यसाध्यं नाम वर्तते। सन्ति जीवात्मनि दिव्यगुणाः समवेताः। न तान् वयमधीमहे न चाध्यापयामः। अतोऽपि पदे पदेऽवसीदामो मुह्यामश्च। अप्रत्यक्षोऽपि अणीयानपि आत्मा महदाश्चर्यं चरितुमर्हति। इदमात्मबलमेव यदेकोऽपि श्रीरामः पञ्चवटीमाश्रितान् सर्वान् राक्षसान् हन्तुमृषीणां सन्निधौ प्रतिजज्ञे। एकोऽपि महावीरः सर्वेष्वपि राक्षसेषु महाभटेषु पश्यत्सु लङ्कां ददाह। एकलो जनमेजयः पारिक्षितः सम्पूर्णां पृथिवीं व्यजैष्ट। शार्य्यातो मानवस्तथा। तद्यथा—

आत्मशक्ति ॥

आत्मवान् पुरुषों को कोई भी असाध्य वस्तु नहीं क्योंकि जीवात्मा में बहुत गुण समवेत (मिले हुए) हैं, उनको न हम लोग पढ़ते और न पढ़ाते हैं। इस हेतु से भी पद २ में हम लोग दुःखित और मोहित होते हैं यद्यपि यह आत्मा अप्रत्यक्ष और बहुत अणु है तथापि महा आश्चर्य कार्य करने में समर्थ है। यह आत्मबल ही है कि एक ही श्रीरामचन्द्र ने पञ्चवटी के आश्रित सब राक्षसों के हनन के हेतु ऋषियों और मुनियों के समीप प्रतिज्ञा की। एक ही महावीर ने महायोद्धा सर्व राक्षसों के देखते २ लङ्का को भस्म कर दिया। एक ही परिक्षित् के पुत्र जनमेजय ने सम्पूर्ण पृथिवी का विजय किया। मनुपुत्र शार्यात से भी ऐतरेय ब्राह्मण में इन महा योद्धाओं की आख्यायिका पठित हैं। वह यह हैः—

"तस्माद् जनमेजयः पारिक्षितः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन् परीयायाश्वेन च मेध्येनेजे। तदेषाभिजयगाथा गीयते। आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं हरितस्रजम्। अश्वं बबन्ध सारंगम्, देवेभ्यो जनमेजयः" ॥

उस हेतु पारिक्षित जनमेजय सब तरफ से पृथिवी के अन्ततक जीतता हुआ मेध्य अश्व के साथ लौट आया और अश्वमेध यज्ञ किया। इनकी विजय गाथा इस प्रकार गाई जाती है (आसन्दीवति) सिंहासन के निकट (धान्यादम्) धान्य खाते हुए (रुक्मिणम्) सुवर्णालङ्कार से भूषित अथवा जिसके मस्तक पर विजयचिह्न लगा हुआ है (हरितस्रजम्) हरित वर्ण की माला से सुशोभित (अश्वम्) अश्व को (जनमेजयः) जनमेजय ने (देवेभ्यः) वैदिक आर्यों की प्रसन्नता के लिये (बबन्ध) बांधा। प्राचीन चाल थी कि राजा अपने सिंहासन के निकट उस अश्व को बांधकर रखता था जिसपर चढ़कर उसने पृथिवी पर का विजय पाया है। प्राचीनकाल में वैदिकधर्म-विहीन को असुर और वैदिक धर्मावलम्बियों को देव कहते थे।

यवनोऽलक्ष्येन्द्रोऽपि श्रूयते प्रायः सम्पूर्णां पृथिवीं विजितवान्। एतत्सर्वमात्मशक्तिविजृम्भणम्।

यवन अलक्ष्येन्द्र (ऐलेग्जैण्डर) ने भी प्रायः सम्पूर्ण पृथिवी को विजय किया था। यह सब आत्मशक्ति का ही प्रकाश है।

छन्दोगा आमनन्ति। य आत्मवित् पुरुषः "स एकधा भवति। त्रिधा भवति। पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव। पुनश्चैकादश स्मृतः। शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च। विंशतिः"॥ छा० ७। २६। २॥ माध्यन्दिना आमनन्ति "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देहो गहने प्रविष्टः स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स तु लोक एव"॥ बृ० उ० ४। ४। १३॥

छन्दोग लोग कहते हैं—(यः०) जो आत्मतत्ववेत्ता है वह प्रथम (एकधा+भवति) एक ही रहता तब (त्रिधा+भवति०) तीन, पांच, सात, नौ, ग्यारह, शत, कई सहस्र होता जाता है। अभिप्राय यह है कि ज्यों २ आत्मिक शक्ति बढ़ती जाती है त्यों २ उसके वश में मनुष्य होते जाते हैं। इस प्रकार अन्त में देश के देश उसके अधीन हो उसकी शक्ति को बहुत बढ़ा देते हैं। माध्यन्दिन कहते हैं (अस्मिन्+संदेहे) इस शरीर में (प्रविष्टः) प्रविष्ट (यस्य+आत्मा) जिसका जीवात्मा (अनुवित्तः) मननादि व्यापार के पश्चात् तत्त्वों को प्राप्त कर लिया है इसी हेतु (प्रतिबुद्धः) सब तरह से जागृत हो गया है वा सब ज्ञान को प्राप्त हुआ है (सः+विश्वकृत्) वह सब कार्य के करनेहारा होता है (हि) क्योंकि (सः+सर्वस्य+कर्ता) सब का कर्ता है (तस्य+लोकः) उसी का संसार है (सः+तु+लोकः+एव) वह संसारस्वरूप ही है। इसका भी पूर्ववत् ही भाव है। यथार्थ में देखो तो भौतिक जगत् को ईश्वर ने रचा परन्तु मनुष्यों में जो कुछ धर्मव्यवहार वा राजकीय व्यवहार वा लौकिक व्यवहार है उस सब का कर्ता वही आत्मवित् है। देखते ही हो कि जिसने किञ्चित् आत्मतत्त्व को पाया है। उसके वश में भी सहस्रों पुरुष हो जाते हैं परन्तु जिसने अच्छे प्रकार आत्मतत्त्व का अध्ययन किया है उसके वश में क्यों नहीं सब कोई होवेंगे। वह आत्मवित् जगत् में जैसा परिवर्तन करना चाहता वैसा करके दिखला देता है, इस हेतु मूल में (सर्वस्य+कर्ता) सब का कर्त्ता वह कहा गया है। जब आध्यात्मिक शक्ति बहुत बढ़ जाती है तो जगत् के सब लोगों को अपने समान देखने लगता है और लोग उससे किञ्चित् भी भेद नहीं रखते हैं इसी हेतु मूल में कहा है कि उसी का संसार है। वह संसारस्वरूप है। यहां संसार शब्द से संसारस्थ मनुष्य का ग्रहण है, जैसे आजकल भी कहते हैं कि 'मेरा देश गिर गया, मूर्ख हो गया' इत्यादि यहां देश से देशस्थ पुरुषों का ग्रहण है। इस हेतु आत्मशक्ति का परिचय भी होना साधकों के लिये आवश्यक है।

साक्षाद्वटबीजमियतो महतो द्रुमस्य जन्मदाने प्रचुरशक्ति। यदि तन्नोचितायां भूमावुप्येत तर्हि किं करिष्यति? तीक्ष्णाप्यसिधारा कोणे स्थापिता चिररात्रायाऽप्रयुक्ता मलिनायते गृहमूषिकमपि छेत्तुं नालम्। एवमेव सर्वगुणैः समलङ्कृतोऽपि जीवात्मा यदि समुचितविनियोगरहितस्तर्हि न किमपि शुभं सम्पादयितुं कल्पते। अतोऽसिप्रभृतिकरणवज्जीवात्मना कार्य्यं साध्यम्। यथा यथैनं कार्येषु विनियुञ्जते तथा तथाऽस्य शक्तिरुपचीयते। खड्गादि साधनन्तु कदाचिन्मूर्च्छति कुण्ठति क्षुभ्यति च। अयन्तु

सम्यग् यथाविधिविनियुक्तः सन् बलवत्तरस्तीक्ष्णः सूक्ष्मो बुद्धिमत्तरः सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वावगाही भवति। क्रमशः क्रमशावटवृक्ष इव विविधविद्यातत्तद्विवेकादिपल्लवितः सन् बहु शोभते। आश्रितांश्च सर्वदा सुखयति च।

इतने महान् वटवृक्ष के जन्मदान में प्रचुर शक्ति-सम्पन्न वटबीज भले ही होवे परन्तु यदि उचित भूमि में वह न बोया जाय तो वह क्या कर सकता है? तीक्ष्ण खड्गधारा यदि गृह के कोने में स्थापित रहे बहुत दिनों से उससे काम न लिया गया हो तो अवश्य मलिन हो जायगी और गृह के चूहे काटने को भी समर्थ न होगी। इसी प्रकार सब गुणों से समलंकृत भी जीवात्मा यदि समुचित विनियोग रहित (अर्थात् जो उससे काम लेना चाहिये वह नहीं लिया जाता) है तो कुछ भी शुभकर्म सम्पादन नहीं कर सकता। इस हेतु जैसे खड्ग से कार्य्य लेते वैसे ही आत्मा से भी कार्य लेना चाहिये। यह आत्मा भी साधनवत् ही है। जैसे २ इसको कार्य में लगाते वैसे २ इसकी शक्ति बढ़ती जाती है। खड्ग आदि साधन तो मूर्छित, कुण्ठित, छिन्न भिन्न भी हो जाता है और अन्त में बिलकुल टूट जाता परन्तु यह आत्मा तो सम्यक् यथाविधि कार्य में विनियुक्त होने से बलवत्तर, तीक्ष्ण, बुद्धिमत्तर और सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वावगाही होता है। क्रमशः २ वटवृक्ष के समान विविध विद्याओं से और उस २ विवेक से पल्लवित हो बहुत शोभायुक्त हो अपने आश्रितों को बहुत सुख देता है।

ब्रह्म-भक्ति-दर्शनादि विचारः

अथ केचित् प्रत्यवतिष्ठन्ते। ईयत्तया विद्याः परिच्छेत्तुं न शक्यन्ते। यावन्तो हि पदार्थास्तावत्यो विद्याः। तावत् पृथिवीस्थानामेव पदार्थजातानामानन्त्यम्। चेतनानामेव चतुरशीतिकोटिसंख्याः पौराणिकैर्गण्यन्ते। असंख्येया ओषधयो देशभेदेन विलक्षणाः। सामुद्रिकानां यादसां ज्ञानमपि न समस्ति मनुष्याणाम्। इत्थमल्पायुर्मनुष्यो यदि सर्वपदार्थस्य नामावगणयितुं साहसिको भवेत्तर्हि सम्पूर्णेनाऽऽयुषा नामगणनाया अपि पर्य्यवसानं न भवेत्। कुतस्तरां तन्निबन्धनाया विद्याया लाभः। अतः सर्वं परित्यज्य मातापितृसहस्रेभ्योऽपि अधिकवात्सल्यशाली भगवानेव प्रतिक्षणं शुश्रूषितव्यः। स एव तुष्टो बुद्धिं भक्तिं चान्तेऽत्यन्तसुखं कैवल्यञ्च प्रदास्यति। किं बहुलायासैरपि असाध्यया मनोरथखेदकर्या विद्यया। तथा चाभाणकः—"अर्के चेन्मधु विन्दते, किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ, को विद्वान् यत्नमाचरेत्।" अतो नेदं साहसं विचारचारु प्रतिभाति मे। समाधत्ते—मनुष्यसर्जने यद्येवमाशयवान् भगवान् स्यात् तर्हीदृशी सृष्टिरेवानुचिता स्यात्। कथमिव। शृणु, इतरजीवेभ्योऽधिका जिज्ञासावती च मनुष्यबुद्धिरस्तीत्यत्र न कोऽपि प्रश्नावकाशः। सा किमर्थेति चिन्तायां किमुत्तरीष्यति भवान्। अन्ये जीवा ब्रह्मविज्ञानायाक्षमा वयन्तु तया बुद्ध्यातज्ज्ञातुं समर्थाः। अतो ब्रह्मविज्ञानार्थेयं बुद्धिरिति प्रतिवक्ष्यामि। सत्यमेतत्। तर्हिसमायातो मम राद्धान्तः। कथय तर्हि कथं ब्रह्मपरिचयः। अहमिदं वच्मि—ईश्वरनामधेयमनिशं जपिष्यामि। स प्रसन्नः स्वात्मानं दर्शयिष्यति। तेनैव कृतकृत्यता स्यात्। तथाहुः कठशाखिनः—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष वृणुते तनूं स्वाम्॥"

इयं श्रुतिः प्रवचनमेधाश्रवणादीनां ब्रह्मदर्शकत्वं निवारयति बोधयति च केवलां भक्तिम्। तद्युक्तायैव सहीश्वरो वरं ददद् दृष्टोऽस्ति। आथर्वणिका अप्येवं मन्यन्ते "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" एतेन प्रतीयते भक्तिरेव गरीयसी। सा न कदापि विद्यामधिकरोति। अपेक्षते तु केवलामनन्यगामिनीं प्रीतिम्। सा नहि विद्यया नवा पदार्थविज्ञानाज्जायते। अतः कृतमप्रामाणिक्या विद्यया।

ब्रह्म-भक्ति-दर्शनादि विचार

यहां कोई शङ्का करते हैं कि इतनी ही विद्याएं हैं यह नहीं कह सकते, क्योंकि जितने पदार्थ उतनी विद्याएं। प्रथम पृथिवीस्थ पदार्थों का ही अन्त नहीं। पौराणिक कहते हैं कि ८४ कोटि योनियां चेतनों की हैं। ओषधियां असंख्येय देश-भेद से बड़ी २ विलक्षण हैं। सामुद्रिक सकल जन्तुओं का ज्ञान भी मनुष्यों को नहीं है। इस प्रकार अल्पायु मनुष्य यदि सब पदार्थ के नाम ही गिनने के लिये साहस करे तो सम्पूर्ण आयु से भी नामगणना की समाप्ति न होगी। तब कैसे तत्सम्बन्धी विद्या के लाभ की आशा हो सकती है, इस हेतु सब परित्याग कर सहस्रों माता पिता से कहीं बढ़कर वात्सल्य-शाली भगवान् ही प्रतिक्षण शुश्रूषितव्य है। वही तुष्ट होकर बुद्धि भक्ति और अन्त में अत्यन्त सुखकारी कैवल्य को भी देवेगा, बहुत परिश्रम से भी असाध्य और मनोरथ को खेद पहुँचानेहारी विद्याओं से क्या प्रयोजन है? इस विषय में एक आभाणक है—"अर्के चेत् मधु विन्दते" इत्यादि † इस हेतु मुझ को यह साहस विचारचारु प्रतिभासित नहीं होता। (समाधान) मनुष्य की सृष्टि करने में भगवान् का यदि ऐसा ही आशय हो तो ऐसी सृष्टि करनी ही अनुचित थी। कैसे सो सुनो—अन्य जीवों से मनुष्य की अधिक और जिज्ञासा करने हारी बुद्धि है इसमें कोई प्रश्नावकाश नहीं, वह बुद्धि किस प्रयोजन के लिये है? ऐसी चिन्ता जागृत होने पर आप क्या उत्तर देवेंगे? अन्य जीव साधारण बुद्धि से ब्रह्म जानने को असमर्थ हैं। परन्तु हम मनुष्य मानवी बुद्धि से उसको जान सकते, इस हेतु ब्रह्म विज्ञान के लिये वह बुद्धि है यह उत्तर मैं दूंगा। सत्य है। तब मेरा ही सिद्धान्त आया। अच्छा यह कहो, ब्रह्मपरिचय का कौनसा उपाय है? इसके उत्तर में कहूँगा कि ईश्वर का नाम जपूंगा। वह प्रसन्न हो अपना आत्मा (शरीर) दिखलावेगा और उससे सर्व कृतकृत्यता होगी। कठ्यासी भी ऐसा ही कहते हैं।

(नायमात्मा०) यह परमात्मा वेदादिकों के व्याख्यानों से सूक्ष्म बुद्धि से अथवा अनेक शास्त्रों के श्रवण से अथवा विविध तर्क-वितर्कादि से प्राप्त नहीं होता, किन्तु जिसके ऊपर उसकी कृपा होती है उस भक्त को निज शरीर वह भक्तवत्सल दिखला देता है।

यह श्रुति साक्षात् निषेध करती है कि प्रवचन, मेधा और श्रवणादिक उपायों से ईश्वर का दर्शन नहीं होता और भक्ति को बतलाती है। क्योंकि भक्तियुक्त पुरुष को ही वर देता हुआ श्रीभगवान् देखा गया है। आथर्वणिक भी ऐसा ही कहते हैं (तमेवैकम्०) हे शिष्यो! हे मनुष्यो! उसी एक परमात्मा को अच्छे प्रकार जानो। अन्य व्यर्थ व्याख्यानादिकों को त्यागो। यही परमात्मा अमृत का सेतु है। इससे भक्ति ही श्रेष्ठ प्रतीत होती उस भक्ति में विद्या का अधिकार नहीं। वह केवल अनन्यगामिनी प्रीति चाहती है क्योंकि वह भक्ति न विद्या से न पदार्थविज्ञान से उत्पन्न होती, इस हेतु अप्रामाणिक विद्या से क्या लाभ होगा।

† घर के कोने में ही यदि मधु मिल जाय तो कौन मूर्ख मधु के लिये पर्वत पर जायगा। इष्ट अर्थ की अच्छे प्रकार सिद्धि हो जाने पर कौन विद्वान् यत्न करे॥

समाधत्ते—किं च भोः, त्वमीश्वरं मन्यसे जीवात्मानमसि तस्मात् पृथङ् मन्यसे। जीवात्मा द्रष्टास्ति। ईश्वरोऽपि द्रष्टा सर्वव्यापकश्चास्तीत्यत्रापि न कश्चित्सन्देहः। तर्हि विभावय—जीवात्मसन्निधौ सर्वदेश्वरः वर्ततेतरां सर्वव्यापकत्वात्। तर्हि सदैव जीव ईश्वरं न पश्यति किम्? अन्धो नाम न किमपि पश्येत्। नायमात्मान्धः। तथाहं त्वां प्रत्यासन्नं साक्षात् पश्यामि एवमेवात्मा परमात्मानं सन्निहितं कथं न पश्येत्? एतेनात्मा प्रतिक्षणमेवेशं पश्यतीति फलति। आत्मा हृदि तिष्ठति "हृद्येष आत्मेति" श्रुतेः तत्र ब्रह्मणोऽपि सद्भावात् सदा दर्शनं भवतीति कः सन्देहः। के वादिन एतत्प्रतिषेधेयुः। अथ कश्चिद् वादी वदति स्यादेतत्। अत्रायं सन्देह उदेति। ब्रह्म तु बाह्ये चाभ्यन्तरे च सममेवास्ति। इत्थं यथा बाह्यतो न तस्य दर्शनं तथाऽभ्यन्तरतोऽपि न भवतीति प्रतीयते। अन्यच्च—अभ्यन्तरतो यदि तस्य दर्शनमुपैति तर्हि कथं न स्वयमेव वक्ति जीवात्मा "अहमीशं पश्यामीति" न तु केषांचिदप्येष प्रत्ययः कदाचिदपि दृष्टः श्रुतश्च। अतोऽभ्यन्तरेऽपि न दर्शनाभ्युपगमनमिति मन्ये। सिद्धान्ती—नैतद्विचारसहम्। कथमिव—अभ्यन्तरे न कोऽपि प्रतिबन्धो येन युक्तो न पश्येत्। बाह्येत्वेष सर्वं स्थूलकरणैराचरति। तेषां स्थूलकरणानां सूक्ष्मतमे ब्रह्मणि न प्रवेशः। एष प्रत्यक्षविषयः सर्वेषां परीक्षकापरीक्षकाणां सामान्येन। बहिर्गतमीश्वरं हृदिस्थो जीवः कथं स्वयं पश्येत् शरीरव्यवधानात्। अन्तःस्थस्य न किमपि व्यवधानम्। अतस्तत्र कथन्न पश्येत्। तर्हि कथन्न वक्तीति अभाषणस्य त्वेतत्कारणम्। बाह्यतः स्थूलकरणैर्यद् यत् किमपि संचिनोति तत्तत् बाह्यतः प्रकाशयति। अभ्यन्तरविज्ञातमभ्यन्तरे तु प्रकाशयतीति नियमो दृश्यते। कथमिव—यतः सर्वे वादिनो ज्ञानवानात्मेति स्वीकुर्वन्ति। एवं भूतोऽपि। "अयं सर्पोऽस्ति, अस्य दंशनेन जनो म्रियते, अतो नायं हस्तेन स्पर्शनीयः। अयं विषोऽस्ति, अस्य पानेन मृत्युर्भवति अतो न पेयः" इत्यादीनि वस्तु-ज्ञानानि बाह्यतो यावन्न लभते तावत् किमपि न जानाति न किमप्याविष्करोति। अतः प्रतिबन्धकाभावादन्तर्दर्शनं भवतीत्यत्र तु न संशयितव्यम्। एवं सति सर्वव्यापकत्वाच्च ब्रह्मणः स्पर्शनमपि प्रतिक्षणं भवतीत्यपि अभ्युपैष्यस्येव। दर्शनस्पर्शनयोरभ्युपगम्यमानयोर्भाषणमपि स्वीकार्यमेव। हेतुदर्शनात्। उभौ चेतनौ सम्मिलितौ कथन्न परस्परं भाषेयाताम्। यद्यपि मनुष्यवन्नेश्वरस्य भाषणम्। आम्नायानां तथैवोपदेशात्। तथापि विलक्षणमनिर्वचनीयञ्च तत् स्वीकार्यमेव बाधकाभावात्। एतेन दर्शनं स्पर्शनं भाषणं सहनिवासश्चेत्यपि सर्वं सिध्यति। इदानीमेतन्मीमांसनीयम्। दर्शनाद्युपलब्धावपि कथन्न जीवात्मनः कृतकृत्यता?। एष तु मम प्रश्नः। भवतु तवैव प्रश्नः। शृणु एषा सर्वा वितण्डाकथा। तव भक्तिकथा तु सर्वथा वितण्डैव। यदि नामजपमात्रेण केवलया शुश्रूषया वा स प्रसीदेत्। तर्हि मुधा मानवी सृष्टिः। तर्हि स इदं कुर्यात्। महतीं सुविस्तीर्णामाद्यन्तपारविहीनां सर्वसुखोपेताम् आत्मसदृशीमेकां सृष्टिं रचयेत्। तत्र न मृत्युर्न रोगी न जरा नाशिशिषा न पिपासा नेर्ष्या न द्वेषो न कलहो जनयितव्यः। किम्बहुना न किमप्यनिष्टं विघ्नोत्पादकं सृजेत्। तत्र मनुष्यसदृशान् असंख्येयान् जीवान् सर्वगुणसम्पन्नान् स्थापयित्वाऽऽज्ञापयेत्। जीवाः! सर्वे यूयं ममैव नाम जपत, ममैव शुश्रूषा यत्नेन कार्य्या। बुद्धिरपि तादृश्येव दातव्या येन न स्वनियोगात् विरमेयुः। यतस्तत्सर्वैवाधीनं सर्वमस्ति। इत्थमासनान्यध्यासीनान् जनान् स्वनाम जापयन्

शुश्रूषयंश्च स प्रसीदतु। किं मानवसृष्ट्यानया क्षुत्पिपासादिसंयुक्तया, ईदृशीं सृष्टिमकृत्वा क्षुत्पिपासाज्ञानादिमतीं कृत्वा च किं फलं पश्यतीश्वरः। एतेन यां त्वं भक्तिं मन्यसे यश्च नाम जपं याश्च शुश्रूषाम्। तदर्था नेयं सृष्टिर्नेयं भक्तिर्नेदं शुश्रूषादि। ईश्वरेणास्माकं या प्रदत्ता बुद्धिरात्मशक्तिश्च। तस्याः कोप्यपरोऽभिप्रायः। यावती बुद्धिशक्तिरस्ति अस्या गतिरपि च यावद्व्यापिनी वर्तते तदवधौ कार्य्ये सा नियोक्तव्या। यत्नेन तत्पर्य्यन्तं कार्य्यं साधयित्वा सा सफली-कर्तव्या। यदि तां शक्तिं लब्ध्वा कार्येन परिणमयसि तर्हि पापीयानसीति कः सन्देहः। यथा धनं स्वस्वेतरलोकोपकाराय वर्तते। यदि तद्धनं लब्ध्वा कोऽपि न वर्धयेत्, न च रक्षेत्, न किमपि तेन कुर्यात् प्रत्युत तद्विस्मरेद्वा चौरादिभिरपहारयेद्वा। तर्हि स कथन्न पापीयान् एवमेवेश्वरेण या शक्तिः प्रदत्ता तामरक्षयित्वा विनाशयेम। कथन्न तर्हि वयं पापभागिनः! कार्ये शक्तेरविनियोग एव शक्तिविनाशनम्। क्रमशः सा हि शक्तिरविनियुक्ता क्षीयते। बालकादिषु शिक्षातारतम्यदर्शनात्॥

समाधान—सुनो तुम ईश्वर को और जीवात्मा को भी उससे पृथक् मानते हो। जीवात्मा देखनेहारा है, ईश्वर सर्वव्यापक द्रष्टा है। इन बातों में कुछ सन्देह नहीं है। तब अब विचारो—जीवात्मा की सन्निधि में ईश्वर सर्वदा ही रहता है क्योंकि वह व्यापक है। तब यह जीव ईश्वर को सदा नहीं देखता है? क्या अन्धा भले ही न देखे परन्तु यह आत्मा अन्ध नहीं। इस हेतु इस से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा ईश्वर को प्रतिक्षण देखा ही करता, आत्मा हृदय में रहता है यह श्रुति कहती है वहां ब्रह्म की भी सत्ता है। तब जीव को सदा ईश्वर का दर्शन होता इसमें क्या सन्देह है। कौन वादी इसको निषेध कर सकता है। वादी कहता है ऐसा ही हो परन्तु यहां एक सन्देह उदित होता है। ब्रह्म तो बाहर भीतर दोनों में समभाव से है जैसे बाहर से उसका दर्शन नहीं वैसे ही अभ्यन्तर से भी दर्शन नहीं होता होगा ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है और भी, यदि अभ्यन्तर से यह जीवात्मा दर्शन पाता तब स्वयं जीवात्मा क्यों नहीं अन्य लोगों से कहा करता है कि मैं ईश्वर को देखता हूं अथवा तब उसके दर्शन के लिये इतना उत्सुक ही क्यों सदा रहता है और ऐसा प्रत्यक्ष भी किन ही को नहीं देखा सुना गया। इस हेतु अभ्यन्तर में दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

सिद्धान्ती—कहता है यह आपका कथन विचारयोग्य नहीं। कैसे, अभ्यन्तर में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है जिससे युक्त हो आत्मा परमात्मा को न देख सके। यह जीवात्मा बाह्य में स्थूलेन्द्रियों से सब काम करता है उन स्थूलेन्द्रियों का परमसूक्ष्म ब्रह्म में प्रवेश नहीं होता। यह परीक्षक और अपरीक्षक दोनों का प्रत्यक्ष विषय है। बहिर्गत ईश्वर को हृदिस्थ जीव कैसे देख सकेगा क्योंकि शरीर व्यवहित है। अन्तःस्थ जीव का कोई भी व्यवधान नहीं? न कहने का यही कारण है यह नियम प्रतीत होता है कि बाहर स्थूल इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ यह संचय करता है उस २ को बाहर के उन इन्द्रियों के द्वारा प्रकाश करता और भीतर का जो विज्ञान है सो भीतर ही प्रकाश करता है क्योंकि सब वादी इस आत्मा को ज्ञानवान् स्वीकार करते हैं। अब आश्चर्य देखो कि यह आत्मा ज्ञानवान् होने पर भी "यह सर्प है इस के काटने से मनुष्य मर जाता, इस हेतु इसको हाथ से छूना नहीं चाहिये। यह विष है इसके पान से मृत्यु होता इस हेतु इसे नहीं पीना चाहिये" इत्यादि वस्तु ज्ञान बाहर से जब तक नहीं लाभ करता है तब तक वह कुछ नहीं जानता है। कुछ आविष्कार

नहीं करता है * और सर्वव्यापक होने से सब जीवों के साथ ब्रह्म का प्रतिक्षण स्पर्श होता है। यह तो आप स्वीकार ही करेंगे। जब दर्शन, स्पर्शन स्वीकार है तब आपको अवश्य ही स्वीकार करना

---

* भाव इसका यह है कि जीवात्मा सदा एक रस रहता न यह बालक, न युवा, न वृद्ध होता और न यह घटता, न बढ़ता, न मोटाता, न दुर्बल होता। जो कुछ है उसी रूप से सदा बना रहता है यह शास्त्रों का सिद्धान्त है। अब एक अत्यन्त छोटे बालक के निकट विषधर सर्प रक्खो। इसको देखकर किञ्चित् भी भय नहीं होगा, उसको हाथ से पकड़ने की चेष्टा करेगा इस बच्चे के भीतर जो आत्मा है वह तो सब कुछ जान रहा है और उसी आत्मा की चेष्टा से शरीर चेष्टित होता है। तो इस अवस्था में वह बालक उस विषधर सर्प को पकड़ने के लिये क्यों चेष्टा करता और भय क्यों नहीं खाता? यदि कहो कि वह अन्तःस्थ आत्मा सर्प के गुण अवगुण को भूला हुआ है इस हेतु पकड़ता है तो यह कथन सुन्दर नहीं। आत्मा ज्ञानी है यह प्रथम ही स्वीकार हो चुका है अथवा जिस वस्तु को हम सर्वदा देखा करते हैं उसको नहीं भूल सकते विशेष वस्तु का विस्मरण होता सामान्य का नहीं। अब इस नियम पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो कोई योनि नहीं है जहां सर्प का दर्शन न होता हो। यदि यह कहो कि मनुष्यातिरिक्त योनि में सर्पादि का बोध नहीं प्रथम तो इस में कोई प्रमाण नहीं। दूसरा यदि "दुर्जन संतोष" न्याय से मान भी लेवें तथापि सब आत्मा अन्य योनि से ही मनुष्यशरीर में नहीं आता। तब जो जीवात्मा एक मनुष्य-शरीर में आया है उसको तो स्मरण रहना चाहिये सो कहीं नहीं देखा जाता, यदि कहो कि भूल जाता है तो यह कथन पूर्वोक्त नियम से उचित नहीं क्योंकि विशेष को भूलता है सामान्य को नहीं अर्थात् जैसे किसी ने युवास्था में कलकत्ता वा मुम्बई को देखा तब से बहुत वर्ष व्यतीत हो गये पुनः कलकत्ता नहीं गया। कलकत्ते के आकार आदि को वह कदापि नहीं भूलेगा। उसकी आंख के सामने स्मरण करते ही कलकत्ते का आकार आजावेगा। यह बात कदाचित् भूल जायगी कि मैंने अमुक पुरुष से क्या बातें की थीं उन्होंने मुझे क्या २ भोजन करवाया था। भोजन की सामग्री के नाम न स्मरण हों। ऐसी २ बातें भूल सकती हैं परन्तु सामान्य विषय का विस्मरण नहीं हो सकता।

यदि कहो कि अत्यन्त बाल्यावस्था की सामान्य बात भी तो विस्मृत होजाती, इसका उत्तर मेरे सिद्धान्त में तो बहुत सरल है परन्तु तुम्हारे मत में इसका उत्तर होना अशक्य है। अभी मैं लिख चुका हूं कि अभ्यन्तर से जिसको आत्मा देखता सुनता है उसका बोध अभ्यन्तर ही में रहता कदापि भी बाहर नहीं होता। बाल्यावस्था में बाह्य इन्द्रिय बहुत दुर्बल और विषय-ग्रहण में अपटु रहता। इस हेतु मानो, बाल्यावस्था में बाहर से कुछ देखा सुना ही नहीं। पुनः स्मरण क्या होवे। बाल्यावस्था के अनन्तर इन्द्रिय विषय ग्रहण में बाहर से बलिष्ठ और पटु होता जाता है। इस हेतु इस अवस्था से सामान्य वस्तु की विस्मृत नहीं होती। इस प्रकार मेरे मन्तव्य में सङ्गति होती है। तुम्हारे सिद्धान्त में कदापि भी सङ्गति नहीं। तुम विचारो जब आत्मा को एकरस, निर्विकार और चेतन मानते हो तो अति बाल्यावस्था में सर्प से क्यों नहीं डरता? बाल्यावस्था में भी सर्पज्ञान होना चाहिये। सो नहीं देखते। अतः अनुमान होता है कि अभ्यन्तर ज्ञान केवल अभ्यन्तर के लिये, बाह्यज्ञान बाहर के लिये है। यह आत्मतत्व अत्यन्त कठिन विषय है। इसको अब अधिक न बढ़ावें। प्रकृत विषय का अनुसरण करें॥

देखो, शङ्कर-सिद्धान्त देखने से मालूम होगा कि सुषुप्ति अवस्था में यह आत्मा सर्वथा ईश्वर से मिलता है। शङ्कराचार्य ने पद २ पर वर्णन किया है और इन श्रुतियों को प्रमाण में देते हैं:—

पड़ेगा क्योंकि इसमें हेतु भी देखते हैं दोनों ही चेतन सम्मिलित होने पर क्यों नहीं परस्पर संभाषण करेंगे। यद्यपि मनुष्यवत् ईश्वर का भाषण न हो क्योंकि वेदों का वैसा ही उपदेश है तथापि विलक्षण अनिर्वचनीय भाषण तो स्वीकर्त्तव्य ही है क्योंकि इसमें कोई बाधक नहीं देखते। इससे ईश्वर का दर्शन, स्पर्शन, भाषण, सहनिवास इत्यादि सब ही सिद्ध होता है। यहां अब यह विचारणीय है कि दर्शनादि की प्राप्ति होने पर भी जीवात्मा की कृतकृत्यता क्यों नहीं? यह तो मेरा ही प्रश्न है। अच्छा तुम्हारा ही प्रश्न रहे। सुनो यह सब वितण्डा-कथा है। तुम्हारी भक्ति की कथा तो सर्वथा वितण्डा ही है। देखो, यदि केवल नाम जपने से या शुश्रूषा से वह ईश्वर प्रसन्न होवे तो मनुष्य-सृष्टि करना ही व्यर्थ था। तब इसको ऐसा करना था एक बड़ी, सुविस्तीर्ण, आद्यन्तपारविहीन, सर्वसुखों से युक्त, बहुत क्या कहें अपने समान सृष्टि बनावे वहां न मृत्यु, न रोग, न जरावस्था, न भोजनेच्छा, न पिपासा, न ईर्ष्या, न द्वेष, न कलह, न कोई विघ्नोत्पादक अनिष्ट वस्तु बनावे। मनुष्य समान सर्वगुणसम्पन्न असंख्य जीवों को यहां स्थापित कर आज्ञा देवे। हे जीवो! तुम सब मेरा ही नाम जपो, मेरी ही शुश्रूषा यत्नपूर्वक करो। उनको बुद्धि भी वैसी ही देवे जिससे कि वे अपने कार्य से विरत न हों क्योंकि उसी के अधीन सब कुछ है। इस प्रकार आसनों के ऊपर बैठे हुए मनुष्यों से अपना नाम जपवाता और शुश्रूषा करवाता हुआ वह प्रसन्न होवे, इस क्षुत्पिपासादि-संयुक्त मानव-सृष्टि से क्या प्रयोजन? ईश्वर ईदृश सृष्टि न कर क्षुधा-पिपासा-ज्ञानादिमति सृष्टि कर क्या फल देखता है? इससे प्रतीत होता है कि जिसको तुम भक्ति, जप और शुश्रूषा मानते हो तदर्थ यह सृष्टि नहीं है, न यह भक्ति और न यह शुश्रूषा है। ईश्वर ने जो बुद्धि आत्मशक्ति हम लोगों को दी है उसका कुछ अन्य अभिप्राय है। जितनी बुद्धि-शक्ति है और इसकी गति भी जहां तक है वहां तक कार्य्य में इसको लगाना चाहिये। यत्न से वहां तक कार्य साध उसको सफल करे। यदि उस शक्ति को पाकर कार्य में नहीं लगाते हो तो तुम बड़े पापी हो इसमें सन्देह ही क्या? जैसे धन अपने और अपने से इतर मनुष्यों के उपकार के लिये है। यदि कोई अज्ञानी उस धन को न बढ़ावे, न रक्षा करे, उससे कुछ भी न करे प्रत्युत धन को भूल जाय वा चोर आदिकों से चोरी करवादे वा उसके आलस्यवश चोरी हो जावे तो वह आदमी क्यों नहीं पापी गिना जायगा। इसी प्रकार ईश्वर ने जो शक्ति दी है उसकी रक्षा न करके विनाश कर देवें तो हम लोग क्योंकर पाप के भागी न बनेंगे। कार्य में शक्ति को न लगाना ही शक्तिविनाश है क्योंकि क्रमशः २ यह शक्ति अविनियुक्त हो जाने से क्षीण हो जाती है ‡।

"यत्रैतत्पुरुषः स्वपितिनाम, सदा सोम्य सता सम्पन्नो भवति स्वर्गपीतो भवति। इत्यादि॥ छा० उ० ६। ८। १॥

इस सत्र से भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जीवात्मा को ईश्वर का दर्शन साक्षात् सब दिन होता है। अतः प्रतिबन्धक के अभाव से अन्तःकरण में दर्शन होता इस में सन्देह नहीं, यह सर्व आस्तिक सिद्धान्त है।

‡ इसकी परीक्षा इस प्रकार कर सकते हो कि जो बालक तीक्ष्णबुद्धि है उसको कुछ काल तक मत पढ़ाओ और जो मन्दबुद्धि है उसको यत्न से पढ़ाओ यह मन्दबुद्धि कुछ दिन के अनन्तर अच्छी बुद्धिवाला हो जायगा, धारणाशक्ति बहुत बढ़ जायगी परन्तु वह तीक्ष्णबुद्धि बालक मन्द होजायगा, पुनः इसको भी पढ़ाना आरम्भ करो तो कुछ दिन के अनन्तर इसकी बुद्धि पुनः बढ़ती चली जायगी। अभ्यास शक्ति आदि सब गुण बढ़ जायंगे। इतिहास से यह मालूम हुआ है कि एक आध को छोड़कर

इदानीं चिन्त्यतामस्मासु कियति कीदृशी च शक्तिरस्ति। एतदर्थानि कृतकार्य्याणामाप्तानामुदाहरणान्यादेयानि। मनुष्यत्वेन वयं समास्तर्हि यत्तैः कृतं तत्कथन्न करिष्याम इति विचार्य तस्मिन् प्रवर्तितव्यम् इत्थमवश्यमेव त्वमपि कर्तुं शक्ष्यसि। ननु तारतम्यं विद्यत एव। सत्यमेतत्—प्रागेव स्वप्रवृत्तेस्त्वयैवेदं "न मम साध्यमिति" कथं प्रत्यक्षीकृतम्। ननु स्वसेनापरिवृतः सम्राड् यत्करोति तत् कुर्वन्न कश्चिद् हालिको दृष्टः। नह्येतदेकस्य कार्य्यम्। त्वमेकोऽसि। एकस्य दृष्टान्तो ग्रहणीयः। यथैकः कणादः परमाणुविद्यामाविश्चकार तथा त्वमपि कर्तुं समर्थः राजदृष्टान्तोऽप्येवं समाधातव्यः। अत्रैतिहासिका आहुः—ज्ञायते पुरा किल न कोपि राजाभूत्। गच्छत्सु कालेषु बलिष्ठो न्यूनान् बाधितुमारेभे। शनैः शनैः स्वशक्तिं च वर्धयामास। बलाद् बहून् न्यूनबलान् स्वायत्तीकृत्य राज्यं स्थापयामास। पुरा नासीदीदृशं विस्तीर्णराज्यम्। यद्वा, चौरपाटच्चरादि-दुष्टजनैरुपद्रुताः स्वस्वरक्षणेऽसमर्थाः प्रजा एकं नायकं स्थिरीकृत्य तदधीनत्वं स्वीकृत्य रक्षार्थं राज्यवद् व्यवस्थां प्रथमं कृतवत्यः शनैः शनैरस्या ईदृगाकारः संवृत्तः। अतो नैकस्येदं कार्य्यं न चैकवंशस्य वा। राज्यव्यवस्था समयाधीना परिवर्त्तते। विद्या त्वन्या कथा सैकाधीना। पश्चाच्छनैः शनैः सापि वृद्धिं प्राप्नोति। अतो महतां दृष्टान्तेन कार्य्ये प्रवर्तितव्यमेव। भवन्तु तावत् पदार्थानामानन्त्यादनन्ता विद्याः "सर्वाः विद्या जानीहि सर्वा वा अविदिता विद्याः प्रकाशय" इति क उपादिशति। चेष्टा कर्त्तव्येतावानुपदेशः। ननु नववेदान्तिभिरिव शुष्ककाष्ठैर्पशुभिर्वा जडैर्वा भाव्यम्। अहो नवीनवेदान्तिनामनिर्वचनीयं मौढ्यम्। तैः कर्मत्यागोऽप्युपदिश्यते। किं तैस्त्यक्तम्? एतैः पशुमूर्खैरज्ञातविद्यातत्त्वैरन्धीकृता भारतभूमिः। आसतां तावदेतेषामलसानामज्ञानिनाञ्च कथाः प्रकृतमनुसरामः।

एक स्थान वा एक देश वा एक द्वीप में प्रायः कुछ दिन तक एकसी बुद्धि रहती है। न्यूनाधिक्य रहती है भी तो बहुत कम। जब इनके ही मध्य में लोकोत्तर बुद्धिवाला मनुष्य उत्पन्न हो अपना सिद्धान्त फैलाता तब पुनः प्रायः सब की बुद्धि तदनकूल हो जाती, पुनः कोई उससे भी बुद्धिमान् उत्पन्न होता तो इसके अनुकूल लोग चलने लगते हैं। हां! इतनी बात अवश्य है कि हठ दुराग्रह से भी कोई २ बात स्थिर रहकर पश्चात् बहुत शक्तिसम्पन्न हो जाती है। यहां भारतवर्ष में इसके अनेक उदाहरण हैं। कुछ दिन ऐसा था कि सतीविधि का प्रायः सब ने अनुमोदन किया परन्तु अब हठी दुराग्रही को छोड़ एक बालक भी इसका अनुमोदन नहीं करता, तान्त्रिक धर्म बड़ी प्रबलता से चला, पुनः उसको दबाकर वैष्णव-धर्म ने भी निज शक्ति का प्रभाव सब के हृदय पर जमाया। पूर्वकाल में सुना जाता है कि बौद्ध सम्प्रदाय की अद्भुत शक्ति थी परन्तु वह भी यहां से नष्ट होगई, भारत में इसका नाम तक शेष न रहा। इस प्रकार के सहस्रशः उदाहरण दिखला रहे हैं कि यह बुद्धि बढ़ती घटती रहती है इस हेतु बुद्धि को स्वतन्त्रता से पूर्ण प्रयत्नपूर्वक कार्य्य में अवश्य लगावे। यहां यह भी जानना चाहिये कि जब २ किसी कारण विशेष से बुद्धि की स्वतन्त्रता के ऊपर महान् प्रहार हुआ है तब ही देश में "अन्धगोलाङ्गूलन्याय" की प्रवृत्ति हो ऐसी २ क्षति पहुंची कि जिसका वर्णन कदापि नहीं हो सकता है। इस हेतु हे मनुष्यो! अपनी बुद्धि-शक्ति जहां तक हो शुभ काम में लगाओ। यही ईश्वर की परमभक्ति है क्योंकि ईश्वर के दिये हुये अस्त्रों को यदि तुम मलीन करदोगे वा किसी काम में नहीं लगाओगे तो क्या ईश्वर इससे अप्रसन्न न होगा?

अब यह चिन्ता करो कि हम लोगों में कितनी और कैसी शक्ति है इसके लिये कृतकार्य्य मनुष्यों के उदाहरण लेवें. और विचारें कि मनुष्यत्वेन हम सब बराबर हैं तब एकने जो काम किया उसको हम क्यों नहीं कर सकेंगे, यह विचार उस कार्य में प्रवृत्त हो जाय, अवश्य ही तुम भी इसको कर सकोगे।

शङ्का—बुद्धि की तारतम्य देखते हैं।

उत्तर—सत्य है, परन्तु अपनी प्रवृत्ति से पूर्व ही तुम को यह कैसे प्रत्यक्ष होगया कि यह कार्य्य मुझ से न होगा।

प्रश्न—एक सम्राट् अपनी सेना से परिवृत्त हो जो काम करता है उस २ काम को करता हुआ अकिञ्चन हल चलानेहारा कदापि नहीं देखा गया, यदि वह हालिक उस सम्राट् के समान मनोरथ करे तो कैसे हो सकता।

उत्तर—यह एक का कार्य्य नहीं। तुम एक ही एक का दृष्टान्त लो। यथा—एक कणादऋषि ने परमाणु विद्या का आविष्कार किया वैसा तुम भी कर सकते हो। राजा का दृष्टान्त जो तुमने दिया है उसका भी इस प्रकार समाधान होगा। इतिहास से जाना जाता है कि पूर्व में कोई राजा नहीं था। कुछ समय बीतने पर बलिष्ठ पुरुष न्यून पुरुषों को बाधा देने लगे। धीरे २ उसने निज शक्ति को बढ़ाना आरम्भ किया। बलात् न्यून पुरुषों को अपने वश में करके राज्य स्थापित किया पूर्व समय में ऐसा विस्तीर्ण राज्य नहीं था। अथवा जब चोर डाकू आदि दुष्ट जनों से प्रजाएं उपद्रवित होने लगीं और अपनी रक्षा करने में असमर्थ हुई तब एक नायक को स्थिर कर उसकी अधीनता स्वीकार कर रक्षा के लिये राज्य के समान प्रथम व्यवस्था बांधी। धीरे २ राज्य का आज ऐसा आकार होगया है। इस हेतु यह एक का कार्य्य नहीं और न एक वंशस्थ पुरुष का ही, किन्तु अनेक वंशपरम्परा होते २ आज इसकी यह आकृति है। राज्यव्यवस्था समयाधीन परिवर्तित होती रहती है। विद्या तो अन्य कथा है। वह एक के अधीन है। पश्चात् धीरे २ वह भी वृद्धि को प्राप्त होती, इसमें सन्देह नहीं। इस हेतु महान् पुरुषों के दृष्टान्त से कार्य में प्रवृत्ति करनी चाहिये। इस हेतु पदार्थों के अनन्त होने से विद्याएं भी अनन्त होवें। इसकी कोई चिन्ता नहीं। "सब ही विद्याएं जानो। अथवा सब ही अविदित विद्याओं को प्रकाशित करो" यह कौन उपदेश देता है किन्तु चेष्टा करनी चाहिये इतना ही उपदेश दिया जाता है, उपदेश यहां यह दिया जाता है कि नवीन वेदान्तियों के समान शुष्ककाष्ठ वा पशु वा जड़ मत होओ। आश्चर्य! नवीन वेदान्तियों का मौढ्य भी अनिर्वचनीय है। वे नवीन वेदान्ती सर्वकर्म त्याग के लिये उपदेश देते हैं उन्होंने स्वयं क्या त्यागा? ये पशु और मूर्ख हैं जिन्होंने विद्याओं के तत्वों को न जाना इस भारतवर्ष को अन्ध बना दिया है। इन आलसी अज्ञानियों की कथाओं को यहां ही रहने दो हम लोग अपने विषय का अनुसरण करें।

वेदेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च समस्ति कापीदृशी शिक्षा? येदानीमिव केवलं नामजापं त्वदीयां भक्तिञ्च दर्शयेत्। नह्येतत्सदृशं क्वापि तत्त्वपारदृश्वभिर्ऋषिभिराचरितम्। चातुराश्रम्ये कर्म्मस्वाध्यायप्रवचनपरिपाटी समवर्ततरामिति प्रागवोचाम। अस्माकं प्राञ्च आचार्य्याः पदार्थविज्ञानेनैव निःश्रेयसं मन्यन्ते स्म।

वेदों में, ब्राह्मणों में, उपनिषदों में कोई भी ऐसी शिक्षा है? जो केवल नाम, जप और तुम्हारी भक्ति को बतलावे। ऐसे २ कार्यों को कहीं भी तत्त्वपारदृष्टा ऋषियों ने कभी नहीं किया है।

चारों आश्रमों में कर्म, स्वाध्याय और प्रवचन की ही अधिक परिपाटी थी इसको प्रथम हम कह चुके हैं, ज्ञानोपार्जन ही परमभक्ति मानी जाती थी भृगु आदिक के उदाहरण से विदित होता है। यह भी देखोः—हम लोगों के प्राचीन आचार्य्य पदार्थों के विज्ञान से ही निःश्रेयस मानते थे।

तद्यथा—"धर्म-विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥ पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥ रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौपरत्वापरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥ उत्क्षेपण-मवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" ॥ ७ ॥ वैशेषिक द० अ० १ । आ० १ ॥

यथा—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छः पदार्थ वैशेषिक के हैं। इनहीं पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। यह महर्षि कणाद कहते हैं। पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ये गुण हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन ये पांच कर्म हैं।

इत्यादि सूत्रजातं सूत्रयन्तो भगवन्तः कणादाः पृथिव्यादिपदार्थसमुदायतत्त्व-विज्ञानादेव निःश्रेयसपथमुपदिशन्ति।

इत्यादि सूत्रों को रचते हुए भगवान् कणाद महर्षि पृथिवी आदि पदार्थ-समुदाय के विज्ञान से ही मुक्ति होती है यह उपदेश देते हैं। यदि केवल नाम जपने से वा तुम्हारी भक्ति से ही कल्याण होता तो क्या कणाद ऋषि लोकशत्रु थे कि जिन्होंने इस महान् ग्रन्थ को बनाकर पढ़ने का भार सबों पर डाला है।

एवमेव—"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ प्रत्यक्षा-नुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥ आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोष-प्रेत्याभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥ पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥ गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः" इत्यादिभिः सूत्रैर्भगवान् गौतमोऽपि पदार्थज्ञानमेवापवर्गसाधनमुपदिशति।

इसी प्रकार—प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धान्त ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितण्डा १२ हेत्वाभास १३ छल १४ जाति १५ निग्रहस्थान १६, इन षोडश पदार्थों के ज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण हैं ॥ ३ ॥ आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग ये प्रमेय हैं ॥ ९ ॥ पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत हैं ॥ १३ ॥ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पृथिवी आदिक के गुण हैं। इत्यादि सूत्रों से भगवान् गौतम भी पदार्थ ज्ञान को ही मोक्षसाधना कहते हैं।

सम्प्रति कापिलं सांख्यमधीष्व। प्रकृति-पुरुष-विज्ञानमन्तरा न तत्रापवर्गस्या-शालेशोपि क्वापि ध्वनितः सम्पूर्णं दृश्यमदृश्यं सूर्यादिसहितं ब्रह्माण्डपदवाच्यं यत्किमपि वर्तते तत्सर्वं प्रकृतिकार्यम्। अत्र कार्य्यावबोधेनैव प्रकृतिबोधः। तस्मिन् सति प्रकृतिस्तं पुरुषं जहाति। ततो मुक्तिः। तत्रेमाः कारिका भवन्ति।

अब कापिलसांख्य शास्त्र को देखो। प्रकृति और पुरुष के विज्ञान के विना उस शास्त्र में कहीं भी मुक्ति का लेश ध्वनित नहीं हुआ है। सम्पूर्ण दृश्य, अदृश्य, सूर्यादि सहित ब्रह्माण्डपदवाच्य जो कुछ है वह सब ही प्रधान का कार्य्य है। कार्य्य के बोध से ही प्रकृति का बोध कहा गया है। जब ऐसा बोध उत्पन्न होता है तब प्रकृतिरूपा स्त्री पुरुष को छोड़ देती है तब मुक्ति होती है। इस विषय में इन कारिकाओं को देखो—

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानात् ॥ २ ॥ रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥ प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति। या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥ रूपैः सप्तभिरेव बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

(दृष्टवद्-आनुश्रविकः) दृष्ट उपायों के समान ही धर्म्मशास्त्रोपाय भी हैं (हि) क्योंकि (अविशुद्धि०) वे धर्म्मशास्त्रोपाय भी अशुद्ध, क्षयशील और अतिशययुक्त हैं; इस हेतु इसके विपरीत (व्यक्त) प्रकृति का कार्य = यह सम्पूर्ण जगत् (अव्यक्त) स्वयं प्रकृति और (ज्ञ) आत्मा इन तीनों का विज्ञान ही मुक्तिसाधक है ॥ १ ॥ (रङ्गस्य०) जैसे नर्तकी नृत्य देखनेहारों को सम्पूर्ण लीला दिखला कर नृत्य से निवृत्त हो जाती है वैसे ही यह प्रकृति जीवात्मा को अपनी आकृति दिखला कर लौट जाती है ॥ ५९ ॥ (प्रकृतेः) मैं समझता हूं कि प्रकृति से बढ़कर कोई भी सुकुमार नहीं है क्योंकि जब प्रकृति एकबार भी यह देखलेती है कि मुझ को इस पुरुष ने देख लिया तब पुनः इस पुरुष के सामने कदापि भी नहीं होती है ॥ ६१ ॥ वह प्रकृति सात रूपों से जीवात्मा को बांधती है और एक रूप से वही इसको छुड़ाती है ॥ ६३ ॥

विचारय! नहि मानुषीव प्रकृतिः कापि युवती सुन्दरी मनोरमास्ति। या स्वेन सौन्दर्येण कमपि रक्तं बध्नीयात्, न चेयं कापि राजवधूरसूर्य्यंपश्यास्ति या परेण पुरुषेण दृष्टास्मीति तस्मात्त्रपेत। पुनश्चात्मानं न दर्शयेत् कदापि। किन्तु जीवात्मानं वर्जयित्वा सम्पूर्णेयं सृष्टिरेव प्रकृतिः। यथा—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मा-त्राण्युभयमिन्द्रियं तान्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥ ६१ ॥

सांख्य० अध्याय १ ॥

इदानीमनुमातुं शक्नोषि-व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानान्मुक्तिमुपदिशतामाचार्य्याणां कोवाऽ-ऽशयः। व्यक्तस्य प्रकृतिकार्यस्य विज्ञाने कियन्ति वर्षाणि व्यत्येष्यन्ति। तथापि किं तस्याशेषस्य निःशेषतया सम्यग्ज्ञानं कदापि भवितुमर्हति। कार्य्यजातस्यानन्त्यात्। आचार्य्यास्तु तज्ज्ञानान्मुक्तिं शासति। एतेन प्रकृतिविज्ञाने रुचिमन्तो जना भवन्त्विति प्ररोचनायैव शास्त्रं प्रणीतम्।

अब यहां विचार करो कि प्रकृति, मानुषी के समान युवती, सुन्दरी, मनोरमा स्त्री तो नहीं है, जो स्वकीय सौन्दर्य से किसी रक्त पुरुष को बांधेगी, न यह कोई राजा की स्त्री के समान असूर्यम्पश्या (जो सूर्य को भी नहीं देखती है) स्त्री है, जो परपुरुष से मैं देखी गई हूं इस हेतु उससे बराबर लजाती रहे, पुनः अपने शरीर को कदापि नहीं दिखलावे तो प्रकृति क्या है ? देखो जीवात्मा को छोड़ यह सम्पूर्ण सृष्टि ही प्रकृति है, क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि—

"सत्व, रज, तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा और कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। तन्मात्रा से पञ्चस्थूलभूत होते हैं इससे महान् से लेकर पृथिवी पर्यन्त प्रकृति के कार्य्य हैं। इत्यादि शास्त्रों से सिद्ध होता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाम ही प्रकृति है। इससे कोई भिन्न प्रकृति नहीं।

अब आप अनुमान कर सकते हैं कि व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के विज्ञान से मुक्ति होती है यह उपदेश करते हुए आचार्य्य का क्या आशय हो सकता है ? प्रकृति-कार्य्य जो व्यक्त है उसके विज्ञान निमित्त कितने वर्ष व्यतीत होवेंगे। तथापि क्या सम्पूर्ण व्यक्त का सम्पूर्णतया सम्यक् ज्ञान कदापि हो सकता है ? क्योंकि ये कार्य्यसमूह अनन्त हैं परन्तु आचार्य्य इसके ज्ञान से ही मुक्ति कहते हैं, इससे विस्पष्ट है कि प्रकृति के विज्ञान में मनुष्य रुचिमान् होवे इसी प्ररोचनार्थ शास्त्र रचा है।

योगशास्त्रन्तु सांख्यमेवानुकरोति। यावदायुषं यज्ञानुष्ठानं शास्ति मीमांसा। तच्चाशेषाणां वेदानां शतपथादि-ब्राह्मणानामङ्गानामुपाङ्गानाञ्चाध्ययनाद् विना न संभवति। वेदादयस्तु ईश्वरीय-विभूत्यपरनाम्नीं प्रकृतिमेव पदे पदे स्तुवन्ति। अयमग्निः। एष सूर्यः। अयं वायुः। एते ग्रहाः। एत उपग्रहाः। इत्यादि नामनिर्देशेन। एवं यज्ञानुष्ठानच्छलेन विविधाः प्रकृतिविकारा एव अध्याप्यन्ते। ब्रह्ममीमांसा तु सर्वासामुपनिषदां समन्वयकरणे स्वकीयामाकृतिमियतीं विस्तीर्णां करोति यां परिरब्धुं सहस्रेषु लक्षेषु वा कश्चिदेवार्हः। यदि नामजपादिभिरेव ब्रह्मप्राप्तुं शक्यं तर्हि मुधैव कृष्णद्वैपायनश्चतुरध्यायीं प्रणिनाय। अन्ये च स्वं स्वमीदृशं शास्त्रम्।

योगशास्त्र सांख्य का ही अनुकरण करता है। मीमांसा सम्पूर्ण आयु यज्ञानुष्ठान की ही शिक्षा देती है। वह अनुष्ठान सब वेदों के, सब ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के तथा अङ्ग उपाङ्गों के अध्ययन विना कदापि नहीं हो सकता। वेदादि सब शास्त्र ईश्वरीय विभूति की दूसरी नामावाली प्रकृति की ही पद २ में स्तुति करते हैं। यह अग्नि, यह सूर्य, यह वायु, यह ग्रह, ये उपग्रह हैं। इस प्रकार यज्ञानुष्ठान के छल से विविध प्रकृतिविकार ही पढ़ाये जाते हैं। ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) तो सब उपनिषदों के समन्वय करने के निमित्त अपनी आकृति को इतनी विस्तीर्ण करती है कि जिसको पाने के लिये सहस्रों लाखों में कोई एक ही समर्थ हो सकता है, यदि नाम के जपादि से ब्रह्म-प्राप्ति हो सकती थी तो व्यर्थ ही कृष्णद्वैपायन आदिक आचार्यों ने ऐसा २ शास्त्र रचा।

अत्र तु न सन्देहस्तत्त्वविज्ञानायैव यमादयो धर्माः सेव्यत्वेनोपदिष्टाः। नहि तत्त्वविज्ञाननिरपेक्षाः क्वचिदपि यमादयः साध्यत्वेनोक्ताः। अतो ब्रूम—ईश्वर-विभूत्यध्ययनायैव मानवी सृष्टिरिति। यथा यथा मनुष्येषु तत्त्वविज्ञानं वर्धिष्यते तथा तथा मिथ्याज्ञाननिवृत्तेः सुखमपि प्रसरिष्यति। तदैकान्तमत्यन्तञ्चापवर्गं लप्स्यन्ते मनुष्या इत्यत्र किमिहास्ति बहुवक्तव्यम्। एतावदेव पर्य्याप्तं यत् "ज्ञानान्मुक्तिः" इत्यस्माकमाचार्याणां सिद्धान्तो भूयो भूयो मीमांसनीयः।

इसमें सन्देह नहीं कि तत्त्वविज्ञान के लिये ही यम आदि धर्म सेव्यत्वेन उपदिष्ट हुए हैं। तत्त्वविज्ञान रहित यमादिक की साधना कहीं नहीं कही हुई है। इस हेतु हम कहते हैं कि ईश्वर की विभूति के अध्ययन के लिये मानवी सृष्टि हुई है। जैसे २ मनुष्यों में तत्त्वज्ञान बढ़ेगा वैसे २ मिथ्या ज्ञान

की निवृत्ति होगी और उससे सुख भी फैलेगा। तब ही एकान्त और अत्यन्त अपवर्ग (मुक्ति) को मनुष्य पावेंगे इसमें बहुत क्या कहना है। इतना ही कहना बहुत है कि—"ज्ञानान्मुक्तिः" जो यह हम लोगों के आचार्य्यों का सिद्धान्त है उसको वारम्वार मनन करो।

पुनः शङ्कते—योऽयमीश्वरो द्यावापृथिव्यौ जनयन् मातापितृशतेभ्योऽप्यधिकतर-वात्सल्यशाली निखिलप्रयोजनविद् बुद्धेरपि बुद्धिप्रदोस्ति। स किमुद्दिश्येमां विलक्षणां मानवीं सृष्टिं विदधाति। अस्ति काचिदीदृशी मनुष्येषु शक्तिर्यया परमगहनं वादिप्रति-वाद्युत्थापितविप्रतिपत्तिभयङ्करमपि यदज्ञानेन खिलीकृताखिलमानुषप्रयत्नम् अतएवोत्तरो-त्तरकल्याणाय परः सहस्रैरप्यायासैरवश्यापेक्षितबोधं पर्य्यनुयोगमवधारयितुं पारयाम। अस्तीति समाधानम्। यदि प्रतिपक्षविहीनाः प्रेक्षावन्तो जनाः परीक्षका ब्रह्मणि मनः समाधाय तन्महिमसु आब्रह्मस्तम्भोच्चावचेषु पदार्थेषु गभीरां सात्त्विकीं विज्ञानदृष्टिं प्रक्षिपन्त एतदर्थं कालं क्षपयेयुस्तर्हि किन्नाम दुष्करं विचक्षणानां पञ्चजनानाम्। दृश्यते आकिञ्चदुद्बोधोदयाद् मानवार्भकः खलु स्वपरित ऊर्ध्वमधश्च स्थितान् नूतनान् नूतनान् पार्थिवान् प्राच्यामुद्यन्तं भास्करं, नक्तं गगनस्थं, चन्द्रमण्डलं, नक्षत्रचक्रं, द्युलोकस्थान्, उत समीपतरचारिणः सारमेयवायसादीन् पदार्थान् दर्शं दर्शं किमिदं किमिदं मातर्भण मे सर्वमिति पृच्छन् जिज्ञासावानहरहो दृश्यते। दृष्ट्वा चेमान् चकितो भवति तत्त-त्पदार्थज्ञानाय लालसावानुत्सुकतरश्च जायते। रात्रिन्दिवं बालचरितानि पश्य। तेन ज्ञास्यसि इयं मानवी सृष्टिर्बलवत्तरविजिज्ञासावती वर्तत इति। विजिज्ञासा खलु पदार्थानां विशेषतया ज्ञातुमिच्छा। दृश्यते च तेन विजिज्ञासाबलेन स्वौत्सुक्यनिवृत्तये मनुष्यैः यथायथं विदितान्यपि भूरीणि गूढानि पदार्थतत्त्वानि। एतेन विजिज्ञासार्थवतीति न सन्देहः। अतोऽनुमन्यामहे किमपि विज्ञातुमेवेयं विशेषेण मानुषी सृष्टिः। जिज्ञासाया-मेव प्रवर्त्तयितुं मानवजातिः सृष्टा परमात्मनेति सिद्ध्यति। अत्र ईश्वरीयवाक्यानां तज्ज्ञानां महर्षीणां प्रवृत्तेश्च प्रामाण्यम्। यदुभयमन्तरा केवलैः शुष्कतर्कवादैर्न किमप्यस्माभिः प्रतिष्ठापयितुं शक्यम्। तत्र तत्र वेदेषु तु "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" इत्यादिषु स्ववचनेषु ज्ञानार्थकविद्यादिधातुप्रयोगैः पदार्थानां वेद्यत्वं मनुष्याणां वेत्तृत्वञ्च सम्यगनु-शास्ति भगवान् कारुणिकः। ऋषयोऽपि स्वस्वप्रवृत्त्या "य एवं वेद य एवं वेदेत्यादीन् भूरि-भूरि प्रयोगांश्च विदधतस्तमेवार्थमनूद्य भगवन्निर्देशं प्रमाणीकुर्वन्ति। तद्यथा—

शङ्का—जो यह ईश्वर, द्युलोक और पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ, शतशः माता पिताओं से भी अधिकतर वात्सल्यशाली, समस्त प्रयोजनों को जाननेहारा बुद्धि को भी सुबुद्धिप्रद है। वह किस उद्देश्य से इस विलक्षण मानवसृष्टि को करता है ? क्या मनुष्यों में कोई ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा इस परम-गहन प्रश्न को निश्चित करने में हम लोग समर्थ होवें क्योंकि यह प्रश्न वादी और प्रतिवादी दोनों के उठाए हुए विविध सन्देहों से अति भयङ्कर होरहा है। भयङ्कर होने पर भी जिसके न जानने से मनुष्यों के अखिल प्रयत्न व्यर्थीभूत होगये हैं। इस हेतु उत्तरोत्तर कल्याण के वास्ते हजारों परिश्रमों से भी जिसका बोध अवश्य ही अपेक्षित है इसके उत्तर में कहा जाता है कि है अर्थात् मनुष्य में वह शक्ति है। यदि प्रतिपक्षविहीन प्रेक्षावान् * जन परीक्षक होके ब्रह्म में मन समाहित कर उसकी

* यस्यामुत्पद्यमानायामविद्या नाशमर्हति। विवेककारिणी बुद्धिः सा प्रेक्षेत्यभिधीयते॥
जिसकी उत्पत्ति होने से अविद्या नाश को प्राप्त होती है, ऐसी जो विवेककारिणी बुद्धि है उसे प्रेक्षा कहते हैं॥

महिमा जो ब्राह्मण से लेकर स्तम्भ (घास) पर्य्यन्त ऊंच नीच पदार्थ हैं उन पर गम्भीर सात्त्विक विज्ञान दृष्टि को फेंक देते हुए इसके लिये काल को वितावें तो विचक्षण मनुष्यों के लिये क्या दुष्कर है। देखते हैं जब ही किञ्चित् बोध का उदय होता है तब से ही मनुष्यबालक अपने चारों तरफ ऊपर और नीचे स्थित क्या नवीन पृथिवीस्थ पदार्थ, क्या पूर्व दिशा में उगता हुआ सूर्य्य, क्या रात्रि में गगनस्थ चन्द्रमण्डल, नक्षत्रसमूह, द्युलोकस्थ पदार्थों को, क्या अति समीप में विचरण करनेहारे कुत्ते, कौवे आदि पदार्थों को देख २ कर यह क्या है, यह क्या है, मा मुझको सब कहो, इस प्रकार पूछता हुआ दिन २ जिज्ञासावान् दीख पड़ता है। इन सबों को देख २ कर बड़ा ही चकित होता है। उस २ पदार्थ को जानने को लालसावान् और अति उत्सुक होता। आप लोग रात दिन बालचरितों को देखो उससे आप जानोगे कि यह मानवी सृष्टि बड़ी ही विजिज्ञासावती है। पदार्थों को विशेष पूर्वक जानने की इच्छा का नाम ही विजिज्ञासा है। इस जाज्वल्यमाना और महती इच्छा से यह अधिकतर युक्त है और यह भी देखते हैं कि उस जिज्ञासा के बल से अपनी उत्सुकता की निवृत्ति के हेतु मनुष्यों ने जिस किसी प्रकार से बहुत कुछ पदार्थों के गूढ़ तत्त्वों को जान भी लिया है। इससे विजिज्ञासा अर्थवती है यह सिद्ध होता अर्थात् जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है। इससे हम अनुमान करते हैं कि कुछ न कुछ जानने के लिये ही विशेषकर मनुष्यसृष्टि है। इससे सिद्ध होता है कि जिज्ञासा में प्रवृत्त करवाने के लिये ही ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की है। यहां प्रथम ईश्वरीय वाक्यों का और तत्पश्चात् उनके जाननेहारे महर्षियों की प्रवृत्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जिन दोनों के विना केवल शुष्क तर्कवादों से कुछ भी हम लोग प्रतिष्ठापित नहीं कर सकते। यहां २ वेदों में तो ज्ञानार्थक "विद्" आदि धातुओं के प्रयोगों से कारुणिक भगवान् अच्छे प्रकार सिखलाता है कि पदार्थ अवश्य वेद्य अर्थात् जानने योग्य है और मनुष्य वेत्ता अर्थात जाननेहारे हैं। ऋषि लोग भी अपनी २ प्रवृत्ति से और अपने ग्रन्थों में पद २ पर "य एवं वेद, य एवं वेद" जो ऐसा जानता है जो ऐसा जानता है, इस प्रकार के बहुत २ प्रयोगों को करते हुए उसी वैदिक अर्थों का अनुवाद कर भगवान् की आज्ञा को प्रामाणिक करते हैं। अब प्रथम वेदों के प्रमाण कहते हैं॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥ ऋ० १। १६४। १६॥ य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥ ऋ० १। १६४। ३२॥ "प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत्॥" यजुः० ३२। ६॥ "न तं विदाथ य इमा जजान॥" य० १७। ३१॥ यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्॥ अथर्व० १०। ८। ३७॥ पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन्यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

"स्त्रियः" इस मन्त्र में "ज्ञा" धातु और "य ईं चकार" "प्रतद्वोचेद्"। "न तं विदाथ"। "यो विद्यात्"। "पुण्डरीकम्"। "अकामः"। "यत्र देवाः"। इत्यादिक मन्त्रों में "विद्" धातु के प्रयोग विद्यमान हैं। इत्यादि अनेक स्ववचनों में स्वयं भगवान् भूतभावन परमपिता "विद्" धातु और तदर्थक धातुओं के प्रयोगों से परममाननीय और शाश्वती इच्छा का प्रकाश्य करते हैं कि पदार्थविज्ञान;

के लिये ही मनुष्यों को मैं रचता हूं। यदि यह आशय नहीं होता है तो जानने से मनुष्यों का कल्याण होगा ऐसी शिक्षा वेदों में नहीं देते। इससे मालूम होता है कि जानने के लिये ही मनुष्य सृष्टि है। आगे संक्षेप से उक्त मन्त्रों का अर्थ करते हैं।

ईश्वर कहता है (मे) मेरी (सतीः) सर्वदा रहनेहारी नित्य अविनश्वर (स्त्रियः) जो ये विस्तीर्ण विविध शक्तियां हैं। यद्यपि ये शक्तियां स्त्रीस्वरूपा हैं तथापि (तान्+ऊ+इति) उन को ही विद्वान् लोग (पुंसः+आहुः) पुरुष कहते हैं। इसको (अक्षण्वान्+पश्यत्) ज्ञानी पुरुष देखते अर्थात् जान सकते (न+वि+चेद्+अन्धः) परन्तु जो ज्ञानरूप नेत्र से रहित हैं वे नहीं देख सकते किन्तु (यः+पुत्रः) जो मेरा पुत्र अधिकारी (कविः) पदार्थ तत्ववित् है (सः+ईं+आचिकेत) वही जानने में समर्थ हुआ है। हे मनुष्यो! (यः) तुम लोगों में जो (ता) उन सम्पूर्ण पदार्थों को (विजानात्) विशेष रीति से जानता है (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता) पिता (असत्) होता है। अर्थात् पुत्र पौत्रादि सहित चिरकाल जीवित रहके परम ख्याति को प्राप्त होता है। यहां यह विविध सृष्टियां मानो स्त्रियां हैं क्योंकि स्त्रीवत् ये विविध पदार्थों को प्रतिदिन उत्पन्न कर रही हैं परन्तु इनको हम लोग पुरुष कहते हैं। अर्थात् ईश्वरीय सृष्टि में प्रत्येक पदार्थ में स्त्रीत्व और पुंस्त्व दोनों शक्तियें विद्यमान हैं। इसको केवल ज्ञानी जानते हैं अन्य नहीं। (यः+ईं+चकार) जो ही पुरुष इस प्राणी को पुत्रादि रूप से उत्पन्न करता है (सः) वही पिता (अस्य) इस पुत्र के विषय में (न+वेद) कुछ भी नहीं जानता। यद्यपि पिता पुत्र को उत्पन्न करता है परन्तु वह उसके विषय में कुछ भी नहीं जान सकता तथापि (तस्मात्) उस पुरुष से (हिरुक्+इत्) वह परमात्मा से अन्तर्हित ही है। अर्थात् छिपा हुआ ही है (सः) वह परमात्मा के ज्ञानरहित (मातुर्योनौ+अन्तः) मातृगर्भ में (परिवीतः) वारंवार परिवेष्टित हो (बहुप्रजाः) अनेक जन्म ग्रहण करता = बहुत पुत्र पौत्रादिक उत्पन्न करता हुआ (नैर्ऋतिम्+आविवेश) केवल दुःख को ही पाता रहता है। (गन्धर्वः) जो वेदवाणी का धारण करने हारा (विद्वान्) पंडित (नु) शीघ्र (तत्+अमृतम्) उस अमृत परमात्मा का (प्रवोचेत्) व्याख्यान कर सकता है। जो परमात्मा (गुहा) गुप्त स्थान में (सत्) विद्यमान (धाम) स्थान है (विभृतम्) स्थित है। अर्थात् अत्यन्त गोपनीय स्थान में रहता है अर्थात् अज्ञेय (अस्य) इस परमात्मा के (त्रीणि पदानि) तीन स्थान तो (गुहा निहितानि) गुप्तस्थान में छिपे हुए हैं (यः) जो विद्वान् (तानि) उनको (वेद) जानता है (सः) वह (पितुः पिता+असत्) पिता का पिता होता है। (न+तं+विदाथ०) हे मनुष्यो! उसको तुम नहीं जानते हो जिसने इसको बनाया। (यः) जो (विततम्) विस्तीर्ण (सूत्रम्) सूत्र को (विद्यात्) जानता है (यस्मिन्+इमाः+प्रजाः+ओताः) जिसमें ये समस्त प्रजाएं ग्रथित हैं और (सूत्रस्य+सूत्रम्) इस सूत्र के सूत्र को भी (यः+विद्यात्) जो जानता है (सः) वह (ब्राह्मणम्+महत्) महान् ब्रह्मतेज को जान सकता है। (पुण्डरीकम्) नवद्वार सहित त्रिगुणों से संयुक्त जो यह शरीररूप कमल है (तस्मिन्) उस शरीर में परमात्मा सहित जो जीवात्मा है उसी को बड़ा विद्वान् लोग समझते हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अ० १०।८।४४॥ यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्मज्येष्ठमुपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्। इत्याद्यनेकेषु स्ववचनेषु स्वयमेव भगवान् भूतभावनः परमर्षिर्विदि तदर्थकधातुप्रयोगैः "पदार्थविज्ञानायैव मनुष्यान् सृजामीति" परममाननीयां शाश्वतीं समीहां प्रकटयति। महर्षीणां प्रवृत्तिं पश्यत।

"भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचम्" ॥ तैत्तिरीये ॥ "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः । तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति ॥" छा० ७ । १ ॥ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस । तं ह पितोवाच श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्य्यं । न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति । स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य···एयाय" । "ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृमान् पितृमान् आचार्य्यवान् पुरुषो वेद ॥"

(अकामः०) अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू, सदातृप्त, निर्भय जो परमात्मा है उसको जानता हुआ पुरुष पुनः मृत्यु से नहीं डरता है । (यत्र देवाः०) जहां ब्रह्मविद् पुरुष ब्रह्म की उपासना कर रहे हैं उनको जो जानता है वही विज्ञानी ब्रह्मा है । इत्यादि वेदों में बहुत मन्त्र हैं जिनमें विस्पष्टरूप से कहा हुआ है कि विना पदार्थों के ज्ञान से मनुष्यों का कल्याण नहीं हो सकता । अब ऋषियों की प्रवृत्ति देखोः—वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के निकट गये और बोले हे भगवन् ! मुझ को ब्रह्म के विषय में पढ़ाइये । भृगु से वरुण बोले, इस प्रकार उपदेश दियाः—अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वचन इत्यादि ।

नारद सनत्कुमार के निकट विद्याध्ययन के लिये गये । नारद से सनत्कुमार बोले—हे नारद ! आप जितना जानते हैं उन सबों को प्रथम सुनाओ । उसके आगे आपको मैं उपदेश दूंगा । अरुणपुत्र श्वेतकेतु किसी समय में कहीं हुए । पिता ने उनसे कहा कि हे पुत्र श्वेतकेतो ! ब्रह्मचर्य करो । मेरे कुल में कोई अननूचान (वेद के न जाननेवाले) नहीं होते । वह श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में आचार्य्य के यहां जाकर २४ वर्ष की अवस्था तक सारी विद्या अध्ययन करते रहे । तत्पश्चात् गृह पर लौट आये । हे ब्रह्मचारियो ! सत्यता धारण करो और इसके साथ पढ़ो और पढ़ाओ । सत्य पदार्थ को जानो और इसके साथ स्वाध्याय (निज पठन) प्रवचन (दूसरों को पढ़ाना) भी किया करो । स्वाध्याय से प्रमाद मत करो । स्वाध्याय प्रवचन से प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिये । मातृमान्, पितृमान और आचार्यवान् पुरुष जानता है ।

अन्यच्च—इतरेषां पशु-विहग-सर्प-सरीसृपादीनां निसर्गत एव स्वजीवनोपयोगि-शिक्षाबोधाश्च जायन्ते । स्वस्वजातिजाः कठिना अपि विद्याः स्वभावेनैव विना प्रयासेन जन्मत एवोपलभ्यन्ते नैतन्मनुष्येषु क्वचिद्दृष्टम् । नहि कोऽपि प्लवङ्गशिशून् वृक्षप्लुतिं शिक्षते । नहि विहगान् तालपत्रावलम्बिनो लघून सुन्दरान् गृहान् निर्मातुं कोप्यध्यापयति । मत्स्या जन्मत एव जलेषु तरन्ति । भ्रमरा केन नैपुण्येन सरघां विदधति । एवमधीयन्तामितरेषां स्वभावाः । किन्तु नाध्ययनेन विना विदुषां तनया विद्वांसो भवितुमर्हन्ति । मातृतःपितृत आगच्छन्ति बहवो गुणाः । परन्तु विद्यासम्बन्धिवार्तास्ते यदि च न जानीयुस्तर्हितेषामितरजीववन्निर्वाहोऽपि दुष्कर एव । किं बहुना, यथायथेस्मिन् विवेक्ष्यन्ति तथातथेदं वेदिष्यन्ति भवन्तः । पदार्थानां तत्त्वज्ञानायैवेयं मानवी सृष्टिरिति । सम्पूर्णेयं बृहदारण्यकोपनिषत्प्रधानतया शिक्षते । तदिहोपरिष्टात् यथायथं व्याख्यास्यामः । ग्रन्थविस्तरभयान्न कमप्यर्थं विस्तारयिष्यामः । संक्षिप्यैव प्रकटित आशयो बहुधा बुद्धया

विधातव्यः। तच्च पदार्थतत्त्वविज्ञानमध्यवसायं विना नहि कदापि मनुष्य उपलब्धुमर्हः स हीदृग् विजिज्ञासावानपि भूत्वा अलसो भवतीत्याश्चर्यम्। यदा ईषत्प्रयोजनवन्तोऽप्यन्ये जीवाः एकं क्षणमपि प्रयत्नशून्यमालस्ययुतं कुर्वन्तो न दृश्यन्ते।

इत्यादि ऋषि महर्षि मुनि महामुनियों की प्रवृत्ति से भी विदित होता है कि कुछ जानने के लिये ही यह मनुष्य-सृष्टि है। और भी पशु, विहग, सर्प, सरीसृप इत्यादि मनुष्यों से भिन्न जीवों को स्वभाव से ही निज जीवन के उपयोगी शिक्षा और बोध उत्पन्न होजाते हैं। स्वस्वजाति की कठिन भी विद्याएं स्वभाव से ही विना प्रयास के ही उनको जन्मते ही प्राप्त होजाती हैं। परन्तु मनुष्यों में ऐसा कहीं नहीं देखा गया। वानरों के बच्चों को वृक्ष पर कूदना कोई नहीं सिखलाता है। तालवृक्षों के पत्रावलम्बी छोटे छोटे सुन्दर गृहों को बनाने के लिये पक्षियों को कौन पढ़ाता है। मछलियां जन्म से ही पानी में तैरने लगती हैं। भ्रमर किस निपुणता के साथ मधुछत्ते को बनाते हैं। इसी प्रकार अन्य जीवों के स्वभावों को पढ़ो। परन्तु विद्वानों का पुत्र अध्ययन के विना कदापि भी विद्वान् नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि माता पिता से बहुत गुण आते हैं परन्तु विद्यासम्बन्धी वार्ता नहीं आती और मनुष्य यदि उन्हें न जानें तो इनका इतर जीववत् निर्वाह होना भी दुष्कर है। बहुत क्या कहें, जैसा २ इस विषय में विवेक करेंगे वैसा २ आप जानेंगे कि पदार्थों के तत्वज्ञान के लिये ही मानवसृष्टि है। यह सम्पूर्ण बृहदारण्यकोपनिषद् प्रधानतया इसी को सिखलाती है। इसको आगे यथास्थान में व्याख्यान करेंगे, संक्षेप से प्रकटित आशय ही बुद्धि से बहुत कर लेना चाहिये और उस पदार्थतत्व-विज्ञान को अध्यवसाय (परिश्रम) के विना मनुष्य कदापि भी नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य ऐसा जिज्ञासावान् होकर के भी अलस होजाता है यह बड़ा आश्चर्य है। जब थोड़े प्रयोजन वाले अन्य जीव अपने एक क्षण को भी प्रयत्नशून्य और आलस्ययुक्त करते हुए नहीं देखे जाते तो क्या ही आश्चर्य है कि बहुप्रयोजनवान् मनुष्य प्रयत्नशून्य हो।

एवं बुद्धिमन्तोऽपि वेदैरनुगृहीता अपि पृथिवीस्थाऽशेषजीवेभ्यो भूयांसोऽपि उपायैरखिलं दुःखमुपशमयितुं शक्ता अपि यद्दुःखमेवाद्यावधि भुञ्जन्ति मानवाः। तस्य प्रपन्नविरोध्यज्ञानमेव कारणम्। अस्त्यैहिकपारलौकिकीभ्यां भिन्ना तृतीया केवला सात्त्विकी चेष्टा या भक्तिशब्देन ज्ञानशब्देन वा व्यवह्रियते। परमे ब्रह्मणि परमा निष्ठा भक्तिर्ज्ञानम्वा। यो वाध मानव्या अशान्तेर्हेतून् सम्यग् विज्ञाय केवलकल्पनोद्भवामामुष्मिकीं कथाञ्च तिरस्कृत्य वेदत आचार्यतः स्वात्मानुभूतितश्च मनुष्यजनिप्रयोजनमवधार्य्य निःश्रेयस-पथप्रदर्शकं निखिलानन्दप्रदं सर्वप्राणिसुखावहं ब्रह्ममहिमानमुपधावति। सद्यस्याः सात्त्विक्याश्चेष्टाया अनुग्रहपात्रम्। स तृतीयाया एकमात्रामपि यदि लब्धुमनुकम्प्यते प्राक्तनसुसंस्कारैर्ब्रह्मप्रसादेन वा तर्हि तयैवैकमात्रया सहितः स यावत्सुखं जनेभ्यः प्रयच्छति तावत्सम्राडपि समस्तैरेव सम्पत्त्यंशैर्दातुं न शक्नुयात्कालत्रयेऽपि। तथाहि, सांख्येन परमर्षिः कपिलो वेदान्तेन कृष्णद्वैपायनो वैशेषिकेण कणभक्ष आन्वीक्षिक्याऽक्षचरणो मीमांसया जैमिनिर्योगेन पतञ्जलिर्व्याकरणेन दाक्षीपुत्रः पाणिनी रामायणेन आदिकविर्वाल्मीकिः सम्प्रत्यपि रघुवंशादि-काव्येन कालिदासो गणितेन भास्कराचार्य्यो भाषारामायणेन तुलसीदासश्चेत्यादयो महात्मानस्त्यक्तैषणा दृष्टब्रह्मविभूत्येकांशाः सम्प्रति कीर्त्यैकशेषा अपि यावत् सुखं लोकेभ्यो वितरन्ति कः खलु सम्पूर्णपृथिवीधनराशिसम्पन्नोऽपि तावद्धनं विश्राणयितुं पारयेत। अहो विद्यावतामीश्वरद-

क्पातपात्रीभूतानां प्रभावः । एकेनैव दण्डेनाग्नेयशकटेन विना विंशतिं क्रोशान् अतिवाहयितुं सुखेनानायासेन सुहृद्भिः सहालपन्नेव गायन्नेव स्वपन्नेव केनेतरेण यानेन शक्नुयात् । सहस्रकोशेषु स्थितस्यापि प्रियस्य संवादं क्षणमात्रेण प्रापयितुं तडित्तारव्यापारं विना निःशेषभूजनाः संमिलिता अपि न समर्थाः । कः खलु पृथिव्यामीदृग् धनिको वा भूपतिर्वा वर्त्तते यो धनबलेन राज्यबलेन वा इतोऽनेकलक्षयोजनेषु दूरेषु विचरदपि नक्षत्रमण्डलं प्रत्यासन्नमिव कृत्वा दर्शयित्वा च सर्वतो विद्वज्जनकुतूहलमपनोदितुमर्हति । एष तु ज्ञानिनामेव प्रभावः । ये हि दूरवीक्षणयन्त्रादिकं प्रकाश्य दुर्लभेनापि वस्तुना प्रजामनोरथं पूरयन्ति । ईदृशाः शतशो महिमानो विराजन्ते पृथिवीतले तेषां ब्रह्मविभूति-महोदधेरभिमुखीनानां महात्मनां इमे श्रोत्रिया ब्रह्माऽऽज्ञा-प्रचार-व्यग्रीभूता जनहित-साधनव्रतपरायणास्तृणीकृतं सांसारिक-विभूतयो वसिष्ठविश्वामित्राऽत्रिकश्यपगोतमाङ्गि-रोवामदेवागस्त्यप्रभृतयो यानि यान्यद्भुतानि कार्य्याणि सम्पाद्य प्रजाभ्यो हितमकार्षुः तदुपवर्णनेऽपि न केषाञ्चिद् वाणीप्रसारः । एतेषामेव महापुरुषाणां नितान्तमनुष्यसुखे-च्छूनामुद्योगप्रभावो यदिदानीमपि मनुष्या धर्ममाचरन्तः सुखभाजनानि भवन्ति ।

ऐसे बुद्धिमान्, वेदों से अनुगृहीत, पृथिवी के अशेष जीवों से बड़े और उपायों से निखिल दुःखों के उपशमन करने में समर्थ होने पर भी ये मनुष्य-सन्तान जो आजतक दुःख ही भोग रहे हैं इसका प्रबल विरोधी अज्ञान ही कारण प्रतीत होता है । इस हेतु अज्ञान के नाशार्थ चेष्टा करनी मनुष्य का कर्त्तव्य है । यह जगत् स्वार्थसिद्धि के लिये ऐहिक वा पारलौकिक चेष्टा में सर्वदा आसक्त रहता है परन्तु नितान्त प्रेमियों की कथा और चेष्टा इन सब से विलक्षण होती है । ऐहिक पारलौकिक से भिन्न एक तृतीया केवल सात्त्विकी चेष्टा है जिसको भक्ति वा ज्ञान कहते हैं, परब्रह्म में परम जो निष्ठा उसी को भक्ति वा ज्ञान कहते हैं । जो मानवी अशान्ति के हेतुओं को अच्छे प्रकार जान, केवल कल्पना से जिसकी उत्पत्ति है ऐसी पारलौकिक कथाओं को तिरस्कार कर वेद, आचार्य्य और निजात्मानुभव से मनुष्य-जन्म के प्रयोजन को निश्चित कर निःश्रेयसमार्गप्रदर्शक निखिलानन्दप्रद सर्वप्राणिसुखावह ब्रह्ममहिमा की ओर दौड़ते हैं, वे इस सात्त्विक चेष्टा के अनुग्रह के पात्र बनते हैं । जो पूर्वजन्म के संस्कार से अथवा ईश्वर की कृपा से यदि तृतीय चेष्टा की एक मात्रा को भी पाने को अनुकम्पित (अनुगृहीत) होता है तो वह उसी एक मात्रा से युक्त हो मनुष्यों को इतना सुख पहुँचाता है कि जितना सम्राट् भी समस्त धनसम्पत्तियों से त्रिकाल में भी नहीं दे सकता है, देखो सांख्य से परमर्षि कपिल, वेदान्त से कृष्णद्वैपायन, वैशेषिक से कणाद, न्याय से गौतम, मीमांसा से जैमिनि, योग से पतञ्जलि, व्याकरण से दाक्षीपुत्र पाणिनि, रामायण से आदिकवि वाल्मीकि, आजकल भी काव्यों से कालिदास, गणित से भास्कराचार्य्य, भाषा रामायण से तुलसीदास इत्यादि महात्मा जो एषणाओं से रहित, ब्रह्म-विभूति के एक २ अंश के दर्शक हैं । आजकल यद्यपि इनकी कीर्तिमात्र अवशेष है तथापि ये जितना सुख लोगों को दे रहे हैं, कौन मनुष्य पृथिवीस्थ सम्पूर्ण धनराशि से युक्त होकर भी उतना सुख देने में समर्थ होगा । अहो ! ईश्वर की दृष्टिपात के पात्रीभूत विद्यावान् पुरुषों का प्रभाव देखो, आग्नेयशकट (रेलगाड़ी) के विना एक दण्ड में २०-२५ क्रोश पहुंचने में सुखपूर्वक अनायास से सुहृदों के साथ आलाप करता, गाता हुआ ही सुख से सोता हुआ हंसता हुआ ही अर्थात् सर्व सुख से ही अन्य यान से समर्थ हो सकता है । सहस्र क्रोशों पर स्थित भी प्यारे के संवाद को क्षणमात्र में पहुंचा देने में तड़ित् तार के व्यापार के विना सब मनुष्य मिलकर भी समर्थ

नहीं हो सकते । पृथिवी पर कौन ऐसा धनिक वा भूपति है जो धनबल से वा राज्यबल से अनेक अक्षयोजन दूर पर विचरण करते हुए भी नक्षत्रमण्डल को मानो समीप में लाकर और सब प्रकार से दिखला विद्वज्जन के कुतूहल को दूर करने में योग्य होवे। यह सब ज्ञानियों का प्रभाव है जो दूरवीक्षण यन्त्रादिकों को प्रकाशित करके दुर्लभ वस्तु से प्रजाओं के मनोरथ को पूर्ण कर रहे हैं । उनके ऐसे २ शतशः महिमा पृथिवीतल में विराजमान हैं जो लोग ब्रह्मविभूतिरूप महोदधि की ओर अभिमुख हुए हैं । इन लोगों से भी अधिक श्रोत्रिय ब्रह्माज्ञाप्रचार में व्यग्रीभूत जनहित-साधनव्रत-परायण और सांसारिक-विभूति को जिन्होंने तृणवत् समझा है ऐसे २ वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, कश्यप, गौतम, अङ्गिरा, वामदेव, अगस्त्य प्रभृति महर्षियों ने जिन २ अद्भुत कार्यों को सम्पादन करके प्रजाओं का हित किया, उसके वर्णन करने में भी किन्हीं की वाणी का प्रसार नहीं है । इन्हीं महापुरुष और नितान्त मनुष्यसुखेच्छु महर्षियों के उद्योग का प्रभाव है कि आज भी मनुष्य धर्माचरण करते हुए सुख के पात्र होते हैं ॥

ब्रह्मसाक्षात्कारः

कथं ब्रह्मसाक्षात्कारः । कोऽस्याभिप्रायः किं तदस्मदादिवच्छरीरं बिभ्राणं कचिदपि गुहामधिशेत अथवा दिवि तृतीयस्थाने तिष्ठत्सर्वं स्वमहिम्ना प्रशास्ति । किं अनेन मानवविग्रहेण कदाचिदपि स ईश्वर-पदवाच्यो देवो द्रष्टुं शक्यः ? आहोस्विन्नेति । कस्यापि महात्मनोऽनुनयेन प्रतीतः सन् तादृशमेव रूपं धृत्वा स्वात्मानं तस्मै कदापि दर्शयति न वेति ? प्रेत्यापि प्रत्यक्षतया घटपटादिवत् तं द्रक्ष्यन्ति यतयः क्षीणकल्मषाः आहोस्विन्नेति ? अस्ति कापि मनुष्याणामीश्वरप्रत्यक्षीकरणयोग्यता नवेति ?

ब्रह्मसाक्षात्कार

(१) ब्रह्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है और इसका क्या अभिप्राय है ?

(२) क्या वह ईश्वर हम लोगों के समान शरीर को धारण कर किसी गुहा में वा समुद्रादि में शयन करता हुआ है ? अथवा द्युलोक जो तृतीय स्थान कहा जाता है वहां रहता हुआ सम्पूर्ण विश्व को निज महिमा से शासन कर रहा है ? वहां ही जाकर सबों को उससे साक्षात्कार होता है ।

(३) क्या इस मनुष्य-शरीर से कदाचित् भी वह ईश्वरपदवाच्य देव दीख सकता है ?

(४) किसी महात्मा के विनय प्रार्थना से प्रसन्न हो वैसे ही रूप को धर अपना शरीर किसी को दिखला सकता है या नहीं ?

(५) मरणानन्तर भी जो यति निष्पाप हैं वे लोग भी घटपटादिवत् प्रत्यक्षतया उसको देख सकेंगे या नहीं ? बहुत क्या कहें ईश्वर को प्रत्यक्ष करने में मनुष्यों को कोई योग्यता है या नहीं ?

समाधीयते—न सन्ति सम्प्रति युधिष्ठिरपरीक्षिज्जनमेजयविक्रमादीनां महीक्षितां तानि भौतिकशरीराणि । ते नास्माननुशासति । नास्मान् ब्रुवन्ति किमपि । यदा तु तेषामाशैशवात् कथोद्घातं सर्वं चरित्रं पठामो यशोगानं च शृणुमस्तदा प्रत्यक्षाः पुरःस्थिता इव ते प्रतिभान्ति प्रीतिं जनयन्ति । तैषां चरित्र श्रावं श्रावं वयं सुखिनो भवामः । प्रीत्या श्रद्धयौत्सुक्येन च तच्चरित्रं गायन्तो जना उन्मत्ता भवन्ति, रुदन्ति, हसन्ति, वीरायन्ते । पुनः पाणिनिः क्वावात्सीत् किमाकृतिर्गौरो वा कृष्णो वा सुन्दरो वा कुरूपो वासीदिति न वयं विद्मो न चेदानीं केनापि प्रकारेण तज्ज्ञानसम्भवोस्ति । तथापि तदीयं व्याकरणं येऽधीयते ते महर्षिमेव तं मन्यन्ते, तस्य नामश्रवणादेवोल्लसिता भवन्ति,

अनवरतं तस्य महिमानमुद्घोषयन्ति, पूज्यबुध्या आदरधिया च तदीयं सर्वं पश्यन्ति। यो निपुणः स्थपतिरपूर्वरचनमनन्यकौशलघटितं भवनं विरच्येत उत्क्रामति। तस्य तु नामधेयमाभवनविध्वंसात् परम्परया लोका कीर्तयन्ति। समये समये तस्य सर्वं चरित्रं श्रुत्वा विस्मयमापन्ना भवन्ति।

समाधान—देखो, सम्प्रति युधिष्ठिर, परीक्षित्, जनमेजय, विक्रमादित्य आदि महीपालों के वे भौतिक शरीर नहीं हैं। वे आज हम लोगों के ऊपर शासन नहीं करते। न हम लोगों से कुछ कहते हैं परन्तु जब हम उनकी बाल्यावस्था से लेकर सब चरित्रों को अच्छे प्रकार पढ़ते अथवा उनके यशोगान सुनते सुनाते हैं तब वे प्रत्यक्ष सामने खड़े से भासित होते, प्रीति उत्पन्न करते हैं उनके चरित्र सुन २ कर हम सुखी होते हैं। प्रीति, श्रद्धा और उत्सुकता से उनके चरित्र को गाते हुए लोग उन्मत्त हो जाते, रोने लगते, हंसने लगते, वीरता आजाती है। और भी—पाणिनि कहां रहते थे, उनकी आकृति कैसी थी, वे गौर वा कृष्ण थे, सुन्दर वा कुरूप थे, यह सब हम लोग नहीं जानते हैं और आज किसी प्रकार से उन सबों का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है तथापि उनके बनाए व्याकरण को जो लोग पढ़ते हैं वे उनको महर्षि ही मानते हैं। उनकी साक्षात्मूर्ति देखने को किसी को लालसित और उत्कण्ठित नहीं देखते। कोई नहीं कहता है कि जब तक पाणिनि का साक्षात्कार नहीं होगा तब तक उनके व्याकरण पढ़ने से क्या लाभ और आनन्द भी नहीं आवेगा। किन्तु उनके नाम श्रवण से ही सब कोई जाननेवाले गद्गद् हो जाते हैं। अनवरत उनकी महिमा को उद्घोषित करते हैं। पूज्यबुद्धि और आदरबुद्धि से उनके सब पदार्थ को देखते हैं। और भी देखो—लोक में देखते हैं कि यदि कोई निपुणस्थपति (मकान बनाने हारा) अपूर्वरचनासहित, अनन्यकौशलघटित (जिस कौशल को अन्य कोई नहीं घटा सकता) भवन को बनाकर यहां से ऊपर चला गया। (अर्थात् मर गया) तथापि इसके नाम को जब तक भवन नष्ट नहीं हुआ तब तक परम्परा से लोग गाया करते हैं। समय २ पर उसके चरित्र को सुन विस्मयापन्न होते हैं।

एवमेश्वरसाक्षात्कारो द्रष्टव्यः। पाणिनेरेकेनैव ग्रन्थेन वयमेवं मोहिता ईश्वरस्य तु असंख्येया अगण्या गणनवृत्त्यतिक्रान्ताः सन्ति परितः स्थापिता ग्रन्थाः। ऐन्द्रजालिकस्यैकमपि विलक्षणमभूतपूर्वं कौतुकमवलोक्य बहु हृष्यामो हृदयेन च ते प्रशंसामश्च। कति सन्ति कौतुकानीश्वरस्य, कति चरित्राणि इतस्ततो लिखितानि यानि केषांचिद् योगिनां यतीनां वा मनांसि मोहयन्ति। इदमेव समष्टिव्यष्टिभावेन स्थितं जगज्जगदीश्वरस्य ग्रन्थराशिः साक्षात्तेनैव लिखितो नान्यैः संशयितैः कविभिः। योहि सर्वमीश्वरचरित्रं चित्रयति तस्य यथा यथैतज्ज्ञानमुपचीयते तथातथेश्वरसाक्षात्कारोऽनुभूयते। को हि बुद्धिमतां वरो निपुणस्याऽस्य शिल्पिनः शिल्पमवलोक्य अदर्शनेनापि तद्दर्शनं नानुभवति।

इनही उदाहरणों को ध्यान में रखकर अब ईश्वरसाक्षात्कार के विषय में मीमांसा करो। ईश्वर का भी साक्षात्कार ऐसा ही है। पाणिनि के एक ही ग्रन्थ के हम लोग ऐसे मोहित हैं परन्तु ईश्वर के असंख्य, अगण्य, गिनने की जहांतक शक्ति है उससे भी बहुत दूर स्थित ग्रन्थ चारों तरफ स्थित हैं। ऐन्द्रजालिक के एक भी विलक्षण अभूतपूर्व कौतुक को देखकर बहुत हर्षित होते हैं हृदय से उसकी प्रशंसा करना आरम्भ करते हैं। ईश्वर के कितने कौतुक हैं। कितने चरित इधर उधर लिखित और गीयमान हैं जो किन्हीं योगियों और यतियों के मन को मोहित कर रहे हैं। यही समष्टिव्यष्टिभाव से स्थित जगत् ही ईश्वर का ग्रन्थराशि है जो साक्षात् ईश्वर से ही लिखित है अन्य संशयापन्न कवियों

से नहीं जो ईश्वर के सब चरित्रों को प्रकाशित करता है। जैसे २ इसका ज्ञान बढ़ता जाता है वैसे २ ईश्वर साक्षात्कार का अनुभव होता है। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कौन विद्वान् निपुण शिल्पी के शिल्प को देख दर्शन के विना भी उस शिल्पी के दर्शन का अनुभव नहीं करता है ॥

ननु—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा परमा गतिः" इत्येवं जातीयकेभ्यो जगद्बहिर्भूतमीश्वरं मन्यन्ते महर्षयः। अतो जगद्विज्ञानेन कथमस्य साक्षात्कारः। यदि स प्रकृतिस्वरूपः स्यात्तर्हि प्रकृतिपरिचयेन तस्यापि बोधः सम्भवेन्न तथा सोऽभ्युपगम्यते भवद्भिः कथं तर्ह्येष वादः।

प्रश्न—(न तत्र०) वहां सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् आदि कोई पदार्थ प्रकाश नहीं करते। इस अग्नि की वहां शक्ति ही क्या है ? वहां वह स्वयं प्रकाशित है। इसके पीछे सब प्रकाशित होते हैं। इसी की दीप्ति से सब ही दीप्तिमान् हो रहा है (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियों से परे अर्थ (विषय) है। अर्थों से परे मन है। मन से परे बुद्धि है। बुद्धि से परे महान् (महत्तत्व) और महान् से परे अव्यक्त (प्रकृति) है अव्यक्त से परे पुरुष (ईश्वर) है। पुरुष से परे कुछ नहीं है। वही काष्ठा है। वही परा गति है। इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों से विदित होता है कि महर्षि लोग जगत् से बाहर ईश्वर को मानते हैं। इस हेतु जगत् के विज्ञान से इसका साक्षात्कार कैसे हो सकता है। यदि वह ईश्वर प्रकृतिस्वरूप ही होवे तब तो प्रकृति के परिचय से उसका भी बोध होना सम्भव है। पर वह वैसा नहीं माना जाता है। तब यह वाद कैसे ?

समाधानम्—पूर्वोक्तानि निदर्शनानि परिशीलयत—यथा युधिष्ठिरादीनां महामहाद्भुतकर्मणां सम्राजां विद्यानिधीनां पाणिन्यादीनाञ्च चरित्रामृतं कर्णपुटैः पीत्वा तत्सान्निध्यमनुभवन्ति जनाः। एवमेवेश्वरचरित्रचित्रितमाद्यन्तविहीनं जगदिदमधीत्य कथन्न तत्साक्षात्कारानुभवो विज्ञानाम्। यथा चेह चरित्रचरित्रिणोः सर्वथा भेदेऽपि चरित्रं स्वस्वामिनं सर्वेषां श्रोतॄणां मनःसु सम्यक् स्थापयति सर्वावयवान् प्रत्यक्षयति, उन्मादयति, अन्यत्सर्वं विस्मारयति, बहून् दुर्गुणानपि तनूकरोति तान् मन्दंमन्दमुत्खातयति पश्चादुज्ज्वलीकृत्य लोकेषु पूज्यमपि विदधाति यदा मानवचरित्रस्यायं महिमास्ति तदा का कथेश्वरवार्तायाः। एतेन-जगज्जगदीश्वरयोरभेदस्वीकारे सत्येव जगद्विज्ञानेनेश्वरबोधः शक्य इति यदुक्तं तन्न दूरदर्शिनां विचारासहम्। अथ "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादिवाक्यानां कोऽभिप्रायः ? यदि यत्र यत्रेश्वरसत्त्वं न तत्र तत्र सूर्यादीनां गतिरित्याशयवन्तः सन्ति भवन्तस्तर्हि न साधु विचारयन्ति। सर्वत्रेश्वर-व्यापकत्वाऽभ्युपगमात्। यदि न तत्रेत्यादीनि वाक्यानि सूर्यादि-गतिविरहितेऽपि प्रदेशे ब्रह्मसद्भावं सूचयन्ति तर्हीदं सर्वं वयं स्वीकुर्म्मः। ऐतेन प्रकृतिविज्ञानमेव ईश्वर साक्षात्कारे प्रधानं साधनं गौणदर्शनमपीदमेवेत्यत्र न कापि क्षतिः। अतः प्रथमभूमिकायां जगत्येव महिमा दर्शनीयः परमप्रीत्या स एव चिन्तनीयः। यथायथातद्बोधोदयस्तथातथेश्वरसान्निध्यप्राप्तिरिति सन्तोषणीयम्।

समाधान—पूर्वोक्त उदाहरणों को अच्छे प्रकार विचार करो। जैसे महा अद्भुत कर्म करनेहारे युधिष्ठिर आदि सम्राटों के और विद्यानिधि पाणिनि आदि महर्षियों के चरित्रों को कर्णपुटों से पीकर उनकी समीपता का अनुभव मनुष्य करते हैं। वैसे ही ईश्वर के विपुल आद्यन्तविहीन जगत्‌रूपचरित्र को पढ़ करके विज्ञपुरुषों को ईश्वरसाक्षात्कार का अनुभव क्यों नहीं होगा और जैसे चरित्र और चरित्रियों (चरित्रवाला) का सर्वथा भेद रहने पर भी चरित्र अपने स्वामी को सब श्रोत्रियों के मन में अच्छे प्रकार स्थापित करदेता है उसके सब अवयवों को प्रत्यक्ष करता है, सुननेहारे को उन्मत्त बना देता है। अन्य सब को भुला देता है। बहुत दुर्गुणों को थोड़े कर देता है। मन्द २ उन दुर्गुणों को उखाड़ डालता है। पश्चात् अपने स्वामी को उज्ज्वल कर २ लोगों में पूज्य भी करता है। जब मानवचरित्र की ऐसी महिमा होती है। तब ईश्वरसम्बन्धी वार्तों के विषय में कहना ही क्या है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जगत् और ईश्वर के अभेद स्वीकार करने पर ही जगत् के विज्ञान से ईश्वर का बोध हो सकता है यह जो पूर्व में कहा है सो दूरदर्शियों के विचार योग्य बात नहीं है। अब आपने "न तत्र सूर्योभाति" इत्यादि वाक्यों का क्या अभिप्राय समझा है? यदि इसका भाव यह होवे कि जहां २ ईश्वर की सत्ता है वहां २ सूर्यादिकों की गति नहीं है यदि आप ऐसा ही अर्थ मानते हैं तो कहना पड़ेगा कि आप अच्छा विचार नहीं करते क्योंकि ईश्वर की व्यापकता को सर्वत्र स्वीकार कर चुके हैं। "यदि न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्य सूर्यादि-गति रहित प्रदेश में भी ईश्वर की विद्यमानता को सूचित करता है तब हम सब भी इसको स्वीकार करेंगे अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है यह सर्ववादिसम्मत है तब जहां सूर्य और जहां तक सूर्य की गति है वहां पर भी ईश्वर है इसमें सन्देह नहीं तो इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर के निकट भी सूर्य चन्द्र नक्षत्र विद्युत् और अग्नि प्रकाश करते हैं। तब "न तत्र सूर्यो भाति" ऐसे उपनिषद् वाक्यों का आशय दो प्रकार से हो सकता है कि इन सूर्यादिकों की ज्योति से ईश्वर अस्मदादिवत् प्रकाशित नहीं। अथवा जहांतक उनकी गति है उससे भी परे भगवान् है भगवान् की ज्योति से यह प्रकाशित है न कि इनकी ज्योति से भगवान् प्रकाशित है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति विज्ञान ही ईश्वर साक्षात्कार में प्रधान साधन है और यही गौणदर्शन है। इस हेतु प्रथम भूमिका में जगत् में ही उस की महिमा दर्शनीय परमप्रीति से वही चिन्तनीय है। जैसे २ उस महिमा के बोध का उदय होता जायगा वैसे २ ईश्वर की सन्निधि की प्राप्ति होती है। ऐसा सन्तोष करना उचित है।

किमिह बहु वर्णयामि। जगदिदमीश्वरस्य परमप्रियमस्ति। कथमन्यथा स्वयं भगवान् निर्म्मलो निर्विकारः शुद्धोऽपापविद्धोऽपि भूत्वा तद्विपरीतमिदं जगत् प्रविश्य स्वावयवामिव नृपोऽमात्यमिव करोति। प्रीतिं विना कथय कथमेतत्संभवति। श्रुतीनां बहुषु स्थलेषु ईश्वरस्याङ्गत्वेन सूर्य्यादयो रूप्यन्ते।

तथाहि—यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

यहां मैं क्या बहुत वर्णन करूं। यह जगत् ईश्वर को परमप्रिय है। यदि ऐसा न होता तो स्वयं निर्मल, निर्विकार, शुद्ध, अपापविद्ध होकर इसके विपरीत इस जगत् में प्रविष्ट हो राजा मन्त्री के समान निज अवयववत् बनाता है। कहो प्रीति के बिना यह कैसे संभव हो सकता। श्रुतियों के बहुत स्थलों में ये सूर्यादि पदार्थ ईश्वर के अङ्गवत् निरूपित हुए हैं।

देखो (यस्य) जिस परमेश्वर का (भूमिः) पृथिवी (प्रमा) चरण समान (अन्तरिक्षम्+उत+उदरम्) और अन्तरिक्ष उदर समान है (यः) जिसने (दिवम्+मूर्धानम्) द्युलोक को मूर्धा स्थानीय बनाया है (तस्मै०) इस सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को नमस्कार होवे ।

अविग्रहस्य भगवतो न हि भूम्यादयः पादादयो भवितुमर्हन्ति कथं तर्हि वर्णनमिदम् । भूम्यादिषु पादादीनामारोपोऽज्ञानिनां सुबोधाय क्रियत इति तु सत्यम् । किन्तु किञ्चित्साम्यमुपलभ्यारोप्यते । नहीश्वरस्य त्रिकालेऽपि जगता सह किञ्चिदपि साम्यत्वं लभ्येत । एतेन पुत्रे पितेवेश्वरो जगति स्निह्यतीति प्रतीयते । यद्वा तज्ज्ञानाय इमे सूर्यादय एव साधनभूता इति श्रुतीनां ध्वनयः ।

वेदाः खलु क्वचित्प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामिमान् सूर्यादीन् प्रस्तुवन्त एते तत्त्वतो विज्ञातव्यास्तैर्ब्रह्ममहिमा ज्ञातव्यो भवतीति विस्फुटमुपदिशन्ति । अन्यथा जडानां वर्णनेन किं प्रयोजनं स्यात् । तथाहि—

"कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः । किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वाऽऽवपनं महत् ॥ ६ ॥ सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः । अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्" ॥ १० ॥ यजुर्वेद ॥ २३ ॥ पुनः—को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् । कः सूर्यस्य वेद बृहतो जनित्रं "को वेद चन्द्रमसं यतोजाः" ॥ ५९ ॥ यजुः० ॥ २२ ॥

"वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् । वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ६० ॥ पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिम् । पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ ६१ ॥ किंस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः । किंस्वित् पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७ ॥ ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः । इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्, गोस्तु मात्रा न विद्यते" ॥ ४८ ॥

यः कश्चिदृत्विक् यजमानो वा पृथिव्यादि-तत्त्वं सम्यङ् न जानाति स कथं भुवनस्य नाभिं पृथिव्याः परमन्तं सूर्यादीनाञ्च गमनागमनं वेत्तुर्हति । कथञ्चेदृशानां प्रश्नानां समाधानं करिष्यति । अतोऽपि प्रकृतिरध्येतव्येति विज्ञायते सा चेश्वरसाक्षात्कारे साधनम् ।

शरीर रहित भगवान् के चरण आदि पृथिवी आदि नहीं हो सकते हैं । तब यह वर्णन कैसे हो सकता है । यदि कहो कि पृथिवी आदिकों में चरण आदिकों का यहां आरोपमात्र किया गया है कि अज्ञलोक अच्छे प्रकार समझ जायं । सो यह सत्य है परन्तु जबतक किञ्चित् समता न हो तबतक आरोप नहीं होता है । परन्तु त्रिकाल में भी जगत् के साथ ईश्वर की किञ्चित् समता नहीं हो सकती है । इससे यह सिद्ध होता है कि पितापुत्रवत् इस जगत् में ईश्वर का स्नेह है । अथवा उसके ज्ञान के लिये सूर्यादि पदार्थ ही साधनभूत हैं यह श्रुतियों की ध्वनि है । और भी देखो—कहीं २ वेद प्रश्नोत्तररूप से इन सूर्यादिकों का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि ये तत्वतः विज्ञातव्य हैं उनसे ब्रह्ममहिमा जानने योग्य होता है । अन्यथा इन जड पदार्थों के वर्णन से क्या प्रयोजन ?

वेदों में प्रश्न आए हैं (कः+स्वित्) कौन पदार्थ (एकाकी+चरति) अकेला विचरण करता है ? (कः+उ+स्वित्+जायते+पुनः) कौन पुनः २ नवीन होता हुआ दीखता है ? (किं+स्वित्) क्या (हिमस्य) हिम का (भेषजम्) औषध है ? (किम्वा+आवपनं+महत्) सब से बड़ी बोने की जगह कौन है ? ॥ ६ ॥ (सूर्यः+एकाकी+चरति) सूर्य अकेला विचरण करता है (चन्द्रमाः+जायते+पुनः) चन्द्रमा पुनः २ नवीन होता हुआ प्रतीत होता है (अग्निः+हिमस्य+भेषजम्) अग्नि हिम का औषध है (भूमिः) यह पृथिवी ही बोने का बड़ा स्थान है ॥ १० ॥ पुनः (अस्य+भुवनस्य) इन सम्पूर्ण प्राणियों के (नाभिम्) कारण को (कः+वेद) कौन जानता है ? (द्यावापृथिवी+अन्तरिक्षम्) द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षलोक को (कः) कौन जानता है ? (बृहतः+सूर्यस्य) इस महान् सूर्य के (जनित्रम्) जन्म को (कः) कौन जानता है ? (चन्द्रमसम्) चन्द्रमा को (यतोजाः) कहां से पुनः २ प्रकाशित होता है इसको (कः+वेदः) कौन जानता है ॥ ५१ ॥ इस प्रश्न के उत्तर में मानो एक जीवात्मा कहता है कि (अहम्) मैं (अस्य+भुवनस्य+नाभिम्+वेद) इस भुवन के कारण को जानता हूं । और (द्यावा०) पृथिवी अन्तरिक्ष को मैं जानता हूँ (वेद+सूर्यस्य०) इस बड़े सूर्य के जन्म को मैं जानता हूं (अथो+वेद०) और चन्द्रमा जहां से पुनः २ होता है इसको भी जानता हूं । (पृच्छामि+त्वा०) मानो ऋत्विक् परस्पर पूछते हैं कि (पृथिव्याः) पृथिवी के (परमन्तम्) अवधि को तुम से मैं पूछता हूं (यत्र+भुवनस्य+नाभिः) जहां जगत् का कारण है उसको (पृच्छामि) पूछता हूं (वृष्णः) वर्षण करनेहारे (अश्वस्य) सूर्य वा काल के (रेतः) बीज को (त्वा+पृच्छामि) तुम से पूछता हूं (वाचः) वेदरूप वाणी का (परमं+व्योम) परमस्थान को (पृच्छामि) पूछता हूं ॥ ६१ ॥ (सूर्यसमं+ज्योतिः) सूर्यसमान ज्योति (किंस्वित्) क्या है ? सो तुम कहो (समुद्रसमं+सरः) समुद्र समान सरोवर (किम्) कौन है ? (पृथिव्यै+वर्षीयः+किंस्वित्) पृथिवी से बड़ा कौन है ? (कस्य+मात्रा+न+विद्यते) जिसका परिमाण नहीं है ॥ ४७ ॥ इसके उत्तर में कहा जाता है कि (ब्रह्म) वेद वा ब्रह्मविद् पुरुष वा स्वयं ब्रह्म (सूर्यसमं+ज्योतिः) सूर्य समान ज्योति वाला है (द्यौः+समुद्रसमम्+सरः) द्युलोक समुद्र समान सरोवर है (इन्द्रः) विद्युत् (पृथिव्यै+वर्षीयान्) पृथिवी से बड़ा है (गोः) इस गमनशील विश्व का (मात्रा+न विद्यते) परिमाण नहीं है । अर्थात् यह दृश्यमान विश्व कहां तक है इसका निर्णय नहीं हो सकता । इन मन्त्रों को विचारो ।

जो कोई ऋत्विक् वा यजमान पृथिवी आदिक तत्वों को अच्छे प्रकार नहीं जानता है वह कैसे भुवन के कारण को, पृथिवी की अवधि को, सूर्यादि के गमनागमनों को जानने में समर्थ हो सकता है । कैसे ऐसे प्रश्नों का समाधान कर सकेगा । इस से भी यही जाना जाता है कि प्रथम ईश्वर साक्षात् के लिये प्रकृति का ही अध्ययन करना चाहिये ।

एतेषां तत्त्वज्ञानादेव निःश्रेयसाभ्युपगम इत्यपि वेदोपदेशः । तद्यथा—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम्" ॥ ऋग्वेद ४ । २७ । १ ॥ यर्हि वाव वामदेवो जीवो देवानां प्राकृतानां सूर्यादीनां निखिलानि जनिमोपलक्षिततत्त्वानि वेत्ति । तदायमयः पुरोपलक्षितनिखिल-दुःखबन्धनानि मोचयित्वाऽऽत्यन्तिकसुखापर-पर्य्यायमपवर्गं लभत इति मन्त्राशयः ।

पुनः इसके तत्वज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है यह वेदों का उपदेश है । जैसे कोई जीवात्मा मुक्तावस्था में कहता है (सन्) जीवात्मा (अहम्) मैंने (गर्भे) इस ब्रह्माण्डरूप गर्भ में वर्तमान (तेषां+देवानाम्) इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्यादि सकल प्राकृत वस्तुओं के (विश्वा) सब

(जनिमानि) उत्पत्ति स्थिति आदि अर्थात् सब तत्वों को (नु) निश्चितरूप से (अनु+अवेदम्) अच्छे प्रकार जान लिया तब (मा) मुझको जो (आयसीः) लोहमयी अर्थात् बन्धनमय (शतम्) अनेक (पुरः) शरीर (अरक्षन्) रक्षा करते थे (अथ) अब (जवसा) ज्ञानरूप बड़े वेग से (श्येनः) बाजपक्षी के समान (निरदीयम्) उनसे निकल गया हूं । लोहमय शरीर मेरी रक्षा करते थे इसका भाव यह है कि मैं अज्ञानता के कारण लोह सदृश अटूट शरीर में बन्द था । जब मैंने सकल प्राकृतिक वस्तुओं के तत्वों को अच्छे प्रकार जान लिया तब श्येन पक्षी के समान ज्ञानरूप साधन के द्वारा बड़े वेग से उन शरीरों से निकल गया अर्थात् जन्मरहित होगया । अब मैं मुक्ति का सुख भोग रहा हूं । यह इसका भाव है, इस मन्त्र से भगवान् उपदेश देता है कि जबतक पदार्थ-ज्ञान नहीं होगा तबतक मुक्ति नहीं होगी । अतः इससे प्रतीत होता है कि पदार्थ-ज्ञान ईश्वर-साक्षात्कार में सहायक होता है क्योंकि जब वामदेव जीव ने प्राकृत सूर्यादि सब देवों के जनिमोपलक्षित निखिल तत्वों को जानलिया तब ही अयःपुरोपलक्षित निखिल बन्धनों से अपने को छुड़ाकर आत्यन्तिक सुखवाला अपवर्ग को प्राप्त हुआ ।

इतश्चापि प्रकृतिरेवेश्वरसाक्षात्कारे साहाय्यकारिणी । वेदेषु सर्वाः प्रसिद्धा अप्रसिद्धा वा विद्या बीजरूपेणोपदिष्टाः सन्तीति महर्षीणां राद्धान्तः । ता एव विद्या महर्षिभिः स्वस्वव्याख्याभिर्बहुलीकृता विविधप्रस्थानोपबृंहिता ब्रह्मचर्यव्रतेन वर्णिभिरधीयन्ते । ता विशेषतया प्रकृतिविकारवर्णनपरा एव दृश्यन्ते । यदि विकाराध्ययनमीश्वरज्ञानसाधनं नाऽभविष्यत् । तर्हि तत्त्वपारदृश्वानो महर्षयः तास्ता विद्या न प्राचारयिष्यन् अतो ब्रह्मणो महिमैव दृश्यः । महिमा तु सर्वमिदं जगज्जगदीश्वरस्य । अन्यच्च—चेतनमात्रस्याज्ञेयस्यादृश्यस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वं, स्रष्टृत्वं, रक्षितृत्वं, विनाशयितृत्वं, महत्त्वं, पूज्यत्वमुपास्यत्वमित्येवंविधानि गुणकर्म्माणि कथमवधारितानि ? इदं जगद्वलोक्यैवेत्यत्र कः सन्देहः । न हि मानुषैर्नदेवैर्नान्यैर्जगदिदं जनयितुं शक्यम् । न च स्वयमुत्पद्यते । अतोऽस्त्यस्य कोऽपि कर्तेत्यनुमीयते । यो हीदृशं पञ्चभूतसमन्वितं ससूर्यचन्द्रनक्षत्रादिकं जगज्जनयति तेन कीदृशेन भवितव्यम् । तेनैतेभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायसा भाव्यम् । इदमनुमानं सुकरं भवति । विचार्य्यतां सम्प्रति जगतो महत्त्वेनेश्वरस्य महत्त्वमनुमीयते । तर्हि कथन्न जगदध्येयम् । अतो जगन्महत्त्वज्ञानमन्तरा ब्रह्मणो महत्त्वविज्ञानमपि न संभवति । अतो यदि ब्रह्म-साक्षात्कर्तुमीहसे तर्हि प्रथमं महिमाध्येतव्यः । अथेश्वरः कस्मिंश्चित्स्थाने तिष्ठतीति योऽयं द्वितीयः प्रश्नः । तत्रेदं वाच्यम्—बालकाः समुद्रादिस्थानविशेषेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरं मन्यन्ते न शास्त्रिणो वेदादिभिस्तस्य सर्वव्यापकत्वावधारणात् । मानवविग्रहेण स कदाचिदपि दृश्यो भवतीति तृतीयः प्रश्नोऽपि पूर्ववदेवास्ति । यदा जीवात्मापि मानवविग्रहेण प्रत्यक्षीकर्तुं न शक्यः । तर्हि कथमीश्वरोऽणीयसामप्यणीयान् ।

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" ॥ "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्ता य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति" ॥ "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न जानीमो यथैतदनुशिष्यात्" । इत्येवंविधानि प्रमाणानि ब्रह्मणश्चक्षुरादिभिरग्राह्यत्वम-

दृश्यत्वञ्च साधयन्ति। एतत्सर्वमुपरिष्टाद् व्याख्यास्यामो यथास्थानम्। विस्तरभयादत्रैव समापयामीमामवपातनिकाम्। येन केन प्रकारेण मनुष्यजन्मप्रयोजनं विज्ञाय तदनुष्ठातुं प्रयत्नवान् भवेदित्याशास्महे ॥

इससे भी प्रकृति ही ईश्वर-साक्षात्कार में साहाय्यकारिणी होती है। वेदों में प्रसिद्ध वा अप्रसिद्ध सारी विद्याएं बीजरूप से उपदिष्ट हैं यह सब महर्षियों का सिद्धान्त है उनहीं विद्याओं को महर्षियों ने स्वस्वव्याख्याओं से बहुत बढ़ाया है। विविध प्रस्थानों से वे युक्त हुए हैं। उनको ही ब्रह्मचर्य व्रत से ब्रह्मचारी अध्ययन करते हैं। वे सारी विद्याएं प्रकृति के विकार के वर्णनपरक ही दीखती हैं। यदि विकाराध्ययन ईश्वर के ज्ञान का साधन नहीं होता तो तत्वों के पार तक देखे हुए महर्षिगण उन २ विद्याओं का प्रचार कदापि नहीं करते। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म की महिमा ही दृश्य है। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म की महिमा है। और भी ब्रह्म के अस्तित्व स्रष्टृत्व आदि गुण भी तो जगत् के अवलोकन से ही विदित होता है। न मनुष्य न देवादिक इस जगत् को बना सकते इससे सिद्ध होता है कि इस जगत् का कोई कर्त्ता धर्त्ता अवश्य है इस प्रकार जगत् के महत्त्व के ज्ञान से ही ईश्वर के महत्त्व का भी बोध होता है। फिर जगत् का अध्ययन क्यों नहीं किया जाय इस हेतु ईश्वर के साक्षात्कार करने के लिये प्रथम महिमा ही अध्येतव्य है। क्या ईश्वर किसी विशेष स्थान में रहता? इस द्वितीय प्रश्न का उत्तर केवल यह है कि यह बालकों की कथा है विद्वानों की नहीं क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है इसको सब मानते हैं। मनुष्य शरीर से ईश्वर दृश्य होता या नहीं यह प्रश्न भी पूर्ववत् ही है। सब जीवात्मा ही को इस मानव शरीर से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तो ईश्वर को कैसे? "न चक्षुषा" इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि ईश्वर चक्षुरादिगम्य नहीं। ये सब विषय आगे बहुत विस्तार से वर्णित रहेंगे। जिस किसी प्रकार से मनुष्यजन्म का प्रयोजन जान उसके अनुष्ठान के लिये सब कोई प्रयत्नवान् हों यह आशा करते हैं।

इति श्रीमच्छिवशङ्करविरचित बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्या-
वपातनिका समाप्ता ॥
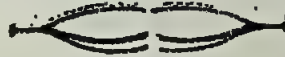
॥ ओ३म् तत्सत् ॥

बृहदारण्यकोपनिषच्छैवभाष्यम्

अथ प्रथमं ब्राह्मणम्

(अश्वशब्दवाच्यसंसाराध्ययनम्)

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणोव्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य ॥ (क)

अनुवाद—निश्चय, इस विज्ञातव्य (विशेषरूप से जानने योग्य) संसार का शिर उषा, नेत्र सूर्य, प्राण वायु, मुख वैश्वानर अग्नि है। इस विज्ञातव्य संसार का शरीर संवत्सर (वर्ष) है (क)।

पदार्थ—(वै) निश्चय, इसमें सन्देह नहीं (मेध्यस्य *) अच्छे प्रकार जानने योग्य (अश्वस्य) संसार का (शिरः) शिर (उषाः) प्रातःकाल है (चक्षुः) नेत्र (सूर्यः) सूर्य है (प्राणः) जीवन (वायुः) बाह्य वायु है (व्यात्तम्) खुला हुआ मुख (वैश्वानरः+अग्निः) विद्युत् नाम का अग्नि है (मेध्यस्य+अश्वस्य) जानने योग्य संसार का (आत्मा) शरीर (संवत्सरः) वर्ष है ॥ (क)

भाष्यम्—कोऽयं मेध्योऽश्वो यस्योषाः शिरः सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राण इत्यादीन्यलौकिकानि विशेषणानि दृश्यन्ते ? अत्राश्वशब्देनेदं सम्पूर्णं जगल्लक्ष्यते। यथाश्वः पशुष्वतिवेगवांस्तथाऽयं संसारो रयातिशयेन सम्यक् सरन् वर्तते। अत एवास्य संसारो जगदित्यादीनि नामधेयानि। यः संसरति स संसारः। यद्भृशं गच्छति नैरन्तर्य्येण याति तज्जगत्। अनारम्भणे यदि न भ्राम्येत् तर्हि क्व तिष्ठेत्। ग्रहाणां प्रत्यक्षेण भ्रमिदर्शनादियं पृथिव्यपि भ्रमतीति कः सन्देहः। तथाच यथाऽश्वः स्वपृष्ठेन मनुष्यं वहति तथेयं पृथिवी स्वपृष्ठे सर्वान् पदार्थान् स्थापयित्वाऽतिरंहसा धावन्ती वर्तते। अन्येषामपि चन्द्रादिलोकानामीदृशी व्यवस्था। इत्थं समष्टिबुद्ध्या वहनाद् गमनाच्चायं सम्पूर्णः संसार एकोऽश्वः। व्यष्टिबुद्ध्या पृथिव्यादिरेकैको लोकोऽश्वः। यद्वा एक एव शब्दः क्वचिद्रूढ इव क्वचिद्यौगिक इव प्रयुज्यते छागेऽजशब्दो रूढः परमात्मादिषु यौगिको न जायते इति

---

* वैदिक और लौकिक संस्कृत शब्दों में अर्थ का बहुत अन्तर होगया है। अतः वैदिक ग्रन्थों का आज बहुत कठिन और कुछ असङ्गतसा अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकरण में "समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः" यहां सब विद्वान् समुद्र शब्द का अर्थ ईश्वर ही करते। परन्तु पुराणों ने जलराशि समुद्र से घोड़े की उत्पत्ति मान ऐसे २ स्थान में भी समुद्र शब्द का अर्थ प्रसिद्ध समुद्र (जल समूहस्थान) ही कर रक्खा है ॥

धात्वर्थशङ्कः। एवमेवाश्वशब्दो हये रूढः संसारार्थे यौगिको व्युत्पत्तेस्तदर्थावगमात्। तथाहि—अशू व्याप्तौ संघाते च अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः। संसारस्येयत्तां परिच्छेत्तुं नालं मानुषी बुद्धिः। अतोऽस्माकं दृष्ट्याऽस्य व्यापकतैव न हयस्य। बहुषु पशुषु मध्ये तु स्वगुणेनास्यापि काचिद् व्यापकतास्त्येव। सर्वे शब्दा यौगिका नतु रूढा इत्यपि राद्धान्त आचार्य्याणाम्। अश भोजनेऽपि वर्तते। बहुभोजनोऽश्वो भवति। अनेकार्था धातव इत्यपि सार्वजनीनः पक्षः। स्वयमेव वेदोऽश्वशब्दस्य संसारवाचकत्वं ब्रूते। तद्यथा—

"अश्वस्यात्र जनिमाऽस्य च स्वर्द्रुहो रिषः संपृचः पाहि सूरीन्।
आमासु पूर्षु परोऽअप्रमृष्यं नारातयो वि नशन्नानृतानि"॥ ऋ० २। ३५। ६॥

अत्रास्मिन् परमात्मनि परमात्मनो व्यापकतायाम् अस्य परितो दृश्यमानस्य अश्वस्य संसारस्य जनिम जन्मास्ति। च पुनः स्वः सुखस्यापि जन्मास्ति तत्रैव। इत्यादि। भाषया विस्तरेणोपपादितं द्रष्टव्यम्॥

अथ कण्डिकार्थः—मेध्यस्य संगमनीयस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्य। "मेधृ संगमे च" अश्वस्य शिर उत्तमाङ्गम् "उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" उषा अस्ति प्रसिद्धो ब्राह्मो मुहूर्तः, उषाः प्रभातकाल इत्यर्थः। वै निश्चयार्थकः। "स्युरेवं तु पुनर्वै-वेत्यवधारणवाचकाः" अस्याश्वस्योषाः शिरोऽस्तीत्यवधारणीयमित्यर्थः। "उषाः कस्मादु-च्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः" ॥ निरु० ॥ "उषा वष्टेः कान्तिकर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका०" ॥ निरु० १२। ५॥ "वष्टेर्वोच्छतेर्वा" इति देवराजः। वश कान्तौ, उच्छी० निवासे। निवासः समाप्तिः। या उच्छति शार्वरं तमो विवासयति समापयति विनाशयति सोषाः। यद्वा उश्यते काम्यते या सा उषा इति व्युत्पत्तिः। वेदेषु भूयसीभिर्ऋग्भिरुषाः प्रशस्यते। "एषा दिवो दुहिता" "अभ्रातेव पुंसः" "कन्येवतन्वा शासदाना" इत्येवं-विधाभिः। नह्यनित्यानि वस्तूनि वेदाः प्रस्तुवन्ति। अतः प्राकृतपदार्थवर्णनद्वारा सर्वे मनुष्यव्यवहारा विविधाभिर्ऋग्भिरुपदिष्टाः सन्ति। अत्र सम्मानपुरःसरं स्त्रीभिः पतयः शुश्रूषणीयाः। पित्राद्यभावे स्वयमेव वरणीयाश्च। इत्यादि। अत्रोपनिषद्युषसो जगच्छिरस्त्व-माह। कथमेतत्—अनङ्गेऽस्मिन् संसारे कथमङ्गकल्पना। किं तया च प्रयोजनं पश्यन्त्यृषयः? समाधानम्—संसाराध्ययनार्थमेव मनुष्याणां सुबोधायानङ्गेऽप्यङ्गानि रूप्यन्ते। यदा परमात्मनो निरवयस्याप्यङ्गानि "यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः" इत्येवंविधैर्मन्त्रैः शिक्षायै रूप्यन्ते तर्हि का कथाऽन्येषाम्। भूयो भूयो विचार्यमाणमिदं रूपकं गूढार्थं सौन्दर्यातिशयञ्च प्रकाशयिष्यति। तत्राध्ययनं कदारब्धव्यमिति जिज्ञासायां प्रभातादारभ्याऽऽशयनकालादेकैकः पदार्थ अध्येतव्यः। अध्ययने त्ववयवेषु प्राधान्येन शिरसः कालेषूषसश्च साहाय्यकमित्युभयार्थद्योतनायोषसः शिरस्त्वम्। यथा बाल्ये शिरसि किञ्चिदिव प्रकाशः। ततो मन्दं मन्दं ज्ञानप्रकाशः समायाति। एवमेवोषसि सूर्यस्य किञ्चित् प्रकाशः। ततः सैवोषाः सरण्यू-सूर्या-प्रभृति नामधेयं बिभर्ति। अयमाशयः। सैव सूर्यप्रभामधिकामधिकां गृह्णाना दिवसत्वेन परिणमते। इतोऽपि तयोः साम्यम्। अधिकं भाषायां द्रष्टव्यम्॥

सूर्यश्चक्षुरिति । सूर्यः चक्षुषः साधनमित्यर्थः । साध्यसाधनाऽभेदविवक्षयैषोक्तिः । अतएव "चक्षोः सूर्योऽजायत" चक्षुषो निमित्ताय सूर्योत्पत्तिं वेदा आमनन्ति । अत्र निमित्तार्थे पञ्चमी दृश्यते च रात्रौ प्रायशो न केऽपि जीवाः पश्यन्ति सूर्याभावात् । यत्तु चन्द्रिकायां पदार्थदर्शनं तदपि सूर्यस्यैव ज्योतींषि चन्द्रे प्रतिफल्य प्रकाशयन्तीति कारणम् । अन्यानि यानि प्रदीपविद्युदादीनि ज्योतींषि सन्ति येषां साहाय्येन नेत्रेषु प्रकाशागमनम् । तेषामुपलक्षणेन सूर्येऽन्तर्भावः । सूर्यशब्देन सर्वाणि ज्योतिष्मन्ति वस्तून्युपलक्ष्यन्ते । उषसः कारणमपि सूर्य एव । अत उषोऽध्ययनानन्तरं सूर्यतत्त्वावगमस्यावश्यकत्वात्सूर्योपादानम् । शिरसीन्द्रियाणां चक्षुष इव जगति पृथिव्यादीनां सूर्यस्य श्रैष्ठ्यमिति तयोस्तुल्यता ।

वातः प्राण इति । अस्य समस्तस्य जगतः प्राणो वातो बाह्यो वायुरस्ति । सत्यपि सूर्ये वायुना विना प्राणिनो जीवितुं न शक्नुवन्ति । अयमेव बाह्यो वायू रूपान्तरं प्राप्य सर्वान् जीवयतीति गम्यते । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणामपि वायुरेवोज्जीवकः । अत उपनिषत्सु सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणनाम्नैकेनाभिधीयन्ते । अतो नेत्रानन्तरं तत्सहायकस्य प्राणस्यावबोध उचितः । व्यात्तमग्निर्वैश्वानर इति । अस्याश्वस्य व्यात्तं विवृतं मुखं वैश्वानरोऽग्निः "विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा" इति यास्कः । विश्वान् सर्वान् नरान् नरोपलक्षितान् पदार्थान् नयति परस्परं प्रापयति स्वस्वावस्थां वा प्रापयतीति वैश्वानरः । यद्वा नॄ नये । विश्वं सर्वं वस्तु आनृणाति समन्ताद्भावेन प्रापयतीति विश्वानरः स एव वैश्वानरः । विद्युदाख्योऽग्निरिह वैश्वानरः । पदार्थाध्ययनेनेदं विज्ञायते यदाग्नेयपदार्थानां समूह एव संसारः । सर्वेषु पदार्थेष्वनुगता एका वैद्युती शक्तिरस्ति । या पदार्थान् चालयति । यद्वा सर्वपदार्थाधारः सैव । ये परमाणव उच्यन्ते तेऽपि आग्नेयपदार्थानां भागानर्हा अंशा एव । एकोऽपि परमाणुस्तां विना न स्थातुं शक्नोति । अद्भुतशक्तिशाली वैश्वानराख्योऽग्निरुत्पादितः कुतूहलिना परमात्मना । यथा मुखसाहाय्येनाभ्यन्तरं प्राप्य सर्वे खाद्यपदार्थाः शरीरं पुष्णन्ति एवमेव वैश्वानराग्निसामर्थ्येन सर्वे पदार्थाः स्वात्मानं पुष्णन्ति । यद्यप्ययमविनाशी तथापि केनापि कारणेन शक्त्यन्तरैराक्रम्यमाणोन्तर्लीयते । तदैव मृत्युर्भवति प्राणिनाम् । वेदास्तु बहुलैर्मन्त्रैर्वैश्वानराग्निं प्रकाशयन्ति "स रोचयज्जनुषा" इत्येषऋग् द्रष्टव्या ।

सम्वत्सर आत्मेति । आत्मा शरीरम् । सम्वत्सरशब्दस्तु सदृशकालप्रवाहद्योतकः । यथा दिवसादनन्तरं रात्रिः । रात्रेः पश्चाद्दिवसः । पुनः पुनः स एव चैत्रः स एव वैशाखः । त एव वसन्तादय ऋतवः । तथा बहुकालादनन्तरमस्य प्रलयो भवति पुनश्च समान एव संसारो जायते । पुनश्च प्रलयः पुनरुत्पत्तिरिति चक्रवद्भ्रमिः । एकैकः प्रलयावधिः कालोऽस्य जगत एकैकं शरीरं वेद्यम् । अश्वस्य मेध्यस्य संगमनीयस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्याश्वस्य संसारस्याऽऽत्मा संवत्सरोऽस्ति । अश्वस्य मेध्यस्येति पुनरुपादानं प्रत्येकसम्बन्धार्थम् (क) ।

भाष्याशय—उषा—"उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः" यास्काचार्य कहते हैं कि रात्रि के अपरकाल का नाम उषा है और अन्धकार को दूर करने से यह नाम हुआ है आज कल प्रभात समय को उषा और ब्राह्म मुहूर्त भी कहते हैं । वेदों में उषा का बहुत वर्णन आया है दो एक उदाहरण यहां लिखते हैं—

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ॥ ऋ० १।१२४।३॥

(ज्योतिः+वसाना) प्रकाशरूप वस्त्र को धारण करती हुई (दिवः+दुहिता) द्युलोक की कन्या (एषा) यह उषा प्रातर्वेलारूपा देवी (समना) समान=तुल्य ही अर्थात् अन्य दिन के समान ही (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (प्रत्यदर्शि) देख पड़ती है (प्रजानती+इव) जानती हुई स्त्री के समान यह (ऋतस्य) सूर्य के (पन्थाम्) मार्ग के (साधु+अन्वेति) पीछे २ अच्छी तरह से जा रही है। इस प्रकार जाती हुई (दिशः+न+मिनाति) दिशाओं को नहीं भूलती है।

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ ऋ० १।१२४।७॥

प्रथम दृष्टान्त (इव) जैसे (अभ्राता) उचित वस्त्रादि से पालन करनेहारे भ्राताओं से रहिता कन्या (प्रतीची) विमुखी वा प्रत्याशारहिता हो (पुंसः+एति) अपने सम्बन्धिक चाचा आदि के निकट (धनानाम्) धनों की (सनये) प्राप्ति के लिये (एति) जाती है अथवा (अभ्राता+इव) जैसे भ्रातृरहिता कन्या (पुंसः) विवाह करके किसी पुरुष के निकट प्राप्त होती। द्वितीय दृष्टान्त (इव) जैसे विधवा स्त्री (प्रतीची) दुष्ट सम्बन्धियों के कारण स्वामी के धन को न पाकर विमुखी हो (धनानां+सनये) धन के लाभ के लिये (गर्तारुक्) गर्त=न्यायालय को न्याय के लिये (एति) जाती है। तृतीय दृष्टान्त (इव जाया) और जैसे पतिव्रता स्त्री (उशती) इच्छा करती हुई (सुवासाः) सुन्दर वस्त्रों से सुभूषिता हो (हस्रा+इव) और किञ्चित् मुसकुराती हुई (पत्ये) पति के निकट (अप्सः) अपने रूप को (निरिणीते) अच्छे प्रकार प्रकाशित करती है। (उषाः) यह उषा देवी अर्थात् प्रातर्वेला, भ्रातृहीना कन्या के समान पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जा रही है और मानो अधिकार के लाभार्थ आकाशरूप न्यायालय को चढ़ रही है और पतिव्रता स्त्री के समान अपने सुन्दर समय को प्रकाशित करती है।

कन्येव तन्वा शाशदानां एषि देवि देवमियक्षमाणम् ।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादा विर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥ ऋ० १।१२३।१०॥

(इव) जैसे (कन्या) कमनीया सुन्दरी प्रगल्भा स्त्री (तन्वा) शरीर से (शाशदाना) शोभायमाना होती हुई (इयक्षमाणम्) सेवा करने की इच्छा वाले (देवम्) अपने पति के निकट जाती है और जैसे (युवतिः) यौवनावस्थासंपन्ना स्त्री (संस्मयमाना) किञ्चित् २ हंसती हुई (विभाती) अतएव प्रकाशमाना हो (वक्षांसि) अपने अवयवों को अपने पति के समीप (आविष्+कृणुते) प्रकाशित करती है। इन्हीं दृष्टान्तों के समान (देवि) हे उषा देवि ! तू अपने सुन्दर शरीर से सुशोभिता होती हुई (देवम्) प्रत्येक जीव के निकट (एषि) उपस्थित होती है और मानो हंसती हुई (पुरस्तात्) पूर्वदिशा में (विभाती) प्रकाशित होती हुई (वक्षांसि) सम्पूर्ण रूप को (आविष्+कृणुषे) दिखला रही है।

वेदों में इस प्रकार उषा की प्रशंसा बहुत आई है और इस वर्णन से यह विस्पष्टतया बोध होता है कि प्रातर्वेला का नाम उषा है। इन पूर्वोक्त वैदिक मन्त्रों से अन्यान्य बहुतसी शिक्षाएं भी प्राप्त होती हैं, वेदों में अनित्य वस्तुओं का वर्णन नहीं इस हेतु प्राकृतिक वस्तुओं के द्वारा ही मनुष्य के

सब व्यवहार अनेक प्रकार से दिखलाये गये हैं। यहां स्त्रियों को पति के साथ सद्व्यवहार करना और यदि कन्या के भाई आदि सम्बन्धिक न होवें तो स्वयं पति को वरण कर लेना आदि विषय सूचित किये गये हैं।

१—उपनिषद् में उषा को अश्वरूप सृष्टि का शिर कहते हैं यह रूपक अति सुन्दर प्रतीत होता है। हमने अवपातनिका में कहा है कि जगद्रूप ग्रन्थ के अध्ययन के लिये ही मनुष्यजीवन है।

प्रश्न—वह अध्ययन कब से प्रारम्भ होना चाहिये।

उत्तर—१—जब से मनुष्य सोकर जागता है तब से लेकर शयनकाल पर्य्यन्त एक २ पदार्थ अध्येतव्य होगा और विशेषकर अध्ययन में शिर से ही सहायता ली जाती है इस हेतु अध्ययन की प्रारम्भावस्था को सूचित करते हुए ऋषियों ने उषा को शिर कहा है। २—जैसे शिर में प्रकाश और अप्रकाश दोनों होता है क्योंकि बाल्यावस्था में किञ्चित् प्रकाश तदनन्तर धीरे २ ज्ञानरूप प्रकाश आता जाता है वैसा ही प्रथम उषा अप्रकाश रूप में रहती है ज्यों २ सूर्य का प्रकाश होता जाता है त्यों २ उषा की ज्योति बढ़ती जाती है। वही उषा "सरण्यू" "सूर्या" आदि नाम धारण करती जाती है इसी प्रकार विवेकरूप सूर्य से शिरोरूप उषा जितनी प्रज्वलित होगी उतनी ही शोभा को प्राप्त होती जायगी। इस हेतु यहां उषा और शिर की समानता है। ३—जब यह ब्रह्माण्ड सर्वथा अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत था तब इसके विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते थे जब वेद के द्वारा ज्ञान का प्रकाश कुछ २ होने लगा तब से ही जानना आरम्भ किया। अतः यहां उषा शब्द सृष्टि के ज्ञानाज्ञान दोनों अवस्थाओं का सूचक है। इस हेतु यह सूचित हुआ कि जब से इस ब्रह्माण्ड का ज्ञानरूप सूर्य्य से प्रकाश होने लगा है तब से इसको जान सकते हैं उसके पहिले की बात नहीं, इस हेतु उषा शब्द का प्रयोग है। ४—अथवा जब से इस ब्रह्माण्ड ने किञ्चित् २ प्रकाशस्वरूप अवयव को धारण किया है तब से इसको जान सकते हैं उसके पूर्व नहीं क्योंकि मनुजी कहते हैं—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

अर्थात् सृष्टि की व्यवस्था के प्रथम क्या था कैसी अवस्था थी इसका वर्णन नहीं हो सकता। अतः प्रकाशाप्रकाशस्वरूप उषा ही अर्थात् सृष्टि की आद्यावस्था ही शिर अर्थात् अध्ययन का उत्तम साधन (कारण) है अर्थात् जो कोई सृष्टिविद्या का अध्ययन करना चाहता है उसे उचित है कि सृष्टि की उषावस्था को अपना प्रथम साधन बनावे और वहां से अध्ययन करता हुआ आज तक विद्या के विषय में जितने परिवर्तन वा संयोग वियोग हुए हैं सब जाने तब ही वह शिरवाला कहलावेगा। यास्काचार्य्यादिक "उषा" शब्द को दो धातुओं से निष्पन्न मानते हैं "उषा वष्टेः कान्तिकर्मणा उच्छतेरितरा माध्यमिका" ॥ निरुक्त १२। ५ ॥ "उषा वष्टेर्वोच्छतेर्वा इति देवराजयज्वा" अर्थात् "वश कान्तौ, उच्छी विवासे। विवासः समाप्तिः"। इच्छार्थक वश और समाप्त्यर्थक उच्छ इन धातुओं से "उषा" शब्द बनता है। जिसकी कामना सब कोई करें वा जो अन्धकार को समाप्त करदे उसे "उषा" कहते हैं। प्रायः सब जीव प्रभात की कामना करते हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। जैसे—स्वभावतः प्रभातवेला को सब ही चाहते हैं और वह अन्धकार को विनाश करता है इसी प्रकार शिर की कामना करनी चाहिये शिर को अपनी अवस्था में ले आना ही शिर की कामना है। सर्व विद्यारूप प्रकाशों से शिर को पूर्ण प्रकाशित करे। जिस देश में शिर का आदर नहीं वा जहां के लोग शिर को नहीं बनाते वा न शिर की परवाह करते हैं वहां के मनुष्य पशु माने जाते और अन्त में देश की दशा भी पशुवत् हो जाती इस हेतु उषा से शिर की तुलना कीगई है। विशेष कर अब गृहस्थाश्रम छोड़ कर

वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में जाना है। इनमें सूक्ष्म २ विद्याओं के बोध के लिये प्रथम शिर की ही आवश्यकता होगी। अतः ऋषि कहते हैं कि आश्रमियो! उषा के समान शिर की भी कामना करो। यहां यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उपनिषद् का अध्ययन विशेषकर अरण्य में हुआ करता था। जिन्होंने ब्रह्मचर्य में सम्पूर्ण विद्याएं पढ़ी हैं। गृहाश्रम में कुछ मनन और उनके प्रयोग किये हैं। अब तृतीय और चतुर्थ आश्रम में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का जानना और निदिध्यासन द्वारा उन्हें प्रकाश कर कुछ चिह्न छोड़ जाना ही अवशिष्ट रहा है। इसलिये कतिपय अनुभूत मार्ग दिखलाये जाते हैं। जिनसे पदार्थाध्ययन में सुगमता होवे॥

अश्व—यहां सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वा प्रधान (प्रकृति) का नाम अश्व है यद्यपि लोक में पशुवाचक अश्व शब्द प्रसिद्ध है तथापि वेदों में यह अनेकार्थक प्रयुक्त हुआ है और यहां अश्व शब्द के प्रयोग करने से अनेक आशय हैं। (१) जैसे अश्व (घोड़ा) मनुष्यों का एक उत्तम वाहन है और अपनी पृष्ठ पर उनको लाद कर बड़े ज़ोर से चलता है तद्वत् इस संसार को जानो। जीवात्मा और परमात्मा का यह एक उत्तम वाहन है और अश्व के समान ही बड़े वेग से सब पदार्थों को लादकर चल रहा है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एक अश्व तो यह समष्टि संसार है परन्तु इस समष्टि संसार में व्यष्टि रूप से अनन्त अश्व हैं यह पृथिवी एक अश्वा (घोड़ी) है और इसके समान अनेक पृथिवी हैं वे सब ही अश्वाएं हैं क्योंकि ये भी अपनी पृष्ठ पर चेतनाचेतन समुद्र नदी आदि सब पदार्थों को लेकर बड़े वेग से दौड़ रही हैं। यद्यपि पृथिवी का दौड़ना हमें प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता तथापि अनेक परीक्षाओं से सिद्ध है कि यह दौड़ रही है इसी प्रकार आकाश में चन्द्र सूर्य नक्षत्र हैं ये घोड़े के समान दौड़ रहे हैं। इस हेतु यहां अश्व शब्द से समस्त सृष्टि का ग्रहण हुआ है और इससे उत्तम रूपक अन्य नहीं हो सकता था। (२) संस्कृत भाषा में एक ही शब्द किसी अर्थ में रूढ़वत् प्रयुक्त होता है और किसी अर्थ में यौगिकवत्। जैसे "अज" शब्द छाग अर्थ में रूढ़ ही मानना पड़ेगा परन्तु जीवात्मा और परमात्मा में यौगिक। क्योंकि "न जायते" जो न उत्पन्न हो उसे "अज" कहते हैं। इसी प्रकार "अश्व" शब्द घोड़े अर्थ में एक प्रकार से रूढ़ है, परन्तु जब संसार वाचक होगा तब यौगिक होगा। क्योंकि "अश्नुते व्याप्नोतीत्यश्वः" "अशू व्याप्तौ संघाते च" जो बहुत व्यापक हो उसे अश्व कहते हैं। व्यापकता भी सापेक्ष होती है, जैसे ईश्वर की व्यापकता सब से बड़ी है। इसकी अपेक्षा संसार की व्यापकता न्यून है और संसारस्थ पदार्थों में एक दूसरे की अपेक्षा व्यापक है। इस संसार की भी सीमा अस्मदादिकों की बुद्धि से बहिर्भूत है, अतः इसको "अश्व" नाम से यहां ऋषि कहते हैं। किन्हीं आचार्यों के मत में सब ही शब्द यौगिक हैं रूढ़ नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार भी पशुओं में प्रायः अपने गुणों से अश्व व्यापक प्रसिद्ध है। इस हेतु भी घोड़े को अश्व कह सकते हैं यद्वा "अश भोजने" धातु भी है। पशुओं में अधिक भोजन करने से घोड़े को अश्व कहते हैं। यद्वा सब ही आचार्य धातु को अनेकार्थक मानते हैं। जगद्वाची अश्व शब्द वेदों में आया है, यथा—(अत्र) हे परमात्मन्! आपकी इस व्यापकता के मध्य में (अस्य) इस सर्वत्र दृश्यमान (अश्वस्य) व्यापनशील जगत् का (जनिम) जन्म होता है अतः हे महन् (स्वः+द्रुहः) ज्योति से द्रोह करनेहारे (रिषः) और हिंसा करनेहारे पुरुषों के (संपृचः) सम्पर्क=संसर्ग से (सूरीन्) विद्वानों की (पाहि) रक्षा करो और हे भगवन्! (धामासु) मा=सम्पत्ति उससे पूर्व (पृथु) ग्रामों में जो (परः) अतिशय (अप्रमृष्यम्) अप्रमृष्यमाण सत्कार के योग्य पुरुष है उसको (अरातयः) शत्रु (न+वि+नशत्)

प्राप्त न करसके और (अनृतानि) मिथ्यावस्तु (न) प्राप्त न होवें अर्थात् परम सम्पत्तियुक्त ग्रामों में जो सब के नायक और परम प्रतिष्ठित पुरुष हैं उनको न शत्रु और मिथ्या व्यवहार प्राप्त होवें । यहां अश्व शब्द जगद्वाची है, इसमें सन्देह नहीं ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकोऽश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥ऋ० १ । १६४ ॥

इन दो उपरिष्ट मन्त्रों में सूर्य और सूर्य के किरण दोनों अर्थ में अश्व शब्द का प्रयोग आया है । अमरकोश में सप्ताश्व, हरिदश्व आदि सूर्य के नाम आये हैं । सूर्य की स्त्री सरण्यू एक समय घोड़ी का रूप धारण कर भाग गई सूर्य भी यह लीला देख घोड़े का रूप धारण कर उसके निकट पहुंचा । ऐसी ही याज्ञवल्क्य के विषय में कथा आई है । जब याज्ञवल्क्य वेद के लिये तपस्या कर रहे थे तब सूर्य ने घोड़े का रूप बन याज्ञवल्क्य को वेद सिखलाया इत्यादि । इन सबों का तात्पर्य कुछ अन्य ही था परन्तु पुराणों ने सब चौपट कर दिया ।

ईश्वरवाची अश्वशब्द

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ अथर्व० १६ । ५२ । १ ॥

यहां काल और अश्व शब्द ईश्वर के ही अर्थ में हैं, प्रायः देखने से विदित होता है कि यह वर्णन सूर्य का है परन्तु सो नहीं है । देखो —

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।
काले ह भूतं भव्यञ्चेषितं ह वि तिष्ठति ॥ ५ ॥
काले भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ॥ ६ ॥ अथर्व० १९ । ५३ । ५—६ ॥
कालादापः समभवत् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्य्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥ अथर्व० १९ । ५४ । १ ॥
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥ अथर्व० १९ । ५४ । ३ ॥

इत्यादि अथर्व (१९ काण्ड ५२–५४ सूक्त के) मन्त्रों के देखने से ईश्वर के ही लक्षण पाये जाते हैं । इस काल ने द्युलोक पृथिवी आदि को उत्पन्न किया । काल से ऋग्वेदादि प्रकाशित हुए, काल से सूर्य ही उदित होता है और काल में ही प्रविष्ट होता, काल की सहायता से तप्त होता इत्यादि लक्षण ईश्वर के ही हो सकते हैं अन्य के नहीं । यहां ईश्वर को अश्व कहा है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व का वाहक वही है ।

शतपथ में—वज्रो वो अश्वः ॥ ४ । ३ । ४ । २७ ॥ वीर्य्यम्वा अश्वः ॥ २ । १ । १ । २४ ॥ अग्निर्वा अश्वः ॥ राष्ट्रम्वा अश्वः ॥

इत्यादि प्रमाण आए हैं । वज्र, वीर्य, राष्ट्र, अग्नि आदि भी अश्व कहलाते हैं । शतपथ ब्राह्मण के त्रयोदश (१३) काण्ड में "सर्वमश्वमेधः" यह शब्द अनेक वार आया है इससे विदित होता है कि अति प्राचीन काल में अश्वमेध नाम "सब" का था अर्थात् इस समष्टि सृष्टि का नाम ही "सर्व" है, इसके अनन्तर ही "सर्वस्याप्त्यै" प्रयोग आता है । सब पदार्थ की विज्ञानप्राप्ति के लिये यह यज्ञ था (अश्वः संसारो मेध्यते सम्यक् ज्ञायते इति अश्वमेधः) यह भी एक प्रथा देखने में आती है कि जो

सम्पूर्ण पृथिवी को विजय करे वही अश्वमेध करने का अधिकारी होता है इस यज्ञ में पृथिवीस्थ सब मुख्य महात्मा, ऋषि, मुनि, विद्वान्, गायक आदि बड़े २ राजा महाराजा एवं सब पदार्थ एकत्रित होते थे, एक प्रकार की प्रदर्शिनी थी। इससे भी यही अनुमान होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ के विज्ञान के लिये ही यज्ञ था।

मेध—"मेधृ संगमे च" संगम अर्थ में मेधृ धातु है। यहां च शब्द से पूर्वपठित मेधा और हिंसन ये दोनों अर्थ भी गृहीत होते हैं, इस प्रकार मेध् (मेधृ) धातु के मेधा १, हिंसन २ और संगम ३ ये तीन अर्थ होते। इनमें से आजकल केवल हिंसा अर्थ का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि ये लोग यज्ञ में पशुओं की हिंसा मानते परन्तु वैदिक सिद्धान्त यह नहीं। वेदों में अश्वमेधादि यज्ञों का कुछ अन्य ही अभिप्राय था। अश्वमेधादि शब्द का पाठ वेदों में आया है। यथाः—

"राजसूयं वाजपेयम् अग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः" ॥
अथर्व० ११। ६। ७॥

राजसूय १, वाजपेय २, अग्निष्टोम ३, अध्वर ४, अर्क ५, अश्वमेध ६, जीवबर्हि ७ और मदिन्तम ८ इत्यादि यज्ञ (उच्छिष्टे) ईश्वर में आश्रित हैं अर्थात् ईश्वर से ही सम्बन्ध रखनेहारे हैं, इससे सिद्ध होता है कि अश्वमेध यज्ञ भी अनादि और ईश्वरविहित है। स्वयं ईश्वर कदापि नहीं कह सकता कि घोड़े वा अन्य पशुओं को मारकर मेरी प्रसन्नता के लिये होम करो। यदि ऐसा कहता तो मनुष्य को भी मारकर होम करने की विधि बतलाता क्योंकि ईश्वर के सब ही प्यारे जीव हैं. तैत्तिरीय संहिता (५। ७। ५२) में "असावादित्योऽश्वमेधः" यह आदित्य=सूर्य ही अश्वमेध है, ऐसा पाठ आता है। इन सबों से प्रतीत होता है कि अश्वमेध का कुछ अन्य ही अभिप्राय था। जिस यजुर्वेद के (२३) त्रयोविंशाध्याय को आजकल यज्ञ में विनियुक्त करते हैं, इसी में ये मन्त्र आये हैं।

(१) अग्निः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त··· (२) वायुः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त···
(३) सूर्यः पशुरासीत्तेनाऽयजन्त··· ॥ यजु० २३। १७॥

(१) अग्नि पशु है उससे यज्ञ करते हैं। (२) वायु पशु है उससे यज्ञ करते हैं।
(३) सूर्य पशु है उससे यज्ञ करते हैं।

यदि यहां अक्षरार्थ लिया जाय तो क्या अर्थ होगा, क्या अग्नि आदि कोई पशु हैं जिनको मार कर यज्ञ करना चाहिये, यदि ऐसा कहा जाय कि प्रथम पशुओं को मारकर यज्ञ करते थे इसके निषेध के लिये यह मन्त्र बनाया गया है। प्रथम अग्नि आदि देव ही पशु समझे जाते थे और उनसे ही यज्ञ किया करते थे यथार्थ में अश्व, अज आदि पशु मारकर यज्ञ नहीं करते थे इस हेतु तुम लोग जो अश्व आदि पशुओं को मारते हो सो अनुचित करते हो इस अभिप्राय के लिये अग्नि आदि देव को पशु कहा है। यह कहना भी आपका ठीक नहीं होगा क्योंकि वेद के अनुसार ही तो आप हिंसामय यज्ञ करवाते हैं, तब आपको उचित था कि इस वेद से हिंसात्मक यज्ञ नहीं करवाते इस हेतु आपका कथन उचित नहीं। और वेद से प्राचीन कौनसा ग्रन्थ है जिससे आपको मालूम हुआ कि प्राचीनकाल में हिंसात्मक यज्ञ था। इसके निषेध के लिये "अग्निः पशुरासीद्" इत्यादि मन्त्र कहे हैं। इसका भाव यह है कि यहां पशु शब्द का अर्थ केवल साधन-सामग्री है। पृथिवीस्थ अग्नि, अन्तरिक्षस्थ वायु और द्युलोकस्थ सूर्य इन तीनों लोकों के तीन ही साधन से ऋषि लोग यज्ञ करते हैं। शतपथ में—"पशवो वै देवानां छन्दांसि अन्नं वै पशवः" इत्यादि वाक्य आये हैं, देवों का छन्द ही पशु है, अन्न ही पशु है, देवताओं की प्रीत्यर्थ ही यज्ञ किये जाते हैं उन देवताओं के पशु गायत्री आदिक छन्द हैं न कि घोड़े

आदि पशु, यहां पर भी पशुशब्द का अर्थ केवल साधन है। संस्कृत में अनेकार्थ शब्द बहुत हैं। पहले इसका अर्थ साधन होता होगा पीछे घोड़े आदिक अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा, ऐसी संभावना हो सकती है या अनेकार्थक ही मानना उचित है। निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं—

विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिनी+एषा+ऋग् भवति य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय॥

विश्वकर्मा भौवन ऋषि ने सर्वमेध नाम यज्ञ में सब प्राणियों को अन्त में अपने को भी होम कर दिया। इसके विषय में "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" यह ऋचा प्रमाण होती है। मैं यहां प्रथम "य इमा विश्वा भुवनानि" इस ऋचा का पूरा अर्थ महीधर के अनुसार करता हूं ताकि इस आख्यायिका का तात्पर्य विदित हो। वैदिक इतिहासार्थ निर्णय देखो। वहां विस्तार से वर्णन किया गया है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥ यजु० १७। १७॥

भाष्यम्—प्रजां संहरन्तं सृजन्तं विश्वकर्माणं पश्यन्नृषिः कथयति। यो विश्वकर्मा इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि जुह्वत् संहरन्सन् न्यसीदत् निषण्णः स्वयं स्थितवान्। कीदृश ऋषिः। अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः। होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता। नोऽस्माकं प्राणिनां पिता जनकः प्रलयकाले सर्वलोकान्संहृत्य यः परमेश्वरः स्वयमेवासीदित्यर्थः। तथा चोपनिषदः "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्" सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमित्याद्याः। स तादृशः परमेश्वरः आशिषाभिलाषेण बहुःस्यां प्रजायेयेत्येवंरूपेण पुनः सिसृक्षारूपेण द्रविणमिच्छमानः जगद्रूपं धनमपेक्षमाणः अवरानभिव्यक्तोपाधीनाविवेश जीवरूपेण प्रविष्टः। कीदृशः प्रथमच्छत् प्रथममेकमद्वितीयं स्वरूपं छादयतीति प्रथमच्छद् छादयतेः क्विपि ह्रस्व उत्कृष्टं रूपमावृन्वन्सन् प्रविष्टः। इच्छमान इतीषेरात्मनेपदमार्षम् "सोऽकामयत बहुःस्यां प्रजायेय स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किं च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्यादिश्रुतेः।

महीधर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—विश्वकर्मा अर्थात् ईश्वर को प्रजाओं का और सृजन करनेहारा जानें ऋषि कहते हैं कि (यः) जो विश्वकर्मा (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवनानि) प्राणियों को (जुह्वत्) संहार करते हुए (न्यसीदत्) स्वयं स्थित है वह विश्वकर्मा कैसा (ऋषिः) अतीन्द्रिय द्रष्टा अर्थात् सर्वज्ञ। पुनः कैसा है (होता) संहाररूप होम का करने हारा। पुनः (नः) हम लोगों का (पिता) पालक, जनक अर्थात् प्रलयकाल में सब को संहार कर जो परमेश्वर स्वयं एक रह जाता है। इसमें उपनिषद् का भी प्रमाण है। "आत्मा ही यह एक प्रथम था अन्य कुछ भी नहीं दीखता था" "हे सोम्य! एक अद्वितीय सत् ही प्रथम था" इत्यादि। ऐसा परमेश्वर (आशिषा) अभिलाषा से अर्थात् मैं बहुत होऊं इस प्रकार की सृष्टि करने की इच्छा से (द्रविणम्+इच्छमानः) जगद्रूप धन की इच्छा करता हुआ (अवरान्) अभिव्यक्त प्रकाशित उपाधियों में (आविवेश) प्रविष्ट हुआ। वह कैसा है (प्रथमच्छद्) अपना जो उत्कृष्ट रूप है उसको छिपाते हुए इन उपाधियों में वह

प्रविष्ट हुआ, उसने कामना की कि मैं बहुत होकर उत्पन्न होऊं। उसने तप किया तप करके यह सब बनाया और बराबर उसमें प्रविष्ट हुआ। इत्यादि श्रुति के प्रमाण से। इसका अर्थ वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय में देखें।

अब आप विचार सकते हैं कि यास्काचार्य्य ने विश्वकर्मा भौवन के सर्वमेध यज्ञ में सब प्राणियों को होमने में जो प्रमाण दिया है, इसका क्या तात्पर्य्य हुआ। यहां भौवन विश्वकर्मा शब्द से किसी राजा वा ऋषि का ग्रहण नहीं है किन्तु ये दोनों पद ईश्वरवाचक हैं (भौवन) भुवन=समस्त लोक लोकान्तर और समस्त प्राणी उनमें जो व्यापक हो उसे "भौवन" कहते हैं। (भुवनेषु पृथिव्यादिलोकेषु समस्तेषु च प्राणिजातेषु यस्तिष्ठति स भौवनः) इसी प्रकार "विश्वकर्मा=विश्वकर्त्ता" विश्व के कर्त्ता का नाम विश्वकर्मा। इस भौवन विश्वकर्मा ने (सर्वमेधे) सर्वमेध नाम के यज्ञ में (सर्वाणि+भूतानि+जुहवाञ्चकार) सर्व प्राणियों का होम किया, इसका तात्पर्य यह है कि उस ईश्वर ने प्रलयकाल में सब प्राणियों का (सम्पूर्ण संसार का) संहार कर लिया है और (अन्ततः) अन्त में (सः) उस परमेश्वर ने (आत्मानम्) अपने आत्मा का भी (जुहवाञ्चकार) होम किया अर्थात् अपने को भी छिपा लिया। जब सृष्टि ही नहीं रही तो ईश्वर को कौन देखे, इस हेतु मानो ईश्वर ने अपने को ही संहृत कर लिया यह इसका आशय है। अब इस यास्क के वचन से कोई यह समझले कि प्राणियों का होम करना चाहिये और अन्त में अपने को भी अग्नि में गिरकर वा अन्य प्रकार से होम करवादे। तो यह दोष यास्काचार्य्य का नहीं है। पूर्वापर और प्रमाण दिये हुए मन्त्र के अर्थ का विचार करना चाहिये। अब द्वितीय ऋचा के अर्थ को देखो—

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना (जनासः*) इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥ यजु० १७।२२॥

ईश्वर के अद्भुत कर्म को देख उपासक कहता है (विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् ! विश्वकर्त्ता जगदीश्वर ! (हविषा+वावृधानः) सृष्टिरूप द्रव्य से बढ़ते हुए अर्थात् प्रशंसित होते हुए आप (स्वयम्) स्वयं (पृथिवीम्) सब से अधःस्थित लोक (उत) और (द्याम्) सब से उपरिस्थित लोक अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को (यजस्व) होमो अर्थात् सुख पहुंचाओ अथवा (पृथिवीम्) पृथिवीस्थ और (द्याम्) द्युलोकस्थ सब जीवों को स्वयं आप (यजस्व) सुखस्वरूप दान प्रदान करो। आपके इस व्यापार को देखकर (अभितः) चारों तरफ स्थित (अन्ये) अन्य (जनासः) मनुष्य (मुह्यन्तु) मोहित होवें। अथवा हे भगवन् ! आप सब को तो दान दीजिये परन्तु (अभितः) मेरे चारों तरफ़ जो (अन्ये) अन्य (सपत्नाः) शत्रु हैं वे (मुह्यन्तु) मोहित होवें। आप की कृपा से मेरे शत्रु विनष्ट होवें और (अस्माकम्) हम लोगों के मध्य शिक्षक (मघवा) ज्ञानप्रद (सूरिः) परम विद्वान् (अस्तु) होवे। इसका भी अर्थ वैदिक इतिहासार्थ नि० में देखो। यहां पर भी सम्पूर्ण विश्व के ही यज्ञ करने की प्रार्थना पाई जाती है और इन दोनों ऋचाओं के प्रमाण यास्काचार्य्य ने दिये हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद का कुछ अन्य ही तात्पर्य था। समय पाकर वह अर्थ विस्मृत हो गया।

इस सर्वमेध यज्ञ की विधि शतपथ ब्राह्मण काण्ड १३। अध्याय ७। ब्राह्मण १ में आई है। यथा—

* ऋग्वेद में "जनासः" और यजुर्वेद में "सपत्नाः" ऐसा पाठ है॥

ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि। भूतानि चात्मनीति। तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि। सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यैत्। तथैवैतद् यजमानः सर्वमेधे सर्वान् मेधान् हुत्वा सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येति॥

ब्रह्म परमात्मा जो स्वयम्भू है उसने सम्पूर्ण विश्व में सृष्टि करने की इच्छा से क्षोभ पहुंचाया तब सृष्टि करने के लिये ईक्षण किया और देखा कि इस क्षोभ की अनन्तता नहीं है अर्थात् मैं जो सृष्टि करना चाहता हूं वह बहुत छोटी है। अच्छा मैं सब भूतों में अपने को और अपने में सब भूतों को होमूं। ऐसा विचार उसने सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को होम कर श्रेष्ठता, स्वाराज्य (सुखमय राज्य) और आधिपत्य को पाया। वैसे ही यजमान "सर्वमेध" नाम के यज्ञ में सब मेधों को और सब भूतों को होम करके श्रैष्ठ्य, स्वाराज्य और आधिपत्य को पाता है। यदि मेध शब्द का अर्थ हिंसा ही हो तो ईश्वर के पक्ष में कदापि घट ही नहीं सकता क्योंकि वह अपने आत्मा की हिंसा नहीं कर सकता। यहां ईश्वर के पक्ष में अर्थ विस्पष्ट है। ईश्वर सृष्टि बनाकर उसमें व्याप रहा है और यह समस्त विश्व ईश्वर के आधार पर है अपने ही आधार पर इस सृष्टि को बनाया। अब यजमान के पक्ष में यदि यह कहा जाय कि सर्वमेध में सब की हिंसा कर होम करदे तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि क्या अपने अधीन मनुष्य को भी मार कर होम दे और अन्त में आप भी मरजाय। अतः इन यज्ञों का तात्पर्य कुछ अन्य ही था समय पाकर सब कुछ परिवर्त्तित होगया। देखो वैदिक इ० नि०।

सूर्य्य। सूर्य्यः चक्षुः=सूर्य नेत्र है अर्थात् नेत्र का साधन वा कारण सूर्य्य है, इसी हेतु "चक्षोः सूर्य्यो अजायत" चक्षु=नेत्र के निमित सूर्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा वर्णन वेदों में पाया जाता है। प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि रात्रि में कोई प्राणी पदार्थ को नहीं देखता, चांदनी रात्रि में जो देखता है वह भी सूर्य के ही प्रकाशचन्द्र में गिरकर पृथिवी पर प्रतिफलित होने से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है और अन्य जो प्रदीप विद्युत् आदिक तैजस् पदार्थ हैं जिनकी सहायता से नेत्र में ज्योति प्राप्त होती है वे सब सूर्य शब्द के अन्तर्गत ही आ जाते हे क्योंकि उपलक्षण से सूर्यशब्द प्रकाशवान् वस्तुमात्र का बोधक होता है। उषा का भी कारण सूर्य है अतः उषा के अनन्तर सूर्य के तत्वों का अन्वेषण करना आवश्यक है सौर जगत् में सूर्य की और शिर में चक्षु की प्रधानता है। यहां चक्षुशब्द से सब ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण है क्योंकि नेत्र के अनन्तर नासिका आदि का वर्णन नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि जहां सूर्य की उष्णता नहीं पहुँचती हैं वहां नेत्र नहीं बनता है पदार्थविद्या के अन्वेषण करनेहारे अति गंभीर समुद्र के जल के अभ्यन्तर ऐसा स्थान बतलाते हैं। जैसे सूर्य नेत्र का सहायक वैसे ही पृथिवी घ्राण का, वायु त्वचा का, जल रसना का और आकाश कर्ण का, श्रोत्र के लिये वायु भी सहायक है क्योंकि "श्रोत्राद्वायुश्च" श्रोत्र के निमित वायु की उत्पत्ति वेद मानता है।

वातः+प्राण=इस सम्पूर्ण समष्टि जगत् का वायु ही प्राण है। सूर्य के रहते हुए भी यदि वायु न मिले तो प्राणियों को जीवन धारण करना अति कठिन है इससे यह सूचित होता है कि बाह्य वायु ही रूपान्तर को प्राप्त होकर सब जीवों को जिला रहा है और यही वायु नेत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और शिर को सहायता पहुँचा रहा है इसी हेतु उपनिषदों में सब इन्द्रियों का एक नाम "प्राण" आता है। इस हेतु नेत्र के अनन्तर उसका भी जो सहायक है उसका बोध होना उचित है।

वैश्वानरः+अग्निः+व्यात्तम्=वैश्वानर अग्नि ही मुख है वैश्वानर शब्द अग्नि का विशेषण है (यो विश्वान् सकलान् नरान् पदार्थान् नयति स वैश्वानरः) सब पदार्थों में अनुगत जो एक आग्नेय शक्ति जिसको विद्युत् भी कहते हैं, उसे यहां वैश्वानर कहा है पदार्थों के अध्ययन से ऐसा विदित होता है कि यह ब्रह्माण्ड आग्नेय पदार्थों का एक समूह है जो परमाणु कहे जाते हैं वे भी आग्नेय पदार्थ का भागानर्ह अंश है, कोई परमाणु आग्नेय शक्ति से विहीन नहीं। वही शक्ति पदार्थ के अस्तित्व का भी कारण है। ईश्वर ने अद्भुत शक्ति सम्पन्न इस वैश्वानर अग्नि को बनाया है। पदार्थ तत्त्ववित् इसके गुण को जानते हैं। जैसे मुख की सहायता से खाद्य पदार्थ अभ्यन्तर में जा शरीर की पुष्टि का कारण होता है वैसे ही इस वैश्वानर अग्नि की सहायता से यावत्पदार्थ पुष्टि पा रहे हैं। यद्यपि इस वैश्वानराग्नि का नाश कदापि नहीं तथापि किसी कारणवश यह दब जाता है तब ही प्राणी की मृत्यु प्राप्त होती है। वैश्वानर सम्बन्धी वेदों में अनेक मन्त्र आये हैं यहां एक मन्त्र उद्धृत करते हैं जिससे अनेक भाव विद्वान् लोग निकाल सकते हैं।

स रोचयज्जनुषा रोदसी उभे स मात्रोरभवत् पुत्र ईड्यः।
हव्यवाडग्निरजरश्चनोहितो दूडभो विशामतिथिर्विभावसुः ॥ ऋ० ३।२।२॥

(सः) उस वैश्वानर ने (जनुषा) जन्म से अर्थात् उत्पन्न होते ही (उभे+रोदसी) द्युलोक और पृथिवी इन दोनों को (रोचयत्) प्रकाशमान किया (सः) वह वैश्वानर (मात्रोः) माता पिता जो द्युलोक और पृथिवी इन दोनों का (ईड्यः) प्रशंसनीय (पुत्रः) पुत्र है पुनः वह अग्नि कैसा है (हव्यवाट्) पदार्थों का वाहक। पुनः (अग्निः) सब में स्थित (अजरः) जरावस्थारहित अर्थात् ह्रास=क्षयरहित (चनोहितः) अन्न=खाद्य पदार्थ के धारण करनेहारा (दूडभः) जिसकी हिंसा नहीं हो सकती=अविनश्वर (विशाम्) प्रजाओं का (अतिथिः) मान्य (विभावसुः) पदार्थों का प्रकाशक। इससे विस्पष्टतया विदित होता है कि एक अदृश्य महान् शक्ति का नाम वैश्वानर है जो सब पदार्थों के अस्तित्व का कारण है।

अश्वस्य मेध्यस्य+संवत्सर आत्मा=इस सृष्टि का वर्ष शरीर है (आत्मा=शरीर) यहां संवत्सर शब्द सदृश कालप्रवाह का द्योतक है। प्रत्यक्षतया देखते हैं कि एकादश मासों के पश्चात् वही समय पुनः प्राप्त होता है। प्रत्येक द्वादश मास समान ही प्रायः होता है। यहां संवत्सर शब्द केवल उपलक्षण में है। इस सृष्टि का समान प्रवाहरूप जो एक २ कल्प है वह २ शरीर है, जैसे शरीर बदलता जाता है वैसे ही इस सृष्टि का जो एक २ कल्प रूप शरीर है वह भी परिवर्त्तित होता रहता है।

"द्यौः पृष्ठम्" अब आगे सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को जानने के हेतु गिनाते हैं। यदि सब शब्दों पर विशेष व्याख्या की जाय तो एक २ कण्डिका एक २ ग्रन्थ हो जायगा। इस हेतु कठिन शब्दों का भावार्थ कहा गया है आगे अपनी बुद्धि से ऋषियों के आशय को पुनः २ विचार करो ॥ (क)

द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि ॥ ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन् पूर्वार्द्धो निम्लोचन् जघनार्द्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥ (ख)

अनुवाद—इस विज्ञातव्य संसार की पृष्ठ—द्युलोक है, उदर—अन्तरिक्ष, पदासनस्थान—पृथिवी, पार्श्व—दिशाएं, पार्श्व की अस्थि—अवान्तर दिशाएं, अङ्ग—ऋतु, सन्धियां—मास और अर्धमास, पाद—अहोरात्र, अस्थि—नक्षत्र, मांस—नभस्थमेध। अर्धपरिपक्वभोजन—बालू, नाड़ियां—नादियां, यकृत् और क्लोमा—पर्वत, लोम—ओषधि और वनस्पति, पूर्वार्ध—उदित होता हुआ सूर्य, जघनार्ध—अस्त होता हुआ सूर्य, जो विजृम्भण है—वह विद्योतन है, जो गात्रकम्पन है—वह गर्जन है। जो मूत्रा है—वह वर्षण है, वाणी ही इसकी वाणी है ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ—आगे अन्य अवयवों का वर्णन करते हैं। इस जानने योग्य संसार की (पृष्ठम्) पृष्ठभाग (द्यौः) द्युलोक है (उदरम्) उदर=पेट (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है। पृथिवी और द्युलोक के मध्यस्थान का नाम अन्तरिक्ष है (पाजस्यम्) पादासनस्थान=पैर रखने की जगह (पृथिवी) यह भूमि है (पार्श्वे) दोनों पार्श्व (दिशः) पूर्व पश्चिमादि दिशाएं हैं (पर्शवः) पार्श्व की हड्डियां (अवान्तरदिशः) आग्नेय आदि अवान्तर दिशाएं हैं। (अङ्गानि) जो अङ्ग पहले कह चुके हैं उनको छोड़ अन्यान्य अङ्ग (ऋतवः) वसन्त ग्रीष्म आदि ऋतु हैं। (पर्वाणि) अङ्गों की जहां २ सन्धियां हैं वे पर्व कहाते हैं संसार की संधियां (मासाः+च+अर्धमासाः+च) चैत्र आदि मास और शुक्लपक्ष आदि अर्धमास हैं (प्रतिष्ठाः) पैर (अहोरात्राणि) दिन और रात्रि हैं (अस्थीनि) हड्डियां (नक्षत्राणि) अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हैं। (मांसानि) मांस (नभः) नभस्थ मेघ हैं (ऊवध्यम्) अर्धपरिपक्व भोजन (सिकताः) बालू है (गुदाः) नाड़ियां (सिन्धवः) नदियां हैं (यकृत्+च) हृदय के नीचे दक्षिणभाग में जो मांसपिण्ड उसे यकृत् कहते हैं (क्लोमानः) और उत्तरभाग में जो मांसपिण्ड उसे क्लोमा कहते हैं वे (पर्वताः) हिमालय आदि पर्वत हैं (लोमानि) लोम (ओषधयः+च) ओषधी (वनस्पतयः+च) वनस्पति हैं (पूर्वार्धः) नाभिप्रदेश के उपरिष्ठ भाग को पूर्वार्ध कहते हैं इस संसार का पूर्वार्ध (उद्यन्) उदितावस्था प्राप्त रूप संसार है (जघनार्धः) नाभि प्रदेश के नीचे भाग को जघनार्ध कहते हैं। इसका जघनार्ध भाग (निम्लोचन्) उतरता हुआ संसार है। जैसे इस शरीर की दो अवस्थाएं हैं एक चढ़ती और एक उतरती अर्थात् बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक इसकी वृद्धि होती जाती पीछे इसमें से ह्रास होने लगता है इसी प्रकार इस संसार की भी दशा है। एक ही बार यह संसार झट से नहीं हो जाता किन्तु धीरे २ यह बनता और बहुत दिनों के पीछे घटते २ एक समय प्रलय आ जाता है। ये ही दोनों इस संसाररूप अश्व के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध हैं (यद्+विजृम्भते) जो विजृम्भण (शरीर के मड़ोड़ों के साथ मुख के विदारण का नाम विजृम्भण है) है (तद्विद्योतते) वह विद्युत का विद्योतन है (यद्विधूनुते) जो गात्रविकम्पन हैं (तत्+स्तनयति) वह मेघ गर्जन है (यत्+मेहति) जो मूत्रकरण है (तद्वर्षति) वही वर्षण है (अस्य) इस संसारस्थ प्राणियों की जो (वाग्) वाणी है वही (वाग्) इसकी भी वाणी है अर्थात् जैसे शरीर में विजृम्भण आदि क्रिया होती है तद्वत् मानो विद्योतन आदि है। वाणी के लिये अन्य कल्पना इसलिये नहीं की गई कि संसार कोई भिन्नवस्तु नहीं जो जो भाषण करनेहारे हैं वे भी तो संसार ही में हैं। संसार से भिन्न नहीं जैसे वन और वनस्थ और वनस्थ वृक्ष वृक्षों के समुदाय का नाम ही वन है यदि वन से वृक्ष समुदाय पृथक् कर दिया जाय तो वह वन पुनः वन नहीं कहलावेगा। इसी प्रकार संसारस्थ प्राणियों की जो वाणी है वही संसार की वाणी है ॥ ६ ॥ (ख)

भाष्यम्—द्यौः पृष्ठमिति। अस्य मेध्यस्य सम्यग् विज्ञातव्यस्याश्वस्य संसारस्य संसाररूपस्याश्वस्य वा पृष्ठं द्यौरस्ति जगतो यः सर्वोपरिष्ठो भागः स द्यौशब्देन, मध्यमो

भागोऽन्तरिक्षशब्देन, अधस्थः पृथिवीशब्देन व्यवह्रियते अतो द्युलोक ऊर्ध्वत्वसाम्यात्पृष्ठम् । अवकाशसाम्यादन्तरिक्षमुदरम् । अधःस्थितत्वसाम्यात् पृथिवी पाजस्यं पादस्थानम् । पादा अस्यन्ते स्थाप्यन्तेऽस्मिन्निति पादस्यं पाजस्यं पादासनस्थानम् । अत्र दकारस्थाने जकार आर्षो विज्ञेयः । दिशः प्राच्यादयश्चतस्रः पार्श्वे कक्षाधोभागौ पार्श्वं "बाहुमूले उभे कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः" अवान्तरदिश आग्नेयाद्याः पर्शवः पर्शुकाः "पार्श्वास्थीनि तु पर्शुका" इत्यमरः । ऋतवो वसन्तग्रीष्मशरदादयः अङ्गानि उक्तेभ्योऽन्येऽवयवाः । मासाश्चैत्रादयः । अर्धमासा शुक्लपक्षादयः पर्वाणि सन्धयः । अहोरात्राणि प्रतिष्ठाः पादाः । प्रतितिष्ठति प्राणी एतैरिति प्रतिष्ठाः । नक्षत्राणि अश्विनीभरणीप्रभृतीनि अस्थीनि । नभो नभस्था मेघा मांसानि । सिकता बालुका ऊवध्यम् अर्धजीर्णमशनम् । गुदा नाड्यः सिन्धवो नद्यः स्यन्दनसाम्यात् । यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्थौ दक्षिणोत्तरौ मांसपिण्डा पर्वताः काठिन्योच्छ्रयत्वसाम्यात् । ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि । उद्यन्नुद्गच्छन् सूर्यः पूर्वार्धो नाभेरूर्ध्वभागः । निम्लोचन् अस्तं गच्छन् सूर्यो जघनार्धो नाभेरधोभागः । यद्वजृम्भत इत्यादौ प्रत्ययार्थस्याविवक्षितत्वमस्ति यद् विजृम्भते यद्विजृम्भणं गात्राणां विनामनेन मुखविदारणं तद्विद्योतते विद्योतनम् । यद्विधूनुते गात्रविधूननमवयवकम्पनं तत्स्तनयति तत्स्तनितं गर्जनम् । यन्मेहति यन्मूत्रणं तद्वर्षति तद्वर्षणम् । अस्य संसारस्य प्राणिनो वा या वाग् सैवास्यापि वाग् अत्र नान्या कल्पनास्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ (ख)

अहर्वा अश्वमिति । संसारस्य द्वे अवस्थे भवतो व्यक्ताऽव्यक्ता च उदिता प्रलीना वा । व्यवहारिकी व्यक्ता तदन्याऽव्यक्ता । इदानीमभितः सर्वं सूर्यं नक्षत्रं चन्द्रं मेघं पर्वतं नदीं मनुष्यं पशुं पक्षिणमित्येवंविधं पदार्थं व्यक्तं पश्यामः । इयमेव दैनिकी वोदिता वा व्यक्ता वा व्यावहारिक्यवस्था । यदा सूर्यादयः सर्वे पदार्था जलपूरप्रवेशविकीर्णाः सिकता इव नंक्ष्यन्ति तदेदं जगत् प्रसुप्तमिव सर्वतो भास्यति इयमेव शार्वरी वा प्रलीना वाऽव्यक्ता वा अव्यवहार्य्यवस्था इमे एव द्वे अवस्थे अत्राहरात्रिशब्दौ लक्षयतः । अहन्शब्देन सृष्टेर्व्यावहारिकी रात्रिशब्देन प्रालयिक्यवस्था लक्ष्यते । इमामेव सृष्टेर्महान्तौ महिमानौ । श्रीकृष्णोऽर्जुनमाह—"अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २ । २८ ॥ अहोरात्र इवोदयप्रलयं परिवर्तते । इममेकमेव संसारं बहुधा पश्यन्ति । "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" योगे । "यथा—दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः । कुत्रापि कोऽपि सुखीति । तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः" । सांख्ये—अतो दुःखत्रयसंश्लिष्टत्वाद्धेयोऽयं संसार इति सांख्ययोगिनः । चार्वाकास्तु—

अहः=दिन । मुख्यतया संसार की दो अवस्थाएं हैं । व्यक्त और अव्यक्त अथवा उदिता और प्रलीना, जिस काल में सब व्यवहार हों वह व्यक्तावस्था इससे अन्य अव्यक्तावस्था । इस समय अपने चारों तरफ़ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघ, पर्वत, नदी, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि सब ही व्यक्त (प्रकट) देखते हैं इसी का नाम दैनिकी वा उदिता वा व्यक्ता व्यावहारिक अवस्था है । कदाचित् ऐसा भी समय आवेगा जब सूर्य आदि सब पदार्थ जैसे जलप्रवाह के प्रवेश से बालू के कण छितरा जाते हैं वैसे ही होकर नष्ट हो जायँगे । तब यह जगत् प्रसुप्त (सोएहुए) के समान चारों तरफ़ से प्रतीत

होगा। इसी अवस्था का नाम शार्वरी (रात्रि सम्बन्धी) वा प्रलीना वा अव्यक्ता है। यहां इन्हीं दो अवस्थाओं को अहन् और रात्रि शब्द लक्षित करते हैं अर्थात् अहन् शब्द से सृष्टि की व्यावहारिकी और रात्रि शब्द से प्रालयिकी अवस्था सूचित होती है। ये ही दोनों अवस्थाएं सृष्टिरूप अश्व के वा परमात्मा के महान् महिमा हैं अन्य नहीं, यहां महिमा शब्द के जो अन्य अर्थ करते हैं सो सर्वथा त्याज्य है। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से इन ही दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं—"हे अर्जुन ये सब भुवन पृथिव्यादि लोक आदि में व्यक्त, मध्य में व्यक्त और पुनः अन्त में अव्यक्त ही रहते हैं इसमें शोक करने की क्या बात है"?

इस एक ही संसार को अपनी २ रुचि के अनुसार भिन्न २ देखते हैं। सांख्य और योगी इसको दुःख मिश्रित समझ त्याज्य बतलाते हैं और कहते हैं कि (विवेकिनः) विवेकशील योगी की दृष्टि में (सर्वम्+दुःखमेव) निखिल विषय सुख दुःख ही है क्योंकि (परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम दुःख, ताप दुःख, संसार दुःख इन तीन दुःखों से विषय सुख को मिश्रित होने से (च) और (गुणवृत्तिविरोधात्) गुणनिष्ठ स्वाभाविक चाञ्चल्य से निरन्तर सत्वगुण की सुखाकार वृत्ति को अन्य विरोधी वृत्तियों से मिश्रित होने से विवेकी को निखिल ही सुख दुःखरूप भान होता है (यथा—दुःखात्+क्लेश=पुरुषस्य) पुरुष को दुःख के निमित्त जितना क्लेश पहुँचता है (न+तथा+सुखाद्+अभिलाषः) उतना सुख से अभिलाष की पूर्ति नहीं होती है (कुत्रापि+कोपि+सुखी) जगत् में कहीं कोई एक आध सुखी है (तदपि+दुःखशबलम्) उस सुख को भी दुःख मिश्रित होने से (दुःखपक्षे+निक्षिपन्ते+विवेचकाः) विवेकी दुःख ही समझते हैं इन कारणों से इस संसार को दुःखमय समझ कर योगी हेय कहते हैं।

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां, दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा। व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥ इह सर्वेषामानन्दानामेकाऽमृतवल्लरी प्रमदा। इह नयनानन्दकरस्तनयः। इह प्रियो बन्धुः। इह सर्वं प्रियं भोग्यम्। अभितः सुखमेव सर्वं मन्दभागिनं कुधियश्च दुःखाकरोतीति। एवं मन्यमान्या आदेय इति वदन्ति।

न मे द्वेषरागौ न लोभो न मोहो मदो नैव मे नैव मात्सर्यमानम्।
न धर्म्मो न चार्थो न कामो न मोक्षश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ १॥
न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोहम्॥ २॥
न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ ३॥

इसके विरुद्ध चार्वाक इस संसार को इस प्रकार मानते हैं (दुःखोपसृष्टम्+इति) दुःख से मिश्रित है इस हेतु (विषय-संगम-जन्म+सुखम्+त्याज्यम्) वनितादि विषय जन्य सुख को त्याग देना चाहिये (एषा) यह (पुंसाम्) मनुष्यों की (मूर्खविचारणा) मूर्खता का विचार है अर्थात् मूर्ख लोगों का ऐसा विचार हुआ करता है कि संसार दुःखमय है। इसमें वनिता आदि बहुत सुख के पदार्थ हैं (भोः) हे शिष्य! देखो (सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्) श्वेत तण्डुलों से भरे हुए (शालीन्) धानों को (कः+हितार्थी+नाम) कौन हित चाहनेहारा पुरुष (तुषकणोपहितान्) तुष=भूसे के कणों से युक्त होने के

कारण (जिहासति) त्यागना चाहता है अर्थात् जैसे शाली में ऊपर भूसा लगा रहता है उसके नीचे चावल होता है। भूसे के भय से शाली को कोई नहीं त्यागता। इसी प्रकार यदि इस संसार में भूसे के समान किञ्चित् दुःख है तो चावल के समान सुख भी बहुत है। इसको त्यागना मूर्खों का काम है। देखो! यहां सब आनन्दों की एक अमृतलता प्रमदा (स्त्री)। यहां नयनानन्दकर तनय। यहां प्रिय-बन्धु। यहां सब ही प्रियभोग्य वस्तु हैं। चारों ओर सब सुखमय ही पदार्थ हैं परन्तु मन्दभागी और कुबुद्धि पुरुष को दुःख देता है। इस प्रकार चार्वाक मानते हुए यह संसार ग्रहणीय है ऐसा उपदेश देते हैं॥

नवीन वेदान्ती लोग इसको ऐसा समझते हैं (न+मे+द्वेषरागौ०) न मुझे द्वेष, न राग, न लोभ, न मोह, न मद, न मात्सर्य, न धर्म, न अर्थ, न काम, न मोक्ष है। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूं। मैं सर्वथा कल्याणमूर्त्ति हूँ॥ १। (न+पुण्यम्०) न मुझे पुण्य, न पाप, न सुख, न दुःख, न मन्त्र, न तीर्थ, न वेद, न यज्ञ, मैं न भोजन हूँ, न भोज्य हूं, न भोक्ता हूं, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ। मैं कल्याणरूप हूँ (न+मे+मृत्युशङ्का०) न मुझे मृत्यु की शङ्का है, न मुझे जाति भेद है, न पिता है, न माता है, न जन्म है न बन्धु है, न मित्र है, न मेरा गुरु है, न मैं शिष्य हूं, मैं केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ॥

इत्युपरिष्ठकोपदेशं ददत आनन्दैकरूपत्वादानन्द एवेत्येके वेदान्तिनः। यथाशास्त्रं भोज्यो हेयश्चेति वैदिकाः। इत्थमीश्वरमिवानेकविधं संसारं पश्यन्ति विप्रतिपत्तारः। अतो वक्ष्यत्युपनिषद्धयो भूत्वा देवानवहदित्यादि। अनेन संसारस्य परमगहनत्वं सूचितं भवति। अतः सावधानतया सूक्ष्मविचारेण च मीमांसनीयोऽयं संसार इत्युपदिश्यते॥

इस प्रकार उपरिष्ठ उपदेश देते हुए इस संसार को आनंदरूप होने से आनंद बतलाते हैं। वैदिक लोग वेदानुसार इस संसार को भोज्य और हेय दोनों कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर के समान ही इस संसार को भी अनेक विध देखते हैं जो लोग विविध संशय और तर्क वितर्क करनेहारे हैं, इसी हेतु स्वयं उपनिषद् कहेगी—"हयो भूत्वा" इत्यादि। इस हेतु सावधानता से सूक्ष्म विचार के द्वारा यह संसार मीमांसनीय है यह उपदेश होता है।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥

अनुवाद—निश्चय, इस संसाररूप अश्व के लक्ष्य से प्रथम उदयरूप महिमा प्रकाशित होता है, इसका कारण पूर्ण परमात्मा है। पश्चात् इसके लक्ष्य से प्रलय रूप महिमा प्रकट होता है उसका भी कारण सर्वोत्कृष्ट परमात्मा ही है। निश्चय, संसाररूपी अश्व के दोनों तरफ ये दो महिमा उत्पन्न हुए *। यह संसाररूप अश्व "त्याग" होकर देवों को वहन करता है "भोग" होकर गन्धर्वों को "हिंसा"

* प्राचीनकाल में अथवा अब भी यह रीति कहीं २ पाई जाती है कि घोड़े के दोनों तरफ घूंघरू लटका देते हैं वे सोने चांदी आदि के होते हैं। इसी प्रकार इस संसाररूप अश्व के दोनों ओर उदय और प्रलयरूप घूंघरू लटके हुए हैं॥ १७॥

होकर असुरों को और साधारण भोजन होकर मनुष्यों को वहन कर रहा है। परमात्मा ही इसका बन्धु है। परमात्मा ही इसका कारण है ॥ २ ॥

द्वितीय अर्थ—इस संसाररूप अश्व के लक्ष्य से, निश्चय, पूर्वदिशा में दिनरूप महिमा होता है। उसका पूर्व आकाश में स्थान है इसके लक्ष्य से पश्चिम दिशा में रात्रिरूप महिमा होता है। इसका पश्चिम आकाश में स्थान है। संसाररूप अश्व के दोनों तरफ ये दो महिमा होते हैं (इसके आगे पूर्ववत्) ॥ २ ॥

पदार्थ—अब इस सृष्टि की दो अवस्थाएं कहते हैं एक व्यक्तावस्था और दूसरी प्रलयावस्था (वै) निश्चय (पुरस्तात्) प्रथम=आगे (अश्वम्+अनु) इस संसाररूप अश्व की सृष्टि हो अर्थात् प्रकाश हो इस दृष्टि से (अहः) दिन=अर्थात् व्यक्तावस्था अर्थात् उदयरूप (महिमा) महिमा महत्त्व (अजायत) होता है अर्थात् प्रथम इस सृष्टि का उदय होता है मानो. सृष्टि के सम्बन्ध में ईश्वर का यह महिमा है। इस महिमा का कारण कौन है सो आगे कहते हैं (तस्य) इस उदयरूप महिमा का (पूर्वे) पूर्ण (समुद्रे) परमात्मा (योनि) कारण है (पश्चात्) अन्तिमावस्था में (एनम्+अनु) इस संसार के उद्देश्य से (रात्रिः+महिमा) प्रलयरूप महिमा (अजायत) प्रकट होता है। अर्थात् अन्त में इसका प्रलय होता है। इस प्रकार (अश्वम्+अभितः) संसाररूप अश्व के दोनों तरफ (वै) निश्चय (एतौ+महिमानौ) यह उदय-प्रलयरूप महिमा (सम्बभूवतुः) प्रकट होते हैं। अब आगे यह दिखलाते हैं कि यह एक ही संसार भिन्न २ रूप से मनुष्यों को भासित होता है। यह संसार (हयः+भूत्वा) त्यागरूप होकर (देवान्) सन्न्यासी जनों को (अवहत्) ढो रहा है अर्थात् सन्न्यासी जन इस संसार में रहते हुए भी इसको त्याज्य समझते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा अर्थात् विरक्त दृष्टि में सब त्याग ही सूझता है (वाजी) भोगविलास होकर (गन्धर्वान्) गायक अर्थात् विलासी पुरुषों को ढोरहा है अर्थात् विलासी पुरुषों को सब पदार्थ भोग ही सूझता है। (अर्वा) हिंसा होकर (असुरान्) दुष्ट पुरुषों को ढोता है अर्थात् इस संसार में येन केन प्रकारेण अपने को सुखी बनाना चाहिये इसमें लोगों को कितनी ही क्षति पहुंचे कोई चिन्ता नहीं, देश का देश बरबाद होजाय, लाखों कोटियों स्त्रियां विधवा होकर भले ही दुःख भोगें, हजारों बालक अग्नि में स्वाहा भले ही होजायं, परन्तु निज स्वार्थसिद्ध करना ही धर्म है। जगत् में देखते हैं कि बली पशु निर्बल पशुओं को खाजाते हैं इसी प्रकार हमें भी करना उचित है यही असुरजनों का सिद्धान्त रहता है, अतः इनको हिंसा ही हिंसा सूझती है। (अश्वः) साधारण भोजन होकर (मनुष्यान्) मनुष्यों को ढोता है। साधारण निर्वाह से जो जगत् में रहते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं धर्मपूर्वक अपने जीवन को बिताना, न किसी को क्षति पहुंचानी, न राज्यादि की अभिलाषा करना, न अधिकता और न न्यूनता को चाहना ऐसे सिद्धान्त वाले पुरुष इस संसार को साधारण भोज्य वस्तु समझते हैं। अब वैराग्योत्पादन के लिये इस संसार का ईश्वर-सम्बन्ध कहते हैं (अस्य) इस संसार का (बन्धुः) बन्धु=स्नेह से बांधनेवाला (समुद्रः) परमात्मा ही है और (योनिः) कारण भी (समुद्रः) ईश्वर ही है ॥ २ ॥

द्वितीयोऽर्थः—(अश्वम्+अनु) संसाररूप अश्व के लक्ष्य से अर्थात् इस संसार में प्रकाश हो इस उद्देश से (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (वै) निश्चय (अहः+महिमा+अजायत) दिन रूप महिमा होता है (तस्य+पूर्वे+समुद्रे) उस दिनरूप महिमा का पूर्व आकाश में (योनिः) स्थान है। अर्थात् दिन पूर्वीय आकाश में होता है यह प्रत्यक्ष है (एनम्+अनु) पुनः इसके उद्देश से (रात्रिः+महिमा+अजायत) रात्रिरूप महिमा होता है (तस्य) उस रात्रिरूप महिमा का (अपरे+समुद्रे)

पश्चिम आकाश में (योनिः) स्थान है। इस प्रकार (अश्वम्+अभितः) इस संसार रूपी अश्व के दोनों तरफ (एतौ+महिमानौ) ये दिन और रात्रिरूप महिमा (सम्बभूवतुः) होते हैं। इसके आगे अर्थ तुल्य ही जानना ॥ २ ॥

भाष्यम्—पुरस्तात् पुराऽग्रे "प्राच्यां पुरस्तात्प्रथमे पुरार्थेऽग्रत इत्यपि" अश्वं सृष्टिरूपमश्वम्। अनु लक्षीकृत्य। अहर्दिनं तदुपलक्षितव्यक्तावस्था। स एव महिमा वै अजायत जायते परमात्मनो महत्त्वं प्रकटीभवतीत्यर्थः। महतो भावो महिमा "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इतीमनिज् ततः टेः "भस्य टेर्लोपः स्यादिष्ठेमेयःसु" इति टेर्लोपः। अस्य महिम्नः किं कारणमित्यपेक्षायामाह—तस्य पूर्व इति। तस्य सृष्टिव्यक्तत्वरूपस्य महिम्नः। पूर्वे समुद्रे पूर्वः समुद्रः। विभक्तिव्यत्ययोऽत्र सर्वेषां सम्मतः। पूर्वः पूर्णः समुद्रः समुत्पद्य भूतानि द्रवन्ति लयं गच्छन्त्यस्मिन्निति समुद्रः, सम्यग् उद्द्रवन्ति उद्गच्छन्ति भूतानि यस्माद्वा स समुद्रः परमात्मा। पूर्णः परमात्मैव योनिः कारणम्। परमात्मैव सृष्टिं व्यञ्जयति नान्य इत्यर्थः। यद्वा पूर्वे पूर्णे समुद्रे ब्रह्मणि योनिर्योगः सम्बन्धः। अथ प्रलयावस्थां दर्शयति प्रलयः पश्चादन्त्यायामवस्थायाम्। एनमश्वम्। अनु लक्षीकृत्य। रात्रिः रात्रिशब्दोपलक्षितः प्रलयः। स एव महिमा अजायत जायते। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ अ० ३। ४। ६ ॥ धात्वर्थानां सम्बन्धे सर्वकालेष्वेते वास्युः" ननु "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" इति न्यायेन यद्यस्य कर्तेश्वरस्तर्ह्यन्येन केनापि विध्वंसयित्रा भवितव्यमित्याशङ्कायामाह। तस्यापरे समुद्रे इति। तस्य प्रलयरूपस्य महिम्नोऽपि। अपरे समुद्रे योनिः, अपरः समुद्रः योनिः=न पर उत्कृष्टो विद्यते यस्मात्सोऽपरः सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः। समुद्रः परमात्मा। योनिः कारणम्। प्रलयस्यापीश्वर एव कारणम्। इयं सृष्टिरीश्वरस्य लीलैव। स एव सृजति पाति संहरतीति न परमात्मनि दोषः। तथा चोक्तम्—यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च चोभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—अश्वं संसारम्। अनु लक्षीकृत्य। पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अहर्दिनं। स एव महिमा जायते। तस्याहोरूपस्य महिम्नः। पूर्वे समुद्रे पूर्वदिक्स्थे आकाशे। योनिः स्थानम्। दिनस्योदयः पूर्वाकाशे भवतीति प्रत्यक्षम्। पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि रात्रिरूपो महिमा जायते। तस्य परे समुद्रे। योनिः स्थानम्। पुनर्दिनं भवति। यद्वा तस्याह्नः पूर्वः समुद्रो योनिः। विभक्तिव्यत्ययेन। समुद्र आकाशः संममिद्रवन्त्यापोऽस्मिन्निति समुद्रः। रात्रिरूपस्य महिम्नः। अपरः समुद्रो योनिरित्यपि ध्वन्यते। यथाऽहोरात्रः परिवर्तते तथैव संसारस्योदयप्रलयौ महिमानौ सदा भवत इत्यवधारणीयम्। इत्थं महिमानौ। अश्वमभितः सम्बभूवुः सम्भवत इत्यर्थः। संसारमनुलक्षीकृत्य सहोदयप्रलयौ भवत इत्यर्थः। कथन्नेमावीश्वरमहिमानौ ज्ञात्वा सर्वे विमुच्यन्ते। भिन्नरुचित्वाज्जना एकमेव संसारं यथामति विभिन्नस्वरूपं पश्यन्ति। नास्य याथार्थ्यं वेत्तीति मुह्यन्ति। तदेवाह हयो भूत्वेत्यादि। अयं संसारः। हयस्त्यागी भूत्वा देवान् प्रब्राजिनो जनान्। अवहत् वहति। अतो देवाः संसारे स्थिता अपि विषयैरसंस्पृष्टाः सन्ति। वाजी भोगी भूत्वा गन्धर्वान् अवहत्। "स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः" अतो गन्धर्वा

भोगमेव पश्यन्ति । अर्वा हिंसाभूत्वा असुरानवहत् । अतोऽसुराणां हिंसात्मको धर्म्मः । अश्वोऽशनं भूत्वा मनुष्यानवहत् । अतो मनुष्या साधारणभोग्येषु आसज्ज्यन्ते । अथ वैराग्योत्पादनायेश्वराभिमुखीकरणाय चास्येश्वरसम्बन्धित्वमाह—समुद्र इति । आस्या-श्वस्य । समुद्रः परमात्मैव । बन्धुर्यो प्रेम्णा बध्नाति स बन्धुः । सुहृदन्यन्य इत्यर्थः । अस्य योनिः कारणमपि । समुद्रः परमात्मैव । "ह्यो हायस्त्यागः । ओहाक् त्यागे अस्माद् घञि कृते "आतो युक् चिण्कृतोः ॥ ७ । ३ । ३३ ॥ इति युगागमेन हाय इति सिध्यति "परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विषः" इति न्यायेन हायः सन् हय इति प्रयुक्तः । यद्वा हय क्लमे इति कविकल्पद्रुमः । क्लमो ग्लानिः श्रम इति यावत् । अयं संसारो हयो ग्लानि-र्ग्लानिकर एव अतोऽपि त्याज्यो नह्यत्र किमपि सुखम् । वाजी=वाजमन्नमिति ब्राह्मणम् । अन्नमिति भोग्यवस्तूपलक्षणम् । वाजमस्मिन्विषये विद्यत इति वाजी भोग्यप्रधानो विषयः । गन्धर्वा गायकत्वेन प्रसिद्धाः, अत्र गन्धर्वशब्दो विषयिणो लक्षयति । अयं संसारो भोग्य इति गन्धर्वाः पश्यन्ति । अर्वा=अर्ववधे इति कविकल्पद्रुमः । वधात्मको धर्म्मोऽसुराणा-मित्युक्तं पुरस्तात् । हत्वा वा छित्वा वा ऋणं कृत्वा घृतं पीत्वा वा शरीरं पोषयेदित्यसुराः पश्यन्ति । अश्वः=अश भोजनं । मनुष्याः साधारणजीविकामिच्छन्ति । अत्राश्वशब्देन सृष्टिवर्णनोपक्रान्ता अतस्तत्पर्य्यायैरेवान्येऽपि उपमेया दर्शिता इति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशय—अहः=अहन् शब्द का "अहः" रूप होता है । यहां दो अर्थों में यह शब्द है । मुख्य अर्थ इसका दिन, परन्तु लक्ष्यार्थ संसार की उदयावस्था है । इसी प्रकार रात्रि शब्द का मुख्यार्थ रात्रि है । लक्ष्यार्थ प्रलयकाल है । पुरस्तात्—पूर्व दिशा, सामने, प्रथम, पूर्वकाल और आगे इत्यादि अर्थ में इसका प्रयोग होता है । "पूर्वे समुद्रे" यहां दोनों शब्दों में सप्तमी के एकवचन का प्रयोग है परन्तु शङ्कराचार्य आदि सब भाष्यकर्त्ताओं ने अर्थ करने के समय सप्तमी की जगह प्रथमा विभक्ति मानी है अर्थात् "पूर्वे समुद्रे" के स्थान में "पूर्वः समुद्रः" "शङ्कराचार्य्य के शब्द हैं" पूर्वे=पूर्वः । समुद्रे=समुद्रः ।…"विभक्तिव्यत्ययेन" इस की टिप्पणी में आनन्दगिरि कहते हैं "कथं सप्तमी प्रथमार्थे योज्यते । छन्दस्यर्थानुसारेण व्यत्ययसम्भवात्" कैसे सप्तमी विभक्ति को प्रथमा विभक्ति के अर्थ में घटाते हैं ? ऐसा प्रश्न करके उत्तर देते हैं कि वैदिक भाषा में अर्थानुसार विभक्ति का व्यत्यय=परिवर्तन हुआ करता है, इसमें कोई दोष नहीं । सुरेश्वराचार्य्य इसी को वार्तिक (श्लोकबद्ध) में लिखते हैं "व्यत्ययेनावबोद्धव्या प्रथमार्थे च सप्तमी" इतने लिखने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन वैदिक भाषा में अर्थानुसार विभक्ति बदल जाती है जो लोग प्राचीन भाषा के तत्त्व को नहीं जानते हैं वे ऐसी २ जगह में घबरा कर टीका वा भाष्यकारों को कुवाच्य कहने लगते हैं । यहां "योनि" शब्द का प्रयोग है इस हेतु व्यत्यय करना पड़ा है । समुद्र योनि=कारण है । समुद्र में कारण है । ऐसा प्रयोग नहीं होता । परन्तु दिन और रात्रि के पक्ष में विभक्ति व्यत्यय के बिना भी अर्थ हो सकता है । अर्थात् दिन का योनि=स्थान, पूर्व समुद्र आकाश में है, ऐसा अर्थ करने से कोई क्षति नहीं । पूर्वे समुद्रे+अपरे समुद्रे=यहां सब टीकाकारों ने और अनुवादकर्त्ताओं ने "समुद्र" शब्द का अर्थ "प्रसिद्ध जल-समूह स्थान ही" किया है । परन्तु यह बड़ी भूल है । क्या दिन समुद्र से उत्पन्न होता है ? या रात्रि समुद्र में लीन होती है ? क्या ही आश्चर्य की बात है कि विभक्ति बदलने में प्राचीन व्याकरण को काम में लाते हैं परन्तु अर्थ करने में प्राचीन कोश को काम में नहीं लाते । देखो । समुद्र नाम आकाश का है—

अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हिः । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशः । आपः । पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः । अध्वा । पुष्करम् । सगरः । समुद्रः । अध्वरम् । इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ निघण्टु १ । ३ ॥

यहां यास्काचार्य ने "समुद्र" शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां दिखलाई हैं । वेद में इसके बहुत उदाहरण आते हैं । (एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश) इत्यादि अनेक मन्त्रों में समुद्रशब्द आकाशवाची आया है । हम देखते हैं कि पूर्वीय आकाश की ओर दिन का उदय होता है इसी प्रकार रात्रि का पश्चिमीय आकाश में । यहां समुद्र शब्द का अर्थ जलराशि स्थान करना बालकपन है । आगे चलकर शङ्कराचार्य और तदनुयायियों को "समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रयोनिः" यहां समुद्र शब्द का "प्रसिद्ध" अर्थ छोड़कर "ब्रह्म" अर्थ करना पड़ा, यथा "समुद्र एवेति परमात्मा" शङ्करः । इसके ऊपर सुरेश्वराचार्य लिखते हैं—"समुद्र ईश्वरो ज्ञेयो योनिः कारणमुच्यते" नित्यानन्द मुनि "समुद्र" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं:—"समुत्पद्य भूतानि द्रवन्ति लयं गच्छन्त्यस्मिन्निति समुद्रः परमात्मा" उत्पन्न होकर लय को प्राप्त हों जिसमें उसे समुद्र कहते हैं । अर्थात् परमात्मा इत्यादि अर्थ का अनुसन्धान करना ॥

हय=हय, वाजी, अर्वा और अश्व ये चारों नाम घोड़े के हैं । जिस हेतु इस संसार को "अश्व" मानकर वर्णन आरम्भ हुआ है, इस हेतु यहां अश्ववाचक ऐसे शब्द प्रयोग किये गये हैं कि जिन का यौगिकार्थ संसार में घटजाय । हय=हेय=त्याज्य । अथवा "हय" धातु का अर्थ क्रम=ग्लानि दुःख है । देव लोगों को यह संसार ग्लानिकर ही विदित होता है । वाजी—वाज=अन्न । शब्द भोगोपलक्षक है । अर्थात् अन्न शब्द से भोग अर्थ प्रतीत होता है (स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः) ऐसा पद ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः आया करता है । जो मनुष्य केवल भोगी और विलासी हों उन्हें गन्धर्व कहते हैं ऐसे पुरुषों को यह संसार भोगमय सूझता है । अर्वा— अर्व धातु का अर्थ वध भी होता है, कविकल्पद्रुम का यह मत है । निकृष्ट कर्म में प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को असुर कहते हैं । असुरों को जगत् हिंसामय सूझता है । अश्व—अश भोजने धातु से बनता है । साधारण जन का नाम यहां मनुष्य है । जो लोग धर्म्मपूर्वक और सन्तोष के साथ साधारण जीवन से रहते हैं ऐसे मनुष्यों का केवल धर्म्मपूर्वक पोषण होना चाहिये वे अन्य पदार्थ नहीं चाहते हैं । उन्हें यह संसार साधारण भोग्य प्रतीत होता है ॥ २ ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

मृत्युवाच्यब्रह्मोपासना

इदं द्वितीयं ब्राह्मणं जगदिदं क्षुधा प्रपीडितं परस्परं निजिगलिषदस्तीति लक्षयति । परितो निरीक्षतां किमिवाश्चर्यं प्रतिभाति, स्थावरो वा जंगमो वाऽणुतमः कीटो वा सर्वः किमप्यत्तुमिच्छति, क्षणाणुरपि जीवोऽदनमन्तरा क्षणमपि निर्वाहयितुं न शक्नोति । इयं क्षुधेयती वृद्धिं गता यत् कश्चिज्जीवो मातुरुदरे स्थित एव तदीयोदरमांसं खादितुमारभते इहहि कुलीराः प्रमाणम् । शुन्यो निजशावकान् भक्षयन्त्यो दृष्टा, मत्स्या मत्स्यान् खादन्ति, किं बहुना सम्प्रत्यपि क्वचिद्देशे मनुष्या मनुष्यान् भक्षयन्तीति श्रूयते । अथवा बलिष्ठानां

भोजनमिति तु नियम एव संसारस्य । पुत्रास्तु मातरं मातरः पुत्रान् खादन्तीत्याश्चर्यम् । अश्वत्थादिस्थावरा अपि स्वयोग्याशनमप्राप्य शुष्यन्ति । इत्थं सम्पूर्णं जगदिदमशनया गृहीतमस्ति । उपनिषदादिषु अनेकोक्तिभंग्याऽर्थोऽयं प्रदर्शितः ।

यह द्वितीय ब्राह्मण दरसाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् क्षुधा से प्रपीड़ित है परस्पर एक दूसरे को निगल जाना चाहता है । चारों तरफ देखो—कैसा आश्चर्य दीखता है, क्या स्थावर क्या जंगम क्या अणुतमकीट सब ही कुछ खाना चाह रहा है जिस जीव की आयु क्षणमात्र ही है वह भी भोजन के विना एक क्षण निवाह नहीं सकता । यह क्षुधा इतनी वृद्धि को प्राप्त हुई कि कोई २ जीव माता के उदर में स्थित रहते ही अपनी माता के उदर को ही खाना आरम्भ करता है । इसमें केंकड़ा * प्रमाण है । कुतिया अपने बच्चों को खाती हुई देखी गई है । मत्स्य मत्स्यों को खाते हैं, बहुत क्या कहें आजकल भी किसी देश के मनुष्य, मनुष्य को खाते हैं ऐसा सुनते हैं । बलिष्ठों का अबल भोजन है यह तो संसार का नियम ही दीखता है । परन्तु पुत्र माता को और माताएं पुत्रों को खाती हैं यह आश्चर्य की बात है । अश्वत्थ आदि स्थावर भी अपने भोग्य को न पाकर सूख जाते हैं । इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भूख से गृहीत है । उपनिषदादियों में अनेक प्रकार से यह अर्थ प्रदर्शित हुआ है ।

"ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन् । तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि । यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति । ताभ्यो गामानयत् । ता अब्रुवत् न वै नोऽयमलमिति । ताभ्योऽश्वमानयत् । ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति । ताभ्यः पुरुषमानयत् । ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति । पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीत् । यथायतनं प्रविशतेति । अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद् ।" इत्यादि ऐतरेयोपनिषदि, द्वितीये खण्डे ।। एतेन मनुष्यजातिर्महाबुभुक्षावतीति दर्शितमृषिभिः ।

(ताः+एताः+देवताः) यहां अलङ्कार रूप से वर्णन करते हैं कि जब सब अग्नि आदि देव ईश्वर से सृष्ट हो इस संसाररूप महासमुद्र में आगिरे तब परमेश्वर ने जीवात्मा पुरुष को भूख और प्यास से संयुक्त किया । तब सब देव मिलकर सृष्टिकर्त्ता परमात्मा से बोले कि हम लोगों के लिये स्थान कल्पित कीजिये जिसमें प्रतिष्ठित हो अन्न खावें (ताभ्यः गाम्+आनयत्) उनके लिये सृष्टिकर्त्ता ने गोरूप स्थान लेकर दिखलाया कि इसमें आप लोग निवास करके अन्न खाते जायं । उन सब ने कहा कि यह हम लोगों के लिये पर्य्याप्त नहीं है । तब परमेश्वर उनके लिये अश्वरूप स्थान रच कर ले आया इसे भी देख उन्होंने कहा कि ये भी हम लोगों के लिये पर्य्याप्त नहीं है । तब उन लोगों के लिये मनुष्यजाति ले आया । तब वे सब प्रसन्न हो बोले कि हां यह बहुत है क्योंकि मनुष्य जाति ही सम्पूर्ण सुकृत कर्मों का स्थान है । तब भगवान् ने उनसे कहा कि आप लोग अपने २ स्थान में प्रवेश

---

* यह एक जलजन्तु है जमीन के ऊपर भी रहता है । बंगाल अहाते में बहुत होता है । संस्कृत में कुलीर, कर्कट, सदंशक इत्यादि कहते हैं (स्यात्कुलीरः कर्कटकः) एक साथ पचासों बच्चे होते हैं । वे अपनी माता के उदर को विदारकर निकलते हैं और उसके मांस को रत्ती २ खाजाते हैं । महाभारत में कहा हैः—"यथा ह्य वेणुः कदली नलो वा, फलत्यभावाय न भूतयेऽत्मनः । तथैव मां तैः परिरक्ष्यमाणामादास्यते कर्कटकीव गर्भम् ।।" जैसे—वेणु, कदली और नलवृक्ष अपने नाश के लिये ही फलता है । जैसे कर्कटकी अपने मरण के लिये ही गर्भ धारण करती है ।

करें, तब अग्निदेवता वाणी होकर मुख में पैठे। वायु देवता प्राण होकर नासिका में प्रविष्ट हुए। इत्यादि ऐतरेयोपनिषद् द्वितीय खंड में वर्णन है। इसका अभिप्राय विस्पष्ट है। अग्नि आदि देवता जड़ हैं। आत्मसंयोग से ही जड़देव भूख प्यास काम क्रोधादि उत्पन्न करते हैं। जब परमेश्वर ने इन अग्न्यादियों के संयोग से गाय, बैल, घोड़े आदि सब पदार्थ रचे और अग्न्यादिकों को इस जीवों में रहने के लिये, मानो, आज्ञा दी। परन्तु इन पशुओं में ही निवास करना इन्होंने पसन्द नहीं किया क्योंकि इनके भोग्यवस्तु परिच्छिन्न हैं तब परमेश्वर ने, मानो, सर्वोत्तम मनुष्ययोनि बनाकर सब देवों को आज्ञा दी कि इसमें प्रवेश कर यथेच्छ भोग को सेवन करें। इस आख्यायिका से मनुष्ययोनि को बहुत भोग्यशाली होना, इसी में पञ्चभूतों के गुणों का पूर्णरीति से प्रकाशित होना और सुकृत वा दुष्कृत का निवासस्थान आदि सिद्ध होता है। आगे शतपथ का प्रमाण लिखते हैं, यथाः—

प्रजापतिर्ह्वा इदमग्रऽएक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयाꣳसि पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद्द्विपादो वयांसि॥ १।' स ऐक्षत प्रजापतिः। यथा न्वेव पुरैकोऽभूवमेवमु न्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः ससृजे ता अस्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृज इत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्त इमे सर्पा एता न्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीरु तु पुनरृचा॥ २॥ सोऽर्चञ्छ्राम्यन् प्रजापतिरीक्षांचक्रे। कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति स हैतदेव ददर्शानशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययां चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टा स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः॥ ३॥
शत० २। ५। १॥

(प्रजापतिः+ह) प्रथम प्रजापति ही एक था। उसने देखा कि मैं प्रजाओं को उत्पन्न करूं। उसने अपने ज्ञान से सकल प्रजाएं सृजन कीं। उनकी बनाई हुई प्रजाएं विनष्ट होती गईं। वे ये पक्षी हैं निश्चय प्रजापति के समीपी पुरुष ही हैं यह पुरुष द्विपाद है इस हेतु दो पदवाले पक्षी हैं॥ १॥ (सः+ऐक्षत—प्रजापतिः०) प्रजापति ने पुनः विचार किया कि मैं जैसा पहले एक था वैसा अब भी हूं इस हेतु उसने दूसरी प्रजाएं बनाईं वे भी विनष्ट सी होगईं। वे ये हैं:—जो सर्प से भिन्न क्षुद्र सरीसृप आदिक हैं, तब प्रजापति ने तीसरी प्रजाएं उत्पन्न कीं वे भी विनष्ट सी होगईं वे ये सर्प आदि हैं॥ २॥ तब प्रजापति ने पुनः विचार किया कि क्योंकर मेरी सृष्ट प्रजाएं विनष्ट होती जाती हैं। तब प्रजापति ने अपनी शक्ति से दूध की वृद्धि की, दूध की वृद्धि करके प्रजाएं बनाईं। वे उत्पन्न हुईं, प्रजाएं दूध को पाकर समर्थ हुईं ये प्रजाएं अपराभूत हैं। इस का भी भाव यह है कि जगत् में जन्मकाल से ही अन्न की आवश्यकता होती है। शतपथ के द्वितीय काण्ड में इसका वर्णन आया है॥ ३॥

कुतः समायातेयं पिशाची बुभुक्षा। भोजनाधीनः सर्वव्यवहारः। अद्याभोक्ता-श्वोऽपरश्वो वाऽकर्त्ता दृश्यते। मासे मासे वा वर्षे वर्षे वाऽशनमविधाय दैनिकं क्षणिकं वा कृत्वा तद्विना मरणञ्च योजयित्वा कमुपकारं पश्यति भगवान् परमेश्वर इति परामर्शो निसर्गत एवोपतिष्ठते मनीषिणां मनसि। ईश्वर एव महानत्ता सृष्ट्वा सृष्ट्वा संहरमाण एव प्रतिक्षणं दृश्यते। अतस्तस्य प्रजा अपि तादृश्यो बभूवुरित्यत्र किमाश्चर्यम्। कार्य्यगुणो हि कारणगुणमनुयाति। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम्।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" इत्युक्तं कठवल्याम् । अतएव "अत्ता चराचर-ग्रहणात्" इति सूत्रं सूत्रयित्वा ब्रह्मैव महदत्त्रस्तीति सूचयति बादरायणः । कृषीवलानां जीविकार्थानि क्षेत्राणीवेश्वरस्यैकैका सृष्टिः क्षेत्रमस्तीति मन्ये । अन्यथा कथं सृजति संहरति च । क्षेत्राजीवोऽपि प्रथमं क्षेत्रं सृजति किञ्चित्कालं रक्षति ततो लुनाति । ईदृगेव व्यवहार ईश्वरस्य । महान् भक्षयिता हि सः । अतः क्षेत्रमनाद्यनन्तमस्ति तस्य । ननु अशनापिपासारहित स उच्यते । सत्यम् । तस्यास्माकमिवाशनाभावाद् महामहाशनः सन्ननशन उच्यते "परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" लोकाः खलु हास्येन वा शिष्टाचारावरोधेन वा अकिञ्चनं धनिकं, मूर्खं पण्डितमन्धं चक्षुष्मन्तमित्येवं प्रयोगं प्रयुञ्जते । इहापि तादृशेन प्रयोगेन भाव्यम् । अन्यथा स कथमत्ता उच्येत कथम्वा तस्य च चराचरं भोजनं स्यात् । कथम्वा तस्योदरे सर्वेषां भुवनानां निवास इति वर्ण्येत । समाधत्ते । शृणु स न यथार्थं भोक्ता । स पर्य्याप्तकामः सदा तृप्तस्तिष्ठति । तस्मिन् अतृप्तत्वादिकं केवलमुपचर्य्यते न च स प्रजानामुपादानं वर्तते । येन कार्य्यगुणानुमानेन तदीयगुणो निश्चीयेत । स्वभाव एषोनादिः सृष्टेः । येन द्वन्द्वैर्युक्ता सृष्टिः । यथा पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे ईश्वरस्य जगत्कारणत्वं दर्शितं तथास्मिन् ब्राह्मणे जगत्संहर्तृत्वमाख्यायिकापूर्वकं दर्शयिष्यति ।

यह पिशाची बुभुक्षा कहां से आई ? भोजन के अधीन ही सर्व-व्यवहार हैं । आज का भूखा कल वा परसों कुछ कार्य्य नहीं कर सकता । भगवान् परमेश्वर मास २ में वा वर्ष २ में भोजन न विहित कर दैनिक वा क्षणिक भोजन बना और उसके विना मरण का निरूपण कर किस उपकार को देखता है ऐसा विचार स्वभावतः बुद्धिमानों की बुद्धि में उपस्थित होता है । इस पर कोई कहते हैं कि ब्रह्म ही महान् भक्षक है क्योंकि वह सृष्टि को बना २ कर संहार करते हुए प्रतिक्षण देखा जाता है इस हेतु उसकी सृष्ट प्रजाएं भी वैसी ही हुईं इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है क्योंकि कार्य्यगुण कारणगुण के अनुसरण करता है । कठवल्युपनिषद् में कहा गया है कि "जिस ब्रह्म के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन (घृत) है कौन उसको जानता है जहां वह है" अतएव "अत्ता चराचरग्रहणात्" इस सूत्र को रचकर ब्रह्म ही महान् अत्ता है, ऐसा बादरायण सूचित करते हैं । जैसे कृषीवलों (खेती करनेहारे किसानों) को जीविका के लिये क्षेत्र हैं वैसे ही एक २ सृष्टि ईश्वर का क्षेत्र है ऐसा मैं मानता हूं । ऐसा यदि न हो तो क्यों बनाता और पुनः संहार कर लेता है । कृषीवल (किसान) भी प्रथम क्षेत्र बनाता है कुछ काल उसकी रक्षा करता है तब काट लेता है । ईश्वर का भी ऐसा ही व्यवहार देखते हैं । जिस हेतु वह महान् महाभक्षक है इस हेतु इसका क्षेत्र भी अनादि अनंत है । यदि कहो कि वह तो भूख प्यास से रहित कहा जाता है, यह सत्य है । हम लोगों के समान अशन पान न होने से वह महाअशनकारी है इस हेतु निन्दारूप से उसको अनशन (अशनरहित) कहते हैं । क्योंकि विद्वान् लोग प्रत्यक्ष-द्वेषी और परोक्षप्रिय होते हैं अर्थात् विद्वान् लोग छिपाकर बात कहा करते हैं । बहुत खानेवाले को कुछ नहीं खाता है ऐसा कहा है । लोक भी हास्य से वा शिष्ट व्यवहार से दरिद्र को धनिक, मूर्ख को पण्डित, अन्धे को नेत्रवाला कहते हैं । यहां भी वैसा ही प्रयोग होगा अन्यथा वह क्योंकर अत्ता कहलाता है और क्योंकर चराचर जगत् उसका भोजन कहा जाता है । कैसे उसके उदर में सब भुवनों का निवास माना है । यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं, सुनो ! वह यथार्थ भोक्ता नहीं है । वह पर्य्याप्त काम सदा तृप्त रहा करता है उसमें भोक्तृत्व का केवल उपचारमात्र

होता है इस हेतु इसको यथार्थ भोक्ता मानना उचित नहीं। और वह प्रजाओं का उपादान कारण नहीं है जिससे कि कार्य्य के गुणों के अनुमान से उसके गुण का अनुमान होगा। सृष्टि का यह अनादि स्वभाव है जिससे कि यह सम्पूर्ण सृष्टि द्वन्द्व से युक्त है। जैसे पूर्व ब्राह्मण में ईश्वर का जगत् कारणत्व प्रदर्शित हुआ है। वैसा ही इस ब्राह्मण में आख्यायिका-पूर्वक जगत् संहर्तृत्व दरसावेंगे।

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीदशनाययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी स्यामिति ॥ सोऽर्चन्नचरत् तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् ॥ कंह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—प्रारम्भ में यहां कुछ नहीं था। बुभुक्षा-स्वरूप मृत्यु से ही यह आवृत था क्योंकि बुभुक्षास्वरूप ही मृत्यु है। उसने वह मन किया कि मैं (सृष्टि करने के लिये) प्रयत्नवान् होऊं उसने, (प्रकृति और जीवात्मा को) मानो, सत्कार करता हुआ (प्राकृतिक परमाणुओं को) संचारित किया। सत्कार करते हुए उसके समीप कार्य्यभूत और व्यापक आकाश उत्पन्न हुआ। 'सत्कार करते हुए मेरे लिये यह ब्रह्माण्ड हुआ' इस हेतु वही अर्क का अर्कत्व है। जो कोई इस प्रकार अर्क के इस अर्कत्व को जानता है। निश्चय, उसको सुख प्राप्त होता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि के पहले (इह) यहां (किञ्चन) कुछ (न+एव) नहीं ही (आसीत्) था (अशनायया) बुभुक्षास्वरूप (मृत्युना) परमेश्वर से (एव) ही (इदम्) यह ब्रह्माण्ड=विश्व (आवृतम्+आसीत्) आच्छादित था (हि) क्योंकि (अशनाया) बुभुक्षास्वरूपी (मृत्युः) परमेश्वर है। उस मृत्युवाच्य परमेश्वर ने (तत्+मनः) सृष्टि करने में समर्थ सङ्कल्प लक्षण जो मन=विज्ञान उसको (अकुरुत) किया अर्थात् मन में विचार किया। क्या विचार किया सो कहते हैं—(आत्मन्वी) मैं प्रयत्नवान् (स्याम+इति) होऊं। इस प्रकार विचार करके (सः) उसने (अर्चन्) प्रकृति और जीवात्मा को सत्कार करता हुआ (अचरत्) प्राकृतिक परमाणु को संचालित किया अर्थात् उन में गति दी। (तस्य+अर्चतः) सत्कार करते हुए उस ईश्वर के निकट (आपः) सब व्यापक कार्य्यरूप आकाश उत्पन्न हुआ ईश्वर कहता है (अर्चते) सत्कार करते हुए (मे) मेरे लिये (कम्+अभूत्) यह ब्रह्माण्ड हुआ (इति) इस हेतु (तद्+एव) वही (अर्कस्य+अर्कत्वम्) पूजनीय सृष्टिरूप देव का "अर्कत्व" है। आगे फल कहते हैं:—(यः) जो विज्ञानी (अर्कस्य) अर्चनीय संसाररूप देव के (अर्कत्वम्) अर्चनीयत्व को जानता है (अस्मै) इस विज्ञानी पुरुष को (ह+वै) निश्चय ही (कम्) सुख (भवति) होता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—नैवेहेति। इदानीं परितः परिपूर्णमत्र सर्वं विभाति। किं शश्वदेवमेवेदं तिष्ठति, एवमेवासीद् भविष्यति चैवमेव आहोस्वित्परिणमते। अतआह—नैवेहेति। इह दृश्यमाने सप्रपञ्चे जगति। अग्रे पुरा सृष्ट्युत्पत्तेः प्राग्। किञ्चन किञ्चिदपि नैव आसीत् नैव बभूव किञ्चिदपि। "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षण" मित्यपि स्मृतिः। तर्हि—असतः सदजायतेति सिद्धान्तहानिः। अत आह—मृत्युनेति। इदं विश्वम्। अशनायया अशनाया अशिशिषा बुभुक्षा तया अशनायावतेत्यर्थः गुणगुणिनोरभेदविवक्षयोक्तिः। मृत्युना मृत्युपदवाच्येन परमात्मना। आवृतमाच्छादितमासीत्।

अनेकार्थत्वान् मृत्युशब्दस्य स्वाभीष्टार्थं ब्रूते। अशनाया हि मृत्युः। अयमर्थः मरणान्मृत्युः। इह दृश्यते बुभुक्षितो हि सिंह इतरं पशुं मारयति। ईश्वरोऽपि बुभुक्षितःसन् जगत्संहरतीत्युत्प्रेक्ष्ये। इयत्परिमितं जगत् संहरन्नपि न कदाचिद्विरमति संहारादित्यतः स याथार्थ्येन अशनमूर्तिरेवेश्वरः। अत आह—अशनाया हि मृत्युः। बुभुक्षामूर्तिरेवेश्वर इत्यर्थः। अत आह स मृत्युपदवाच्य ईश्वरः। जगत्सर्जनक्षमं यन्मनोऽस्ति तन्मन अकुरुत। मनःशब्दवाच्यं सङ्कल्पादिलक्षणं विज्ञानं कृतवान्। केनाभिप्रायेणेत्यत आह—आत्मन्वीति अहं सर्वं कर्तुं समर्थ आत्मन्वी स्यामिति मनोऽकुरुत अहं जगत्सृष्टौ प्रयत्नवान् भवेयमित्यर्थः। "आत्मायत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" स प्रकृतौ मृत्युः। अर्चन् प्रकृतिं जीवात्मानश्च पूजयन् सत्कारयन्निव। अर्च पूजायाम्। पूजा सत्कारः। अचरद् चारयद् परमाणुपुञ्जं संचारितवानित्यर्थः "चर गतिभक्षणयोः" अर्चतः सत्कारयतस्तस्य मृत्योः। आपोऽजायन्त "आप्लृ व्याप्तौ" व्यापकः कार्य्यभूत आकाशोऽजायत। आप इत्यन्तरिक्षनामधेयम्। यथा—"अम्बरम्। वियद्। व्योम। बर्हिः। धन्वः। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि॥ निघण्टु। १। ३॥ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत" इति निगमात्प्रथममाकाशस्याविर्भावः। तत्रापि प्राथमिकसूक्ष्मावस्थालक्षकोऽप्शब्दः सर्वत्र सृष्टिप्रकरणे प्रयुज्यते आप्लृधातुर्हि तदर्थमवगमयितुं समर्थः। सम्प्रति सृष्टेः पूज्यत्वं दर्शयितुमुपक्रमते। वै निश्चयेन। अर्चते प्रकृतिजीवात्मानौ सत्कारयते मे मह्यं मदर्थम्। कमभूत् ब्रह्माण्डमभूत्। कमिति ब्रह्माण्डनामधेयम्। यतोऽर्चतः परमेश्वरस्य सकाशात् कं ब्रह्माण्डमभूत् तस्माद्धेतोस्तदेव अर्कस्यार्कत्वम् अन्यथा कथं तस्यार्चनीयत्वं संभवेत्। अग्रे फलमाह—कमिति बह्वर्थः। यो विज्ञानवित्पुरुषः। अमुना प्रकारेण। अर्कस्य अर्चनीयस्य सृष्टिरूपस्य देवस्य। एतदर्कत्वं। वेद जानाति। अस्मै विज्ञानवते ह वै। कं भवति सुखं भवति। नामसामान्यात्कमित्युक्तम्। "अर्को देवो भवति—यदेनमर्चयन्ति। अर्को मन्त्रो भवति—यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति—अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति—संवृत कटुकिम्ना" एवमर्कशब्दोऽनेकार्थः। "कः शिरसि, जले, सुखे, ब्रह्मणि, विष्णौ, प्रजापतौ, दक्षे, इत्यादिषु, पुनः—कामदेवे, अग्नौ, वायौ, यमे, सूर्ये, आत्मनि, राजनि, ग्रन्थौ, मयूरे, इति मेदिनी। मनसि, शरीरे, काले, धने, शब्दे "इति अनेकार्थ कोशः। प्रकेशे च इति एकाक्षरकोशः। इत्थं क शब्दोपि भूरिभावप्रद्योतकः। कः कमनीयो भवति सुखो भवति क्रमणीयो वा। तद्यथा—"कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा"॥ इति निरुक्ते दैवतकाण्डे ४। २२॥ ६॥

भाष्याशय—अभी चारों तरफ यह सम्पूर्ण विश्व परिपूर्ण हो रहा है। यहां प्रश्न होता है क्या यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड सर्वदा ऐसा ही रहता है, ऐसा ही था और ऐसा ही रहेगा? अथवा इसमें कुछ परिवर्तन होता है? इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आगे कहते हैं (इह) यहां। अर्थात् अपने चारों तरफ जो महा अद्भुत सप्रपञ्च संसार इस समय देख रहे हैं। इस में (अग्रे) जब सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि सृष्टि कुछ प्रकट नहीं हुई थी इसके पहले यहां कुछ नहीं था। स्मृति भी कहती है कि प्रथम यह तमोमय अप्रज्ञात और अलक्षण (जिस का लक्षण वर्णन नहीं हो सकता) ऐसा था अब यहां शङ्का होती है कि क्या तब असत् से सत् अभाव से भाव हुआ। यदि ऐसा मानोगे तो

सिद्धान्त की हानि होगी। इस हेतु आगे कहते हैं कि (मृत्युना+आवृतम्+आसीत्) यह संसार ईश्वर से ढका हुआ था। यहां इतने पद से सिद्ध होता है कि प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर तीनों थे। क्योंकि आवर्ता (आच्छादयिता=ढांकनेहारा) तब ही कहलाता है जब आवरणीयवस्तु (ढाँकने की चीज़) हो यदि कोई आवरणीय पदार्थ ही नहीं था तो मृत्यु ने किसको ढक रक्खा था इससे सिद्ध होता है कि आवर्ता (ढांकनेहारे) और आवरणीय (ढाँकने योग्य पदार्थ) ये दोनों थे। आवर्ता ईश्वर और आवरणीय प्रकृति और जीव है। मृत्यु यहां ईश्वर का नाम है मारने के कारण मृत्यु। ईश्वर सब का संहार करता है इस हेतु वह मृत्यु है। अशनाया भोजन की इच्छा का नाम "अशनाया" है जिसको क्षुधा बुभुक्षा आशिशिषा और भूख आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं। यहां "अशनाया" शब्द ईश्वर के विशेषण में आया है।

शङ्का—ईश्वर को "अशनाया" क्यों कहा। अवतरण में इसका उत्तर देखो। जैसे भूखा सिंह अपने आहार के लिये अन्य पशु को मारता है, मानो वैसे ही भूखा ईश्वर सर्वदा सृष्टि संहार करता रहता है। इससे मालूम होता है कि ईश्वर बहुत भूखा है यदि भूखा न होता तो अपनी बनाई हुई सृष्टि को क्यों संहार करता है क्योंकि "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्" विष वृक्ष को भी बढ़ाकर स्वयं उसको कोई नहीं काटता। इस हेतु ईश्वर बहुत भूखा है यह प्रतीत होता है। अतएव इसको "अशनाया" बुभुक्षा (भूख) स्वरूप कहा है। अर्थात् अशनायावान्=भूखा। अशनाया गुण है। अशनायावान् न कह कर अशनाया क्यों कहा ?

उत्तर—संस्कृत में ऐसे प्रयोग आते हैं यहां गुण और गुणी में अभेद मान करके ऐसा कहा है। अथवा, मानो ईश्वर बड़ा भूखा है इस हेतु इस को बुभुक्षा-स्वरूप ही कहा है। भूखा पुरुष कुछ कार्य्य करता तब उसे भोजन मिलता है। बुभुक्षित ईश्वर ने क्या किया सो आगे कहते हैं "आत्मन्वी" यत्न, धृति, बुधि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीर इत्यादि अर्थों में "आत्मा" शब्द के प्रयोग आते हैं। आत्मन् शब्द से "आत्मन्वी" "आत्मवान्" बनता है अर्थात् जैसे कृषीवल (किसान) खेत करने के लिये मन में विचारकर प्रयत्नवान् होता है। वैसा ही भोज्य अन्नोत्पादन के हेतु मानो ईश्वर यत्नवान् हुआ। इससे यह शिक्षा मिलती है कि जब तक पूर्ण प्रयत्न न किया जाय तब तक कार्य्य-सिद्धि नहीं होती है। जब सर्व-सामर्थ्य-सम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि की रचना के लिये प्रयत्नवान् हुआ। तब हम लोगों को अपने योग्य कार्य्य के लिये क्यों नहीं प्रयत्नवान् होना चाहिये। जब सृष्टि के लिये प्रयत्नवान् हुए तब ईश्वर ने क्या किया सो कहते हैं (अर्चन्) प्राकृतिक परमाणु और जीवात्मा ये दोनों भी अनादि पदार्थ हैं इन दोनों को प्रथम आदर किया अर्थात् इन को कार्य्य में लाना ही इन का आदर है। मानो ईश्वर का यह परम अनुग्रह है कि इनको कार्य्य में लाता है। अर्च धातु का अर्थ पूजा। इस प्रकार से आदर करके (अचरत) सम्पूर्ण परमाणुपुञ्जों में एक प्रकार की गति दी अर्थात् जैसे क्षेत्राजीव (किसान) क्षेत्र को सत्कार करते हुए हल आदि से कर्षण करते हैं। इसी प्रकार मानो प्रकृति और जीवात्मा-स्वरूप खेतों में गति प्रदान से ईश्वर ने एक प्रकार का क्षोभ पहुंचाया, जब ईश्वर ने पदार्थों में गति दी तब (आपः) सर्वव्यापक कार्य्यभूत आकाश नाम का एक पदार्थ बना जो सबों का आधार है। "आप" शब्द का अर्थ यहां आकाश है इस में निघण्टु का प्रमाण संस्कृत में देखो जिन्होंने "आप" शब्द का अर्थ सृष्टि पक्ष में जल किया है उन की वह भूल है क्योंकि जब "आपः" शब्द का पाठ आकाश के नामों में आया है तब ऐसे स्थलों में इस का अर्थ आकाश क्यों नहीं किया जाय। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी ऋषि कहते हैं कि उस परमात्मा से प्रथम आकाश आविर्भूत हुआ यही

सिद्धान्त सबका है। "प्रथम जल की उत्पत्ति हुई" यह किसी शास्त्र का सिद्धान्त नहीं। यहां "आप" शब्द को देख कर सब टीकाकारों ने जल अर्थ करके ऋषियों के तात्पर्य्य को कलुषित कर दिया है। आकाश का अर्थ यहां अवकाश नहीं है एक अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वव्यापक पदार्थ है जिसके द्वारा सृष्टि के सब कार्य्य हो रहे हैं। 'आप्लृ" धातु से "अप" शब्द बनता है व्याप्ति अर्थ में इसका प्रयोग होता है। अर्थात् सृष्टि की सूक्ष्म प्रथमावस्था का नाम एक प्रकार से "आप" है। सृष्टि प्रकरण में प्रायः इसी शब्द का प्रयोग आया है। द्वितीय पक्ष में इसका "जल" अर्थ है। यहां यह ध्वनि है कि जब गृहस्थ लोग खेत को हल आदि से तय्यार कर लेते हैं तो पानी की अपेक्षा करते हैं। ईश्वरीय वृष्टि यदि न हुई तो कूप आदि से खेत के लिये पानी उत्पन्न करके खेत में देते हैं। वैसे ही ईश्वर संसाररूपी वाटिका के बनाने के लिये प्रथम आप नाम का एक पदार्थ उत्पन्न किया।

अर्क्क=सम्पूर्ण सृष्टि का नाम यहां अर्क्क है क्योंकि इसमें दो शब्द हैं। अर्क+क "अर्च पूजायाम्" अर्च धातु पूजा अर्थ में है। इस धातु से व्याकरण के अनुसार क्विप् करने पर अर्क् सिद्ध होता है। अर्क्—पूजा करनेहारा। और "क" शब्द का अर्थ ब्रह्माण्ड (जगत=संसार) है। (अर्चः अर्चितुः+कः=अर्क्कः) पूजा करनेहारे का जो यह क-ब्रह्माण्ड उसे "अर्क्क" कहते हैं। मूल में कहा है कि (अर्चते) पूजा करते हुए ईश्वर के लिये (कम्) "क" हुआ। इस हेतु वही अर्क्क का अर्कत्व है अर्थात् अर्क शब्द का यही अर्थ है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि "अर्क+क" इन दो शब्दों से "अर्क्क" शब्द की सिद्धि उपनिषत्कारों ने मानी हैं। व्याकरण के अनुसार "अर्क्+क" दोनों मिलकर "अर्क्क" और "अर्क" दोनों प्रकार के शब्द हो जाते हैं। अथवा केवल "अर्च" धातु से भी अर्क बनता है। परन्तु उपनिषद् का यह अभिप्राय नहीं है। इस पक्ष में "अर्क" नाम देव का है संस्कृत में इस का प्रमाण दिया गया है। जिस हेतु ईश्वर ने इस का सत्कार किया अतः इस संसार का नाम ही "अर्क" हो गया अर्थात् पूजनीय। जब ईश्वर ने ही इस का सत्कार किया तब हम लोगों को तो अवश्य ही इस का सत्कार करना उचित है। जो इस प्रकार "अर्क्क" के अर्क्कत्व को जानता है उस को "क" सुख प्राप्त होता है। यहां "क" शब्द के अनेक अर्थ संस्कृत भाष्य में दिखलाये गये हैं। यहां "ब्रह्माण्ड" और "सुख" ये ही दो अर्थ लिये गये हैं। जो "क" अर्थात् ब्रह्माण्ड को जानता है वह "क" अर्थात् सुख को पाता है। इस में सन्देह ही क्या ? क्योंकि ब्रह्माण्ड के ज्ञान से ही ईश्वर का ज्ञान होता है और तत्पश्चात् मोक्षरूप सुख मिलता है। इस प्रकार उपनिषदादियों में शब्दों के तात्त्विक और पारमार्थिक अर्थ को न समझेंगे तब तक भ्रम में ही पड़े रहेंगे। अन्य भाष्यकारों ने इन कण्डिकाओं के अर्थ करने में बड़ा ही गोलमाल लगाया है। आस्तिक लोग भगवान् के चरित्र को देख आश्चर्यान्वित होते हैं इस सृष्टि में दो कार्य कभी बन्द नहीं होते मरना और जन्म लेना, हज़ारों मरते और उत्पन्न होते हैं। जैसे गृहस्थ हज़ारों खेत करते, काटते, फिर खेत करते और काटते हैं। यही लीला ईश्वर की है। यहां ईश्वर को "मृत्यु अशनाया" कहा है इतना कहकर सृष्टि को कैसे लगाया यह ऋषि वर्णन करते हैं। इस हेतु यह सृष्टि का प्रकरण है नकि किसी विशेष अश्वमेधादि यज्ञों का।

आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्तत् समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्त्ततान्निः ॥ २ ॥

अनुवाद—निश्चय, आप् अर्थात् आकाश अर्क (ब्रह्माण्ड) है। आकाश की जो शर अर्थात् उपमर्दिका शक्ति थी वह सब इकट्ठी हुई। वह पृथिवी (यह पृथिवी नहीं) हुई। तब उस पृथिवी के

होने के अनन्तर मृत्युवाच्य ईश्वर ने श्रम किया तब श्रान्त और तप्त ईश्वर की महिमा से अग्निरूप तेजोरस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

पदार्थ—पूर्व कण्डिका में कहा गया है कि आप् उत्पन्न हुआ और यही अर्क का अर्कत्व है इससे अभिप्राय विस्पष्ट नहीं हुआ। सृष्टि हुई आप् की अतः आप् का अप्त्व कहना था सो न कहकर अर्क का अर्कत्व कहा है सो क्या बात है? इस की विस्पष्टता के लिये अप् और अर्क की एकता को कहते हुए सृष्टि विस्तार वर्णन करते हैं (आपः+वै+अर्कः) आप ही अर्क है अर्थात् सर्वाधार आकाश का नाम आप है और ब्रह्माण्ड का नाम अर्क है सर्वाधार होने के कारण से, मानो आप=आकाश, अर्क ब्रह्माण्ड है। क्योंकि वही आप उपमर्दभाव से ब्रह्माण्ड होता है इस हेतु जो आप है वही ब्रह्माण्ड है। इतना कह अब मुख्य विषय को कहते हैं। जब ईश्वर ने जीव-सहित प्रकृति को क्षोभ (संचालन+गति) पहुंचाया। तब अप् शब्दवाच्य सर्वाधार, सर्वव्यापक एक पदार्थ उत्पन्न हुआ जिसको विचक्षण जन आकाश कहते हैं। उनही में एक उपमर्दिका शक्ति उत्पन्न हुई। उसी को यहां शर कहा है जैसे जब बीज पृथिवी के अभ्यन्तर पड़ता है तब बीज की सम्पूर्ण शक्ति को ले और बीज को असमर्थ बना अंकुर होता है अर्थात् बीज का जो स्थूल भाग है वह फटकर नष्ट और सड़ गल जाता है। परन्तु उसकी एक विलक्षण शक्ति के द्वारा एक सुन्दर अंकुर उत्पन्न हो जाता है। इसी का नाम उपमर्दभाव है और पीछे वह क्रम से बढ़ता २ वृक्ष बन जाता है। इसी प्रकार (अपाम्) उस सर्वाधार आकाश नाम के पदार्थ का (यत्) जो (शरः) उपमर्दिका शक्ति (आसीत्) थी (तत्) वह (समहन्यत) इकट्ठी हुई (सा+पृथिवी+अभवत्) वह पृथिवी हुई। अर्थात् वह सम्मिलित शक्ति अतिशय स्थूल और व्यक्त होकर पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हुई। यहां इस पृथिवी से अभिप्राय नहीं है। आप् से कुछ स्थूल और विस्पष्ट अवस्थान्तर विशेष का नाम पृथिवी है क्योंकि पृथिवी शब्द भी आकाश के नामों में पठित है ॥ १ । ३ ॥ निघण्टु देखो। इस हेतु उसी आकाश के उपमर्दभाव से रूपान्तर विशेष का नाम पृथिवी है इस पार्थिव अवस्था में यह सृष्टि बहुत दिनों तक स्थित रही क्योंकि पुनरपि आगे ईश्वर का श्रम (प्रयत्न) कहा जायगा। ईश्वर का प्रयत्न सृष्टि के तुल्य प्रवाह का बोधक है। अर्थात् किञ्चित् परिवर्तन के साथ यह सृष्टि समान रूप से बहुत दिनों तक रहती है पुनः इस में एक अन्य प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। समानावस्था में सृष्टि का रहना मानो ईश्वर का एक प्रयत्न वा श्रम है। इस हेतु आगे श्रम का वर्णन होने से बहुत वर्षों तक वह सृष्टि उसी अवस्था में रही यह प्रतीत होता है। जैसे जलादि परिपूर्ण खेत होने पर शस्यादि रोपने के लिये किसान परिश्रम करता है वैसे ही (तस्याम्) सृष्टि की पार्थिवावस्था होने पर अग्रिम उत्तरोत्तर सृष्टिवृद्धि के लिये (अश्राम्यत्) ईश्वर ने मानो पुनः श्रम करना आरम्भ किया। यदि वह ईश्वर श्रम नहीं करता रहता तो पूर्वावस्था को त्याग अवस्थान्तर को यह सृष्टि कैसे प्राप्त होती। तब क्या हुआ सो कहते हैं (तस्य+श्रान्तस्य+तप्तस्य) श्रान्त और तप्त उस परमात्मा की महिमा से (अग्निः) अग्निरूप (तेजोरसः) तेजोरस (निरवर्तत) उत्पन्न हुआ। यहां इस अग्नि से तात्पर्य्य नहीं। किन्तु प्रथम यह सम्पूर्ण जगत् सहस्र सूर्य की प्रभा के समान एक गोलाकार होकर महान् वेग से घूमने लगा। जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं। हज़ारों सूर्यों की प्रभा के समान वह अण्ड हुआ। इस हेतु मूल में "तेजोरस" पद आया है अर्थात् रसात्मक तेज उत्पन्न हुआ अर्थात् इस संसार की दशा जलवत् बहता हुआ अग्नि के समान थी ॥ २ ॥

भाष्यम्—आप इति। अर्कापृशब्दयोरैक्यकथनपूर्वक-सृष्टि-विस्तारं ब्रूते। आपो वै अर्क इति। अव्यवहितायां कण्डिकायां यौ अपर्कौ वर्णितौ तौ न भिन्नाभिप्रायाभि-

धायिनी या आपः स एवार्कः । आप एवोपमर्दभावेन ब्रह्माण्डत्वं प्राप्नोति । उभौ ब्रह्माण्ड-वाचिनावित्यर्थः । आकाशस्यापि सर्वाधारकत्वाद् ब्रह्माण्डाभिधायित्वम् । प्रकृतमभिधत्ते। यदेशो जीवात्मसहितां प्रकृतिं क्षोभयामास तदाप्शब्दवाच्यः सर्वव्यापकः सर्वाधार एकः पदार्थोऽजायत यमाकाशमित्याचक्षते विचक्षणाः । तास्वेका उपमर्दिका शक्तिरजायत सेह शरशब्देनाभिधीयते । यथा बीजमुपमर्द्य बीजशक्तिं गृहीत्वा तद्वासमर्थं विधायाङ्कुरो जायते । स चाङ्कुरः क्रमेण वर्धमानो वृक्षत्वमापद्यते तथैव अपाम् । यद्यः शरः उपमर्दिका शक्तिरासीत् तत्सर्वं समहन्यत संघातमापद्यते सम्मिलितमभूदित्यर्थः । सा पृथिवी अभवत् सा शक्तिः सम्मिलिता सती अतिशयपृथुतरा व्यक्ता पृथिवीशब्दवाच्या बभूव । नेयं पृथिव्यत्राभिप्रेयते । अप्सकाशात् स्थूलतरो विस्पष्टोऽवस्थान्तरविशेषः पृथिवी-शब्दवाच्यः । यतः पृथिवीशब्दोप्याकाशनामसु पठितः, तद्यथा—अम्बरम् । वियद् । व्योम । बर्हि···पृथिवी । भूः । स्वयम्भूः ॥ इत्यादि निघण्टुः ॥ १ । ३ ॥ अतस्तस्यैवाकाश-स्योपमर्दभावेन रूपान्तरविशेषं पृथिवीशब्दो ब्रूते । अस्यामेवावस्थायां चिरादियं सृष्टिर-स्थात् पुनरपीश्वरश्रमदर्शनात् । एकैक ईश्वरश्रमो हि सृष्टेः समानं प्रवाहं द्योतयति । यथा जलादिपरिपूर्णक्षेत्रे धान्यादिरोपणाय क्षेत्राजीवः परिश्राम्यति एवमेव तस्यां पृथिव्यां समुत्पन्नायां सोऽपि मृत्युरश्राम्यदिति मन्ये अन्यथा कथं पूर्वावस्थां विहायाऽवस्थान्तर-मापेदे जगदिदम् । ततः किं जातमित्याह—तस्येति-तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य मृत्योः सकाशात् तेजोरसो निरवर्तत तेज एव रसस्तेजोरसोऽजायत । कोऽसौ तेजोरस इत्यत आह—अग्निरिति । अग्निरूपस्तेजोरसोऽजायतेत्यर्थः । न हि साधारणोऽयमग्निः । किं तर्हि सम्पूर्णं जगदिदं सहस्रसूर्यप्रभमेकं गोलाकारं भूत्वा महता वेगेन भ्रमितुमारेभे । तद्यथाह भगवान् मनुः—"तदण्डमभवद्धैमं"—"सहस्रांशुसमप्रभम्" ॥ २ ॥

स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुताऽऽदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः । तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्म्मौ । अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥ ३ ॥

अनुवाद—उस मृत्युवाच्य परमेश्वर ने संसाररूप प्रयत्न को तीन प्रकार से विभक्त किया तृतीय आदित्य, तृतीय वायु और (तृतीय अग्नि) इस प्रकार से यह संसाररूप प्राण तीन हिस्सों में विभक्त हुआ । उस संसाररूप पुरुष का शिर—प्राची (पूर्व) दिशा, दोनों बाहु—यह और यह अर्थात् ईशानी और आग्नेय कोण, और इसका पुच्छ—प्रतीची (पश्चिम) दिशा, पृष्ठ की हड्डियां—यह और यह अर्थात् वायव्य और नैर्ऋत्यकोण, इसके पार्श्व—दक्षिण और उदीची (उत्तर) दिशाएं, पृष्ठ—द्युलोक, उदर—अन्तरिक्ष, उर—यह पृथिवी । सो यह संसार सर्वाधार आकाश में प्रतिष्ठित है । जो उपासक इसको इस प्रकार जानता है वह जहां जाता है वहां ही प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः) उस मृत्युवाच्य परमात्मा ने (आत्मानम्) संसाररूप प्रयत्न को (त्रेधा) उपमर्दभाव से तीन भागों में (व्यकुरुत) विभक्त किया, यहां "आत्मा शब्द प्रयत्नवाची है" संस्कृत में प्रमाण देखो । ईश्वर का प्रयत्न यह संसार ही है । कैसे विभाग किया सो आगे कहते हैं—(आदित्यम्+तृतीयम्) तीसरा आदित्य=द्युलोक अर्थात् वायु और अग्नि की अपेक्षा तीसरा आदित्य अर्थात्

द्युलोक और इसी प्रकार आदित्य और अग्नि की अपेक्षा तृतीय वायु=अन्तरिक्ष और आदित्य और वायु की अपेक्षा तीसरा अग्नि अर्थात् पृथिवी लोक इस प्रकार से तीन विभाग किये। यहां प्रारम्भ में कहा है कि "तीन प्रकार से विभाग किया" परन्तु आदित्य और वायु इन दो का ही विभाग देखते हैं तीसरे का नहीं। इस हेतु प्रतिज्ञानुसार ऊपर से "अग्नि" अर्थ किया जाता है। यहां आदित्य १, वायु २ और अग्नि ३ इन तीन शब्दों से क्रमशः द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक का बोध होता है। इस से यह फलित हुआ कि तीनों लोकों को अर्थात् सम्पूर्ण संसार को बनाया क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदादियों में द्युलोकस्थ आदित्य अन्तरिक्षस्थ वायु और पृथिवीस्थ अग्नि कहा गया है ये ही तीनों देव तीनों भुवनों के अधिष्ठाता वा स्वामी भी कहे गये हैं इस कारण शब्दसामर्थ्य से ये तीनों शब्द सम्पूर्ण जगत् को लक्षित करते हैं। इसी को पुनः उपसंहाररूप से आगे कहते हैं—(सः) वह (एषः) यह (प्राणः) संसाररूप प्राण (त्रेधा+विहितः) तीन हिस्सों में बनाया गया। यहां संसार को प्राण इसलिये कहा है कि यही संसार जीवात्मा वा परमात्मा का प्रकाशक है। आगे अलङ्काररूप से पुरुषवत् इस संसार का वर्णन करते हैं—(तस्य) उस उत्पन्न संसार का (शिरः) शिर (प्राची+दिक्) पूर्व दिशा है (इमौ) इस के दोनों बाहु (असौ+च, असौ+च) यह और यह अर्थात् ईशान और आग्नेय कोण है (अथ+अस्य) और इस का (पुच्छम्) पुच्छ (प्रतीची+दिक्) पश्चिम दिशा है (सक्थ्यौ) पृष्ठ की दो हड्डियां (असौ+च+असौ+च) यह और यह अर्थात् वायव्य और नैर्ऋत्य कोण है (पार्श्वे) इस के पार्श्व (दक्षिणा+च, उदीची+च) दक्षिण और उत्तर दिशाएं हैं (पृष्ठम्) पृष्ठ (द्यौः) द्युलोक है (उदरम्+अन्तरिक्षम्) उदर अन्तरिक्ष है (उरः) छाती (इयम्) यह पृथिवी है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किस आधार पर स्थित है सो आगे कहते हैं—(सः+एषः) सो यह संसार (अप्सु+प्रतिष्ठितः) सर्वव्यापक आकाश में प्रतिष्ठित है। यहां "आप" शब्द का जल अर्थ करना अज्ञानता है, आगे फल कहते हैं—(एवम्+विद्वान्) जो उपासक इस प्रकार संसार के तत्त्वों को जानता है वह (यत्र+क+च) जहां कहीं (एति) जाता है (तद्+एव) वहां ही (प्रति+तिष्ठति) प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स इति। स सृत्युवाच्यः परमात्मा। आत्मानं प्रयत्नं जगद्रूपं प्रयत्नं त्रेधोपमर्दभावेन त्रिप्रकारकं व्यकुरुत व्यभजत्। अत्रात्मशब्दः प्रयत्नवाची "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" कथं त्रेधेत्यत आह—आदित्यमिति। आदित्यं तृतीयमग्निवाय्वपेक्षया व्यकुरुत। तथा वायुं तृतीयमग्न्याऽऽदित्यापेक्षया व्यकुरुत। तथाऽग्निं तृतीयं वाय्वादित्यपेक्षया व्यकुरुतेति योजनीयम्। स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतेत्युक्तत्वात्। अत्रादित्यवाय्वग्निशब्दा द्युलोकान्तरिक्षपृथिवीलोकान् लक्षयन्ति। एतेन त्रींल्लोकान् ससर्जेति फलितम्। बहुषु स्थलेषु हि द्युलोकस्थ आदित्योऽन्तरिक्षस्थो वायुः पृथिवीस्थोऽग्निरित्येते त्रय एव देवा अधिष्ठातारो वा स्वामिनो वा संसारस्योच्यन्ते। अतः सामर्थ्यात्तच्छब्दत्रयं सम्पूर्णं विश्वं लक्षयति। इत्थं स एष प्राणो जगद्रूपः प्राणः। त्रेधा त्रिप्रकारेण विहितो विभक्तो जीवात्मप्रकाशकत्वादस्य संसारस्य प्राणसंज्ञा। अथास्योत्पन्नस्य संसारात्मकस्य पुरुषस्य। प्राची दिक् शिरः। अथांगुल्यानिर्देशेनाह। असौ चासौ च ऐशानाग्नेयौ कोणौ ईर्मौ बाहू। अथास्य प्रतीची पश्चिमा दिक्—पुच्छम्। असौ चासौ च वायव्यनैर्ऋत्यौ कोणौ सक्थ्यौ सक्थिनी पृष्ठस्थितोन्नतास्थिनी। दक्षिणा चोदीची च दिशौ पार्श्वौ। द्यौर्द्युलोको पृष्ठम्। अन्तरिक्षम्—उदरम्। इयं पृथिवी उरः।

इयं शब्दः प्रायः पृथिवी महांगुल्या निर्देशेन । स एव संसार अप्सु सर्वाधारे आकाशे प्रतिष्ठितः स्थापितः । एतदुपासनफलमाह—यत्रेति । एवं विद्वान् इदं जगदेवं जानन् सन् यत्र क यत्र कचित् एति गच्छति । तदेव तत्रैव । प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठां लभते ॥ ३ ॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः ॥ यावान् संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत । तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥ ४ ॥

अनुवाद—उसने इच्छा की कि मेरा द्वितीय प्रयत्न प्रकाशित होवे । उस अशनायावान् मृत्यु ने मन के साथ वाणी को संयोजित किया उससे जो ज्ञानप्रस्रवण है वह वाणी का सरोवर हुआ । इसके पहले वाणी-सरोवर नहीं हुआ था । जितना एक युग होता है उतने काल तक उसने उस वाणी सरोवर को अपने में ही धारण कर रक्खा था । इतने काल के पश्चात् उसको बनाया । उस उत्पन्न वाणी सरोवररूप बालक को फैलाया । उस कुमार ने इस पृथिवी को दीप्तिमान् और प्राणवान् किया । इस प्रकार वही वाणी हुई ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सः) उस मृत्युनामधारी परमेश्वर ने (अकामयत) कामना की कि (मे) मेरा (द्वितीयः+आत्मा+जायेत) द्वितीय परिश्रम वा प्रयत्न प्रकट होवे (इति) इस प्रकार कामना कर (सः) उस (अशनाया+मृत्युः) बुभुक्षावान् मृत्यु ने (मनसा) मन के साथ (वाचम्) वाणी को (मिथुनम्) द्वन्द्वभाव (समभवत्) किया अर्थात् मन के साथ वाणी को संयोजित किया तब (तद्) उस ब्रह्म में (यद्+रेतः+आसीत्) जो ज्ञान का झरना है (सः) वह (सम्वत्सरः) वाणियों का सरोवर हुआ । (ततः+पुरा) इसके पहले (सम्वत्सरः) वाणी-सरोवर (न+ह+आस) नहीं था यह बात सुप्रसिद्ध है तो वह कहां था सो आगे कहते हैं—(एतावन्तम्+कालम्) इतने काल तक (तम्) उस वाणीरूप सरोवर को (अबिभः) अपने में ही धारण कर रक्खा था कब तक धारण कर रक्खा था सो आगे कहते हैं—(यावान्+सम्वत्सरः) जितना एक कल्प होता है (एतावतः+कालस्य) इतने काल के (परस्तात्) पीछे (तम्+असृजत) उसको उत्पन्न किया (तम्+जातम्) उस उत्पन्न सम्वत्सर=वाणी-सरोवर को (अभिव्याददात्) फैलाया (सः) उसने इस जगत् को (भाण) दीप्तिमान् और प्राणवान् (अकरोत्) किया (सा+एव+वाग्+अभवत्) वही जगत् में वाणी हुई । शब्दोच्चारण करने वाले प्राणी हुए ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्र ग्रन्थाशयस्तावत्कठिनतरोऽस्ति शब्दा अपि केचिद् द्व्यर्थाः प्राचीनाश्च प्रयुक्ताः । विषयश्च गूढतरः सृष्टिविवरणम् । तत्राप्यलङ्कारेण निरूपितः । अतो ग्रन्थाशयविज्ञानाय सृष्टितत्त्वविदां परामर्शः प्रथमं वेदितव्यः । ते आहुः—यादृशी सम्प्रतीयं पृथिवी भासते तादृश्येव प्रारम्भे नोत्पन्ना । शनैः शनैरियमिमामवस्थां प्राप्ता । ये च हिमालयादयो नागाधिपा अत्युच्छ्रिता नाना नदी-धातु-द्रुमादिभिः शोभमाना दृश्यन्ते ते कस्मिंश्चिद् युगे जलाभ्यन्तरे अशयिषतेव, केचन पृथिव्युदरेऽवयवान् पोषयन्त इवाऽऽसन् । केचन जन्मापि नाग्रहीषुः । यत्र यत्र सम्प्रति समुद्रास्तत्र तत्र सत्त्वसंकीर्णा रमणीयाः प्रदेशा वैपरीत्येन यत्र यत्र प्रदेशास्तत्र तत्र समुद्राः । अस्या अनेका दशाः परिवर्तिताः । या चेषत् समानेव दशा स एकैको युगः । इयं पृथिवी सूर्यवत् वह्निज्वा-

लाभिर्बहुषु कालेषु प्रज्वलन्ती जन्तुशून्या अनिवास्यैवासीत् । शनैः शनैरोपरिष्ठिकस्य भागस्याग्निज्वाला प्रशमितुमारभत । यथा यथा ज्वाला प्रशान्ता तथा तथोद्भिज्जानामोषधीनां प्रादुर्भावः । चिरसमयस्याः केवला औद्भिज्जिकी दशाऽऽसीत् । ततः क्षुद्रकीटाः । ततः पशवः । बहुकालादनन्तरं ततो मनुष्याः मध्ये मध्ये महत्परिवर्तनं जातम् । एतत्सर्वं पदार्थविद्ययाऽवगमनीयम् । अतः समासेन सृष्ट्युत्पत्तिं प्रथमं निबध्य वेदोत्पत्त्युपक्रमनिबन्धायोत्तरग्रन्थमारभते—स मृत्युपदवाच्यः परमात्मा । अकामयतैच्छत । किमकामयतेत्यत आह—मे द्वितीय इति । मे मम पृथिव्यादिसृष्ट्युत्पत्त्यपेक्षया द्वितीय आत्मा प्रयत्नः । जायेत उत्पद्येतेति कामनानन्तरं किं कृतवानित्यत आह—स इति सः । अशनाया अशनायावानित्यर्थः । मृत्युः । मनसा मननवृत्तिनान्तःकरणेन । वाचं स्वकीयां वाणीम् । मिथुनं समभवद् द्वन्द्वभावं कृतवान् । मनसा सह वाणीं योजितवानित्यलङ्कारेण वर्णनम् । तत्तत्र ब्रह्मणि यद्रेतो विज्ञानस्रवणमासीत् स इति विधेयप्राधान्यात्पुंस्त्वम् । तद्रेतः । संवत्सरः वाक्सरोवरोऽभूत् । अस्मिन्नर्थे प्रमाणम्—रेतः—रि रीङ् स्रवणे दैवादिकः रीयते स्रवतीति रेतः स्रवणम् । कस्य स्रवणम् ? ईश्वरप्रकरणान्न मनसा सह वाक्संपर्काद्विज्ञानस्यैव स्रवणमपेक्ष्यम् । नान्यदित्यर्थः । श्रुतिरपि—असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते । राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् ॥ ऋग्वेद मण्डल ६ । सू० ७० । मं० २ ॥ सम्वत्सरः सम्यग्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति संविद् ज्ञानम् संवित्सन् "सम्वदित्युच्यते" परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः, इति न्यायात् । सरति निःसरति जलं यस्मात् सरस्तडागः । अकारान्तोऽयं शब्दो नात्रसकारान्तः । ऋदोरप् ॥ ३ । ३ । ५७ ॥ इत्यप् । "पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासारः सरसी सरः" सकारान्तोऽत्र सरस् शब्दः । यद्वा संवदन्ति संवदन्ते वा परस्परं सम्यग्वदन्ति अनयेति संवद्वाणी तस्याः सरः प्रसारः । प्रसारणम् । संवत्सरो वाणीसरोवरस्तेन वाणीसरोवरसंयुक्तप्राणिनो लक्ष्यन्ते । ततस्तस्मात् कालात् । पुरा प्राग् । संवत्सरः वाणीप्रसारः नाऽऽसनबभूव । वाणीसंयुक्तजीवानामुत्पत्तिर्नासीदित्यर्थः । हेति प्रसिद्धम् । कालीस्तर्हि । इतरसम्वत्सरशब्दः कालवाची । एकयुगलक्षकः । यावान् यावत्कालपरिमितः सम्वत्सर एको युगो भवति एतावन्तं कालं तत्परिमितं समयम् । तं सम्वत्सरम् । अबिभः भगवान् स्वात्मन्येव भृतवान् धृतवान् न प्रकाशयामासेत्यर्थः । एतावतः कालस्य परस्तात् पश्चादूर्ध्वम् । तं सम्वत्सरम् । असृजतोदपादयत । तं जातं वाणीप्रसारात्मकमुत्पन्नकुमारम् । अभिविस्तारयामास । स वाण्युपलक्षितव्यक्ताव्यक्तभाषणकारी प्राणीजातःसन्नेव इदं जगद् भाण् अकरोत् भातं भासितं प्राणितश्चाकरोत् । भातीति भा । अणितीति अण् । भा चाण् च इति भाण् । वाणीसंयुक्तजीवसमुदायसृष्टिः दीप्तिमती तथा प्राणवती च बभूवेत्यर्थः । इत्थं सैव वागभवत् । वागुपलक्षितवाणीविशिष्टप्राण्यभवदित्यर्थः ॥ ४ ॥

भाष्याशय—यहां ग्रन्थाशय ही प्रथम कठिनतर है कोई २ शब्द भी दो २ अर्थ वाले और प्राचीन प्रयुक्त हैं । विषय भी गूढ़तर सृष्टिविवरण सो भी अलङ्कार से निरूपित है इस हेतु ग्रन्थाशय के विज्ञान के लिये विद्वान् पुरुषों का परामर्श प्रथम जानना चाहिये, वे कहते हैं—आजकल यह पृथिवी जैसी भासती है वैसी ही प्रारम्भ में उत्पन्न नहीं हुई । धीरे २ यह इस दशा को प्राप्त हुई जो हिमालय आदि बड़े २ पर्वत आज अतिशय ऊंचे और नानाविध नदी, धातु, द्रुमादियों से शोभायमान दीख

पड़ते हैं वे किसी युग में जल के अभ्यन्तर मानो सो रहे थे। कोई पृथिवी के उदर में ही मानो अवयवों को पुष्ट कर रहे थे। किन्हीं का जन्म ही नहीं हुआ था जहां २ अभी समुद्र है वहां २ कभी जन्तुओं से सङ्कीर्ण रमणीय प्रदेश थे। इसके विपरीत जहां २ आज प्रदेश हैं वहां २ कभी समुद्र थे। इनकी अनेक दशाएं परिवर्तित हुई हैं जो २ कुछ समान सी दशा हुई वही २ एक २ युग कहाता है। यह पृथिवी सूर्यवत् वह्निज्वाला से जलती हुई जन्तुशून्या निवास के अयोग्य बहुत कालों तक रही। धीरे २ ऊपर की अग्निज्वाला शान्त होने लगी। ज्यों २ अग्निज्वाला शान्त होती गई त्यों २ उद्भिजादि ओषधियों का आविर्भाव होने लगा। बहुत समय तक पृथिवी की केवल औद्भिजिकी दशा ही बनी रही। तब क्षुद्र २ कीट पतङ्ग पशु आदि होने लगे, तब बहुत काल के अनन्तर मनुष्य हुए। मध्य २ में भी बहुत परिवर्तन होता गया। यह सब वार्त्ता पदार्थविद्या के अध्ययन से जाननी चाहिये, तब इसका भाव अच्छे प्रकार मालूम होगा इस प्रकरण में व्यक्त वा अव्यक्त वाणी बोलनेवाले जीवों की उत्पत्ति और मनुष्य में विस्पष्ट वाणी और विद्या कहां से आई इसको कहेंगे। इसमें भिन्न २ सिद्धांत हैं। बहुत आदमी, जैसे २ अन्य वस्तुओं की धीरे २ वृद्धि हुई वैसे २ ही वाणी और विद्या की भी वृद्धि धीरे २ हुई ऐसा मानते हैं परन्तु वैदिक सिद्धांत है कि प्रारम्भ में ईश्वर ने इस विद्या के प्रचार में सहायता दी अन्यथा वाणी और विद्या होनी कठिन थी। इसी कारण इस कण्डिका में ईश्वर का यह द्वितीय प्रयत्न कहलाता जो यह विद्या का प्रचार है क्योंकि इस के विना मनुष्यसृष्टि भी अपूर्ण ही रहती इस हेतु अपना सम्पूर्ण कौशल दिखलाने के हेतु ईश्वर ने वेदविद्या का प्रकाश किया है। संक्षेप से सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम को बांध वेदोत्पत्ति के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं।

(सः+अकामयत) इत्यादि द्वितीय आत्मा=द्वितीय प्रयत्न=व्यक्त वा अव्यक्त वाणी भाषण करनेवाले जीवों को उत्पन्न करना भी मानो पृथिवी आदि के समान कठिन कार्य्य है। यद्यपि ईश्वर के लिये कुछ भी कठिन नहीं परन्तु यहां अलङ्कार रूप से वर्णन है इस हेतु यह सब बात कही जाती है। जब ईश्वर ने यह विचार किया कि मेरा द्वितीय प्रयत्न प्रकट होवे। द्वितीय प्रयत्न से यहां तात्पर्य्य भाषण करनेवाले जीवों से है। तब उस समय ईश्वर ने मन के साथ वाणी को मिलाया अर्थात् भविष्यत् जीव की श्रेष्ठता दिखलाने के हेतु यह कहा है कि ईश्वर ने मन के साथ वाणी को संयोजित किया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि वाणी को उच्चारण करनेवाले ये जीव मननशक्ति-सम्पन्न हैं। किसी में किञ्चत्, किसी में विशेष मननशक्ति प्रत्यक्षतया भी दीखती है। इस प्रकार ईश्वर ने मन और वाणी को मिलाकर क्या किया सो कहते हैं—(रेतः) बहनेवाली वस्तु का नाम संस्कृत में "रेत" है, यहां वाणी का प्रकरण है। वाणी भी मानो जल के समान बहती है इस हेतु यहां वाणी का प्रस्रवण=झरना अर्थ किया है। ईश्वर में जो स्वाभाविक ज्ञान—प्रस्रवण है वह सम्वत्सर=सम्वित् से सम्वत् बना है। प्राचीन काल का एक ऐसा नियम देखते हैं कि "परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" विद्वान् लोग परोक्ष के प्रिय होते और प्रत्यक्ष से द्वेष रखते हैं। इसके अनुसार बहुत से शब्द कुछ गुप्त वा अव्यक्त उलटा पुलटा वा अङ्गहीन वा अधिक हैं। अपने स्वरूप में वे नहीं हैं यहां "सम्वित्" के स्थान में "सम्वत्" है और "सरस्" के स्थान में "सर" है। सम्वित्=ज्ञान। सर—सरोवर=तड़ाग ज्ञान का तड़ाग। ईश्वर में जो ज्ञान का प्रस्रवण था, वही मानो ज्ञान का तड़ाग बन गया, यह उपलक्षक शब्द है "ज्ञानी जीव उत्पन्न हुए" यह इसका निष्कर्ष है। यद्वा (सम्वदन्ति सम्वन्दन्ते अनयेति संवत्) जिसके द्वारा अव्यक्त वा व्यक्त भाषण कियाजाय उसे "संवत्" कहते हैं अर्थात् वाणी। सर=तड़ाग अर्थात् वाणी का तड़ाग। यहां इतनी बात और दृष्टि में रखनी चाहिये कि एक २

जाति की जो एक २ वाणी है, मानो वह एक २ वाणी का तडाग है। शुक, काक, कोकिल, सर्प, कुकल, व्याघ्र, वृषभ, गर्दभ, मनुष्य ये सब एक २ भिन्न जातियां हैं। इनकी भिन्न २ बोलियां भी हैं। मानो यही एक २ तडाग है। आगे अलङ्काररूप से वर्णन है कि वाणीसंयुक्त जीव, मानो बहुत कालतक ईश्वर के उदर में ही पुष्ट होते रहे। एक कल्प के अनन्तर भगवान् ने इनको प्रकाशित किया और पृथिवी पर विस्तृत किया। "भाण अकरोत्" उस वाणीसरोवर और वाणीयुक्त जीवों ने इस जगत् को भाण किया। भा:=शोभा। अण्=प्राण अर्थात् जगत् को सुशोभित और प्राणित किया इस प्रकार "वाणी" हुई अर्थात् वाणीसंयुक्त जीव हुए ॥ ४ ॥

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनाऽऽत्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चर्चो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥ ५ ॥

अनुवाद—उसने ईक्षण किया कि निश्चय यदि मैं इसको वध करूंगा तो "भोजन के लिये" थोड़ा अन्न करूंगा। इस हेतु उसने उस वाणी और उस प्रयत्न के साथ सब कुछ उत्पन्न किया जो कुछ है। ऋग्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजाएं और पशु इन सबों को बनाया। उसने जो २ कुछ उत्पन्न किया उस २ को खाने को मना किया। जिस हेतु निश्चय वह सब खाता है अतः उसका नाम "अदिति" है। वही "अदिति" का अदितित्व है। जो उपासक इस प्रकार "अदिति" के इस "अदितित्व" को अच्छे प्रकार जानता है वह इस सब का अत्ता होता है। इसका सब अन्न होता है ॥५॥

पदार्थ—बुभुक्षित पुरुष भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं करता है। माता अपने पुत्र को भी खा जाती है और पुत्र माता को खा जाता है, इसके उदाहरण प्रकृति में बहुत पाये जाते हैं। पहले कह आये हैं। कर्कटकी (केंकड़ी) के बच्चे अपनी माता के मांस को बिलकुल खा जाते हैं। कुतियां अपने बच्चे को खाती हुई देखी गई हैं। आपत्ति में मनुष्य भी अपने बच्चे को खाते हुए देखे गये हैं। वृश्चिक आदि बहुतसे जन्तु ऐसे हैं कि अपने बच्चे को खालेते हैं। इस आश्चर्य को दिखलाते हुए वेदों की और वेद जाननेहारे मनुष्य की तथा कर्मों और मनुष्य के सहचारी पशुओं की उत्पत्ति का वर्णन आगे करते हैं। जब क्षेत्र में कुछ फल आने लगते हैं। तब बुभुक्षित कृषीवल उनको खाना चाहते हैं परन्तु यह विचार करके कि ये फल यदि पुष्ट होकर पकेंगे तो इनसे अधिक लाभ उठावेंगे, उनको नहीं खाते हैं अन्य प्रकार से तब तक दिन काटते हुए पाकावस्था तक क्षेत्रफल की अपेक्षा करते रहते हैं। इसी प्रकार मानो ईश्वरीय लीला है। देखो सृष्टिरूप खेत लगाता है। बीच २ में भी पके हुए को खाता रहता है। प्रलयान्त में सब को संहार कर जाता है (सः+ऐक्षत) उस मृत्युवाची ईश्वर ने देखा कि (वै) निश्चय (यदि) यदि (इमम्) इस उत्पन्न कुमार को (अर्थात् वाणी सहित जो प्रथम सृष्टि हुई मानो वही एक अभिनवोत्पन्न बालक है) (अभिमंस्ये) हिंसा करूंगा अर्थात् मारकर खाऊंगा तो मैं अपने भोजन के लिये (कनीयः) बहुत थोड़ा (अन्नम्) अन्न (करिष्ये) करूंगा। अपाकावस्था में गृहस्थ लोग यदि गेहूं आदि अन्न काटकर खायं तो बहुत किञ्चित् अन्न होगा तद्वत् (इति) यह विचार कर मानो उस कुमार को ईश्वर ने नष्ट नहीं किया। तब आगे क्या किया सो कहते हैं—उससे भी उत्तम खेत लगाना वह यह है (सः) उस मृत्युवाच्य ईश्वर ने (तया+वाचा) उस प्रशस्त वाणी के

साथ (तेन+आत्मना) और उस प्रयत्न के साथ (इदम्+सर्वम्) इस सब को (असृजत) उत्पन्न किया (यद्+इदम्+किञ्च) जो यह कुछ मनुष्यादि जाति देख पड़ती है विशेष २ का नाम गिनाते हैं। मनुष्यों के लिये (ऋचः) ऋग्लक्षणयुक्त, (यजूंषि) यजुर्लक्षणयुक्त, (सामानि) सामलक्षणयुक्त इन तीनों लक्षणों से संयुक्त चारों वेदों को, (छन्दांसि) गायत्री आदि छन्दों को अर्थात् वेदविहित सकल गायत्री आदि छन्दों को तथा (यज्ञान्) वेदविहित सकल शुभ-कर्म्म को (प्रजाः) वेद पढ़ने हारे तथा कर्म करनेहारे मनुष्यों को (पशून्) मनुष्यों के साथ रहनेहारे गौ आदि पशुओं को बनाया (सः) उसने (यद्+यद्+एव) जिस २ को ही (असृजत) उत्पन्न किया (तत्+तत्) उस २ सब वस्तु को (अत्तुम्) खाने के लिये (अध्रियत) विचार किया। इसी हेतु परमेश्वर का एक नाम "अदिति" है। जो सब खाय उसे अदिति कहते हैं। वह परमेश्वर (सर्वम्+वै+अत्ति) सब कुछ खाता है (इति) इस हेतु वह "अदितिः" कहलाता है (तत्) वही (अदितेः+अदितित्वम्) अदिति का "अदितित्व" है। आगे इस उपासना का फल कहते हैं—(यः) जो कोई तत्त्ववित् पुरुष (एवम्) इस प्रकार से (अदितेः) अदिति के (एतत्+अदितित्वम्) इस अदितित्व को (वेद) जानता है अर्थात् भगवान् का नाम "अदिति" क्योंकर हुआ इस तत्त्व को जो कोई जानता है वह (सर्वस्य+एतस्य) इन सब वस्तुओं का (अत्ता) भोक्ता होता है और (अस्य) इस तत्त्ववित् पुरुष का (सर्वम्+अन्नम्+भवति) सब ही अन्न भोग्य होता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स इति। बुभुक्षितः खलु भक्ष्याभक्ष्यं न विचारयति स्वपुत्रमपि खादति माता पुत्रो मातरम्। अत्र सन्त्युदाहरणानि प्राकृते दृश्ये। कर्कटिकीशावकाः स्वमातरं खादन्ति। स्वार्भकं खादन्त्यः शुन्यो दृष्टा। आपदि मनुष्या अपि स्वापत्यानि खादन्तो दृष्टाः वृश्चिकादयः सन्त्यनेकशो जन्तवो ये निजान् पृथुकान् खादन्ति। इदमाश्चर्यं दृश्यं दर्शयन् वेदानां तदुपलक्ष्याणां मनुष्यकर्मणां तत्सहचराणां पशूनाञ्चोत्पत्तिं कथयति। यथा बुभुक्षितः क्षेत्राजीवः कश्चित् क्षेत्रे किञ्चिदुद्गतानि फलान्यवलोक्यापक्वान्येव भक्षयितुमीहते। परं परिपक्वैरेतैः फलाधिक्यं बहुकालार्थं लप्स्यामह इति भूयो भूयो विचार्य्य तावत् कथमपि दिनानि निर्वाहयन्तः फलपरिपक्वावस्थामपेक्षन्ते। एवमेवेश्वरस्यापि व्यापार इति मन्ये। उत्पाद्योत्पाद्य परिपक्वे जगति कल्पान्ते कल्पान्ते उदरपूरणाय संहरतीत्याश्चर्यम्। कथमिव स बुभुक्षित इत्येतदीश्वरव्यापारपूर्वकं वर्णनमिदम्। स मृत्युरशनायावान् ऐक्षतेक्षणं कृतवान्। इमं संवत्सरं सम्वत्सरोपलक्षितमिदानीमेव जातं वाणीविशिष्टं प्राणिसमूहरूपं कुमारं यद्यहम्। वै अभिमंस्ये हिंसिष्ये। तर्हि कनीयोऽन्नं करिष्ये स्वभोजनाय किञ्चिदेवान्नमुत्पादयिष्यामि अत्यन्तक्षुधितस्य ममेदं पर्य्याप्तं न भविष्यति अत इदानीमयं न हिंसितव्य इति विचार्य्य। स तया वाचा ज्ञानलक्षणया वाण्या अथवा व्यक्ताव्यक्तया वाण्या तथा तेनात्मना तेन प्रयत्नेन सहैव। पश्चाद् इदं सर्वं वाणीसहितं प्रयत्नसहितञ्च यत् किमपि मनुष्यादिप्राणिजातमुत्पाद्यमासीत् तत्सर्वं असृजत प्रकाशयामास। अत्र विशेषाणां नामानि गणयन् ब्रह्मणोऽदृत्वं दर्शयति। ऋचः ऋग्लक्षणान् वेदान्। यजूंषि यजुर्लक्षणान्। सामानि सामलक्षणान्। छन्दांसि वेदविहितानि गायत्र्यादीनि यज्ञान्। मनुष्यसंपाद्यानि अग्निष्टोमादीनि कर्माणि प्रजाः कर्म्मणां कर्त्तॄन् मनुष्यान्। पशून् तत्सहायकान् गोमहिषादीन् पशून् असृजतेति शेषः स यद्यदेव असृजत। तत्तत्सर्वं वस्तु अत्तुं भक्षयितुमध्रियत तत्तत्सर्वं भक्षयितुं मनोधृतवान्।

यतो मृत्युः सर्वान् जन्तून् मरणधर्म्मणोविहितवानित्यतः । यथा परिपक्कं गृहस्थोऽन्नं लुनाति ब्रह्मणः सर्वभक्षयितृत्वं दर्शयति । यतः सर्वं वस्तु । वै निश्चयेन । अत्ति भक्षयति । अतः अदितिर्निगद्यते । तदिदमेव-अदितेरदितित्वम् । फलं ब्रूते । यः कश्चिदुपासकस्तत्त्ववित्पुरुषः । एवमनेन प्रकारेण । अदितेरेतददितित्वं वेद सम्यग् जानाति । सोऽपि पुरुषः । सर्वस्यैतस्य वस्तुनः । अत्ता भक्षयिता भवति । अस्योपासकस्य सर्वमन्नं भोग्यमेव भवति । स सर्वपदार्थस्य तत्त्वं विदित्वा भक्ष्या-भक्ष्यस्यविवेकं लभते । यद्वा सर्वपदार्थतत्त्वज्ञानात् सर्वेभ्यः । स्वाभीष्टं गृहीतुं शक्नोति । इदमेव भोक्तृत्वम् । नह्रीश्वरवदयमुपासकः प्रस्तरसूर्यादिभक्षणेऽपि समर्थः । अतोऽत्रपक्षे सर्वशब्दः योग्यतापरको व्याख्येयः ॥ ५ ॥

भाष्याशय—अदिति शब्द की यद्यपि अनेक व्युत्पत्तियां हैं । तथापि यहां केवल "अद् भक्षणे" (खाना) धातु से इस शब्द की सिद्धि मानी गई है । ईश्वर सब को संहार करता है अतः वह "अदिति" कहलाता है यहां यह एक शङ्का होती है कि जो इस तत्त्व को जानता है वह भी सब का भक्षक होता है मूल में ऐसा कहा है और "विद्" धातु का प्रयोग प्रायः मनुष्य में ही होता है क्योंकि जानने की शक्ति मनुष्य में है । इस हेतु यह फल मनुष्य के लिये कहा गया है पश्वादियों के लिए नहीं । तब क्या जो तत्त्वविद् हो वह पशु प्रभृतियों को भी खाया करे यह इसका भाव है वा कुछ अन्य ? समाधान—यहां दो बातों पर ध्यान देना चाहिये । ईश्वर सब को खाता है अर्थात् संहार करता है । इस हेतु वह सर्वभक्षक है । इस हेतु उसके उपासक को भी सर्वभक्षक होना चाहिये, यहां यदि उपासक के पक्ष में ईश्वरपक्षवत् "सर्व" शब्द का अर्थ यावत्-सर्व-पदार्थ लिये जायं तो यह घट नहीं सकता है क्या तत्त्वविद् उपासक पृथिवी पर्वत वृक्ष सूर्य अग्नि आदि को भी ईश्वरवत् खा सकता है ? कदापि नहीं । इस हेतु सर्व शब्द का अर्थ "योग्यतापरक" है । जिस २ पदार्थ के खाने में मनुष्य की योग्यता है उसको खा सकता है । यह इसका गौण तात्पर्य है, मुख्य तात्पर्य यह है कि उपासक अर्थ में अत्ता शब्द का अर्थ "भोक्ता" है । अनेक प्रकार से पदार्थों का भोग होता है । मेघ के सौन्दर्य को देखकर जो चित्त प्रसन्न होता वह भी एक भोग है, मधुरध्वनि सुन जो कर्ण तृप्त होता है वह भी भोग है, पुत्रादि प्रिय वस्तु को देख जो आनन्द प्राप्त होता है वह भी भोग है । इस प्रकार यावत् पदार्थ के अनुभव का नाम भोग है । विद्वान् लोग, इसमें सन्देह नहीं, ईश्वरीय बहुत वस्तुओं के तत्त्व को अनुभव करते हैं, उनसे आनन्द उठाते हैं, जैसे अर्थ जाननेहारे को पाणिनि व्याकरण वा भास्करीय-ज्योतिःशास्त्र पाठ करने से जितना आनन्द प्राप्त होगा उसके लक्षांश भी अर्थानभिज्ञ पाठ करते हुए पुरुषों को नहीं मिलेगा यह प्रत्यक्ष विषय है । इसी प्रकार तत्त्वविद् पुरुष को पृथिवी आदि पदार्थों को देखने से जो एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है वह कदापि अतत्त्ववित् पुरुष को नहीं और यथार्थ में ईश्वरीय पदार्थ का ज्ञान होना यह सब भोगों में सर्वश्रेष्ठ भोग है । विद्वान् लोग इस भोग को महाभोग मानते हैं इससे जीवात्मा पुष्ट होता और अन्नादिक से केवल क्षणभंगुर शरीरमात्र पुष्ट होता है । अतः विद्वान् को सब का अत्ता (भोक्ता) कहा है न कि पशु आदि मारकर खाने से तात्पर्य है ॥ ५ ॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्य्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्य्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६ ॥

अनुवाद—उसने ईक्षण किया कि मैं पुनरपि बहुत यज्ञ से यजन करूं। मानो इस कार्य्य के लिये उसने प्रयत्नरूप श्रम और ज्ञानरूप तप किया उसको श्रान्त और तप्त होने पर यश और वीर्य्य उन्नति को प्राप्त हो सर्वत्र विस्तीर्ण हुआ। निश्चय, प्राण (प्राणी) ही यशोवीर्य हैं इन प्राणों को उन्नत हो सर्वत्र प्रकीर्ण होने पर पृथिव्यादि-लोक-स्वरूप शरीर जीवों की शोभा से बढ़ना आरम्भ हुआ उस मृत्यु का मन पृथिव्यादिस्वरूप शरीर में था ॥ ६ ॥

पदार्थ—जैसे यहां विधिवत् शुभकर्म्मों के अनुष्ठान से ही कीर्ति और ब्रह्मचर्य्य व्यायामादि के रक्षण से बल शनैः २ सञ्चय करता है उससे यशस्वी तेजस्वी और बलवान् होता है। मानो, ईश्वर भी वैसे ही सृष्टि-रचनारूप महाकर्म्म को करके ही यशस्वी और वीर्यवान् हुआ अन्यथा कौन किस उपाय से उसको जान सकता, उसका यश और वीर्य्य कैसे लोगों को मालूम होता इस हेतु विविध प्रकार की सम्पूर्ण सृष्टि बना वह निरपेक्ष और उदासीन हो किसी गह्वर में नहीं सो गया किन्तु अद्यावधि विविधलीला दिखला रहा है। यदि वह आज भी कर्म करता ही हुआ अनुमित होता है तब क्यों नहीं ये जीव प्रयत्न लक्षण कर्म में प्रतिक्षण सन्नद्ध रहते, इसी अर्थ को दिखलाते हुए इस संसार के "अश्व" और "अश्वमेध" कैसे नाम हुए इसको कहते हुए सृष्टि की परिपूर्णता का वर्णन करते हैं। यह सृष्टिरचना भी एक महायज्ञ है इस सृष्टि में समान कल्प, मानो एक २ यज्ञ है। ये प्रधानतया चार हैं। १—पृथिवी आदि जड़ वस्तु की उत्पादनरूप प्रथम यज्ञ, २—उनमें भी उद्भिज्ज से लेकर क्षुद्र जन्तु की उत्पत्ति तक द्वितीय यज्ञ, ३—वानर तक पशुओं की उत्पत्ति तृतीय यज्ञ, ४—मनुष्योत्पत्ति चतुर्थ यज्ञ, इसके अवान्तर यज्ञ-भेद तो बहुत होवेंगे, वर्णन सौकर्य्यार्थ ये चार कहे गये हैं, ये चार यज्ञ ईश्वर से पहले ही विहित हुए। अब पञ्चम यज्ञ का आरम्भ करते हैं। पञ्चम यज्ञ कौन है ? उत्पादित का पालन करना ही पञ्चम यज्ञ है जैसे खेतों में शस्यों के उत्पन्न होने पर भी यदि क्षुद्र घासें न उत्पाटित होवें तो शस्य की सम्पन्नता न होगी वैसे ही स्वभाव से ही उत्पन्न होनेहारे विघ्नों को यदि ईश्वर दूर न करे तो इस जगत् की स्थिति नहीं हो सकती इस हेतु मूल में कहा है कि (सः+अकामयत) उस मृत्युनामधारी ईश्वर ने कामना की कि (भूयसा) बहुत (यज्ञेन) प्रयत्नरूप यज्ञ से (भूयः) फिर भी (यजेय) यज्ञ करूं (इति) ऐसी कामना की। केवल कामना से कुछ नहीं होता "प्रयत्नेन हि सिद्ध्यन्ति कार्य्याणि न मनोरथैः" इस हेतु आगे कहते हैं कि (सः+अश्राम्यत् मानो) उसने परिश्रम किया और (तपः+अतप्यत्) ज्ञानरूप तपस्या की, यहां मनुष्य की कर्तव्यता दिखलाने के हेतु "श्रम" और "तप" कहे गये हैं। मनुष्य को उचित है कि जब किसी कार्य्य को करने के लिये स्थिर करले तब पूरा परिश्रम और उसके लिये विविध व्रत धारण करे, तपस्या के विना कोई कार्य्य सिद्ध नहीं होता। तब (तस्य+श्रान्तस्य) उसके परिश्रम और (तप्तस्य) ज्ञानरूप तपस्या करने पर मानो (यशः+वीर्य्यम्) यशोवीर्य (उदक्रामत्) उन्नति को प्राप्त होने लगा "यशोवीर्य्य" इतने शब्द का क्या अर्थ है इसको स्वयं ऋषि कहते हैं—(प्राणाः+वै+यशोवीर्य्यम्) निश्चय प्राण ही यशोवीर्य्य है। प्राण=इन्द्रिय=अर्थात् इन्द्रियुक्त प्राणी से यहां तात्पर्य्य है जब तक इन्द्रिय न होवे तब तक "प्राणी" नहीं कहलाता प्रस्तरादिक में भोग करने के इन्द्रिय नहीं हैं, अतः वे प्राणी नहीं। वृक्षादिकों में भी भोग के इन्द्रिय विस्पष्ट नहीं प्रतीत होते अतः वे भी प्राणी नहीं कहलाते जिनमें विस्पष्ट इन्द्रियशक्ति है वे प्राणी हैं और इन्द्रिय केवल पृथक् भी नहीं रह सकते जहां इन्द्रिय वहां इन्द्रियवान् जीव होगा इस हेतु यहां प्राण (इन्द्रिय) शब्द से प्राणवत् प्राणियों का ग्रहण है (तत्प्राणेषु+उत्क्रान्तेषु) उन प्राणियों को उन्नत हो सर्वत्र फैलने पर (शरीरम्) पृथिव्यादि लोकरूप शरीर

(श्वयितुम्+अध्रियत) बढ़ना आरम्भ हुआ (तस्य) उस ईश्वर का (मनः) मन (शरीर+एव) पृथिवी आदि लोकरूप शरीर में ही (आसीत्) लगा रहा है । इसका भाव यह है कि ईश्वर के प्रयत्न से मानो जब सृष्टि में क्षुद्र जन्तु से लेकर मनुष्य पर्यन्त की उत्पत्ति हुई तब इस पृथिव्यादि लोक की शोभा बहुत बढ़ने लगी इस हेतु मूल में कहा है कि (शरीरम्+श्वयितुम्+अध्रियत) शरीर शब्द से यहां पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश का ग्रहण है । इन ही पञ्चभूतों से जीवों का शरीर बना हुआ है । पृथिवी, चन्द्र, नक्षत्र आदि जितने लोक लोकान्तर हैं वे सब जीवों के एक समष्टि शरीर हैं क्योंकि यदि शरीर के अतिरिक्त ये पृथिवी, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थ न होवें तो क्या यह क्षुद्र शरीर रह सकता है ? कदापि नहीं । इस हेतु सब जीवों का पृथिवी आदि एक ही महाशरीर है और दूसरा प्रत्येक जीव का एक २ निज क्षुद्रशरीर है इस हेतु "शरीर" शब्द से पृथिव्यादि लोक अपेक्षित हैं । जब प्राणियों की उन्नति इस पृथिवी पर हुई तब मानो यह पृथिवीरूप शरीर (श्वयितुम्+अध्रियत) बढ़ना आरम्भ हुआ । यद्यपि पृथिवी पहिले ही बढ़ी हुई थी अब शोभा करके इसकी वृद्धि हुई । जैसे अलङ्कारों से युवती की वृद्धि होती है । अब जब चारों तरफ पृथिवी के ऊपर जीव फैल गये तो मानो ईश्वर को बड़ी चिन्ता लगी कि ये जीव अन्न खानेहारे बनाये हैं । अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं । अतः पृथिवी आदि के ही आधीन इनका जीवन है । यदि ये पृथिवी आदि समष्टि शरीर उचितरूप से स्थिर न हुए वा न बनें तो ये जीव, जो मेरे पूर्ण भोजन हैं, नष्ट होजायंगे, इस हेतु जीव के फैलने पर ईश्वर का मन पृथिवी आदि समष्टि शरीर के ऊपर ही लगा रहा । अतः "तस्य शरीर एव मन आसीद्" यह मूल में कहा है जैसे फल लगने पर कृषकों का मन खेत में ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—यथेह लोकाः शुभानि कर्माणि विधिवदनुष्ठानायैव कीर्तिं, ब्रह्मचर्य्यं, व्यायामादिपालनेन बलञ्च शनैः शनैः संचिन्वन्ति यशस्विनस्तेजस्विनो बलवन्तश्च तेन भवन्तीति मन्ये । एवमेवेश्वरोऽपि सृष्टिरचनारूपं महत्कर्म्मविधायैव यशस्वी वीर्यवान् बभूव अन्यथा कः खलु केनोपायेन तं विद्यात् । अतो विसृष्टिं सर्वां सृष्ट्वा नायमीश्वरो निरपेक्ष उदासीनश्च भूत्वा क्वचिद् गह्वरे शिश्ये परमिदानीमपि विविधां लीलां दर्शयन्नेवास्ते । यदि च स इदानीमपि कर्म कुर्वन्नेवानुमीयते तर्हि कथं न जीवाः प्रयत्नलक्षणे कर्मणि प्रतिक्षणं सन्नद्धास्तिष्ठेयुरित्येवमर्थं दर्शयन् संसारस्याश्वाश्वमेध नाम्नोः कारणञ्च निर्ब्रुवन् सृष्टेः परिपूर्णतां विवृणोति सोऽकामयतेति । स मृत्युरशनायावान् परमेश्वरः । अकामयतैच्छत । भूयसा बहुलेन । यज्ञेन प्रयत्नलक्षणेन कर्मणा । भूयः पुनरपि । यजेय इति । पृथिव्यादिजडवस्तूत्पादनस्वरूप एको यज्ञः, तन्नोद्भिज्जादिक्षुद्रजन्तूत्पादो द्वितीयः, वानरान्तपशुजन्मा तृतीयः, मनुष्योत्पत्तिश्चतुर्थो यज्ञः । एतेषामवान्तरयज्ञभेदा बहवो भविष्यन्ति, इमे चत्वारस्तावद् वर्णनसौकर्य्यार्थमुक्ताः । इमे चत्वारो यज्ञास्त्वीश्वरेण पूर्वं विहिताः सम्प्रति पञ्चमो यज्ञ उपक्रम्यते । कोऽयं पञ्चमो यज्ञः ? उत्पादितस्य पालनम् । यथोत्पन्नेष्वपि शस्येषु यदि क्षुद्रघासा नोत्पाट्येरन् न तर्हि शस्यसम्पन्नता तथैव यदि निसर्गत एवोत्पत्स्यमानान् विघ्नान् न निराकुर्य्यात्तर्ह्यस्य दुःस्थितिरेव अतो मूले भूयो यज्ञकरणं विहितम् । सोऽश्राम्यत् । यशो वीर्य्यमुदक्रामत् यशोवीर्ययोरर्थं स्वयमेवाभिधत्ते प्राणा वै यशोवीर्यम् प्राणाः प्राणिनः प्राणवन्तोजीवाः । विशेषतया ब्रह्मणो यशोवीर्यं प्राणवन्तो जीवा एव दर्शयन्ति अतस्ते यशोवीर्य्यशब्दाभ्यामभिधीयन्ते । ते प्राणिनः शनैः शनैः सर्वेषु लोकेषु पृथिवीप्रभृतिषु उदक्रामन् उन्नतिं प्राप्य प्रकीर्णा

बभूवुः। उच्छ्वय उत्पत्तिद्योतकः तत्प्राणेषु उत्क्रान्तेषु सर्वत्र उत्पत्तिं प्राप्य प्रकीर्णेषु सत्सु। शरीरं पृथिव्यादिलोकस्वरूपं शरीरम्। श्वयितुं प्राणिनां शोभया वर्द्धितुम् अध्रियत प्रारभत। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। तस्य मृत्योः परमात्मनः। शरीरे पृथिव्यादिस्वरूप एव मन आसीत् तदधीनत्वाज्जीवनं प्राणिनाम्। जीवास्तु सर्वत्र प्रकीर्णाः सम्प्रति यदधीनमेतेषां पोषणं ते पृथिव्यादि लोकाः सम्यग् रक्षणीया इति हेतोस्तस्य शरीर एव मन आसीदित्युक्तम् ॥ ६ ॥

सोऽकामयत मेध्यं म इदं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुद्ध्येवामन्यत। तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत॥ पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् ॥ तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते ॥ ७ ॥ (क)

अनुवाद—मेरा उत्पन्न किया हुआ जीवों का शरीरभूत यह पृथिव्यादि लोक पवित्र वा अच्छे प्रकार जानने योग्य होवे इस हेतु इसके साथ मैं प्रयत्नवान् होऊं ऐसी कामना मृत्यु (ईश्वर) ने की इस कामना के अनन्तर यह अश्व (जगत्) पवित्र हुआ अथवा सब अश्व हुआ अर्थात् यह संसार यथार्थरूप से सर्वगुण सम्पन्न हो गया। जिस हेतु प्राणियों की शोभा से और ईश्वर के प्रयत्न से यह बहुत वृद्धि को प्राप्त हुआ इस हेतु इस संसार का नाम "अश्व" हुआ। इसी हेतु यह "मेध्य" भी हुआ। यही "अश्वमेध" का "अश्वमेधत्व" है। जो अश्ववाच्य इस संसार को इस प्रकार जानता है निश्चय वही "अश्वमेध" को जानता है उस संसार को परमेश्वर ने निराधार ही रक्खा एक वर्ष के अनन्तर इस (संसार) को अपने लिये यज्ञ के समान काटता है। विद्वानों को उसने विज्ञानरूप भोजन दिये इसी हेतु वैज्ञानिक लोग सर्वदेवत्य प्रोक्षित और इस प्राजापत्य संसार को अपने काम में लाते हैं॥ (क)

पदार्थ—(सः+अकामयत) उस ईश्वर ने कामना की। कौनसी कामना की? सो आगे कहते हैं—(मे) मेरा अर्थात् मुझ से उत्पन्न किया हुआ (इदम्) पृथिवी आदि लोकरूप जो जीवों का समष्टि शरीर है वह (मेध्यम्+स्यात्) पवित्र होवे अथवा अच्छे प्रकार जानने योग्य होवे, इस हेतु (अनेन) इस पृथिव्यादि-स्वरूप शरीर के साथ (आत्मन्वी+स्याम्+इति) प्रयत्नवान् होऊं ऐसी कामना ईश्वर ने की। आत्मा=प्रयत्न। यहां आत्मा शब्द का प्रयत्न अर्थ है यह कई एक स्थलों में कहा गया। जब ईश्वर ने ऐसा सङ्कल्प किया तब क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ततः+अश्वः+समभवत्) तब यह अश्व अर्थात् संसार हुआ सृष्टि का होना तो प्रथम ही कह चुके अब यह क्या? प्रथम की अपेक्षा से ईश्वर सङ्कल्प द्वारा अब यह ब्रह्माण्ड यथार्थरूप से सर्व गुणसम्पन्न हुआ यह इसका तात्पर्य है। अथवा (अश्वः+समभवत्) तब यह अश्व=संसार। मेध्य=पवित्र (समभवत्) हुआ। यहां मेध्य शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा क्योंकि ईश्वर का सङ्कल्प है कि "यह मेध्य" होवे सो यदि यह "मेध्य" न होवे तो निःसन्देह ईश्वर का सङ्कल्प नष्ट होगा इस हेतु ईश्वर के सङ्कल्प के अनुरोध से यह संसार मेध्य=पवित्र हुआ यह अर्थ करना पड़ेगा। प्रसङ्गवश "अश्व" शब्द की व्युत्पत्ति भी स्वयं ऋषि कहते हैं (यद्) जिस हेतु (अश्वद्) प्राणियों की उत्पत्ति से और ईश्वर के प्रयत्न से यह बहुत बढ़ गया इस हेतु इसको "अश्व" कहते हैं। "श्वि" धातु का अर्थ गति और बढ़ना है इसी से "अश्व" बनाया ऐसा इसका अभिप्राय है (तत्+मेध्यम्+अभूत्) जिस हेतु ईश्वर के प्रयत्न से बढ़ा इस हेतु यह

संसार पवित्र वा जानने योग्य भी हुआ (तद् एव) वही (अश्वमेधस्य+अश्वमेधत्वम्) अश्वमेध का अश्वमेधत्व है । अश्व=संसार । मेध=पवित्रता । संसार की पवित्रता । यद्वा अश्व=संसार । मेध=संगमन-संज्ञान । संसार का परमज्ञान । यद्वा अश्व=संसार । मेध=संगम । सृष्टि के साथ ईश्वर का संगम अथवा पवित्र संसार इत्यादि भाव जानना, इस उपासना का फल कहते हैं—(यः) जो तत्त्ववित् उपासक (एतद्) इस अश्ववाच्य संसार को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है (वै) निश्चय (एषः) वही (अश्वमेधम्) अश्वमेध को (वेद) जानता है । इस संसार को किस आधार पर रक्खा सो कहते हैं (तम्) इस संसाररूप अश्व को (अनवरुध्य+इव+अमन्यत) न बांध करके ही माना अर्थात् इसको किसी रस्सी से किसी में नहीं बांधा, भाव यह है कि निराधार ही इसको छोड़ रक्खा, इस शब्द से यह प्रतीत होता है कि सर्वथा यह निराधार नहीं किन्तु सम्पूर्ण का एक आधार ईश्वर ही है । प्रथम कहा गया है कि अति बुभुक्षित मृत्यु ने इसको अपनी जीविका के लिये रचा तब यह भी कहना उचित है कि इसको वह कब काटता है । अर्थात् इसका प्रलय होता या नहीं, इस आशङ्का पर आगे कहते हैं—(तम्) उस संसार को (संवत्सरस्य) एक कल्प के (परस्तात्) पीछे (आत्मने) अपने लिये (आलभत) ग्रहण कर लेता है अर्थात् इसका संहार कर लेता है । क्या वह अपने जनों वा भक्तों को भी कुछ देता या नहीं इस पर कहते हैं कि (देवताभ्यः) इन्द्रियरूप देवताओं के लिये (पशून्) सर्व प्राणी (प्रत्यौहत्) समर्पण किया (तस्मात्) इसी हेतु (सर्वदेवत्यम्) जिसमें सब सूर्य आदि देव हों अथवा सब इन्द्रियों के हितकर (प्रोक्षितम्) उपवनादि के समान स्वयं ईश्वर से सिक्त अर्थात् लगाया हुआ (प्राजापत्यम्) प्रजापति=ईश्वर की संतान समान जो यह संसार उसको (आलभन्ते) अपने २ लिये यथा भाग ग्रहण करते हैं ॥ ७ ॥ (क)

भाष्यम्—स इति । मे ममोत्पादितमिदं पृथिव्यादि लोकस्वरूपं जीवानां शरीरम् । मेध्यं संगमनीयं सम्यग् ज्ञातव्यं पवित्रम्वा स्याद्भवेत् । "पूतं पवित्रं मेध्यञ्चेत्यमरः" । तन्मम प्रयत्नेन विना न भविष्यतीति अहमनेन सह । आत्मन्वी प्रयत्नवान् । स्यां भवेयम् । इति स परमेश्वरोऽकामयत । ततोऽस्य कामनानन्तरम् । ईश्वरप्रयत्नेन सम्पूर्णं जगदिदम् । अश्वः समभवत् । अश्वः संसारः यथार्थरूपेण सर्वगुणसम्पन्नः संसारोऽभूत् पूर्वापेक्षयेत्यर्थः । यद्वा अश्वः संसारः मेध्योऽभूदीश्वरसंकल्पेन अत्र मेध्यशब्दोऽध्याहार्य ईश्वरसंकल्पानुरोधात् । ईश्वरसंकल्पस्तु अयं मेध्यः स्यादिति । स यदि मेध्यो न भवेत्तर्हि सङ्कल्पहानिः । प्रसङ्गात् स्वयमेव अश्वशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति । यद्यस्मात्कारणात् प्राणिनां शोभया ईश्वरसंगमेनायं संसारः । अश्वदश्वयद् अवर्धिष्ट परमवृद्धिंगतः । अतः सोऽश्वो निगद्यते । तत्तस्मादेवकारणाद् । मेध्यं पवित्रं संगमनीयम्वा अभूद् । तदिदमेव—अश्वमेधस्याश्वमेधत्वं विज्ञातव्यम् । अधुनोपासनफलं कथयति । यो हि उपासकः । एनं जगद्रूपमश्वम् । एवमुपनिषदुक्तिप्रकारेण । वेद सम्यग् जानाति । एष ह वै स एवैष पुरुषः । अश्वमेधं वेद हेति प्रसिद्धम् । नेतरेणोपायेनाश्वमेधस्य वेत्तृत्वं संभवति । इमां सम्पूर्णां विसृष्टिं विरचय्य कस्मिन्नाधारे स्थापयामासेत्याकाङ्क्षायामाह—तमनवरुध्य इति । तं जगद्रूपमश्वम् । अनवरुध्यैव अबद्ध्वैव कस्मिँश्चिदाधारे अस्थापयित्वैव । अमन्यतेश्वरः कस्यचिदाधारस्योपर्य्यस्य स्थापनमुचितं न मेने । उच्छृङ्खलं तुरंगमिवेमं जगद्रूपमश्वं कृतवान् परमेश्वरः । अशनायावान् मृत्युः खलु स्वभोजनायेदं जगत्सृजति कृषीवलः क्षेत्रमिवेत्युक्तं पुरस्तात् । तत् कदा परिपक्वमिदं

लुनातीत्यपि वक्तव्यमित्यत आह—इह संवत्सरशब्द एकप्रलयवाचीति दर्शितं पुरस्तात्। सम्वत्सरस्य एकप्रलयस्य परस्तादूर्ध्वम्। तं जगद्रूपमश्वम्। आत्मने आत्मार्थं स्वोदरपरिपूरणायेव। आलभत आलम्भनं कृतवान् आत्मसात् कृतवानित्यर्थः। कल्पे कल्पे जगदिदं स्वात्मपोषायेव संहरतीति मन्ये। अन्येभ्यः स्वजनेभ्यो भक्तेभ्यो वा स किमपि ददाति नवेति शङ्कायामाह—पशूनिति। देवताभ्य इन्द्रियेभ्यः पशून् सर्वान् पशून्। प्रत्यौहत् प्रायच्छत्। ऐतरेयोपनिषद्वाक्यैः प्रदर्शितमिदं यत् सृष्टाभ्यो देवताभ्यो गवादीन् पशूननयत्। ततोऽतृप्तास्ता मनुष्यमवलोक्य सन्तुष्टाः बभूवुः। एतेन पशवोभोगायेति वदति। अथवा देवताभ्यो विद्वद्भ्यः "विद्वांसो वै देवा" इति प्रसिद्धम्। पशून् छन्दांसि वेदज्ञानानि प्रत्यौहत् प्रायच्छत् समर्पितवान्। एतैश्छन्दोभिरेव स्वजीविकां यूयं कुरुतेत्याशयः। छन्दोऽर्थे प्रमाणम्—पशवो वै देवानां छन्दांसि। तद्यथेदं पशवोयुक्ता मनुष्येभ्यो वहन्त्येवं छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति तद्यत्र छन्दांसि देवाः समतर्पयन्। तदतस्तत्प्रागभूद् यच्छन्दांसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेतान् समतीतृपन्॥ शत० कां० ४। ४। ५। १॥ यस्मात् सर्वासां प्रजानां पतिर्भगवान् मृत्युः कल्पे कल्पे सर्वं संहरति तस्मादेव कारणादिदानीमपि तत्त्वविदोवैज्ञानिका इमं प्राजापत्यं प्रजापतेः परमेश्वरस्य अपत्यभूतमिमश्वामिधेयम्। संसारं आलभन्ते उपयुञ्जन्ति स्वनिर्वाहाय जगत्पदार्थान् आददत इत्यर्थः॥ ७॥ (क)

भाष्याशय—मेध्यम्—पूत, पवित्र और मेध्य ये तीन नाम पवित्र के हैं॥ ईश्वर ने चाहा कि यह जगत् पवित्र होवे इस हेतु यह पवित्र हुआ। इसी हेतु "अश्वमेध" ऐसा भी नाम इस संसार का है। मेध्य=पवित्र। अश्व=संसार। पवित्र जो संसार उसे "अश्वमेध" कहते हैं। यहां "मेध्याश्व" शब्द होना चाहिये परन्तु पाणिनि के "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" इस सूत्र के अनुसार "अश्वमेध" शब्द हो जाता है। इसके अनेक अर्थ हैं पदार्थ में देखो। देवता—देव और देवता एकार्थक हैं अर्थात् जो अर्थ देव शब्द का है वही अर्थ देवता शब्द का है। ऐसे २ स्थलों में देव वा देवता इन्द्रियों को कहते हैं यह बात प्रसिद्ध ही है। ऐतरेयोपनिषद् के उदाहरण से पूर्व में दिखला चुका हूं कि इन्द्रियों के लिये परमात्मा, प्रथम गौ आदि पशु ले आए उनसे इनकी तृप्ति न हुई पश्चात् मनुष्य को देख वे अति प्रसन्न हुए इत्यादि। देखो (पशून्+प्रत्यौहत्) उन इन्द्रियों के भोग के लिये पशु दिये गये अर्थात् पशुयोनि भोग के लिये हैं अथवा देव=विद्वान् और पशु=छन्द। इस शब्द के ऊपर कुछ विशेष वक्तव्य है। प्रकरणानुकूल अर्थ गौ, महिष, सिंह, व्याघ्रादिक हैं, परन्तु देवताओं के प्रकरण में इसका अन्य अर्थ भी होता। इसमें सब ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाण हैं। शतपथ—(वै) निश्चय ही (देवानाम्) देवताओं का (पशवः) पशु (छन्दांसि) छन्द है (तद्+यथा) और जैसे (इदम्) ये (पशवः) गौ, महिष, अज आदि पशु (युक्ताः) हल शकट आदि में युक्त होने पर (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के हित के लिये (वहन्ति) वहते हैं (एवम्) इसी प्रकार (छन्दांसि) छन्द—वेद=संसारज्ञान (युक्तानि) जब कर्म वा कार्य में प्रयुक्त होते हैं तब (देवेभ्यः) देवों अर्थात् विद्वानों को (यज्ञम्) कर्मजनित विविध द्रव्यों को पहुँचाते हैं (तद्+यत्र) उस हेतु (छन्दांसि) वेदों ने (देवान्) देवों को (समतर्पयत्) अच्छे प्रकार तृप्त किया। (अथ) और (देवाः) देवों ने (छन्दांसि) वेदों को (समतर्पयन्) तृप्त किया। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को तृप्त करनेहारे हुए। इसी हेतु ये छन्द (वेद) ही देवों के

पद्य हैं। यहां पर एक शङ्का यह होगी कि 'देव' और 'मनुष्य' ये दोनों पदों के आने से वे भिन्न प्रतीत होते हैं।

समाधान—द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यञ्चैवानृतञ्च सत्यमेव देवाः। अनृतं मनुष्याः। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति॥ शत० १।१।४॥

इस जगत् में दो वस्तुएं हैं तीसरी नहीं। सत्य और असत्य (अनृत) सत्य तो देव हैं और असत्य मनुष्य हैं वे मनुष्य जब असत्य से पृथक् हो सत्य को ही धारण करते हैं। वे ही तब मनुष्य से देव होते हैं। भाव यह है कि जब मनुष्य की गति सत्य की ओर होती है प्रत्येक वस्तु की सत्यता को समझना आरम्भ करता है तब उसी मनुष्य की संज्ञा देव होना आरम्भ होता है जब पूर्ण सत्यता आ जाती है तब वह पूर्ण देव बन जाता है। जैसे जिस समय से व्याकरण पढ़ना आरम्भ करता है उसी समय से "वैयाकरण" संज्ञा उसे मिल जाती है परन्तु व्याकरण पूर्ण होने पर ही पूर्ण वैयाकरण कहलाता है।

सर्वदेवत्यम्—यह संसार सब विज्ञानी पुरुषों का हित करने हारा है क्योंकि इसको जानकर ईश्वर की महिमा को जानते हैं तदनन्तर मुक्तिभागी होते हैं। प्रोक्षितम्—प्र+उक्षितम्। "उक्ष सेचने" उक्ष=सींचना। जो अच्छे प्रकार सिक्त (सींचा हुआ) हो उसे "प्रोक्षित" कहते हैं अर्थात् यह संसाररूप वाटिका साक्षात् ईश्वर से ही लगाया हुआ है। प्राजापत्यम्—प्रजा+पति। प्रजाओं का भरण पोषण करनेहारा ईश्वर ही है, उसका यह जगत् संतान के समान है अतः इसको "प्राजापत्य" कहते हैं॥ ७॥ (क)

एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ। सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्याऽऽत्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति॥७॥ (ख)

अनुवाद—यही अश्वमेध है जो यह (संसार) तप्त हो रहा है अर्थात् यह संसार ही अश्वमेध है। उसका एक प्रलय शरीर है। यह सब का जो नेता है वही अर्क है। उसके ये लोक प्रत्यक्षस्वरूप हैं या शरीर हैं। जो यह मृत्यु (परमेश्वर) है वही एक प्रधान देवता है। जो विज्ञानी उपासक इस प्रकार जानता है वह मृत्यु (मरण) को अच्छे प्रकार जीतलेता, इसको मृत्यु नहीं प्राप्त होता, मृत्यु इसका शरीर समान हो जाता। यह इन पृथिव्यादि देवताओं या विद्वानों के मध्य प्रधान होता है॥ ७॥

पदार्थ—अश्वमेध शब्द का अर्थ यहां प्रसंगवश स्वयं कर देते हैं जिससे लोगों को भ्रम न हो (एषः+वै) यही (अश्वमेधः) अश्वमेध है (यः+एषः+तपति) जो यह तप्त हो रहा है। ईश्वर की परम महिमा से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तप्त अर्थात् ऐश्वर्यवान् हो रहा है इसी का नाम अश्वमेध है अन्य कोई अश्वमेध नहीं। "तप ऐश्वर्ये" ऐश्वर्य अर्थ में तप धातु है (तस्य) उस अश्वमेध नामधारी संसार का (सम्वत्सरः) एक २ प्रलय (आत्मा) शरीर है। एक प्रलय तक ही यह संसार रहता है इस हेतु मानो यही इसका शरीर है जैसे हम लोगों का शरीर मानो शतवर्ष है क्योंकि उतने ही काल यह शरीर रहता, इसी प्रकार एक प्रलय मानो इस संसार का शरीर है (अयम्+अग्निः) संसाररूप स्वमहिमा से प्रत्यक्षवत् भासमान और सबका अग्रणी (आगे २ चलनेहारा) जो ईश्वर है वही (अर्कः) अर्क है सूर्यादिक अर्क नहीं। इस प्रकरण में अर्क शब्द से ईश्वर का ही ग्रहण है

अन्य का नहीं इस हेतु यह वर्णन किया गया है ईश्वर को अर्क्क क्यों कहते हैं ? सबका वह पूज्य है इस हेतु, यद्वा क=ब्रह्माण्ड उसको जो आदर करे । पूर्व में दिखलाया गया है कि ईश्वर इस ब्रह्माण्ड को बहुत आदर करता है । अथवा ब्रह्माण्ड ही पूजा करनेहारा है जिसको, इत्यादि कारण से ईश्वर का नाम अर्क्क है (तस्य) उस अर्क्कवाच्य परमात्मा के (इमे+लोकाः) पृथिवी आदि ये लोक (आत्मानः) प्रयत्न हैं अर्थात् ये जो कुछ पृथिवी आदि लोक दृश्य हैं वे ईश्वर के प्रयत्न कहलाते हैं क्योंकि उसके प्रयत्न से हुए हैं (तौ+एतौ+अर्काश्वमेधौ) वे ये दोनों अर्क्क=ईश्वर, अश्वमेध=संसार । जानने योग्य हैं । आगे दिखलाते हैं कि इस संसार में एक ईश्वर ही उपास्यदेव है (मृत्युः+एव) जो मृत्युपद वाच्य ईश्वर है (सा+एव+पुनः) वही (एका+देवता) एक=प्रधान उपास्यदेव है अन्य नहीं है । आगे फल कहते हैं—जो विज्ञानी उपासक इस मृत्यु को और इस मृत्यु के तेज को जानता है वह (मृत्युम्+पुनः) इस मृत्यु (मरण) को (अपजयति) जीत लेता है (एनम्) इस विज्ञानी को (मृत्युः) मरण (न+आप्नोति) नहीं प्राप्त होता है (अस्य) इस तत्त्ववित् पुरुष का (मृत्युः+आत्मा) मृत्यु शरीर होता है वह (एतासाम्+देवतानाम्) इन पृथिवी आदि देवों के मध्य अथवा विद्वानों के मध्य (एकः) प्रधान (भवति) होता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अश्वमेधशब्दस्यार्थं स्वयमेववक्ति—ह्वै निश्चयार्थकौ । एषोऽश्वमेधो य एषस्तपति । कस्तपति ? सम्पूर्णोऽयं संसारः । ईश्वरपरममहिम्नायं परमैश्वर्यवान् भवति । "तप ऐश्वर्ये वा" । छन्दसि सर्वे विधयो वैकल्पिकाः । तस्य संसारस्य । सम्वत्सर एकप्रलयावधिःकालः । आत्मा शरीरम्, तावत्कालस्थितिमत्त्वादित्यर्थः । अस्य जीवात्मनः शतवर्षशरीरवत् । संसाररूपस्वमहिम्ना प्रत्यक्षवद् भासमान अग्निरग्रणीः सर्वेषां नेता योऽसौ परमात्मास्ति स एवार्क्कः, अर्क्कपदवाच्यः । अर्चनहेतुत्वादर्क्कः पूज्यः, कं ब्रह्माण्डं योऽर्चति सोऽर्क्को वा । अर्क्=अर्चयितृ कं ब्रह्माण्डं यस्य स वा । यं परमात्मानं सम्पूर्णं ब्रह्माण्डमर्चयति । सूर्यादिनिवृत्त्यर्थेयमुक्तिः । अस्मिन् प्रकरणेऽर्कशब्देनेश्वर एव आप्तो नान्यः । तस्यार्कवाच्यस्य परमेश्वरस्य इमे लोका भूरादयः । आत्मानः प्रयत्नस्वरूपाः । तौ एतौ अर्काश्वमेधौ वेदितव्यौ । ईश्वर एवास्मिन्नुपास्य इति विस्पष्टयति—यः खलु मृत्युः परमेश्वरोऽस्ति । सैव पुनः एका मुख्या देवता भवति नान्येत्यर्थः । मृत्युपदवाच्या एकैव देवताऽस्माकमाराध्या । फलमाह—यो वा उपासको मृत्युं मृत्युतेजश्च वेद स पुनः मृत्युं मरणमपजयति । अपेत्यस्य व्यवहितेन जयतिना सम्बन्धः । पुनरिदमेव द्रढयति । एनमुपासकम् । मृत्युर्मरणम् । नैवाऽऽप्नोति । मृत्युरस्याऽऽत्मा भवति । एतासां पृथिव्यादीनां देवतानां मध्ये । एकः प्रधानो भवति अथवा विदुषां मध्ये एको भवति ॥ ७ ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स्वार्थत्यागोपासना ॥

ईश्वरेण मृत्युनेयं विसृष्टिः परिश्रमेण विज्ञानेन च प्रकटीकृता महाद्भुतम् । अस्यां सर्वः सर्वं खादितुं धावति, सबलो दुर्बलं हन्ति । मनुष्यवर्जं नात्र विवेकः कापि लभ्यते । इहापि सत्यधिके बले कः खलु विवेकी विरमति परधनहरणाद् । येन केनापि प्रकारेण सर्वः सर्वस्य स्वं जिहीर्षति । इतरेतरं स्वायत्तीकर्तुं जगच्चेष्टमानं दृश्यते । अतोऽयं संसारः सांयुगीनः कृत इति मन्ये । अहो, साम्परायिकपारायणता केवलस्वार्थोत्थापिताऽज्ञानप्रचुरा महामहोदरी अनादिकालप्रवृत्ता शाश्वती सर्वदैव जाज्वल्यमाना । अस्याः कदाचिदपि समुच्छित्तिर्भविष्यतीत्यपि संभावयितुमशक्या । मृत्युना कृतेयं सृष्टिरितरेतरस्याः प्राणानेवाऽऽहर्तुं सर्वदा सन्नद्धा । नह्यस्या आपत्तेः कस्यापि त्राणम् । एतन्मुखे सर्वोऽपि निपतितोऽस्ति । एतन्मृत्युमुखनिपातान्महाभयङ्करादतलस्पर्शविरहितान्महान्धतमसाकीर्णाद् यद्यात्मानं रक्षितुमीहसे । तर्हीतरोमृत्युरेवाश्रयितव्यः । येनेयं प्रकाशीकृताऽसंख्येयपृथिव्यादिलोकशृङ्खला । निसर्गत एव मनुष्यस्वभावोऽधोगामी । ईश्वरसान्निध्यमपि न कपटेन नाऽऽगच्छति । केचित्तु केवलं कैतवमेवविधातुं धर्मचिह्नानि गृहीत्वा ईश्वरभक्तिभाजनमात्मानं दर्शयन्ति । अहो धर्मनाम्ना परःशता व्याजाः स्वच्छन्दं निष्कण्टकं राज्यं भुञ्जन्ति । बहवो बाह्यतः साधवः । अभ्यन्तरतः कपटभिक्षवः । ईदृशां निपातः कदाचिदपि भवत्येव । निश्छलभावेन य ईश्वरमुपतिष्ठते स कल्याणभाग् स पुनर्देवत्वं प्राप्नोति । अयमेवाशयस्तृतीयब्राह्मणस्य । इदं ब्राह्मणमन्यान्यपि बहूनि वस्तूनि शिक्षते । अस्माकं शरीर एव मित्राण्यमित्रा निवसन्ति । अहरहः पश्यामः—कदाचित् शुभे कर्मणि प्रवर्तामहे कदाचिदशुभे । कः प्रवर्तयति ? स्वभावादृते कः प्रवर्तयिता । स द्विधास्ति । विवेक्यविवेकी च वेदादिशास्त्राभ्यसजनितो विवेकी स्वभावः स इह देवशब्देनोच्यते दिव्यकल्याणकरगुणविशिष्टत्वात् । अविमृश्यकारीतरः स इहासुरशब्देन व्यवह्रियते अमंगलकारिगुणवत्त्वाद् अन्येषामसुहरणप्रवृत्तिरतत्वाच्च । इमौ द्वौ स्वभावाविन्द्रियाणां वर्तेते । तानि चेन्द्रियाणि तु जीवात्मनः संयोगादेव स्वस्वविषय ग्राहकाणि भवन्ति । अत एते जीवात्मनः सन्ताना निगद्यन्ते । जीवात्मा प्रजापतिशब्देनोद्यते प्रजानामिन्द्रियाणां पोषकत्वात् । इमा द्विविधा इन्द्रियप्रवृत्तय इतरेतरविषयानपहर्तुं प्रतिक्षणं यतन्ते । अयमेव सर्वैरनुभूयमानोऽनादिकालप्रवृत्तो देवासुरसंग्रामः । अयं संग्रामो विनाशयितव्यः । यदाऽऽसुरी प्रवृत्तिर्वर्द्धते तदा महती हानिः । दैवी तु शान्तिप्रदानाय जगतः । इमामासुरीं प्रवृत्तिमिन्द्रियाणां दूरीकर्तुं छलादिव्यवहारान् हित्वा परमात्मा सन्निधातव्यः ॥

मृत्युवाच्य ईश्वर ने इन विविध सृष्टियों को परिश्रम और विज्ञान के साथ महाद्भुत प्रकट किया है । सब सबको खाने के लिये दौड़ रहा है । बलवान् दुर्बल को मार रहा है, मनुष्य को छोड़ यहां कहीं भी विवेक नहीं देखते इस समुदाय में भी अधिक बल रहने पर कौन विवेकी परधनहरण से विराम लेता है । जिस किसी उपाय से सब सबके धन को हरण करना चाहता है, परस्पर एक

दूसरे को अपने अधीन करने के लिये जगत् चेष्टमान दीखता है। इससे विदित होता है कि यह संसार महायुद्ध का स्थल बनाया गया है। अहो! किस प्रकार की युद्धपरायणता दीख पड़ती है। जो केवल स्वार्थ से उत्थापित है, जिसमें अज्ञान बहुत है, जिसका उदर बहुत ही बड़ा है, जो अनादि काल से चली आती है, सर्वदा एक रस में रहनेहारी है, सर्वदा महाप्रलय की ज्वाला के समान जाज्वल्यमान हो रही है। इस युद्ध-परायणता का कर्म्म कदापि भी विनाश होगा? ऐसी संभावना भी जिसके विषय में नहीं हो सकती। मृत्यु की सृष्टि को मृत्यु ही बारम्बार स्मरण आता है। एक दूसरे के प्राणहरण में यह सृष्टि सन्नद्ध है, इस आपत्ति से किसी का त्राण नहीं, क्योंकि इसके मुख में सब ही गिरा हुआ है। महाभयङ्कर तलस्पर्शविरहित, महान्धकार से परिपूर्ण जो यह मृत्यु-मुख में निपात अर्थात् गिरना है उससे यदि अपने आत्मा को बचाना चाहते हो तो ईश्वररूप मृत्यु के आश्रय में आओ। जिसने असंख्येय पृथिव्यादि लोकरूप शृङ्खला को प्रकाशित किया है। स्वभाव से ही मनुष्य का स्वभाव अधोगामी है क्योंकि ईश्वर के निकट भी लोग कपट से आते हैं। कोई तो केवल कपट करने के लिये ही धर्मचिह्न ग्रहण करके अपने को ईश्वर भक्त प्रकट करते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है सैकड़ों धूर्तताएं स्वच्छन्द निष्कण्टक राज्य भोग रही हैं। बहुत लोग बाहर से साधु और अभ्यन्तर से कपटभिक्षु बने हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसों का निपात अवश्य कभी न कभी होगा। निश्छल भाव से जो ईश्वर के निकट उपस्थित होता वही कल्याणभागी होता है। यही तृतीय ब्राह्मण का आशय है। यह ब्राह्मण अन्य भी बहुत वस्तुओं की शिक्षा देता है। हम लोगों के शरीर में मित्र और अमित्र दोनों हैं। रात्रिन्दिवा देखते हैं कि कभी हम लोगों की प्रवृत्ति शुभ कर्मों में होती और कभी अशुभ में। कौन प्रवृत्ति करानेहारा है? स्वभाव को छोड़ दूसरा कौन प्रवर्तयिता हो सकता। वह स्वभाव दो प्रकार के हैं एक विवेकी दूसरा अविवेकी। वेदादिशास्त्राभ्यास-जनित स्वभाव को विवेकी कहते हैं। इस विवेकी स्वभाव को यहां "देव" कहते हैं क्योंकि इसमें दिव्य और कल्याणकर गुण रहते हैं। बिना विचार से जो करता है उसको अविवेकी स्वभाव कहते हैं। इसका यहां "असुर" शब्द से व्यवहार होता है क्योंकि इसमें अमङ्गलकारी गुण हैं और दूसरों के प्राणहरण करने की प्रवृत्ति में सदा रत रहता है, ये दोनों ही इन्द्रियों के स्वभाव हैं। ये इन्द्रिय जीवात्मा के संयोग से ही स्व स्व विषय के ग्राहक होते हैं इस हेतु ये जीवात्मा के सन्तान कहलाते हैं। जीवात्मा को यहां "प्रजापति" कहते हैं क्योंकि यह प्रजाएं जो इन्द्रिय उनको पोषण करता है। ये जो दो प्रकार की इन्द्रिय-प्रवृत्तियां हैं वे परस्पर एक दूसरों के विषयों को हरण करने के लिये यत्न कर रही हैं। यही प्रतिशरीर में सबसे अनुभूयमान अनादि काल से प्रवृत्त "देवासुरसंग्राम" है। इस सङ्ग्राम को विनाश करना चाहिये क्योंकि जब २ आसुरी प्रवृत्ति बढ़ती है तब २ बड़ी हानि होती और दैवीप्रवृत्ति जगत् को शान्तिप्रदान के लिये है। इस आसुरी प्रवृत्ति को दूर करने के लिये छलादि व्यापार को छोड़ परमेश्वर ही आश्रयितव्य है॥

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्द्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्ताऽसुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥ १॥

अनुवाद—प्रजापति के सन्तान दो प्रकार के हैं। एक देव और दूसरे असुर। उनमें से देव थोड़े अथवा छोटे हैं और असुर बहुत अथवा बड़े हैं। वे दोनों इन ब्राह्मणादि स्थावरान्त शरीररूप लोकों की प्राप्ति निमित्त परस्पर एक दूसरे से स्पर्धा करने लगे। देवों ने परस्पर विचार कर स्थिर

किया कि यज्ञ में उद्गीथ की सहायता से असुरों के ऊपर अतिक्रमण करते जायं यदि सबकी सम्मति हो। इति (इस प्रकार की एक आख्यायिका बहुत दिनों से चली आरही है यह वार्ता अन्यत्र भी प्रसिद्ध है ऐसा ग्रन्थकार का आशय है *) ॥ १ ॥

पदार्थ—(ह) यह आख्यायिका अन्यत्र भी प्रसिद्ध है इसको सूचित करने के लिये "ह" शब्द का प्रयोग है। प्रायः इतिहास और प्रसिद्ध अर्थ में "ह" शब्द के उदाहरण बहुत हैं। देवों और असुरों की आख्यायिका का यहां आरम्भ है (प्राजापत्याः) प्रजापति=जीवात्मा उनके पुत्र (द्वयाः) दो प्रकार के हैं (देवाः+च) एक दिव्य गुणवाले देव और दूसरे (असुराः+च) दुष्ट गुण वाले असुर हैं इन्द्रियों की अच्छी प्रवृत्ति का नाम देव और दुष्ट प्रवृत्ति का नाम असुर है। (ततः) उन देव असुरों में से (देवाः+एव) देव ही अर्थात् इन्द्रियों की अच्छी प्रवृत्तियां ही (कानीयसाः) थोड़ी अथवा छोटी हैं (असुराः) इन्द्रिय की दुष्ट प्रवृत्तिरूप असुरगण (ज्यायसाः) बहुत वा बड़े हैं। (ते) वे दोनों देव और असुर (एषु+लोकेषु+अस्पर्धन्त) ब्राह्मण के शरीर से लेकर स्थावर शरीर पर्यन्त जो एक २ भोग करने का लोक है उसकी प्राप्ति निमित्त स्पर्धा करने लगे अर्थात् एक दूसरे को विजय करने के लिये उद्यत हुए। तत्पश्चात् मानो देवों ने एक अपनी सभा स्थापित की और उसमें (ते+ह) वे प्रसिद्ध (देवाः) देवगण (ऊचुः) परस्पर मीमांसा करके बोले कि (हन्त) यदि सब की अनुमति हो तो (यज्ञे) ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में (उद्गीथेन †) उद्गीथ की सहायता से (असुरान्) असुरों के ऊपर (अत्ययाम) आक्रमण करें (इति) ऐसा विचार किया ॥ १ ॥

भाष्यम्—द्वया हेति। हेतिशब्द इतिहासद्योतकः। द्वया द्विप्रकाराः। किल। प्राजापत्याः प्रजापतेर्जीवात्मन इन्द्रियाणि सन्तानाः सन्ति। तेन प्रजानामिन्द्रियाणां पतिः प्रजापतिः प्रजापतेरपत्यानि प्राजापत्याः। "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः" इति ण्य प्रत्ययः। जीवात्मप्रज्वलितत्वे सति स्वस्वसत्तावत्त्वादिन्द्रियाणि जीवात्मनोऽपत्यानि निगद्यन्ते। ते के द्विप्रकारा इत्यत आह—देवा इति। देवाश्चासुराश्च। शास्त्रमननाभ्यास-परिमला ईश्वरीयविभूतिद्योतनात्मिका इन्द्रियप्रवृत्तयो देवाः। अविमृश्यकारिण्योऽज्ञान-

---

* देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे उभये प्राजापत्याः। तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ छान्दोग्योपनिषद्। अध्याय १। खण्ड २। प्रवाक १ ॥

† उद्गीथ—लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिङ्कारः। अग्निः प्रस्तावः। अन्तरिक्षमुद्गीथः। आदित्यः प्रतिहारः। द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ छान्दो० २। २। १ ॥

छान्दोग्योपनिषद् में हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन ये पांच प्रकार के साम गान कहे गए हैं। ये पांच विभक्तियां कहलाती हैं। इनमें से जब उद्गीथ विभक्ति आती है तो इसको ओम् शब्द से आरम्भ करते हैं। इसमें अधिकतर ईश्वर की ही प्रार्थना रहती हैं। यदि उद्गीथ की पूर्णता अच्छे प्रकार हो तो मानो यज्ञ की समाप्ति भी अच्छी होगी। इसी हेतु देवगण विचारते हैं कि प्रबल शत्रुओं के विजयार्थ प्रबलतर आश्रय लेने चाहियें। उद्गीथ से बढ़कर उत्तम आश्रय क्या हो सकता है। इस हेतु अपने शत्रु के विजय के लिये यज्ञसम्बन्धी उद्गीथ की शरण में आये, परन्तु जब तक निःस्वार्थ और निर्दोष होकर ईश्वर की शरण में नहीं आता है तब तक उसका विजय कठिन होता है। यह वार्ता इस उद्गीथ प्रकरण में अच्छे प्रकार दिखलाई जायगी ॥

बहुला अन्येषामसुहरणरताः स्वार्थैकसाधिका इन्द्रियप्रवृत्तयोऽसुराः । इमे द्विविधाः प्रजापतेः सन्तानाः । ततस्तेषु देवाः कानीयसाः कनीयांस एव कानीयसाः अल्पीयांसः । विवेकजनितप्रवृत्तेरत्यन्तकनीयस्त्वात् । असुरा ज्यायसाः ज्यायांस एव ज्यायसा बहुतराः । अविवेकप्रवृत्तिबाहुल्यात् । ते देवा असुराश्च । एषु लोकेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विवेकाविवेकविशिष्टेषु लोकेषु निमित्तभूतेषु सत्सु अस्पर्धन्त स्पर्धां परस्पराभिभवेच्छां कृतवन्तः । ब्रह्मादिस्थावरान्तानि यान्यसंख्येयानि इन्द्रियाणां भोग्यानि शरीराणि सन्ति तान्यस्माकमस्माकं भवन्तु अस्माद्धेतोरुभये प्राजापत्या योद्धुमारेभिरे । ततोऽसुराणां बलाधिक्यमवलोक्य ते ह देवाः कचित्समवेता भूत्वा परस्परमूचुः । हन्त यदि सर्वेषामत्र-सम्मतिः स्यात्तर्हि यज्ञे सर्वसम्मत्या प्रारिप्स्यमाने ज्योतिष्टोमाख्ये यज्ञे उद्गीथेनोद्गीथ-कर्माश्रयेण असुरान् अस्मद्विरुद्धान् दुष्टप्रवृत्तीन् सहोदरानेव अत्ययामातिगच्छाम । दुष्टस्वभावं विहाय स्वं देवस्वभावं प्रतिपद्यामहै इत्युक्तवन्तः । अयमाशयः—हे भ्रातरः ! कोपि महान् यज्ञः प्रारब्धव्यः । तत्र सर्वगुणसम्पन्नः कोप्युद्गाता नियोजयितव्यः । सोऽस्माकं कल्याणं गास्यति । तेन वयं विजयिनो भविष्यामः । अन्यथाऽस्माकं विपत्ता वर्धिष्यन्ते । स्वत्वं गृहीत्वाऽस्मान् निष्कासयिष्यन्ति । विपत्तौ पत्स्यामः । अतो नोदासीनैर्भाव्यमिदानीम् ॥ १ ॥

भाष्याशय—प्राजापत्य=प्रजापति शब्द से यहां जीवात्मा का ग्रहण है । चक्षु, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रिय जीवात्मा के आश्रय से ही निज २ विषय ग्रहण करने में समर्थ होते हैं । इस हेतु जीवात्मा के पुत्रवत् होने से ये प्राजापत्य कहलाते हैं । इस बात को एक साधारण पुरुष भी जानता है कि उत्तम और निकृष्ट दो प्रकार के इन्द्रिय गुण हैं वही इन्द्रिय किसी काल में उत्तम और किसी काल में निकृष्ट नीच अधम बन जाता है । जो कुछ जगत् में प्रवृत्ति होती है वह इन्द्रिय की परीक्षा से ही होती है । कुकर्म, वा सुकर्म कुपथ वा सुपथ में लेजानेहारा इन्द्रिय ही है । इस जीवन में देखा गया कि जो प्रथम बहुत कुपथगामी था वह कालान्तर में सुपथगामी हो जाता और जो बड़ा धर्मात्मा था वह कालान्तर में जाकर महापापी बन जाता । इन दोनों मार्गों पर ले जानेवाला कौन है ? इन्द्रिय । अतः मूल में कहा गया है कि प्रजापति के पुत्र इन्द्रियगण दो प्रकार के हैं एक असुर, दूसरे देव, अतः ये दोनों परस्पर "सहोदर भ्राता" हैं आश्चर्य की बात यह है कि सहोदर भ्राता ही परस्पर के विरोधी बन गये और इस प्रकार दोनों उद्धत हुए कि एक दूसरे को जड़मूल से उखाड़ देने को प्रयत्न कर रहे हैं इसी सम्बन्ध को देख ऋषियों ने "शत्रुता" का नाम "भ्रातृव्य" रक्खा है । "कानीयसाः ज्यायसाः"—जगत् में यह भी देखते हैं कि दुष्ट मनुष्यों की संख्या अधिक और शिष्टों की न्यून है । क्योंकि विवेकी पुरुष स्वभावतः न्यून होते हैं विवेकोत्पत्ति के लिये वेद शास्त्रों का अध्ययन, धर्म के अनुष्ठान में परायणता, आप्त पुरुषों के वचन का निरन्तर मनन और एकान्त देश में रहकर वारम्वार पदार्थों को विचारना और जातीय, सामाजिक, दैशिक, राजकीय आदि अनेकविध कुसंस्कारों से पृथक् होना इत्यादि अनेक सामग्री-संभार की परम आवश्यकता होती है । तब कहीं सहस्रों में एक आध विवेकी होता है । और दुष्टता के लिये उतनी सामग्री की आवश्यकता नहीं । इस कार्य्य के लिये अपेक्षित सामग्रियां भी सुलभ और सर्वत्र प्राप्त हो जाती हैं । इस हेतु असुरों की संख्या अधिक और देवों की संख्या न्यून कही गई ।

लोकेषु—पृथिवीलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक इत्यादि अनेक लोक हैं, परन्तु यहां ब्राह्मण-शरीर से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र स्थावर-शरीर पर्यन्त जितने शरीर हैं वे एक २ लोक हैं क्योंकि इन्द्रियं इन ही शरीरों में रहकर अपने भोग को भोगते हैं। असुर और देव इन्द्रिय अपना २ अधिकार जमाना चाहते हैं और इसी हेतु इन दोनों में अनादिकाल से युद्ध होता रहता है।

यज्ञे—यहां अन्य ग्रन्थानुसार "ज्योतिष्टोम" यज्ञ मानागया "ज्योतिष्+स्तोम" इन दो शब्दों से "ज्योतिष्टोम" शब्द बनता है। ज्योतिष्=प्रकाश। स्तोम=स्तोत्र। यज्ञ समूह इत्यादि (स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे, अमरः) "ज्योतिरायुषः स्तोमः" इस सूत्र से "ष" होकर "ज्योतिष्टोम" शब्द सिद्ध होता है विवेकरूप जो प्रकाश तत्सम्बन्धी जो यज्ञ उसे "ज्योतिष्टोम" यहां कहा है। विवेकरूप ज्योति के प्रकाश होने से ही तो अज्ञानान्धकाररूप असुरों का नाश हो सकता। अतः यहां "ज्योतिष्टोम" नामक यज्ञ कहा है ॥ १ ॥

ते ह वाचमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्य-न्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ २ ॥

अनुवाद—वे देव (साधु इन्द्रिय प्रवृत्तियां) वाग्देवी से प्रार्थना कर बोले—हे वाग्देवते! हम लोगों के हित के लिये आप इस यज्ञ में उद्गात्री बनकर उद्गान करें. इति। वाग्देवता ने एवमस्तु कहकर उनके लिये उद्गान करना आरम्भ किया। जो वाणी में भोग है उस (भोग) को देवों के लिये गान किया और जो वाग्देवता मंगलविधायक भाषण करती है उसको अपने लिये गाया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे। इस हेतु वाणीरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उस उद्गाता को पापरूप अस्त्र से वेध दिया। वह यही पाप है जिससे युक्त हो वाणी जो यह अनुचित भाषण कहती है। वही सो पाप है (अन्य नहीं) ॥ २ ॥

पदार्थ—इस प्रकार मानो सभा में स्थिर करके (ते+ह) वे देवगण (वाचम्) वाग्देवी से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे वाग्देवते! आप से बढ़कर उद्गीथ गानेहारी कौन है इस हेतु (नः) हम सब के कल्याण और शत्रुओं के पराभव के लिये इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में "उद्गात्री" बनकर (त्वम्) आप (उद्गाय) उद्गीथ विधि को पूर्ण करें। देवों की इस प्रार्थना को सुनकर वाग्देवी कहती है कि (तथा+इति) एवमस्तु आप लोगों का कार्य्य करूंगी। इस प्रकार (वाग्) वाग्देवता देवों की प्रार्थना सुनकर (तेभ्यः) उनके हित के लिये (उदगायत्) उद्गीथ का गान करने लगी। अब आगे वाणी की स्वार्थता और उससे हानि कहते हैं—(वाचि) वाग्देवता में (यः) जो (भोगः) भोग अर्थात् सुख विशेष है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के हित के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गान किया और स्वयं वाग्देवता (यत्+कल्याणम्) जो मंगलविधायक वचन (वदति) बोलती है (तद्) उसको (आत्मने) अपने लिये गाया, यही वाग्देवता की स्वार्थता और अपरिशुद्धता वा कपटिता है। इसके पश्चात् क्या हुआ सो कहते हैं (ते+विदुः) उन असुरों ने (दुष्ट इन्द्रिय-प्रवृत्तियों ने) जान लिया कि ये देव ज्योतिष्टोम यज्ञ रच और इसमें वाग्देवता को उद्गात्री बना हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरो! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा) इस

वाणीरूप उद्गाता की सहायता से ।वे देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येष्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे । अब इसमें क्या करना चाहिये, स्थिर हुआ कि इस उद्गाता को नष्ट कर देना ही अच्छा है (तम्) इस हेतु उसे=वाणीरूप उद्गाता के ऊपर (अभिद्रुत्य) आक्रमण कर (पाप्मना) पापरूप महा अस्त्र से (अविध्यन्) वाग्देवता की छाती पर वेध किया अर्थात् वाग्देवता में स्वार्थ-साधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया यह कैसे प्रतीत होता है कि वाग्देवता को पाप ने पकड़ लिया और इस हेतु वह देवों के कार्य्य को सिद्ध न कर सकी, यह अनुमान से प्रतीत होता है सो आगे कहते हैं (सः+यः) असुरों से जो पाप वाणी में फेंका गया (सः+पाप्मा) मानो सो यह पाप अनुमान से प्रतीत होता है यह कौन पाप है सो कहते हैं । जिस पाप से युक्त होकर यह वाग्देवता (यद्+एव) जो ही (इदम्+अप्रतिरूपम्+वदति) यह अनुचित भाषण करती है (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह पाप है यदि ऐसा न होता तो वाग्देवता अनुचित भाषण क्यों करती । इससे मालूम होता है कि असुरों ने अपने संसर्ग से वाणी को पापिष्ठ बना दिया ॥ २ ॥

भाष्यम्—ते ह वाचमिति । कस्मिंश्चिन्महति कार्ये निःस्वार्थो, दीर्घदर्शी, निखिल-गुणसम्पन्नो नायको नियोक्तव्यस्तदैव कार्यसिद्धिः । ज्योतिष्टोमो यज्ञो देवैः प्रारिप्स्यते । तत्रोद्गीथेनासुरान् जिगीषन्ति । श्रेष्ठमाप्तमुद्गातारमन्तरा न तत्कर्म सम्पादयितुं शक्यम् । अतः कोप्युद्गाता तादृशो नियोक्तव्य इति हेतोः प्रथमं देवाः स्वेषां मध्ये सर्वगुणालङ्कृतां वाग्देवीमुद्गात्रीं कर्तुं मीमांसां चक्रिरे । तस्यां हि स्वाभाविकी गीति शक्तिः । एवं मीमांसित्वा च ते ह देवाः शास्त्रोद्भासितेन्द्रियप्रवृत्तयः । वाचं वाग्देवीम् । प्रार्थ्योचुः । हे वाग्देवि ! त्वमस्मिन् प्रारिप्स्यमाने यज्ञे उद्गात्री भूत्वा उद्गीथकर्मविधिना । नोऽस्माकं कल्याणाय शत्रुपरिभवाय च उद्गायोद्गानं कुरु । यथास्माकं कल्याणं स्यात्तथा त्वमीश्वरं प्रार्थयस्व इति वयं त्वां प्रार्थयामहे । इयं देवैः प्रार्थिता सा वाग्देवी तथेत्युक्त्वा तेभ्यो देवेभ्यो देवहितार्थम् । उद्गायदुद्गातुं प्रारभत । अथात्र वाग्देवतायाः स्वार्थित्वं तेन हानिश्च प्रदर्श्यते । वाचि वाण्याम् यो भोगः सुखविशेषः तं देवेभ्योऽगायत् । यच्च वाग्देवता कल्याणं शोभनं मङ्गलसाधकं हितकरं वदति यथाशास्त्रं वाणीमाविष्करोति तदात्मने आत्महितार्थं तदगायत् । नहि वाग्देवता सर्वं स्वार्थं परिहाय प्रार्थिनां कल्याणाय गीतवती । अपरिष्कृता छलादिसंश्लिष्टा सत्यासत्योभयपरिगृहीता वाणी न कार्याय क्षमा । अतो न तादृशी वाणी नियोक्तव्या । हानिं दर्शयति—एवं वाग्देवतायाः कल्याण-वदनरूपासाधारणविषयाभिषङ्गलक्षणं रन्ध्रं स्वावसरं प्रतिलभ्य तेऽसुरा दुष्टेन्द्रियप्रवृत्तयः विदुर्ज्ञातवन्तः । अनेन वाग्देवतारूपेणोद्गात्रा इमे देवाः । नोऽस्मान् अत्येष्यन्ति अति-क्रमिष्यन्ति अतिक्रम्य चास्मान् स्वाधिकारान्निष्कासयिष्यन्ति । अतः कोऽपि प्रत्युद्यमः कर्तव्य इति विचार्य वाग्देवताया व्यापारञ्च विदित्वा तं वाग्देवतारूपमुद्गातारम् अभिद्रुत्य वेगेनातिक्रम्य तद्वक्षसि । पाप्मना पापेन महास्त्रेण अविध्यन् ताडितवन्तः । तस्यामननुरूप-भाषणस्वरूपं महास्त्रं निचख्नुरित्यर्थः । कथं ज्ञायते इयं वाणी पाप्मनाऽसुरैस्ताडितास्ति ? असुरप्रक्षिप्तपाप्मविद्धत्वादेवेयं सत्यमनृतं च वदति । अनृतभाषणं पापिनो लक्षणम् । एष प्रत्यक्षोऽपि विषयस्तथापि विस्पष्टार्थमाह स यः इति । स यो हि पाप्माऽसुरैर्वाचि निक्षिप्तः । स पाप्माऽनुमानेन प्रत्यक्षो भवति । कोऽसौ पाप्मा ? येन संयुक्ता वाग्देवी । यदेव इदमप्रतिरूपमननुरूपमनुचितमनृतमिति यावत् । वदति वर्णानुच्चारयति । यदेवानृतादि

वदति स एव स पाप्मा। येन पाप्मना सा विद्धा। अन्यथा कथं सा मिथ्यादि ब्रूयात्। अतः प्रशास्वननुरूपभाषणं यद् दृश्यते तेनानुमीयते यदियं वाणी दूषितास्ति। अतोऽनया न कार्य्यसिद्धिः। एतेनेदमुपदिशति—वाचा परमात्मनो नामधेयमहर्निशं बाहुल्येन रटतु, वेदादिशास्त्राणामपि पारायणं प्रत्यहं करोतु, तुलसीरुद्राक्षवैजयन्तीप्रभृतिमालया मन्त्रं साक्षाद्वेदमन्त्रम्वा जपतु एवं सर्वाणि वा शुभानि कर्माण्यनुतिष्ठतु। यद्यनृतं वदति, वाण्या मिथ्याक्षेपं करोति, स्तुत्यान्निन्दति, निन्द्यान् प्रशंसति, स्वोदरपूरणाय वाग्भिर्मुग्धान् मोहयित्वा वंचयति। इत्येवं विधान्यमंगलानि वाचिकानि कर्म्माणि करोति। तदा न कदापि स पापेन मुक्तो भवितुमर्हतीति शिक्षते ॥ २ ॥

भाष्याशय—किसी महान् कार्य्य में निःस्वार्थी, दीर्घदर्शी, निखिलगुणसम्पन्न नायक को नियुक्त करना चाहिये। तब ही कार्य्यसिद्धि होती है। देव ज्योतिष्टोम यज्ञ आरम्भ कर और उसमें उद्गीथ कर्म के द्वारा असुरों को जीतना चाहते हैं। वह कर्म, श्रेष्ठ, आप्त उद्गाता के विना सम्पादित होना अशक्य है। इस हेतु कोई वैसा उद्गाता नियोक्तव्य है। अतः प्रथम देवों ने अपने में से सर्वगुणाल-ङ्कृता वाग्देवी को "उद्गात्री" बनाने के लिये मीमांसा की क्योंकि उसमें गीतिशक्ति स्वाभाविकी है। इस प्रकार की मीमांसा कर वाग्देवी को उद्गात्री बनाया, परन्तु वाग्देवी अपने सामर्थ्य और स्वभाव की परीक्षा न कर देवों की प्रार्थना पर उद्गीथ विधि करने लगी। यज्ञ में असद् व्यवहार त्यागने पड़ते हैं परन्तु वाग्देवी ने अननुरूप अनुचित भाषण का त्याग नहीं किया अर्थात् असुर्यों का मिथ्या अनुचित भाषण करना एक प्रकार से स्वाभाविक धर्म मानो हो गया है। जब शुभ कर्म में अनुचित भाषण को वाग्देवी ने नहीं त्यागा तो असुरों का विजय होना ही था। पाप ने आकर इसे छुआ लिया। इस प्रकार देवों का कार्य्य विनष्ट हो गया।

शिक्षा—इससे यह शिक्षा देते हैं कि वाणी से परमात्मा के नाम को अहर्निश कितने ही रटें। वेदादि शास्त्रों का भी पारायण प्रतिदिन कितने ही करें, तुलसी, रुद्राक्ष, वैजयन्ती आदि माला से मन्त्रों अथवा साक्षात् वेदमन्त्रों का रात दिन कितने ही जप करते रहें। इस प्रकार सब ही शुभकर्मों का अनुष्ठान भले ही किया करें, परन्तु यदि वह अनृत बोलता, वाणी से मिथ्या आक्षेप करता, स्तुत्य की निन्दा और निन्द्य की स्तुति करता, सोदरपूरणार्थ अपने वागाडम्बरों से मुग्ध पुरुषों को मोहित कर उनको वंचित करता है। इस प्रकार के अमङ्गल वाचिक कर्मों में रत है तो वह कदापि पाप से मुक्त नहीं होगा। इस पाप से मुक्त होने के लिये शुभकर्म के अनुष्ठान के साथ ही मिथ्यादि व्यवहार को त्याग शुद्ध आचरण बनावे ॥ २ ॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायः प्राणे भोगस्त-न्देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणञ्जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्ये-ष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपञ्जिघ्रति स एव स पाप्मा * ॥ ३ ॥

---

* ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तं हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ छां० उ० १। २। २ ॥

अनुवाद—वे देव (साधु इन्द्रियप्रवृत्तियां) तदनन्तर प्राण देव से बोले कि हे प्राण देव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें। प्राण "तथास्तु" कहकर उनके लिये गान करने लगे। जो प्राणदेवता में भोग है उसको तो देवताओं के लिये गाया और जो प्राणदेव मंगलविधायक वस्तु को सूंघते हैं उसको अपने लिये गान किया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण, निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे। इस हेतु प्राणदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप महाऽस्त्र से वेध दिया सो जो पाप (असुरों ने प्राणदेवता में फेंक दिया) वही पाप (प्राणदेवता में) है जिससे युक्त होकर यह प्राणदेव अनुचित वस्तु को सूंघते हैं वही पाप है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+ह वाग्देवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर वे देवगण (प्राणम्) प्राणदेव से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे प्राणदेव ! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे हम लोग असुरों से विजयी होवें (इति) यह वचन सुन प्राणदेव बोले कि (तथा+इति) "तथास्तु" और (तेभ्यः) उनके लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे। अब आगे प्राणदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(प्राणे) प्राणस्थ प्राणदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया और (यत्+कल्याणम्) जो प्राणदेव मंगलविधायक वस्तु (जिघ्रति) सूंघते हैं अर्थात् उसमें विशेष कर मंगलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया। यही प्राणदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है। इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जानलिया कि ये देव प्राणदेव को ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा) इस प्राणरूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येष्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये, तब स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महाऽस्त्र से (अविध्यन्) उसको वेध दिया अर्थात् प्राणदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया। वह कौन पाप है सो कहते हैं। (सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह वही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित दुर्गन्धि को (जिघ्रति) सूंघता है (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह असुरसंसर्गजनित पाप है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथहेति। वाग्देवतायाः पापसंसर्गविज्ञानात्तेन च कार्य्यक्षतेरनन्तरम्। ते ह देवाः। प्राणं घ्राणस्थप्राणं वायुं घ्राणदेवतामित्यर्थः। प्राण्योचुरित्यादि पूर्ववत्। सा च घ्राणदेवता कल्याणं जिघ्रति। येन सुगन्धिना सर्वेषां देवानां कल्याणं भवेत्। तदात्मने साऽगायत्। अप्रतिरूपमननुरूपं स्वासदृशमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्। केचन न साग्रे परमात्मानं ध्यायन्ति तेनैव कल्याणं मन्यन्ते। केचन घ्राणाग्रे स्वाविद्य सङ्कल्पमाहात्म्येन दिव्यान् गन्धान् जिघ्राम इति जानन्ति केचन शतक्रोशस्थितानामपि कुसुमादीनामामोदमनुभवाम इत्यादिसिद्धिं प्रदर्शयन्ति। तत्सर्वं मिथ्या वेदितव्यम्। दुर्जनतोषन्यायेन स्वीकृतायमपि तत्तद्घ्राणसिद्ध्यवसाने घ्राणदेवतावत् तेषामधःपतनं पापसंसर्गाविस्युष्यास्ति ॥ ३ ॥

भाष्याशय—कोई नासाग्र के ऊपर परमात्मा का ध्यान करता है, उसी से कल्याण मानता है। कोई घ्राण के अग्र के ऊपर अपनी मूर्खता के सङ्कल्प के माहात्म्य से दिव्य गन्धों को सूंघते हैं अतः हम सिद्ध हैं ऐसा जानते हैं। कोई शतक्रोश स्थित भी कुसुमादियों के आमोद को अनुभव करते हैं इत्यादि नासिकासम्बन्धी सिद्धि दिखलाते हैं, परन्तु इस सबको मिथ्या जानना चाहिये। "दुर्जनतोष" न्याय से तत्तत् घ्राणसम्बन्धी सिद्धि स्वीकार भी करली जाय तब भी अन्त में पाप के संसर्ग से इनका अधःपतन होता है। यह शिक्षा इससे मिलती है ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षु रूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपम्पश्यति स एव स पाप्मा * ॥ ४ ॥

अनुवाद—वे देव (साधु-इन्द्रिय-प्रवृत्तियां) तदनन्तर चक्षुदेव से बोले कि हे चक्षुदेव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें (इति) चक्षुदेव "तथास्तु" कहकर उनके लिये गान करने लगे। जो चक्षुदेव में भोग है उसको तो देवताओं के लिये और जो चक्षुदेव मंगलविधायक वस्तु को देखते हैं उसको अपने लिये गान किया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से ये देवगण निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे। इस हेतु चक्षुदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप महाऽस्त्र से वेध दिया। सो जो पाप (असुरों ने घ्राणदेवता में फेंक दिया) वही पाप (घ्राण देवता में) है जिससे युक्त होकर यह घ्राणदेव अनुचित वस्तु को सूंघता है वही यह पाप है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) घ्राणदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर वे देवगण (चक्षुः) चक्षुदेव से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे चक्षुदेव ! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे हम लोग असुरों के विजयी होवें (इति) यह वचन सुन चक्षुदेव बोले कि (तथा+इति) "तथास्तु" और (तेभ्यः) उनके लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे। अब आगे चक्षुदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(चक्षुषि) चक्षुदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया और (यत्+कल्याणम्) जो चक्षुदेव मङ्गलविधायक वस्तु (पश्यति) देखते हैं अर्थात् जो उसमें विशेष कर मङ्गलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया। यही चक्षुदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है। इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव चक्षुदेव को ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं, हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा) इस चक्षुरूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येष्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये, तब स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महास्त्र से (अविध्यन्) उसको वेध दिया अर्थात् चक्षुदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट

* अथ चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ छां० उ० १। २। ४॥

हो गया। वह कौन पाप है सो कहते हैं—(सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित वस्तु को (पश्यति) देखता है (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह असुर-संसर्गजनित पाप है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अथ हेति। घ्राणेन्द्रियस्य स्वार्थतामशुद्धिञ्च विज्ञाय ते ह देवाः। चक्षुर्देवतामूचुरित्यादिसमानम्। केचन शारीरिकविधानभिज्ञाश्चक्षुषि कृष्णतारकामेव सर्वफलप्रदमुपास्यदेवं मत्वा ध्यायन्ति। केचन भगवतो विश्वोदरस्य दारुमयीं स्वर्णमयीम्वा मृण्मयीम्वा चित्रार्पिताम्वा मूर्तिं कृत्वा तामेव प्रतिक्षणं चक्षुषा पश्यन्त आत्मानं कृतकृत्यं मन्यन्ते। एतेन सर्वचक्षुः सिद्धयो निषिद्ध्यन्ते चक्षुष्यप्यासुरदैवभावौ वर्तेते। यावदासुरभावो न निःसरेत् तावत्केवलेनावलोकनेन न किमपि फलं सेत्स्यतीति बोद्धव्यम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—कोई शारीरिक विद्या के न जाननेहारे नेत्रगत कृष्णतारका को ही कोई अद्भुत देवी समझ अथवा नेत्रगत छाया पुरुष को ही सर्वफलप्रद उपास्य देव मान ध्यान करते हैं। कोई विश्वोदर भगवान् की मूर्ति दारुमयी वा स्वर्णमयी वा मृण्मयी बनाकर वा चित्र में लिखकर उसी को प्रतिक्षण देखते हुए अपने को कृतकृत्य समझते हैं। सहस्रों क्रोश स्थित वस्तुओं को देखने का ध्यान करना, इत्यादि नयन सम्बन्धी जितनी सिद्धियां मानी जाती हैं, उस सबका निषेध करते हैं। नेत्र में भी आसुर और दैवभाव है। जबतक आसुरभाव न निकलजाय तबतक केवल अवलोकन से कुछ फल नहीं सिद्ध हो सकता, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्र मूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद् यः श्रोत्रे भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति स एव स पाप्मा * ॥ ५ ॥

अनुवाद—हे देव (साधु-इन्द्रिय-प्रवृत्तियां) तदनन्तर श्रोत्रदेव से बोले कि हे श्रोत्रदेव! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें। श्रोत्रदेव "तथास्तु" कहकर उनके लिये गान करने लगे। जो श्रोत्रदेव में भोग है उसको तो देवताओं के लिये गाया और जो श्रोत्रदेव मंगलविधायक वस्तु को सुनते हैं उसको अपने लिये गान किया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से (देवगण) निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे। इस हेतु श्रोत्रदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप महाऽस्त्र से वेध दिया। सो जो पाप (असुरों ने श्रोत्र देवता में फेंक दिया) वही पाप (श्रोत्रदेवता में) है जिससे युक्त होकर श्रोत्रदेव अनुचित वस्तु को सुनते हैं। वही पाप है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) चक्षु देवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर वे देवगण (श्रोत्रम्) श्रोत्रदेव से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले कि हे श्रोत्रदेव! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे हम लोग असुरों से विजयी होवें (इति) यह वचन सुन

---

* अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ छा० उ० १ । २ । ५ ॥

श्रोत्रदेव बोले कि (तथा+इति) "तथास्तु" और (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे। अब आगे प्राणदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(श्रोत्रे) श्रोत्रदेव में (यः) जो (भोगः भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया और (यत्+कल्याणम्) जो प्राणदेव मंगलविधायक वस्तु (शृणोति) सुनते हैं अर्थात् जो उसमें मंगलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया। यही श्रोत्रदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है। इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव श्रोत्रदेव को ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं। भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा)- इस श्रोत्ररूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येष्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये। तब स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके (पाप्मना) पापरूप महास्त्र से (अविध्यन्) उसको वेध दिया अर्थात् श्रोत्रदेव में स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया। वह कौन पाप है सो कहते हैं—(सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित पदार्थ को (शृणोति) सुनते हैं (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह असुर-संसर्गजनित पाप है॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथहेति । श्रोत्रद्वारापि सन्त्यनेके कुसंस्काराः प्रचलिता विदुषां मध्येऽपि। तस्मिन्नुत्पद्यमानं शब्दमेव परमात्मवाणीं जानन्ति केचन। अत्रत्य-शब्दोपासनमेव महत्कार्यं योगिकर्तव्यं मन्यन्ते । तेन मुक्तिरपि स्वीक्रियते बालिशैः। अहो जाड्यं भारतवासिनाम्। एतेन श्रोत्रसिद्धयो निषिद्धाः ॥ ५ ॥

भाष्याशय—श्रोत्र के द्वारा भी बहुत से कुसंस्कार विद्वानों में प्रचलित हैं। इस श्रोत्र में उत्पद्यमान शब्द को ही ईश्वर की वाणी कोई २ जानते हैं। इसके शब्द की उपासना को ही बड़ा कार्य्य और योगिकर्तव्य मानते हैं। कतिपय अनभिज्ञ बालक इससे मुक्ति भी मानते हैं। अहो ! भारतवासियों में कैसी जड़ता आगई है। इससे श्रोत्रसम्बन्धी सब सिद्धियों को निषेध करते हैं ॥ ५ ॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तन्देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणꣳ सङ्कल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गाऽत्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ सङ्कल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥ ६ ॥

अनुवाद—वे देव (साधु-इन्द्रिय-प्रवृत्तियां) तदनन्तर मनोदेव से बोले कि हे मनोदेव ! आप हम लोगों के हित के लिये (यज्ञ में उद्गाता बनकर) उद्गीथ का गान करें (इति) मनोदेव "तथास्तु" कहकर उनके लिये गान करने लगे जो मनोदेवता में भोग है उसको तो देवताओं के लिये गाया और जो मनोदेव मंगलविधायक वस्तु को संकल्प करते हैं, उसको अपने लिये गान किया। वे असुर जान गये कि इस उद्गाता की सहायता से (ये देवगण) निश्चय ही हम लोगों के ऊपर अतिक्रमण (चढ़ाई) करेंगे इस हेतु मनोदेवस्वरूप उद्गाता के ऊपर आक्रमण कर उसको पापरूप

महाअस्त्र से वेध किया। सो जो पाप (असुरों ने मनोदेवता में फेंक दिया) वही पाप (मनोदेवता में) है जिससे युक्त होकर यह मनोदेव अनुचित वस्तु को संकल्प करते हैं वही पाप है, निश्चय ये देव सब इस प्रकार पापों से उपसृष्ट हुए (छूए गये) इस प्रकार इनको पापरूप महाऽस्त्र से वेध किया ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) श्रोत्रदेवता को पाप से विद्ध होने के अनन्तर वे देवगण (मनः) मनोदेव से प्रार्थना कर (ऊचुः) बोले कि हे मनोदेव ! इस यज्ञ में (त्वम्) आप उद्गाता बनकर (उद्गाय) उद्गीथ का गान करें जिससे हम लोग असुरों के विजयी होवें (इति) यह वचन सुन मनोदेव बोले कि (तथा+इति) "तथास्तु" और (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायत्) अच्छे प्रकार गाने लगे अब आगे मनोदेव की स्वार्थता और उससे हानि दिखलाते हैं—(मनसि) मनोदेव में (यः) जो (भोगः) भोग है (तम्) उसको (देवेभ्यः) देवों के लिये (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया और (यत्+कल्याणम्) जो मनोदेव में मंगलविधायक वस्तु (सङ्कल्पयति) संकल्प करते हैं अर्थात् जो उसमें विशेषकर मंगलविधायक शक्ति है (तद्+आत्मने) उसको अपने लिये गाया। यही मनोदेव की स्वार्थता और अपरिशुद्धता है। इसके पश्चात् क्या हुआ सो आगे कहते हैं—(ते+विदुः) उन असुरों ने जान लिया कि ये देव मनोदेव को ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनाकर हम लोगों के नाश का उपाय सोच रहे हैं। हे भाई असुरो ! (वै) निश्चय (अनेन+उद्गात्रा) इस मनोदेवरूप उद्गाता की सहायता से ये देवगण (नः) हम लोगों के ऊपर (अत्येष्यन्ति+इति) आक्रमण करेंगे। अब इसमें क्या करना चाहिये। तब स्थिर करके (तम्+अभिद्रुत्य) उस उद्गाता के ऊपर आक्रमण करके— (पाप्मना) पापरूप महाअस्त्र से (अविध्यन्) उसको वेध दिया अर्थात् मनोदेव में भी स्वार्थसाधनरूप पाप प्रविष्ट हो गया। वह कौन पाप है सो कहते हैं—(सः+यः) सो जो पाप इसमें प्रविष्ट हुआ (सः) वह यही (पाप्मा) पाप है (यद्+एव) जिससे युक्त होकर यह देव (इदम्+अप्रतिरूपम्) इस अनुचित वस्तु को (सङ्कल्पयति) सङ्कल्प करते हैं (सः+एव) वही (सः+पाप्मा) वह असुरसंसर्ग-जनित पाप है (एवम्) इस प्रकार वाग्देवतादिक के समान ही (एताः+देवताः) ये अन्य अनुक्त त्वगादि देवता (पाप्मभिः) निज २ इन्द्रियजन्य पापों से (उपासृजन्) छूए गये (एवम्) इस प्रकार (एनाः) इन त्वचादेवादिकों को भी वागादि देववत् ही (पाप्मना) पापरूप अस्त्र से (अविध्यन्) वेध किया ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अथहेति । ज्ञानेन्द्रियाणि परीक्षितानि । उभयात्मकं मन इन्द्रियं परीक्षितुमारभते । पाप्मेत्यन्तो ग्रन्थ उक्तार्थप्रायः । अन्येष्वप्यवशिष्टेष्विन्द्रियदेवेषु कल्याणाकल्याणोभयगुणदर्शनात् पाप्मा क्षिप्त इत्यनुमीयत इत्यत आहएवमिति । एवमेव वाग्देवतादिवदेव खलु । एता अनुक्तास्त्वगादिदेवता अपि । पाप्मभिः पापैः स्वैः स्वैरिन्द्रियासङ्गैः । उपासर्जन्नसुराः । संसर्गं कृतवन्तः । एवमेव वागादिवदेव । एना उक्ताभ्योऽन्यास्त्वगादिदेवताः पाप्मना पापेन अविध्यंस्ताडितवन्तः । इत्थं प्रजापतेः सर्वे सन्तानाः पापविद्धा बभूवुः स्वार्थदोषदूषितत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वन्न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्ते विदुरनेन वै न उद्गाऽत्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्सन् स यथाऽश्मानमृत्वालोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् पराऽसुरा भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

अनुवाद— तदनन्तर देव इस आसन्य (मुखस्थ) प्राण से प्रार्थना कर बोले कि हे आसन्य प्राण ! आप हम लोगों के कल्याण के हेतु "इस यज्ञ में उद्गाता बन" उद्गीथ का गान करें, इति। यह प्राणदेव "तथास्तु" कहकर उनके लिये गान करने लगे। तब उन असुरों ने जान लिया कि इस प्राणरूप उद्गाता से हम लोगों के ऊपर ये देवगण आक्रमण करेंगे। इस हेतु उन असुरों ने उस उद्गाता के ऊपर भी आक्रमण कर पापरूप महाऽस्त्र से वेध करने की इच्छा की परन्तु वे असुर नानागति और छिन्न भिन्न हो ऐसे विनष्ट हो गये कि जैसे पांशुपिण्ड (धूलि का ढेला) फेंके जाने पर प्रस्तर के ऊपर गिर कर चूर्ण २ हो छिन्न भिन्न हो जाता है। तदनन्तर वे देव विजयी हुए और असुरगण परास्त हुए। जो उपासक इसको जानता है वह अपने आत्मा की सहायता से विजयी होता है और इसका द्वेषी शत्रु परास्त होजाता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) जब वाग्देवी, घ्राणदेव, नेत्रदेव, श्रोत्रदेव और मनोदेव परास्त हो गये। इनसे देवों का कार्य सिद्ध न हुआ, तब वे सब मिलकर (इमम्) इस (आसन्यम्) मुख के अभ्यन्तर में रहनेवाले (प्राणम्) प्राण से प्रार्थना करके (ऊचुः) बोले हे मुख्य प्राणदेव ! (नः) हम लोगों के कल्याण के लिये (त्वम्) आप इस महान् ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्गाता बनकर (उद्गाय+इति) गाइये अर्थात् उद्गीथ विधि को यथाशास्त्र पूर्ण कीजिये तब हम लोगों का कार्य सिद्ध होगा। देवों की प्रार्थना सुन मुख्य प्राणदेव बोले कि (तथा+इति) "एवमस्तु" (एषः+प्राणः) यह प्राण "तथास्तु" कहकर (तेभ्यः) उनके लिये (उद्गायत्) गान करने लगे (ते) वे असुर पूर्ववत् (विदुः) जान गये कि (अनेन+उद्गात्रा) इस मुख्य प्राणरूप उद्गाता के आश्रय से (नः) हम लोगों के ऊपर (वै) निश्चय (अत्येष्यन्ति+इति) ये देवगण आक्रमण करेंगे (इति) इस हेतु उन असुरों ने पूर्व अभ्यास के कारण (तम्+अभिद्रुत्य) उस मुख्य प्राणदेव के ऊपर भी आक्रमण कर (पाप्मना) पापरूप महाऽस्त्र से (अविव्यत्सन्) वेध करना चाहा, परन्तु (यथा) जैसे (सः) उस दृष्टान्त के समान अर्थात् (लोष्टः) मट्टी का ढेला (आश्मानम्+ऋत्वा) प्रस्तर के ऊपर गिरकर (विध्वंसेत) चूर्ण २ हो जाय (एवम्+ह+एव) वैसे ही वे असुर जब मुख्य प्राणदेव के ऊपर चढ़ गये तब (विष्वञ्चः) नानागति वाले अर्थात् छितिर विदिर और (विध्वंसमानाः) विध्वस्त हो (विनेशुः) नष्ट होगये। (ततः) तब वे देव (अभवन्) विजयी हुए और (असुराः) असुरगण (पराऽभवन्) परास्त हुए। अब आगे इस विज्ञान का फल कहते हैं—(यः) जो उपासक (एवम्+वेद) ऐसा जानता है वह (आत्मना) अपने आत्मा की सहायता से वा प्रयत्न से विजयी होता और (अस्य) इस उपासक के (द्विषन्) द्वेष करनेवाले (भ्रातृव्य) शत्रु (परा+भवति) परास्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अथ हेति। यः खलु निरंतरं परानुग्रहे सन्नद्धः स्वार्थभारोद्वहनाऽश्लिष्टकन्धरः प्रतिष्ठागार्ध्याऽक्लेशितान्तःकरणः। स कल्याणोद्गाता न कदाप्यनवहितः सन् क्षुद्रमपि कृतं प्रतिहन्ति कुतः सार्वजनीनं सामाजिकम्। ईदृश एव पुरुषः शुद्धोऽपापविद्धो भवति। अतो देवा वाग्देवतादीनामशुद्धिं पाप्मविद्धत्वञ्च विज्ञाय सर्वगुणसम्पन्नं मुख्यं प्राणमुद्गातारं कृतवन्तस्तेन प्राप्तविजया अभूवन्निति दर्शयितुमुत्तरोग्रन्थ आरभ्यते। अथानन्तरं ते देवा असिद्धकार्य्याः सन्तः। आसन्यं आस्ये मुखे भव आसन्यः मुखोऽन्तर्बिलस्थः तं मुख्यं प्राणं ऊचुः। त्वन्न उद्गायेत्यादिरत्येष्यन्त्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातार्थः। ततस्तेऽसुराः पूर्वाभ्यासवशात् तं मुख्यं प्राणमभिद्रुत्य पाप्मना पापेन अविव्यत्सन् वेधितुमिच्छां कृतवन्तः। ततस्तेषामसुराणां किं जातमिति सदृष्टान्तमाह—स यथेति। स

प्रसिद्धो दृष्टान्तोऽयमस्ति—यथा येन प्रकारेण लोके प्रस्तरचूर्णनाय प्रक्षिप्तो लोष्टः पांशुपिण्डः । अश्मानं प्रस्तरम् । ऋत्वा प्राप्य । विध्वंसेत स्वयं विध्वस्तश्चूर्णीकृतो भवेत् । एवं हैव एवमेव । तेऽसुरा मुख्यं प्राणं प्राप्य विध्वंसमाना विशीर्य्यमाणा । विष्वञ्चो विविधगतयः सन्तः । विनेशुर्विनष्टाः । ततस्तस्मादसुरविनाशात् देवत्वप्रतिबन्धकपाप्मभ्यो वियोगात् मुख्यप्राणाश्रयवशात् । देवा वागादयो वक्ष्यमाणस्वस्वरूपेणाऽग्न्याद्यात्मकत्वेनाभवन् । असुराः पराभूता अभवन्नित्यनुषंगः न पुनः प्रारोहन्निति यावत् । इत्याऽऽख्यायिकाक्रमेण यजमानावस्थप्रजापतिवदन्योऽप्याधुनिकस्तत्प्राप्तिकामोऽप्युपासीतेति सफलामुपासनां विदधाति—भवतीति । एवं यथोक्तं वक्ष्यमाणदूर्नामादिगुणं च प्राणं यो वेद जानाति । स आत्मना आत्मगुणेन सम्पन्नः स्वप्रयत्नेन विजयी भवति । अस्योपासकस्य यो द्विषन् द्वेष्टा भ्रातृव्यः शत्रुर्भवति । स शत्रुः पराभवति । लोष्टवद् विध्वस्तो भवतीत्यर्थः । मुख्ये प्राणे उद्गातरि सति देवानां विजयस्य असुराणां पराभवस्य किमपि कारणं नोक्तम् । तद्वाच्यमस्ति । वाग्देवतादयोऽप्रतिरूपमाचरन्त्यतस्तेषु पाप्मवेधनमस्तीत्यनुमानं चेत्तर्हि भक्ष्याभक्ष्यं सर्वं भक्षयन् मुख्यः प्राणः कथन्न तादृश इति । सत्यम् । अयं तु न किमपि स्वार्थं वहति । यत् किमपि वस्तु खाद्यमखाद्यम्वाऽयमत्ति तत्सर्वं परेषां कल्याणायैव । मुखे प्रक्षिप्तमन्नमथं प्राणः मुखबिलान्तर्गतः सम्यक् स्वादयित्वा गुणमगुणञ्च परीक्ष्य कल्याणं चेन्निगलति । अमङ्गलं चेत्तर्हि उद्गिरति मुखात्प्रक्षिपति । तस्यैवान्नस्य रसेन सर्वाणीन्द्रियाणीतराणि जीवन्ति । मुखे किमपि न तिष्ठति । अयं प्राण इयानुपकारी स्वार्थविहीनोऽस्ति यन्नामापि नेच्छति । नास्येतरेन्द्रियवत्सत्तापि प्रतीयते । दृश्यताम् । यथा—चक्षुरादीनां पृथक् पृथक् नाम स्थानं प्रत्यक्षतया गुणश्च दृश्यते । इदं चक्षुः, अयं कर्णः, इयं नासिका, इत्यादि । न तथाऽयं मुख्यः प्राण इति व्यपदेशो भवति । न चास्य किमपि पृथक्त्वेन नामधेयमस्ति । परमेतेषां जीवनमस्यैवाधीनम् । ईदृशोऽयं निःस्वार्थी । यः खलु परस्परभक्षकेऽस्मिन् जगति परार्थमेवाचरति । तस्य सहायकोऽदृश्यमूर्तिर्भगवान् वर्त्तते । लोकेऽपि पक्षग्राहिणोभवन्त्यनेके अतो न तस्य विनिपातः । मनुष्यसमाजेऽपि य ईदृशमाचरति । तेनैवैकेन विजयी भवति समाज इति शिक्षते ॥ ७ ॥

भाष्याशय—जो निरन्तर पर के अनुग्रह करने में सन्नद्ध है । जिसकी कन्धरा (कान्ह) स्वार्थरूप भार के वहन से पृथक् है । प्रतिष्ठा की लालसा से जिसका अन्तःकरण क्लेशित नहीं किया गया है । वही कल्याणोद्गाता हो सकता है । वह कभी अपने कार्य में अनवहित नहीं होता और इस हेतु क्षुद्र कार्य को भी नष्ट नहीं होने देता । सार्वजनीन सामाजिक कार्य्य की बात ही क्या; ऐसा ही पुरुष शुद्ध और अपापविद्ध होता है । ऐसा देवों में एक मुख्य प्राण ही है, अतएव वाग्देवतादिकों की अशुद्धि और पापविद्धत्व जान सर्वगुणसम्पन्न मुख्य प्राण को उद्गाता बनाया । जिससे वे विजयी हुए इसी को दिखलाने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं ।

आसन्य—वक्त्र १, आस्य २, वदन ३, तुण्ड ४, आनन ५, लपन ६, मुख ७, ये सात नाम मुख के हैं । आस्य शब्द से "आसन्य" बनता है अर्थात् मुख में जो होवे उसे "आसन्य" कहते हैं । द्विषन्—द्विषन् और भ्रातृव्य ये दोनों शब्द शत्रु के अर्थ में हैं यथा—रिपौ वैरि सपत्नारि—द्विषद्द्वेषण दुर्हृदः । द्विड् विपक्षा हितामित्र दस्युशात्रव शत्रवः । (अमर) रिपु १, वैरि २,

सपत्न ३, अरि ४, द्विषन् ५. द्वेषण ६, दुर्हृद् ७, द्विट् ८, विपक्ष ९, अहित १०. अमित्र ११, दस्यु १२, शात्रव १३, शत्रु १४, इत्यादि शत्रु के अर्थ में आते हैं। इसमें पाणिनि सूत्र भी है। "द्विषो मित्रे" ३। २। १३१॥ द्विषन् शत्रुः व्यन् सपत्ने" ॥ ४। १। १४५॥ भ्रातृव्येन स्यादपत्ये प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन शत्रौ वाच्यं। भ्रातृव्यः शत्रुः पाप्मना भ्रातृव्येणेतितू-पचारात्।" इत्यादि प्रमाण से सिद्ध है कि ये दोनों शब्द "शत्रु" अर्थ में आते हैं। अब शङ्का होती है कि तब एकार्थक दो शब्द के पाठ करने की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—"भ्रातुर्व्यच्च । ४। १। १४४॥" इस सूत्र के अनुसार भाई के पुत्र के अर्थ में भी "भ्रातृव्य" शब्द आता है। पूर्व में कहा गया है कि "देव और असुर" दोनों भाई हैं। असुरों की जो बुरी चेष्टाएं हैं वे ही मानो असुरों के पुत्र हैं। अतः देवों के ये भ्रातृव्य (भतीजे) हैं उन्हें "द्विषन् भ्रातृव्य" कहते हैं। इस शरीर में दोनों इन्द्रियगण परस्पर युद्ध किया करते हैं और यह युद्ध भ्रातृव्यों के साथ है और अनादिकाल से चला आता है इस हेतु "भ्रातृव्य" शब्द का अच्छा अर्थ होने पर भी "शत्रु" अर्थ हो गया अब जहां आपस की लड़ाई दिखलानी हो वहां "भ्रातृव्य" शब्द का प्रयोग बहुधा होता है।

यहां यह शङ्का उपस्थित होती है जब देवों के कल्याण और विजय के लिये मुख्य प्राण उद्गाता हुए तब इनका विजय हुआ और असुरों का पराभव, परन्तु इसमें कोई कारण नहीं कहा गया कहना उचित था। यदि यह कहो कि वाग्देवता आदि सब ही अप्रतिरूप (अनुचित) आचरण करने से प्रतीत होता है कि ये सब ही पाप से वेधित हैं और इस मुख्य प्राण में कोई अनुचित व्यवहार नहीं देखते हैं सो यह कहना उचित नहीं क्योंकि यह मुख्य प्राण भी तो भक्ष्य अभक्ष्य दोनों के ग्रहण करने से वैसा ही है। फिर मुख्य प्राण को उद्गाता होने से देवों का विजय क्यों ?

उत्तर—सत्य है। परन्तु यह मुख्य प्राण अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं रखता जो कुछ खाद्य वा अखाद्य यह खाता है वह सब दूसरों के कल्याण के लिये ही है। यह मुखस्थ प्राण मुख में प्रक्षिप्त अन्न को अच्छे प्रकार स्वाद ले उसके गुण अवगुण की परीक्षा कर यदि वह अन्न कल्याणदायक रहता है तो खा जाता है। यदि वह अमंगलकर रहता है तो उगल देता है। यद्यपि यह सार्वत्रिक नियम नहीं परन्तु प्रायः देखा जाता है। उसी अन्न के रस से सब अन्य इन्द्रिय जीते हैं। मुख में कुछ नहीं रहजाता अर्थात् मुख्य प्राण अपने लिये कुछ भी नहीं रखता और यह प्राण उतना उपकारी और स्वार्थविहीन है कि जो अपना पृथक् नाम भी नहीं चाहता और न अन्य इन्द्रिय के समान इसकी सत्ता ही प्रतीत होती है। देखो जैसे नेत्र आदि के पृथक् २ नाम हैं और इनके लिये एक २ पृथक् स्थान बने हुए हैं और प्रत्यक्ष में इनकी क्रिया भी प्रतीत होती है। लोग आंख देख कहते हैं कि यह "नेत्र" है। यह इसका स्थान है। यह कान है। यह नासिका है। इस प्रकार से यह "मुख्य प्राण" है ऐसा मुख को देखकर कोई भी नहीं कहता है अर्थात् यह प्राण गुप्त सा है। परन्तु इसीके अधीन इन इन्द्रियों का जीवन है। ऐसा यह निःस्वार्थी है। इस परस्पर भक्षक जगत् में जो केवल परार्थ का ही आचरण करता है। उसका सहायक अदृश्यमूर्ति भगवान् होते हैं। लोक में भी अनेक मनुष्य इसके पक्ष को लेने लगते हैं। इस हेतु उसका विनिपात नहीं होता। मनुष्य समाज में भी जो ऐसा आचरण करता है। उसी एक से समाज विजयी होता है ऐसी शिक्षा इससे देते हैं॥ ७॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः॥ ८॥

अनुवाद—वे देव (परस्पर विचार कर) बोले कि वे कहाँ थे जिन्होंने हम लोगों की रक्षा की। वे तो इसी मुख के अभ्यन्तर में रहते हैं। इसी हेतु यह "अयास्य" और "आङ्गिरस" कहलाते हैं। क्योंकि अङ्गों का ही यह रस है ॥ ८ ॥

पदार्थ—अब आख्यायिका के द्वारा ही प्राण के अनेक गुणों के वर्णन करने के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं। जब असुर हारगये तब (ते) वे विजयी देव परस्पर बोले कि (क+नु) कहां (सः) वे (अभूत्) थे (यः) जिन्होंने (इत्थम्) इस प्रकार (नः) हम लोगों की (असक्त) रक्षा की अथवा देवत्व को प्राप्त करवाया। जिसकी सहायता से आज हम लोग विजयी हुए हैं। वे हम लोगों के हितकारी और कल्याणदायक कहां रहते हैं? अभी तक इनको हम लोग नहीं जानते थे। इस पर उनमें से ही कोई कहता है (अयम्) ये (आस्ये) मुख में जो आकाश है उसके (अन्तः+इति) अभ्यन्तर में निवास करते हैं। तब उन देवों ने उन्हें जाना। अब आगे इस संवाद से किस प्राणसम्बन्धी गुण का वर्णन हुआ सो कहते हैं—जिस हेतु देवों ने कहा कि ये मुख्याभ्यन्तर में रहते हैं इस हेतु (सः+अयास्यः) वह मुख्यप्राण "अयास्य" कहाते हैं और (हि) जिस हेतु (अङ्गानाम्+रसः) सम्पूर्ण अवयवों का रस है अतः (आङ्गिरसः) "आङ्गिरस" कहलाते हैं। अयास्य=(अयम्+आस्य) ये दोनों पद मिलकर "अयास्य" हो गया। यह आर्ष प्रयोग है। यह "प्राण" "आस्य" मुख में रहता है इस हेतु "अयास्य"। आङ्गिरस—अङ्गिरा ऋषि के पुत्र को भी "आङ्गिरस" कहते हैं। परन्तु यहां अङ्गों को रस पहुँचाने के कारण मुख्य प्राण का ही नाम "आङ्गिरस" है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—ते हेति। इदानीं पुनरपि आख्यायिकयैव प्राणस्य गुणानुपवर्णयितुं प्रकरणमिदमारभ्यते। पराभूतेष्वसुरेषु ते हि विजयिनो देवाः परस्परमूचुः। नु ननु वितर्के। क कस्मिन् स्थाने सोऽभूत्। यः। नोऽस्मान्। इत्थमनेन प्रकारेण असक्त अरक्षदनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। यद्वा असक्त असञ्जयत स्वस्वभावं संयोजितवान् देवत्वं प्रापयामासेत्यर्थः। योऽस्मान् रक्षितवान् सोऽद्यावधि क्वासीदज्ञातः सन्। तेषां मध्ये केऽपि कथयन्ति। अयम् आस्ये मुखे य आकाशस्तस्मिन्नन्तरं सदा तिष्ठति। अनेन सम्वादेन प्राणस्य के गुणा दर्शिता इत्याह—स इति। ते ह्योचुरयमास्ये तिष्ठतीति हेतोर्निवासाच्च अयं प्राणः अयास्यः कथ्यते अयमास्ये वर्तत इत्ययास्य इति व्युत्पत्तिः। तथाहि यतः अङ्गानां सर्वावयवानां हि रसोऽस्ति। अतएवायमाङ्गिरसोऽप्याख्यायते ॥ ८ ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह देवता 'दूर्' नामवाली है क्योंकि इससे "मृत्यु" दूर रहता है। जो ऐसा जानता है उस उपासक से भी मृत्यु दूर रहता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—यद्यपि प्राण स्वतः पवित्र और पापरूप मृत्यु से अविद्ध है, तथापि "संसर्ग से दोष और गुण होते हैं" इस नियम के अनुसार पापविद्ध इन्द्रियों के संसर्ग में रहनेहारा यह मुख्य प्राण भी कदाचित् वैसा हो। इस शङ्का के निवारणार्थ प्राण के पापविद्धत्व को दिखलाते हैं—(वै) निश्चय (सा+एषा+देवता) जिसके निकट जा असुर ध्वस्त हो गये और जो मुख में रहता है सो यह प्राणस्वरूप परमा देवता (दूर्नाम) "दूर्" ऐसा नाम वाली है अर्थात् उसका नाम "दूर्" है। (हि) जिस हेतु (अस्याः) इस प्राणरूप देवता से (मृत्युः) पापरूप मृत्यु (दूरम्) दूर रहता है इस हेतु इसका

यौगिक नाम ही "दूर्" हो गया। आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो कोई प्राणदेवता को इस प्रकार जानता है (अस्मात्) उस उपासक से भी (मृत्युः+दूरम्) मृत्यु दूर (भवति) रहता है (ह+वै) यह निश्चय है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—सा वा इति। यद्यपि प्राणः स्वतः पूतः पाप्मना मृत्युनाऽविद्धश्च तथापि "संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति" इति नियमेन पापविद्धानामिन्द्रियाणां संसर्गादयमपि कदाचित्तादृक् स्यादिति शङ्कां निराकर्तुमस्याविद्धत्वं दर्शयति—असुराः खलु या मृत्वा विप्वञ्चो विनेशुर्या चास्ये निवसति। सा वा एषा प्राणस्वरूपा परमा देवता। दूर्नाम दूरित्येवं व्याख्यायते अस्या "दूर्" इति नाम धेयम्। कथमस्या दूर्नामत्वमित्यत आह—दूरं हीति। अस्या देवतायाः सकाशात् मृत्युरासङ्गलक्षणः पाप्मा। दूरं बहु दूरे वर्तते। न पाप्मा अस्याः समीपमप्यागन्तुमर्हति। एवंगुणविशिष्टप्राणविदः फलमाह—य एवं वेद। अस्माद् विज्ञानिनः। दूरं दूरे मृत्युः पाप्मलक्षणो भवति। ह वै निपातौ निश्चयं द्योतयतः। उपासकोऽपि तादृश एव भवतीति निश्चयः ॥ ९ ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्राऽऽसां दिशामन्तस्तद्गमयाञ्चकार तदाशां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १० ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह प्राणस्वरूपा देवता इन देवताओं के पापरूप मृत्यु को हननकर जहां इन दिशाओं का अन्त है वहां ले गई और वहां इनके पापों को स्थापित कर दिया। इस हेतु न जन के निकट और न उस दिशा के अन्त में किसी को जाना चाहिये ऐसा न हो कि उस ओर जाने से पापरूप मृत्यु को मैं प्राप्त हो जाऊं, इति ॥ १० ॥

पदार्थ—(सा+वै+एषा+देवता) निश्चय, सो यह प्राणरूपा देवता (एतासाम्+देवतानाम्) इन इन्द्रियरूप देवताओं के (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अपहत्य) हनन कर (यत्र) जहां (आसाम्) इन (दिशाम्) दिशाओं का (अन्तः) अन्त है (तत्) वहां (गमयाञ्चकार) ले गई और (तद्) वहां ही (आसाम्) इन देवताओं के (पाप्मनः) पापों को (विन्यदधात्) स्थापित कर दिया (तस्मात्) उस हेतु (जनम्) उस जन के निकट (न+इयात्) न जाय और (अन्तम्) उस दिशा के अन्त (न+इयात्) न जाय (नेत्) ऐसा न हो कि यदि मैं उस ओर जाऊंगा तो (पाप्मानम्+मृत्युम्) पापस्वरूप मृत्यु को (अन्ववायानि) पालूंगा (इति) ॥ १० ॥

भाष्यम्—शुद्धतमोजन इतरानपि शनैः शनैः स्वसंसर्गेण स्वसदृशानेव कर्तुं चेष्टते। अन्ततः करोत्यपि। इममेवार्थं विशदयति सा वा एषा देवतेति। अत्र विवेकोदय-सुसंस्कृत-पवित्रशुद्धजनाध्यासितदेशादतिरिक्तो देशो दिशान्तशब्देनोच्यते। यत्र सर्वदा पापिनो निवसन्ति स एव दिशामन्त इत्यर्थः। तत्रापि दिक्शब्देन दिक्स्थः पुरुष उच्यते। यत्र यस्मिन् देशे। आसां दिशामन्तोऽस्ति अर्थाद्यत्र पापिष्ठस्तिष्ठति। सा वा एषा देवता प्राणस्वरूपा। एतासां देवतानां प्राजापत्यानामिन्द्रियस्वरूपाणाम्। पाप्मानं मृत्युं पापाकृतिं मृत्युम्। अपहत्य विनाश्य। तत्तत्र दिशामन्ते तत्संस्थे जने। गमयाञ्चकार स्थापितवती। तत्तत्रैव दिक्स्थे जने। आसां देवतानां पाप्मनः पापानि। विन्यदधान् निचखान्। प्राणस्य संसर्गेण सर्वा निष्पापा बभूवुरित्यर्थः। पापिसंसर्गनिवारणायाहयस्मात् पापं

पापिनि तिष्ठति। तस्माद्धेतोः जनं निक्षिप्तपापं जनं प्रति। न कोऽपि इयात् गच्छेत्। तं दिशानामन्तमपि यत्र पापी तिष्ठति नेयात् न गच्छेत्। कथम्? नेदिति परिभयार्थे निपातः। यद्यहं गच्छेयं पाप्मानं मृत्युम्। अन्ववयानि अन्ववाप्स्यामीति भीत्या न गच्छेदित्यर्थः॥ १०॥

भाष्याशय—शुद्धों में भी जो शुद्धतम जन है वह अपने संसर्ग से धीरे २ अन्यों को भी अपने समान करने की चेष्टा करता है अन्त में वैसे ही बना भी देता है इसी अर्थ के दिखलाने के हेतु आगे का प्रकरण कहते हैं।

दिशा का अन्त—जहां विवेकी पुरुष रहते हैं उसे मध्य देश कहते हैं उससे अतिरिक्त जो देश उसको दिशा का अन्त कहते हैं। अर्थात् "पापिष्ठ मनुष्य का" नाम यहां "दिशा का अन्त" है, मानो प्राणदेव अन्यान्य देवों के सब पाप लेकर पापिष्ठजनों के निकट ले गये और उन्हीं पापियों में स्थापित कर दिया। इस हेतु ऋषि कहते हैं कि (यत्र दिशाम्+अन्तः) जहां दिशा का अन्त है अर्थात् जहां पापी जनों का निवास है वहां ले गये और वहां के मनुष्यों के बीच देवों के सब पापों को स्थापित कर दिया, इस हेतु जिस २ आदमी में मानो प्राणदेव पाप रखते हैं उस २ जन के निकट (न+इयात्) न जाय और न उस वासस्थान में जाय क्योंकि पापियों के संसर्ग से अवश्य पाप पकड़लेता है। यदि वह धर्म्म में पूर्ण दृढ़ न हो तो उसकी बड़ी क्षति होती है। अतः पापिष्ठ पुरुष का संसर्ग न करे॥ १०॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत्॥११॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह देवता इन देवताओं के पापरूप मृत्यु को विनष्ट कर पश्चात् इन देवताओं को मृत्यु से परे ले गई॥ ११॥

पदार्थ—सम्प्रति कैसे वे इन्द्रिय देवत्व को प्राप्त हुए इसको कहने के लिये आगे का प्रकरण कहते हैं (सा+वै+एषा+देवता) निश्चय, सो यह प्राणस्वरूपा देवता (एतासाम्—देवतानाम्) इन वागादि देवताओं के (पाप्मानम्) पापस्वरूप (मृत्युम्) मृत्यु को (अपहत्य) विनष्ट करके (अथ) पश्चात् (एनाः) इन वागादि देवताओं को (मृत्युम्+अत्यवहत्) मृत्यु से दूर ले गई॥ ११॥

भाष्यम्—विस्पष्टार्थत्वान्न कृतं संस्कृतभाष्यम्॥ ११॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते॥ १२॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह प्राणदेव सर्वप्रधाना अथवा आद्या वाग्देवता को ही प्रथम मृत्यु से परे ले गये॥ सो यह वाग्देवता जब मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वही अग्नि हुई। सो यह अग्नि पाप से अतिक्रान्त हो मृत्यु के परे दीप्यमान हो रहा है॥ १२॥

पदार्थ—अब प्रत्येक इन्द्रिय की शुद्धि को कहते हैं—(वै) निश्चय (सः) वह प्राणदेव (प्रथमाम्) सबों में श्रेष्ठ प्रधान अथवा पहली (वाचमेव) वाग्देवता को ही (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (सा) वह वाग्देवता (यदा) जब (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्यमुच्यत) अतिक्रमण करके स्वयं मुक्त हो गई तब (सः) वही वाणी (अग्निः+अभवत्) अग्नि हो गई (सः+अयम्+अग्निः) सो यह अग्नि (अतिक्रान्तः) पाप से निकलकर (मृत्युम्+परेण) मृत्यु से परे (दीप्यते) देदीप्यमान हो रहा है॥ १२॥

भाष्यम्—सम्प्रति प्रत्येकं शुद्धिमाह—स वै प्राणोदेवः। प्रथमां सर्वासु देवतासु प्रधानभूतामाद्यां वा। वाचं वाग्देवीमेव। मृत्योः पारम्। अत्यवहत् नीतवान्। अथ सा वाग्देवता। यदा यस्मिन् काले। मृत्युं पाप्मानं मृत्युम्। अत्यमुच्यत अतीत्यामुच्यत स्वयं मोचिता। तदा सा वागेव। स प्रसिद्धोऽग्निरभवत्। यतोऽग्नेर्वागित्याम्नायः। सोऽयमग्निः प्रसिद्धो लोकाग्निः पापान्निष्क्रान्तः सन्। परेण मृत्योः मृत्योः परस्तात् दीप्यते प्रकाशते। प्राणिष्वाग्नेयशक्त्या वाणी वर्धते अग्नेरेवांशो वाणीत्यर्थः। सा च वाणी पापविद्धा। नायमग्निः। तत्कथमंशांशिनोर्भेदः। भेदस्तु शरीरसम्बन्धात्। यदा सैववाणी विशुद्धा भवति तदाग्निवद् दीप्यत इत्यर्थः॥ १२॥

भाष्याशय—भाव इसका यह है कि प्राणियों में आग्नेय शक्ति से ही वाणी बढ़ती है अर्थात् अग्नि का ही अंश वाणी है। परन्तु वाणी तो पाप से विद्ध और यह प्रसिद्ध अग्नि नहीं। अंश अंशी में यह भेद कैसे हुआ ?।

उत्तर - शरीर के सम्बन्ध से भेद है। जब वही वाणी विशुद्ध होजाती है तब अपने पिता अग्नि के समान प्रकाशित होती रहती है॥ १२॥

अथ ह प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते॥ १३॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्राणदेव (घ्राणेन्द्रिय) को मृत्यु से परे ले गये। सो वह घ्राणदेव जब मृत्यु से अतिमुक्त हुआ तब वायु होगया। सो यह वायु पाप से अतिक्रान्त होकर मृत्यु के परे बह रहा है॥ १३॥

पदार्थ—(अथ) पश्चात् वह प्राणदेव (प्राणम्) घ्राणेन्द्रिय देव को (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (सः+यदा) वह जब (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु को अतिक्रमण करके मुक्त हो गया तब (सः+वायुः+अभवत्) वह वायुवत् होगया (सः+अयम्+वायुः) सो यह वायु (मृत्युम्+परेण) मृत्यु के परे (अतिक्रान्त) पाप से निर्मुक्त हो (पवते) बह रहा है प्राणस्थ वायु को बाह्य वायु से सहायता मिलती है इसी का वह अंश है॥ १३॥

भाष्यम्—अथेति। अथ वाग्देवताया मृत्योरतिक्रमणानन्तरम्। प्राणम् घ्राणेन्द्रियान्तः संचारिणं प्राणमित्यर्थः। पवते वाति। शेषमतिरोहितार्थम्॥ १३॥

अथ ह चक्षुरत्यवहत् तद्यदा मृत्युमत्यमुच्य स आदित्योऽभवत्सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति॥ १४॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्राणदेव चक्षुरिन्द्रिय देव को मृत्यु से परे ले गये। वह मृत्यु से अतिमुक्त हुआ तब वह आदित्य हुआ। सो यह आदित्य पाप से अतिक्रान्त हो मृत्यु से परे प्रकाशित हो रहा है॥ १४॥

पदार्थ—अनन्तर वह प्राणदेव (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रियदेव को (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (तद्+यदा) वह जब (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु को अतिक्रमण करके मुक्त होगया तब (सः+आदित्यः+अभवत्) वह सूर्यवत् हो गया (सः+असौ+आदित्यः) सो यह आदित्य (मृत्युम्+परेण) मृत्यु के परे (अतिक्रान्तः) पाप से विनिर्मुक्त हो (तपति) प्रकाशित होता है॥ १४॥

भाष्यम्—अथेति । स वै प्राणोदेवः । चक्षुरिन्द्रियदेवमत्यवहत् । इत्यादि समानम् । तपति प्रकाशते ॥ १४ ॥

अथ ह श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥ १५ ॥

अनुवाद—वह प्राणदेव श्रोत्र देवता को मृत्यु से परे ले गये । जब वह मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वे दिशाएं हो गईं । सो वे दिशाएं मृत्यु पाप से विनिर्मुक्त हो गईं ॥ १५ ॥

पदार्थ—(अथ) पश्चात् वह प्राणदेव (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रिय देवता को (अत्यवहत्) मृत्यु से परे ले गये (तद्+यदा) वह जब (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु से अतिक्रमण करके मुक्त हो गई तब (ताः+दिशः+अभवन्) वे दिशाएं हुईं (ताः+इमाः+दिशः) सो वे दिशाएं (मृत्युम्+परेण) मृत्यु के परे (अतिक्रान्ताः) पाप से विनिर्मुक्त हो गईं । १५ ॥

भाष्यम्—अथेति । अनन्तरम् । श्रोत्रं कर्णेन्द्रियदेवताम् । दिशः प्राच्याद्यः । तत्सम्बन्धात् श्रोत्रस्य । शेषं समानम् ॥ १५ ॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवं ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६ ॥

अनुवाद—अनन्तर प्राणदेव मनोदेवता को मृत्यु के परे ले गये । जब वह मनोदेवता मृत्यु से अतिमुक्त हुई तब वह चन्द्रमा हुई । सो यह चन्द्रमा पाप से निष्क्रान्त होकर मृत्यु से परे शोभित होता है । जो कोई ऐसा जानता है उसको भी इसी प्रकार से यह प्राणस्वरूपा देवता मृत्यु से परे ले जाती है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर वह प्राणदेव (मनः+अत्यवहत्) मनोरूप देवता को मृत्यु से परे ले गये (यदा) जब (तत्) वह मनोरूप देव (मृत्युम्+अत्यमुच्यत) मृत्यु से छूट गया तब (सः+चन्द्रमः+अभवत्) वह चन्द्रमा हुआ (सः) वह (असौ) यह चन्द्रमा (अतिक्रान्तः) पाप से निकलकर (मृत्युम्+परेण) मृत्यु से परे (भाति) शोभित हो रहा है । आगे फल कहते हैं— (यः) जो उपासक (एवम्+वेद) ऐसा जानता है (एनम्) इस विज्ञानी पुरुष को (एवम्+ह+वै) पूर्वोक्त प्रकार से ही (एषा+देवता) ये प्राणस्वरूपा देवता (मृत्युम्+अतिवहति) मृत्यु के पार पहुंचाती है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अथेति । भाति विराजते । फलं निर्दिशति । यो हि उपासकः एवं वेद । एनमपि विज्ञानिनमुपासकम् । एवं ह वै अनेनैव प्रकारेण । एषाप्राणस्वरूपा देवता मृत्युमतिवहति मृत्युमतिक्रमय्य कल्याणपदं वहति प्रापयति । अन्यद्विस्पष्टम् ॥ १६ ॥

अथाऽऽत्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

अनुवाद—अनन्तर उस प्राण ने अपने लिये भोज्यान्न को गाया । क्योंकि जो कुछ अन्न खाया जाता है वह प्राण से ही खाया जाता है इस प्राण में अन्न प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर उस प्राण ने (आत्मने) अपने लिये (अन्नाद्यम्) अन्न+आद्य=खाने योग्य अन्न को (आगायत्) अच्छे प्रकार गाया (हि) क्योंकि प्राणीमात्र से (यत्+किञ्च) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अद्यते) खाया जाता है (तत्) वह (अनेन+एव) प्राण से ही (अद्यते) खाया जाता है (इह) इस अन्न में प्राण (प्रतितिष्ठति) प्रतिष्ठित है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नियोक्तृणामर्थं सम्यक् साधयित्वा केषांचिदप्यपकृतिमकृत्वा सर्वभूतानुद्वेगेन यदि कोऽपि स्वार्थमपीहते तद्धि न दोषाय। इममर्थमनया कण्डिकया परिशोधयति। प्राणो ह्युद्गाता स्वशुद्धिशक्तिसम्पन्नेन अनेनाऽऽगानेन सर्वा देवताः पाप्मनोमृत्योरतिक्रमय्य स्वदेवस्वभावं प्रापयामास। इदमेवाऽऽसीद् देवतानां महत्कार्य्यं तदनुष्ठितम्। सम्प्रति आत्मार्थाऽऽगानं प्राणस्य दर्शयति। अथानन्तरम्। स प्राणः। आत्मने आत्मार्थम्। अन्नाद्यमागायत् अत्तुं भोक्तुं योग्यम् आद्यम् "ऋहलोर्ण्यत्" इत्यदेर्ण्यत्। अन्नञ्च तदाद्यमिति—अन्नाद्यं भोज्यान्नमित्यर्थः। आगायदागानं कृतवान्। न केवलं प्रजापतिशरीरे प्राणस्यान्नस्वीकारे श्रुतिरेव मानं किन्तु प्राणिष्वन्नस्वीकारदर्शनात् कारणेऽपि तदनुमेयामित्याभिप्रेत्याह—यद्धीति। हि यतः। प्राणिभिः। यत्किञ्च यत्किञ्चित्। अन्नं सामान्यतोऽन्नमात्रम्। अद्यते भक्ष्यते तदन्नमात्रम्। अनेनैव प्राणेन अद्यते भक्ष्यते तस्मात्स्वार्थमेतदागानम्। नन्वेतदवधारणं कथं प्राणवद्वागादीनामप्यन्नकृतोपकारदर्शनादित्यत आह—इहेति। इहास्मिन् प्राणे अन्नं प्रतिष्ठितम्। अतो वागादीनां प्राणद्वारक एवान्नकृतोपकारको न तु स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः। ननु तर्हि प्राणस्यापि वागादिवत्स्वार्थागानादासङ्गपापवेधः स्यादित्याशङ्कायामाह—इहान्ने देहाकारपरिणते प्राणः प्रतितिष्ठति। तदनुसारिणश्च वागादयः स्थितिभाज इति प्राणान्नस्य स्वपरस्थित्यर्थत्वान्न पापवेधः प्राणस्येत्यर्थः॥ १७॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तं समन्तं परिण्यविशन्त। तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवं ह वा एनं स्वा अभिसंविशन्ति भर्त्ता स्वानां श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदं स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्य्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्य्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्य्येभ्यो भवति॥ १८॥

अनुवाद—उन्होंने प्राण से कहा कि हे प्राण! निःसन्देह, जो अन्न है वह सब इतना ही है जिसको आपने अपने लिये आगान किया है। इस हेतु पश्चात् इस अन्न में हम लोगों को भी भाग दीजिये। तब प्राण ने कहा आप सब कोई मुझ में चारों ओर से पैठ जायं। वे देव भी "तथास्तु" कहकर चारों ओर से उसमें पैठ गये। इस हेतु प्राणीमात्र जो अन्न इस प्राण से खाता है उसी से वे वागादि तृप्त रहते हैं जो ऐसा जानता है इसमें भी निश्चय वैसे ही उसके ज्ञाति प्रविष्ट होते हैं अर्थात् उसकी शरण में आते हैं। अपने ज्ञातियों का भर्त्ता (पालक) होता है, पूज्य होता है, आगे चलने वाला होता है, अन्नाद (अन्न खानेवाला) अर्थात् व्याधिरहित और अधिपति होता है और ऐसे जाननेहारे के, ज्ञातियों में से जो कोई प्रतिकूल होकर ईर्ष्या करनेहारा होता है वह अपने पोषणीय पुरुषों के पालन में कदापि समर्थ नहीं होता। परन्तु जो कोई इसके अनुकूल है और जो कोई इसके अनुकूल होकर अपने पोषणीय पुरुषों को पालन करना चाहता है वह अपने भरणीय पुरुषों के लिये निश्चय ही समर्थ होता है॥ १८॥

पदार्थ—पुनः प्राण के गुणों को दिखलाने के हेतु आगे का प्रकरण कहते हैं। जब प्राण ने अपने लिये अन्न गान किया तब (ते+देवाः) वे वागादिक देव प्राण की इस चेष्टा को देख (अब्रुवन्) बोले। हे प्राणदेव ! (यद्+अन्नम्) जो अन्न प्राणीमात्र की स्थिति का कारण है (इदम्+सर्वम्) यह सब अन्न (एतावद्) इतना ही है (वै) इसमें सन्देह नहीं अर्थात् जितना अन्न आपने गानशक्ति से उपार्जित किया है उससे अधिक जगत् में अन्न नहीं है। हे प्राणदेव ! परन्तु (तद्) उस अन्न को आपने (आत्मने+आगासीः) अपने लिये गाया है जितने प्रकार के खाद्य पदार्थ हैं वे सब आपने अपने लिये कर लिये अब हम लोग क्या खाकर जीवेंगे इस हेतु (अनु) पश्चात् अपने भोग के पश्चात् (अस्मिन्+अन्ने) इस उपार्जित अन्न में (नः) हम लोगों को भी (आभाजस्व) भाग दीजिये तब ही आपकी निःस्वार्थता सिद्ध होगी (इति) इस प्रकार सब देवों के वचन सुन प्राण बोले (ते) वे भाग लेनेहारे आप सब (वै) निश्चय करके (मा) मुझ में (अभि+सं+विशत+इति) चारों तरफ से अच्छे प्रकार पैठ जायं उसी से आप सब को भाग मिल जायगा। यह सुन वे वागादि देव (तथा+इति) "तथास्तु" कह कर (तम्+समन्तम्+परिण्यविशन्त) उस प्राण में पैठ गये जिस हेतु सब वागादिदेव प्राण में पैठ गये (तस्मात्) उस कारण सब प्राणी (यद्+अन्नम्) जिस अन्न को (अनेन) इस प्राण के द्वारा (अत्ति) खाते हैं (तेन) उसी प्राणभक्षित अन्न से (एताः+तृप्यन्ति) ये वागादि देवताएं (तृप्यन्ति) तृप्त रहती हैं। आगे फल कहते हैं—(एवम्+ह+वै) निश्चय ही, इसी प्रकार अर्थात् जैसे कि मुख्य प्राण के आश्रय से अन्य इन्द्रिय जीवित रहती हैं वैसे ही (एनम्) इस प्राणवित् पुरुष में भी (स्वाः) उसके ज्ञाति (अभिसंविशन्ति) पैठे जाते हैं अर्थात् प्राणवित् पुरुष के आश्रय से जीते हैं (स्वानाम्+भर्ता) और प्राणवत् ही वह उपासक अपने ज्ञातियों का भरण पोषण करनेहारा होता है। (श्रेष्ठः) पूज्य होता है (पुरः+एता) अग्रगामी (भवति) होता है (अन्नादः) अन्न+अदः=अन्न के खानेहारा अर्थात् व्याधिरहित नीरोग सदा रहता है और (अधिपतिः) सबके ऊपर पालन करने हारा होता है। किसका यह फल कहा गया सो आगे कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो तत्त्ववित् पुरुष प्राण को पूर्वोक्त वर्णन रूप से जानता है। अब आगे प्राणवित् पुरुष के विद्वेषी का दोष कहते हैं— (उ+ह) आश्चर्य की बात है कि (स्वेषु) अपने सम्बन्धिक ज्ञाति बन्धु बान्धवों में से (यः) जो कोई (एवंविदम् प्रति) इस प्रकार से जाननेहारे उपासक के (प्रतिः) प्रतिकूल होकर (बुभूषति) उसका शत्रु बनना चाहता है। जैसे असुर देवों के शत्रु बने थे तो वह पुरुष (भार्य्येभ्यः) अपने भरण पोषण करने योग्य ज्ञातियों के भरणार्थ (न+एव) कदापि भी नहीं (अलम्+भवति) समर्थ होता है (ह) निश्चय है। अब आगे अनुकूल का लाभ कहते हैं—(अथ) और (यः) जो कोई वागादि देववत् (एतम्+एव) इसी प्राणवेत्ता पुरुष के (अनु) अनुकूल (भवति) होता है (वा) अथवा (यः) जो कोई (एतम्+अनु) इसी प्राणवित् पुरुष के अनुसरण करता हुआ (भार्यान्) अपने भरणीय पुरुषों को (बुभूर्षति) भरण करने की इच्छा करता है (सः+ह) वही (भार्य्येभ्यः) अपने भरणीय पुरुषों के लिये (अलम्+भवति) समर्थ होता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—पुनरपि प्राणस्यैव गुणान्तराणि वर्णयति। आत्मार्थमन्नं गीतवति प्राणे सति। ते देवा इतराणि इन्द्रियाणि अब्रुवन्नवोचन्। हे प्राण ! वै निश्चयः। यदन्नं सर्वेषां प्राणिनां प्राणस्थितिकारणं विद्यते। तत्सर्वमन्नमेतावदेव अतोऽधिकं नास्ति। तत्सर्वमन्नं पुनस्त्वम्। आत्मने स्वस्मै नास्मभ्यमित्यर्थः। आगासीः उद्गीथागानेनाऽऽत्मसात् कृतवानसि। इति तव स्वार्थता दृश्यते। अन्नं विना कथं वयं जीविष्यामः। अस्मात्कारणात्

हे प्राणदेव ! सर्वकल्याणगायक ! अनु पश्चात् । अस्मिन्नन्ने नोऽस्मानपि भागवतः कुरु । तदैव तव निःस्वार्थता सेत्स्यति इति देवताभिः प्रार्थितः प्राण आह—ते सर्वे यूयम् । वै निश्चयेन । मा माम् । अभिसंविशत अभितः सम्यग् प्रविशत । सर्वे यूयं मय्येव स्थितिं कुरुत पालयिष्यामि नः । एवमनुज्ञातास्ते देवास्तथेत्युक्त्वा । तं प्राणम् । समन्तं समन्तात् । परिण्यविशन्त परितो वेष्टयित्वा निश्चयेन अविशन् । यस्मात्कारणात् प्राणं परिवेष्ट्य सर्वे निविष्टवन्तः । तस्माद्धेतोः । प्राणी । यदन्नम् ! अनेन प्राणेन प्राणस्य साहाय्येन । अत्ति भक्षयति । तेनैव प्राणभक्षितेनैवाऽन्नेन । एता वागादयो देवताः । तृप्यन्ति तृप्ता भवन्ति । न स्वातन्त्र्येण भक्षयित्वा तृप्यन्त इत्यर्थः । अग्रे एतत्प्राणगुणोपासकस्य फलं कथयति । यः खलु तत्त्वविद् । एवंवेद सर्वा वागादयो देवताः प्राणाश्रिताः सन्तीति जानाति । एनम् इममुपासकम् । एवं ह वै यथा प्राणं वागादयस्तथैव स्वा ज्ञातयः । अभिसंविशन्ति । स्वानां ज्ञातीनाममिनिविष्टानाम् । प्राण इव भर्ता पोषको भवति । अन्नादोऽन्नभोक्ता व्याधिरहितः सन्दीप्ताग्निर्भवति । अधिपतिरधिष्ठाय पालयिता भवति । प्राणवदेव वागादीनामिति प्रत्येकं बोध्यम् ॥

इदानीं तदुपासकविद्वेषिणो दोषमाह—उ आश्चर्य्ये । ह निश्चयेन । स्वेषु ज्ञातीनां मध्ये यः कश्चित्पुरुषः । एवंविदं प्राणविदमुपासकं प्रति । प्रतिः प्रतिकूलःसन् । बुभूषति भवितुमिच्छति बुभूषति प्रतिस्पर्धी भवितुमिच्छति । स प्राणविद्विद्वेषी । प्राणस्य स्पर्धिनोऽसुरा इव । भार्य्येभ्यो भरणीयेभ्यः स्वेभ्यः स्वभरणीयपुरुषेभ्यः । न हैवालं भवति । हेति प्रसिद्धम् । अथ प्राणविदनुकूलस्य लाभं दर्शयति । अथ यः कश्चित् ज्ञातिः । एतमेव प्राणविदमेव । अनु अनुगतः अनुकूलो भवति । यो वा पुरुषः । एतं प्राणविदम् । अनु एव अनुसरन्नेव । भार्य्यान् भरणीयान् स्वान् । बुभूर्षति भर्तुमिच्छति । स हैव भार्य्येभ्यो भरणीयेभ्यः । अलं पर्य्याप्तो भवति ॥ १८ ॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा अङ्गानां रसः प्राणो हि वा अङ्गानां रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानां रसः ॥ १६ ॥

अनुवाद—सो यह अयास्य (मुख्य) प्राण आङ्गिरस कहलाता है क्योंकि वह अङ्गों का ही रस है, निश्चय प्राण ही अङ्गों का रस है, हां प्राण ही अङ्गों का रस है । इस हेतु जिस किसी अङ्ग से प्राण निकल जाता है वहां ही वह अङ्ग शुष्क हो जाता है क्योंकि यह प्राण ही अङ्गों का रस है ॥ १६ ॥

पदार्थ—पुनः प्राण का ही वर्णन करते हैं—(सः+अयास्यः) वह अयास्य अर्थात् मुख में रहनेहारा प्राण (आङ्गिरसः) आङ्गिरस कहलाता है । आङ्गिरस क्यों कहलाता है इसमें कारण कहते हैं (हि) क्योंकि वह प्राण (अङ्गानाम्+रसः) अङ्गों का रस है (वै) निश्चय (प्राणः+अङ्गानाम्+रसः) प्राण अङ्गों का रस है (हि+वै) इसमें कुछ भी सन्देह नहीं (प्राणः+अङ्गानाम्+रसः) मुख्य प्राण अङ्गों का रस है (तस्मात्) उसी कारण (यस्मात् कस्मात्+च) जिस किसी (अङ्गात्) अङ्ग से (प्राणः+उत्क्रामति) प्राण निकल जाता है (तद्+एव) वहां ही (तद्) वह अङ्ग (शुष्यति) सूख जाता है (हि) क्योंकि (एषः+अङ्गानाम्+रसः) यह अङ्गों का रस है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—स इति। स एष प्राणः। यस्मात्कस्माच्चानिर्धारितात् शरीरावयवाद्। उत्क्रामति तं तमवयवं त्यक्त्वोद्गच्छति। तदेव तत्रैव। तदेवाङ्गम्। शुष्यति शुष्कं भवति। एतेन ज्ञायते। एष हि प्राणोऽङ्गानां रसः। अतिरोहितार्थं शेषम् ॥ १९ ॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

अनुवाद—यह प्राण ही "बृहस्पति" कहलाता है क्योंकि निश्चय वाग्देवी ही "बृहती" है उसका यह पति है इस हेतु यह "बृहस्पति" भी है ॥ २० ॥

पदार्थ—(एषः+प्राणः) यह प्राण (बृहस्पतिः) बृहस्पति (उ) भी कहलाता है, क्योंकि (वाग्+वै) वाणी ही (बृहती) बृहती कहलाती है। अर्थात् वाणी का नाम बृहती है (तस्याः) उस वाणी का (एषः+पतिः) यह प्राण पालक है (तस्मात्) उसी कारण (बृहस्पतिः+उ) बृहस्पति भी कहलाता है ॥ २० ॥

भाष्यम्—एष इति। उरण्यर्थः। एष प्राण एव बृहस्पतिरपि। वै निश्चयेन। वागवाणी बृहती बृहच्छन्दवाच्या। तस्या वाचः। एष प्राणः पतिः पालकः। तस्मादेव। बृहस्पतिरपि। अत्र यथाऽन्नं प्राणेनाद्यते। एवमेव वेदा अपि प्राणेनैवोच्चार्य्यन्ते अधीयन्ते विचार्य्यन्ते इत्यादिक्रियाया निवर्तकः स एवास्ति। अत एव वेदानामपि गौण्या वृत्त्याऽस्याधिपतित्वं ध्वनयति। तत्र प्रथमस्य ऋगात्मकत्वम्। यथा। "वाग्वा अनुष्टुप्" सा द्वात्रिंशदक्षरा। बृहती च षट्त्रिंशदक्षरा। तेन बृहत्यामनुष्टुभोऽन्तर्भावः। साऽनुष्टुबृग्वेदमुपलक्षयति। वाग्वा ऋग्। इत्यपि ब्राह्मणम् ॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥ २१ ॥

अनुवाद—यही ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है। वाणी ही "ब्रह्म" है उसका यह पति है उसी हेतु ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(एषः+एव) यही प्राण (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मणस्पति (उ) भी कहलाता है। कैसे ? सो कहते हैं—(वाग् वै+ब्रह्म) वाणी का नाम ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्मशब्द के अनेक अर्थ होते हैं (तस्याः+एषः+पतिः) उसका यह पति है (तस्मात्) उस हेतु (ब्रह्मणस्पतिः+उ) ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—एष इति। एष प्राण एव ब्रह्मणस्पतिरपि। कथम्। वाग् वै ब्रह्म निगद्यते। वाचो हि ब्रह्मनामधेयमनेकार्थत्वात्। तस्या एष पतिः। ब्रह्मणो यजुर्वेदस्य वा एष पतिरिति ध्वन्यते ॥ २१ ॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यं सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

अनुवाद—यह प्राण ही साम भी कहलाता है। कैसे ? "सा" का अर्थ "वाग्" है और "अम" का अर्थ "प्राण" है। "सा+अम" दोनों मिलकर "साम" बनता है, यहां यही साम का सामत्व है। अथवा यह प्राण पुत्तिका-शरीर के सम (तुल्य) है। मशक शरीर के सम है। गज

शरीर के सम है। इन तीनों लोक के सम है। इस सब वस्तु के शरीर के सम है। उसी कारण प्राण को साम कहते हैं—जो कोई इस प्रकार इस साम (प्राण) को जानता है। यह साम की सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण के सर्व गुणों के जानने में समर्थ होता है ॥ २२ ॥

पदार्थ—अब गौण लक्षण से प्राण ही सामवेद है इसको कहते हैं। क्योंकि प्राण की ही सहायता से सामवेद का उच्चारण होता है (एषः+उ+एव+साम) यह प्राण ही "साम" भी कहलाता है। कैसे? सो आगे कहते हैं—"सा+अम" इन दो शब्द से "साम" बनता है। "तत्" शब्द के स्त्रीलिङ्ग में "सा" होता है। और "अमः" शब्द पुल्लिङ्ग माना है। यद्यपि "सामन्" शब्द नपुंसक और नकारान्त है। तथापि पृथक् २ रहने पर वैसा आकार माना गया है। इसमें कोई दोष नहीं। इस हेतु कहते हैं—(वाग्+वै+सा) वाणी ही "सा" है। क्योंकि वे दोनों शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं (एषः+अमः) यह प्राण अम है (सा+च+अमः+च+इति) सा और अम मिलकर "साम" होता है। प्रथम कहा गया है कि वाणी का पति यह प्राण है। अतः सा=वाणी। अम=प्राण। दोनों=साम। अब अन्य प्रकार से भी प्राण को "साम" कहना उचित है सो दिखलाते हैं—(उ) अथवा (यद्+एव) जिस कारण (प्लुषिणा) अणु कीट का नाम "प्लुषि" है। उस अणु कीट के शरीर के (समः) तुल्य यह प्राण है क्योंकि उस शरीर में भी प्राण है। आगे भी ऐसा ही जानना (मशकेन+समः) यह प्राण मशक शरीर के समान है। (नागेन+समः) हाथी के शरीर के समान है (एभिः+त्रिभिः+लोकैः+समः) इन तीनों लोकों के समान है क्योंकि जो बाह्यवायु है सो तीनों लोकों में किसी न किसी स्वरूप से विद्यमान है। और यही बाह्यवायु शरीर में रहने से प्राण कहलाता है। (अनेन+सर्वेण) संसार में जितनी वस्तु है उस सबके सम हैं अथवा इस सब जगत् के सम है। (तस्माद्+उ+एव+साम) उसी कारण से यह प्राण साम कहलाता है। यहां इतना और जान लेना चाहिये कि "साम और सम" एकार्थक मान लिया गया है तब ही यह व्यवस्था होगी। अब आगे फल कहते हैं—(यः) जो उपासक (एवम्) इस प्रकार से (एतत्+साम) इस सामवेद सदृश प्राण को (वेद) जानता है (साम्नः+सायुज्यम्) वह साम अर्थात् प्राण की (सायुज्यम्) समानता को और (सलोकताम्) समान लोकता को (अश्नुते) प्राप्त होता है। प्राण की समानता वा सलोकता यही है कि प्राण के स्वरूप अर्थात् तत्त्व को अच्छे प्रकार जानना। जो जिसको जानता है वह तद्रूप कहलाता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—एष इति। प्राणस्य गौणसामत्वमाह—एष उ एव साम। कथम्? सा+अम इति पदद्वयं विभज्यार्थः क्रियते। वाग्वै सा। स्त्रीलिङ्ग शब्द वाच्यवस्तुमात्रविषयः साशब्दः। अतः सा पदेन वाग्गृह्यते। पुंलिङ्गशब्दाभिधेयवस्तुमात्रविषयोऽमशब्दः। अत आह—"अमैष" एष प्राणः अमः सा च अमश्चेति साम इत्यार्षव्युत्पत्तिः। तत्साम्नः सामत्वम्। प्रकारान्तरेण सामत्वं साधयति। यद्+उ+एव इति पदच्छेदः। उ शब्दो विकल्पार्थः। यद्यस्माद्धेतोः अयं प्राणः सूत्रात्मा। प्लुषिणा पुत्तिकाशरीरेण समः तच्छरीर व्यापकत्वाद्। मशकशरीरेण गजशरीरेण च समः। एभिस्त्रिभिर्लोकैस्तुल्यः। बाह्यस्य प्राणस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्। यत्किञ्चन दृश्यते तेन सर्वेणानेन वस्तुनाऽस्य समत्वं। तस्मादेव उ साम। समसामशब्दयोस्तुल्यार्थग्रहणात्। फलमाह—य एवमेतत्सामवेद। स सामविद्। सामरूपस्य प्राणस्य। सायुज्यं सलोकताम्। अश्नुते प्राणस्य सर्वतत्त्वं सम्यग्जानातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदं सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च गीथा चेति स उद्गीथः ॥ २३ ॥

अनुवाद—यह प्राण ही उद्गीथ भी है, निश्चय प्राण "उत्" है क्योंकि प्राण से ही यह ग्रथित है। वाग् ही "गीथा" है। "उत्" और "गीथा" मिलकर "उद्गीथ" हुआ है ॥ २३ ॥

पदार्थ—प्राण का उद्गीथत्व साधते हैं (एषः+वै) निश्चय यह प्राण ही (उद्गीथः+उ) उद्गीथ भी कहलाता है (वै) निश्चय (प्राणः+उत्) उत् शब्द का अर्थ प्राण है (हि) क्योंकि (प्राणेन) प्राण से ही (इदम्+सर्वम्) यह सब वस्तुमात्र (उत्तब्धम्) ग्रथित है। और (वाग्+एव) वाणी ही (गीथा) गीथा है अर्थात् गीथा शब्द का अर्थ वाणी है। (उत्+च+गीथा+च) "उत्" और 'गीथा" ये दोनों शब्द मिलकर (इति+सः+उद्गीथः) वह "उद्गीथ' शब्द बनता है। पूर्व में कहा गया है कि "उद्गीथ" नाम एक विधि का है। इसमें गान किया जाता है। प्राण से ही गान भी होता है। इस हेतु मानो उद्गीथ भी प्राण ही है। यह प्राण की स्तुति है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—एष इति। प्राणस्योद्गीथत्वं साधयति। प्राणेनैवोद्गीथस्य सम्पाद्यत्वात् सम्पाद्यसम्पादकयोरभेदविवक्षया। एष उ वा उद्गीथः। प्रक्रियामाह—प्राणो वा उत् उच्छब्दाभिधेयः प्राणः। यतः प्राणेनैवेदंसर्वम्। उत्तब्धमस्ति ग्रथितमस्ति। तथा वागेव गीथा गीथाशब्दवाच्या वाग्। तेन उच्च गीथा चेति व्युत्पत्त्या उद्गीथशब्दसिद्धिः ॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्द्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—इसमें यह (आख्यायिका) भी है। चैकितानेय ब्रह्मदत्तऋषि सोम को पीते हुए बोले कि इस अयास्य आङ्गिरस उद्गाता ने यदि इस प्राण को छोड़ अन्य की सहायता से उद्गान किया हो तो उसके मूर्धा को सोमराजा गिरा देवे क्योंकि उसने वाणी और प्राण से ही गाया है ॥ २४ ॥

पदार्थ—प्राण ही उद्गीथ है। इसको पहले कह आये हैं। इसी विषय को आख्यायिका के द्वारा विस्पष्ट करते हैं (तत्) इस विषय में (ह+अपि) एक आख्यायिका भी है (चैकितानेयः) चैकितानि ऋषि के पुत्र (ब्रह्मदत्तः) ब्रह्मदत्त ऋषि एक समय (राजानम्) सोमरस को (भक्षयन्) पीते हुए (उवाच) बोले अपने को ही निर्देश करते हुए बोले (अयास्यः+आङ्गिरसः) अयास्य आङ्गिरस प्राण अर्थात् प्राण तत्ववेत्ता मैंने (यद्) यदि (इतः+अन्येन) इस प्राण को छोड़कर अन्य इन्द्रिय की सहायता से (उदगायत्+इति) उद्गान अर्थात् उद्गीथ का गान किया हो तो (त्यस्य) उस मेरे (मूर्धानम्) मूर्धा को (अयम्+राजा) यह सोमराजा (विपातयतात्) अच्छे प्रकार गिरा देवे। ऐसी प्रतिज्ञा उस ब्रह्मदत्त ने क्यों की? सो आगे कहते हैं—(हि) क्योंकि (सः) उस ब्रह्मदत्त ने (वाचा+च) वाणी से (प्राणेन+च) और प्राण की सहायता से ही (उद्गायत्+इति) उद्गान किया था ॥ २४ ॥

भाष्यम्—एष प्राण एवोद्गीथदेवता न वागादिरित्युक्तार्थदृढीकरणायाऽऽख्यायिकामाह—तदिति। तत्तस्मिन्नर्थे। ह एषाऽऽख्यायिकापि प्रवृत्ता। का सा। चिकितानस्यापत्यं चैकितानिः तस्यापत्यं युवा चैकितानेयः। ब्रह्मदत्तो नामतो ब्रह्मदत्तः। विश्वसृजामृषीणां सत्रे। राजानं राजशब्दाभिधेयं सोमं सोमोऽपि राजा। राजृ दीप्तौ। सोमपानेन दीप्तिमान्

भवति लोकोऽतः स राजोच्यते । तं सोमम् । भक्षयन् पिवन् सन् । उवाच । किमुवाच । आत्मानं निर्दिशन्नाह । एषोऽयास्य आङ्गिरसः प्राणः, अर्थात् प्राणस्वरूप उद्गाता । यद्यदि । इतोऽस्मात्प्राणात्पूर्वोक्तादन्येन देवान्तरेण । उदगायद् उद्गानमुद्गीथ विधिं निर्वर्तितवानिति । तर्हि । त्यस्य तस्योद्गातुर्मूर्द्धानम् । अयं राजा सोमः । विपातयतात् शिरसो मूर्धानं भूमौ विस्पष्टं पातयतु । कथं स ईदृशीं प्रतिज्ञां कृतवानिति ब्रूते । हि यतः । स उद्गाता । वाचा च प्राणप्रधानया प्राणेन चैव । उदगायदिति । प्राणेनैवोदगायद् नान्यैर्देवैरित्यर्थः ॥ २४ ॥

भाष्याशय—भाव इसका यह है कि प्राण से ही गान करना चाहिये । जब प्राण वश में रहता है तब इन्द्रिय भी अपने २ कार्य में तत्पर रहते हैं । पढ़ने वाला पढ़ रहा है परन्तु उसका मन कहीं अन्यत्र है । उद्गीथ गान कर रहा है परन्तु मन कहीं अन्यत्र लगा है । जब प्राण वश में रहता है यह अव्यवस्था नहीं होती वाणी से जो वचन निकलता है इसमें प्राण ही मुख्य कारण है । वाणी तो एक यन्त्रवत् ही है । इस हेतु "वाचा" पद कहने से कोई क्षति नहीं ॥ २४ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन् वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसम्पन्नयाऽर्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एव । अथो यस्य स्वम्भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५ ॥

अनुवाद—जो उपासक उस इस सुप्रसिद्ध सामवाची प्राण के धन को जानता है इसको भी धन होता है । निश्चय उसका स्वर ही धन है । इस हेतु कर्म करनेहारे ऋत्विक् को चाहिये कि वाणी में स्वर की इच्छा करे । तब उस स्वरसम्पन्न वाणी से ऋत्विक् कर्म्म करे । जैसे जिसको धन होता है उसको (साधारण जन) देखते हैं । वैसे ही यज्ञ में अच्छे स्वरवाले ऋत्विक् को सब कोई देखना चाहते ही हैं । जो उपासक इस प्रकार साम (प्राण) के धन को जानता है इसको धन होता है ॥ २५ ॥

पदार्थ—प्राण ही उद्गीथ भी है यह निर्णय कर प्राण के स्व, सुवर्ण और प्रतिष्ठा इन तीन गुणों के विधान के लिये तीन कण्डिकाओं का आरम्भ करते हैं । प्रथम "स्व" गुण कहते हैं (तस्य) पापरूप मृत्यु से रहित (एतस्य) बृहस्पति आदि नामों से निरूपित (ह) प्रसिद्ध जो (साम्नः) साम नाम से विख्यात मुख्य प्राण है । उसके (स्वम्) धनको (यः) जो (वेद) जानता है (अस्य+ह) इस विज्ञानी पुरुष को (स्वम्) धन (भवति) होता है । (वै) निश्चय (तस्य) उसका (स्वरः+एव) स्वर ही=कण्ठ की मधुरता ही (स्वम्) धन=भूषण है (तस्मात्) उस हेतु (आर्त्विज्यम्+करिष्यन्) जो ऋत्विक् कर्म्म करने वाला है वह (वाचि) वचन में (स्वरम् इच्छेत) स्वर को चाहे अर्थात् अपनी वाणी को मधुर बनावे तब (तया) उस (स्वरसम्पन्नया) उत्तम स्वरसंयुक्त (वाचा) वाणी से (आर्त्विज्यम्+कुर्यात्) ऋत्विक् का कर्म्म करे । यदि स्वर अच्छा न हो तो ऋत्विकर्म न करे । यह फलित+ है । इसमें दृष्टान्त देते हैं (अथो) जैसे (यस्य) जिस पुरुष को इस लोक में (स्वम्+भवति) धन होता है उस धनवान् पुरुष को देखना चाहते हैं (तस्मात्) वैसे ही (यज्ञे) यज्ञ में (स्वरवन्तम्) अच्छे मधुरस्वरवाले ऋत्विक् को (दिदृक्षन्ते+एव) लोक देखना ही चाहते हैं । इस हेतु

प्रथम प्राण के धन को मनुष्य ग्रहण करे अर्थात् मधुरभाषी बने। आगे इसी गुण का उपसंहार करते हैं (यः+साम्नः+एतत्+स्वं+वेद) जो सामवाच्य प्राण के इस धन को जानता है (ह+अस्य+स्वम्+भवति) उस इस विज्ञानी को धन होता है ॥ २५ ॥

भाष्यम्—प्राणस्योद्गीथत्वमवधार्य्य स्वसुवर्णप्रतिष्ठागुणत्रयविधानार्थमुत्तरकण्डिकात्रयमाह—प्रथमं स्वगुणं ब्रूते। यः कश्चिदुपासकः। तस्य पाप्ममृत्युप्रपञ्चरहितस्य। हैतस्य बृहस्पत्यादिगुणवत्तया निरूपितस्य। साम्नः सामाभिधेयस्य प्राणस्य। स्वं धनम्। वेद जानाति तस्यास्य वेत्तुः। स्वं धनं भवति। एवं गुणफलेन प्रलोभ्याभिमुखीकृतं शुश्रूषुं प्रत्याह—वै निश्चयेन तस्य प्राणस्य सामवाच्यस्य। स्वर एव कण्ठादिमाधुर्य्यमेव स्वं भूषणम्। तस्माद्धेतोः आर्त्विज्यमृत्विक्कर्म्म करिष्यन् सन्नुद्गाता। वाचि वाण्यां स्वरं माधुर्य्यादिगुणसम्पन्नं स्वरम्। इच्छेत यत्नेन सम्पादयेत्। एवं तयैव स्वरसम्पन्नया वाचा आर्त्विज्यं कुर्यात्। सौस्वर्य्यस्य सामभूषणत्वे गमके सदृष्टान्तमाह—तस्माच्छब्दस्तथार्थः। अथो शब्दो यथार्थः। तथा च यथा यस्य स्वं धनं भवति तं लौकिका दिदृक्षन्ते। तथा यज्ञेऽपि स्वरवन्तं मधुरस्वरसम्पन्नमुद्गातारम्। दिदृक्षन्त एव द्रष्टुमिच्छन्त्येव जना इत्यन्वयार्थः। एवं सिद्धं सफलं गुणविज्ञानमुपसंहरति—भवतिहास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेदेति। उक्तार्थम्। एतच्च कण्ठनिष्ठं माधुर्यं बाह्यं धनं सौस्वर्य्यस्य ध्वनिगतत्वादित्यर्थः ॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

अनुवाद—जो उपासक उस इस प्रसिद्ध सामाभिधेय प्राण के "सुवर्ण" को जानता है। उसको भी सुवर्ण (कनक) होता है। निश्चय उसका स्वर ही सुवर्ण (कनकवद् भूषण) है। जो साम (प्राण) के इस सुवर्ण को इस प्रकार जानता है। इसको निश्चय सुवर्ण होता है ॥ २६ ॥

पदार्थ—अब प्राण के "सुवर्ण" गुण को कहते हैं। यह गुण भी स्वर की मधुरता ही है परन्तु इतना विशेष है, वह यह है—पूर्व जो धन कहा गया वह कंठगत माधुर्य्य है और यहां सुवर्णशब्द लाक्षणिक है अर्थात् इसका कण्ठ से, इसका दन्त से, इसका ओष्ठ से उच्चारण होता है इस प्रकार के ज्ञान से तात्पर्य्य है (तस्य+ह+एतस्य) पापादिरहित बृहस्पति आदिनाम सहित (साम्नः) प्राण के (सुवर्णम्) सुवर्ण को अर्थात् प्रत्येक वर्ण के उच्चारण को यथावत् (यः) जो (वेद) जानता है (अस्य+ह) इस प्राण सुवर्णवेत्ता को (सुवर्णम्+भवति) सुवर्ण=कनक सोना होता है (तस्य) उस प्राण का (वै) निश्चय (स्वरः+एव+सुवर्णम्) स्वर ही सुवर्ण=कनकवत् भूषण है। पुनः उपसंहार करते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (साम्नः+एतत्+सुवर्णम्+वेद) सामाभिधेय प्राण के इस सुवर्ण को जानता है (अस्य+ह+सुवर्णम्+भवति) इस उपासक को सुवर्ण होता है ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विस्पष्टार्थेयं कण्डिका ॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

अनुवाद—जो उपासक उस इस सामाभिधेय प्राण की प्रतिष्ठा को जानता है वह, निश्चय प्रतिष्ठित होता है। निश्चय उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है क्योंकि यह प्राण वाणी में ही प्रतिष्ठित होकर

गान को प्राप्त होता है अर्थात् गाता है। कोई कहते हैं कि अन्न में ही प्रतिष्ठित होकर गान को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

पदार्थ—अब प्राण की प्रतिष्ठा को कहते हैं। जिसमें प्रतिष्ठित हो वह प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय (यः) जो उपासक (तस्य+ह+एतस्य+साम्नः) उस इस सामाभिधेय प्राण की (प्रतिष्ठाम्) आश्रय को (वेद) जानता है वह (प्रति+ह+तिष्ठति) वाणी में प्रतिष्ठित होता है (तस्य+वै+वाग्+एव+प्रतिष्ठा) उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। यहां जिह्वामूलीय आदि स्थान का नाम वाग् है। किस वर्ण का कौन स्थान है। किस प्रकार इसका शुद्ध उच्चारण होता है। कहां पर किस वर्ण का उच्चस्वर से वा धीरे स्वर से उच्चारण होगा इत्यादि विचार का नाम यहां "वाक्" है। ऐसी वाणी ही यहां प्राण का आश्रय है। क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं (हि) क्योंकि (एषः+प्राणः) यह प्राण (वाचि) जिह्वामूलीय आदि स्थानों में यथाविधि (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित होने पर (खलु) निश्चय (एतत्) इस गानशास्त्र को (गीयते) प्राप्त होता है अर्थात् जब व्याकरणशास्त्र वा गीतिशास्त्र की शिक्षा के अनुसार अक्षर और पद अच्छे प्रकार उच्चरित होते हैं। तब ही वह प्राण, मानो उत्तम गानस्वरूप को धारण करता है। यदि स्थान ठीक नहीं हुए तो निन्द्य हो जाता है। आगे मतान्तर कहते हैं—(ह+एके+आहुः) कोई आचार्य्य कहते हैं कि (अन्ने+इति) अन्न में जब यह प्राण प्रतिष्ठित होता है तब यह गानस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् प्राण की प्रतिष्ठा अन्न ही है। अन्न को खाकर बलिष्ठ हो अच्छे प्रकार गा सकता है। स्वर अच्छा रहने पर भी निर्बल उद्गाता अच्छे प्रकार गा नहीं सकता है। अतः अन्नोपार्जित बल ही इसकी प्रतिष्ठा है ॥ २७ ॥

भाष्यम्—प्राणस्य प्रतिष्ठागुणमाह—य उपासकः। तस्य हैतस्य साम्नः सामाभिधेयस्य प्राणस्य। प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठत्यस्यां सा प्रतिष्ठा आश्रयः। स प्रतिष्ठाविद्। प्रति ह तिष्ठति प्रतितिष्ठति ह। वाचि प्रतिष्ठां प्राप्नोति। हेति प्रसिद्धम्। कास्य प्रतिष्ठेत्यत आह—तस्य प्राणस्य वागेव वाण्येव प्रतिष्ठा। वागिति जिह्वामूलीयादीनामष्टानां स्थानानामाख्या कथं सा प्रतिष्ठा। हि यस्मात्। एष प्राणः। वाचि हि जिह्वामूलीयादिषु प्रतिष्ठितः सन्नेव। खलु निश्चितम्। एतद् गानम्। गीयते गीतिभावमापद्यते। वाचि प्रतिष्ठितः सन्नेवैष प्राणोगीतिं गायति। तस्माद् वागेव प्रतिष्ठेति सम्बन्धः। मतान्तरमाह—अन्नेऽन्नपरिणामे देहे प्रतिष्ठितः सन्नेव गायति। इत्येके उह खल्वाहुः। अयमाशयः। प्राणस्यान्नमेव प्रतिष्ठा। अन्ने हि प्रतिष्ठितः सन् गायति। अतो वाचं विहाय प्राणस्यान्नं प्रतिष्ठा ज्ञातव्येत्येके ॥ २७ ॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेत्। "असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति" स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणिस्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तं स एष एवं विदुद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं

कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत् सामवेद ॥ २८ ॥

अनुवाद—अब यहां से पवमान मन्त्रों का अभ्यारोह (जपविधि) कहा जाता है। निश्चय, वह प्रस्तोता नाम ऋत्विक् साम के प्रस्ताव का आरम्भ करता है। जब वह प्रस्तोता प्रस्ताव का आरम्भ करे तब इन वाक्यों को जपे—"असतो मा सद् गमय" (१) असत् से मुझे सत् की ओर ले चलो "तमसोमा ज्योतिर्गमय" (२) अन्धकार से मुझ को ज्योति की ओर ले चलो "मृत्योर्माऽमृतं गमय" (३) इति मृत्यु से मुझ को अमृत की ओर ले चलो इन तीनों कण्डिकाओं का अर्थ कहते हैं—वह मन्त्र जो यह कहता है कि "असत् से मुझ को सत् की ओर ले चलो" इसका अर्थ यह होता है मृत्यु ही असत् है और अमृत ही सत् है मृत्यु से मुझको अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको अमृत (अमर) करो यही कहता है ॥ १ ॥ और जो यह कहता है कि "अन्धकार से मुझ को ज्योति की ओर ले चलो" मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ही ज्योति है मृत्यु से मुझ को अमृत की ओर ले चलो अर्थात् मुझको अमृत (अमर) करो यही कहता है ॥ २ ॥ और जब यह कहता है कि "मृत्यु से मुझको अमृत की ओर ले चलो" इसमें कुछ छिपा हुआ नहीं है अर्थात् इसका अर्थ विस्पष्ट ही है ॥ ३ ॥ अब जो अन्यान्य मन्त्र हैं उनमें उद्‌गाता अपने लिये भोज्यान्न को गावे। इसलिये उनमें वर मांगे सो यह ऐसे जानने वाला उद्‌गाता अपने लिये वा यजमान के लिये जो २ कामना चाहता है उस २ कामना को गाता है अर्थात् गान करने से उस कामना की पूर्ति करता है। निश्चय सो यह विज्ञान लोक के जीतने वाला ही है जो इस प्रकार इस साम को जानता है उसको यह आशा (डर) नहीं है कि वह लोक के योग्य नहीं होगा ॥ २८ ॥

पदार्थ—अब आगे प्राणोपासक के लिये मन्त्र जपने की विधि कहते हैं—(अथ+अतः) अब यहां से (पवमानानाम्+एव) पवमान नाम के स्तोत्रों का ही (अभ्यारोहः) जपविधि कहा जाता है (वै+खलु) निश्चय इसमें संदेह नहीं कि (सः+प्रस्तोता) वह प्रस्तोता प्रस्तोता नाम का ऋत्विक् (साम+प्रस्तौति) साम गान का आरम्भ करता है (यत्र) जिस समय (सः+प्रस्तुयात्) सामगान की प्रस्तावविधि का आरम्भ करे। (तद्) उस समय (एतानि+जपेत्) इन वाक्यों को जपे। ये तीन वाक्य हैं (असतः) असत् से (मा) मुझ को (सद्) सत् की ओर (गमय) ले चलो (तमसः) तम=अन्धकार से (मा) मुझ को (ज्योतिः) ज्योति की ओर (गमय) ले चलो (मृत्योः) मृत्यु से (मा) मुझको (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय इति) ले चलो। ये ही तीन वाक्य हैं। आगे इन तीनों का स्वयं अर्थ करते हैं—(सः) वह मन्त्र (यद्+आह) जो यह कहता है कि "असतो मा सद्‌गमय" इसमें (मृत्यु+वै असत्) मृत्यु ही असत है अर्थात् असत् शब्द का अर्थ मृत्यु है (सत्+अमृतम्) सत् शब्द का अर्थ "अमृत" है। तब इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि (मृत्योः+मा) मृत्यु से मुझ को (अमृतम्) अमृत की ओर (गमय) ले चलो। अर्थात् (अमृतम्+मा+कुरु) मुझ को अमृत=अमर करो (इति+एव+एतद्+आह) यही कहता है (तमसः मा+ज्योतिः+गमय+इति) इत्यादि पदों का भी पूर्ववत् ही भाव है। (मृत्योः+मा+अमृतम्+गमय) यह जो वाक्य है (अत्र) इस वाक्य में (तिरोहितम् इव+न+अस्ति) कोई अर्थ तिरोहित सा=छिपा हुआ सा नहीं है। यह विस्पष्ट ही है। ये तीन मन्त्र वा वाक्य हो गये (अथ) अब (यानि+इतराणि) जो अन्यान्य (स्तोत्राणि) स्तोत्र हैं (तेषु) उन स्तोत्रों में उद्‌गाता (आत्मने) अपने लिये (अन्नाद्यम्) खाने योग्य अन्न को

(आगायत्) अच्छे प्रकार गावे (तस्माद्+उ) इस हेतु (तेषु) उन मन्त्रों में (वरम्+वृणीत) वर मांगे (यम्+कामम्+कामयेत+तम्) जिस २ कामना को चाहे उस २ को मांगे (सः+एषः) सो यह (एवंविद्) ऐसा जाननेहारा (उद्गाता) उद्गाता नाम का ऋत्विक् (आत्मने+वा) अपने लिये अथवा (यजमानाय+वा) यजमान के लिये (यम्+कामम्+कामयते) जो २ कामना चाहता है (तम्+आगायति) उस २ कामना को उद्गान से पूर्ण करता है। आगे इस विद्याविज्ञान की प्रशंसा करते हैं—(तत्+ह+एतत्) सो यह विज्ञान (लोकजिद्+एव) लोकजित् ही है अर्थात् इस विज्ञान से सब लोक का विजय होता है। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्) जो उपासक इस प्रकार (एतत्+साम+वेद) इस साम को जानता है उसको (अलोक्यतायै) अलोक्यता के लिये (आशा+न+ह+एव+अस्ति) आशा कदापि भी नहीं है, किन्तु लोक्यता ही की आशा है अर्थात् ऐसे उपासक को यह डर नहीं है कि मुझ को कोई लोक नहीं मिलेगा ॥ २८ ॥

भाष्यम्—स्वयमृषिणा व्याख्यातेयं कण्डिकाऽतो नैव ॥ २८ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

पुरुषविधजीवगुणोपासना ॥

जीवात्मविचार अत्यन्त कठिन है। इसको आंखों से देखते नहीं ॥ मरण समय चारों तरफ परिजन, पुरजन, कलत्र, पुत्र, मित्र आदि सब ही बैठकर देखते जाते हैं कि यह मर रहा है, परन्तु यह जीवात्मा कैसे कहां से निकला, कैसा इसका आकार है, शरीर से निकलता हुआ देखा नहीं गया। गृह चारों तरफ से बन्द है। किस छिद्र से बाहर चला गया इस प्रकार मरणकाल में भी इस आत्मा का साक्षात् दर्शन नहीं होता। पुनः शङ्का होती है कि यह जीव अणु है अथवा मध्यमपरिमाण है अर्थात् जब हाथी के शरीर में जाता तब हाथी के देह के बराबर और जब मशकदेह में आता तब उसके देह के तुल्य होता। अथवा विभु है अर्थात् जितना बड़ा यह ब्रह्माण्ड है उतना बड़ा एक २ जीवात्मा है। पुनः प्रत्येक शरीर में एक ही जीव है अथवा भिन्न जीव हैं अर्थात् जीवात्मा की संख्या एक ही है अथवा अनेक। अथवा जीव नाम का कोई वस्तु ही नहीं। क्योंकि इस शरीर से पृथक् होके कभी जीवात्मा न देखा गया और न सुना गया है। किसी अतिकष्टावस्था में देह से निकल बाहर क्यों न आजाता ? क्या देह के किसी देश में यह बंधा हुआ है जो ऐसी दुरवस्था में भी निकल के भाग नहीं सकता। जब कोई इस के शरीर में आग लगावे अथवा काटे अथवा किसी प्रकार से हानि पहुँचावे तो देह से बाहर निकल आकाश में खड़ा हो के क्यों न बोलता, इससे भी प्रतीत होता है कि जीवात्मा इस शरीर से कोई पृथक् वस्तु नहीं ॥

पुनः यदि बाह्य जगत् में वायु, जल, प्रकाश-आदिक पदार्थ न हों और इसके भरण पोषण के प्रबन्ध न किये जायं तो भी यह आत्मा नहीं होता। इस देह से यदि वायु निकाल दिया जाय तो यह उसी काल में मर जाता है शोणित ही यदि इस देह से निकाल दिया जाय तो भी यह मर जायगा

फिर यह आत्मा है क्या वस्तु ? लोग कहते हैं कि यह आत्मा बोलता है ? यदि ऐसा हो तो देह छोड़कर क्यों न बोलता। जिस पुत्र, कलत्र, मित्र के साथ इतना स्नेह रहता। मरने के पश्चात् उनसे दो एक बात भी क्यों न करलेता। पुनः कोटियों, अनन्तों जीव इस पृथिवी पर ही दीखते। वे मरकर कहां रहते कहां जाते। कोई यह भी कहते हैं कि यह आत्मा अनादि नहीं। ईश्वर इसको बनाकर देहों में भेजा करता है। किसी का यह मन्तव्य है कि केवल मनुष्य शरीर में जीवात्मा है पशु पक्षी आदिक शरीरों में नहीं। किसी का यह सिद्धान्त है कि संसार में जितने पृथिवी, अग्नि, ईंट, पत्थर, सूर्य, चन्द्र आदि वस्तु देखते हैं वे सब ही चेतनों के समूह हैं अर्थात् एक २ परमाणु चेतन है। कोई कहते हैं कि यह सब ही जड़ है। जड़ ही मिलकर देह बन जाते, बोलने लगते, खाने पीने लगते, पुनः समयान्तर में एक क्रिया नष्ट होकर दूसरी क्रिया उत्पन्न हो जाती, इसी का नाम मरण जीवन है। न इसका कोई बनानेहारा, न कोई शासनकर्त्ता है। अनादि काल से ऐसी ही दशा चली आती है और चली जायगी। अज्ञानी पुरुषों का मानना है कि यह स्वर्गादिकों में जाता आता है। कोई यह भी कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म नहीं होता। इत्यादि शतशः विचार केवल इस जीवात्मा के विषय में विद्यमान हैं शास्त्रों और धर्म्म-पुस्तकों में विविधतर्क, वितर्क, उत्तर प्रत्युत्तर विस्तार से निरूपित हैं। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं कि यह अतिगंभीर, अतिदुर्गम, अतिदुर्बोध और अतिमीमांसनीय विषय है। गीता में कहा गया कि—"आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्यवद् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्य्यवच्चैन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं न वेद कश्चित्" स्वयं वेद भी इस के दुरवबोध का वर्णन करते हैं। यथा—य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥ इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि यह विषय अति कठिन है।

इस अतिगूढ़ विषय में न जाकर मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्म्म पर पूरा ध्यान देवे। हम मनुष्य हैं। हम में विवेक शक्ति है। हमारे चारों तरफ मनुष्य भरे हुए हैं। अपने स्वजन, परिजन, पुरजन भी बहुत हैं। इनके साथ हमारे क्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य हैं। विवेक शक्ति विस्पष्टभाषणशक्ति हम मनुष्यों में क्यों उत्पन्न हुई है इससे कौनसा कार्य्य लेना उचित है। इस पृथिवी पर हम सब कैसे सुखी रह सकते हैं। इत्यादि परम कल्याण की बातों की जिज्ञासा और पूर्त्ति होनी चाहिये। पश्चात् जो आत्मजिज्ञासा भी करना चाहें तो कर सकते हैं। इसके लिये अनेकानेक प्राचीन और आधुनिक ग्रन्थ भी देखा करें। इस ब्राह्मण में प्रथम आत्मस्वरूप और सृष्टि का वर्णन आता है। प्रथम मूलार्थ दिखला कर पुनः इस पर विचार किया जायगा।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत् ततोऽहं नामाभवत् तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुष औषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद॥ १॥

अनुवाद—आत्मा ही यह प्रथम था यह पुरुषसमान था उसने अपने चारों तरफ देख अपने से अन्य किसी को नहीं देखा। "मैं हूं" ऐसा वह पहले बोला तब उसका "मैं" यह नाम हुआ। इस कारण आज कल भी कोई पुकारे जाने पर प्रथम यह 'मैं" हूं ऐसा कह कर तब अन्य नाम कहता

जो इसका रहता है, सो यह इस सब से पूर्व अर्थात् श्रेष्ठ हो के इन सब पापों को दग्ध किए हुए है। अतः यह "पुरुष" (पुर्+उष) कहाता है। सो जो कोई (उपासक) ऐसा जानता है वह उसको जला देता है जो इस (उपासक) से प्रथम होना चाहता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(आत्मा+एव+इदम्+अग्रे+आसीत्) आत्मा ही यह प्रथम था (पुरुषविधः) वह आत्मा पुरुष के समान था (सः+अनु+वीक्ष्य) उसने अपने चारों तरफ देखकर (आत्मनः+अन्यद्+न+अपश्यत्) अपने से भिन्न किसी को न देखा तब (अहम्+अस्मि+इति+अग्रे+सः+व्याहरत्) "मैं हूँ" ऐसा उसने प्रथम कहा (ततः+अहम् नाम+अभवत्) इस कारण "मैं" यह नाम उसका हुआ। जिस कारण उसने सब से प्रथम 'अहमस्मि" ऐसा कहा (तस्माद्+अपि+एतर्हि) इसी कारण आज कल भी (आमन्त्रितः) कोई पुकारे जाने पर (अहम्+अयम्+इति+एव+अग्रे+उक्त्वा) "मैं यह हूँ" ऐसा ही प्रथम कहकर (अथ+अन्यत्+नाम+प्रब्रूते) तब अन्य नाम कहता है (यद्+अस्य+भवति) जो इसका नाम माता पिता से धरा गया है (सः+अस्मात्+सर्वस्मात्+पूर्वः) उस जीवात्मा ने इस सब पदार्थ से पूर्व अर्थात् मुख्य, श्रेष्ठ होकर (सर्वान्+पाप्मनः) सब पापों को (यद्) जिस कारण (औषद्) जला रक्खा है (तस्मात्+पुरुषः) इस कारण यह पुरुष (पुर=प्रथम, उष=दग्ध करना) कहलाता है। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो उपासक ऐसा जानता है (ह+वै) निश्चय (सः+तम्+ओषति) वह उसको दग्ध कर देता है (यः+अस्मात्+पूर्वः+बुभूषति) जो कोई इस तत्त्ववित् पुरुष से पूर्व अर्थात् प्रथम वा श्रेष्ठ होना चाहता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—भावगाम्भीर्यात्कण्डिकैव तावद् दुरवगाह्या। पुनः संस्कृतव्याकृता कठिनतरा भवतीति प्रचलितभाषायामेव व्याख्यायते।

आशय—पुरुषविध—इससे सिद्ध है कि यह जीवात्मा इस शरीर से पृथक् वस्तु है और जैसे इस शरीर के आश्रित होके देखता, सुनता, सोचता, विचारता है। वैसे ही शरीर से पृथक् होके भी देखना आदि क्रियाएं करता है। नवीन वेदान्तियों का भी सिद्धान्त इस से निराकृत होजाता। इस व्यवस्था के प्रथम भी जीवात्मा था।

अहंनाम—मनुष्य, पशु, पक्षी, आदिक देहों में आने से इस जीव का वही २ नाम हो जाता है। यह मनुष्य है यह पशु है इत्यादि निर्देश शरीरसहित जीव का ही होता है परन्तु इस प्रपञ्च के पहिले इसका कौनसा नाम था ? अहम् अर्थात् मैं यही नाम था। यह गुणवाचक है। इसी कारण प्राणी में अहंभाव आज तक देखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अहंभाव ही प्राणी के अस्तित्व का मुख्य कारण है। जिसमें जितना ही अंश अधिक वा न्यून है वह उतना ही बलिष्ठ वा दुर्बल है। अथवा उतना ही जीवन है। मनुष्य-समाज में भी सात्त्विक अहंभाव वाले ही जीवित हैं और सदा रहेंगे। पुरुष इस शब्द की व्युत्पत्तियां कई एक हैं। यहां ऋषि कहते हैं कि पुर्-उष इन दो शब्दों से बना है। पुर=प्रथम। उष दाहे=दग्ध करने, जलाने, भस्म करने अर्थ में उष धातु आता है। जो सबसे पहिले अपने पापों को ज्ञान विज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म कर देता है वही पुरुष है। तृतीय ब्राह्मण में दिखलाया गया है कि यज्ञ में निःस्वार्थी प्राण सब तरह से सब को पवित्र किया करता है इस प्रकार जीवात्मा जब शुद्ध अपापविद्ध परम पवित्र होता है तब ही यह पुरुष कहलाने योग्य और सामर्थ्यानुरूप सृष्टि करने में भी समर्थ होता है, यही भाव इस कण्डिका में सूचित हुआ है ॥ १ ॥

सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेति सहायमीचां चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भय भवति ॥ २ ॥

अनुवाद—वह डरने लगा इसी हेतु अकेला डरता है। वह विचारने लगा कि यहां मैं ही हूं दूसरा कोई नहीं है। तब क्योंकर मैं डर रहा हूं। तब ही इस का भय निःशेषरूप से चला गया। वह क्यों डरता ? क्योंकि निश्चय द्वितीय से भय होता है ॥ २ ॥

पदार्थ—यद्यपि यह जीवात्मा एकला ही था तथापि (सः+अबिभेत्) वह डरने लगा (तस्मात्+एकाकी बिभेति) इसी हेतु आज कल भी एकले रहने से आदमी डर जाया करता है। जब वह इस प्रकार डरने लगा तब (सः+अयम्+ह) सो यह भयभीत जीवात्मा (ईचां चक्रे) ईक्षण अर्थात् विचारने लगा (यद्+मत् अन्यत् नास्ति) कि मुझ से अन्य दूसरा कोई यहां नहीं है (कस्मात् नु+बिभेमि+इति) फिर मैं क्यों डर रहा हूं। इस प्रकार जब उसने विचारा (ततः+एव+अस्य+भयम्+वीयाय) तब ही इसका भय चला गया। अब भय का निराकरण करते हैं कि (द्वितीयाद्+वै+भयम्+भवति) दूसरे आदमी से भय होता है परन्तु दूसरा वहां कोई नहीं था तब (कस्मात्+हि+अभेष्यत्) तब क्योंकर वह डरता होगा अतः परमार्थरूप से उसमें भय है ही नहीं किन्तु अज्ञानकृत ही भय है ॥ २ ॥

भाष्यम्—ऋषिः खलु सम्प्रति दर्शयति प्रकृतिं जीवस्य। शुद्धोऽप्यपापविद्धोऽपि सर्वान् पाप्मनो भस्मसात्कृत्वा पुरुषशब्देनाभिहितोऽप्येष न पापं जिहासति कदापि। भयन्तु महत्पापमस्ति। तच्चानादिकालादस्मिन्नासक्तमिति विज्ञायते। वीरा योगिनो महात्मानश्चापि बिभ्यतो दृष्टाः। द्वितीयाद्वै भयं भवति। नास्ति द्वितीयः कश्चिज्जीवादन्यः। कथं स स्वस्मादेव बिभीयात्। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ॥ २ ॥

भाष्याशय—क्रमशः जीवात्मा के स्वभाव का निरूपण करते हैं। यद्यपि जीवात्मा को पुरुष इस कारण कहते हैं कि वह सब पापों को भस्मकर विद्यमान है और आत्मा के संसर्ग से निष्पाप भी हो चुका है। तथापि यह जीवात्मा बारंबार पाप पङ्क में फंसता ही रहता है। भय एक महापाप है। वह इसमें अनादिकाल से चला आता है। इस पृथिवी पर वीर, योगी, महात्मा सब ही भयभीत होते हुए देखे गये हैं। परन्तु दूसरे से भय होता है जीवाऽऽत्मा सब एक ही है पुनः इसको क्यों डरना चाहिये। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यथार्थ में अज्ञानकृत ही भय है ॥ २ ॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत् ततो मनुष्या अजायन्त ॥ ३ ॥

अनुवाद—निश्चय, वह आनन्दित नहीं था। इसी कारण एकाकी आनन्दित नहीं रहता। उसने दूसरे की इच्छा की। निश्चय वह इतना था जितने स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं। उसने इसी आत्मा को दो प्रकार से गिराया तब उससे पति और पत्नी दो हुए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसी कारण जीवात्मा का यह शरीर अर्धबृगल अर्थात् आधा दाल अथवा आधी सीप के समान है अतएव पुरुष के शरीर का रिक्तस्थान स्त्री से ही पूर्ण किया जाता है। उस स्त्री के साथ वह सम्मिलित हुआ। तब मनुष्य उत्पन्न हुए।

पदार्थ—(सः+वै+न+एव+रेमे) वह पुरुषविध जीवात्मा, निश्चय ही, आनन्दित नहीं हुआ क्योंकि वह अकेला था अतः उसे आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। (तस्मात् एकाकी+न+रमते) इसी हेतु आजकल भी एकाकी पुरुष प्रसन्न नहीं रहता अतएव (सः+द्वितीयम्+ऐच्छत्) उसने द्वितीय की इच्छा की। (सः+ह+एतावान्+आस) वह इतना था कि (यथा+स्त्रीपुमांसौ+संपरिष्वक्तौ) जितने स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं अर्थात् आदि में एकही प्रकारता थी स्त्री और पुरुष का भेद नहीं था। जीवमात्र में उभय गुण हैं। वही शरीर पाके कभी स्त्री और कभी पुरुष होता है यह शास्त्र सिद्धान्त है। अतएव कहा गया है कि न तो यह स्त्री, न पुरुष, न कुमार, न युवा, न वृद्ध है इत्यादि। पुनः आगे क्या हुआ सो कहते हैं—(सः+इमम्+एव+आत्मानम्) उसने इसी आत्मा को (द्वेधा+अपातयत्) दो प्रकार से गिराया अर्थात् दो भागों में विभक्त किया (ततः+पतिः+च+पत्नी+अभवताम्) तब पति और पत्नी दो हुए (तस्मात्) इसी कारण (स्वः) आत्मा का (इदम्+अर्धबृगलम्+इव) यह शरीर आधा दाल व आधी सीप के समान है। (इति+याज्ञवल्क्यः+आह+स्म+ह) ऐसा याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा है। यह पुरुष और स्त्री दोनों आधे २ हैं इसमें पुनः कारण कहते हैं—(तस्मात् अयम्+आकाशः) जिस हेतु पुरुष का शरीर आधा ही है अतएव पुरुष का देहरूप रिक्त स्थान (स्त्रिया+पूर्यते+एव) स्त्री से ही पूर्ण होता है। इस प्रकार जब स्त्री और पुरुष दोनों विभक्त हुए तब (ताम्+समभवत्) वह पुरुष उस स्त्री के साथ संमिलित हुआ। (ततः+मनुष्याः+अजायन्त) तब बहुत से मनुष्य उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सर्वेषां प्राणिजातानामेषा प्रकृतिरस्ति। यद् द्वितीयं विना नैव तिष्ठति। अणीयात् कीटोऽपि सहधर्मिणीं कामयते। आधुनिकैर्वैज्ञानिकैः खलु वृक्षादिष्वपि स्त्रीपुमांसौ भवत इति निश्चीयते। अहो विचित्रेयं ब्रह्मणो विसृष्टिः। मिथुनावन्तरा कथमस्या विवृद्धिः स्यादिति सर्वं जगदिदं स्त्रीपुमांसमयं कृतवान् जगदीश्वरः। एतेनास्य परमं प्रेमप्रकाशितं भवति। नेदं जगदिदं तेन दुःखमयमाविष्कृतं किन्त्वानन्दमयमेव। सर्वं वस्त्वानन्दमयमेवास्ति। परस्परमानन्दं वयं दद्म आदद्मश्च। सर्वे परस्परं सहायकाः। तत्रापि सर्वासु जातिषु स्त्रीपुमांसावन्योन्यमानन्दकारणम्। एतयोः परस्परसाहाय्येनैवास्याविवृद्धिः। यद्यत्राविवेकच्छाया नाभविष्यत्तर्हीदं जगन्महानन्दप्रदमभविष्यत्। अतो विविधामानन्दमयीं सृष्टिं दर्शयितुं "स वै नैव रेमे" इत्यादि कण्डिका आरभते ॥ ३ ॥

भाष्याशय—देखते हैं कि इस पृथिवी पर कोई प्राणी अकेला रहकर जीवन बिताना नहीं चाहता। अणुतम कीट पतङ्ग भी पत्नी के साथ क्रीडा करता है। इनमें भी किसी अंश तक अवश्य प्रेम संचरित है। आजकल के वैज्ञानिक लोग यहां तक वर्णन करते हैं कि इन वृक्षादिकों में भी स्त्री और पुरुष विद्यमान हैं। अहो ! कैसी विचित्र परमात्मा की यह सृष्टि है। जोड़ी के विना किस प्रकार इस की बहुत वृद्धि होती अतएव उसने इस जगत् को स्त्री-पुरुषमय बनाया है। इससे उसका परमप्रेम प्रकाशित होता है। इसने इसको दुःखमय नहीं किन्तु आनन्दमय बनाया। प्रत्येक पदार्थ आनन्दस्वरूप है। हम आनन्द लेते और देते हैं परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं। इसमें भी प्रत्येक जाति में परस्पर स्त्री पुरुष आनन्द के कारण होते हैं और इनकी परस्पर की सहायता से इस आनन्दमय सृष्टि की वृद्धि हो रही है। यदि इसमें अविवेक की छाया न आती तो निश्चय यह जगत् बड़ा ही सुखदायक होता। ऐसी सृष्टि को दिखलाने के लिये आगे की कण्डिकाएं आरम्भ करते हैं ॥ ३ ॥

सो हेयमीक्षां चक्रे कथं नु माऽऽत्मन एव जनयित्वा संभवति । हन्त तिरोऽसानीति । सा गौरभवदृषभ इतरः । ताᳬ समेवाभवत् ततो गावोऽजायन्त । वडवेतराऽभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरः । ताᳬ समेवाभवत् तत एकशफमजायत । अजेतराऽभवद्वस्त इतरोऽविरितरामेष इतरः । ताᳬ समेवाभवत् ततोऽजावयोऽजायन्त । एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४ ॥

अनुवाद—सो यह विचारने लगी कि यह मुझको अपने में से ही उत्पन्न कर मेरे साथ कैसे सहवास करता है । अतः मैं छिप जाती हूं । वह गौ हो गई । दूसरा (पुरुष) सांड हो गया । उससे इसने सहवास किया । तब गोजातियां उत्पन्न हुईं । वह वड़वा हुई । दूसरा अश्व हुआ । वह गदही होगई दूसरा गदहा हुआ । उससे इसने सहवास किया । तब एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए । वह बकरी हो गई दूसरा बकरा हुआ वह भेड़ी हो गई दूसरा भेड़ा हुआ उससे इसने सहवास किया । तब बकरे और भेड़ उत्पन्न हुए । पिपीलिकाओं से लेकर जो कुछ यह जोड़ी दीखती है उस सब को इसी प्रकार इसने सिरजा ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सा+इयम्+उ+ह+ईक्षाम्+चक्रे) सो यह स्त्री विचार करने लगी कि यह पुरुष (आत्मनः+एव) अपने में से ही (मा+जनयित्वा) मुझको उत्पन्न करके (कथम्+नु+संभवति) कैसे मेरे साथ संभोग करता है । (हन्त+तिरोऽसानि+इति) इस कारण मैं छिप जाती हूँ ऐसा विचार कर (सा+गौः+अभवत्) वह गाय हो गई (इतरः+ऋषभः) और दूसरा पुरुष सांड हो गया । (ताम्+एव+सम्+अभवत्) तब उसी गौ के साथ वह संभोग करने लगा (ततः+गावः+अजायन्त) तब गोजातियां उत्पन्न हुईं । (इतरा+वडवा+अभवत्) पुनः वह स्त्री घोड़ी वा खचरी हो गई और (अश्ववृषभः+इतरः) दूसरा घोड़ा वा खचर हो गया (इतरा+गर्दभी+इतरः+गर्दभः) पुनः एक गदही और दूसरा गदहा हो गया (ताम्+एव+सम्+अभवत्) उसी के साथ वह संभोग करने लगा (ततः+एकशफम्+अजायत) तब एक खुरवाली पशुजातियां उत्पन्न हुईं (इतरा+अजा+अभवत्+इतरः+बस्तः) वह बकरी हो गई और दूसरा बकरा (इतरा+अविः+इतरः+मेषः) वह भेड़ी बन गई और दूसरा भेड़ा बन गया (ताम्+एव+सम्+अभवत्) उसी के साथ वह संभोग करने लगा (ततः+अजावयः+अजायन्त) तब बकरों और भेड़ों की जातियां उत्पन्न हुईं (एवम्+एव) इसी प्रकार (आ+पिपीलिकाभ्यः) चींटी से लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने (यद्+इदम्+किञ्च+मिथुनम्) ये जीव एक २ जोड़ी के साथ रहनेहारे हैं (तत्+सर्वम्+असृजत) उस सबकी सृष्टि की । इसी प्रकार अन्यान्य वृक्ष आदि सहस्रों पदार्थों को सृष्ट कर इस पृथिवी को सुभूषित किया है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—नास्ति परमार्थताऽऽख्यायिकायाः । अल्पज्ञानां सुबोधायाऽऽख्यायिकाव्याजेन जीवात्मगुणानेवोत्कीर्त्तयति । एष हि अहंभावयुक्तत्वादहं नामास्ति । अपापविद्धत्वात्पुरुषः । अस्मिन्ननादिकालागता भीतिरस्ति । एकाकी नैव रमते । स द्वितीयां सहधर्मचारिणीं कामयते । पतिः पत्नीं विना पत्नी पतिं विना न स्थातुमिच्छति । इत्थंविधा अस्य गुणा एवोच्यन्ते । नात्रसृष्टिवर्णने किमपि तात्पर्यम् । पूर्वकण्डिकायां मनुष्यसंभवं कथयित्वाऽस्यां मनुष्यसहचारिणां परमोपकारिणां पशूनां सम्भवं कतिपय-

पशुनामधेयपुरस्सरं विवृणोति । नात्र संशयितव्यं यज्जन्मग्रहणे जीवः स्वातन्त्र्यं भजते । कर्मैव प्रशास्तृ । तदेवेतस्ततो नयति । यच्चात्र पितृदुहितृभावप्रदर्शनपूर्वकवर्णनभानमस्ति तदपि न वास्तविकम् ॥ ४ ॥
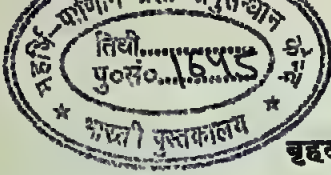
भाष्याशय—यहां सृष्टि के वर्णन से तात्पर्य नहीं है किन्तु जीवात्मा के ही गुण कहे जाते हैं। इसमें अहंभाव है अतः यह "अहंनामा" है। यह पापों को दग्ध किये हुये है अतः पुरुष कहलाता। अनादि काल से इसमें भय सन्निविष्ट है। यह द्वितीया पत्नी के विना नहीं रह सकता। पत्नी पति के विना नहीं रह सकती इत्यादि आत्मगुण ही दिखलाए जा रहे हैं। पूर्व कण्डिका में मनुष्य सम्भव कहकर इसमें मनुष्य सहचारी और मनुष्य को परमोपकारी पशुओं की उत्पत्ति कहते हैं। गौ, बैल, घोड़ा, घोड़ी, बकरा, बकरी, भेड़ा, भेड़ी इत्यादि पशुओं के विना मनुष्य का कार्य सिद्ध नहीं होता। यहां पर संशय करना उचित नहीं कि यह जीव जन्म ग्रहण करने में स्वतन्त्र है। कर्म ही प्रेरक है यही इधर उधर जीव को ले जाता है और यहां जो पितृभाव और दुहितृभाव दिखला के पुनः दोनों का सङ्गम दिखलाया गया है यह भी वास्तविक बात नहीं है। अज्ञानी जनों के सुबोधार्थ यह आख्यायिका कही गई है। यह कल्पनामात्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः सारी कथाएं कल्पित होती हैं। "वैदिक इतिहासार्थ" नाम ग्रन्थ को देखिये इसमें विस्तारपूर्वक यह विषय उक्त है। शतपथ ब्राह्मण का यह उपनिषद् एक भाग है। अतः इसमें भी वैसी कथा आती है। यहां आनन्दमय जगत् दिखलाने के हेतु स्त्री पुरुष की क्रीड़ा और उससे उत्पत्ति दिखलाई गई है ॥ ४ ॥

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳ हीदꣳ सर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत् सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

अनुवाद—उसने जाना कि, निश्चय मैं ही सृष्टि हूं क्योंकि मैंने ही यह सब सृजन किया है। अतः वह सृष्टि हुआ। सो जो कोई (उपासक) ऐसा जानता है वह भी इसकी इस सृष्टि में निश्चय, स्रष्टा होता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(सः+अवेद्) उस पुरुषविध जीवात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि रचकर मन में यह जान लिया कि (अहम्+वाव+सृष्टिः+अस्मि) मैं ही यह सृष्टि हूं। (हि) क्योंकि (अहम्+इदम्+सर्वम्+असृक्षि+इति) मैंने ही यह सब बनाया है। जिस कारण इसने कहा कि मैं ही सृष्टि हूं अतः (ततः+सृष्टिः+अभवत्) वही पुरुष सृष्टिरूप हुआ। अब आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार जानता है वह (अस्य+एतस्याम्+सृष्ट्याम्) इस जीवात्मा की इस सृष्टि में (भवति) सृष्टिकर्त्ता होता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सोऽवेदिति। स पुरुषविधोजीवः सर्वमुक्तप्रकारेण जनयित्वा स्वकीयामेव परमां विभूतिमवगम्येदं विज्ञातवान्। यदहमेव प्रधानतया सृष्टिरस्मि। अहमेव सर्वमिदं सृष्टवानस्मि। अतएव स सृष्टिरूपोऽभवत्। यः कश्चिदुपासक एवं वेद सोऽपि। अस्य जीवात्मनः। एतस्यां सृष्ट्याम्। स्रष्टा भवति नात्र संदेहोऽस्ति सर्वत्र जीवस्यैव परमा विभूतिः। यद्येष न स्यात्तर्हि कः पश्येत्। कोऽस्य तत्त्वं विजानीयात्। विज्ञाय च कः खलु प्रभोः परमात्मनः परममैश्वर्यं परस्परं वर्णयेत्। चेतनं जीवं विना जडानां विसृष्टिरेव

निष्प्रयोजनेव भवेत् । उत्पद्यमानानां वनस्पतीनां किं प्रयोजनं स्याद्यदि एतेषां भक्षको न स्याद् । इत्येवंविधां सर्वां स्वशक्तिं विज्ञाय चेतनो जीवात्माह—अहमेव सृष्टिरस्मीत्यादि ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यहां पर भी जीवात्मगुण कथन है । इस पृथिवी पर देखते हैं कि यदि चेतन जीव न हो तो यह विचित्र सृष्टि ही निष्प्रयोजन सी प्रतीत हो । क्योंकि परमात्मा की परम विभूतियों को कौन देखे, कौन गावे, कौन सुने सुनावे, ईश्वर है या नहीं, वह कैसा है इत्यादि विचार भी कौन करे करवावे । चेतन जीव के विना जड़ पदार्थों की सृष्टि का भी कौन सा प्रयोजन हो सकता । जो ये सहस्रों वनस्पति आदि जड़ पदार्थ हैं । यदि इनका भक्षक इनको कार्य में लानेहारा इन के वास्तविक गुणों को जानने हारा न हो तो इनसे कौनसा अभिप्राय [illegible] होगा ? यदि मोर न हो तो मेघ को देख कौन नृत्य करे । यदि मनुष्य न हो तो सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र, पर्वत और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की शोभा, गुण, तत्व, महिमा इत्यादि जानकर कौन वर्णन करे । यदि ये विहगगण न हों तो प्रकृति देवी को मधुरध्वनि से गान कौन सुनावे, यदि भ्रमर न हों तो कुसुमों की सुगन्धि की ओर कौन दौड़े और इनके रसों को लेकर मधुनिर्माण कौन करे । इस प्रकार चेतन के विना जड़ सृष्टि निष्प्रयोजन ही सिद्ध होती है । इसमें भी यदि मनुष्य सृष्टि न हो तो भी सर्व प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का वास्तविक रूप जान ईश्वर की परम विभूति की स्तुति करने हारा केवल मनुष्य ही है । जिस ओर देखो उसी ओर इस सृष्टि में इसी की विभूति दीखती है । यह सब का इतिहास लिखता है । यह सब को काम में लाता है । ये प्रासाद, ये भवन, ये ग्रन्थ, ये महाराजपथ, ये रेल तार आदि मनुष्य के ही कार्य्य हैं । यही मनुष्य जाति ईश्वर के भी महिमा को जानती, जनवाती, गाती, गवाती । अन्यथा इनको भी कौन जानता । अतः प्रथम इस मानव सृष्टि का पूर्ण अध्ययन करना चाहिये । मैं पूर्व में कह चुका हूं कि जिज्ञासा के लिये ही मानव सृष्टि है । यहां विस्पष्ट रूप से दिखलाया जाता है कि यह मानव जीव कहां तक कार्य्य करने में समर्थ हो सकता है । यह कहता है कि "मैंने सब रचा" "मैं ही सृष्टि हूं" निःसन्देह यह बात बहुत ही ठीक है । परमात्मा ने सम्पूर्ण वस्तुओं को रचकर इस पृथिवी पर स्थापित कर दिया । और इनके साथ २ विज्ञानी विवेकी मनुष्य जीव को भी यहां रख दिया । अब यदि मनुष्य इन से काम न लेता तो इन की शोभा कदापि न बढ़ती । जंगलों में गौ, भैंस, बकरा, भेड़ आदि पशु रहते थे । बनों में ये आम्र, कटहल, गेहूं, जौ, मालती, कमल, बेली, चमेली आदि पदार्थ थे, मनुष्य के द्वारा काम में लाने पर इनके गुण प्रकट होने लगे । इस प्रकार यदि आप विचार करते जायंगे तो ज्ञात होगा कि इस पृथिवी पर तो मनुष्य जीव ही सर्वश्रेष्ठ है । यही इस प्रकार की सृष्टिकर्त्ता है अतः यह कहता है कि मैंने यह रचा है । मैं ही सृष्टि हूं इत्यादि । ऐसा कथन करना भी जीवात्मा का स्वभाव है ॥ ५ ॥

अथेत्यभ्यमन्थत् स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः । तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवाः । अथ यत्किञ्चेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः । यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

अनुवाद—पश्चात् इसने संघर्षण (रगड़) से अग्नि उत्पन्न किया । इसने मुखरूप स्थान के लिये और दोनों हाथों के लिये अग्नि बनाया । इसी कारण ये दोनों मुख और हाथ अभ्यन्तर से लोमरहित हैं । क्योंकि अग्नि का स्थान भीतर से लोमरहित होता है । और जब लोग कहते हैं कि इस एक देव का यजन करो और उस एक देव का यजन करो तब वे यह नहीं जानते हैं कि उसी एक देव का यह सब विकाश है । निश्चय, यही एक देव सब देव है । पश्चात् इसने बल वीर्य के लिये उस सबको सृजन किया जो यह आर्द्र प्रतीत होता है । निश्चय, वह यह सोम है । निश्चय, यह सम्पूर्ण जगत् इतना ही है जितना अन्न और अन्नाद है । सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद है । यही परमात्मा की महती सृष्टि है । और जिस हेतु इसने परम कल्याण के लिये देवों को बनाया और जिस कारण यह मर्त्य हो के अमृत पदार्थों को सृजन किया । इस हेतु यह महती सृष्टि है जो कोई उपासक ऐसा जानता है वह भी इस प्रजापति की इस महती सृष्टि में स्रष्टा बनता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अथ+इति+अभ्यमन्थत्) पश्चात् उसने अग्निमन्थन किया (सः+मुखात्+च+योनेः) उसने मुखरूप स्थान के लिये (हस्ताभ्याम्+च) और हाथों के लिये (अग्निम्+असृजत) अग्नि सृजन किया (तस्माद्+उभयम्+अन्तरतः+अलोमकम्) इस कारण यह मुख और हाथ दोनों अन्दर से अलोमक अर्थात् रोमरहित हैं । (हि) क्योंकि (योनिः+अन्तरतः+अलोमका) अग्निस्थान अन्तर से रोम रहित है । (तद्+यद्+इदम्+आहुः) इस कारण कोई २ जो यह कहते हैं कि (अमुम्+एकैकम्+यज) इस एक २ देव का यजन कर (अमुम्=यज) इस एक २ देव का यजन कर । वे यह नहीं जानते हैं कि (एतस्य+एव+सा+विसृष्टिः) इसी एक की यह नाना सृष्टि है (एषः+उ+हि+एव+सर्वे+देवाः) निश्चय यही एक सब देव है । (अथ+यत्+किञ्च+इदम्+आर्द्रम्) पश्चात् जो कुछ यह आर्द्र=भींगा हुआ पदार्थ है (तद्+रेतसः+असृजत) उसको इसने बलवीर्य्य के लिये सृजन किया (तद्+उ+सोमः) वह सोम है (एतावद्+वै+इदम्+सर्वम्) यह सम्पूर्ण जगत् इतना ही है (अन्नम्+अन्नादः+च) जितना अन्न और अन्न भोक्ता है । अर्थात् यहां एक तो अन्न है और दूसरा अन्न को खानेहारा है ये ही दो हैं अतः यह संसार ही इतना है (सोमः+एव+अन्नः+अग्निः+अन्नादः) सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद अर्थात् अन्न का भोक्ता है (सा+एषा+ब्रह्मणः+अतिसृष्टिः) यही परमात्मा की महती सृष्टि है । (यद्+श्रेयसः+देवान्+असृजत) जिस कारण परम कल्याण के लिये देवों को इसने सृजन किया (अथ+यद्+मर्त्यः+सन्+अमृतान्+असृजत) और जिस कारण मर्त्य हो के इसने अमृत पदार्थों को सृजन किया है (तस्माद्+अतिसृष्टिः) इसी हेतु यह महान् सृष्टि है (यः+एवम्+वेद) जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है (अस्य+ह+एतस्याम्+अतिसृष्ट्याम्) इस प्रजापति के इस महान् सृष्टि में (भवति) वह सृष्टिकर्त्ता होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अत्रापि जीवगुणा एवोच्यन्ते । नाऽस्त्यस्य निर्वाहोऽग्निं विना । मुखं सर्वदैव परिपक्वमेव वस्तु जिघित्सति । हस्तावपि किमपि कर्तुमेव यतेते । शीतलौ भूत्वा तु किमपि कर्तुं न समर्थौ । तस्मादेव कारणात् । मुखाच्च योनेः योनिः स्थानवाची, निमित्तार्थेऽत्र पञ्चमी । मुखरूपस्य स्थानस्य निमित्ताय अग्निमसृजत । एवमेव हस्ताभ्यां हस्तयोर्निमित्तायाग्निसृष्टिः । रेतसो वीर्यस्य निमित्ताय । श्रेयसः परमकल्याणाय । सर्वत्रैतेषु स्थानेषु निमित्तार्थे पञ्चमी । देवानसृजत=एष जीवो मनुष्यशरीरं प्राप्याग्निं वायुं सूर्यं चन्द्रमस मन्यांश्च विद्युदादीन् देवान् तत्त्वतो विदित्वा स्वकार्ये नियोजितवान् तेन

तेन देवेन कार्यविनियुक्तेन स्वकार्यं साधिकानित्येव देवानां सृष्टिः । नास्ति वास्तविक सृष्टौ श्रुतेस्तात्पर्यम् । अन्यानि पदानि विस्तरेण प्रचलितभाषया व्याकृतानीति न व्याख्यायन्ते ॥ ६ ॥

भाष्याशय—यह भी आत्म-गुण का ही वर्णन है । यहां चार वस्तुओं का वर्णन है । १—एक अग्नि की उत्पत्ति का, २—दूसरा देवताओं के यजन का, ३—तीसरा सोम के सृजन का और ४—चौथा मर्त्य के द्वारा अमृतों का प्रकाशित होने का । १—जैसे खेती और अन्यान्य कार्य्य के निर्वाह के लिये गौ, बैल, घोड़ा, गदहा, बकरा, मेष आदि पशु मनुष्य जीवन के परम सहायक होते हैं वैसे ही खाद्य पदार्थ और उन पदार्थों के पकाने हारे अग्नि के विना इसका कोई कार्य्य सिद्ध नहीं हो सकता । अब यह प्रश्न होता है कि मनुष्य जाति ने अग्नि और खाद्य पदार्थों को कैसे जाना । इसमें कोई ऐसी सामग्री है जिसके द्वारा इन दोनों का पूरा २ बोध हो । ऋषि कहते हैं कि मुख और हाथ ये दो पदार्थ हैं । मुख कच्चे पदार्थ को खाना नहीं चाहता और हाथ शीतल हो जाने पर काम करना नहीं चाहता, अतः सृष्टि की वृद्धि के साथ २ मुख और हाथ के हेतु अग्नि को इस पुरुष (जीव) ने कार्य्य में लाया । इससे केवल यज्ञ ही नहीं किया करते थे किन्तु रक्षा के विविध साधन अस्त्र और शस्त्र भी बनाया करते थे ॥

हाथ और मुख दोनों लोमरहित हैं—लोम शब्द यहां आलस्य और अकर्त्तव्यता सूचक है । जिस मार्ग से चलना बन्द हो जाता है उसमें घास उत्पन्न हो मार्ग का चिह्न भी कुछ दिन में मिट जाता है । जिस खेत में हल न चलाया जाय वह वनस्पतियों से आच्छादित हो कृषियोग्य नहीं रहता । भाव यह है कि जहां कार्य्य होते रहते हैं वहां आलस्यरूप रोगों की उत्पत्ति नहीं होती । अग्नि शब्द—कार्य्यसूचक है । प्रत्यक्ष अग्नि जहां रहेगा वहां अवश्य अपना कार्य्य करता ही रहेगा । मुख और हाथ में प्रत्यक्ष क्रियां सदा होती रहती हैं । क्योंकि हाथ से कमाना और मुख से खाना ये दो काम लगे ही रहते हैं, अतः ऋषि कहते हैं कि मानो इसी कारण इन दोनों में आलस्यरूप रोम नहीं है । इसी प्रकार जो सदा कार्य्य करता रहेगा उसको आलस्य न होगा और अन्न के लिये वह कभी पराधीन न रहेगा ॥

—अमुं यज, अमुं यज इत्यादि—इससे सिद्ध है कि एक महान् शक्ति सब में व्यापक है उसी की यह सम्पूर्ण रचना है अतः इस परम देवता को छोड़ जो अन्याय देवों की उपासना में लगते हैं वे बड़े अज्ञानी हैं ।

३—तीसरा सोम की उत्पत्ति का निरूपण है—मैं प्रथम भी कह चुका हूं कि यहां सृष्टि की उत्पत्ति से तात्पर्य्य नहीं किन्तु जीवन में मनुष्योपयोगी वस्तुओं को केवल दिखलाना है । यहां सकल खाद्य पदार्थ का नाम सोम है । यद्यपि खाद्य पदार्थ भी अनेक हैं परन्तु जो आर्द्र अर्थात् रसयुक्त पदार्थ हैं जिन रसों से मनुष्यों को बहुत कुछ लाभ पहुंच सकता है । ऐसे ही पदार्थों का नाम सोम है । (रेतसः असृजत) बल वीर्य के लिये उस सोम को इसने आविष्कृत किया । अब आगे कहते हैं—भक्ष्य और भक्षक ये ही दो पदार्थ हैं, यथार्थ में अग्नि ही खानेहारा है (अग्निः+अन्नादः) प्रत्यक्ष में देखते हैं कि अग्नि सब पदार्थ को भस्म कर देता है । अतः अग्नि ही महान् भक्षक है । जिस पुरुष में वह आग्नेयशक्ति विद्यमान है वही पदार्थों का भोक्ता होता है । (सैषा+ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः) इसमें सन्देह नहीं कि यह भक्ष्य और भक्षक की उत्पत्ति करना महान् कौशल की बात है । इति संक्षेपतः ॥

४—देवान्+असृजत्—चौथी बात यह है कि यह मनुष्य मर्त्य होकर अमृत जो न मरने हारे देवगण उनको बनाता है। इसका भी भाव विस्पष्ट है। यह जीव उत्पन्न हो पुरुषाकृति में आ अग्नि, सूर्य, वायु, पृथिवी आदि देवों के वास्तविक गुण जान इनको अपने काम में प्रयुक्त करने लगा। यही देवों को सृजन करना है। (इति संक्षेपतः) ॥ ६ ॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियताऽसौ नामाऽयमिदꣳरूप इति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्टः। आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि सः प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्म्मनामान्येव। स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाऽकृत्स्नोह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्माऽनेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७ ॥

अनुवाद—पहले यह सब अव्याकृत अर्थात् वृद्धि को प्राप्त नहीं था। नाम और रूप से ही इसकी वृद्धि हुई, इस कारण इसका यह नाम है, इसका यह रूप है,, ऐसा व्यवहार चला। अतएव आज कल भी नाम और रूप से ही इसका व्यवहार वा व्याख्यान किया जाता है। कहा जाता है कि इसका अमुक नाम है और अमुक रूप है। सो यह आत्मा इसमें प्रविष्ट है नखों के अग्रभाग से लेकर शिर तक प्रविष्ट है, जैसे क्षुरधान में क्षुर रहता है अथवा जैसे अग्नि अग्निस्थान में रहता, उस आत्मा को लोग नहीं देखते हैं। क्योंकि इस प्रकार से यह अपूर्ण है। क्योंकि प्राणवृत्ति के कारण यह प्राण कहाता, बोलने के कारण वाक्, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन के कारण मन कहाता है इसके ये सब कर्म्म नाम हैं। अतः जो कोई प्राण, मुख, चक्षु आदि एक २ की उपासना करता है वह नहीं जानता। क्योंकि इस प्रकार यह आत्मा अपूर्ण ही रहता। एक २ अवयव से अपूर्ण ही है, अतः उचित यह है कि आत्मा ऐसा मान उपासना करे क्योंकि इसी में सब एक हो जाते हैं। सो यह अवश्य अन्वेषणीय है। इस सबका स्वामी जो आत्मा है वह अन्वेषण योग्य है इसी विज्ञान से यह उपासक सब जानता है। जैसे इस लोक में किसी चिह्न से नष्ट वस्तु को पाते हैं। सो जो कोई उपासक ऐसा जानता है वह कीर्ति और प्रशंसा को प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—यह पुरुषविध ब्राह्मण कहलाता है। यह दिखला रहा है कि क्रमशः २ इसकी उत्पत्ति हुई है। सृष्टि के आदि में किस पदार्थ को किस नाम से और ये जो भिन्न २ रूप हैं इनको भी किस २ नाम से पुकारें यह बोध नहीं था और बिना नाम रूप के ज्ञान के व्यवहार सिद्ध नहीं होता, अतः इस कण्डिका का आरम्भ करते हैं (तद्+ह+इदम्+तर्हि+अव्याकृतम्+आसीत्) प्रारम्भ में यह सब वस्तु तब अव्याकृत थी। तब (नामरूपाभ्याम्+एव+व्याक्रियते) नाम और रूप से ही यह व्याकृत हुआ (असौनामा+अयम्+इदंरूपः+इति) इसका यह नाम है और इसका यह रूप है। (तद्+इदम्+अपि+एतर्हि) इस कारण आज भी यह जगत् (नामरूपाभ्याम्+एव) नाम और रूप से ही (व्याक्रियते) व्याकृत होता है (असौनामा+अयम्+इदंरूपः+इति) अमुक नाम का यह पुरुष है इसका अमुक रूप अर्थात् आकार है। (सः+एष+इह+प्रविष्टः+आनखाग्रेभ्यः) सो यह जीवात्मा

नखों के अग्रभाग से लेकर शिर के केश तक इस शरीर में प्रविष्ट है, इसमें दृष्टान्त देते हैं— क्षुरधाने+यथा+क्षुरः+अहितः) नापित जिसमें कैंची, उस्तरा आदि केश काटने की सामग्री रखता है उसे क्षुरधान कहते हैं । उस क्षुरधान में जैसे छुरी प्रविष्ट रहती (स्याद्+वा) अथवा (विश्वम्भरः) यह अग्नि (विश्वम्भरकुलाये) अपने स्थान में अर्थात् जैसे प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है इसी प्रकार यह जीवाऽऽत्मा भी इस शरीर में प्रविष्ट है। (तम्+न+पश्यन्ति) उस जीवात्मा को कोई देखते नहीं (अकृत्स्नः+हि सः) आदमी एक २ अङ्ग को देखता है उसमें इसको खोज करता है परन्तु एक २ अङ्ग में वह अपूर्ण है किन्तु सम्पूर्ण अङ्ग में पूर्ण है जो सम्पूर्ण में खोज करेगा उसी को मिलेगा । आगे इसी अपूर्णता को दिखलाते हैं—(सः+प्राणन्+एव) जब यह जीव श्वास प्रश्वास लेता है (प्राणः+नाम+भवति) तब यह प्राण नाम से पुकारा जाता है । (वदन्+वाक्) जब यह बोलता है तब वाक् नाम से (पश्यन्+चक्षुः) जब देखता तब चक्षु नाम से (शृण्वन्+श्रोत्रम्) जब सुनता तब श्रोत्र नाम से (मन्वानः+मनः) जब मनन करता तब मन नाम से पुकारा जाता है । इस प्रकार इसी एक के अनेक नाम हैं, परन्तु (अस्य+तानि+एतानि+कर्म्मनामानि+एव) इसके ये सब कर्म्म नाम हैं । क्रिया के कारण ये सब नाम होते हैं और अज्ञानी पुरुष इसी एक २ को लेकर उपासना करते हैं । इसी विषय को आगे दिखलाते हैं—(अतः+सः+यः+एकैकम्+उपास्ते) इस कारण सो जो कोई एक २ को आत्मा जानता है (न+सः+वेद) वह नहीं जानता है (हि) क्योंकि (अतः) इस कारण (एषः+एकैकेन+अकृत्स्नः+भवति) यह जीव एक २ से अपूर्ण ही रहता है । (आत्मा+इति+एव+उपासीत) "आत्मा" ऐसा ही मानकर सबको एक ही जाने (अत्र+हि) क्योंकि इसी में (एते+सर्वे+एकम्+भवन्ति) ये सब एक हो जाते हैं (तद्+एतद्+पदनीयम्) इस कारण यह जीवात्मरूप वस्तु अवश्यमेव खोज करने योग्य है (अस्य+सर्वस्य+यद्+अयम्+आत्मा) इस सब वस्तु में जो यह आत्मा विद्यमान है क्योंकि (अनेन+हि+एतत्+सर्वम्+वेद) इसी आत्मविज्ञान से इस सब को जान लेता है (यथा+ह+वै+पदेन+अनुविन्देत) जैसे किसी चिह्न विशेष से नष्ट वस्तु को प्राप्त करता है (यः+एवम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार जानता है (कीर्तिम्+श्लोकम्+विन्दते) वह कीर्ति और यश को पाता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तद्धेदमिति । इदमपि जीवगुणानामेव वर्णनम् । कथम् ? क्रमशः क्रमशोऽस्यजगतो वृद्धिः । प्रारम्भे केन नाम्नाऽयं पदार्थो वक्तव्य इत्याकारकं ज्ञानं नासीत् । व्यवहाराय तु तज्ज्ञानमपेक्षितव्यम् । अतः शनैः शनैः सर्वेषां नामान्यपि कृतानि एषापि जीवशक्तिरेव । पुनर्जीवात्मविषयोऽपि मार्गितः । नेदं चक्षुर्जीवः । नेदं श्रोत्रं जीवः । नेदं मनो जीवः । किन्त्वेतान्यस्य सर्वाणि साधनानि । जीवस्त्वन्य एतेभ्यः । इत्थं विविच्य जीवाऽऽत्माप्यवधृतः । कण्डिकार्थस्तु प्रचलितवाण्यां द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

भाष्याशय—अव्याकृत=अव्यक्त, अव्याख्यात अर्थात् जिसका निरूपण जिस का वर्णन अच्छे प्रकार नहीं हो सकता उसे अव्याकृत कहते हैं जब तक नाम और रूप न जाने जायं तब तक पदार्थों की दशा अव्याकृत ही जाननी चाहिये । प्रारम्भ में पदार्थों के नाम नहीं थे । धीरे २ सब के नाम भी रक्खे गये । नामकरण करनेहारा यह पुरुष जीव ही था । अतः यह भी जीव के गुणों का ही वर्णन है ॥ ७ ॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—सो यह वस्तु पुत्र से भी प्रियतम है, वित्त से भी प्रियतम है । सब ही अन्य वस्तु से प्रियतम है जो यह अति निकटस्थ आत्मस्वरूप वस्तु है । जो कोई इस आत्मा को छोड़ अन्य ही वस्तु को प्रिय समझता है उस अज्ञानी को यह ज्ञानी कहे कि यह तेरा विचार मिथ्या है । ऐसा मानने से तेरा प्रिय पदार्थ नष्ट हो जायगा । क्योंकि ऐसा कहने के लिये वह उपासक योग्य है । इस कारण आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करे । सो जो कोई आत्मा को ही प्रिय मानकर उपासना करता है । उसका प्रिय पदार्थ नष्ट नहीं होता ॥ ८ ॥

पदार्थ—(तत्+एतत्) सो यह वस्तु (पुत्रात्+प्रेयः) पुत्र से भी प्रियतर है (वित्तात्+प्रेयः) धन से भी प्रियतर है (अन्यस्मात्+सर्वस्मात्) अन्य सब वस्तु से प्रियतर है । वह कौन वस्तु है सो आगे कहते हैं—(अन्तरतरम्) अतिनिकटस्थ (यद्+अयम् आत्मा) जो यह आत्मा है । वह सब से प्रियतम है । जो कोई इसको ऐसा नहीं समझता है उसकी क्षति दिखलाई जाती है । (आत्मनः+अन्यम्+प्रियम्+ब्रुवाणम्) सो जो कोई आत्मा से अन्य वस्तु को प्रिय मान रहा है उससे (सः+यः+ब्रूयात्) सो जो ज्ञानी आत्मतत्त्वविद् कहे कि तेरा यह सिद्धान्त भ्रान्तियुक्त है उसे त्याग दे अन्यथा (प्रियम्+रोत्स्यति+इति) तेरा प्रिय पदार्थ नष्ट हो जायगा ऐसा कहने का अधिकार इस ज्ञानी को क्योंकर है इस पर कहते हैं कि (तथैव+ईश्वरः+स्यात्) वह ज्ञानी ऐसे उपदेश करने को समर्थ है अतः वह ऐसा कह सकता है, दूसरा नहीं । अतः (आत्मानम् एव+प्रियम्+उपासीत) आत्म को ही प्रिय जान कर इसकी उपासना करे अर्थात् आत्मतत्त्व को अच्छे प्रकार जानें । (सः+यः+आत्मानम्+एव+प्रियम्+उपास्ते) सो जो कोई उपासक आत्मा को ही प्रिय जानकर उपासना करता है । (अस्य+प्रियम्) इसका प्रिय पदार्थ (न+ह+प्रमायुकम्+भवति) प्रमायणशील अर्थात् मरण योग्य नहीं होता ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एष आत्मैव पुत्राद् वित्तात् सर्वस्माद् वस्तुनः प्रियतरोऽस्ति । अयमतिसन्निहितोऽस्ति । स यः कश्चिद् ज्ञानी आत्मानं विहायान्यद्वस्तु प्रियं मन्यते तदेवोपास्ते च । तस्य प्रियं विनष्टं भवति । अतः आत्मानमेव प्रियतरत्वेनोपासीत प्रेयः प्रियतरः । प्रमायुकं प्रमरणशीलम् । शेषं विस्पष्टार्थम् ॥ ८ ॥

तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते । किमु तद् ब्रह्मावेद् यस्मात् तत्सर्वमभवदिति ॥ ९ ॥

अनुवाद—यहां ज्ञानी जन कहते हैं कि "मनुष्य ऐसा मान रहे हैं कि ब्रह्मविद्या से हम सब वस्तु को प्राप्त होंगे । क्या कोई ज्ञानी ऐसा है जिसने उस ब्रह्म को जाना हो । और जिससे यह सर्व वस्तु हुई हो" ॥ ९ ॥

पदार्थ—(तद्+आहुः) यहां कोई ज्ञानी कहते हैं (यद्+ब्रह्मविद्यया) कि ब्रह्मविद्या से हम (सर्वम्+भविष्यन्तः) सब वस्तु को प्राप्त करेंगे ऐसा (मनुष्याः+मन्यन्ते) मनुष्य मानते हैं । अब यहां प्रश्न करते हैं कि (किम्+उ) क्या कोई ऐसा ज्ञानी कहीं हुआ अथवा है जिसने तद्+ब्रह्म+अवेत्) उस ब्रह्म को जान लिया हो और (यस्मात् सर्वम्+अभवद्+इति) जिस ज्ञान से सब वस्तु हुई हो ? ॥ ॥

भाष्यम्—आत्मज्ञानं विधाय ब्रह्मविद्यया सर्वं भवतीति दर्शयितुं कण्डिका द्वयमारभते। तदाहुः केचन ब्रह्मविदः। यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं वस्तु भविष्यन्तः प्राप्स्यन्तः सन्तः। भू प्राप्तौ। एवं मनुष्या मन्यन्ते। अत्र पृच्छन्ति। किमु कश्चिदीदृक् पुरुष आसीदस्ति वा। यः तद्ब्रह्म अवेद् विदितवान्। यस्माद् ब्रह्मविदः सर्वमभवदिति। अग्रे समाधास्यति ॥ ६ ॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवद्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथार्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति। अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति। एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १० ॥

अनुवाद—निश्चय, प्रारम्भ में यह ब्रह्म ही था उसने अपने आत्मा को जाना कि मैं ब्रह्म हूं इसलिये उससे सब हुआ। अतएव देवों के मध्य जो २ ब्रह्म बोध के लिये जागृत हुआ उस बोद्धा ने भी उस ब्रह्म को पाया। वैसे ही ऋषियों और मनुष्यों में भी जो प्रति बुद्ध हुआ वह भी ब्रह्म को प्राप्त हुआ। इस उसको देखता हुआ ऋषि वामदेव ने कहा कि "मैं ही मनु हुआ हूं, मैं ही सूर्य्य हुआ हूं" सो जो कोई ऐसा जानता है कि मैं ब्रह्म अर्थात् सर्व समर्थ हूं। वह इस सबको आजकल भी पाता है उस ज्ञानी के क्षति पहुंचाने के लिये देवगण भी समर्थ नहीं होते क्योंकि यह ज्ञानी इन देवों का आत्मा बन जाता है, यह अन्य है, मैं इससे भिन्न हूँ। ऐसा जानकर जो अन्य देवता की उपासना करता है वह नहीं जानता वह देवों के लिये पशुवत् है। जैसे बहुत से पशु मनुष्य को पोषण करते हैं ऐसे ही एक २ अज्ञानी पुरुष देवों को पोषण करता है जब एक पशु को लेलेने से अप्रिय होता तब यदि सब पशु लेलिये जायं तो इसकी कथा ही क्या ? इस कारण इन देवों को यह प्रिय नहीं लगता है कि मनुष्य इसको जान जायं ॥ १० ॥

पदार्थ—(वै+अग्रे+ब्रह्म+इदम्+आसीत्) निश्चय, पहले एक ब्रह्म ही यह था (तद्+आत्मानम्+एव+अवेद्) उसने अपने को ही जाना कि (अहम्+ब्रह्म+अस्मि+इति) मैं ब्रह्म हूं (तस्मात्+तत्+सर्वम्+अभवद्) उससे यह सब हुआ। (तद्+यः+यः+देवानाम्+प्रत्यबुध्यत) इस प्रकार देवों के मध्य में जो २ कोई ब्रह्म-ज्ञान के लिये जाग उठे (सः+एव) वह २ (तद्+अभवत्) उस ब्रह्म को प्राप्त हुए (तथा+ऋषीणाम्+तथा+मनुष्याणाम्) इसी प्रकार ऋषियों में और मनुष्यों में जो २ जागे उस २ ने उस ब्रह्म को पाया (तद्+ह+एतद्+पश्यन्) इस सुप्रसिद्ध विज्ञान को जानते हुए (वामदेवः+प्रतिपेदे) वामदेव ने कहा कि (अहम्+मनुः+अभवम्+सूर्य्यः+च+इति) मैं मनु हुआ और मैं सूर्य्य हुआ। (एतर्हि+अपि) आज कल भी (तद्+इदम्) उस इस सुप्रसिद्ध विज्ञान को (एवम्+वेद) ऐसा जानता है कि (अहम्+ब्रह्म+अस्मि) मैं सर्वसमर्थ हूं (सः+इदम्+सर्वम्+भवति) वह इस सबको पाता है (तस्य+अभूत्यै+देवाः+चन+न+ह+ईशते) उस विज्ञानी के अकल्याण के लिये कोई

देव भी समर्थ नहीं होते अर्थात् उसको कोई इन्द्रिय अब हानि नहीं पहुँचा सकते। (अथ) अब (अन्य+असौ+अन्य+अहम्+अस्मि+इति) यह दूसरा है मैं इससे अन्य हूँ ऐसा जान (यः+अन्याम्+देवताम्+उपास्ते) जो कोई अन्य देवता की उपासना करता है (न+सः+वेद) वह नहीं जानता है (सः+देवानाम्+यथा+पशुः+एव) वह अज्ञानी देवों के लिये पशुवत् ही है। (यथा+ह+वै+बहवः+पशवः) जैसे गौ, घोड़ा, भेड़, बकरी, ऊंट, हाथी इत्यादि बहुत से पशु (मनुष्यम्+भुञ्ज्युः) एक मनुष्य को पोषण करते हैं अर्थात् मनुष्य इनको कार्य्य में लगा कर अनेक लाभ उठाते हैं (एवम्+एकैकः+पुरुषः) इसी प्रकार एक २ अज्ञानी पुरुष (देवान्+भुनक्ति) देवों को पोसता है (एकस्मिन्+एव+पशौ+आदीयमाने) यदि किसी पुरुष का एक ही पशु ले लिया जाय चुरजाय वा नष्ट हो जाय तो उतना ही (अप्रियम्+भवति) उसको बड़ा अप्रिय होता (बहुषु+किम्+उ) यदि बहुत पशु नष्ट हो जायं तो दुःख की क्या दशा कही जाय (तस्मात्) इस कारण (एषाम्+तत्+न+प्रियम्) इन देवों को यह प्रिय नहीं लगता है (यद्+मनुष्याः+एतद्+विदुः) कि मनुष्य इस परमात्मा को जान जायं ॥ १० ॥

वामदेव सम्बन्धी वार्ता वैदिक-इतिहासार्थनिर्णय में विस्तार से वर्णित है वहां देखिये।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति ॥ ११ ॥ (क)

अनुवाद—निश्चय, आरम्भ में केवल एक ब्राह्मण वर्ण ही था वह एक होता हुआ समर्थ नहीं हुआ। इस हेतु उसने एक उत्तम सृष्टि रची जो (जगत् में) क्षत्रिय या क्षत्र कहलाता है। देवों में ये क्षत्रिय हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान ॥ ११ ॥ (क)

पदार्थ—(वै) निश्चय (अग्रे) क्षत्रियादि वर्ण विभाग के पहले (इदम्) यह समस्त मनुष्य समूह (एकम्) एक (ब्रह्म+एव) ब्राह्मण ही (आसीत्) था अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में केवल एक ब्राह्मणवर्ण था, मनुष्यों में क्षत्रियादि विभाग नहीं था। तब (तद्) वह ब्राह्मणवर्ण (एकम्+सत्) एक ही होने के कारण (न+व्यभवत्) विशेष वृद्धि को प्राप्त न होसका। इस हेतु (तद्) उस ब्राह्मण वर्ण ने (श्रेयोरूपम्) एक उत्तम वर्ण को (अत्यसृजत) अतिपरिश्रम वा अतिचातुर्य्य वा अतिशय बुद्धिमत्ता के साथ बनाया वह कौन वर्ण है सो आगे कहते हैं—(क्षत्रम्) जो जगत् में क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध है। ब्राह्मणों ने जो यह विभाग किया सो प्रकृति के बीच में कोई लक्षण देखकर अथवा ईश्वर के नियम को काटनेवाली अपनी स्वतन्त्रता से, इस पर कहते हैं कि (देवत्रा) प्राकृतिक पदार्थों में (यानि+एतानि+क्षत्राणि) जो ये क्षत्रिय रक्षक विद्यमान हैं। इन ही क्षत्रियों को देखकर अपने में भी क्षत्रिय बनाया। वे कौन हैं सो कहते हैं—(इन्द्रः+वरुणः०) इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान ॥ ११ ॥ (क)

भाष्यम्—ब्रह्मेति। वै निश्चयार्थे। अग्रे प्राक् क्षत्रियादिवर्णविभागाद्। इदं क्षत्रियादिवर्णभेदजातम्। एकं ब्रह्मैवासीदित्यत्र न सन्देहः। ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणवाची। यथा "वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः" पुरा ब्राह्मण एवैक आसीन्न क्षत्रियादिभेद इत्यर्थः। श्रूयते ह्याद्यानां मनुष्याणां प्रवृत्तिः सात्त्विकी। अतो न पारस्परिकं वैरम्। न भीरादिभीतिश्च। अतो निष्प्रयोजनत्वात् क्षत्रियादिवर्णभेदो नासीत्। निष्प्रयोजना

मन्दानामपि न प्रवृत्तिः । गच्छत्सु बहुषु कालेषु समुपस्थितेऽन्योन्यसापत्न्ये । तद्ब्रह्मैकं सत् । न व्यभवत् न विभूतिमद् बभूव स्वात्मरक्षणपरनिराकरणादि व्यवहारचतुरेण मनुष्यसमुदायेन विरहितं ब्रह्मैकं दुष्टशत्रुनिवारणेऽशक्तमभूदित्यर्थः । ततः किं कृतवत् । तद्ब्रह्म । श्रेयोरूपम् । प्रशस्तरूपम् । अत्यसृजत । अतिशयेन सृष्टवत् । किं तत् । यत् क्षत्रं जगति प्रसिद्धम् । क्षतो विक्षताँस्त्रायत इति क्षत्रम् । क्षताद्विनाशाद्वा त्रायते । श्रेयोरूपं क्षत्रमत्यसृजदित्यर्थः । योऽयं विभागः कृतः स किं प्रकृतिमध्ये लक्षणमवलोक्य उत स्वातन्त्र्येण । अत्राह—देवत्रेति । देवत्रा देवेषु प्राकृतपदार्थेष्वपि यान्येतानि क्षत्राणि रक्षकाणि सन्ति । तान्यवलोक्यैव विभागः कृतः । कानि तानि क्षत्राणि नामतो गणयन्ति । इन्द्रोवरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति । एतान्यष्टौ क्षत्राणि ॥ ११ ॥ (क)

तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म । तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एन९ हिनस्ति स्वा९ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेया९ स९ हिंसित्वा ॥ ११ ॥ (ख)

अनुवाद—इस हेतु क्षत्र (क्षत्रिय) से बढ़कर अन्य वर्ण उत्कृष्ट नहीं है । इस हेतु राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण क्षत्रिय से नीचे बैठता है क्योंकि क्षत्रिय में ही उस यश को ब्राह्मण स्थापित करता है । परन्तु सो यह क्षत्र का योनि (उत्पत्तिस्थान) है जो यह ब्राह्मण है यद्यपि राजा (राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण की अपेक्षा) श्रेष्ठता को (उच्चपदवी को) प्राप्त होता है परन्तु अन्त में ब्राह्मण के ही आश्रय में आता है जो उसका कारण है । जो राजा इस (ब्राह्मण) की हिंसा करता है । वह अपने कारण की हिंसा करता है । वह "पापीयान्" * होता है । जैसा जो अपने से "श्रेय" † पुरुष को हिंसा करता है वह पापिष्ठ बनता है ॥ ११ ॥ (ख)

पदार्थ—(तस्मात्) जिस कारण ब्राह्मण ने क्षत्रिय को उत्कृष्ट बनाया इस हेतु (क्षत्रात्) क्षत्रिय से (परम्) उत्कृष्ट (नास्ति) अन्य वर्ण नहीं है (तस्मात्) इसी कारण (राजसूये) राजसूय यज्ञ में (ब्राह्मणः) क्षत्रिय के कारणभूत ब्राह्मण (अधस्तात्) क्षत्रिय से नीचे बैठकर (क्षत्रियम्) उच्चसिंहासनस्थित क्षत्रिय की (उपास्ते) परिचर्य्या=सेवा करता है । अथवा (क्षत्रम्+अधस्तात्) क्षत्रिय के नीचे (उपास्ते) बैठता है क्योंकि ब्राह्मण (तद्+यशः) उस प्रसिद्ध अपने यश को (क्षत्रे+एव+दधाति) क्षत्रिय में ही स्थापित करता है । शङ्का होती है कि अपने यश को क्षत्रिय में रख कर क्या ब्राह्मण निकृष्ट होगया इस पर कहते हैं कि (सा+एषा) सो यह (क्षत्रिय+योनिः) क्षत्रियों का उत्पत्ति कारण है । (यद्+ब्रह्म) जो यह ब्राह्मण है नीचे बैठने पर भी यह क्षत्रिय का कारण बना ही रहा (तस्मात्) इस कारण (यद्यपि) यद्यपि (राजा) राजा राजसूय यज्ञ में (परमताम्) उत्कृष्टता को (गच्छति) प्राप्त होता है परन्तु (अन्ततः) अन्त में यज्ञ की समाप्ति होने पर (ब्रह्म+एव) ब्राह्मण अर्थात् पुरोहितादि के (उपनिश्रयति) समीप नीचे बैठता है (स्वाम्+योनिम्) जो अपनी उत्पत्ति का स्थान है उसी के आश्रय में आता है । आगे ब्राह्मण के निरादर का निषेध करते हैं— (यः+उ) जो कोई क्षत्रिय (एनम्) इस ब्राह्मण की (हिनस्ति) हिंसा करता है अर्थात् निरादर

---

* पापीयान्=अधिक पापी । पापी से "पापीयान्" बनता है ॥

† श्रेय=प्रशस्यतर=अधिक प्रशंसनीय । प्रशस्य से "श्रेय" बन जाता है ॥

करता है (सः) वह मानो (स्वाम्+योनिम्) अपनी योनि की (अपने कारण की) (ऋच्छति) हिंसा करता है (सः+पापीयान्) वह अधिक पापी होता है (यथा) जैसे (श्रेयांसम्) अपने श्रेष्ठ को (हिंसित्वा) मारकर मनुष्य अतिशय पापी होता है। तद्वत् ॥ ११ ॥ (ख)

भाष्यम्—तस्मादिति। "तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत" इत्युक्तं प्राग्। तेन ब्राह्मणः स्वेभ्यो ज्ञातिभ्य एव कतिपयान् पुरुषान् रक्षाद्यर्थः गृहीत्वोत्कृष्टान् क्षत्रियान् विरचितवानिति प्रतीयते। क्षत्रियाणां उच्चासने स्थापनं त्वमस्मानभितोरक्षेन्याद्यधिकाराधिपत्यप्रदानमेवोत्कृष्टत्वम्। यस्मात्तत्क्षत्रं स्वस्मादप्येव प्रशस्यतरं कृतम्। तस्माद्धेतोः। क्षत्रात्परम्। क्षत्रियादुत्कृष्टमन्यत् किमपि नास्ति। तस्मादेव कारणात्। राजसूये राजसूयाख्ये यागे। ब्राह्मणः क्षत्रियस्य कारणभूतोऽपि। अधस्तात् क्षत्रियमभिषिच्यमानमधोनीचासनं गृहीत्वोपरिस्थितम् क्षत्रियम्। उपास्ते परिचरति शुश्रूषते। यतो ब्राह्मणस्तदात्मीयं यशः। क्षत्रे एव दधाति स्थापयति। राजंस्त्वं ब्रह्मासीत्येवं स्तुत्वा स्थापयति। नन्वेवं राजनि स्वकीयं यशो ददतो ब्राह्मणस्यापकृष्टत्वं। स्यादत आह—सैषेति। यद्ब्रह्म यो हि ब्राह्मणवर्णः। सैषा क्षत्रियस्य योनिरुत्पत्तिस्थानम्। अतो न तस्मान्न्यूनत्वं ब्राह्मणस्य। न हि पुत्रात्पितुर्न्यूनत्वं कदापि। तस्माद्राजसूये राजा। परमतामुत्कृष्टताम्। गच्छति प्राप्नोति। तथापि। अन्ततोऽन्ते यज्ञसमाप्तौ। स्वां योनिं स्वोत्पत्तिकारणभूतम्। ब्रह्मैव पुरोहितादिब्राह्मणमेव उपनिश्रयति आश्रयति। समाप्तिं गते यज्ञे राजोच्चासनं विहाय ब्रह्माधस्तादुपविशति। एतेन ब्राह्मणे क्षत्रियोत्पत्तिकारणत्वमुक्त्वा तिरस्करणीयमिति शिक्षते। य उ यः कश्चिद् क्षत्रियोबलाभिमानात् प्रमादाद्वा। एनं स्वयोनिभूतं ब्राह्मणं हिनस्ति हन्ति निराद्रियते। स पुरुषः। स्वां योनिम्। ऋच्छति हन्ति। तदनुचितं कर्म्म। अत आह—स पापीयान् भवति हिंसादिक्रूरकर्म्मनियुक्तत्वात्पापी तु स सदैव पुनरपि स्वां योनिं हिंसित्वाधिकतरः पापी जायत इत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः—यथा लोके कोऽपि स्वस्मात्। श्रेयांसं प्रशस्यतरं हिंसित्वाऽनादृत्य पापीयान् भवति तद्वदित्यर्थः ॥ ११ ॥

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥ १२ ॥

अनुवाद—पुनरपि वह ब्राह्मणवर्ण विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त न हुआ। तब उसने वैश्य वर्ण की सृष्टि रची। जो ये देवताओं में हैं। जो एक २ गण के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे ये हैं—वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण ॥ १२ ॥

पदार्थ—अपने में से कतिपय मनुष्यों को क्षत्रिय बनाने पर भी धनोपार्जक संचायक और वर्द्धक के अभाव से (सः+न+एव+व्यभवत्) वह ब्राह्मणवर्ण विशेषरूप से कर्म करने के लिये विभूतिमान् धनवान् न होसका, अतएव अपने में से पुनः एक वर्ण (विशम्) वैश्य (असृजत) बनाया। क्या ईश्वरीय जगत् में भी कोई वैश्यवर्ण स्वभावतः सृष्ट हैं ?। इस शङ्का पर कहते हैं—(यानि+एतानि) जो ये (देवजातानि) देव (गणशः) गण करके (आख्यायन्ते) कहे जाते हैं वे वैश्य हैं। (वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवगण (मरुतः) मरुद्गण (इति) इस प्रकार के अन्य भी जानने ॥ १२ ॥

भाष्यम्—स इति। क्षत्रे सृष्टेऽपि धनानामुपार्जयितुः संचेतुर्वर्द्धयितुश्चाभावात्। स ब्राह्मणवर्णः क्षत्रं सृष्ट्वापि नैव व्यभवत् सर्वकर्माणि सम्यक् समापयितुं समर्थोनैव बभूव। अतस्तदर्थम्। विशमसृजत। किं सृष्टावपि निसर्गतो वैश्यवर्णाः सृष्टाः सन्ति यानवलोक्य विभागोऽयं कृत इत्याशङ्कायामाह—यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते गणं गणं कृत्वा कथ्यन्ते। ते एते वैश्याः। के ते? वसवः। रुद्राः। आदित्याः। विश्वेदेवाः। मरुतः। इतिशब्दः प्रकारार्थः। इत्येवंविधा अन्येऽप्यूह्याः। गणाख्यानेन गणशोगणशो मिलित्वा वाणिज्यकर्त्तव्यतामुपदिशति। प्रायेण संहिता हि वित्तोपार्जने समर्था नैकैकशः ॥ १२ ॥

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥ १३ ॥

अनुवाद—पुनरपि वह ब्राह्मणवर्ण वृद्धि को नहीं प्राप्त हुआ। तब उसने शूद्र वर्ण की सृष्टि रची। जो यह पूषण है। यही (पृथिवी ही) पूषा है, क्योंकि जो यह कुछ (प्राणी आदि) दीखता है। इस सब को पुष्टि करनेवाली यह पृथिवी ही है ॥ १३ ॥

पदार्थ—पुनरपि सेवा करनेवाले के अभाव से (सः) वह पूर्वोक्त ब्राह्मणवर्ण (नैव+व्यभवत्) विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ तब (शौद्रम्+वर्णम्+असृजत) शूद्रवर्ण की सृष्टि रची। पदार्थों में शूद्र कौन है सो कहते हैं—(पूषणम्) पूषण शूद्र है जो पोषण करे उसे "पूषण" कहते हैं उस पूषण को शूद्र देख शूद्रवर्ण की सृष्टि रची। पूषण कौन है? (इयम्) यह पृथिवी (वै) निश्चय (पूषा) पूषा अर्थात् पूषण है (हि) क्योंकि (यद्+इदम्+किञ्च) इस पृथिवी पर जो यह कुछ प्राणी और ओषधि समूह हैं (इदम्+सर्वम्) उन सबों का (इदम्) यह पृथिवी ही (पुष्यति) पोषण करती है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—स इति। को भूमिं कृष्यात्। हलं चालयेत्। स्थाने स्थाने कूपादिकं खनेत्। नदीनां सेतुं बध्नीयात्। स्थानात्स्थानमन्नादिकस्य भारं वहेदित्यादिकार्य्यं कोऽनुतिष्ठेत्। ब्रह्म स्तौति। क्षत्रं युध्यते। विडुपार्जते। अतः प्रागुक्तकर्म्मणा मनुष्ठातुर्वर्णस्याभावम्। पुनरपि। स नैव। व्यभवत्। सः। शौद्रं शूद्रं कर्षणादिक्रियाक्षमं वर्णमसृजत। शूद्र एव शौद्रः स्वार्थे प्रत्ययः। कः पुनरसौ शूद्रो वर्णो योऽयं ब्रह्मणा सृष्टः। पूषणम् पुष्यतीति पूषा तं पूषणम्। पूषणं शूद्रवृत्तिमवलोक्यासृजतेत्यन्वयः। विशेषमाह—इयमिति। इयं वै पृथिवी पूषा। कथमित्यपेक्षायां स्वयं निर्ब्रूते इयंहीति। हि यतः इयं पृथिवी एव। यदिदं किञ्च यदिदं किञ्चित्। प्राणिजातमोषधिसमूहश्च तदिदं सर्वम्। पुष्यति पुष्णाति। यथेयं भूमिः सर्वं पुष्यति तथैव सर्वपोषकः शूद्रो वर्णो सृष्टः ॥ १३ ॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्म्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्म्मस्तस्माद्धर्म्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्म्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति धर्म्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥ १४ ॥

अनुवाद—वह ब्राह्मण वर्ण पुनरपि वृद्धि को प्राप्त न होसका। तब उसने श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि अतिपरिश्रम से रची। यह क्षत्र का क्षत्र है जो यह धर्म्म है। इस हेतु धर्म से बढ़कर अन्य वस्तु नहीं। क्योंकि जैसे राजा के आश्रय से दुर्बल भी प्रबल मनुष्य को जीतने की इच्छा करता है। वैसे ही धर्मयुक्त अधिक दुर्बल भी पुरुष अपने से अधिक बल वाले को जीतने की इच्छा रखता है। निश्चय, जो वह धर्म है सो धर्म, निश्चय सत्य ही वह है। इस हेतु जो सत्यभाषण करता है उसको लोक कहते हैं कि यह धर्मभाषण कर रहा है और जो धर्मभाषण करता है उसको लोक यह कहते है कि यह सत्यभाषण करता है, क्योंकि ये दोनों ही सत्य और धर्म एक ही हैं ॥ १४ ॥

पदार्थ—स्वभाव से ही मानवी जाति कुटिल गतिवाली है उसमें भी प्रतिदिन क्रूरकर्म के साधन से ये क्षत्रिय अतिक्रूर उग्र और प्रजा के उद्वेजक बन गये। इस हेतु चारों वर्णों की रचना होने पर भी धर्म्मव्यवस्था न होने से उद्धत क्षत्रियों को नियम में रखनेवाले के अभाव से देश में मंगल नहीं हुआ। इस हेतु आगे धर्म की व्यवस्था का वर्णन करते हैं—(सः+न+एव+व्यभवत्) वह ब्राह्मणवर्ण चारों वर्णों को पृथक २ विभक्त करने पर भी विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त नहीं हुआ। इस हेतु (तत्) वह विभाग करनेवाला ब्राह्मणवर्ण (श्रेयोरूपम्+धर्मम्) कल्याणस्वरूप धर्म को (अत्यसृजत) अतिशय परिश्रम वा अतिशय विज्ञान से सृष्टि रची (तत्+एतद्) सो यह धर्मस्वरूप श्रेयोरूप वस्तु (क्षत्रस्य+क्षत्रम्) क्षत्र का भी क्षत्र है अर्थात् शासन करनेवाले क्षत्रियों का भी शासक है (यद्+धर्मः) जो यह धर्म है। अर्थात् उग्र से भी उग्र है (तस्मात्) इस हेतु (धर्मात्) धर्मसे (परम्) बढ़कर कोई भी वस्तु उत्कृष्ट नहीं है इसी हेतु (यथा+राजा) जैसे राजा के द्वारा अर्थात् राजा के आश्रय से (एवम्) वैसे ही (धर्मेण) धर्म्म के द्वारा (अबलीयान्+अथो) अधिक दुर्बल पुरुष भी (बलीयांसम्) अपने से अधिक बल वाले पुरुष को जीतने की (आशंसते) इच्छा करता है। वह कौन धर्म है सो आगे कहते हैं—(वै) निश्चय (यः+सः+धर्म्मः) सो जो यह धर्म्म है (तत्+सत्यम्) वह सत्य है (वै) इसमें सन्देह नहीं अर्थात् सत्य ही धर्म्म है। सत्य और धर्म में कोई भी भेद नहीं इसमें लोक ही प्रमाण है। सो आगे दिखलाते हैं—(तस्मात्) जिस हेतु सत्य और धर्म एक वस्तु है इस हेतु (सत्यम्+वदन्तम्) सत्य को कहते हुए पुरुष को देखकर (आहुः) सत्य और धर्म के तत्त्ववित् पुरुष कहते हैं कि (धर्मम्+वदति+इति) यह धर्म कह रहा है। और (वा) अथवा (धर्मम्+वदन्तम्) धर्म को कहते हुए पुरुष को देख कहते हैं कि (सत्यम्+वदति+इति) यह सत्य कहता है। अर्थात् लोक में यह प्रसिद्ध है कि सत्यवक्ता को धर्मवक्ता और धर्मवक्ता को सत्यवक्ता कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि धर्म और सत्य एक वस्तु है। इसी को फिर विस्पष्ट करते हैं (हि) क्योंकि (एतद्+उभयम्) यह सत्य और धर्म दोनों (एतद्) यह धर्म ही है अर्थात् एक वस्तु है। इस प्रकार धर्म की सृष्टि होने से मनुष्यों की परम वृद्धि होने लगी ॥ १४ ॥

भाष्यम्—प्रकृत्यैव जिह्मगतिर्मानवी जातिस्तत्रापि प्रात्याह्निकक्रूरकर्मसाधनादतिक्रूरा उग्राः प्रजोद्वेजका बभूवुरिमे क्षत्रियाः। अतः सृष्टेऽपि चातुर्वर्ण्ये धर्म्मव्यवस्थाऽभावादुद्धततमानां क्षत्राणां नियन्तुरभावाद्देशे न मङ्गलोद्भवः। अतो धर्मव्यवस्थां वर्णयति। स ब्राह्मणः चातुर्वर्ण्यं सृष्ट्वा नैव व्यभवत् विशेषेण विभूतिं नैव प्राप्नोत्। अतस्तत् श्रेयोरूपं कल्याणस्वरूपं धर्म्मं धर्म्माख्यं वस्तु। अत्यसृजत अतिशयेन परिश्रमेण विज्ञानेन सृष्टवान्। तदेतत् सृष्टं श्रेयोरूपं। क्षत्रस्य शासकस्य क्षत्रस्यापि क्षत्रं शासकं उग्रादप्युग्रं वस्तु यद्धर्म्मः। तस्माद्धेतोः। धर्मात्परमुत्कृष्टं नियन्तृ न किमप्यस्ति। तस्यैव सर्वशासित्-

त्वात्। तत्कथमित्याह—अथो इति। अथो अथोऽशब्दोऽप्यर्थः। अबलीयानपि दुर्बलतरोपि पुरुषः। बलीयांसम्। स्वस्माद्बलवत्तरमपि। धर्म्मेण धर्म्मबलेन धर्म्माश्रयेण। जेतुमिति शेषः। आशंसते कामयते। उदाहरणमाचष्टे—यथा राज्ञाद्वारेण राजाश्रयेण दुर्बलोऽपि बलवत्तरं जेतुमिच्छति। एवमेतद्दृष्टान्तसमानमिदमपि। धर्म्मेण युक्तोऽन्तरतो बलीयान् जायते। स बाह्यतः पुष्टानपि तृणाय मन्यते। अतः सिद्धं धर्मस्य सर्वशासितृत्वम्। यो वै स धर्म्मो लौकिकैरनुष्ठीयमानो यज्ञादिर्धर्म्म उच्यते। स धर्मः सत्यं वै तत् सत्यलक्षणः। नहि सत्यादन्यो धर्मः कोऽपि। अत्र लौकिकप्रथया तयोरैक्यं साधयति। यस्मादुभयोरभेदः। तस्मात्सत्यं वदन्तं ब्रुवन्तं पुरुषमवलोक्यायं धर्म्मं वदतीत्याहुर्लोका धर्मसत्यविवेकज्ञाः। धर्म्मं शास्त्रप्रसिद्धधर्मं वदन्तमवलोक्यायं सत्यं वदतीत्याहुः। उक्तमभेदमुपसंहरति। हि यस्मादेवं तस्मात्कारणात्। एतदुभयं सत्यधर्म्माख्यं वस्तु। एतद् एष धर्मो भवति ॥ १४ ॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणो मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्म्माकृतं यदिह वा अप्यनैवंविद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवाऽऽत्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥ १५ ॥

अनुवाद—इस हेतु (मनुष्यों में) यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण विभक्त हुआ। सो यह ब्राह्मण ही यज्ञ के द्वारा सब देवों में ब्रह्मा हुआ और मनुष्यों में ब्राह्मण हुआ। क्षत्रियरूप से क्षत्रिय, वैश्यरूप से वैश्य और शूद्ररूप से शूद्र हुआ। इस हेतु अग्नि में कर्म्म करके ही देवों में आश्रय की इच्छा करते हैं और ब्राह्मण के निकट कार्म करके (ब्राह्मण के द्वारा ही) मनुष्यों में आश्रय चाहते हैं क्योंकि इन दो रूपों से वह ब्राह्मण हुआ अब यह निश्चय है कि जो कोई अपने लोक को न जान कर यहां से चल बसता है। उस इस पुरुष की स्वलोक (आत्मा) अज्ञात होने से रक्षा नहीं करता। जैसे अपठित वेद वा अकृत अन्य कर्म्म मनुष्य की रक्षा नहीं करता (अथवा) निश्चय इस संसार में अपने लोक जीवात्मा के न जाननेवाला पुरुष कितना ही महापुण्य कर्म्म करे परन्तु इसका वह कर्म्म अन्त में क्षीण ही हो जाता है। इस हेतु आत्मस्वरूप लोक की ही उपासना करे। सो जो कोई आत्मस्वरूप लोक की ही उपासना करता है इसका कर्म्म क्षय को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह जो २ कुछ चाहता है उस २ वस्तु को इस आत्मा से ही उत्पन्न करता है ॥ १५ ॥

पदार्थ—अब पहले कहे हुए अर्थ का अनुवाद करते हुए जीवात्मा के ज्ञान की आवश्यकता को दिखलाने के लिये अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ करते हैं। जिस हेतु वर्ण विभाग के और धर्मशास्त्र के बिना जगत् का मङ्गल होना अशक्य है (तद्) उस कारण (एतद्+ब्रह्म) यह ब्राह्मण वर्ण (क्षत्रम्) क्षत्रिय वर्ण (विट्) वैश्य वर्ण (शूद्रः) शूद्र वर्ण पृथक् २ कर्म्म के साथ विभक्त हुआ। इस प्रकार चारों वर्ण बने और चारों आश्रम और इन दोनों के नियम में रखने के लिये बहुत धर्म्मशास्त्र बन गये

वा धर्मव्यवस्थाएं बांधी गईं। अब आगे यह दिखलाते हैं कि पूर्वकाल में एक ही ब्राह्मण वर्ण था उसी ने धर्म को विस्तृत किया और वही क्षत्रिय आदि बना। (तत्) वह ब्राह्मण वर्ण (देवेषु) भूमि, वायु, सूर्य्य आदि देवों में (अग्निना+एव) अग्नि के द्वारा अथवा कर्म्म के द्वारा ही (ब्रह्मा+अभवत्) स्रष्टा बना। भाव इसका यह है कि प्रथम अग्नि के तत्व को जान कर ब्राह्मणों ने यह जाना कि पृथिवी में ये गुण हैं, सूर्य्य में ये गुण हैं, यह अन्न भोक्तव्य है, ये पशु कार्य्य में लाने योग्य हैं, ये फल खाद्य हैं, ये ग्रहणीय नहीं हैं। इस प्रकार के बहुत पदार्थों के तत्व जान ब्रह्मवित् पुरुष देवों में भी अग्नि के द्वारा स्रष्टा रचयिता बना। अथवा अग्नि=यज्ञादि कर्म्म उसके द्वारा सूर्य्यादि देवों के निमित्त वह ब्रह्मा हुआ अर्थात् मंगलकारी हुआ क्योंकि यज्ञ के द्वारा सब देवों को भाग मिलता है। आगे मनुष्योपकार कहते हैं—(मनुष्येषु) सामान्यरूप से मनुष्यों के निमित्त अर्थात् मनुष्य के मङ्गल के हेतु (ब्राह्मणः+अभवत्) ब्राह्मण हुआ अर्थात् ब्रह्म से लेकर तृण पर्य्यन्त वस्तुओं के विज्ञान के लिये तत्पर हुआ ताकि सब वस्तुओं का इस परिश्रम से मङ्गल हो। आगे विशेष वर्णों का उपकार दिखलाते हैं। क्षत्रियों के मध्य (क्षत्रियेण) क्षत्रियरूप से (क्षत्रियः+अभूत्) क्षत्रिय हुआ अर्थात् शासक हुआ। वैश्यों में (वैश्येन+वैश्यः) वैश्यरूप से वैश्य हुआ (शूद्रेण+शूद्रः) शूद्रों में शूद्ररूप से शूद्र हुआ। अर्थात् संसार में मंगलार्थ ब्रह्मवित् पुरुष ही चारों वर्णों में विभक्त हुए। जिस हेतु ब्रह्मवित् पुरुष ने यह निश्चय किया कि कर्म्म से ही देवों के तत्व जाने जा सकते हैं और अन्य उपाय से नहीं (तस्मात्) इस हेतु जो देवों के तत्व जानने की इच्छा करते हैं वे प्रथम (अग्नौ+एव) अग्निरूप आधार में यज्ञादि कर्म्म करके (देवेषु) भूमि आदि देवों में (लोकम्+इच्छन्ते) लोक अर्थात् आश्रय चाहते हैं। भूमि आदि स्वरूप जो देवसंज्ञक पदार्थ हैं उनके तत्वों को जानना ही मानो भूम्यादि लोक में निवास करना है जिसने पृथिवी के तत्व को जाना उसे मानो पृथिवीरूप देव में लोक=आश्रय मिला। इसी प्रकार जिसने सूर्य्य के सब गुण जाने, मानो उसको सूर्यरूप देव में लोक (आश्रय) मिला। इसी प्रकार सब पदार्थों को जानना। प्रथम अग्नि में कर्म्म करना इसका आशय यह है कि प्रथम अग्नितत्व को जानना चाहिये क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्व प्रथम अग्निस्वरूप ही था। इसके पश्चात् भूमि आदि पदार्थ अध्येतव्य हैं। आगे मनुष्य विज्ञान के लिये ब्रह्मवित् पुरुष ही आश्रयितव्य हैं। सो कहते हैं—जो कोई मनुष्यों में आश्रय चाहता है वह (ब्राह्मणे) ब्राह्मण के निकट ब्रह्मचर्यादि कर (मनुष्येषु) मनुष्यों में लोक की इच्छा करे (हि) क्योंकि (एताभ्यां) इन अग्नि और ब्राह्मण (रूपाभ्याम्) रूपों से (ब्रह्म+अभवत्) सब कर्म में समर्थ हुआ। आगे जिस आत्मा से कोई ब्रह्मवित् कोई योद्धा रक्षक कोई वैश्य और कोई शूद्र इत्यादि बहु प्रकार का हो जाता है। वह आत्मा प्रयत्नपूर्वक ज्ञातव्य है। यह उपदेश देते हैं (अथ) अब (यः) जो अज्ञानी (स्वं+लोकम्) निज लोक अर्थात् अपने जीवात्मा को (अदृष्ट्वा) न जानकर (अस्मात्+लोकात्) इस आश्रित अध्युषित लोक से (प्रैति) उपात्त शरीर को त्याग शरीरान्तर ग्रहण के लिये जाता है (एनम्) इस अज्ञानी पुरुष कि (सः+अविदितः) वह अज्ञात आत्मा (न+भुनक्ति) रक्षा नहीं करता। "धर्मो रक्षति रक्षितः" इस न्याय के अनुसार जिसने आत्मा से परिचय नहीं किया उससे यह आत्मा भी दूरस्थ हो जाता। यहां दृष्टान्त कहते हैं—(यथा) जैसे (अननूक्तः) अनधीत (वेदः) वेद (वा) और (अन्यत्+अकृतम्+कर्म्म) वेदाध्ययनातिरिक्त अकृत कर्म्म रक्षक नहीं करता अर्थात् लोक में देखा जाता है कि जिसने वेद अध्ययन नहीं किया उसको वेद जीविका आदि से रक्षा नहीं करता क्योंकि जो पढ़े रहते हैं उनको ही यज्ञादि कर्म में नियुक्त करते हैं। और उन्हें ही दक्षिणा भी मिलती है। बहुत ऐसे भी

धूर्तराट् होते हैं जो न कुछ जानते हुए भी मूर्ख लोगों में वैदिक बनकर ठगा करते हैं। अन्य उदाहरण देते हैं—जैसे लोक में कृषिकर्म जो नहीं करता है वह फल नहीं पाता है। जो खेत करता है वह समय पर काटता है और भी भोग करता है। वैसे ही जो आत्मा को जानता है उसकी आत्मा रक्षा करता है अज्ञानी की रक्षा नहीं करता ॥

पक्षान्तर कहते हैं (अपि+वा) अथवा (अनेवंविद्) जो आदमी आत्मा को नहीं जानता है वह (यद्+इह) यहां (महत्+पुण्यम्) कितना ही बड़ा पुण्य (कर्म्म) कर्म्म (करोति) करे तथापि (अस्य) इस ज्ञानी का (तद्+ह) वह कर्म्म (क्षीयते+एव) क्षीण ही हो जाता है। इस हेतु सब को उचित है कि (आत्मानम्+एव+लोकम्) जीवात्मस्वरूप आश्रय का ही (उपासीत) अध्ययन करे जीवात्मतत्त्व का पूर्ण अध्ययन करे (सः+यः) सो जो कोई (आत्मानम्+एव+लोकम्) आत्मस्वरूप लोक के (उपास्ते) गुणों के निकट पहुँचता है (अस्य+कर्म्म+न+क्षीयते) इस ज्ञानी का कर्म्म क्षय को प्राप्त नहीं होता (हि) क्योंकि (यत्+यत्+कामयते) आत्मतत्त्ववित् जो २ कामना करता है (तत्+तत्) उस २ अभिलषित पदार्थ को (अस्मात्+एव+आत्मनः) इसी आत्मा से (सृजते) उत्पन्न कर लेता है ॥ १५ ॥

भाष्यम्—इदानीं प्रागुक्तार्थानुवादपूर्वकं जीवात्मज्ञानावश्यकतां व्याख्यातुमुक्रमते यस्माद्वर्णविभागं धर्म्मशास्त्रञ्च विना जगन्मङ्गलं भवितुमशक्यम्। तत्तस्माद्धेतोः। एतद्ब्रह्म—एष ब्राह्मणः। एतत् क्षत्रम्—एष क्षत्रियः। एष विट् वैश्यः। एष शूद्रो वर्णो विभक्तः। एवं चातुर्वर्ण्यं सृष्टम्। तदर्थञ्च चातुराश्रम्यम्। तदुभयनियन्तॄणि बहूनि धर्मशास्त्राणि च सृष्टानि। इति शेषः। सम्प्रति पुरैक एव ब्राह्मणो वर्ण आसीत्। स धर्मञ्च व्यतानीत्। तथा स एव क्षत्रियादिरूपः संवृत्त इति पूर्वोक्तमेवानुवदति। अग्निशब्दः स्ववृत्त्या यज्ञान् लक्षयति। यज्ञशब्दस्तु वेदप्रतिपादितेष्टकर्मपरकः। देवशब्दो भूमिवायु-सूर्यादिपदार्थवचनः। तदित्थम्। तद्ब्रह्म स ब्रह्मविद्वर्णः देवेषु निमित्तभूतेषु पृथिव्यादिसूर्यान्तानां सर्वेषां पदार्थानां निमित्तायेत्यर्थः। अग्निनैव वैदिकयज्ञकर्मणैव द्वारभूतेन। ब्रह्म अभवत् ब्राह्मणोऽभवत्। उपकारकोऽभूदित्यर्थः। ब्रह्मविद्धि सर्वोपकारः। तत्क्रममाह—केन देवानुपकरोति। तत्राह—अग्निना। अग्नौ हि प्रक्षिप्तानि द्रव्याणि जडानपि चेतनानपि उपकुर्वन्ति। यद्वा देवेषु देवानां भूम्यादीनां मध्ये अग्निनैव कर्मणैव विज्ञानचेष्टयैव। ब्रह्माभवत् स्रष्टृ अभवत्। पृथिव्यामिमे गुणाः। सूर्ये इमे गुणाः। एतान्यन्नानि भोक्तव्यानि। इमे पशवः कार्ये नियोक्तव्याः। इमानि फलानि अशनीयानि। इमानि नादेयानि। इत्येवं विधानां बहूनां पदार्थानां ब्रह्मवित् स्रष्टृभूत। मनुष्योऽपकारमाह—सामान्येन मनुष्येषु मनुष्याणां मंगलकरणाय। ब्राह्मणोऽभवत्। ब्रह्मारभ्य तृणपर्य्यन्तानां वस्तूनां विज्ञानाय प्रयतमानो बभूव। विशेषवर्णोपकारमाह—क्षत्रियेषु। क्षत्रियेण क्षत्रियरूपेण क्षत्रियोऽभवत्। क्षत्रियरूपेण शासकोऽभवत्। वैश्येषु। वैश्येन वैश्यरूपेण वैश्योऽभवत्। विविधदेशान् विशति प्रविशतीति विट्। तस्यापत्यं वैश्यः। गणशो गणशो विभज्य विविधान् देशान् प्रवेष्टुं स ब्रह्मविद् वैश्योऽभवत्। कर्षणादिकर्मकरणाय शूद्रेण शूद्ररूपेण शूद्रोऽभवत्। यस्माद् ब्रह्मवित् पुरुषः। कर्म्मणैव देवतत्त्वानि विज्ञातुं शक्यानि

नेतरेण केनचिदुपायेनेति निश्चितवान् । तत्तस्माद्धेतोरिदानीमपि । ये केचन देवलोकमिच्छन्ति । ते अग्नावेव । अग्न्याधार एव यज्ञादीन् कृत्वा । देवेषु भूम्यादि लोकेषु लोकमिच्छन्ते आलोकं विज्ञानमाश्रयस्था कामयन्ते । भूम्यादितत्त्वविज्ञानमेव भूम्यादिलोकनिवासः । प्रथममग्नौ कर्म्म कर्तव्यम् । अयमाशयः । प्रथममग्नितत्त्वं वेदितव्यम् । यतोऽग्रे सर्वमिदमग्निस्वरूपमासीत् । ततोऽन्ये भूम्यादयः पदार्था अध्येतव्याः । अत उक्तमग्नावेव । मनुष्य तत्त्वविज्ञानाय ब्रह्मविदाश्रयितव्य इत्यत आह—ब्राह्मणे इति । ब्राह्मणे ब्रह्मविदि पुरुषे ब्रह्मचर्य्यादिकं कृत्वा । मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये लोकमिच्छन्ति । न हि ब्रह्मविन्निकटेऽध्ययनाद्विना मनुष्यमध्ये प्रतिष्ठा भवितुमर्हति । हि यतः । एताभ्यां रूपाभ्यामग्निब्राह्मणरूपाभ्याम् । देवेषु मनुष्येषु ब्रह्माऽभवत् । विस्पष्टार्थेयमुक्तिः देवेषु मनुष्येषु ब्रह्माऽभवत् । सम्प्रति येन जीवात्मना कोपि ब्रह्मवित्, कोपि देववित्, कोपि क्षत्रियः, इत्येवमादिबहुप्रकारो भवति । स आत्मा प्रयत्नेन वेदितव्य इत्यत आह—अथेति । स्वं लोकं जीवात्मानम् । अदृष्ट्वाऽविज्ञाय "दृशिर् ज्ञानेपि प्रयोगबाहुल्यदर्शनात्" अस्मात् लोकात् आत्माश्रितात् मर्त्यादिलोकात् । प्रैति प्रकर्षेण एति गच्छति उपात्तदेहं विहाय देहान्तरं ग्रहीतुं गच्छति । तमेनं स्वस्य लोकस्य अवेत्तारं पुरुषम् । स आत्मा न भुनक्ति न पालयति । भुज पालनाभ्यवहारयोः । कथं न भुनक्ति । यतः सोऽविदितोस्ति । नह्यात्मानं वेदितुं स कदाप्यैच्छत् । अतः सोऽप्येनं न भुनक्ति । धर्मो रक्षति रक्षित इति न्यायात् । अत्र दृष्टान्तमाह—यथा लोके । अननूक्तोऽनधीतो वेदो न पुरुषं जीविकादिप्रदानेन रक्षति । वेदस्याध्येतैव हि जीविकां लभते । तथा च वा अथवा । अकृतमननुष्ठितम् अन्यद् वेदाध्ययनादतिरिक्तं क्षेत्रकर्षणादिकर्म यथा पुरुषं न रक्षति । यो हि कृष्यति स एव लुनाति । अत्र पक्षान्तरमाह । यदि ह वा इह संसारे अपि अथवा । अनेवंवित् स्वलोकस्य अज्ञानी कश्चित्पुरुषः । आत्मानं सम्यग् अविदित्वेत्यर्थः । महत्पुण्यं कर्म अश्वमेधादिकर्म्म नैरन्तर्य्येण करोति अनुतिष्ठति । अनेनाऽऽनन्त्यं फलानां भविष्यतीत्याशया । तथापि । अस्यानेवंविदः पुरुषस्य । तत्कर्म्म । अन्ततोऽन्ते । क्षीयत एव क्षयं प्राप्नोत्येव । अतः आत्मानं जीवात्मानमेव लोकम् । नान्यम् । उपासीत उपासनया विजानीत । फलमाह—स यो जिज्ञासुः आत्मानमेव लोकमुपास्ते । न हास्य कर्म्म क्षीयते क्षीणं भवति । हि यतः । स उपासकः । यद्यत् कामयते । तत्तत्सर्वम् । तस्मादेवात्मनो जीवात्मविज्ञानप्रभावादेव सृजते । आत्मविज्ञानं हि सर्वपदार्थप्रसवहेतुकम् ॥ १५ ॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथाह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमांसितम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—अब यह निश्चय है, यह आत्मा ही सब प्राणियों का लोक है। वह आत्मा जो होम करता है जो यज्ञ करता है उससे वह (आत्मा) देवों का लोक है। और जो वेदों को पढ़ता पढ़ाता है उससे ऋषियों का लोक है और जो पितरों को विशेष रीति से तृप्त करता है और जो प्रजा की इच्छा करता है उससे पितरों का लोक है और जो मनुष्यों को वास देता है और जो इनको भोजन देता है उससे मनुष्यों का लोक है। और यह जो पशुओं के लिये तृण और जल प्राप्त करता है उससे पशुओं का यह लोक है। और जो इसके गृहों में श्वापद पक्षी और पिपीलिका पर्य्यन्त जीव उपजीविका पाते हैं उससे उनका लोक है। जैसा कि प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि अपने लोक (शरीर) को हानि न पहुंचे। इसी प्रकार सब प्राणी इस तत्त्ववित् पुरुष की हानि नहीं चाहते हैं। सो यह विदित है और इस पर विचार भी किया गया है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथो) अब जीवात्मा की प्रशंसा आरम्भ करते हैं (वै) निश्चय (अयम्) यह मनुष्य देहप्रविष्ट जीवात्मा (सर्वेषाम्) सब (भूतानाम्) जीवधारी प्राणियों तथा पृथिव्यादियों का (लोकः) आश्रय है। अर्थात् इस मनुष्यशरीर से जीवात्मा अपना और अन्य सब जीवों का उपकार कर सकता है। यदि इच्छा वैसी रक्खे। आगे पञ्चमहायज्ञों के द्वारा सर्व जीवों के प्रति उपकार का वर्णन करते हैं। १—प्रथम देवयज्ञ (सः) वह मनुष्यशरीरधारी जीवात्मा (यद्+जुहोति) जो अग्नि में होम करता है और (यद्+यजते) जो प्रतिदिन विविध प्रकार के यज्ञों को किया करता है (तेन) उन दो कर्मों के अनुष्ठान से वह आत्मा (देवानाम्) पृथिवी वायु आदि जड़ देवों का भी (लोकः) आश्रय है। २—द्वितीय ब्रह्मयज्ञ (अथ) और (यद्+अनुब्रूते) जो यह स्वाध्याय का पठनपाठन करता है (तेन) उस अध्ययन अध्यापनरूप कर्म से (ऋषीणाम्) ऋषियों का आश्रय है। ३—पितृयज्ञ (पितृभ्यः) जीते हुए पितामह आदि पितरों के लिये (यद्+निपृणाति) जो दान प्रदान किया करता है और (यत्+प्रजाम्+इच्छते) जो सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करता है (तेन) उस कर्म से (पितृणाम्) पितरों का आश्रय है। ४—चतुर्थ नृयज्ञ (अथ) और (मनुष्यान्) अपने गृह पर संप्राप्त अतिथि विद्वान् आदि आए हुए मनुष्यों को (यद्+वासयते) जो बसाता है अर्थात् आसन जल आदि दे सत्कार करता है (एभ्यः) वास करते हुए इनको (यद्+अशनम्) जो अशन भोजन (ददाति) देता है (तेन) उस वास और अशन-प्रदानरूप कर्म से (मनुष्याणाम्) साधारणतया सब मनुष्यों का वह आश्रय होता है। ५—पञ्चम भूतयज्ञ (अथ) और (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (यद्+तृणोदकम्+विन्दति) जो यह तृण और घास प्राप्त करता है (तेन+पशूनाम्) उससे पशुओं का आश्रय होता है (आपिपीलिकाभ्यः) पिपीलिका=चींटी से लेकर (श्वापदः) मार्जार आदि (वयांसि) और पक्षी पर्य्यन्त (अस्य+गृहेषु) इस कर्म करनेवाले यजमान के गृहों में (उपजीवन्ति) उपजीविका प्राप्त करते हैं (तेन) उससे (तेषाम्) उन पिपीलिका आदिक जीवों का आश्रय होता है। इस प्रकार यह जीवात्मा सब भूतों (प्राणियों) का उपकार कर सकता है और करता है और इसके बदले में जीव भी इस उपकारी पुरुष के प्रति प्रत्युपकार करते हैं सो आगे दर्शाते हैं—(ह+वै) निश्चय (यथा) जैसे इस लोक में (स्वाय+लोकाय) निज शरीर का (अरिष्टिम्) अविनाश (इच्छेत्) चाहे अर्थात् जैसे जीवमात्र अपने शरीर की रक्षा चाहता है (एवम्+ह) वैसे ही (एवं+विदे) ऐसे जाननेवाले सर्वोपकारी मनुष्य का (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी (अरिष्टिम्) अविनाश (इच्छन्ति) चाहते हैं (तद्+वै+एतद्) सो यह उक्त कर्म पञ्चमहायज्ञों के प्रकरण में (विदितम्) ज्ञात है केवल ज्ञात ही

नहीं है किन्तु (मीमांसितम्) बहुत प्रकार से इस पर विचार करके स्थिर भी किया गया है, इस हेतु यह आत्मा सर्वोपकारी है यह सिद्ध हुआ ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अथ जीवात्मानं प्रशंसति । मनुष्यदेहं प्रविष्टो जीवात्मा सर्वानुपकरोति । यदीच्छेत् । एतेन शक्यं कार्य्यमकुर्वतो जनस्य पापं समायातीति ध्वनयति । अथो अथ जीवात्मस्तुतिरारभ्यते । वै निश्चयेन । अयमात्मा प्रतिशरीरं प्रविष्टो जीवात्मा । सर्वेषां भूतानामाब्रह्मपिपीलिकान्तानां प्राणिनाम् । लोक आश्रयः । पृथिवीलोकवत् । कथम् । १—देवयज्ञेन प्रथमं देवोपकारं दर्शयति । स जीवात्मा अग्नौ यज्जुहोति । यद्यजते विविधान् यज्ञान् करोति । तेन होमयागलक्षणेन कर्म्मणा । देवानाम् सूर्यादीनाम् । लोकः । २—द्वितीयेन ब्रह्मयज्ञेन ऋषीणामुपकारमाह—अथ यदनुब्रूते गुरौ स्वाध्याय-मधीते । स्वयञ्चाध्यापयति । तेन ऋषिणामयं जीवात्मा लोकः आश्रयः । ३—तृतीय पितृयज्ञेन पितॄणामुपकारमाह—पितृभ्यो जीवद्भ्यः पितामहादिभ्यः । यत् निपृणाति । "पृपालनपूरणयोः" प्रीणाति पितॄन् प्रीतान् कुर्वन्ति । यच्च प्रजामिच्छते उत्पादयति । तेन पितॄणां लोकः । ४—चतुर्थेन नृयज्ञेन सर्वेषां नृणामुपकारमाह—अथ मनुष्यान् यद् वासयते आसनोदकप्रदानेन स्वगृहे वासं ददाति । एभ्यश्च वसद्भ्योऽतिथिभ्यः । अशनं भोजनञ्च । ददाति तेन । स मनुष्याणां लोकः । ५—अथ पञ्चमेन भूतयज्ञेन भूतानामुप-कारमाह—पशुभ्यो यत्तृणोदकम् । विन्दति लम्भयति तेन पशूनामाश्रयः । आपिपीलि-काभ्यः पिपीलिका आरभ्य श्वापदा मार्जारादयः । वयांसि पक्षिणश्च । यदस्य कामंणो गृहे । उपजीवन्ति । उपजीविकां कुर्वन्ति तेन तेषां पिपीलिकाप्रभृतीनां भूतानाम् । लोकः । एवमुपकारिणं देवादयोपि उपकुर्वन्तीत्याह । यथा वै । स्वाय स्वकीयाय लोकाय शरीराय पोषणरक्षणादिभिः । अरिष्टिमविनाशमिच्छेत् । एवमेव ह । एवंविदे सर्वेषामुपकर्त्रे सर्वाणि भूतानि अरिष्टिमविनाशमिच्छन्ति । एतद्वा एतद् एतदेव यथोक्तानां कर्म्मणाम-वश्यकर्तव्यत्वं देवयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चेति पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं विज्ञातम् । ननु श्रुतमप्यविचारितं नानुष्ठेयमित्यत आह—मीमांसितमिति । ऋणं ह वाव जायते जायमानः योऽस्ति स देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः । इत्यादि नैतदवश्यकर्तव्यत्वं विचारितमित्यर्थः ॥ १६ ॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामोनेच्छंश्चनातोभूयोविन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथा वित्तं मे स्यादथ कर्म्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्याऽऽत्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवं श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म्म करोति स एष पांक्तो यज्ञः पांक्तः पशुः पांक्तः पुरुषः पांक्तमिदं सर्वं यदिदं किञ्च तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७ ॥

अनुवाद—आरम्भ में यह सब केवल एक पुरुष आत्मा ही था । उसने कामना की कि "मुझे स्त्री प्राप्त हो" तब मैं प्रजारूप से उत्पन्न होऊं "सन्तानवान् होऊं" और तब मुझे धन प्राप्त हो तब मैं कर्म करूं । निश्चय (जगत् में) इतनी ही कामना है । चाहता हुआ भी न चाहता हुआ भी इससे बढ़कर नहीं पासकता । इस हेतु आजकल भी एकाकी पुरुष कामना करता है कि "मुझे जाया प्राप्त हो" तब मैं प्रजारूप से उत्पन्न (सन्तानवान्) होऊं और "मुझे वित्त प्राप्त हो" तब मैं कर्म करूं । सो यह आत्मा जबतक इनमें से एक २ को नहीं पा लेता है तबतक अपने को अपूर्ण मानता है । इसकी पूर्णता इस प्रकार हो सकती है । इसका मन ही आत्मा है आत्मा के समान आत्मा है । वाणी ही जाया (पत्नी) है । प्राण ही प्रजा (सन्तान) है । चक्षु ही मानुषवित्त है क्योंकि नेत्र से ही उस मानुषवित्त को प्राप्त करता है श्रोत्र ही देववित्त है क्योंकि श्रोत्र से ही उसको सुनता है इसका आत्मा (शरीर) ही कर्म है क्योंकि आत्मा (शरीर) से ही कर्म करता है । सो यह यज्ञ पांक्त है । पशु पांक्त है । पुरुष पांक्त है । यह सब पांक्त है जो यह कुछ (जगत् में) है यह सब भी पांक्त है जो ऐसा जानता है । वह उस इस सब को पाता है ॥ १७ ॥

पदार्थ—अब जीवस्थभावदर्शनपूर्वक साधारण मनुष्यों की कामना का व्याख्यान करेंगे और यह जीवात्मा किस उपाय से सर्वोपकारक बन सकता है । यह भी दरसावेंगे । (अग्रे) विवाह आदि विधि प्रचार के पहले (इदम्) यह दारादि स्त्रीजाति प्रधानता से (एकः+एव) एक ही (आत्मा+एव+आसीत्) आत्मोपलक्षित पुरुषजाति ही थी (सः) वह मनुष्यदेहावच्छिन्न आत्मा (अकामयत) इच्छा की, क्या इच्छा की सो आगे कहते हैं—(मे) मुझको (जाया) पत्नी=स्त्री (स्यात्) प्राप्त होवे (अथ) पश्चात् (प्रजायेय) उस जाया में प्रजारूप से मैं उत्पन्न होऊं अर्थात् मैं सन्तान उत्पन्न करूं और (अथ) तत्पश्चात् (वित्तम्+स्यात्) धन होवे (अथ) धन होने के पश्चात् मैं (कर्म+कुर्वीय) विविध कर्म करने में समर्थ होऊं (एतावान्+वै+कामः) मनुष्यों में विशेष कर इतनी ही काम-इच्छा है । इतनी ही क्यों ? अभिलाषा तो अनन्त है इस पर कहते हैं (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (न+च) और इच्छा न करता हुआ भी साधारण पुरुष (अतः) इस जाया और वित्त से (भूयान्) अधिक पदार्थ (न+विन्देत्) नहीं पा सकता है इस हेतु वे ही दो कामनाएं प्रधान हैं । जिस हेतु पूर्वकाल में भी इन्हीं दो कामनाओं की इच्छा करने वाले पुरुष थे (तस्मात्) इस हेतु (एतर्हि) आज कल भी (एकाकी) जो अकेला रहता है वह (कामयेते कामना करता है कि (जाया+मे+स्यात्) मुझे पत्नी प्राप्त हो (अथ) जाया होने पर (प्रजायेय) सन्तानों को उत्पन्न करने में समर्थ होऊं (अथ) पश्चात् (वित्तम्+मे+स्यात्) मुझे धन प्राप्त हो (अथ) वित्तप्राप्ति के अनन्तर (कर्म+कुर्वीय) विविध कर्म कर सकूं । (इति) (सः) वह आत्मा (यावत्) जब तक (एकैकम्+अपि) एक २ भी (न+आप्नोति) नहीं पालेता है । (तावत्) तबतक (अकृत्स्नः+एव+मन्यते) वह अपने को अपूर्ण ही मानता है । अब आगे यह दरसाते हैं कि जिसको जाया और धन ये दोनों सहकारी धन किसी कारणवश प्राप्त नहीं हो सकता उसके लिये कोई उपाय है वा वह किसी उपाय से आत्मवान् हो सकता है या नहीं, इस पर कहते हैं—(तस्य+उ) निश्चय उसकी (कृत्स्नता) पूर्णता इस प्रकार हो सकती है (अस्य) इसका (मनः+एव+आत्मा) मन ही आत्मा के समान आत्मा है क्योंकि दोनों की प्रधानता समान है (वाग्+जाया) वाणी पत्नी के समान है, क्योंकि जैसे पति के अनुकूल स्त्री रहती है वैसे ही वाणी भी पुरुष के आधीन रहती है इस हेतु वाणी पत्नी के समान है (प्राणः+प्रजा) प्राण प्रजा के समान हैं क्योंकि जैसे जाया और पति के योग से प्रजा होती है तद्वत् जाया पति के समान

वाग् और मन के योग से ही प्राण की उत्पत्ति होती है (चक्षुः) दर्शनक्रियावान् चक्षु ही (मानुषम्) मनुष्य सम्बन्धी गो महिष आदि (वित्तम्) धन है (हि) क्योंकि (चक्षुषा) चक्षु से ही (तत्) उस मानुषवित्त को (विन्दते) पाता है (श्रोत्रम्) श्रवणक्रियायुक्त श्रोत्र ही (दैवम् दैवधन है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण) श्रोत्र से ही (तद्) वह दैव धन अर्थात् सूर्य्यादि देवतासंम्बन्धी विज्ञान (शृणोति) सुनता है क्योंकि सुनना श्रोत्र के ही अधीन है (अस्य) इस प्रकार साधनयुक्त पुरुष का (आत्माएव) शरीर ही (कर्म्म) कर्म है (हि) क्योंकि (आत्मना) शरीर से ही (कर्म करोति) कर्म्म करता है। इस प्रकार सब पुरुष कृत्स्नता को प्राप्त हो सकता है (सः+एषः) सो यह (यज्ञः) यज्ञ (पाङ्क्तः) पाङ्क्त है। पांच पदार्थों से करने योग्य है। आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र इन ही पांचों से सब यज्ञ हो सकते हैं। यह आध्यात्मिक अनुष्ठान है। आगे दिखलाते हैं सब ही वस्तु पाङ्क्त है क्योंकि जीवमात्र में ये पांच हैं। इस हेतु (पशुः) पशु (पाङ्क्तः) पाङ्क्त है। आत्मा आदि पांचों से युक्त है (पाङ्क्तः+पुरुषः) पुरुष पाङ्क्त है (इदम्+सर्वम्+पाङ्क्तम्) यह सब ही पाङ्क्त है (यद्+इदम्+किञ्च) जो कुछ इस संसार में है। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (तत्+इदम्+सर्वम्) वह उपासक इस सब फल को (आप्नोति) पाता है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—जीवस्वभाववर्णनपूर्वकं साधारणमनुष्याणां कामं व्याचष्टे तथा सर्वभूतोपकारिणमुपायं चापि दर्शयति। अग्रे प्राग् विवाहादिविधिप्रचाराद्। इदं दारादिजातम्। एक एव न पत्नीद्वितीयः। आत्मैवासीत्। आत्मोपलक्षितपुञ्जातिरेव प्रधानाऽऽसीत्। ततः स "जाया मे स्यादिति अकामयत" कस्मै प्रयोजनायेत्यत आह—अथेति। यदि मम जाया भविष्यति तर्ह्यस्यामहं प्रजायेय प्रजारूपेणोत्पद्येय सन्तानान् उत्पादयेयम्। तस्यां सन्तानानुत्पादयिष्यामि तेन सृष्टौ सर्वभूतानां रक्षापि भविष्यतीत्यर्थः। अथ वित्तं मे स्यादिति अकामयतेत्यन्वयः। वित्तेन कर्म कुर्वीय विविधयज्ञानुष्ठानाय मम प्रभूतं वित्तं स्यादिति कामितवान्। साधारणा हि मनुष्या इदं द्वयमेव कामयन्ते, तेनैव सन्तुष्टा अन्यस्माच्छ्रेयस्करात्कर्मणो विरमन्ति। एतावान् वै प्रसिद्धजायापुत्रवित्तकर्माणीत्येतावान् हि कामः कामयितव्यो विषयः। ननु कामानामानन्त्यं दृश्यते लोकेषु कथं तर्ह्यवधारणं वै शब्देन करोति इत्यत आह—नेति। इच्छन् नेच्छन्नपि च पुरुषः। अतोऽस्मात् जायापुत्रवित्तकर्मणां लाभाद्। भूयोऽधिकम्। न विन्देत न प्राप्नुयात् न प्राप्नोति। अतः प्रागुक्तमेव कामद्वयं कामयितव्यमित्यर्थः। यस्मात्पुराप्येवं व्यवस्यासीत् तस्मादप्येतर्हि। इदानीमपि आधुनिकानां मध्ये एकाकी पुरुषः कामयते "जाया मे स्याद्, अथ प्रजायेय, अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म्म कुर्वीयेति" सोऽर्थी एतेषामेकैकम् जाया पुत्रो वित्तं कर्मेत्येकैकं यावत्कालपर्यन्तम् न प्राप्नोति। तावत्कालम्। सोऽकृत्स्न एव मन्यते अपूर्णोऽहमित्यात्मानं मन्यते। कृत्स्नत्वसम्पादनासमर्थं, प्रति तदुपायमाह—तस्येति। तस्य उ अकृत्स्नाभिमानिनः केनोपायेन कृत्स्नता सम्पद्येत इत्याकाङ्क्षायामेवं भवितुमर्हतीत्याह—मन एव। अस्याकृत्स्नाभिमानिनः। मन एवात्माऽऽत्ममेवाऽऽत्मा प्रधानसामान्यात्। वाग् जाया पत्नी कर्माङ्गसाधनभूता जायेव वाणी वर्तते भर्तृमनोनुवृत्तिसामान्यादित्यर्थः। प्राणः प्रजा प्रजेव वाङ्मनसाभ्यां प्राणस्योत्पद्यत्वसामान्यात्। चक्षुर्दर्शनक्रियावन्मानुषं वित्तम्। हि यस्मात् चक्षुषा तत्प्रकृतं गवादिलक्षणं वित्तम् विन्दते प्राप्नोति इतिसाधनत्वसामान्यात्। श्रोत्रं श्रवणक्रियावत् दैवं देवसम्बन्धि वित्तम्। हि यस्मात्। श्रोत्रेण तद्दैवं वित्तम् देवतादि

विज्ञानलक्षणम् शृणोति । वाक्याद्विज्ञानोत्पत्तेः श्रोत्राधीनत्वात् । एवं साधनं सम्पादितवतोऽस्याकृत्स्नत्वाभिमानिनः । आत्मैव शरीरमेवकर्म्म । हि यतः । आत्मना शरीरेण कर्म्म करोति । अनेनोपायेन सर्वस्य कृत्स्नता सिद्धा भवितुमर्हति । अस्मात्कारणात् । एष यज्ञः पांक्तः पञ्चभिर्निष्पाद्यः पांक्तः । कथं पुनरस्य पञ्चत्वसम्पत्तिमात्रेण यज्ञत्वमित्याशङ्कायां ब्राह्मयज्ञस्यापि पाङ्क्तत्वमित्याह पाङ्क्त इति । पशुरपि पाङ्क्तः । तत्राप्यात्ममनोवागादीनां विद्यमानत्वात् । पुरुषः पाङ्क्तः । किं बहुना । इदं सर्वं पाङ्क्तमेव । जगति । यदिदं किञ्च किञ्चिद्दृश्यते । फलमाह—य एवं वेद स तदिदं सर्वं प्राप्नोति ॥ १७ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् (क) त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न (ख) कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वै तामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन (ग) स देवानपि गच्छति स ऊर्ज्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १ ॥

अनुवाद—पिता ने मेधा और तप से जो सात अन्न उत्पन्न किये (उन सातों अन्नों में से) इस (पिता) का एक अन्न साधारण अर्थात् साझा है और देवों को दो अन्न बांट दिये (क) और तीन अन्न स्वयं अपने ही लिये और एक अन्न पशुओं को दिया जिस पर सब ही प्रतिष्ठित है जो सांस लेता है और जो सांस नहीं लेता है (ख) किस कारण अद्यमान (जो खायाजाय) होने पर भी वे (अन्न) क्षीण नहीं होते जो ज्ञानी इसकी अक्षिति (अविनाश, अक्षयपन) को जानता है वह प्रतीक से अन्न खाता है (ग) वह देवों को भी प्राप्त होता है । और ऊर्ज (बल व रस) का उपभोग करता है, ये चारों श्लोक हैं ॥ १ ॥

इसका भाष्य आगे स्वयं ऋषि करते हैं और उसी के साथ पदार्थ भी आजायगा, अतः पदार्थ और भाष्य नहीं किये गये ॥ १ ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पिता । एकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते । स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्त्तते मिश्रं ह्येतत् ॥ २ ॥ (क)

अनुवाद—पूर्व में जो कहा गया है कि "पिता ने मेधा और तप से सात अन्न उत्पन्न किये (इसका यह भाव है) मेधा अर्थात् ज्ञान ही तप है (अन्याय तप नहीं) उससे उत्पन्न किये।" जो यह कहा है कि "इस (पिता) का एक अन्न साधारण है। इसका भाव यह है" यही इसका वह साधारण अन्न है। जो यह (सब प्राणियों के द्वारा) खाया जाता है। सो जो कोई इसके अच्छे प्रकार जानता है वह पाप से निवृत्त नहीं होता क्योंकि यह (अन्न) मिश्र (साझा) है ॥ २ ॥ (क) *

द्वे देवानभाजयदिति हुतञ्च प्रहुतञ्च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्रजुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात् ॥ २ ॥ (ख)

अनुवाद—पूर्व में जो यह कहा गया है कि "दो अन्न देवों को बांट दिये" इसका अभिप्राय यह है। वे दो अन्न "हुत" और "प्रहुत" हैं। इस हेतु देवों के लिये (विद्वान् जन) होम और बलिप्रदान करते हैं कोई आचार्य यह कहते हैं कि वे दो अन्न ये हैं एक "दर्श" और दूसरा "पूर्णमास" इस हेतु काम्येष्टि यजनशील नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥ (ख)

पदार्थ—(द्वे) दो अन्न (देवान्) देवों को (अभजत्) बांट दिये। यह पूर्वोक्त श्लोक में कहा है। वे दो अन्न कौन हैं सो कहते हैं (हुतञ्च प्रहुतञ्च) एक तो "हुत" और दूसरा "प्रहुत" (बलिहरण) है (तस्मात्) इसी कारण आजकल भी (देवेभ्यः) देवों के उपदेश से ज्ञानी पुरुष (जुह्वति) अग्नि में होमते हैं और होम करके (प्रजुह्वति+च) पश्चात् अन्य जीवों को बलि देते हैं (अथो+आहुः) कोई आचार्य कहते हैं कि देवों के "हुत" "प्रहुत" ये दो अन्न नहीं हैं, किन्तु (दर्श+पूर्णमासौ+इति) दर्श=अमावास्या और पूर्णमास=पूर्णिमा है (तस्मात्) इस हेतु इष्टियाजुकः+न+स्यात्) काम्य यज्ञ न करे। किसी कामना की इच्छा से ही यज्ञ न करे। किन्तु नित्य ही अमावास्या और पूर्णिमा को यज्ञ किया करे। जिससे कि देवों का अन्न नष्ट न होवे ॥ २ ॥ (ख)

पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत् पयः। पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात्कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वाऽनुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदं सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च न ॥ २ ॥ (ग)

अनुवाद—पूर्व में कहा गया है कि "पशुओं को एक दिया" इसका भाव यह कि वह एक अन्न पय=दूध है क्योंकि प्रथम दूध को ही मनुष्य और पशु ग्रहण करते हैं। इस हेतु जातकुमार को प्रथम घृत चटाते हैं अथवा स्तन पिलाते हैं। और पशुओं में उत्पन्न वत्स (बछरा) को "अतृणाद" अर्थात् तृण न खानेहारा कहते हैं। जो यह कहा गया है। "उस पर सब ही प्रतिष्ठित है जो सांस लेता है और जो सांस नहीं लेता है" इसका भाव यह है दूध के ऊपर ही यह सब प्रतिष्ठित है जो यह सांस लेता है और जो सांस नहीं लेता है ॥ २ ॥ (ग)

---

* प्रथम जो चार श्लोक कहे गये हैं वे कहीं अन्यत्र के श्लोक हैं उनको ऋषि अपने ग्रन्थ में उद्धृत करके स्वयं अर्थ करते हैं। इसी हेतु इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। "पदार्थ" में प्रत्येक पद के अर्थ से भाव विस्पष्ट होगा ॥

तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवं विद्वान्त्स सर्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति ॥ २ ॥ (घ)

अनुवाद—दूध की प्रशंसा आगे कहते हैं—इस विषय में कोई आचार्य जो यह कहते हैं कि एक वर्ष तक दूध से होम करता हुआ उपासक पुनः मृत्यु को जीतलेता है सो यह कहना ठीक नहीं, उपासक को ऐसा न समझना चाहिये। जिसी एक दिन दूध से होम करता है इसी दिन पुनः मृत्यु को जीत लेता है। इस प्रकार जाननेवाला विज्ञानी देवों के लिये सब भोज्य अन्न देता है ॥ २ ॥ (घ)

कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते। यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्म्मभिर्यद्धै तन्न कुर्य्यात् क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशंसा ॥ २ ॥ (ङ)

अनुवाद—पूर्व जो कहा गया है कि किस कारण वे अन्न सर्वदा अद्यमान होने पर भी नहीं क्षीण होते हैं। इसका भाव यह है कि पुरुष (भोक्ता) ही "अक्षिति" है। क्योंकि वही पुनः २ इस अन्न को उत्पन्न करता रहता है। इस हेतु अन्न का क्षय नहीं होता है। पूर्व में जो यह कहा है कि "जो इस अक्षिति को जानता है" इसका भाव यह है। पुरुष ही "अक्षिति" है क्योंकि वही इस अन्न को बुद्धि से और कर्म्मों से उत्पन्न करता रहता है। यदि वह पुरुष बुद्धि और कर्म्मों से अन्न को उत्पन्न न करे तब वह अवश्य ही क्षीण हो जाय। श्लोक में जो यह कहा है कि वह प्रतीक से अन्न खाता है। इस का भाव यह है। प्रतीक कहते हैं मुख को. मुख से ही इस को खाता है और श्लोक में जो यह कहा है कि वह देवों को भी प्राप्त होता है और वह रस को भोगता है सो यह प्रशंसा है ॥ २ ॥ (ङ)

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवन्ना-दर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ॥ ३ । (क)

अनुवाद—पूर्व श्लोक में जो यह कहा है कि "तीन अन्न अपने लिये किये" वे तीन अन्न ये हैं—मन, वाचा और प्राण। इन तीनों को अपने लिये किये। आगे मन की प्रशंसा करते हैं। मैं अन्यत्रमना था अर्थात् मेरा मन कहीं अन्यत्र था इस हेतु मैंने नहीं देखा, मैं अन्यत्रमना था अर्थात् मेरा मन कहीं अन्यत्र था इस हेतु नहीं सुना क्योंकि मन से ही आदमी देखता है और मन से ही सुनता है ॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(आत्मने) अपने लिये (त्रीणि) तीन अन्न (अकुरुत) उत्पन्न किये अर्थात् (मनः वाचं+प्राणः) मन. वाणी और प्राण (तानि+आत्मने+अकुरुत) इन तीनों को अपने लिये किये। अब आगे मन की प्रशंसा करते हैं—(अन्यत्रमनाः) अन्यत्रमन वाला (अभूवम्) मैं हुआ अतः (न+अदर्शम्) इस हेतु मैंने नहीं देखा (अन्यत्रमनाः+अभूवम्) अन्यत्र मनवाला मैं हुआ (न+अश्रौषम्) इस हेतु मैंने नहीं सुना (इति) (हि) क्योंकि (मनसा+एव) मन से ही (पश्यति) देखता है (मनसा+शृणोति) मन से ही सुनता है ॥ ३ ॥ (क)

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सा एषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा), धी (बुद्धि), भी (भय) यह सब मन ही है। इस हेतु यदि कोई पृष्ठ से उपस्पृष्ट होता है तो मन से जान जाता है (अर्थात् यदि कोई किसी की पीठ की ओर छिपकर उसकी पीठ को छूवे तो वह जान लेता है कि यह अमुक आदमी है) और जो शब्द है वह सब वाणी ही है क्योंकि यही अन्त को (अर्थात् निर्णय के अन्त तक) पहुंची हुई है इस हेतु यह प्रकाशस्वरूप है और अन्य से यह प्रकाश नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये "अन" अर्थात् प्राण हैं। यह सब प्राण ही है निश्चय यह आत्मा एतन्मय है अर्थात् वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है ॥ ३ ॥

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥ ४ ॥

अनुवाद—ये ही तीनों लोक हैं। वाणी ही यह (पृथिवी) लोक है। मन अन्तरिक्ष लोक है। प्राण वह द्युलोक है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(एते एव) ये वाणी मन और प्राण ही (त्रयः) तीन (लोकाः) लोक आश्रय है इसका विभाग करते हैं—(वाग् एव) वाणी ही (अयम्) यह अर्थात् यह पृथिवी (लोकः) लोक है (मनः) मन (अन्तरिक्षलोकः) अन्तरिक्षलोक है (प्राणः) प्राण ही (असौ लोकः) वह द्युलोक है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—त्रय इति । त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनोवाचं प्राणमित्युक्तं पुरस्तात् । एवञ्च । "अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमय" इत्यादि दर्शितम् । एतेनास्य त्रयस्य सर्वेभ्यः प्रधानत्वं सूचितम् । पुनरपि तदेव स्तोतुमुत्तरोग्रन्थ आरभ्यते । वाङ्, मनः, प्राण इत्येत एव प्रसिद्धास्त्रयो लोकाः । एतेषामेववागादीनां संस्कृतानां शुद्धानां साहाय्येन । त्रयाणामपि लोकानां ज्ञानम् । यद्वा त्रयोलोका इवेति व्याख्येयम् । अथ विभागमाह—वागेवायमिति । अत्रेयं शब्दः पृथिवीवचनः । सर्वत्रैवेयं शैली दृश्यत आर्षग्रन्थेषु । अयं पृथिवीलोको वागस्ति । यथा पृथिवी वसूनि बिभर्त्ति समये समये तानि जनयित्वा जीवान् स्वाश्रितान् पोषयति । एवमेव वागपि वेदाभ्यस्तपदार्थांश्च गृहीत्वा यथाकालं प्रकाश्य स्वभक्तं पाति । मनोन्तरिक्षलोकः अन्तरिक्षे यथा सर्वाणि पृथिव्यादीनि वस्तूनि स्थापितानि तथैव मनसि वागादीनामपि स्थापनम् । प्राणोऽसौ लोकः । असौशब्द प्रायः सर्वत्र द्युलोकवाचकः प्रयुक्तः । यथा दिवि सूर्य्यस्तिष्ठन् सर्वं जगत् प्रकाशयति बिभर्ति च । तथैवायं प्राणोऽपि मूर्द्धनि स्थितः सन् वागादीनि इन्द्रियाणि प्रकाश्य रक्षति । अतस्तयोर्द्वयोः समानता ॥ ४ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कहा गया है कि मन, वाणी और प्राणरूप तीन अन्न अपने लिये किये और यह भी कहा है कि यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है। इन वर्णनों से इन तीनों की अन्यान्य की अपेक्षा प्रधानता दिखलाई गई है। पुनरपि इन तीनों की स्तुति के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ होता है। मूल में कहा है कि वाक्, मन और प्राण ये तीनों क्रम से पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक हैं। इसका भाव यह है कि जब वाक् मन और प्राण संस्कृत और शुद्ध होते हैं तब इन तीनों की सहायता से इन पृथिवी आदि तीनों भुवनों का सम्यक् बोध होना संभव है। इस हेतु वागादि तीनों साधन और ये साध्य हैं। अतः साध्यसाधन की अभेदविवक्षा से ये वागादि तीनों, तीनों लोक हैं ऐसा कहा है। वागादि तीनों पृथिवी आदि तीनों लोक के समान हैं ऐसा अर्थ करना चाहिये। जैसे वाग् पृथिवी है अर्थात् पृथिवी के समान है कैसे? जैसे यह पृथिवी अपने अभ्यन्तर में विविध धन ओषधि बीज आदि पदार्थों को रखती है। समय २ पर उनको उत्पन्न कर स्वाश्रित जीवों को पालती है वैसे ही यह वाणी वेदों और अभ्यस्त पदार्थों को अपने में ग्रहण करके यथाकाल प्रकाशित कर अपने भक्त को पालती है। इस हेतु वाणी को पृथिवी के समान कहा है। मन अन्तरिक्षलोक के समान जैसे अन्तरिक्ष (आकाश) में सब पदार्थ स्थापित हैं वैसे ही मन में वाणी आदि स्थापित हैं। यदि मन बिगड़ जाय या कहीं अन्यत्र रहे तो वाणी नेत्र आदि कुछ काम नहीं कर सकते। प्राण द्युलोक के समान सूर्य, के स्थान का नाम द्युलोक है। जैसे द्युलोकस्थ सूर्य सब का प्रकाशक और धारक है। वैसे ही यह प्राण भी सब वागादि इन्द्रियों का प्रकाशक और धारक है, इत्यादि इसके अनेक भाव घट सकते हैं। यहां कहने का तात्पर्य विशेषरूप से यह है कि इन तीनों को शुद्ध करो और इनसे जितना कार्य हो सकता है उसको ग्रहण करो। आध्यात्मिक उपासना में ये तीन प्रधान हैं आगे भी ऐसा ही जानना ॥ ४ ॥

त्रयो वेदा एतएव वागेव ऋग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५ ॥

अनुवाद—ये ही तीनों वेद हैं। वाणी ही ऋग्वेद है। मन ही यजुर्वेद है। प्राण ही सामवेद है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(एते+एव) ये ही (त्रयः) तीनों (वेदाः) वेद हैं (वाग्+एव+ऋग्वेदः) वाणी ही ऋग्वेद है (मनः) मन (यजुर्वेदः) यजुर्वेद है (प्राणः) प्राण ही (सामवेदः) सामवेद है ॥५॥

भाष्यम्—त्रय इति। ऋग्वेद इव वाग्। यथा वाचा सर्वव्यवहारस्तथा ऋचा। ऋच एव बाहुल्येनेतरेषु वेदेषु पठ्यन्ते। कर्म्मकाले ऋग्भिरेव स्तूयन्ते गीयन्ते। यद्वा ऋगिवेश्वरं वाक् स्तौति। वाचा हि स्तूयते सर्वम्। यजुर्वेद इव मनः। मन इन्द्रियाणीव कर्माणि सर्वाणि यजुः सम्बध्नाति वाक्यरूपत्वात्। सामवेद इव प्राणः। गीयमानः सामवेद इतरानुज्जीवयति प्राण इवातः साम्यम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—ऋग्वेद के समान वाणी है जैसे वचन से सर्व-कर्मव्यवहार होता है वैसे ही ऋचा से। अन्य तीनों वेदों में प्रायः ऋचाओं का ही अधिक पाठ है। कर्मकाल में ऋचाओं से ही स्तुति गीति आदि याज्ञिक सर्व-व्यवहार होते हैं। यद्वा जैसा ऋग्वेद ईश्वर की स्तुति करता है वैसे ही वाणी भी। क्योंकि वचन से ही सब की स्तुति होती है। यजुर्वेद के समान मन है जैसे सब इन्द्रियों के साथ मन सम्बन्ध रखता है वैसे यजुर्वेद भी सब कर्म से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि यजुर्नाम वाक्य

का है। यज्ञ करो वा अमुक कर्म्म करो अमुक कार्य्य मैं करूं इत्यादि यजुर्वेद से ही सिद्ध होता है। सामवेद के समान प्राण। सामवेद का गान जैसे सब को प्रिय होता है वैसे ही प्राण सब का प्रिय है ॥ ५ ॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

अनुवाद—ये ही देव पितर और मनुष्य हैं। वाणी ही देव है। मन ही पितर है। प्राण ही मनुष्य हैं ॥ ६ ॥

पदार्थ—(एते+एव) ये ही (देवाः) देव हैं (पितरः) पितर हैं (मनुष्याः) मनुष्य हैं। आगे विभागपूर्वक कहते हैं—(वाग्+एव) वाणी ही (देवाः) देव है (मनः) मन ही (पितरः) पितर है (प्राणः+मनुष्यः) प्राण ही मनुष्य है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—देवा इति। देवा अत्र विद्याप्रकाशवन्तः। पितरो रक्षितारः। मनुष्याः सामान्याः। विद्यावन्तः खलु पुरुषा वागिव व्यवहारसाधकाः। पितरो यथा देशान् रक्षन्ति मनस्तथेन्द्रियाणि। साधारणमनुष्या एव सर्वानुच्चावचान् व्यवहारान् साधयन्ति। अतः प्राणो मनुष्याः ॥ ६ ॥

भाष्याशय—यहां विद्या-प्रकाशवान् पुरुष देव, रक्षक पितर और साधारण मनुष्य, मनुष्य। विद्यावान् पुरुष ही वाणी के समान सर्व व्यवहारसाधक होते हैं। इस हेतु देव के समान वाणी। जैसे मन इन्द्रियों की रक्षा करता है वैसे ही पितर देशरक्षक होते हैं। इस हेतु इन दोनों की समानता है। जैसे साधारण मनुष्य ही छोटे बड़े सब कामों को निबाहते हैं अन्य देव पितरों का भी वे आश्रय हैं, वैसे ही यह प्राण इन्द्रियों का आश्रय और सब काम में रात दिन लगा रहता है कभी थकित नहीं होता। इस हेतु इन दोनों की समानता है ॥ ६ ॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ् माता प्राणः प्रजाः ॥ ७ ॥

अनुवाद—ये ही माता पिता और प्रजा हैं। मन ही पिता है वाणी ही माता है। प्राण ही प्रजा है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(पिता+माता+प्रजा) पिता, माता और प्रजा=सन्तान (एते+एव) ये ही मन, वाणी और प्राण हैं। (मनः+एव+पिता) पिता के समान मन (वाङ्+माता) माता के समान वाणी (प्राणः+प्रजा) प्रजा अर्थात् सन्तान के समान प्राण है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—पितेति। पालकत्वात् पिता। यथा पिता सन्तानादिकं पालयति। तथा मन इन्द्रियाणि। इन्द्रियसन्तानमनोरथांश्च। अतस्तयोः साम्यम्। माता मानयतीति मानेन तनोतीति वा। मया सम्पत्त्या तनोतीति वा। इदं मा कुरु इदं मा कुरु इति तनोति शिक्षते वा। मातीति वा मिमीत इति वा। अणशोऽणशो निर्मिमीत इत्यर्थः। इत्याद्यनेकधातुजोऽयं शब्दः। यथा माता सन्तानं शनैः शनैर्वर्धयति। तथैव वाणी प्रियाविधोल्लासिता सती पुरुषं यशसा धनादिना च वर्धयति। इत्यादि साम्यमूह्यम्। यथा प्रजा वंशं बिभर्ति। यथा प्राणोऽपि शरीरादि ॥ ७ ॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—ये ही विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात (ये तीनों पदार्थ) हैं जो कुछ "विज्ञात" है वह वाणी का रूप है। क्योंकि वचन ही विज्ञात होता है। जो इसको जानता है उसको विज्ञातस्वरूप होकर वाणी पालती है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(विज्ञातम्) जो ज्ञात=मालूम हो चुका है। जो विशेषरूप से ज्ञात (मालूम) हो चुका है उसे "विज्ञात" कहते हैं। (विजिज्ञास्यम्) जो जानने योग्य है वह 'विजिज्ञास्य" कहलाता है (अविज्ञातम्) जो अच्छे प्रकार से ज्ञात नहीं है वह अविज्ञात। ये ही तीन दशाएं हैं। ये तीनों (एते+एव) ये ही वाणी, मन और प्राण हैं। अब विभाग करते हैं—(यत्+किञ्च+विज्ञातम्) जो कुछ विज्ञात है (तत्) वह (वाचः) वाणी का रूप है (वाग्+हि+विज्ञाता) प्रकाशक होने से वाणी ही जानी जाती है। (एनम्) वाणी तत्त्ववित् पुरुष को (वाग्+तद्+भूत्वा+अवति) वाणी ही विज्ञातरूप होके पालती है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—विज्ञातमिति। विशेषेण ज्ञातम्। विजिज्ञास्यं विजिज्ञासितुं योग्यम्। अविज्ञातमविदितम्। इमानि त्रीणि। एत एव वागादय एव। विभागेन प्रदर्शयति। यत्किञ्च विज्ञातं तद्वाचो वाण्या रूपम्। हि यतः। वाग्विज्ञाता प्रकाशिता सती प्रकाशयित्री भवति। फलमाह—एनमुपासकं। वाग् तद्विज्ञातरूपं भूत्वा। अवति रक्षति ॥ ८ ॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ ९ ॥

अनुवाद—जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह मन का रूप है क्योंकि मन ही विजिज्ञास्य है। इस उपासक को मन विजिज्ञास्य का रूप धारण कर पालता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—अब मन का रूप कहते हैं—(यत्+किञ्च) जो कुछ वस्तु (विजिज्ञास्यम्) विशेष रूप से जानने के योग्य है (तत्) वह (मनसः) मन का (रूपम्) रूप है (हि) क्योंकि (मनः+विजिज्ञास्यम्) मन ही प्रथम विशेषरूप से जानने योग्य है, वही मन विज्ञात होने पर विजिज्ञास्य वस्तु को प्रकाशित करता है, आगे फल कहते हैं—(एनम्) जो इस तत्त्व को जानता है। (मनः) मन (तद्+भूत्वा) विजिज्ञास्यस्वरूप होकर (अवति) पालता है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—यत्किञ्चिद्वस्तु विशेषेण जिज्ञासितुमभीष्टमस्ति तत्सर्वं मनसोरूपम्। हि यतः। मन एव प्रथमं विजिज्ञास्यम्। विजिज्ञासितं मनो विजिज्ञास्यं प्रकाशयति। फलमाह—एनमुपासकम्। तद्विजिज्ञास्यं भूत्वा। अवति रक्षति ॥ ९ ॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति ॥ १० ॥

अनुवाद—जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का रूप है। क्योंकि प्राण ही अविज्ञात है। इस उपासक को प्राण उस अविज्ञात के रूप को धारण कर पालता है ॥ १० ॥

पदार्थ—अब प्राण का रूप कहते हैं—(यत्+किञ्च) जो कुछ वस्तु (अविज्ञातम्) अविज्ञात है (तत्) वह (प्राणस्य) (रूपम्) प्राण का रूप है (हि) क्योंकि (प्राणः+अविज्ञातः) प्राण अविज्ञात है। आगे फल कहते हैं— एनम्) इस तत्त्व के जाननेवाले को (प्राणः) प्राण (तत्+भूत्वा) अविज्ञातस्वरूप होकर (अवति) पालता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—यत्किञ्चिद्वस्तु। अविज्ञातमविदितमस्ति। तत्प्राणस्य रूपम्। प्राणो हि अविज्ञातः अविदितः। फलमाह—प्राण इति विस्पष्टम् ॥ १० ॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक् तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥ ११ ॥

अनुवाद—उस वाणी का शरीर पृथिवी है और प्रकाशात्मकरूप यह अग्नि है इस हेतु जितनी ही वाणी है उतनी पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(तस्यै) उस (वाचः) वाणी का (शरीरम्) शरीर (पृथिवी) पृथिवी है (ज्योतीरूपम्) प्रकाशात्मकरूप (अयम्+अग्निः) यह अग्नि है (तत्) इस हेतु (यावती+एव) जिस परिमाण की अर्थात् जितनी बड़ी ही (वाग्) वाणी है (तावती+पृथिवी) उतनी ही पृथिवी है । और (तावान्) उतना ही (अयम्+अग्निः) यह अग्नि है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तस्मै इति । पुनस्तेषामेव वागादीनां स्तुतिरनुक्रम्यते । तस्यै तस्याः । षष्ठ्यां चतुर्थी । प्रायोऽस्मिञ्छास्त्रे ईदृग्व्यवहारः । तस्या वाचः । पृथिवी शरीरमाधारः । पार्थिवांशैरन्नादिभिस्तस्या उपचीयमानत्वाद् । अयं पार्थिवोऽग्निः । तस्या ज्योतीरूपम् प्रकाशात्मकं रूपम् । आग्नेयशक्त्या हि वाणी विवर्धते । दृश्यते मरणसमये यावत्काल-पर्यन्तमुष्णता देहेऽनुभूयते । तावत्कालं वागप्युच्चर्यते । शैत्यं गते देहे वागप्येति । अत उक्तमयमग्निर्ज्योतीरूपमिति । यस्माद्वाचः पृथिवी शरीरम् । तत्तस्माद्धेतोः । यावत्येव यावत्परिमाणैव वागस्ति । तावती पृथिवी । तथा तावानयमग्निः । अयमाशयः । यत्र यत्र वागुच्चर्यते । तत्र तत्र पार्थिवांशः । यत्र च पार्थिवांशस्तत्राग्निः प्रत्यक्षमेतत् ॥ ११ ॥

भाष्याशय—यह प्रत्यक्ष विषय है कि जहां २ पृथिवी का अंश है वहां २ से वाणी अवश्य निकल सकती है । मेघ आदि में भी पार्थिवांश का अनुमान होता है । जहां २ स्थूलता विस्तृता आदि गुण हैं वहां २ पृथिवीत्व समझना चाहिये । सांख्य के मत से एक ही कोई पदार्थ है जिसको वे प्रकृति कहते हैं । पृथिवी जल वायु तेज आदि जो कुछ है वह सब ही प्रकृति का ही परिणाम है । जैसे दूध का ही परिणाम दही घी आदि है । तद्वत् । इस हेतु पृथक् २ करके निर्णय करना अति कठिन है । और पृथिवी कौन जल है ? पृथिवी में जलादि अंश कितना और जल में पृथिवी का अंश कितना यह सब विषय अन्वेषणीय हैं । इस हेतु जहां २ सघनता पृथुता स्थूलता आदि गुण प्रतीत होते हैं वहां २ सघनता आदि की अधिकता के कारण पृथिवीत्व ही जानना । इस हेतु वाणी का शरीर (आधार) पृथिवी और अग्नि इसका रूप कहा है । इसका भाव यह है जैसे नेत्र आदिक इन्द्रिय पदार्थ ग्रहण के कारण हैं । वैसे ही अग्नि भी वाणी का कारण है । अग्नि विना वाणी नहीं हो सकता । प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि इस शरीर में मरण के समय जब तक उष्णता का बोध होता है तब तक भाषण-शक्ति भी प्रायः रहती है । जब शरीर सर्वथा शीतल हो जाता है तब वाणी भी बन्द हो जाती है । इस हेतु वाणी आग्नेयशक्तिविशिष्ट हैं ऐसा प्रतीत होता है । और भी जैसे अग्नि पदार्थों का प्रकाशक और अन्धकार का नाशक होता है । वैसे ही वाणी अपने उच्चारण से सब पदार्थों की प्रकाशिका और यदि शुद्ध विशुद्ध वाणी होजाय तो अज्ञानता को भी नष्ट कर देती है । इन अनेक कारणों से स्तुति के लिये जितनी ही वाणी है उतना ही पृथिवी और अग्नि कहा है ॥ ११ ॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनं समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

अनुवाद—अब इस मन का शरीर द्युलोक है और प्रकाशात्मकरूप यह आदित्य है। इस हेतु जितना ही मन है उतना ही द्युलोक है। और उतना ही यह आदित्य है। वे मन और वाणी एकत्र संगत हुए। उन दोनों से प्राण उत्पन्न हुआ सो यह प्राण इन्द्र (ऐश्वर्यवान्) है। सो यह शत्रु रहित है। निश्चय, दूसरा शत्रु होता है। जो ऐसा जानता है उसका कोई शत्रु नहीं होता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अथ) वाणी का स्वरूप कहा गया, अब मनका स्वरूप कहते हैं—(एतस्य+मनसः) इस मन का (शरीरम्+द्यौः) शरीर द्युलोक है और (ज्योतीरूपम्) प्रकाशात्मकरूप (असौ+आदित्यः) यह आदित्य है। (तत्+यावद्+एव+मनः) अतः जितना बड़ा मन है (तावती+द्यौः) उतना ही द्युलोक है (तावान्+असौ+आदित्यः) उतना ही सूर्य है, अब आगे प्राण की उत्पत्ति कहते हैं—(तौ) वे वाणी और मनरूप स्त्री पुरुष (मिथुनम्+समैताम्) इकट्ठे हुए (ततः) तब (प्राणः+अजायत) प्राण उत्पन्न हुआ (सः+इन्द्रः) वह प्राण परमैश्वर्यवान् है। और (सः+एषः) सो यह प्राण (असपत्नः) शत्रुरहित है (वै) निश्चय (द्वितीयः+सपत्नः) दूसरा शत्रु होता है। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (अस्य) इसका कोई भी सपत्नः+न+भवति) शत्रु नहीं होता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अथेति। वाक्स्वरूपं निरूपितम्। अथ मनसः स्वरूपमाह—मनसो द्यौः शरीरमित्यादि पूर्ववत्। "मन एवास्याऽऽत्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा" "मन एव पिता, वाङ् माता, प्राणः प्रजा" इत्युक्तं पुरस्तात्। सम्प्रति प्राणप्रजोत्पत्तिप्रदर्शनायाऽऽह। तावित्यादि। तौ वाङ्मनसात्मकौ स्त्रीपुंसौ। मिथुनं मैथुन्यम्। समैतां समगच्छेताम्। ततस्तयोः सङ्गमनाद्। प्राणोऽजायत। स एष प्राणः। इन्द्र ऐश्वर्यवान्। स एष प्राणः। असपत्नः न विद्यते सपत्नोऽरिर्यस्य सः। द्वितीयो वै सपत्नः। असपत्नगुणकप्राणोपासनफलमाह—य एवं वेद। नास्योपासकस्य सपत्नो भवति ॥ १२ ॥

अथैतस्य प्राणस्याऽऽपः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तं स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेनन्तं स लोकं जयति ॥ १३ ॥

अनुवाद—अब इस प्राण का शरीर जल है। और प्रकाशात्मकरूप यह चन्द्र है इस हेतु जितना ही प्राण है उतना ही जल है। और उतना ही यह चन्द्र है। ये सब वस्तु तुल्य ही हैं। सब अनन्त हैं। सो जो कोई इनको "अन्तवान्" जान इनके तत्वों का अध्ययन करता है। वह "अन्तवान् लोक" की जय करता है और जो इनको "अनन्तवान्" मान अध्ययन करता है वह अनन्त लोक की जय करता है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अथ) मन के निरूपण और प्राण की उत्पत्ति कथन के अनन्तर प्राण के स्वरूप का वर्णन करते हैं—(एतस्य+प्राणस्य) इस प्राण (जीवन) का (शरीरम्) शरीर=आधार (आपः) जल है। जल के विना जड़ वृक्ष आदि भी मर जाते हैं। इसी हेतु संस्कृत में जल को "जीवन" कहा है। और (ज्योतीरूपम्) प्राण का प्रकाशात्मकरूप (असौ+चन्द्रः) यह चन्द्र है (तत्) इस हेतु (यावान्+एव+प्राणः) जितना ही प्राण है अर्थात् प्राण की जहां तक स्थिति है तावत्यः+आपः)

उतना ही जल है और (तावान्+असौ+चन्द्रः) उतना ही चन्द्रमा है। (ते+एते) वे वाणी, मन और प्राण ये (सर्वे+एव) सब ही (समाः) तुल्य ही हैं (सर्वे) सब ही (अनन्ताः) अनन्त हैं (सः+यः+ह) सो जो कोई अध्ययनशील पुरुष (एतान्) इस वाणी, मन और प्राण को (अन्तवतः) अन्तवान् जान (उपास्ते) अध्ययन करता है (सः) वह (अन्तवन्तम्) अन्तवान् (लोकम्) लोक को (जयति) जय करता है (अथ) और (यः+ह) जो उपासक (एतान्) इन वागादिकों को (अनन्तान्) अनन्त मान कर (उपास्ते) अध्ययन करता है (सः) वह (अनन्तम्+लोकम्) अनन्त लोक को (जयति) जय करता है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—प्राणोजीवनम्। प्राणेन जीवन्ति प्राणिनः। तस्यैतस्य प्राणस्य। शरीरमाधारः। आपो जलम्। जलं विना वृक्षादयोऽपि म्रियन्ते। अतएव जलं जीवनशब्देन व्यवह्रियते। तथा ज्योतीरूपं प्रकाशात्मकं रूपम् असौ चन्द्रः। तद्यावानित्यादि अतिरोहितार्थकम् ॥ १३ ॥

स एष सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदश कला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवाऽऽच पूर्य्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेतां रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४ ॥

अनुवाद— सो यह सम्वत्सर ही प्रजापति है। वह सोलह कलाओं से युक्त है, रात्रियां ही इसकी पन्द्रह कलाएं हैं और इसकी सोलहवीं कला निश्चय नित्या है। वह रात्रियों से आपूर्ण अपक्षीण होता रहता है। सो यह अमावास्या की रात्रि में इस षोडशी कला से इस सब प्राणधारी जीव में प्रवेश कर पुनः प्रातःकाल उत्पन्न होता है इस हेतु इस रात्रि में किसी प्राणधारी का प्राणहरण न करे, इस देवता की पूजा के लिये भी कुरूप कृकलासनामक कीड़े का भी प्राण हरण न करे। १४ ॥

पदार्थ—यहां प्रसङ्गवश दिखलाते हैं कि चन्द्रमा के समान वह मनुष्य भी धन, वित्त, विद्या आत्मबल आदि गुणों से घटता बढ़ता रहता है। उन सब धनों में आत्मबल ही प्रधान धन है, इस कण्डिका में चन्द्र का निरूपण कर १५वीं कण्डिका में मनुष्य का निरूपण करेंगे (सः+एषः+सम्वत्सरः) यह जो अहोरात्र, शुक्लकृष्णपक्ष, चैत्रादि मास मिल कर प्रायः ३६० अथवा ३६४ अहोरात्र का एक वर्ष होता है (प्रजापतिः) वह प्रजापति है क्योंकि इसी काल के आश्रय में सारी प्रजाएं पुष्ट हो रही हैं इसके रात्रिरूप अवयव का वर्णन करते हैं—(षोडशकलः) इसमें १६ कलाएं हैं (तस्य+रात्रयः+एव+पञ्चदश+कलाः) इसकी रात्रियां ही १५ (पन्द्रह) कलाएं हैं (अस्य+षोडशी+कला+ध्रुवा+एव) इसकी सोलहवीं कला नित्या अविनश्वरी है। अर्थात् मानो कि १५ कलाएं तो बनती बिगड़तीं, किन्तु बीजस्वरूप सोलहवीं कला सदा एकरस रहती है उससे मानो, पुनः वह पूर्ण होजाता है। (सः+रात्रिभिः+एव+आ+पूर्यते+च+अप+क्षीयते+च) वह कलात्मक प्रजापति रात्रियों से ही पूर्ण और क्षीण होता रहता है (अमावास्याम्+रात्रिम्+एतया+षोडश्या+कलया) अमावास्या की रात्रि में इस नित्या षोडशी कला के द्वारा मानो (सः+इदम्+सर्वम्+प्राणभृद्+अनुप्रविश्य) वह प्रजापति इस सब प्राणधारी जीव में प्रवेश करके (ततः+प्रातः+जायते) तब प्रातःकाल पुनः उत्पन्न होता है। (तस्मात्+एताम्+रात्रिम्) अतः इस रात्रि में (प्राणभृतः+प्राणम्+न+विच्छिन्द्यात्) किसी

प्राणी का प्राण विच्छेद न करे (एतस्याः+एव+देवतायाः+अपचित्यै) इस कालात्म देवता की पूजा के लिये भी (अपि+कृकलासस्य) निकृष्ट और कुरूप कृकलास अर्थात् गिरगिट का भी हनन न करे । भाव इसका यह है कि बहुत से गंवार कहते हैं कि यह कृकलास (गिरगिट) पापिष्ठ और अमंगल है । इसको मारने से चन्द्रमा प्रसन्न होता, इत्यादि कुसंस्कारों को भी प्रसङ्गवश ऋषि निवारण करते हैं । यहां केवल रात्रि का वर्णन है इससे सिद्ध होता है कि किसी रात्रि में प्राणिहिंसा न करे, क्योंकि कोई रात्रि ऐसी नहीं होती जिसमें चन्द्र की कोई न कोई कला न हो । एक अमावास्या ही ऐसी है जिसमें चन्द्र अच्छे प्रकार दृश्य नहीं होता जब इसमें भी हिंसानिषेध किया तब तो अन्य रात्रियों में स्वतः हिंसानिषेध सिद्ध है । पुनः बड़े २ जीवों को कौन कहे कीट पतङ्गों की हत्या निषिद्ध है, इस प्रकार कालात्मक चन्द्र का वर्णन कर आगे मनुष्य का वर्णन करते हैं । संस्कृत व्याख्या इसकी नहीं की गई है ॥ १४ ॥

यो वै स सम्वत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽच पूर्य्यतेऽप च क्षीयते तदेतन् नाभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्येवाऽऽहुः ॥ १५ ॥

अनुवाद—सो जो यह सोलह कलाओं से युक्त संवत्सरात्मक प्रजापति है । वह यही पुरुष है जो कोई ऐसा जाननेहारा है । इसका वित्त ही पन्द्रह कलाएं हैं और आत्मा ही सोलहवीं कला है । सो यह वित्त से ही आपूर्ण और अपक्षीण होता रहता है । जो यह आत्मा है वह (रथ के) नाभि के समान है और जो धन है वह प्रधि अर्थात् अर के सदृश है । इस हेतु यद्यपि वह पुरुष सब वित्त से हीन होजाय किन्तु केवल आत्मबल से ही जीता हुआ रहे तो इसे देख आदमी कहते हैं कि क्या परवाह है केवल इसका धन गया है आत्मा तो विद्यमान है पुनः प्रधिस्थानीय धन से संयुक्त हो जायगा ॥ १५ ॥

पदार्थ—(यः+वै+सः+संवत्सरः+प्रजापतिः+षोडशकलः) निश्चय, सो जो यह कालात्मक प्रजापति है जो सोलहों कलाओं से संयुक्त है इसी के समान (पुरुषः) यह पुरुष है (यः+अयम्+एवंवित्) जो कोई इस सब भेद को जानता है (अयम्+एव+सः) यही वह है अर्थात् उस षोडश-कलायुक्त चन्द्र के समान यह पुरुषाकार जीवात्मा है (तस्य+वित्तम्+एव+पञ्चदश+कलाः) इसके जो गो, महिष, भूमि, हिरण्य, राज्य, साम्राज्य आदि धन हैं वे सब पन्द्रह कलाओं के तुल्य हैं परन्तु (अस्य+आत्मा+एव+षोडशी+कला) इसका आत्मा ही सोलहवीं नित्या, ध्रुवा कला है (सः) वह चन्द्रवत् (वित्तेन+आपूर्य्यते+च+अप+क्षीयते+च) वित्त से ही पूर्ण और क्षीण होता । किन्तु (यद्+अयम्+आत्मा) इसका जो नित्य आत्मा है (तत्+एतत्+नाभ्यम्) वह रथ के नाभिस्थानीय है । (प्रधिः+वित्तम्) और हिरण्यादिक धन प्रधि के समान है । प्रधि=अर । (तस्माद्) इस हेतु (यद्यपि) यद्यपि (सर्वज्यानिम्) इसका सर्वस्व नष्ट होजाय (जीयते) और धन से हीन होजाय तो भी कोई क्षति नहीं (चेद्+आत्मना+जीवति) यदि वह आत्मा से जीता हुआ हो अर्थात् यदि आत्मबल हो तो भले ही सर्व वित्त नष्ट होजाय तौ भी कोई हानि नहीं (प्रधिना+अगात्+इति+एव+आहुः) प्रधिस्थानीय धन से यह क्षीणता को प्राप्त हुआ है ऐसा ही सब कोई कहते हैं । सो यह धन चन्द्रकलावत् बराबर आता जाता रहता है । भाव यह है कि आत्मबल ही मुख्य है । इसी की गवेषणा करनी चाहिये । भाव विस्पष्ट है, इसकी भी संस्कृत-व्याख्या नहीं की गई है ॥ १५ ॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्य-लोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्म्मणा कर्म्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

अनुवाद—तीन ही लोक हैं। मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक, सो यह मनुष्यलोक पुत्र से ही जीतने योग्य है अन्य कर्म से नहीं। पितृलोक कर्म्म से और देवलोक विद्या से जीतने योग्य है। निश्चय, सब लोकों में देवलोक श्रेष्ठ है। इस हेतु विद्या की प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) सात अन्नों के वर्णन के पश्चात् मनुष्यादि लोको के वर्णन का आरम्भ करते हैं—(त्रयः+वाव) तीन ही (लोकाः) लोक हैं। वे कौन हैं (मनुष्यलोकः) मनुष्यलोक (पितृलोकः) पितृलोक और (देवलोकः) देवलोक (इति) (सः+अयम्+मनुष्यलोकः) सो यह मनुष्यलोक (पुत्रेण+एव) पुत्र से ही (जय्यः) जीता जा सकता है अर्थात् सन्तान की वृद्धि से ही वह प्रसन्न करने योग्य है (अन्येन+कर्म्मणा+न) अन्य कर्म्म से नहीं (पितृलोकः+कर्म्मणा) रक्षा आदि और यज्ञादि कर्म्म से ही पितृलोक सन्तुष्ट करने योग्य है (देवलोकः+विद्यया) ज्ञानद्वारा देवलोक सन्तुष्ट करने योग्य है। (देवलोकः+वै+लोकानाम्+श्रेष्ठः) सब लोकों में देवलोक श्रेष्ठ है (तस्मात्) इस हेतु (विद्याम्+प्रशंसन्ति) विद्या की प्रशंसा करते हैं। क्योंकि विद्या से ही देवलोक सन्तुष्ट हो सकता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—सामान्येन मनुष्यस्त्रिधा। कश्चिन्नाधिकं न न्यूनमपेक्षते यावता जीविका स्यात्तावदेव कामयते। नोपकरोति न चापकरोति। अशितुं पातुं परिधातुं परिरन्तुं चेच्छति। सन्तानञ्च। स इह मनुष्यसंज्ञः। कश्चित्ततोऽप्यधिकं कामयते। ग्रामे वा देशे वा कश्चिदुपप्लव उपद्रवो वा मानुषो वा दैवो। वोत्थितश्चेत्तं सर्वोपायैः शमयति। अधार्म्मिकान् घातयति धार्मिकानुत्साहयति। यथाधर्मनियमास्तथा सर्वाश्चालयितुं सर्वदा प्रयते। स इह पितृशब्देन उच्यते। कश्चित् सर्वश्रेष्ठ उदारधीः सर्वदा विद्यारतः। नूतनं नूतनं वस्तुलाभाय प्रचारयति। जगत्कल्याणाय विविधानुपायान् जनयति। सर्वैर्लौकिकै-र्दोषैर्विनिर्मुक्तो भवति। स इह देवशब्देन व्यवह्रियते। अथ कण्डिकार्थः। मनुष्येषु। इमे त्रय एव लोकाः सन्ति। के पुनस्ते ?। मनुष्यलोकः। पितृलोकः। देवलोकः। किमर्थ एतेषामुद्देशः ? सम्मानार्थः। एतेऽपि सम्मान्याः। केनोपायेन ? आह—सोऽयं मनुष्य-लोकः। पुत्रेणैव सन्तानवृद्ध्यैव जय्यो जेतुं शक्यः "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" इति निपातः। प्रसादयितुं शक्यः। साधारणो मनुष्यो वृद्धावस्थायां निर्वाहाय प्रधानतया पुत्रमेव कामयते। अन्येषामपि पुत्रं जातमीहते। तेनैव स तुष्यति। नान्येन कर्म्मणा पुत्राति-रिक्तेन कर्म्मणा स न तुष्यतीत्यर्थः। पितृलोकः कर्म्मणा। रक्षणादिलक्षणेन यज्ञादि-लक्षणेन कर्म्मणा स पितृलोको जय्यः। विद्यया देवलोको जय्यः। सर्वेषां लोकानां मध्ये देवलोकः श्रेष्ठः। स च देवलोको विद्ययैव जय्योऽस्ति। नान्येन कर्मणा। तस्माद्धेतोः सर्वे आचार्या विद्यां प्रशंसन्ति ॥ १६ ॥

भाष्याशय—सामान्यतया देखा जाय तो तीन प्रकार के मनुष्य हैं। उनमें कोई न अधिक और न न्यून चाहता। जितने से जीविका हो उतना ही चाहता है न वह किसी का उपकार न किसी का अपकार करता है। खान पान परिधान विवाह और सन्तान चाहता है। वह मनुष्य यहां मनुष्य

कहलाता है। और कोई इससे अधिक चाहता है। ग्राम वा देश में कोई उपप्लव और उपद्रव मनुष्यों से वा दैवी घटना से यदि उत्थित हो तो वह उसको शान्त करता है। अधार्मिकों को नष्ट करता है और धार्मिकों को उत्साह देता है। देश में जैसे धर्म-नियम हैं वैसे ही सबों को चलाने के लिये प्रयत्न करता है। उसको यहां "पितर" कहते हैं। कोई सर्वश्रेष्ठ उदारधी सर्वदा विचारत, लाभ के लिये नूतन २ वस्तु का प्रचार करता है और जगत् के कल्याण के लिये विविध उपायों को उत्पन्न करता है। और सब लौकिक दोष से जो विनिर्मुक्त है। उसे यहां "देव" कहा है।

मनुष्य लोक—साधारण मनुष्य जितना पुत्र से प्रसन्न होता है उतना अन्य किसी से नहीं क्योंकि वह चाहता है कि वृद्धावस्था में अथवा किसी प्रकार का असामर्थ्य उपस्थित होने पर कोई मेरा सहायक हो। वह औरस पुत्र से बढ़कर अन्य नहीं हो सकता। इस हेतु कहा है कि मनुष्यलोक पुत्र से ही जीता जा सकता है पुत्र से प्रसन्न होसकता है अर्थात् जैसा वह अपनी सन्तानवृद्धि चाहता है वैसी ही अन्य की भी। उसी से वह सन्तुष्ट रहता है। अथवा पुत्र की वृद्धि होने से साधारण मनुष्य में मानो विजय सा प्राप्त होजाता है। क्योंकि उससे अन्य लोग डरते रहते हैं। इसी प्रकार पितृलोक और देवलोक में भी जानना॥ १६॥

अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाऽहं ब्रह्माऽहं यज्ञोऽहं लोक इति। यद्वै किञ्चानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता ये वै के च यज्ञास्तेषाᳲ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाᳲ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदᳲ सर्वमेतन्मा सर्वᳲ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति॥ १७॥ (क)

अनुवाद—अब इस हेतु "सम्प्रत्ति" कहते हैं। जब कोई वृद्ध पुरुष संन्यासी होना चाहता है अथवा मरने पर होता है। तब वह पुत्र को बुलाकर कहता है कि तू ब्रह्म (वेद) है। तू यज्ञ है। तू लोक है। तब वह पुत्र प्रत्युत्तर देता है—मैं ब्रह्म (वेद) हूं। मैं यज्ञ हूं। मैं लोक हूं। जो कुछ "अनूक्त" है उस सब का "ब्रह्म" इस पद में एकता होती है और ये जो यज्ञ (बिना किये हुए वा किये हुए) हैं उन सबों का "यज्ञ" इस पद में एकता है। और जो ये लोक (जित वा अजित) हैं उन सबों का "लोक" इस पद में एकता है। निश्चय, इतना ही वह सब है। यह सब अबतक मेरे अधीन था अब यह मेरा पुत्र मुझ से ले अपने अधीन करके मुझ को इस लोक से रक्षा करेगा। इस हेतु सुचित पुत्र को "लोक्य" (पितृलोकहितकारी) कहते हैं इस हेतु इसको शिक्षा देते हैं॥ १७॥ (क)

पदार्थ—पुत्र से विशेष क्या उपकार होता है इसके कहने के लिये अग्रिम ग्रन्थ आरम्भ करते हैं। संन्यासी होने के समय अथवा मरणकाल में पिता अपने सकल कर्तव्य को पुत्र के ऊपर रखता है अर्थात् अबतक मैं अमुक २ कर्म करता था अब से तुम करना, इस प्रकार अपना कर्तव्य-भार पुत्र के ऊपर रखता है। उसी कर्म का नाम "सम्प्रत्ति" है। सम्प्रति=सम्प्रदान=देना। इस सम्प्रत्ति कर्म के द्वारा पुत्र का उपकार दिखलाते हैं—पूर्व में कहा गया है कि "मनुष्य-लोक" पुत्र से जीता जा सकता है। यहां सन्देह होता है कि अन्य के कर्म से अन्य का उपकार नहीं देखा गया। यह सन्देह

उचित नहीं, क्योंकि पुत्र के उपार्जित धन से पिता उपकृत होता यह प्रत्यक्ष है। पुनः पुत्र से क्या उपकार होता इसको दिखलाने के लिये इसका आरम्भ करना व्यर्थ है। इस पर कहते हैं—हां सत्य है। परन्तु असंदिग्ध अर्थ रहने पर भी कहीं २ विस्पष्टार्थ भी भाषण होता है और वहां उससे कुछ विशेष का निर्णय किया जाता है (अथ) तीन लोकों के कथन के अनन्तर पुत्र का उपकार लोक में अधिक विस्पष्ट होवे (अतः) इस हेतु (सम्प्रत्तिः) सम्प्रदान=समर्पण नाम विधि को कहते हैं। यह "सम्प्रत्ति" किस समय करनी चाहिये सो आगे कहते हैं—(यदा) जब कोई वृद्ध पुरुष (प्रैष्यन्+मन्यते) समझे कि अब मुझे गृह त्याग कर संन्यासी होना चाहिये। अथवा मेरा मरण निकट है अब मैं इस संसार के कोई कर्म्म नहीं कर सकता (अथ) उस समय (पुत्रम्+आह) प्रथम सुशिक्षित पुत्र को बुलाकर पिता कहता है कि हे पुत्र ! (त्वम्+ब्रह्म) तू वेद है (त्वम्+यज्ञः) तू यज्ञ है (त्वम्+लोकः) तू लोक है (इति) इस प्रकार पिता पुत्र से कहकर चुप होने पर (सः+पुत्रः+प्रत्याह) वह पुत्र पिता के उत्तर में कहता है कि (अहम्+ब्रह्म) मैं वेद हूं (अहम्+यज्ञः) मैं यज्ञ हूं (अहम्+लोकः) मैं लोक हूं (इति) इसका तात्पर्य स्वयं ऋषि कहते हैं (वै) निश्चय (यद्+किञ्च) जो कुछ (अनूक्तम्) अनु+उक्तम्=अधीत पढ़ा हुआ अथवा जिसको मैं अभी तक नहीं पढ़ सका (तस्य+सर्वस्य) उस सब का (ब्रह्म+इति+एकता) ब्रह्म इस पद में एकता है। तात्पर्य इसका यह है कि पिता पुत्र से कहता है कि तू "ब्रह्म" अर्थात् तू वेद है यहां "ब्रह्म" पद अध्ययन से तात्पर्य रखता है। हे पुत्र ! मैंने अभी तक जो कुछ अध्ययन किया उतना तू अध्ययन कर। यह भार अब मैं तेरे ऊपर समर्पित करता हूं। तू इसको निबाहना। आगे भी ऐसा ही आशय समझना (ये+वै+के+च+यज्ञाः) हे पुत्र ! जो कुछ यज्ञ मुझ से किये गये अथवा नहीं किये गये (तेषाम्+सर्वेषाम्) उन सब यज्ञों का (यज्ञ+इति+एकता) यज्ञ पद में एकता है। ऐसा तू समझ अर्थात् तू यज्ञ है। इतना कहने से जितने यज्ञ कर्तव्य हैं वे सब तू अब से कर और जो मुझ से अनुष्ठित अभीतक नहीं हुए हैं उनका भी तू अनुष्ठान कर। इसी प्रकार (ये+वै+के+च+लोकाः) और जो कोई लोक मुझ से जित हुए हैं अथवा अभी तक अजित ही हैं (तेषाम्+सर्वेषाम्) उन सबों का (लोक+इति+एकता+इति) लोकपद में एकता है ऐसा समझ। अर्थात् मुझ से जितना विजय हुआ उतना किया आगे तू कर। ये ही तीन प्रतिज्ञाएं पुत्र से करवाई जाती हैं। आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि (एतावद्+वै+इदम्+सर्वम्) यह सब इतना ही है। इन तीन कर्मों से अधिक कर्म नहीं हैं इनके ही अन्तर्गत सब अवशिष्ट आगये। आगे पुनः पुत्र की प्रशंसा कहते हैं—(एतत्+सर्वम्) यह सब अर्थात् अध्ययन यजन और लोकविजय ये तीनों मेरे अधीन अब तक रहते हुए मुझ से अनुष्ठित होते रहे। अब (अयम्) यह मेरा सुशिक्षित पुत्र मेरा भार अपने पर लेकर (इतः) इस कर्त्तव्य बन्धन से (मा+सम्+अभुन्जत्) मुझको अच्छे प्रकार पालेगा अर्थात् इस बन्धन से छुड़ावेगा (इति) ऐसी आशा पिता पुत्र से करता है (तस्मात्) इसी हेतु (अनुशिष्टम्+पुत्रम्) सुशिक्षित पुत्र को (लोक्यम्) लोक्य=पितृलोक हितकारी (आहुः) विद्वान् लोग कहते हैं। और (तस्मात्) इसी हेतु (एनम्) इस पुत्र को (अनुशासति) सिखलाते हैं। इन तीनों कर्मों का अच्छे प्रकार प्रतिपालन करे जिससे ऐहिक पारलौकिक दोनों लोक सुधरें। इति ॥ १७ ॥ (क)

भाष्यम्—पुत्रेण विशेषोपकृतिं विवक्षुरुत्तरं ग्रन्थमारभत। सम्प्रत्तिः सम्प्रदानम् समर्पणम्। पुत्रे हि पिता वक्ष्यमाणप्रकारेण स्वकर्तव्यताभारसम्प्रदानं करोति। तेन सम्प्रत्तिसंज्ञकमिदं कर्म। तथा सम्प्रत्त्या पुत्रोपकृतिं दर्शयति। यस्मात्पुत्रेणैव मनुष्यलोको

जय्य इत्युक्तं तत्र सन्देहोऽस्ति। नहि अन्यस्य कर्म्मणाऽन्यस्योपकारो दृष्ट इति। ननु पुत्रोपार्जितेन पितोपक्रियत एवात्र कः सन्देहविषयः। तदेवं व्यर्थमेवोपक्रमः। सत्यम्। असन्दिग्धेऽप्यर्थे भवति विस्पष्टार्था काचिदुक्तिः। तत्र कश्चिद्विशेषोऽपिनिर्णीयते। पुत्रोपकृतिर्लोकेष्वधिका विस्पष्टार्था भवतु। अतोऽस्मात्कारणात्। सम्प्रत्तिः सम्प्रदानं पुत्रे सर्वस्वकर्त्तव्यभारसमर्पणं नाम कर्म कथ्यते। कदेदं कर्म्म भवतीत्यत आह—यदा यस्मिन् काले कश्चिद् वृद्धो मुमूर्षुर्वा। प्रेष्यन् सर्वं विहाय चतुर्थाश्रमं प्रकर्षेण एष्यन् व्रजिष्यन् मरिष्यन् वा मन्यते। प्रपूर्वकस्येतेस्तदर्थत्वात्। इदानीं न जीविष्यामि। अथवा चतुर्थाश्रमोग्राह्य इति यदा स आत्मानं मन्यते तदेवं करोति। अथ अनुशिष्टं पुत्रमाहूय आह—हे पुत्र ! अहमिदानीं प्रव्रजिष्यन् मरिष्यन्वास्मि। अतस्त्वयि स्वकर्तव्यतां समर्पयामि तदर्थस्त्वं सावधानो भव। इत्यवहितं पुत्रं पिता ब्रवीति—हे पुत्र ! त्वं ब्रह्म। त्वं यज्ञः। त्वं लोकः। इति पित्रोक्तः। स पुत्रः पितरं प्रत्याह—हे पितः ! अहं ब्रह्म। अहं यज्ञः। अहं लोकः। इमानि त्रीणि वाक्यानि भवन्ति। अग्रे ब्रह्मादिवचनानां तिरोहितार्थं मत्वा श्रुतिस्तद्व्याकरोति। यद्वै किञ्चानूक्तं यद्वै किञ्चिदवशिष्टमधीतमनधीतञ्च तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येतस्मिन्पदे एकता एकत्वम्। अयमाशयः। ब्रह्मशब्दो वेदपरकः। हे पुत्र ! योऽध्ययनव्यापारो मम कर्तव्य आसीदेतावन्तं कालं वेदविषयः। स इत ऊर्ध्वं त्वं ब्रह्म त्वया कर्तव्योऽस्त्विति वाक्यार्थः। त्वं ब्रह्मेति कथनेन अध्ययनभागस्त्वयि निधीयत इति विज्ञायते। आशैशवाद् यदधीतं मया यच्चाध्येतुमवशिष्यते तत्सर्वं त्वया सम्प्रति पूरयितव्यमित्याशां करोमीति फलितार्थः। तथा ये वै के च यज्ञा अनुष्ठेयाः सन्तो मयाऽनुष्ठिता अननुष्ठिताश्च तेषां सर्वेषां यज्ञानाम्। यज्ञ इत्येतस्मिन् पदे एकतैकत्वमेकार्थत्वमिति यावत्। ये वै के च लोका मया जेतव्याः सन्तो जिता अजिताश्च तेषां सर्वेषाम्। लोक इत्येतस्मिन्पदे एकता। अयमाशयः। एतावन्तं कालं ये यज्ञा वा लोका ममानुष्ठेया जेतव्याश्च सन्तोऽनुष्ठिता न वा अनुष्ठिता जिता न वा जिताः। त इत ऊर्ध्वं त्वयि समर्पिता भवन्तु। तानि तानि सर्वाणि कर्तव्यानि त्वया यथाविधि यथाशक्ति चानुष्ठेयानीति यावत्। न कर्म्मभ्यः कदापि त्वया प्रमदितव्यम्। इदमेव पुत्रस्य प्रयोजनम्। एवं पितृपुत्रयोः समासे सम्वादे श्रुतिराह—एतावद्वा इदं सर्वम्। गृहस्थैरेतत्परिमाणमेव कर्तव्यमस्ति। अतोऽधिकं सर्वेषामेतेषु त्रिष्वेवान्तर्गतत्वात्। सम्प्रत्यतः सुशिक्षितं पुत्रं प्रशंसितुमारभते। एतद् वेदाध्ययन-यज्ञानुष्ठान-लोकजयलक्षणकर्म्मत्रयमेतत्सर्वं मदधीनं सत्। मया यथाशक्ति अनुष्ठितम्। अतः परम्। अयं मम पुत्रो मत्तः सकाशाद् गृहीत्वा स्वस्मिन् स्थापयित्वा। इतोऽस्माद् बन्धहेतु भूलोकाद्। मा माम्। अभुनजद् भोक्ष्यति पालयिष्यति। लृडर्थे लङ्। छन्दसि कालनियमाभावात्। तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं सुशिक्षितं लोक्यं पितृलोकहितमाहुर्ब्राह्मणाः। तस्मादुक्तहेतोरेवाद्यतना अपि पुत्रवन्त एनं स्वपुत्रमनुशासति। लोकोऽयमस्माकं स्यादिति मन्वाना इत्यर्थः। यस्मात् सुशिक्षितः पुत्रो वंशपरम्पराऽऽगतेदं-कर्तव्यताप्रतिपालने समर्थो भवितुमाशास्यते। अतो मा वंशकर्तव्यता विलोपोऽभूदिति पुत्रोऽनुशिष्यः॥ १७॥

स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति । स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनं सर्व्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रोनाम स पुत्रेणै-वास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥ १७ ॥ (ख) *

अनुवाद—सो वह एवंवित् पिता जब इस लोक से प्रयाण करता है । तब इन प्राणों के साथ पुत्र में प्रविष्ट होता है यदि इस पिता से किसी कारणवश कर्त्तव्यकर्म भी न किये गये हों, तथापि उस सब से वह पुत्र इस पिता को छुड़ा देता है । इसी हेतु पुत्र का नाम "पुत्र" है । इस प्रकार वह पिता पुत्ररूप से मानो इस लोक में विद्यमान ही है । अब इस पिता में ये प्राण दैव और अमृत होकर प्रविष्ट करते हैं । सो आगे कहेंगे ॥ १७ ॥ (ख)

पदार्थ—(सः) वह अर्थात् जिसने अपने कर्त्तव्य को सुयोग्य पुत्र के ऊपर रखकर स्वस्थ कृतकृत्य और शान्तमनवाला हुआ है सो यह पिता (एवंविद्) यह पुत्र मेरे अनुष्ठेय कर्म को अवश्य करेगा मुझे इसमें अब चिन्ता नहीं करनी चाहिये इस प्रकार जाननेहारा अर्थात् अपने पुत्र पर पूर्ण विश्वासी होकर (यदा) जब (अस्मात्+लोकात्) इस उपात्त लोक से (प्रैति) प्रयाण (यात्रा) करता है (अथ) तब (एभिः+प्राणैः) इन वाणी मन और प्राणों के (सह) साथ (पुत्रम्+ आविशति) पुत्र में प्रविष्ट होता है अर्थात् पिता के कर्त्तव्य को पालन करते हुए पुत्र को देखकर लोक कहते हैं कि क्या वही यह है इसमें कोई न्यूनता नहीं दीखती है । इसके कर्म्मों के अनुष्ठान देखने से हम लोगों को प्रतीत होता है कि इसका पिता है ही । इस प्रकार लोकानुभव सिद्धि के कारण कहा गया है कि "पुत्र में पिता प्रवेश करता है" वास्तव में नहीं । अब आगे "पुत्र" शब्द का अर्थ कहते हैं—(यदि) यदि (अनेन) इस पिता से (अक्ष्णया) किसी विघ्न से वा किसी कारणवश (किञ्चित्+अकृतम्+भवति) कुछ कर्म्म जो करना था सो न किया गया हो तो (सः+पुत्रः) वह शिक्षित पुत्र (तस्मात्+सर्वस्मात्) उस सब अकृत से (एनम्) इस पिता को (मुञ्चति) छुड़ा

---

* अथातः पितापुत्रीयं सम्प्रदानमिति चाचक्षते पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नः पिता शेत एत्य पुत्र उपरिष्टा-दभिनिपद्यत इन्द्रियैरिन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वास्मा आसीनायाभिमुखायैव सम्प्रदध्यादथास्मै सम्प्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रश्चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रोऽन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पितान्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्र आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्र इत्यां मे त्वयि दधानीति पितेत्यां ते मयि दध इति पुत्रो मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रः प्रज्ञां मे त्वयि दधानीति पिता प्रज्ञां ते मयि दध इति पुत्रो यद्यु वा उपाभिगदः स्यात् समासेनैव ब्रूयात्प्राणान्मे त्वयि दधानीति पिता प्राणांस्ते मयि दध इति पुत्रोऽथ दक्षिणावृद् पनिष्क्रामति तं पितानुमन्त्रयते यशो ब्रह्मवर्चसं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरः सव्यमन्वं समभ्यवेक्षते पाणिनान्तर्द्धाय वसनान्तेन प्रच्छाद्य स्वर्गान् लोकान् कामानाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत् परि वा व्रजेद्यद्यु वै प्रेयात्तथैवैनं समापयेयुर्यथा समापयितव्यो भवति यथा समापयितव्यो भवति ॥ कौषी० ब्रा० उ० २ । १५ ॥

देता है (तस्मात्+पुत्रः+नाम) इस हेतु पुत्र का नाम "पुत्र" होता है अर्थात् पिता यदि चारों वेद वेदाङ्ग न पढ़ सका हो तो योग्य पुत्र उसको पूरा कर पिता के कर्म को भी जाने। इस प्रकार (सः) वह पिता मानो (पुत्रेण) पुत्ररूप से (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (प्रतितिष्ठति+एव) रहता ही है। अब आगे पिता को इससे क्या लाभ होता है सो कहते हैं—(अथ) पुत्रसम्बन्धी वर्णन के अनन्तर पितृसम्बन्धी वर्णन के निमित्त "अथ" शब्द का प्रयोग है (एनम्) इस शान्तचित्त कृतकृत्य पिता में (एते+प्राणाः) ये वागादि प्राण (देवाः) देवशक्ति सम्पन्न और (अमृताः) अमरणधर्मी हो (आविशन्ति) प्रविष्ट होते हैं ॥ १७ ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति। निहितपुत्रभारः स्वस्थः कृतकृत्यः शान्तमनाः स पिता। एवंविद् मम कर्तव्यतामयमवश्यं पालयिष्यति नात्र खेदितव्यमित्येवंवित् विश्वासी सन्। यदा यस्मिन् काले। अस्मादुपात्तात् लोकात्। प्रैति आश्रमान्तरं व्रजति म्रियते ह वा। अथ तथा। एभिः प्राणैर्वाङ्मनःप्राणैः सह। पुत्रमाविशति पुत्रमाविशतीव। पितृकर्तव्यतां प्रतिपालयन्तं पुत्रमवलोक्य लोके जनाः कथयन्ति किं स्वित् स एवायं न कापि न्यूनता दृश्यते। अस्य कर्मानुष्ठानावलोकनेनास्य पितास्त्येवेत्यस्माकं प्रतीतिरिति लोकानुभवसिध्या पुत्रं पिताऽऽविशतीति मन्यन्ते। न वस्तुगत्या पिता पुत्रं प्रविशतीत्यवधार्य्यम्। सम्प्रति पुत्रशब्दनिर्वचनमाह—स यदीति। अनेन पित्रा यदि किञ्चिदनुष्ठेयं सदपि। अक्ष्णया कोणच्छिद्रतः। अकृतं भवति नानुष्ठितं केनापि कारणेन। तेन तस्य पितुर्हानिः। तस्मादकृतात्सर्वस्मात्। एनं पितरम्। स पुत्रोऽनुशिष्टः। मुञ्चति मोचयति। तस्मात्कारणात्पुत्रोनाम पुत्र इति नामधेयम्। पितुश्छिद्रपूरणेन पितरं त्रायत इति पुत्रः। पितुः पुत्रतादात्म्येनैतल्लोकावस्थानमुक्तं निगमयति। स पिता प्रेतोऽपि सन्—एवम्। अस्मिन् लोके पुत्रेणैव पुत्ररूपेण प्रतितिष्ठत्येव वर्तते एव। इति प्रतीयते। एवं सम्प्रत्त्या पुत्रकर्तव्यतां निरूप्य तेन पितुः कोलाभोऽस्तीत्यपि दर्शयति। अथ पुत्रप्रकरणविच्छेदार्थोऽथ शब्दः। एनं स्वस्थं शिक्षितपुत्रकमनुष्ठितमनुष्यपितृदैवकर्माणम्। पितरम्। एते प्राणा-वागादयः। देवाः देवशक्तिसम्पन्नाः। अमृता अमरणधर्माणश्च भूत्वा आविशन्ति प्रविशन्ति। स मृतः सन् दैव्या शक्तया सम्पन्नो भूत्वा मुक्तिसुखं बहुकालं भुनक्तीत्यर्थः। वक्ष्यत्यग्रे दैवीशक्तिप्रवेशः ॥ १७ ॥ (ख)

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग् यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥ १८ ॥

अनुवाद—पृथिवी और अग्नि से दैवी वाग् इस (पुरुष) में प्रविष्ट होती है। निश्चय वही दैवी वाणी है जिससे जो २ कहता है वह २ होता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—वाग् आदि प्राण के प्रवेश के प्रकार को आगे कहते हैं—(पृथिव्यै+च) पृथिवी से और (अग्नेः+च) अग्नि से (दैवी+वाग्) देवशक्तियुक्त वाणी (एनम्) इस कृतकृत्य पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट होती है। दैवी वाणी कौन है सो कहते हैं—(वै) निश्चय (सा+दैवी+वाग्) वही दैवी वाणी है (यया) जिस वाणी से (यद्+यद्+एव) जो जो (वदति) कहता है (तत्+तत्+भवति) वह २ होता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यै इति । प्राणाऽऽवेशप्रकारमाह—पृथिव्यै पृथिव्याः पञ्चम्यां चतुर्थी । अग्नेश्च सकाशात् । एनं कृतसम्प्रत्तिकं पितरम् । दैवी वाग् । आविशति प्रविशति । कीदृशी दैवी वाग् । यथा वाचा । यद् यद् वदति । तत्तत् भवति । पुरस्तादुक्तम् "तस्यै वाचः पृथिवी शरीरम् । ज्योतीरूपमयमग्निः" इति । एतेन विज्ञायते । इयं वाग् पार्थिवाग्नेय शक्तिभ्यां संयुक्ताऽस्ति । अथ यदा तत्त्ववित्पुरुषः पृथिव्यऽग्न्योस्तत्त्वं सम्यगधीते अधीत्य च विनियोक्तुं च शक्नोति तदा पार्थिवीं आग्नेयीं च शक्तिं स्वाधीनां कर्तुमपि शक्नोति । तौ च पृथिव्यग्नी देवसंज्ञौ स्तः । आभ्यां सकाशात् स शक्तिमादत्ते । अत उक्तं दैवी वागाविशतीति । स च दैव्या वाचाऽऽविष्टः पुरुषोऽनृतादिदोषरहितत्वाद् । यद् यद् विचार्य्य ब्रवीति तद् तद् भवति । यद् भवितव्यमस्ति । तत्तदेव स वदतीति विज्ञेयम् । अग्रेप्येवमेव वेदितव्यम् ॥ १८ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कहा है कि वाणी का शिर पृथिवी है और प्रकाशात्मक रूप यह अग्नि है । इससे विदित होता है कि यह वाणी पार्थिव और आग्नेय शक्ति से संयुक्त है पार्थिव अन्न के भोजन से इसकी वृद्धि होती है और जहां २ आग्नेय शक्ति होगी वहां २ अवश्य शब्द होगा इसमें सन्देह ही नहीं । अब यह जानना चाहिये कि जब तत्ववित् पुरुष पृथिवी और अग्नि के तत्व का अध्ययन करता है और अध्ययन करके उस तत्व को कार्य्य में भी ला सकता है । तब वह पृथिवी और अग्निसम्बन्धी शक्ति को अपने अधीन भी कर सकता है । ये पृथिवी और अग्निदेव कहलाते हैं इन दोनों से उस शक्ति को अपने में वह धारण करता है । इस हेतु कहा है कि दैवी वाणी इसमें प्रविष्ट होती है । यह दैवी वाणी से आविष्ट पुरुष अनृतादि दोषों से रहित होने से विचारपूर्वक जो २ कहता है सो २ होजाता है । भाव यह कि जो २ होनेहारा है उसी २ को वह कहता है ऐसा समझना चाहिये । आगे भी ऐसा ही भाव जानना ॥ १८ ॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनाऽऽनन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥ १९ ॥

अनुवाद—द्युलोक और आदित्य से दैव मन इस (पुरुष) में प्रविष्ट होता है । निश्चय, वही दैव मन है । जिससे वह सदा आनन्दी ही बना रहता है और कदापि शोक नहीं करता ॥ १९ ॥

पदार्थ—(दिवः+च) द्युलोक से और (आदित्यात्+च) आदित्य=सूर्य से (दैवम्+मनः) दैव मन (एनम्) इस विज्ञानी स्वस्थ कृतकृत्य पुरुष में (आविशति) प्रविष्ट होता है । दैव मन कौन है सो आगे कहते हैं—(वै) निश्चय (तद्+दैवम्+मनः) वही दैव मन है (येन) जिस मन से युक्त होकर उपासक सदा (आनन्दी+एव+भवति) आनन्द ही आनन्द रहता है । अर्थात् (अथो) कदापि भी (न+शोचति) शोक नहीं करता ॥ १९ ॥

भाष्यम्—दिव इति । दिवश्चादित्याच्च सकाशात् । दैवं मनः । एनं कृतसम्प्रत्तिकं स्वस्थं कृतकृत्यं पुरुषम् । आविशति । दैवं मनो विशिनष्टि तदिति । तद्वै दैवं मनः । येन मनसा संयुक्तः स पुरुषः आनन्दी एव भवति । सर्वदाऽऽनन्दमेवानुभवंस्तिष्ठति । अथो न शोचति कदापि ॥ १९ ॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः सञ्चरंश्चासञ्चरंश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति ॥ २० ॥ (क)

अनुवाद—इसमें जल से और चन्द्रमा से दैव प्राण प्रविष्ट होता है। वही दैव प्राण है जो चलता हुआ अथवा न चलता हुआ व्यथित नहीं होता और न विनष्ट होता है ॥ २० ॥ (क)

पदार्थ—(एनम्) इस पुरुष में (अद्भ्यः+च) जल से और (चन्द्रमसः+च) चन्द्रमा से (दैवः+प्राणः) दैव प्राण (आविशति) प्रविष्ट होता है। दैव प्राण कौन है? इसको दिखलाते हैं—(सः+वै+दैवः+प्राणः) वही दैव प्राण है (यः) जो (सञ्चरन्+च) चलता हुआ (असञ्चरन्+च) न चलता हुआ (न+व्यथते) कभी व्यथित नहीं होता (अथो) और (न) न (रिष्यति) नष्ट ही होता है। इसे दैव प्राण कहते हैं ॥ २० ॥ (क)

भाष्यम्—अद्भ्य इति। अद्भ्यश्च चन्द्रमसश्च सकाशात्। दैवः प्राणः एनं निवृत्तसर्वकर्माणं पुरुषम्। आविशति। कोऽसौ दैवः प्राण इत्यत आह—स इति। स वै दैव प्राणः। यः प्राणः संचरन् सम्यग् गच्छन्। अथवा असञ्चरन्नगच्छन् सन्। न व्यथते। अथो अपि वा न रिष्यति न विनश्यति। ईदृक् प्राणस्तमाविशतीत्यर्थः ॥ २० ॥ (क)

स एवंवित् सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवं स यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति। यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवाऽऽसां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥ २० ॥ (ख)

अनुवाद—सो यह एवंवित् पुरुष सब प्राणियों का आत्मा होता है। जैसा यह प्राण देवता (सर्वत्र प्रसिद्ध और प्रिय) है वैसा ही वह होता है। जैसे इस प्राणदेवता को सब प्राणी पालते हैं। वैसे ही एवंविद् पुरुष को भी सब प्राणी पालते हैं। ये प्रजाएं जो कुछ शोक करती हैं वह शोकजनित दुःख इनके आत्मा के साथ ही संयुक्त होता है इसको पुण्य ही प्राप्त होता है निश्चय देवों को पाप नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥ (ख)

पदार्थ—जो उपासक इस प्रकार जानता है। उसके गुण का वर्णन करते हैं (एवंवित्) जो इस प्रकार जानता है (सः) वह प्राणवित् पुरुष (सर्वेषाम्+भूतानाम्+आत्मा) सकल प्राणियों का आत्मवत् प्रिय और रक्षणीय होता है (यथा एषा+देवता) जैसे यह देवता जगत् में सुप्रसिद्ध और परमप्रिय है (एवम्+सः) वैसा ही वह भी होता है (यथा) जैसे (एताम्+देवताम्) इस प्राणदेवता को (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी (अवन्ति) पालते हैं (एवम्+ह) वैसे ही (एवंविदम्) ऐसे जाननेहारे पुरुष को भी (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (अवन्ति) रक्षा करते हैं। अब एक शंका होती है कि यदि यह तत्त्ववित् पुरुष ओं का प्रिय है तो प्रजाओं के सुख दुःख से भी सम्बन्ध रखता होगा। प्रजा के दुःखित होने से दुःखित और सुखी होने से सुखी, ऐसा सर्वसाधारण में भी होता है फिर इसमें दैवीशक्ति के प्रवेश से क्या लाभ है। इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं—(इमाः+प्रजाः) यह प्रजाएं (यद्+उ+किञ्च) जो कुछ (शोचन्ति) शोक करती हैं अर्थात् प्रजाओं में जो कुछ दुःखसंग्राम होता है (तत्) वह शोकजनित दुःख (आसाम्) इन प्रजाओं के (अमा+एव) सित

आत्मा के साथ ही (भवति) संयुक्त होता है अर्थात् प्रजाओं के दुःख को स्वयं प्रजाएं भोगती हैं (अमुम्) इस तत्त्ववित् पुरुष को (पुण्यम्+एव) पुण्यजनित सुख ही (गच्छति) प्राप्त होता है (ह) क्योंकि (वै) निश्चय (देवान्) देवों को (पापम्+न+गच्छति) पाप नहीं प्राप्त होता है ॥ २० ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । एवंविदः फलं ब्रवीति । य उपासको वागादिदेवतानां तत्त्वं विजानाति । स एवंवित्पुरुषः । सर्वेषां भूतानां प्राणिनामात्मा भवति स्वात्मवत्प्रियः पालनीयो भवति । यथा सादृशी यथा प्राणात्मिका देवतास्ति सुप्रसिद्धा सर्वत्र । तादृशः सोऽपि सुप्रसिद्धः प्राण इवोपकर्ता च । यथा येन प्रकारेण । एतां प्राणात्मिकां देवताम् । सर्वाणि भूतानि अवन्ति पालयन्ति । तथैवतमपि । अथ यदि स सर्वेषां भूतानामात्मा भवति । तर्हि सुखदुःखोभयाभ्यामपि संयुक्तः स्यात् । तानि भूतानि सुखितानि दृष्ट्वा सुखी दुःखितानि च दृष्ट्वा दुःखी सम्पद्येत । अथ तर्हि किं तया दैव्या शक्त्या इत्यत आह—यदुकिञ्च यत्किञ्च । इमाः प्रजाः शोचन्ति शोकं कुर्वन्ति । तच्छोकनिमित्तं दुःखम् । आसां प्रजानाम् । अमैव स्वात्मभिः सहैव संयुक्तं भवति । प्रजाः स्वगतं दुःखं स्वात्मनैवोपभुञ्जन्ति । इति । अमुञ्च तत्त्वविदं पुरुषम् । प्रजानां पुण्यमेव आनन्द एव गच्छति प्राप्नोति । न हवै नैव ह स्फुटं देवान् । पापं पापफलं दुःखम् । गच्छतीति विषयः । तत्त्ववित्पुरुषः प्रजानां मध्ये दुःखमवलोक्यापिनान्तःकरणेन शोचति । किन्तु तस्य प्रतीकारं झटिति विदधाति । यदि सोऽपि शोचेत् । तर्हि कः प्रतिकुर्य्यात् । शोकाकुलस्य बुद्धिभ्रंशत्वात् । बुद्धिभ्रंशे व्यामोहः । व्यामोहे विनाशः । अतस्तत्त्ववित् सर्वं विचार्य्य शोकं त्यक्त्वा प्रतीकाराय यतते । अतस्तं पुण्यफलं सुखमेव न च पापफलं दुःखमागच्छति । ईदृक् पुरुष एव मनुष्येषु देव उच्यते । अन्ये सूर्यादयस्तु जडा देवाः सन्ति । न तत्र पापस्य पुण्यस्य वा क्वापि चर्चा भवितुमर्हति ॥ २० ॥ (ख)

भाष्याशय—भाव यह है कि तत्त्ववित् पुरुष प्रजाओं के बीच दुखी होकर भी अन्तःकरण से शोक नहीं करते । किन्तु इस दुःख के प्रतीकार को झट से करते । यदि वह तत्त्ववित् पुरुष भी सोचे तो उसका प्रतीकार कौन करे । क्योंकि शोकाकुल पुरुष की बुद्धि भ्रष्ट होजाती । बुद्धि भ्रंश होने से व्यामोह होता, व्यामोह होने से विनाश होता है इस हेतु तत्त्ववित् सब विचार शोक को त्याग प्रतीकार के लिये यत्न करते हैं । इस हेतु इनको पुण्य का फल जो सुख है वही आता है । पाप फल दुःख नहीं । ऐसे पुरुष ही मनुष्यों में देव कहलाते हैं । अन्य सूर्यादि देव तो जड़ हैं । वहां पाप पुण्य की कोई चर्चा नहीं हो सकती । इति ॥ २० ॥ (ख)

अथातो व्रतमीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमितिवाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्म्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रम् ॥ २१ ॥ (क)

अनुवाद—अब इस हेतु व्रतमीमांसा आरम्भ करते हैं, प्रजापति ने कर्म्मों (कर्म्म करनेहारे इन्द्रियों) की सृष्टि रची यह सर्वत्र प्रसिद्ध है । वे सृष्ट इन्द्रिय परस्पर स्पर्धा करने लगे (अर्थात् अपने २ व्यापार में एक दूसरे से आगे बढ़ने का प्रयत्न करने लगे) वाणी ने यह व्रत लिया कि मैं

बोलती ही रहूंगी । नेत्र ने व्रत किया कि मैं देखता ही रहूंगा । श्रोत्र ने व्रत किया कि मैं सुनता ही रहूंगा । इसी प्रकार अन्यान्य कर्मों (कर्म करनेहारे इन्द्रियों) ने भी अपने २ कर्म के अनुसार व्रत किया । तत्पश्चात् मृत्यु ने श्रम (थकावट) रूपी होकर इनको पकड़ा । उनको अपने वश में किया और वश में उनको करके अपने २ कर्म से रोक दिया इसलिये वाणी थक ही जाती है । चक्षु थक ही जाता है । श्रोत्र थक ही जाता है ॥ २१ ॥ (क)

पदार्थ—अब प्राण की श्रेष्ठता के निर्णय के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं—(अथ) उपासना के व्याख्यान के अनन्तर जिस हेतु यह एक जिज्ञासा अवशिष्ट रह गई कि इन वागादिकों में मुख्यतया किस प्राण का अध्ययन करना चाहिये । किस एक के अध्ययन से सब का विज्ञान सहजतया हो सकता है (अतः) इस जिज्ञासा के निर्णय के लिये (व्रतमीमांसा) व्रतमीमांसा आरम्भ करते हैं । व्रत=कर्त्तव्य । मीमांसा=अच्छा विचार । क्या हम लोगों का व्रत है किसका प्रधानतया प्रथम अध्ययन करना चाहिये, इसका निर्णय करते हैं । इसके निर्णय के लिये आख्यायिका कहते हैं । यह वर्णन की परिपाटी अति प्राचीन और सुप्रसिद्ध है । क्योंकि आख्यायिका के द्वारा यज्ञों का भी झट बोध होता है (ह) यह प्रसिद्ध है कि (प्रजापतिः) प्रजाओं का स्वामी प्रतिपालक ईश्वर ने (कर्म्माणि+ससृजे) कर्म=इन्द्रियों को उत्पन्न किया (तानि+सृष्टानि) जब ये सब इन्द्रिय रचे गये तो वे सृष्ट इन्द्रिय (अन्योन्येन) एक दूसरे से (अस्पर्धन्त) स्पर्धा करने लगे अर्थात् अपने २ भाषणादि व्यापार में एक दूसरे को दबाने के लिये बढ़ चढ़कर कार्य्य करने लगे । आगे किसने किस व्रत का ग्रहण किया सो कहते हैं—(अहम्) मैं (वदिष्यामि+एव) सदा बोलती ही रहूँगी । भाषणरूपी व्रत से मैं कदापि नहीं गिरूंगी । (इति) ऐसा व्रत (वाग्+दध्रे) वाणी ने धारण किया (अहम्) मैं (द्रक्ष्यामि) देखता ही रहूंगा (इति+चक्षुः) ऐसा व्रत नेत्र ने धारण किया (अहम्+श्रोष्यामि) मैं सुनता ही रहूंगा (इति+श्रोत्रम्) ऐसा व्रत श्रोत्र ने धारण किया (एवम्) इसी प्रकार (अन्यानि+कर्म्माणि) अन्यान्य घ्राणादि इन्द्रियों ने भी (यथाकर्म्म) अपने २ कार्य्य के अनुसार व्रत किया तब (मृत्युः) पदार्थ विनाशक गुण विशेष मानो (श्रमः+भूत्वा) श्रम=थकावट का रूप हो (तानि+उपयेमे) उन वाणी आदि इन्द्रियों को पकड़ लिया अर्थात् अपने २ व्यापार से उनको श्रम के द्वारा गिरा दिया । कैसे पकड़ा सो कहते हैं—उन श्रमरूपी मृत्यु ने प्रथम (तानि+आप्नोत्) उनके निकट प्राप्त हुआ (तानि+आप्त्वा) तब इनके निकट जाकर (मृत्युः) उस श्रमरूपी मृत्यु ने (अवारुन्ध) रोक दिया जिस हेतु मृत्यु ने इन इन्द्रियों को (श्रम) थकावट से विद्ध कर दिया अर्थात् इन में थकावटरूप मृत्यु विद्यमान है (तस्मात्) इस हेतु (वाक्) वाणी (श्राम्यति+एव) थक ही जाती है (चक्षुः+श्राम्यति) नयन थक ही जाता है (श्रोत्रम्+श्राम्यति) श्रोत्र थक ही जाता है । इस प्रकार इस शरीर में जितने कर्म करने वाले इन्द्रिय हैं वे थक जाते हैं । यह प्रत्यक्ष है ही ॥ २१ ॥ (क)

भाष्यम्—अथेति । प्राणश्रैष्ठ्यनिर्णयायोत्तरग्रन्थारम्भः । अथोपासना व्याख्यानन्तरं यतः । वागादीनां मध्ये । मुख्यतया कः प्राणोऽध्येतव्यः । कस्यैकस्याऽध्ययनेन सर्वेषां विज्ञानमित्येवंविधा जिज्ञासाऽवशिष्यतएव । अत इदानीं व्रतमीमांसाऽऽरभ्यते । मीमांसापूजितोविचारः । व्रतस्य मीमांसा व्रतमीमांसा । अस्मिन् विषये आख्यायिकां विचारयति । ह किल । प्रजानां पतिरीश्वरः । कर्माणि वागादिकरणानि दर्शनादिकर्मसम्पादकानि इन्द्रियाणि । ससृजे जनयामास । तानि सृष्टानि प्रजापतिना । अन्योन्येन परस्परेण । अस्पर्धन्त अन्योन्यमभिभवितुमैहन्त । स्पर्धाप्रकारमाह । अहं वदिष्याम्येव

स्वव्यापाराद्वदनादनुपरतैव भविष्यामीति व्रतं वाग्देवी धृतवती । अहं द्रक्ष्यामीति । व्रतं चक्षुर्दधे । अहं श्रोष्यामीति व्रतं श्रोत्रेन्द्रियं धृतवत् । अन्यान्यपि कर्म्माणि अवशिष्टानि प्राणादीनि । यथा कर्म यस्य यस्य यादृशं कर्म्म तत्तत् स्वीयव्यापारमनुसृत्य व्रतं दध्रिरे । ततः मृत्युर्मारकः । श्रमोभूत्वा श्रमरूपी भूत्वा । तानि धृतव्रतानि वागादीनि करणानि । उपयेमे संजग्राह । स्वस्वव्यापाराद् वदनादेः प्रचाव्य श्रमेण योजितवान् । कथमित्यपेक्षायामाह—तानीति । मृत्युः श्रमस्तानि वागादीनि । आप्नोत् । स्वात्मानं दर्शयामास । ततः । तानि आप्त्वा प्राप्य गृहीत्वा अवारुन्ध अवरोधितवान् । स्वव्यापारेभ्यः प्रच्यावनं कृतवानित्यर्थः । अत्र कार्य्यगतश्रमलिङ्गकं प्रमाणमाह—यस्माद् वागादीनीन्द्रियाणि मृत्युना श्रमविद्धानि कृतानि । तस्माद्धेतोः । वाग् श्राम्यत्येव । स्वव्यापारे वदने प्रवृत्ता सती वाग् श्रान्ता भवत्येव । दृश्यते लोके । एवमेव चक्षुः श्राम्यति । श्रोत्रञ्च श्राम्यति । एवमन्यान्यपि प्राणादीनि कर्माणि श्राम्यन्त्येव । यतः श्रमेण सर्वाणि संयुक्तानि सन्ति ॥ २१ ॥ (क)

भाष्याशय—यहां यह नहीं समझना चाहिये कि यथार्थ में कोई मृत्यु मूर्ति पदार्थ है किन्तु हम देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ उपचय (वृद्धि) अपचय (क्षय) को प्राप्त होता है । ये ही दो शक्तिएं पदार्थों में हैं । अपचय शक्तिका नाम "मृत्यु" है । और इसी को "असुर" भी कहा है । और यह "असुर" प्रजापति का पुत्र है यह भी निर्णय हो चुका है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ का मृत्यु भी स्वाभाविक गुण है । इन इन्द्रियों में स्वभाव से ही "श्रम" (थकावट) विद्यमान है अब जिसमें स्वभावतः थकावट न होवे वह इन थकावट वालों से श्रेष्ठ अवश्य होगा । अब इसी को आगे कहते हैं ॥ २१ ॥ (क)

अथेममेव नाऽऽप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे । अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरश्चासंचरश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति । त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्य त्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥ २१ ॥ (ख)

अनुवाद—और इसी को वह (श्रमरूपी मृत्यु) नहीं प्राप्त हुआ जो यह मध्यम प्राण है । उन्हीं (वागादिक इन्द्रियों) ने उस प्राण को जानने के लिये मन किया । निश्चय, हम लोगों में यह श्रेष्ठ है । जो चलता हुआ अथवा न चलता हुआ कदापि भी व्यथित नहीं होता है और न नष्ट ही होता है । यदि सबकी अनुमति हो तो हम इसके रूप को प्राप्त होजायं । ऐसा निश्चय करके वे सब ही इसी (प्राण) के रूप हो गये इसलिये ये "वागादिक इन्द्रिय" इसी प्राण के नाम से प्रसिद्ध हैं ये सब ही "प्राण" कहे जाते हैं । आगे फल कहते हैं—जो ऐसा जानता है वह जिस कुल में उत्पन्न होता है वह कुल उसी के नाम में प्रसिद्ध होता है । और जो कोई एवंविद् के साथ स्पर्धा करता है वह सूख जाता है और सूखकर अन्त में मरजाता है । इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार अध्यात्मोपासना समाप्त हुई ॥ २१ ॥ (ख)

पदार्थ—(अथ) वागादि इन्द्रिय भग्नव्रत हुए । अब जो अभग्नव्रत है उसको कहते हैं—(इमम्+एव) इस प्राण को ही (न आप्नोत्) मृत्यु न पासका (यः+अयम्) जो यह (मध्यमः+प्राणः) मध्यम प्राण है । जो सब इन्द्रियों के मध्य विचरण करता है । उस मध्यम प्राण को श्रमरूपी मृत्यु नहीं पासका । प्राण की ऐसी श्रेष्ठता देख (तानि) वे वागादि इन्द्रिय (ज्ञातुम्+दध्रिरे) जानने के लिये मन करने लगे । वह प्राण कैसा है जिसको श्रमरूप मृत्यु कदापि प्राप्त नहीं होता है । जब इन्होंने जान लिया तब वे इन्द्रिय परस्पर कहते हैं कि (वै) निश्चय (अयम्) यह प्राण ही (नः) हम लोगों में (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ है क्योंकि (यः) जो (सञ्चरन्+च) जङ्गम जन्तुओं में रात्रिन्दिवा चलता हुआ और (असञ्चरन्) स्थावर आदि पदार्थों में न चलता हुआ सा प्रतीत होता हुआ (न+व्यथते) कदापि थकता नहीं (अथो) और (न+रिष्यति) न कदापि नष्ट ही होता है । इस हेतु हम लोगों में वह प्राण ही श्रेष्ठ है । श्रेष्ठ है तो क्या ? । पुनः इन्द्रिय विचार करते हैं कि यदि वह श्रेष्ठ है (हन्त) और हम सबों की एक सम्मति हो तो (सर्वे) हम सब (अस्य+एव) इसी प्राण के (रूपम्+आसाम्+इति) रूप को प्राप्त होवें अर्थात् प्राण के ही रूप को स्वीकार करें । क्योंकि हम लोगों के श्रम मृत्यु के निवारण के लिये समर्थ नहीं हैं (इति) इस प्रकार निश्चय कर (ते+सर्वे) वे वागादि इन्द्रिय सब (एतस्य+रूपम्) इसी प्राण के रूप (अभवन्) हो गये । अर्थात् अपनी सत्ता को प्राण के ही अधीन कर दिया । इस प्रकार इन्द्रिय सब प्राणस्वरूप हो गये । यह कह प्राण के नाम से ही ये सब पुकारे जाते हैं सो कहते हैं—(तस्मात्) जिस हेतु यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि इन्द्रिय अपने विषयों को प्रकाशित करते हैं और इनका व्यापार गतिविशिष्ट प्रतीत होता है । परन्तु गतिविशिष्ट तो प्राण ही है (तस्मात्) इस हेतु (एते) वागादिक इन्द्रिय (एतेन) इस प्राण के नाम से ही (प्राणाः+इति) प्राण ऐसा (आख्यायन्ते) कहलाते हैं अर्थात् सब इन्द्रिय "एक प्राण" नाम से पुकारे जाते हैं । अब आगे प्राणवित् पुरुष का फल कहा जाता है—(यः+एवम्+वेद) जो कोई इस प्रकार प्राण की श्रेष्ठता आदि को अच्छे प्रकार जानता है वह प्राणवित् पुरुष (यस्मिन्+कुले) जिस कुल में उत्पन्न (भवति) होता है (तत्+कुलम्) उस कुल को (तेन+ह+वाव) निश्चय उसी के नाम से सब कोई (आचक्षते) कहते हैं । जैसे रघुराजा के नाम से रघुकुल । कुरु राजा के नाम से कुरुवंशी, यदुवंशी, पुरुवंशी इत्यादि । और (यः+उ) जो कोई (ह+एवंविदा) इस प्रसिद्ध विज्ञानी के साथ (स्पर्धते) स्पर्धा करता है अर्थात् इसका शत्रु बनकर इसको दबाने के लिये यत्न करता है (अनुशुष्यति) वह सूख जाता है अर्थात् इस पुरुष से प्रजाएं स्वयं विरुद्ध हो जाती हैं । प्रजाओं के विरोध के कारण इस शत्रु को बहुत पश्चात्ताप होता है कि मैंने क्या किया । क्यों इसके साथ विरोध किया । इत्यादि । और (अनुशुष्य) अपने शरीर में ही सूखकर (ह+एव) निश्चय ही (अन्ततः) अन्त में (म्रियते) मर जाता है ॥ २१ ॥ इत्यध्यात्मम् ॥ (ख)

भाष्यम्—अथेति । वागादीनि कर्माणि भग्नव्रतानि बभूवुः । अथाभग्नव्रतं दर्शयति । इमं प्राणमेव स मृत्युः श्रमो भूत्वा नाऽऽप्नोत् । कोऽयम् । योऽयं मध्यमः प्राणः मध्येभवो मध्यमः । सर्वेषां मध्ये विचरणशीलो योऽयं महाप्राणोऽस्ति । तं मृत्युर्नाऽऽप्नोदित्यर्थः । अद्यतनप्रजागतप्राणे श्रमाऽदर्शनात् । ततः किमित्यपेक्षायामाख्यायिकामेवानुसृत्याह—तानीति । तानि वागादीनि कर्माणि प्राणस्य व्यापारं "कीदृगयं वर्तते यो मृत्युना श्रमेण नाऽऽप्यते" इत्येवंलक्षणकं ज्ञातुं जिज्ञासितुं दध्रिरे मनोदधुः । कथम् ? । नोऽस्माकं मध्ये । अयं मध्यमः प्राणः श्रेष्ठोऽस्ति । कथमस्य श्रैष्ठ्यं ज्ञायते । प्राणः

सञ्चरन् जङ्गमेषु सम्यग् गच्छन्नपि असंचरन्नपि स्थावरेषु स्थिरीभावमापन्न इवापि सन्। न व्यथते। अथो अपि न रिष्यति न च विनश्यति। एतेनायमस्माकं मध्ये श्रेष्ठ इति सिध्यति। तेन किम्। हन्तेदानीं सर्वे वयमपि। अस्यैवरूपम्। अस्यैव प्राणस्य रूपं स्वरूपम्। असामप्रतिपद्येमहि इति। एवं निश्चित्य ते सर्वे वागादयः एतस्यैव प्राणस्य। रूपमभवन् प्राणरूपमेवाऽऽत्मत्वेन प्रतिपन्नाः सन्तः प्राणव्रतमेव दध्रिरेऽस्माकं व्रतानि न मृत्योर्वारणाय पर्य्याप्तानीत्यभिप्रायेण। एवमिन्द्रियाणां प्राणस्वरूपत्वमुक्त्वैतेषां प्राणनामत्वं ब्रवीति। तस्मादिति। यस्मात्प्रकाशात्मकानि करणानि चलनव्यापारपूर्वकाण्येव स्वव्यापारेषु लक्ष्यन्ते। चलनात्मकश्च प्राणः। तस्मादेते वागादयः। एतेन प्राणेन प्राणनाम्नैव। आख्यायन्ते कथ्यन्ते। वागादयोऽपि प्राणनाम्नैव सर्वत्राभिधीयन्ते। सम्प्रति फलमाह—ये एनं सर्वेन्द्रियाणां प्राणात्मतां तच्छब्दाभिधेयताञ्च वेद। स विद्वान् यस्मिन् कुले जातो भवति। तत्कुलं तेन ह वाव तेनैव विदुषा तन्नाम्ना चाऽऽचक्षते लौकिका अमुष्येदं कुलमिति कथयन्ति। किञ्च यः कश्चिदुहैवंविदा प्राणात्मदर्शिनासह स्पर्धते प्रतिपक्षी सन् अभिभवितुमिच्छति। स प्रतिस्पर्धी अनुशुष्यति पश्चात्तापेन शरीरशोषं प्राप्नोति। तथाचानुशुष्य दीर्घकालं शोषं प्राप्यैव ह किलान्ततोऽन्ते म्रियते। एवमुक्तं प्राणदर्शनमुपसंहरति। इतीति। इत्येवं प्रदर्शितमध्यात्ममित्यर्थः ॥ २१ ॥ (ख)

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतं स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः ॥ २२ ॥

अनुवाद—अब अधिदैवत कहते हैं—अग्नि ने यह व्रत लिया कि "मैं जलता ही रहूंगा"। सूर्य ने व्रत लिया कि "मैं तपता ही रहूंगा"। चन्द्रमा ने व्रत लिया कि "मैं चमकता ही रहूंगा"। इस प्रकार अन्य देवताओं ने भी अपने २ दैवत कर्म्म के अनुसार व्रत लिया। सो जैसे इन प्राणों (वागादि इन्द्रियों) के मध्य मध्यम प्राण नहीं थकता है। वैसे ही इन देवताओं के मध्य वायु है क्योंकि अन्य देवताएं अस्त होती हैं, परन्तु वायु नहीं। सो यह देवता अनस्तमिता देवता है जो यह वायु है ॥ २२ ॥

पदार्थ—(अथ) अध्यात्म वर्णन के अनन्तर (अधिदैवतम्) अधिदैवत वर्णन आरम्भ करते हैं (अहम्) मैं (ज्वलिष्यामि+एव) जलता ही रहूंगा (इति+अग्निः+दध्रे) यह व्रत अग्नि ने धारण किया (अहम्) मैं (तप्स्यामि+इति+आदित्यः) मैं तपता ही रहूंगा यह व्रत आदित्य ने ग्रहण किया (अहम्) मैं (भास्यामि+इति+चन्द्रमाः) चमकता ही रहूँगा यह व्रत चन्द्रमा ने लिया (एवम्) इसी प्रकार (अन्याः+देवताः) अन्य देवताओं ने भी (यथादैवतम्) जिस देवता का जो कार्य्य है उसके अनुसार व्रत ग्रहण किया (सः) यहां दृष्टान्त कहा जाता है—(यथा) जैसे (एषाम्+प्राणानाम्) इन प्राणों (इन्द्रियों) के मध्य (मध्यमः+प्राणः) सब के मध्य में विचरण करनेहारा प्राण है (एवम्) वैसे ही (एतासाम्+देवतानाम्) इन अग्न्यादि देवताओं में (वायुः) वायु सब में विचरण करनेहारा

प्रधान है (हि) क्योंकि (अन्याः+देवताः) अन्य सूर्यादि देव (निम्लोचन्ति) अस्त हो जाते हैं (न+वायुः) परन्तु वायु देवता नहीं क्योंकि (सा+एषा) सो यह (देवता+अनस्तमिता) देवता कभी अस्त होनेहारा नहीं (यद्+वायुः) जो वायु देवता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—अथेति । अथाध्यात्ममुक्त्वाऽधिदैवतमारभ्यते । अधिदैवतं देवताविषयदर्शनम् । अहं ज्वलिष्याम्येवेत्यग्निर्व्रतं दध्रे दधौ । स्वव्यापाराज्ज्वलनान्न कदापि निवृत्तो भविष्यामीति स्वकर्तव्यपालनरूपं व्रतं धृतवानित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । अहं तप्स्याम्येवेति आदित्यो व्रतं गृहीतवान् । अहं भास्याम्येवेति चन्द्रः । एवं यथाऽग्न्यादयो व्रतं जगृहुस्तथैवान्या अपि पृथिवीविद्युदादयो देवता यथादैवतम् यस्या देवताया यथाकर्मास्ति तथा कर्म्म धृतवत्यः । परमेताः सर्वा देवताः श्रमेण मृत्युना आप्ता न वायुरित्यग्रे दर्शयति । सशब्दो दृष्टान्तवाची । अत्र वक्ष्यमाणो दृष्टान्त उच्यते । एषां प्राणानां वागादीन्द्रियाणां मध्ये । यथा यादृशः । मध्यमः प्राणः । सर्वेषां मध्ये विचरणशीलः प्राणो मृत्युनाऽनवाप्तः शुद्धोऽस्ति । एवम् ईदृगेव । एतासामग्न्यादीनां देवतानां मध्ये वायुरस्ति । स्वयं हेतुमुपन्यस्यति । हि यतः । अन्या देवता निम्लोचन्ति अस्तं यन्ति । न वायुर्निम्लोचतीति शेषः । यद्वायुर्योऽयं वायुः । सा एषा देवता अनस्तमिता न अस्तमनस्तम् अनस्तम् इता प्राप्ता अविनाशितव्रतेत्यर्थः । अतः प्रतीयते एता देवतास्तमसा मृत्युना गृहीता अतोऽस्तमिता अशुद्धाश्च । अगृहीतः खलु वायुरतो न कदाप्यस्तं याति । अतः स शुद्धः । एतेन देवतानां मध्ये वायोर्व्रतं चरितव्यमिति निर्णीयते यथा वायुरश्रान्तः स्वव्यापारमनुतिष्ठति । तथैव सर्वे स्वं स्वं व्यापारमनुतिष्ठन्त्विति शिक्षा ॥ २२ ॥

भाष्याशय—जहां २ अध्यात्म वर्णन करते हैं । वहां २ अधिदैवत वर्णन भी अवश्य ही रहता है । इन्द्रियों में जैसे प्राण वायु सदा चला करता है । सब को सहायता पहुंचाता रहता है और अपनी सत्ता भी कदापि प्रकाशित नहीं करता । वैसे ही अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, मेघ, विद्युत् आदि देवताओं में वायु है । अग्नि अस्त हो जाता, एवं सूर्य्य आदि भी अस्त हो जाते, परन्तु वायु सदा चला ही करता है इस हेतु इसका "सदागति" नाम है । इस आख्यायिका से यह फलित हुआ कि इन्द्रियों के मध्य प्राण के समान और देवताओं में वायु के समान व्रत ग्रहण करना चाहिये । इति ॥ २२ ॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्म्मं स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति । तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति ॥ २३ ॥

अनुवाद—अब इस विषय में यह श्लोक होता है "जहां से सूर्य उदित होता और जहां अस्त हो जाता है" इति । निश्चय, प्राण से ही यह उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है । "देव (विद्वान्) लोग उसी धर्म को करते रहे वही आज है और वही कल रहेगा" इति । निश्चय, इन

विद्वान् लोगों ने उस समय जिस व्रत को धारण किया उसी को आज भी करते हैं इसलिये एक ही व्रत का आचरण करे। सांस को बाहर छोड़े और सांस को भीतर लेवे। ऐसा न हो कि पापरूप मृत्यु मुझको प्राप्त होवे। और यदि व्रत करे तो उसको समाप्त करने की भी इच्छा रक्खे तब निश्चय उससे वह इसी देवता के सायुज्य और सलोकता को पाता है ॥ २३ ॥

पदार्थ—जो पूर्व में कहा गया है उसी को दृढ़ करने के लिये यह श्लोक कहते हैं—(अथ) और इस विषय में (एषः+श्लोकः+भवति) यह वक्ष्यमाण श्लोक होता है (यतः+च) जहां से (सूर्यः) सूर्य्य (उदेति) उदित होता है (यत्र+च) और जहां (अस्तम्) अस्त को (गच्छति+इति) प्राप्त होता है इतना भाग श्लोकार्ध है। इसका उत्तर प्रथम देते हैं—(वै) निश्चय (एषः+प्राणाद्+उदेति) यह प्राण से उदित होता है (प्राणे+अस्तम्+एति) और प्राण में ही अस्त को प्राप्त होता। अब आगे श्लोक के उत्तरार्ध को कहते हैं—(देवा) विद्वद्गण भी अभग्नव्रती प्राण और वायु को देख (तम्+धर्म्मम्) प्राण और वायु के समान ही उस व्रत को (चक्रिरे) करने लगे उन विद्वानों में (सः+एव+अद्य) वही व्रत आज है और (सः+उ) वही (श्वः) कल भी रहेगा। अब संक्षेप से श्लोकार्थ का व्याख्यान स्वयं श्रुति करती है (अमुर्हि) उस गतकाल में (एते) इन विद्वान् लोगों ने (यद्+वै) जिसी व्रत को (अभ्रियन्त) धारण किया (तद्+एव+अपि) उसी को (अद्य+कुर्वन्ति) आज भी करते हैं। अब आगे फलित कहते हैं कि (तस्मात्) इस हेतु (एकम्+एव व्रतम्+चरेत्) एक ही व्रत को करे। किस एक व्रत को करे ? (प्राण्यात्+च) प्राणनव्यापार करे अर्थात् अभ्यन्तर से बाहर श्वास लेवे और (अपान्यात्+च) बाहर से अभ्यन्तर में श्वास खींचे। इन दोनों वाक्यों का आशय यह है जैसे श्वास प्रश्वास बराबर चलता है वैसा ही निरन्तर अपने कार्य्य में लगा रहे। इस प्राणव्रत को न करने से दोष कहते हैं—(नेत्) ऐसा न हो कि (पाप्मा मृत्युः) पापस्वरूप मृत्यु (माम्+आप्नुवत्+इति) मुझ को प्राप्त होवे (यदि+उ+चरेत्) यदि प्राण और वायु के समान व्रत धारण करे तो (समापिपयिषेत्) उसको समाप्त करने की भी इच्छा करे (तेन+उ) निश्चय उससे (एतस्यै+देवतायै) इस प्राण और वायु देवता के (सायुज्यम्) सायुज्य को और (सलोकताम्) सलोकता को (जयति) पाता है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यत् प्राणस्य वायोश्च व्रतं प्रदर्शितं तदेव द्रढयितुं ग्रन्थान्तरात्प्रमाणं दर्शयति। अथास्मिन् विषये एष श्लोकः प्रमाणं भवति। अयं सूर्य्यः सर्वेषां देवानां प्रधानो देवोऽपि सन्। यतो यस्मात् प्राणाद् उदेति। यस्य प्राणस्यैव सामर्थ्येन सूर्य्य उदेति। यत्र च प्राणे। अस्तं गच्छति। इतिशब्दः श्लोकार्धपूरणः। उक्तार्धश्लोकस्य यच्छब्दार्थमाह। यत उदेति—कस्मादुदेति। इति शङ्का। प्राणाद्वै एष उदेतीति समाधानम्। अस्तं यत्र गच्छति कुत्रास्तं गच्छतीति शङ्का प्राणेऽस्तमेतीति समाधानम्। श्लोकार्धं पठति—तमित्यादि। अस्यार्थः। जगति आध्यात्मिकस्य प्राणस्य आधिदैविकस्य वायोश्च निरन्तरमभग्नव्रतमवलोक्य प्रकृतेरनुसारिणः। देवा विद्वांसो जनाः। तं धर्म्मं प्राणवायुसमानम्। चक्रिरे कर्तुमारेभिरे। देवेषु स एव धर्म्मोऽद्यापि वर्तत एव नोच्छिन्नः। एवं स एव धर्म्मः श्वोऽपि आगामिन्यपि समये विद्वत्सु स्थास्यति। इति शब्दः श्लोकपूर्त्यर्थः। श्लोकार्थमेव ब्राह्मणभागो विस्पष्टयति। एते विद्वांसः अमुर्हि अमुष्मिन् व्यतीते काले यद्वै यदेव व्रतम्। अभ्रियन्त धृतवन्तः। तदेव व्रतम्। अद्यापि कुर्वन्ति। न विदुषां मध्ये व्रतभंगो भवति कदापि। अग्रे फलितमाह—तस्माद्धेतोः सर्वोऽपि साधकः। एकमेव व्रतम्। प्राणस्य

वायोश्चैव व्रतम्। नान्येषां देवानां मृत्युनाऽऽप्तानामित्यर्थः। चरेत् कुर्यात्। व्रतं विशिनष्टि। प्राण्याच्चैव। प्राणनव्यापारं कुर्य्यात्। अपान्याच्च। अपाननव्यापारञ्च कुर्य्यात्। यथा प्रतिक्षणं श्वासप्रश्वासौ बाह्यमायातोऽभ्यन्तरञ्च प्रत्यायातः। तथैव सर्वदा कार्य्ये सन्नद्धो भवेत्। एतत्प्राणव्रताकरणे बाधकमाह। नेति परिभवे। मा मां पाप्मा पापस्वरूपो मृत्युः। आप्नुवदिति प्राप्नुयादिति भयं मा भूदित्यर्थः। यद्यहं प्राणव्रतं न करिष्यामि तर्हि पापं मां ग्रहीष्यति। तत्पापं मां मा ग्रहीदिति तद्व्रतं कर्तव्यमित्यर्थः। यद्य यदि उ व्रतं चरेत्। यदि व्रतस्य चिचरिषा स्यात्तर्हि यद् यद् व्रतं चरेत्। तत्तत् समापिपयिषेत्। समापयितुमपि कामयेत। प्रारभ्य विघ्नभयान्न त्यजेदित्यर्थः। तेनो तेन उतेन व्रताऽऽचरणेन। एतस्यै देवतायै एतस्या देवतायाः। सायुज्यं सयुग्भावम्। सलोकताञ्च। समान लोकताञ्च जयति प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २३॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

अथ षष्ठं ब्राह्मणम्॥

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्त्ति॥ १॥

अनुवाद—इस जगत् में नाम, रूप और कर्म्म ये तीन हैं, उनमें से इन नामों का "वाणी" उक्थ (उपादानकारण) है, क्योंकि इसी से सब नाम उत्पन्न होते हैं। इन नामों का यह (वाणी) ही साम है क्योंकि यही सब नामों के साथ तुल्य है। इन नामों का यह (वाणी) ही ब्रह्म है क्योंकि सब नामों को यही धारण करता है॥ १॥

पदार्थ—इस जगत् में (नाम) इसका देवदत्त वा यज्ञदत्त वा वृक्ष वा जल नाम है (रूपम्) यह शुक्ल ब्राह्मण है। यह कृष्ण गौ है। यह पीत पुष्प है। इस प्रकार रूप और (कर्म) यह बालक पढ़ता है। यह ओषधि सञ्जीवनी है। यह पुष्प मेरे मन को हरण करता है। वायु चलता है। सूर्य प्रकाशता है। इत्यादि कर्म्म देखते हैं। इससे प्रतीत होता है कि (नाम+रूपम्+कर्म्म) नाम, रूप और कर्म (इदम्+वै+त्रयम्) यही तीन प्रधानता से हैं। इन ही तीनों के अन्तर्गत अन्य भी हैं (तेषाम्) उन नामरूप कर्म के मध्य (एषाम्) इन देवदत्तादि नामों का (वाग्+इति) वाणी ही (एतद्+उक्थम्) यह उक्थ है (हि) क्योंकि (अतः) इस वाणीरूप शब्द से (सर्वाणि+नामानि) सब घट पट आदिक नाम (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं। इस हेतु वाणी उक्थ (उपादानकारण) है। (एषाम्) इन नामों का (एतत्+साम) यह वाणीरूप शब्द ही साम है। (हि) क्योंकि (एतत्) यह वाणी ही

(सर्वैः+नामभिः) सब नामों के साथ (समम्) तुल्य है (एषाम्) इन नामों का (एतद्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यही (सर्वाणि+नामानि) सब नामों को (बिभर्ति) धारण करता है। वेदों के मन्त्र में उक्थ, साम और ब्रह्म आदि शब्द ऋचा आदि के अर्थ में आता है। परन्तु यहां रूढ्यर्थ न लेकर यौगिकार्थ का ग्रहण किया है। जिससे उत्पन्न हो उसे उक्थ (यहां उत्+स्था से "उक्थ" बनाया है) जो सम हो वह साम (यहां सम और साम एकार्थक माना) जो सबको धारण करे वह ब्रह्म (यहां "भृ" धातु से ब्रह्म माना) है। अर्थात् जैसे वैदिक क्रिया में उक्थ साम और ब्रह्म होते हैं वैसे ही नाम में भी सब हैं। इस हेतु नाम ही एक मुख्य पदार्थ जगत् में है अर्थात् नाममय जगत् है ॥ १ ॥

भाष्यम्—जगति अस्य देवदत्तो वा यज्ञदत्तो वा वृक्षो वा जलं वा नामधेयम्। अयं शुक्लो ब्राह्मणः। इयं कृष्णा गौः। इदं पीतं कुसुममिति रूपम्। अयं बटुः पठति। इयमोषधिः संजीवयति। इदं पुष्पं मम मनोहरति। वायुर्गच्छति। सूर्यः प्रकाशत इत्यादि कर्म भवति। अतो नाम च रूपञ्च कर्म्म चेदं त्रयं वै वर्तते। अन्यदप्यस्मिन् त्रयेऽन्तर्गतमिति वै शब्दो द्योतयति। सम्प्रति नामादीनामुक्थं साम तथा ब्रह्मैतत्त्रयमति दर्श्यते। वेदेषूक्ता उक्थादयो मन्त्राः कर्म्मणि कर्म्मणि विनियुज्यन्ते। इहैतेषामुक्थादीनामर्थान्तरमादायातिदिश्यते नामादिषु। तेषां नामादीनां मध्ये। एषां नाम्नां वागिति उक्थमस्ति। अतो हि अस्या वाचो हि। सर्वाणि देवदत्तादीनि नामानि। उत्तिष्ठन्ति उत्पद्यन्ते। इदमेवोक्थत्वं वाचः। एषां नाम्नाम्। एतत्साम। वागेव साम। कथमिति। एतद् वाग्रूपं शब्दसामान्यम्। सर्वैर्नामभिः समं तुल्यम्। नहि वाक् स्वयं कचित् स्वल्पमात्मानं कचिदधिकञ्च दर्शयति। किन्तु सर्वत्रैव समानत्वेन साऽऽत्मानं दर्शयति। अतो वाचः सामत्वम्। तुल्यार्थवाची सामशब्द इतरस्मिन्पक्षे। एषां नाम्नाम्। एतत् वाग्रूपं ब्रह्म। कथम्? एतद्वाग्रूपं शब्दसामान्यं सर्वाणि नामानि। बिभर्ति धारयति बिभर्तीति ब्रह्मेति पदार्थः ॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति ॥ २ ॥

अनुवाद—और इन रूपों का चक्षु ही उक्थ है, क्योंकि इससे ही सब रूप उपजते हैं। इनका यह (चक्षु) साम है, क्योंकि यही सब रूपों के साथ सम है। इनका यह (चक्षु) ब्रह्म है, क्योंकि सब रूपों को यही धारण करता है ॥ २ ॥

पदार्थ—(अथ) नाम के अनन्तर रूप के विषय में कहते हैं—(एषाम्+रूपाणाम्) इन शुक्ल पीत आदि रूपों का (एतत्+चक्षुः+इति) यह चक्षु ही (उक्थम्) उपादानकारण है (हि) क्योंकि (अतः) इस चक्षु से (सर्वाणि) सब (रूपाणि) रूप (उत्तिष्ठन्ति) उत्पन्न होते हैं (एषाम्) इन रूपों का (एतत्+साम) यह चक्षु साम है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वैः) सब (रूपैः) रूपों के साथ (समम्) सम है (एषाम्) इन रूपों का (एतत्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह चक्षु (सर्वाणि) सब (रूपाणि) रूपों को (बिभर्ति) धारण करता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—अथ शुक्लादिविशेषाणामेषां रूपाणाम् । चक्षुरित्येतदुक्थमुपादानकारणम् । कथम् । अतो हि चक्षुषः सर्वाणि रूपाणि । उत्तिष्ठन्ति जायन्ते । एषां रूपाणाम् । एतच्चक्षुः साम । कथम् । एतच्चक्षुरेव सर्वैः रूपैः समं तुल्यम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्त्ति ॥ २ ॥

अथ कर्म्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्म्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषां सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्त्ति ॥ ३ ॥ (क)

अनुवाद—और इन कर्म्मों का शरीर ही उक्थ है, क्योंकि इसी से सब कर्म्म उत्पन्न होते हैं । इन कर्म्मों का यह (आत्मा) साम है, क्योंकि यह (आत्मा) सब कर्म्मों के साथ सम है । इन कर्म्मों का यह (आत्मा) ही ब्रह्म (हि) क्योंकि यही सब कर्म्मों का धारण करता है ॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ) रूप के अनन्तर कर्म का वर्णन करते हैं—(एषाम्) इन श्रवण मनन चलन आदिक (कर्म्मणाम्) कर्म्मों का (आत्मा+इति+एतत्+उक्थम्) आत्मा (शरीर) ही उक्थ है (हि) क्योंकि (अतः) इसी आत्मा से (सर्वाणि+कर्म्माणि) सब कर्म्म (उत्तिष्ठन्ति) उपजते हैं (एषाम्) इन कर्म्मों का (एतत्) यह शरीर स्वरूप (साम) साम है (हि) क्योंकि (एतत्) यह देहस्वरूप साम ही (सर्वैः+कर्म्मभिः) सब कर्म्मों से (समम्) सम=तुल्य है और (एषाम्) इन कर्म्मों का (एतत्) यह देहस्वरूप ही (ब्रह्म) ब्रह्म है (हि) क्योंकि (एतत्) यह देहस्वरूप ब्रह्म ही (सर्वाणि) सब (कर्म्माणि) कर्म्मों को (बिभर्ति) धारण करता है ॥ ३ ॥ (क)

भाष्यम्—स्पष्टम् ॥ ३ ॥ (क)

तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥ ३ ॥ (ख)

अनुवाद—सो यह तीन होने पर भी एक है । जो यह आत्मा है । आत्मा ही एक होने पर भी ये तीनों हैं । वह यह अमृत । सत्य से आच्छादित है । प्राणविशिष्ट आत्मा ही अमृत है । नाम और रूप सत्य है । उन दोनों से प्राण आच्छन्न है ॥ ३ ॥ (ख)

पदार्थ—(तत्+एतत्+त्रयम्) सो ये नाम रूप और कर्म्म (सत्) पृथक् २ तीन होने पर भी (एकम्) एक ही है । वह एक कौन है सो कहते हैं—(अयम्+आत्मा) यह जीवात्मा है । अर्थात् नाम, रूप और कर्म्म इन तीनों का अन्तर्भाव एक जीवात्मा में ही है अर्थात् जीवात्मा के रहने पर ही ये नाम, रूप कर्म्म भासित होते हैं । इस हेतु तीनों का एक ही जीवात्मा समझो । पुनः इसी को व्यत्यय से कहते हैं—(आत्मा+उ+एकः+सत्) आत्मा ही एक होता हुआ (एतत्+त्रयम्) ये तीनों हैं (एतद्+अमृतम्) यह जीवात्मा अमृत=आनन्दस्वरूप है । और (सत्येन+छन्नम्) सत्य से ढका हुआ है (प्राणः+वै+अमृतम्) प्राण (लिङ्गशरीर) सहित जीवात्मा ही अमृत है (नामरूपे+सत्यम्) नाम और रूप सत्य है (ताभ्याम्) उस नाम रूपात्मक सत्य से (अयम्+प्राणः) यह लिङ्गशरीरविशिष्ट जीवात्मा (छन्नः) आच्छन्न, आच्छादित है ॥ ३ ॥ (ख)

भाष्यम्—तदिति । इदं जगन्नामरूपकर्मभेदात्त्रिधेति व्यवस्थितम् । तदपि त्रयमेकस्मिन्नात्मनि उपसंह्रियते । यथा—तदेतन्नाम रूपं कर्मेति त्रयं सदपि । एकमेवास्तीति विज्ञेयम् । किं तदेकमित्याह—अयमात्मेति । आत्मनि जीवात्मन्येव त्रिकस्यान्तर्गतत्वात् । सत्येवात्मनि तत्त्रयं भासते । अतोऽनुमीयते । आत्मातिरिक्तं नान्यद्वस्त्विति । इदमेव व्यत्ययेनाह—आत्मो आत्मा+उ । आत्मैव । एकः सन् । एतत्त्रयं भवति । तदेतदमृतम् । सत्येन छन्नम् । स्वयमेवर्षिवाक्यं विवृणोति । प्राणो वा अमृतम् । अमृतशब्दवाच्यः प्राणः । प्राणविशिष्ट आत्मेत्यर्थः । नामरूपे सत्यम् । सत्यपदवाच्ये नामरूपे स्तः । ताभ्यां नामरूपाभ्याम् । अयं प्राणः प्राणविशिष्टजीवात्मा । छन्नो गुप्तोऽप्रकाशितः ॥ ३ ॥ (ख)

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति श्रीबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये शिवशङ्करकृते प्रथमाध्यायस्य भाष्यं समाप्तम् ॥

* ओ३म् *

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायारम्भः

उपासना-विचार आरभ्यते ॥

मनुष्यो वा आजन्म-वासरादेव कामयते किमपि ज्ञातुम् । यद्यपि अमना निरिन्द्रिय-श्चैव तिष्ठति कतिपयेषु दिवसेषु । चक्षुरादीनि करणानि कनीयांसि दुर्बलीयांसि च स्वविषयेषु । श्रोत्रेण स्वल्पं शृणोति । उच्चैराहूयमानोऽपि नाभिमुखीभवनाय चेष्टते । एवमेव सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिः प्रतीयते । न दृश्यते कोऽपि मनोव्यापारः । अतः समनस्केषु इन्द्रियेषु सत्स्वपि निरिन्द्रिय इव स भवति । तथापि प्रकृत्यैव चक्षुर्धावति सूतिकागृहस्थेषु वस्तुषु । पुनः क्षणेन ततोऽपसरति । क्षणं निमिषति । पुनरपि क्षणेन उन्मिषति न शक्नोति बोद्धुन्तु किमपि । किमपि लक्षीकृत्य रौति । ईषत्स्मयति । स्तन्यं पिपासति । ततः क्षणममनास्तिष्ठति । इत्थं यान्ति कतिपयानि दिवसानि शिशोः । भवति च पानादिषु जिज्ञासाऽस्यामपि दशायाम् । अतोऽस्यन्तःकरणे जिज्ञासेति प्रतीयते । ततः कियता अनेहसा समना इव परितो निरीक्षते । न बोद्धुं शक्नोति । नवं नवमेव सर्वमव-लोक्य नयनं विस्फारयति । न बोद्धुं शक्नोति । आदित्सया हस्तमुत्तोलयति । अप्राप्य आकुञ्चति । क्षणेन विस्मृत्य सर्वं क्रन्दति । हसति । पिपासति । किन्त्विदानीं जिज्ञासुरिव नूतने वस्तुनि चिरकालं नयनमासज्जते । शब्दे कर्णं ददाति । आकारमनुभवति । कियद्भिरेवाहोभिः परिचिनोति । प्रतिकूलात् बिभेति । अनुकूलेन हृष्यति मोदते, परन्तु न बोद्धुं शक्नोति । यतते तु बोधाय । यथा यथेन्द्रियाणि बलवन्ति जायन्ते तथा तथा सोऽपि ज्ञानेन विवर्धते । शिशुना सह यदा कोऽपि बहिर्गच्छति स कियद् दुनोति स्वसं-गिनम् । किमिदं किमिदमिति भूयो भूयो नूतनं नूतनं वस्तु प्राप्य पृच्छति । पृच्छाया न स कदापि विश्राम्यति । स पृच्छन्नेव याति । यदा प्रतिवचनं ददता पित्रादिना निवार्यते कुप्यते भर्त्स्यते । तदा कंचिदेव कालं तूष्णीमास्ते । आगते च कस्मिंश्चिन्नवीने अन्तः-करणेन कोपमगणय्य पुनः पृच्छत्येव । रात्रौ च मातुरुत्सङ्गमध्यास्य उपरि चन्द्रनक्षत्र-मण्डलमवलोक्य किमिदमिति पृच्छति । माता च यथास्वमतिं समादधाति । तदा स प्रसीदति । एतद्वा अन्तःकरणे महती जिज्ञासास्तीति सूचयति । यदि सावधानतया शिशुः शिक्षितः स्यात्तर्हि अचिरेणकालेन बहुज्ञः संपद्यते । यथा यथा सहेन्द्रियैर्विवर्धते तथा तथा सापि जिज्ञासा वर्धते परन्त्विदानीं समाजानुरूपा क्वचिद् बहुवर्धते क्वचित् क्षीयते ॥

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य जन्मदिन से ही कुछ जानना चाहता है। यद्यपि कुछ दिन तक मन और इन्द्रियों से रहित ही सा वह रहता है अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रिय बहुत छोटे और अपने विषय ग्रहण में दुर्बल रहते हैं। श्रोत्र से बहुत थोड़ा सुनता, उच्चस्वर से पुकारने पर भी वह अभिमुख होने के लिये चेष्टा नहीं करता। प्रायः ऐसी ही सब इन्द्रियों की गति रहती है। मन का व्यापार कोई नहीं दीखता मन सहित इन्द्रिय रहने पर भी वह शिशु एक प्रकार से निरिन्द्रिय ही है तथापि स्वभावानुसार ही इसकी आंख सूतिका गृहस्थ वस्तुओं के ऊपर दौड़ती फिर एक ही क्षण में वहां से हट जाती क्षणेक बन्द हो जाती। पुनः क्षण में खुल जाती परन्तु वह कुछ समझता नहीं। किसी वस्तु को लक्ष्य करके रोता हंसता है दूध पीना चाहता तब फिर क्षणमात्र अमनस्क रहता है। इस प्रकार कुछ दिन बीतते हैं। परन्तु इस अवस्था में जीव को दुग्धपानादिकों की जिज्ञासा बनी रहती है अन्तःकरण में जिज्ञासाशक्ति है यह प्रतीत होता है। इस प्रकार कुछ समय में मनवाला सा होकर चारों तरफ निहारता, परन्तु कुछ जान नहीं सकता। नव २ ही सब वस्तु को देख आंख फारता है परन्तु ज्ञान में असमर्थ रहता है। पदार्थों के ग्रहण करने की इच्छा से हाथ उठाता परन्तु न पाकर समेट लेता। क्षणमात्र में सब भूल के रोने लगता, हंसने लगता, पीने की इच्छा करता परन्तु इस अवस्था में जिज्ञासु के समान नूतन २ वस्तु के ऊपर देर तक आंख ठहराए रहता। शब्द के ऊपर कान धरता। आकार का अनुभव करता। इस प्रकार कुछ दिनों में सब वस्तु को पहिचानने लगता, प्रतिकूल वस्तु से डरता अनुकूल से हृष्ट और मुदित होता, परन्तु पदार्थ जान नहीं सकता। जानने के लिये प्रयत्न करता है। ज्यों २ इन्द्रिय प्रबल होते जाते त्यों त्यों वह ज्ञान में बढ़ता जाता। किसी बालक के साथ जब कोई बाहर निकलता तब वह अपने साथी को कितना दिक करता, नवीन २ वस्तु को देख "यह क्या यह क्या" ऐसा बारम्बार पूछता रहता। पूछने से वह कभी भी नहीं थकता। वह पूछता ही जायगा। जब उत्तर देते हुये पिता आदिक दिक होकर उसको निवारण करते, उस पर क्रोध करते, उसे डांटते तब वह कुछ देर चुप हो जाता। परन्तु पुनः कोई नवीन वस्तु आने पर अन्तःकरण से उस कोप को न गिनकर फिर पूछने लगता है। रात को माता की गोद में बैठकर ऊपर चन्द्रमा और नक्षत्र को देख यह क्या है, ऐसा पूछा करता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह व्यापार सूचित करता है कि अन्तःकरण में महती जिज्ञासा बनी हुई है यदि सावधानता से शिशु शिक्षित होवे तो थोड़े ही काल में वह बहुवेत्ता हो सकता है। ज्यों २ इन्द्रियों के साथ २ वह बढ़ता जाता है त्यों २ वह जिज्ञासा बढ़ती जाती है परन्तु अब वह जिज्ञासा समाज के सदृश होती। तदनुसार कहीं वह बहुत बढ़ जाती है कहीं बहुत कम हो जाती है।

अदृष्टे पारलौकिके विषये तु प्राप्ते पञ्चमे षष्ठे वा संवत्सरे यथा यथा पश्यति मातापितृप्रभृतीनामाचरणं तथैवानुसरति। वंश्यवत् कौतूहलेन पुपूजयिषति। आरिराधयिषति। दिध्यासति। पारायणमनुवर्त्तयते। स्नाति। आचामति। इत्थं सर्वमेवानुकरोति। किमिदं कथं कुर्वन्ति कथं करणीयमिति न वेत्ति। नचेदानीं सत्यासत्यं निर्णेतुं मनस्येव किमपि विस्फूर्यते। आपत्तावापतन्त्यां वंश्या यथा ईश्वरमीश्वरमुच्चारयन्ति। अनुतिष्ठन्ति। जपन्ति। पूजयन्ति। याचन्ते। प्रार्थयन्ते। तथैव सर्वं सोऽपि विदधाति। परं न विचारयति। अनुकरोत्येव भोजनादिकृत्यानीव आमुष्मिकान्यपि कर्माणि। परन्त्विदानीमिदं ज्ञातुमारभते—मातापितृभ्रातृप्रभृतिभ्यः कश्चिदन्योऽपि रक्षितास्तीति कुलदेवतायामन्यस्यामपि वा ततोऽप्यधिकयत्नायां देवतायामनुरक्तो भवति।

पञ्चम वा षष्ठ वत्सर प्राप्त होने पर माता पिता आदिकों का जैसा २ आचरण देखता है वैसा ही अनुसरण करता है, उसके गोत्र वाले जैसा करते हैं वैसा ही वह पूजा, आराधना और ध्यान चाहता है। तदनुसार ही पारायण करने को बैठता, स्नान करता, आचमन करता इस प्रकार अनुकरण करता रहता है। परन्तु यह क्या है, क्यों करते हैं, क्यों करना चाहिये इत्यादि नहीं जानता। और न अभी सत्यासत्य के निर्णय करने के लिये मन में ही कुछ स्फुरण होता, आपत्ति आने पर गोत्र वाले जैसा "ईश्वर, ईश्वर" उच्चारण, अनुष्ठान, जप, पूजा, याचना, प्रार्थना करते हैं। वैसा ही वह भी सब कुछ करता रहता है। परन्तु अब तक भी विचारता नहीं, भोजनादि कृत्य के समान पारलौकिक कर्मों का भी अनुकरण ही करता रहता। परन्तु इस समय में इतना जानने लगता है कि माता पिता भ्राता आदिकों के अतिरिक्त अन्य भी मेरा कोई रक्षक है यह समझ कुल-देवता में अथवा अन्य किसी प्रबल देवता में अनुराग करने लगता।

प्रथमं बाहुल्येनापत्तिरेव जनमीश्वरमभिनयति। स शयने रुग्णस्तिष्ठति। ज्वर-ज्वालायां दंदह्यते। परितो बान्धवा उपासते। भैषज्यं ददति। शान्तिकरवचनैः सान्त्वयन्ति। परं न स शाम्यति। क्रूरेण रोगेण बाधितो न किञ्चिदपि विश्रामं लभते। अत्र प्रतीकारे सर्वानक्षमान्निरीक्ष्य उदास्ते। तत ईश्वरमुपधावति। जानाति च नैते मां परित उपासीना विशल्यं कर्तुं क्षमन्त इति। अन्यच्च—महता रंहसा नादेन च सह वज्रमाकाशात्पतन्तं घातुकं भयङ्करं निरीक्ष्य स्वादृशैर्जन्तुभिररक्ष्यमाणमात्मानं विदित्वा किमपि वाङ्मनसाभ्यामगोचरं रक्षित्रमनुसन्धाय त्राहि त्राहीति उच्चैः शब्दयति। काले काले च जीवान्तकं दैवं कोपं महादुर्भिक्षजनकमवर्षणं महामारिं वा दृशं दृशं मोहं प्राप्य प्राप्य "पाहि-पाहीति" किमपि महोऽनुलक्षीकृत्य घोषयति। इत्थमापत्तिरेव प्रथममीश्वराभिमुखीकरणे कारणं विज्ञायते। ततो ज्ञानम्। ततो बाह्यमागच्छति। आचार्येण स्ववयस्यैः कविभिरज्ञैरुच्चावचैर्मनुष्यैश्च संगच्छते। कुशलश्चेन्नाना पश्यति, नाना शृणोति, नानानुभवति। नाना वितर्कते। परितो बहूनुपास्यान् पश्यति। कुलरीतिमर्यादापुरःसरं सर्वान् मानयति। नमस्यति। सपर्यति। विचारचक्षुश्चेत् संशेते। स्वभवने स्थापितां मूर्तिमभाषमाणां स्थाणुवत् स्थिताम् अस्मादृशैरेव निर्मितां पालितां भोजनादिक्रियाभिरुपचर्यमाणां स्वयमशक्तां दृष्ट्वा "स्वयमशक्ता कथमन्यान् रक्षिष्यति" इति संशय्य तिरस्करोति। ततोऽन्यां बलीयसीं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरविशशिग्रहनक्षत्रगिरिनदीवृक्षगजसिंहाद्यात्मिकां देवतामनुधावति। कदाचित् स्वस्वतेजोभिराढ्यमसंख्यैर्गुणैर्बुधाऽबुधजनमनांसि स्वाभिमुखीकुर्वन्तीं देदीप्यमानां महतीं काञ्चिद्देवतां स्ववंश्यैरितरैश्च पूज्यमानां सहस्रशः स्तवस्तोत्रपाठैः स्तूयमानाञ्च दृष्ट्वा पूज्येयम्वा अपूज्येति न झटिति निश्चिनोति। ततः प्रेक्षावान् स परीक्षको भूत्वा तु स्वधर्मपुस्तकानि प्रतिगच्छति। प्रथमं तावच्छतशोऽधर्मपुस्तकानि धर्मपुस्तकानि मन्यन्ते जनैः। कानिचित्सन्ति तु धर्मपुस्तकानि व्याख्याकृतां स्वाहङ्कारैः स्वमनोरथैराच्छादितानि च स्वात्मानं न प्रकाशयन्ति जिज्ञासुभ्यः। न सूर्यादीनां चेतनत्वम्। चेतनाः खलु स्वातंत्र्येण स्थानात्स्थानं गच्छन्ति। क्षुद्रापि चेतनावती पिपीलिका स्वतन्त्रा सती यथाकामं विहर्तुं शक्नोति। परन्तु नैते सूर्यादयः। अत एते अचेतना एव। न ते विश्राम्यन्ति न क्लाम्यन्ति न स्वस्थानं त्यक्तुं मनुष्यादिवत् शक्नुवन्ति। अतोऽचेतना एवेमे सूर्यादयो जगन्नियोगमनुष्ठातुं सृष्टाः। अचेतनानि तु

गृहादीनि सदैव कार्योचितानि कर्त्तुं यथास्थानं स्थापयितुं च कोऽपि यथा चेतनो भवति तथैव महान्तमचेतनं जगत्समूहं नियन्तुं कयाऽपि चेतनया शक्तया भवितव्यम्। तदेव ब्रह्म स एव सर्वेश्वरः स एव सर्वाधिपतिः स एव स्तुत्यः पूज्य उपास्यश्च। न तस्यापि कोऽपि शासक इत्यध्यवसेयम्। कुतः। तर्हि तस्यापि कोऽपि शासकस्तस्यापि तस्यापि इत्यनवस्थापरम्परया कुत्रापि निरतिशये पुरुषेऽवश्यमेव स्थेयम्। यत्रैव निरतिशयत्वम् तदेव ब्रह्मेति निश्चीयते ॥

इसमें सन्देह नहीं कि बहुधा करके प्रथम आपत्ति ही मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाती है। जब रुग्ण हो शय्या के ऊपर पड़ा है और ज्वरज्वाला से दग्ध होता रहता बान्धव चारों तरफ बैठे रहते। दवाई देते, शान्तिप्रद वचनों से सांत्वना करते। परन्तु वह शान्त नहीं होता कठोर रोग से बाधित हो वह किञ्चित् भी विश्राम नहीं पाता। यहां प्रतीकार में सब को असमर्थ देख उदासीन हो जाता तब ईश्वर की ओर दौड़ता और जानलेता कि ये मेरे चारों ओर बैठे हुए पुरुष मुझको दुःखरहित नहीं कर सकते। और भी बड़े वेग और नाद के साथ आकाश से गिरते हुए घातुक और भयङ्कर वज्र को देख अपने समान जन्तुओं से आत्मरक्षा न जान किसी वाणी, मन से अगम्य रक्षक को अनुसन्धान करके उच्च स्वर से 'त्राहि त्राहि" करने लगता है। और भी समय २ पर जीवों का नाश करनेहारा महादुर्भिक्षजनक अवर्षणरूप महादैव कोप को देख २ मोह को पाकर किसी अचिन्त्य तेज को लक्ष्य करके "पाहि पाहि" चिल्लाने लगता है। इस प्रकार आपत्ति ही प्रथम ईश्वर के अभिमुख करने में कारण होती ऐसा विदित होता है। तब ज्ञान इसको दिखलाते हैं। जब वह बाह्य-जगत् में आवागमन करता। आचार्य निज साथी विद्वान् मूर्ख सब प्रकार के छोटे बड़े मनुष्यों से संग करता, यदि वह कुछ कुशल रहता है तो नाना वस्तुओं को देखता, सुनता, अनुभव करता, तर्क करना आरम्भ करता, चारों ओर बहुत उपास्य देवों को देखता, कुल की रीति मर्यादा के अनुसार सबों को मानता नमस्कार करता पूजता यदि वह विचार करने में निपुण रहता है तो संशय करना आरम्भ करता है। निज भवन में स्थापित मूर्त्ति को न बोलती हुई और स्तम्भ के समान स्थित देख तर्क करने लगता है कि यह मूर्त्ति हम ही लोगों के सदृश आदमियों से निर्मित हुई है, पाली जाती है, भोजनादिक क्रियाओं से सेव्यमान है और यह स्वयं अशक्त है "जो स्वयं अशक्त है वह दूसरों की रक्षा क्या करेगा" इस प्रकार उसमें संशय कर उस मूर्त्ति को तिरस्कार करना आरम्भ करता है। तब इससे भी बलिष्ठ समर्थ, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, गिरि, नदी, वृक्ष, गज, सिंहादिरूप देवता की ओर दौड़ता है, कभी अपने २ तेजों से पूर्ण और असंख्य गुणों से ज्ञानी अज्ञानी दोनों के मन को अपनी ओर करती हुई देदीप्यमान महती अन्यान्य देवता को अपने वंशज और अन्यों से पूजती हुई सहस्रशः स्तव, स्तोत्र, पाठादियों से स्तूयमाना होती हुई देखकर "यह पूज्य व अपूज्य है" यह झट से निश्चय नहीं करता। परन्तु प्रेक्षावान् वह जिज्ञासु परीक्षक होके स्वधर्म पुस्तक की ओर जाता है, परन्तु यह स्मरणीय बात है कि प्रथम तो हज़ारों अधर्मपुस्तक धर्मपुस्तक नाम से प्रसिद्ध हैं। जो कुछ धर्म-पुस्तक हैं तो भी वे व्याख्याकारों के अहङ्कारों से और मनोरथों से आच्छादित हैं। इस हेतु वे जिज्ञासुओं के लिये अपने आत्मा को प्रकाशित नहीं करतीं। सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि पदार्थ चेतन नहीं हैं क्योंकि चेतन पदार्थ इच्छानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान जाते आते रहते हैं। क्षुद्र चेतन भी पिपीलिका स्वतन्त्र है और स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार विहार कर सकता परन्तु सूर्यादिक पदार्थ नहीं इस हेतु वे चेतन नहीं हैं। अचेतन ही न तो विश्राम लेते और न थकते और न

बिना चेतनक्रिया के मनुष्यादिक के समान एक स्थान से दूसरे स्थान में जा सकते हैं। इस हेतु अचेतन ये सूर्यादि जगत्कार्यों के निर्वाहार्थ सृष्ट हुए हैं। परन्तु जैसे अचेतन गृहादिकों को सदैव कार्योचित रखने के लिये कोई चेतन रहता। वैसा ही महान् अचेतन जगत्समूह को नियत करने के लिये कोई महती चेतनाशक्ति होनी चाहिये, जो महती शक्ति है वही ब्रह्म, वही सर्वेश्वर, वही सर्वाधिपति, वही स्तुत्य, पूज्य, उपास्य है। उसका भी कोई शासक है ऐसा विचार करना उचित नहीं क्योंकि तब उसका भी कोई शासक होना चाहिये। फिर उसकी भी इस प्रकार अनवस्था होगी। इस हेतु परम्परा से किसी निरतिशय पुरुष में अवश्यमेव ठहरना होगा। जहां ही निरतिशय है वह ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करना चाहिये।

अथ केचिद्वेदान्तिब्रुवा ब्रुवन्ति। कुक्कुरोऽपि ब्रह्मास्ति। आखुरपि ब्रह्मास्ति। सिंहः शृगालश्चापि। अग्निर्जलं चापि। मसूरिकाऽपि ब्रह्मास्ति। तया सुपुष्टः शवरदेहोऽपि ब्रह्मास्ति। पुस्तकमपि। तथा तेन कृतबुद्धिः श्रोत्रियोऽपि ब्रह्मास्ति। प्रकाशकप्रकाश्यौ प्रदीपघटावपि। एवं ब्रह्मैव खाद्यं खादकश्च। भोज्यं भोक्तृ च द्रष्टृ दृश्यञ्च। स्त्री पुरुषश्च। जीवोऽपि ब्रह्म। यत्र जीवो वसति स देहोऽपि ब्रह्म। येन दुःखमनुभवति स रोगादिरपि ब्रह्म। येन सुखमनुभवति तद्वित्तादिकमपि ब्रह्म। अहो कथमिदं सम्पत्स्यते। ते च जल्पन्ति। ब्रह्म शुद्धं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं शान्तं विभु नामरूपाऽऽधारकमित्येवंगुणकं वर्तते। तद्वै किमपि न करोति। न सृजति। न रक्षति। न नाशयति। किन्तु एका कापि ब्रह्मणोऽपि बलीयसी अनिर्वचनीया मायानाम्नी स्त्री कुतोऽप्यागत्य ब्रह्मणि आक्रामति। या ब्रह्मण्यप्याक्रामति तयावश्यमेव बलीयस्या भवितव्यम्। माया आक्रामति सा कथन्न ब्रह्मणोबलीयसी भवेत्।

यहां पर कई अधम वेदान्ती कहते हैं कि कुत्ता भी ब्रह्म, मूषक भी ब्रह्म, सिंह शृगाल भी, अग्नि जल भी, मसूरिका भी ब्रह्म है और उससे सुपुष्ट शबर का देह भी ब्रह्म है, पुस्तक भी ब्रह्म और उससे कृतबुद्धि श्रोत्रिय भी ब्रह्म, प्रकाशक और प्रकाश्य जो प्रदीप और घट ये दोनों ही ब्रह्म हैं, इस प्रकार खाद्य खादक, भोग भोक्ता, द्रष्टा दृश्य, स्त्री पुरुष सब ब्रह्म है। जीव भी ब्रह्म है और जीव जिस शरीर में रहता है वह भी ब्रह्म है, जिससे वह दुःख पाता है वह रोगादि भी ब्रह्म और जिससे सुख पाता है वह वित्तादिक भी ब्रह्म। आश्चर्य की बात है। यह कैसे हो सकता है ये लोग बकते हैं कि ब्रह्म शुद्ध नित्य निष्क्रिय निर्गुण शान्त विभु नामरूपाधार इत्यादि गुणस्वरूप है। निश्चय वह कुछ नहीं करता न सृष्टि करता, न रक्षा, न नाश। किन्तु एक कोई माया नाम वाली स्त्री जो ब्रह्म से भी बलिष्ठ और अनिर्वचनीया है वह कहीं से आकर ब्रह्म के ऊपर आक्रमण (चढ़ाई) करती है। जो ब्रह्म से भी बली होगी वह तो ब्रह्म के ऊपर आक्रमण करेगी। माया उसके ऊपर आक्रमण करती इस हेतु माया ब्रह्म से भी अधिक बलवती है यह अनुमान होता है॥

तदा ब्रह्म भीतं भवति। झटित्येव श्येनो वर्तिकामिव भीतं तद्ब्रह्माक्रम्य तस्योपरि सोपविशति आच्छाद्य स्वायत्तीकरोति तदा भीतं सत्तदेव ब्रह्मस्वरूपं विस्मृत्य रङ्कः पुरुष इव ईश्वरो भूत्वा तया सह क्रीडति। स एव ईश्वरः रज्जुसर्पवद् विवर्तते। तदिदं सर्वं विवर्त एव। स एव ईश्वरः सूर्यत्वेन चन्द्रत्वेन श्येनत्वेन पिपीलिकात्वेन अश्वत्वेन

पानीयत्वेन जीवत्वेन इत्थं दृष्टादृष्टसर्वत्वेन च विवर्तते। सर्वो विवर्तएव अहो वैमत्यं वेदान्तिब्रुवाणाम्। सा माया कुतः समायाता। इतः परं कासीत् यया ब्रह्म बध्वा ईश्वर-वनपर्वतमक्षिकाप्रभृतीकृतमिति पृच्छ्यमानास्ते किमपि न ब्रुवन्ति। वाचा न किमपि कथयितुं शक्नुम इति साधीयसीमात्मरक्षित्रीं परिपाटीं स्वीकृतवन्तः। यदि एतेषां सिद्धान्तात् माया दूरमपसार्येत। न कथमपि म सिद्धान्तः स्थापितो भवेत्। यद्द्वैतभया-ज्जीवो वा प्रकृतिर्वा भिन्नत्वेन न तैः स्वीकृता। तदेव द्वैतमनादिमायां मन्वानामेतेषां मस्तकं प्राविशत्।

तब शुद्ध ब्रह्म डर जाता है इसमें सन्देह नहीं कि जो दबाया जायगा वह अवश्य डरेगा। चूंकि माया इसको दबाती है इस हेतु ब्रह्म अवश्य डर जाता है ऐसा प्रतीत होता है तब जैसे श्येन पक्षी वर्त्तिका को वैसे ही वह माया झट से उस ब्रह्म को आक्रमण करके उसके ऊपर बैठ जाती है। और ढांककर उसको अपने वश में कर लेती है। तब डरता हुआ वही ब्रह्म अपने रूप को भूल रागी पुरुष के समान ईश्वर बन उसके साथ क्रीडा करता है। वही ईश्वर माया के साथ रज्जुसर्पवत् विवर्तित* होता है। यह सब ही विवर्त है वही ईश्वर सूर्य चन्द्र श्येन पिपीलिका अन्न पानी जीव आदि दृष्ट वा अदृष्ट जितने पदार्थ हैं सब ही मालूम होता है। परन्तु यथार्थ में यह सब कुछ नहीं है वेदान्तियों की यह कैसी दुर्मति है। यदि उनसे पूछो कि वह माया कहां से आई इसके पहले कहां रहती थी। जिसने ब्रह्म को बांधकर ईश्वर, वन, पर्वत, मक्षिका, तन्तु आदि बना दिया। इसके उत्तर के लिये एक अच्छी परिपाटी आत्मरक्षा करनेहारी निकाली है कि वह माया अनिर्वचनीया अर्थात् कहने योग्य नहीं है। यदि इनके सिद्धान्त से माया दूर करदी जाय तो इनका सिद्धान्त कभी स्थापित नहीं हो सकता, जिस द्वैत के भय से इन्होंने जीव वा प्रकृति को पृथक् स्वीकार नहीं किया वही द्वैत इनके शिर पर सवार होगया।

अस्य सिद्धान्तस्य मिथ्याभूता मायैव मूलम्। यस्य मूलमेव मिथ्या। तस्य कुतः सिद्धान्तो वा मतस्था सम्प्रदायो वाग्रे तथ्यो भवितुमर्हति। यथा मिथ्याकल्पनयाऽऽकाशे एका नवीना सृष्टिर्विरच्यताम्। सप्तमेन ऐडवर्डाख्येनेव तस्या राज्ञापि भूयताम्। प्रजासु निग्रहानुग्रहौ क्रियेताम्। किमेनया कल्पनया प्रेक्षावाँस्त्वं कदाचिदपि सुखी भविष्यसि। तथैव आधुनिकानां वेदान्तकल्पनास्तीति मन्यताम्। यो ह वै चेतनाऽचेतनविवेकात्त-मोऽनधीतसृष्टिविद्यस्तर्कविवेकादृष्टब्रह्मविभूतिरशुश्रूषितब्रह्मिष्ठचरणोऽमन्ताबोद्धाऽकृतमतिः शिशुरिवानवहितो मद्यप इवापगतचेष्टो जगति भारभूतो मनुष्योऽस्ति। एवं येन अधीतापि स्वल्पीयसी स्वविद्या न तु सम्यग् विचारिता यस्य शैशवात्प्रभृति विविधकुसंस्कारैर्बुद्धिः मलिनीकृतास्ति। यो हि लोकगतिकानुगतिकोऽस्ति। यो हि कोऽहं कोन्वात्मा किं ब्रह्म कश्चधर्मः किमनुष्ठेयं किमननुष्ठेयमित्यादिकम् अजनं स्थानमध्यास्य निश्चिन्तेनैकाग्रेण मनसा न कदापि मीमांसितवान्। स यत्किमपि पश्यति यत्किमपि शृणोति यत्किमपि लिपिनिबद्धं पठति यत्किमपि मनुष्याणां कुर्वतां निरीक्षते तदेवानुकरोति। ईदृक् पुरुषः पशुमपि पिपीलिकामपि घासमपि तृणमपि काष्ठमपि स्तम्बमपि "एतत्सर्वं दुःखसागरा-

---

* जैसे रज्जु में सर्प भासित होता है यथार्थ में सर्प वहां नहीं है वैसे ही ब्रह्म में ही जगत् भासता है परन्तु सर्पवत् जगत् कोई वस्तु नहीं। इसी का नाम विवर्त है। जो विवर्त को प्राप्त हो उसे विवर्तित कहते हैं॥

दुद्धरिष्यति सेवितमिति बुद्धया" ग्रहोव पूजयति। यस्तु कश्चिदधिकः स खलु कुलधर्मं ग्रामधर्मं देशधर्ममनुतिष्ठति साभिमानं सादरं तत्तद्विधिपूर्वकञ्च। कुलग्रामदेशधर्माः शिक्षन्ते तावन्नागपञ्चम्यां विषधरोऽपि पूज्यः पूजितः सन्नायं दशति हस्तार्के खञ्जरीटदर्शन-पूजनाभिवादनादिभिः सुखिनो भवन्ति। गृहस्यैकस्मिन् कोणे समचतुष्कोणं वस्त्रं गृहच्छदावलम्ब्य परम्परागतकुलदेवः कोऽपि मृतपुरुषोऽहरहरुपासनीयः। ग्रामस्य बहिर्देशस्थे कस्मिंश्चिदश्वत्थे वा वटे वा उदुम्बरे वा वंशे वा कर्कन्धौ वा पादपे वा स भूतं भूत्वा तिष्ठति। स सर्वाभ्य आपद्भ्यो ग्रामं सुरक्षति। अतः स विधिना पूजनीयः। ब्राह्मणभोजनाद्यनुष्ठानैस्तर्पणीयः। अमुकस्मिन् ग्रामे साक्षात् लिंगरूपेण श्रीमहादेवस्तिष्ठति। तत्र महाकाली वर्तते। सा पशुभिः प्रीता वरं प्रयच्छति तस्यै छागादयो बलयो दातव्याः। तत्र कङ्काली रुधिरेण प्रसीदति। इत्येवंविधा अतिनिकृष्टा अपि पैशाचा अपि कुलग्राम-देशधर्मा अनुष्ठीयन्ते मूढमतिभिरविवेकैरपुच्छशृङ्गैर्नरपशुभिः। अहो न कदापि ते स्वीयां बुद्धिमुपधावन्ति। न चालयन्ति न पृच्छन्ति। ततोऽपि केचिदधिकाः सूर्यादीनां शक्तिभिर्विमोहिताः सन्त इमानेव ब्रह्म जानन्तः पूजयन्ति। एते सर्वे मूढा मन्दमतयोऽवि-वेकिन एवेति स्वयमेवोपनिषद्दर्शयिष्यत्यस्मिन्नध्याये॥

इस सिद्धान्त का मिथ्याभूत माया ही मूल कारण है। जिसका मूल ही मिथ्या है उसका सिद्धान्त वा मत वा सम्प्रदाय आगे कैसे सत्य हो सकता है। जैसे मिथ्या कल्पना से आकाश में एक नवीन सृष्टि रचो और सप्तम एडवर्ड के समान उसका राजा भी तुम बन जाओ। प्रजाओं पर निग्रह अनुग्रह भी करने लगो। इस प्रकार राज्य का सब व्यवहार करो। क्या इस कल्पना से प्रेक्षावान् तुम कदापि सुखी हो सकते हो? ऐसी ही आधुनिक वेदान्तियों की कल्पना है। ऐसा समझो जो आदमी चेतन और अचेतन के विवेक करने में असमर्थ है। जिसने सृष्टिविद्याओं का अध्ययन नहीं किया है। जिसने तर्क और विवेक से ब्रह्मविभूति नहीं देखी है। जिसने ब्रह्मवादियों के चरणों की शुश्रूषा नहीं की है जो अमन्ता, अबोद्धा, अकृतमति, शिशु के समान अनवहित, मद्यप के समान चेष्टारहित, जगत् में भारभूत मनुष्य है। और वैसा ही जिसने थोड़ी सी अपनी विद्या सीखी हैं परन्तु उस विद्या का अच्छी तरह से विचार नहीं किया। जिसकी बाल्यावस्था से ही विविध कुसंस्कारों से बुद्धि मलीन की गई है। जो लोकानुसार चलने हारा है। और जिसने "मैं कौन हूं, आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है, धर्म कौन है, क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये" इत्यादि बातों को एकान्त स्थान में बैठकर निश्चिन्त हो एकाग्र मन से नहीं विचारा है। वैसा आदमी जो कुछ देखता, जो कुछ सुनता, जो कुछ लिपिनिबद्ध पढ़ता, जो कुछ मनुष्यों को करते हुए देखता। वैसा ही अनुकरण करता है वह अपनी बुद्धि से कुछ भी काम नहीं लेता। वैसा पुरुष पशु को भी, पिपीलिका को भी, घास पात को भी, तृण काष्ठ को भी, स्तम्भ को भी पूजता है। और जो इससे किञ्चित् अधिक बुद्धिमान् है। वह बड़े अभिमान के साथ आदर और उस २ विधि के अनुसार कुल, ग्राम और देशधर्म का अनुष्ठान करता। परन्तु इसको कुल ग्राम और देश धर्म क्या सिखलाते हैं—नागपञ्चमी में सर्प भी पूज्य है क्योंकि वह पूजित होने से नहीं काटेगा। हस्तार्क में खञ्जरीट के दर्शन, पूजन, अभिवादन आदि से सुखी होते हैं। गृह के किसी एक कोने में सम चतुष्कोण वस्त्र घर के छप्पर में टांगकर कोई मृत कुलदेव पुरुष प्रतिदिन उपासनीय है ग्राम के बहिर्देशस्थ किसी अश्वत्थ वा वट वा उदुम्बर वा वंश वा बेर वृक्ष के ऊपर वह अमुकनामा पुरुष भूत होकर रहता है। वह सब आपत्ति से ग्राम की रक्षा करता है। इस हेतु वह विधिपूर्वक पूज्य

है। ब्राह्मणभोजनादिक अनुष्ठान से वह प्रसन्न करने योग्य है अमुक ग्राम में साक्षात् लिङ्गरूप से श्रीमहादेव रहते हैं और वहां काली है। वह पशुओं से प्रसन्न होकर वर देती है। उसे छागादि बलि देना चाहिये। उस ग्राम में कंकाली देवी रुधिर से प्रसन्न होती है इस प्रकार से अति निकृष्ट पैशाच कुलग्राम देशधर्मों को मूढमति अविवेकी पुच्छशृङ्गरहित नरपशु लोग मानते हैं। आश्चर्य की बात है कि ये लोग अपनी बुद्धि के निकट कभी भी नहीं जाते। न उसे चलाते न उसको पूछते हैं और न उससे कोई काम लेते हैं। जो अधिक बुद्धिमान् होते हैं वे सूर्य्यादिक की शक्ति से विमोहित हो इनको ही ब्रह्म जानते हुए पूजते मानते हैं, किन्तु ये सब ही मूढ, मन्दमति, अविवेकी ही हैं स्वयं उपनिषद् इस विषय को इस अध्याय में दिखलावेगी ॥

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् * ॥

दृप्तबालाकिर्हानूचानोगार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति + ॥ १ ॥

---

* शतपथ ब्राह्मण चतुर्दशाध्याय के चतुर्थ प्रपाठक से इस आख्यायिका का आरम्भ होता है, शतपथ में माध्यन्दिन शाखानुसार पाठ है और उपनिषद् में काण्व शाखानुसार। परन्तु दोनों में कहीं २ किञ्चित् ही पाठभेद है ॥

+ यह आख्यायिका कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में भी आई है पाठ में किञ्चित् भेद हैं। दोनों आख्यायिकाओं से लोग लाभ उठावें इस हेतु कौषीतकि के पाठ को भी अर्थसहित लिखता जाऊंगा "अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस सोऽवसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमाव्रज्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्म इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति ॥ १ ॥" (अथ+ह+वै) किसी एक समय की बात है कि (गार्ग्यः+बालाकिः) गर्गगोत्रीय "बालाकि" नामक एक (संस्पष्ट) प्रसिद्ध (अनूचानः) वेदपाठी (आस) हुए (सः) वे बालाकि (उशीनरेषु) "उशीनर" नाम के देश में (अवसत्) वास करते थे और अपनी कीर्त्तिस्थापनार्थ वे (मत्स्येषु) "मत्स्य" नाम के देश में (कुरुपञ्चालेषु) "कुरुपञ्चाल" देश में और (काशिविदेहेषु+इति) "काशी" देश और "विदेह=मिथिला" देश में भी (सः+वसन्) वास करते हुए विचरण करते रहे इसी अपनी यात्रा में (सः) वे बालाकि (अजातशत्रुम्+काश्यम्+ह) काशी देशाधिप प्रसिद्ध अजातशत्रु नाम के राजा के निकट (आव्रज्य) आकर (उवाच) बोले क्या बोले सो आगे कहते हैं—हे अजातशत्रु! यदि आपकी अनुमति हो तो (ते) आप से (ब्रह्म) ब्रह्मविषयक ज्ञान का (ब्रवाणि+इति) उपदेश करूं (तं+ह+अजातशत्रुः+उवाच) यह वचन सुन प्रसन्न हो अजातशत्रुः उनसे बोले कि (एतस्याम्+वाचि) इस वचन के निमित्त (सहस्रम्+दद्मः) एकसहस्र गायें देता हूं। हे बालाकि! आश्चर्य की बात है कि यद्यपि मैं ब्रह्मज्ञान के लिये बहुत दान देनेहारा हूं तथापि मेरे निकट न आकर के (जनकः+जनक+इति) जनक जनक ऐसा कहकर (वै+उ) वे प्रसिद्ध जिज्ञासु (धावन्ति+इति) जन के निकट दौड़ते हैं अर्थात् मिथिलेश्वर जनक महाराज ही दाता और ब्रह्मज्ञानी हैं ऐसा मान सब कोई मिथिला देश की ओर दौड़ रहे हैं। मेरे निकट कोई नहीं आये ॥

अनुवाद—(किसी समय और स्थान में) गर्गगोत्रोत्पन्न "दृप्तबालाकि" नाम के अनूचान (वेदप्रवक्ता) रहते थे वे काशीदेशाधिपति "अजातशत्रु" नाम के राजा से बोले कि यदि आपकी संमति हो तो आप को ब्रह्म बतलाऊं तब उस "अजातशत्रु" ने कहा कि इस वचन के निमित्त सहस्र गायें देता हूं । क्योंकि "जनक जनक" ऐसा कहकर लोग दौड़ रहे हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—(ह) यह इतिहाससूचक शब्द है । यहां पर एक इतिहास अब कहते हैं । किसी समय और किसी देश में (गार्ग्यः) गर्गगोत्र के (दृप्तबालाकिः) दृप्तबालाकि नामक (अनूचानः) वेदवक्ता (आस) रहते थे (सः+ह) वे (काश्यम्) काशी देशाधिपति (अजातशत्रुम्) अजातशत्रु नाम के राजा से (उवाच) बोले कि (ते) आप से (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान का वा ब्रह्म की उपासना का (ब्रवाणि+इति) उपदेश करूं । इस वाणी को सुन (सः+ह) वे प्रसिद्ध (अजातशत्रुः) अजातशत्रु (उवाच) बोले कि (एतस्याम्+वाचि) इस वचन के निमित्त (सहस्रम्) एक सहस्र गायें (दद्मः) देते हैं क्योंकि (जनकः+जनकः+इति) जगत् में मिथिलादेशाधिप जनक महाराज ही हम लोगों के पिता अर्थात् दाता पालक बोद्धा जिज्ञासु जो कुछ हैं सो जनक ही हैं ऐसा मानकर उनके ही निकट (वै) निश्चय करके (जनाः) सब मनुष्य (धावन्ति) दौड़ रहे हैं (इति) इस हेतु आप को मैं सहस्र गौ देता हूं कि मेरे निकट भी ब्रह्मवादी लोग आवें मुझे भी ब्रह्मोपदेश का अधिकारी समझें ॥ १ ॥

भाष्यम्—दृप्तबालाकिरिति । इतिहाससूचको हकारः किलार्थेऽस्य भूयांसः प्रयोगाः । तेनात्र प्रसिद्धाऽऽख्यायिका आरभ्यत इति द्योतयति । तथाहि—कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे अनूचान आचार्यं वदन्तमनु पश्चाद् ब्रवीति यः सोऽनूचानः । अधीतवेदो वेदप्रवक्तेत्यर्थः । यद्वा वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः । "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" ३ । २ । १०९ ॥ इति निपातः । गार्ग्यो गर्गस्य गोत्रापत्यं गर्गगोत्रियः । दृप्तबालाकिर्दृप्तबालाकिनामा कोऽपि पुरुषः । आस बभूव । बालाकाया अपत्यं बालाकिः "बाह्वादिभ्यश्च" ४ । १ । ९६ ॥ इतीञ् प्रत्ययः यद्वा बलाकस्यापत्यं बालाकिः । "अत इञ्" ४ । १ । ९५ ॥ दृप्तो गर्वितः "दृप हर्षमोहनयोः । मोहनं गवः" दृप्तश्चासौ बालाकिर्दृप्तबालाकिः । अत्र बालाकिगार्ग्यशब्दौ निन्दाद्योतकौ तथाहि बलाका बकजातिः तस्या अपत्यम् । विहङ्गस्यापत्यं न तु मनुष्यस्येति निन्दा । यथा विहङ्गो ज्ञानं वक्तुमसमर्थस्तथैवायमित्यर्थः । अतो वृथैव गर्वितः । पुनः "पुनश्च कुत्सायां गोत्रसंज्ञेति वाच्यम्" इत्यनेन गार्ग्य इत्यत्र संभवति च कुत्सा । सह बालाकिः कदाचित्परिभ्राम्यन् काशिदेशाधिपं प्राप । प्राप्य च सह काश्यमजातशत्रुं "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युवाच "काशिदेशस्याधिपतिः काश्यस्तम् । न जात उत्पन्नः शत्रुर्यस्येत्यजातशत्रुः" हे अजातशत्रो राजन् ! यदि भवतोऽनुज्ञा स्यात्तर्हि । ते तुभ्यम् । ब्रह्म विज्ञानं ब्रह्मोपासनम्वा अग्रे तथैव दर्शनात् । ब्रवाणि वदानि । इति गार्ग्यवचनं श्रुत्वा । सह प्रसिद्धोऽजातशत्रुस्तं बालाकिमुवाच । हे भगवन् मुने ! एतस्यां वाचि "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इति यदुक्तं भगवता तद्वचननिमित्तम् । [न तु ब्रह्मज्ञानोपदेशार्थम् । यतो न ब्रह्मवादी ब्रह्मविज्ञानं विक्रीणाति । सहस्रं गवामिति शेषः । गवां सहस्रम् दद्मः समर्पयामस्तुभ्यम् । कथं सहस्रं गवां त्वमश्रुत्वैवोपदेशं मह्यं ददासि ? हे अनूचान ! यतः । सर्वे वै प्रसिद्धा ब्रह्मवादिनो जनाः "जनको जनक" इति धावन्ति । इति हेतोः । मिथिलेश्वरो जनकोनाम राजैवाऽऽस्माकं जनकः पिता दाता पालको बोद्धेति मत्वा यस्मात्कारणात् जनकं प्रति जना धावन्ति । हे बालाके ! अहमपि दातास्मि ब्रह्मजिज्ञासुरस्मि आदरयितास्मि ।

तथापि मम सन्निधिं कोऽपि नागच्छति। भवानेवैकाकी कुतोऽपि समायातः। ब्रह्मचोपदेष्टुं मह्यं कथयसि। अत ईदृशे भगवते वचननिमित्तमेव गवां सहस्रं ददामि यदा तु ब्रह्म विज्ञापयिष्यसि तदाहन्तु एभी राज्योप्रकरणैः सार्धं दासो भविष्यामीति ध्वन्यते ॥ १ ॥

भाष्याशय—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में केवल "बालाकि" पद है "दृप्त" नहीं बलाक वा बलाक के पुत्र को "बालाकि" कहते हैं इनके माता पिता के नाम बलाका और बलाक थे। यहां प्रतीत होता है कि निन्दार्थ में इसका प्रयोग हुआ है। क्योंकि "बलाक" बक (बगुला) पक्षी का नाम है यह एक पक्षी का पुत्र है मनुष्य का नहीं ऐसी निन्दा सूचित होती है वह पक्षी कुटिलगति प्रसिद्ध है आज भी बकवृत्ति, बगुलाभक्ति आदि शब्द निन्दा में आते हैं वैसा ही यह भी है यह ध्वनि निकलती है और त्रिकाल में भी पक्षी ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता तद्वत् केवल इनका ब्रह्मज्ञान का आडम्बरमात्र है यथार्थ में ब्रह्मज्ञानी नहीं। दृप्त=गर्वित अहंकारी। मेरे समान ब्रह्मज्ञानी कोई नहीं है इस अभिप्राय से यह विविध देश में भ्रमण कर रहे थे। इस हेतु "दृप्त" कहा है एक राजा से पराजय और पीछे उनसे विद्या सीखना आदि दिखलाया गया है। अनूचान=अनु उचान दो पद हैं। आचार्य्य के अनु=पीछे २ जो बोले उसे "अनूचान" कहते हैं। किन्हीं की सम्मति है कि पूर्व समय में अध्यापन की विधि यह थी की प्रथम आचार्य एक २ पद को बोलते जाते थे और उनके चुप हो जाने पर पीछे २ सब शिष्य उसी पद को पुनः बोला करते थे। इसी हेतु "अनूचान" नाम विद्यार्थी का था। पश्चात् धीरे २ वेदवक्ता अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। परन्तु पाणिनिव्याकरण के अनुसार जो अनुवचन अनुपठन (पीछे २ पढ़ना) कर चुका है उसे अनूचान कहना चाहिये। भूतार्थ में प्रत्यय हो सकता है अर्थात् जो वेद का अनुवचन वर्त्तमान में नहीं कर रहा है किन्तु कर चुका है अनुवचन का अर्थ "पश्चात् वचन" ही है। अनुवाक आदि शब्द भी यही भाव दिखलाते हैं। "न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्" यह श्लोक संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण में श्रीस्वामीजी ने लिखा है। "अनूचान" को धर्म्मनिर्णायकों में श्रेष्ठ माना है। गार्ग्य=अति प्राचीनकाल में अति प्रसिद्ध एक गर्ग ऋषि हुए हैं. उनके नाम से वंशपरम्परा चली है यहां गार्ग्य नाम भी निन्दार्थ में आया है। "सहस्रम्" ऐसे स्थलों में "गो" शब्द शेष रहता है। पूर्वकाल में दानार्थ गायें बहुत दी जाती थीं। अतः सहस्र गाय अर्थ किया जाता सहस्र सिक्के रुपये आदिक नहीं। एतस्यां वाचि=इस वचन के निमित्त। आप जो मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश देवेंगे उसकी दक्षिणा में मैं सहस्र गौ नहीं देता हूं, किन्तु आपने आकर जो मुझ से कहा कि तुमको ब्रह्मज्ञान का उपदेश दूंगा इतने वचन के लिये ही सो गोदान है, क्योंकि ब्रह्मवित् लोग अपनी ब्रह्मविद्या को नहीं बेचते हैं ऐसा मैं जानता हूं, जनकः=उस समय मिथिलादेश के राज्य के जो २ अधिकारी होते थे उन्हें जनक की पदवी मिलती थी। ये जनक प्रायः बड़े ज्ञानी ध्यानी उदार दाता होते थे। इस हेतु प्रायः विद्वान् लोग उसी राजा के निकट जाया करते थे। अजातशत्रु ने इस अद्भुत व्यापार को देख अपने यहां भी व्यवस्था बांधी कि जो ब्रह्मज्ञानी मेरे निकट आवेंगे उन्हें मैं पूर्ण दान दूंगा। परन्तु तब भी इस राजा के निकट लोग नहीं आते थे। अकस्मात् "दृप्तबालाकि" वहां पहुंच गये। इस हेतु अजातशत्रु कहते हैं कि मुझ ऐसे दानी को छोड़कर जनक जनक कहकर क्यों लोग मिथिला को दौड़ रहे हैं, जनक—इस शब्द का अर्थ वास्तव में "उत्पादक पिता है" "जनक जनक" दो बार कथन से यह अभिप्राय है कि इसको केवल जनक ऐसी पदवी मात्र ही नहीं है किन्तु यथार्थ में पिता पुत्र का सम्बन्ध भी प्रजा के साथ रहता है और जैसे पिता निज पुत्र के अध्ययन के लिये पूर्ण प्रयत्न करता है और जब पढ़ करके पुत्र गृह पर

आता है उसकी विद्या की परीक्षा करके यथोचित् सत्कार भी करता है इसी प्रकार यह राजा विद्याध्ययन में सहायक भी होता और ब्रह्मज्ञानी से विद्या सुनकर उनका पुरस्कार भी करता है। यद्वा यह राजा प्रतिदिन नवीन २ विद्या का जनक आविष्कर्त्ता है, क्योंकि इसकी बुद्धि वा प्रतिभा ऐसी तीक्ष्ण है कि यह प्रतिदिन कुछ न कुछ नवीन ही बात सोचता विचारता है। इस आशय को दिखलाने को जनक जनक दो बार शब्द आया है। यदि यह कहो कि अजातशत्रु तो ईर्ष्यावश होकर निन्दार्थ में "जनक जनक" कहता है फिर आप स्तुत्यर्थ में जनक शब्द क्यों लेते हैं। उत्तर—"अजातशत्रु" यह नाम ही सूचित करता है कि इसके हृदय में शत्रुता का गन्ध भी नहीं है इस हेतु लोकोक्ति को ही इसने अनुवाद किया है। इति ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा राजा भवति * ॥२॥

अनुवाद—वे गार्ग्य बोले कि आदित्य में ही जो यह पुरुष है इसी को मैं ब्रह्म (मानकर) उपासता हूं (वह वचन सुन) उस अजातशत्रु ने कहा कि नहीं २ इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये। यद्वा इसके निमित्त संवाद मत कीजिये। यह ब्रह्म नहीं है। यह अतिक्रमण करनेहारे सब भूतों का मूर्धा और राजा है ऐसा मान निश्चय मैं इसकी उपासना करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासना करता है वह अतिक्रमणवाली सब भूतों का मूर्धा तथा राजा होता है ॥ २ ॥

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् संवादयिष्ठा बृहन्पाण्डरवासा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्द्धा भवति ॥ ३ ॥ कौ० ब्रा० अ० ४ ॥

अर्थ—(सः+ह+बालाकिः) वह बालाकि (उवाच) बोले कि हे राजन् अजातशत्रो! (यः+एव) जो ही (एष) यह (आदित्ये) सूर्य में (पुरुषः) पुरुष=शक्ति है (तम्+एव) उसी सूर्यपुरुष को, अन्य को नहीं (अहम्+उपासे) मैं उपासता हूं (इति) बालाकि के इस वचन को, सुनकर (अजातशत्रुः+तम्+ह+उवाच) अजातशत्रु उससे बोले कि (एतस्मिन्) सूर्यपुरुष के निमित्त (मा+मा) नहीं २ (संवादयिष्ठाः) सम्वाद=विचार करवाओ। यह सूर्यपुरुष ब्रह्मवत् उपास्य है या नहीं इस विषय में शास्त्रार्थ मत करवाओ, क्योंकि आपको मैंने गुरु माना है। मैं आपका शिष्य हूं परन्तु यह सूर्यपुरुष उपास्य नहीं है। हे राजन्! हो सकता है कि आप इसको जानते हों परन्तु इसके गुण और उपासना के फल को न जानते हों अतः इसकी उपासना कीजिये। इस आशङ्का के ऊपर राजा सूर्य के गुण और उपासना-फल आगे दिखलाते हैं—हे बालाके! (बृहन्) यह सूर्य बहुत बड़ा है अर्थात् इस पृथिव्यादि से कहीं बढ़कर है और (पाण्डरवासाः) मानो शुक्लवस्त्रधारी है। पुनः (अतिष्ठाः) अपने तेज से सबों को अतिक्रमण करके वर्तमान है। पुनः (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा) सब प्राणियों का मस्तक है। ऐसा मानकर (अहम्) मैं अजातशत्रु (वै) निश्चितरूप से (एतम्) इस सूर्यपुरुष के (उपासे) गुणों का अध्ययन करता हूं (इति) (सः+यः+ह) सो जो कोई (एतम्+एवम्) इस सूर्य पुरुष को ऐसा ही जानकर, न कि ब्रह्म जानकर (उपास्ते) उपासता है वह भी (अतिष्ठाः) अपने गुणों से सब का अतिक्रमण करने वाला होता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा+भवति) सब प्राणियों का मूर्धा होता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः+उवाच) वह प्रसिद्ध गर्गवंशोत्पन्न दृप्तबालाकि बोले (आदित्ये+एव) सूर्य में ही (यः+असौ+पुरुषः) जो यह पुरुष "शक्ति" है (एतम्+एव) इसी को (अहम्) मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासना करता हूं। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वो अजातशत्रु (उवाच) बोले—हे अनूचान ! ऐसा मत कहिये (एतस्मिन्) इस आदित्यपुरुष के निमित्त (मा+मा++संवदिष्ठाः) ब्रह्मसंवाद=ब्रह्मचर्चा मत कीजिये यह ब्रह्म है या नहीं और यह ब्रह्मवत् उपास्य है या नहीं इत्यादि विषयक अभी शास्त्रार्थ मत कीजिये। परन्तु न यह आदित्य ही ब्रह्म है और न आदित्यगत शक्ति ही ब्रह्म है। तब यह क्या है और इसकी उपासना का क्या फल है? जानते हों तो आप ही कहिये जिससे मुझे ज्ञात हो कि आप तत्त्ववित् हैं। इस अभिप्राय से आगे राजा कहते हैं—(अतिष्ठाः) यह आदित्य अपने तेज से सब भूतों को अतिक्रमण करके रहता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्+मूर्धा) सब भूतों का यह मूर्धा है। और (राजा+इति) सब में यह प्रकाशवान् है ऐसा मानकर (वै) निश्चितरूप से (अहम्) मैं (एतम्) इस आदित्यगतशक्तिविशेष को (उपासे+इति) उपासता हूं (सः+यः) सो जो कोई (एतम्) इसको (एवम्) ऐसा ही जान (उपास्ते) उपासना करता है वह (अतिष्ठाः) सब को अतिक्रमण करके स्थित रहता है और (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब भूतों के मध्य (मूर्धा) श्रेष्ठ तथा (राजा+भवति) राजा होता है * ॥ २ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मप्रवचनार्थां यद्यपि राज्ञः साक्षादनुमतिर्नोपलभ्यते। तथापि सहस्रगोदानप्रतिज्ञया ब्रह्मश्रवणे सम्राडतिशयित उत्कण्ठितोऽस्तीति प्रतीयते अतोऽनूचानो बालाकिर्नृपस्योत्सुकतामवधार्य स्वीयप्रतिज्ञातविषयमारभते। अस्मिन् जगति सर्वप्रधान्यात् परमतैजसत्वात् सर्वप्रथमाखिलजनमानसाऽऽकर्षकत्वात् सूर्यशक्त्युपासनां दर्शयति।

---

* इसी प्रकार का सम्वाद और उपासना की चर्चा छान्दोग्योपनिषद् पञ्चम प्रपाठक के एकादश खण्ड से आरम्भ हुई है। प्राचीनशाल, औपमन्यव प्रभृति छः विद्वान् कैकेय अश्वपति के निकट वैश्वानर सम्बन्धी विद्या के विषय में शिक्षा ग्रहण करने के लिये गये हैं राजा ने एक २ से उपास्यदेव की जिज्ञासा की है यथा—"अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम्। प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवोराजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरोऽयं त्वमात्मानमुपास्से। तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥"

अनुवाद—अनन्तर वे प्रसिद्ध राजा पौलिषु सत्ययज्ञ नाम विद्वान् से बोले कि हे प्राचीनयोग्य ! आप किंलक्षणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करते हैं यद्वा किस शक्ति वा आत्मा का अध्ययन करते हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि हे ऐश्वर्यसम्पन्न राजन् ! मैं आदित्य का ही अध्ययन करता हूं (राजा) निश्चय यह वैश्वानर सम्बन्धी विश्वरूप नामक अंश समान अंश वा शक्ति है जिस अंश का आप अध्ययन कर रहे हैं। इस कारण आपके कुल में बहुत विश्वरूप होमोपकरण दीख पड़ते हैं ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥२॥

अनुवाद—(इसी कारण) आप के निकट अश्वतरीयुक्त रथ और दासीसहित माला विद्यमान हैं और भोग्य भोगते हैं, प्रिय देखते हैं। सो जो कोई वैश्वानर सम्बन्धी इसी अंश वा शक्तिस्वरूप का अध्ययन करता है वह भी भोग्य भोगता है, प्रिय देखता है, इसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह व्यापक वैश्वानर का नेत्र समान है। इतना कह वे फिर बोले कि यदि मेरे निकट आप न आते तो आप अन्धे हो जाते ॥ २ ॥

तथाहि—स ह प्रसिद्धः किल गार्ग्यो गर्गान्वयो बालाकिः राजानं प्रति वक्ष्यमाणं वचनमुवाच। हे सम्राट् ! आदित्ये भास्करे। य एवासौ प्रत्यक्षीभूतः पुरुषोऽस्ति न सूर्यपुरुषान्यः। अहम्। एतमेव पुरुषम् सूर्यस्थमेव पुरुषम्। ब्रह्म ब्रह्मेति मत्वा उपासे भावयामि। इति। पुरुषः शक्तिविशेषः पुरि शरीरे शेत इति पुरुषः। सा च शक्तिर्न सूर्याद् विभिन्ना शक्तिशक्तिमतोरभेदान्वयात्। तेन सूर्यमुपास इति प्रतिफलति। तृतीय ब्राह्मणे तथैव वक्ष्यमाणत्वात्। यद्वा यथा सर्वस्मिन् वस्तुनि ब्रह्माख्यः पुरुषोऽनुगतोऽस्ति। तथैव। अमुष्मिन्नादित्येऽपि स एव पुरुषो व्यापकोऽस्ति। एतमेव पुरुषं ब्रह्मेतिमत्वोपास इत्याशयोऽपि ध्वन्यते। यतोऽहं ब्रह्मवादी एतमेवपुरुषं ब्रह्म विजानामि। अतस्त्वमपि एतद् ब्रह्म विजानीहि ज्ञात्वोपास्स्व च। इति तस्य वचनं श्रुत्वा हस्तेन निवारयन् सहाजातशत्रुरुवाच मा मा न न। हे बालाके! नेदं ब्रह्मास्ति। यत्त्वमुपदिशसि। हे अनूचान! एतस्मिन् सूर्यपुरुषे मा मा न न संवदिष्ठाः ब्रह्मसंवादं मा कार्षीः यद्वा एतस्मिन्नेतन्निमित्तम्। मा मा संवदिष्ठाः। सम्वादं मा कुरु। अयं सूर्यपुरुषो ब्रह्मास्ति न वा तत्राप्युपास्योऽस्ति न वा। इत्यादि सम्वादं शास्त्रविचारं मया सार्धं मा कार्षीः। यतस्त्वमधुना गुरुरसि। अहं तव शिष्यो भूत्वा श्रोतास्मि। अतो विचारावकाशं मा दाः। ब्रह्मत्वेन नायमुपास्योऽस्तीति निश्चयः। नासावादित्यो न च तत्स्था शक्तिर्ब्रह्मास्ति। अतोऽमुष्मिन् यः पुरुषोऽस्ति तदेव ब्रह्मास्तीति तमेवोपास्स्वेत्यादि मावद मावद इतोऽधिकं यदि त्वं जानासि तर्हि तत्त्वं मह्यं ब्रूहीति भावः। मामेति द्विर्वचनं सर्वतोभावेन सूर्यादिदृश्यपदार्थानां ब्रह्मत्वं विनिवारयति। यदि त्वमेतं जानासि राजन्! तर्हि कोऽयमस्ति। उपासनफलञ्च किमिति वदेत्यभिप्राय-मवलोक्य राजा पुनः कथयति—हे अनूचान! असावादित्यः। अतिष्ठाः सर्वाणि भूतानि अतीत्य अतिक्रम्य तिष्ठति यः सोऽतिष्ठाः वाय्वादिनिखिलदेवानतीत्यायं वर्तत इति। पुनः सर्वेषां भूतानां मूर्धास्ति। कुतः। उपरिस्थितत्वात्। यद्वा यथा मूर्धा स्वस्वशरीरस्य प्रकाशो दृश्यते। तथैवाऽऽदित्येन सर्वेषां प्रकाश इत्यभिप्रायेण मूर्धेति विशेषणम्। अत एव स राजास्ति राजते दीप्यते प्रकाशत इति राजा। हे अनूचान! अहं एतमादित्यम्। "अतिष्ठाः, सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा" च मत्वा। उपासे विचारयामि। किन्त्वहं। नेदं ब्रह्म वदिष्यामि। न च ब्रह्मत्वेनोपासे। उपासनफलञ्च ब्रवीमि। तच्छृणु स यः कश्चित्तत्त्ववित्। एतमा-दित्यगतं पुरुषम्। एवं पूर्वोक्तविशेषणत्रयसहितम्। विदित्वा उपास्ते सोऽपि। अतिष्ठाः सर्वान् बन्धून्, स्वजातीन् सुहृदादीन्, सर्वाणि भूतानि च अतीत्य तिष्ठति। पुनः सर्वेषां भूतानां मध्ये मूर्धा श्रेष्ठो भवति। पुनः सर्वेषां भूतानां मध्ये स राजापि भवति। इत्युपासनस्य फलमस्ति। यद्यत्र कोऽपि मम विज्ञाने न्यूनतास्ति तर्हि भगवान् ब्रवीतु। यदिचेदमेव तथ्यम्। तर्हीदमेव स्वीकरिष्यति भगवानपि अतो ब्रह्मबुध्याऽनुपास्यताऽस्य सिध्यति। अतो "ब्रह्म ते ब्रवाणीति" प्रतिज्ञा न पूर्तिमगमत्। अतो यदि त्वं ब्रह्म विजानासि तर्हि तदुपदिश मह्यं इत्याशयः। अग्रेप्येवमेव विज्ञातव्यम्। ये केचन बालबुद्ध-योऽज्ञातसूर्यगुणा जडमतयः "अयं सुप्रसन्नोभूत्वाऽभीष्टं प्रयच्छति उपासकस्य गृहं गृहं पूजां ग्रहीतुं सौम्यमूर्तिर्मनुष्याकृतिर्भूत्वाऽऽगच्छतीति उपस्थानजलप्रदानाद्युपचारैरादित्यं चेतनं मत्वा पूजयन्ति। ते न ब्रह्मविदः। तथा नायं सूर्यः कदापि ब्रह्मवदुपासनीय इति शिक्षते ॥ २ ॥

भाष्याशय—यद्यपि ब्रह्मविषय में उपदेश के लिये राजा की साक्षात् अनुमति नहीं पाई जाती है। तथापि "तुझको मैं ब्रह्म का उपदेश करूंगा" केवल इतने वचन के लिये राजा की सहस्र गोदान की प्रतिज्ञा से प्रतीत होता है कि राजा ब्रह्मज्ञानश्रवणार्थ अतिशय उत्सुक है। अतः अनूचान बालाकि ने नृप की उत्सुकता निर्धारित कर स्वकीय प्रतिज्ञात विषय का आरम्भ करते हैं और इस जगत् में सूर्य ही सर्वप्रधान, परमतेजस्, सर्व प्रथम सबों के मानस के आकर्षण करनेवाला है इस हेतु सूर्यशक्ति की उपासना दिखलाते हैं। पुरुष=शक्तिविशेष का नाम यहां पुरुष है। सूर्य में जो शक्ति है वह सूर्य से भिन्न नहीं। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् यथार्थ में एक ही वस्तु है। आगे तृतीय ब्राह्मण में दिखलाया जायगा कि पुरुष नाम शक्ति का है। अतः इस वाक्य का यह अर्थ फलित होता है कि सूर्य की उपासना मैं ब्रह्मवादी होकर करता हूं। सो तुम भी इसकी उपासना करो। परन्तु यह सिद्धान्तविरुद्ध बात है अतः आगे राजा ने "मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः" इस वाक्य से सूर्य का वा सूर्य की शक्ति का ब्रह्म होने से निषेध किया है अर्थात् (एतस्मिन्) यह निमित्त में सप्तमी है और 'संवदिष्ठाः' का अर्थ सम्वाद विचार करना है। अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्म है या नहीं और ब्रह्मवत् उपासनीय है या नहीं इत्यादि विषय के निमित्त अभी मेरे साथ शास्त्रार्थ मत करें क्योंकि इस समय आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका शिष्य हूं। इस हेतु मुझको विचार करने का अवकाश मत दीजिये। परन्तु यह ब्रह्मवत् उपास्य नहीं है इसमें सन्देह नहीं। न यह आदित्य ही ब्रह्म है और न इसकी शक्ति ही ब्रह्म है अतः इस आदित्य में जो पुरुष है यही ब्रह्म है उसी को ब्रह्म मान के उपासना करो इत्यादि विषय मत कहिये इससे अधिक यदि आप जानते हैं तो उसी का उपदेश मुझे कीजिये।

मा मा, दो बार इस अभिप्राय से कहा है कि सूर्यादि जड़ पदार्थों में कदापि भी ब्रह्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये। अतिष्ठाः="अति+स्था" अब राजा सूर्य के गुण कहते हैं—सूर्य के ही तेज से सब पदार्थ तेजस्वी हो रहा है इससे बढ़कर कोई भी अन्य वायु आदि नहीं है। इस हेतु सब वायु आदि पदार्थों को लांघकर वर्त्तता है। अतः यह आदित्य "अतिष्ठाः" कहलाता है "सर्वेषां भूतानां मूर्धा" जैसे सब प्राणियों का प्रकाश अपने मस्तक से होता है। अर्थात् सकल ज्ञान के प्रवाह का स्थान मस्तक है। मस्तक के ही बिगड़ने से मनुष्य उन्मत्त (पागल) हो जाता है मस्तक के ठीक रहने से आदमी आदमी कहलाता है। तद्वत् यदि इस जगत् में सूर्य न होवे तो इसकी व्यवस्था कदापि ठीक नहीं रह सकती। पृथिवी वायु चन्द्र आदि सब ही नष्ट होजायँ। सूर्य ही अपनी आकर्षणशक्ति से और प्रकाश देकर इस सौर जगत् को धारण किये हुए है। इस हेतु यह सूर्य मूर्धा कहा गया है। अथवा प्राणियों का जो यह मूर्धा बना हुआ है इसका कारण सूर्य ही है। अतएव (राजा) इस जगत् का यथार्थ में यही राजा बनाया गया है परन्तु हे बलाके! इतने गुण रहने पर भी यह ब्रह्म नहीं हो सकता। ऐसे लाखों अनन्तों सूर्यों को जिसने रचा है वही ब्रह्म उपास्य है। यह सूर्य जड़ पदार्थ है। चेतन पदार्थों को लाभ पहुंचाने के लिये भगवान् ने इसको रचा है। फल—इसमें सन्देह नहीं कि जो विज्ञानी सूर्य के गुणों को जानेगा वह अवश्य इस जगत् में तेजस्वी होगा, देखो आजकल पाश्चात्य विद्वान् इन पदार्थों के गुणों को जानकर कैसे २ महान् होते जाते हैं, कैसी २ अद्भुत विद्याएं आविष्कृत हुई हैं, कैसे २ इन्होंने पदार्थविद्या में प्रवेश लाभ किया। हे भारतवासियो! तुम भी इसको जड़ मान इसके गुणों का अध्ययन करो। ईश्वर मानकर इसे कदापि मत पूजो। इस संवाद से यह फलित हुआ कि जो बालबुद्धि जड़मति हैं, जिन्होंने सूर्य के गुणों को नहीं जाना है वे समझते हैं कि यह सूर्य प्रसन्न हो मनुष्यों को अभीष्ट वर देता उपासक के घर २ में पूजा ग्रहण के लिये अच्छी

मूर्त्ति और मनुष्य की आकृति बनाकर आता है इस कारण उपस्थान और जलादि प्रदान से आदित्य को एक चेतन पदार्थ मान पूजते हैं वे अज्ञानी और मन्दमति हैं। यह सूर्य कदापि ब्रह्मवत् पूज्य नहीं ॥ २॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते * ॥ ३ ॥

अनुवाद—उस प्रसिद्ध गार्ग्य ने कहा कि चन्द्र में ही जो यह पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म (मानकर) उपासता हूं। (इतना वचन सुन) उस अजातशत्रु ने कहा कि न न इसके निमित्त आप ब्रह्मसंवाद न करें वा न करवावें। यह बृहत् श्वेत-वस्त्रधारी सोम और राजा है ऐसा मान मैं इसकी उपासना करता हूं और सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासना करता है उसको प्रतिदिन सोमाख्यलता सुत प्रसुत होती है और इसके गृह में अन्न की क्षीणता नहीं होती ॥ ३ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे गार्ग्य (उवाच) बोले कि हे राजन् ! (चन्द्रे) चन्द्रमा में (एव) ही (यः+असौ+पुरुषः) जो यह पुरुष अर्थात् शक्ति है (एतम्+एव) इसी को (अहम्) मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासता हूं इस वचन को सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु सम्राट् बोले कि (एतस्मिन्) इस चन्द्रपुरुष के निमित्त (मा+मा+सम्वदिष्ठाः) मत सम्वाद कीजिये अर्थात् यह चन्द्रपुरुष ब्रह्म है या नहीं ऐसा यह उपास्य है या नहीं ऐसा विवाद मत करो और करवाओ। यह ब्रह्म नहीं है इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। अर्थात् न तो यह चन्द्रमा और न चन्द्रगत शक्ति ब्रह्म है। यह तो (बृहत्पाण्डरवासाः) बड़ा श्वेत वस्त्रधारी है। और (सोमः) सोम है और (राजा) दीप्यमान है (इति) ऐसा मान (वै) निश्चितरूप से (एतम्) इस चन्द्रगतपुरुष की (उपासे+इति) उपासना करता हूं। आगे फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई तत्त्ववित् पुरुष (एतम्) इसको (एवम्) वैसा मान (उपास्ते) उपासता है उसके गृह में (ह) निश्चितरूप से (अहः+अहः) प्रतिदिन लतानिः—सृत सोमरस सदा (सुतः+प्रसुतः) सुत और प्रसुत (भवति) होता है और (अस्य) इस उपासक का (अन्नम्) खाद्य पदार्थ (न+क्षीयते) क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सूर्यान्न्यूनश्चन्द्रोऽस्ति। यथाऽऽदित्यो दिनस्याधिपतिस्तथैव चन्द्रो रात्र्याः। बालबुद्धीनामविदितचन्द्रगुणानां पुरुषाणां मनांसि द्वितीयश्चन्द्र एवाऽऽकर्षति। अतो बालाकिश्चन्द्र उपास्यबुद्धिं स्थापयति। राजा तु खण्डयति। इत्थं नायं चन्द्रो ब्रह्मत्वोपासनीय इति सम्वादप्रसङ्गेन विस्फोटयति। तथाहि—आदित्यस्थिते पुरुषे राज्ञा

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा (सोमो राजा) अन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति ॥ ४ ॥ कौ० ब्रा० अध्याय ४ ॥

अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि जो चन्द्रमा में शक्ति है उसी की उपासना मैं करता हूं। यह सुन राजा अजातशत्रु ने कहा कि न न। इसके निमित्त विचार मत करवाओ। यह ब्रह्म नहीं है। यह चन्द्र (अन्नस्य आत्मा) अन्न का जीवनप्रद है ऐसा ही मानकर मैं इसके गुण का अध्ययन करता हूं और जो कोई इसको ऐसा ही जानकर उपासता है वह भी अन्न का आत्मा, उत्पन्न करने वाला होता है ॥४॥

निराकृते सति उपासनान्तरं नृपाय ब्रूते गार्ग्यः। तथाहि—स ह गार्ग्यो राजानं प्रत्युवाच। हे सम्राट्! चन्द्रे चन्द्रमसि। य एवासौ पुरुषः शक्तिविशेषोऽस्ति। अहम् एतमेव चन्द्रे विद्यमानं पुरुषमेव नान्यम्। ब्रह्म विदित्वा उपासे, इति। इदमेव ब्रह्म विजानामि। त्वमपि एतमेव पुरुषं ब्रह्म ज्ञात्वोपास्स्वेति भावः। अजातशत्रुस्तु राजा वचनं श्रुत्वा पूर्ववद्धस्तेन निवारयन्। उवाच—मा मा एवं मा वद, एवं मा वद। एतस्मिन् चन्द्रपुरुषे चन्द्रपुरुषनिमित्तं मा मा सम्वदिष्ठाः सम्वादयिष्ठाः। नायं चन्द्रो वा तत्स्थः पुरुषो वा ब्रह्मास्ति। तर्हि कोऽयमस्ति किम्वाऽस्योपासनस्य फलमिति त्वमेव वदेत्याशयं विदित्वाऽजातशत्रुर्ब्रवीति। अयं चन्द्रः बृहत्पाण्डरवासाबृहन्महत् पाण्डरं श्वेतं वासो वस्त्रं यस्य स बृहत्पाण्डरवासाः। यथा पुरुषो वस्त्रेण वेष्टितो भवति तथैव सूर्यकिरणैरेव श्वेतैर्वस्त्रैः स चन्द्र आवेष्टितोऽस्ति। पुना सोमः। पुना राजा राजते दीप्यते च, इति। एतैर्विशेषणैः समन्वितमेतं चन्द्रं मत्वाहमप्युपासे न तु ब्रह्ममत्वेति भावः। उपासनाफलं निर्वक्ति। स यस्तत्त्ववित्पुरुषः। एतं चन्द्रं एवं ज्ञात्वा उपास्ते तस्योपासकस्य। अहरहः प्रतिदिनं। ह निश्चयेन लताख्यः सोमः सुतः प्रसुतश्च भवति। तथाऽस्य अन्नं न क्षीयते न क्षीणं भवति। हे अनूचान! ईदृशश्चन्द्रोऽस्ति। इदञ्चास्योपासनं फलमस्ति। अतो भगवान् यदीमं ब्रह्म ब्रवीति तन्न समीचीनं नाहञ्च कदापि एतद् ब्रह्म वदिष्यामि अतः परं यदि ब्रह्म भगवान् जानाति तर्हि तदेव ब्रवीतु मह्यम्। चन्द्रं चेतनं मत्वा ये के च नोपासते तेऽनभिज्ञा बाला इति शिक्षते ॥ ३ ॥

भाष्याशय—इस जगत् में सूर्य से न्यून चन्द्र ही दीखता है, क्योंकि जैसे सूर्य दिन का अधिपति है, वैसे ही चन्द्रमा रात्रि का। सूर्य के अनन्तर चन्द्रमा ही बालबुद्धि और अविदितचन्द्रगुण पुरुषों के मन को आकृष्ट करता है। इस हेतु अज्ञानियों को चन्द्र में ब्रह्मवत् पूज्यबुद्धि होजाती है। इस हेतु बालाकि तो चन्द्रमा में उपास्यबुद्धि स्थापित करता है और अजातशत्रु उसका खण्डन करता है। इस प्रकार यह चन्द्रमा ब्रह्मबुद्ध्या उपासनीय नहीं है, यह विषय इस संवादरूप प्रसङ्ग से विस्पष्ट होता है। अतः चन्द्र को चेतन मान जो उपासना करते हैं वे अज्ञ और बालक ही हैं। यह शिक्षा ऋषि देते हैं ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति * ॥ ४ ॥

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः सत्य(तेज)स्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सत्य(तेज)स्यात्मा भवति ॥ ५ ॥ कौ० ब्रा० अ० ४ ॥

अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि विद्युत् में जो ही यह पुरुष है। उसी की उपासना मैं करता हूं, इस वचन को सुन राजा अजातशत्रु ने कहा कि न न एतन्निमित्त विवाद मत करवाइये। यह ब्रह्म नहीं है, यह तो तेज का कारण है। ऐसा मानकर मैं भी इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह भी तेज का कारण होता है ॥ ५ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि विद्युत् में ही जो यह पुरुष है इसी को ब्रह्म मान मैं उपासता हूं, तब वे अजातशत्रु बोले नहीं नहीं ऐसा नहीं कहिये। इसमें ब्रह्म का सम्वाद मत कीजिये। हां इसको "तेजस्वी" ऐसा मानकर मैं भी इसकी उपासना करता हूं। और सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह निश्चय तेजस्वी होता है और इसकी प्रजा भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट्! (विद्युति) विद्युत् में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूं। आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं २ ऐसा मत कहैं, ऐसा मत कहैं (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठाः) इस विद्युद्गत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहैं क्योंकि यह ब्रह्म नहीं। तो यह क्या है ? सो तुम ही कहो ऐसा समझ अजातशत्रु पुनः कहते हैं—(तेजस्वी+इति) यह एक तेजस्वी तेजोयुक्त पदार्थ है और (वै) निश्चित रूप से (एतम्) इसको तेजस्वी मान (उपासे+इति) उपासता हूं। अब आगे फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई तत्त्ववित् उपासक (एतम्+एवम्) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना करते हैं वह (तेजस्वी+ह+भवति) तेजस्वी होता है और (अस्य+ह) इस उपासक की (प्रजा) सन्तति (तेजस्विनी+भवति) तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—चन्द्रस्थे पुरुषे उपास्यत्वेन प्रत्याख्याते सति अन्यद् ब्रह्म प्रदर्शयितुं यतते गार्ग्यः। तथाहि—हे सम्राट्! विद्युति=विद्योतते या सा विद्युच्चपला तस्याम्। य एवासौ पुरुषोऽस्ति। एतमेव पुरुषं विद्युति वर्तमानम्। ब्रह्म ब्रह्मेति मत्वा। अहमुपास इति। त्वमपि हे राजन्! तथैव कुरु। पूर्ववदिदं वचनं श्रुत्वा सहाजातशत्रुरुवाच मा मा एतस्मिन् संवदिष्ठाः। विद्युति योऽयं पुरुषोऽस्ति स तेजस्वी वर्तते। अहं वै "तेजस्वीति"

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्त्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते * ॥ ५ ॥

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः पूर्णमप्र(वर्त्ति)वृत्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभि(र्नो एव स्वयं प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते)र्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति ॥ ८ ॥ कौ० अ० ४ ॥

अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि आकाश में ही जो यह शक्ति है उसी की उपासना मैं करता हूं। इसको सुन अजातशत्रु ने उनसे कहा कि यह ब्रह्म नहीं है और न इस निमित्त सम्वाद करवाओ। यह आकाशपुरुष (पूर्णम्) सर्वत्र परिपूर्ण (अप्रवर्त्ति) क्रियाशून्य और (ब्रह्म) बृहत् सब से बड़ा है ऐसा मानकर मैं भी इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा ही मानकर उपासता है वह (प्रजया) सन्तति से (पशुभिः) पशुओं से (यशसा) यश से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (स्वर्गेण+लोकेन) सुखमय जीव से (पूर्यते) पूर्ण होता है और (सर्वम्+आयुः) सम्पूर्ण आयु (एति) पाता है। दूसरे पाठ का अर्थ—(नो+एवम्+स्वयम्) न वह स्वयं उपासक और (न+अस्य+प्रजा) न इसकी प्रजा (पुराकालात्) काल से पहले (प्रवर्त्तते) मरने के लिये प्रवृत्त होता है ॥

मत्वा एतं विद्युत्पुरुषमुपासे। इति। फलं ब्रवीति—स यः। एतं पुरुषम्। एवं ज्ञात्वा उपास्ते। सह तेजस्वी भवति। अस्योपासकस्य प्रजा तेजस्विनी भवति। सर्वेषां पदार्थानां मध्ये आग्नेयीशक्तिरस्ति सैव कारणवशेन पदार्थाद् बहिः निःसृत्य महतारवेण विद्योतते सैव विद्युदुच्यते। सा च स्वयं पदार्थानां गुणभूतास्ति। तस्यामपि प्रकाशशक्तिरस्ति। सा च पदार्थस्वरूपत्वात् न ब्रह्म भवितुमर्हा। अतोऽन्यद्यदि जानासि तर्हि तदेव ब्रह्म वद ॥ ४ ॥

अनुवाद—उस गार्ग्य ने कहा कि आकाश में ही जो यह शक्ति है उसी को ब्रह्म मानकर मैं उपासता हूं, यह वचन सुन अजातशत्रु ने कहा नहीं २, इसमें ब्रह्म मत बतलावें। यद्वा इसके निमित्त संवाद मत कीजिये। यह ब्रह्म नहीं है। यह पूर्ण और अप्रवर्त्ती हैं ऐसा मानकर निश्चय मैं इसके गुणों का अध्ययन करता हूं, सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है, वह प्रजा से, पशुओं से पूर्ण होता है, और इसकी प्रजा इस लोक से:काल से पहिले ऊपर नहीं जाती है। यद्वा इस लोक से विच्छिन्न नहीं होती ॥ ५ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट्! (आकाशे) आकाश में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) पुरुषशक्ति विशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूं आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा) नहीं २ ऐसा मत कहैं, ऐसा मत कहैं (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठाः) इस आकाशगत पुरुष में ब्रह्म-संवाद मुझ से मत कहैं क्योंकि यह ब्रह्म नहीं। यह तो (पूर्णम्) सर्वत्र परिपूर्ण है पुनः (अप्रवर्त्ति) प्रवर्तनशील नहीं। अर्थात् क्रियाशून्य है। ये आकाश के दो गुण हैं। हे अनूचान! इन दो गुणों से युक्त मानकर (एतम्) इस आकाशस्थ शक्ति को (वै) निश्चय ही (उपासे) उपासता हूं, अर्थात् इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। आगे फल कहते हैं। प्रथम आकाश के पूर्ण गुण को जानने वाले का फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई (एतम्) इस आकाशपुरुष को (एवम्) पूर्वोक्त गुणद्वय सहित (उपास्ते) उपासता है, वह (प्रजया) पुत्र पौत्रादि सन्तति से और (पशुभिः) गाय, घोड़ा, हाथी, अज और मेष आदि पशुओं से (पूर्यते) सदा पूर्ण रहता है। आगे अप्रवर्त्ति गुणोपासक का फल कहते हैं—(अस्य) इस उपासक की (प्रजा) पुत्र पौत्रादि सन्तति (अस्मात्+लोकात्) इस लोक से (न+उद्वर्तते) उच्छिन्न=विनष्ट नहीं होती। यद्वा इस लोक से उसकी प्रजा काल के पहिले ही ऊपर नहीं जाती अर्थात् नहीं मरती ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सहोवाचेत्यादि। मा मैतस्मिन् संवदिष्ठाः इत्यन्तो ग्रन्थः पूर्ववद् व्याख्येयः। कथंभूतमाकाशमिति राजा ब्रवीति। पूर्णं सर्वत्र परिपूर्णम् पुनः कथंभूतम्, अप्रवर्त्ति न प्रवर्तितुं शीलमस्येति क्रियाशून्यमित्यर्थः। हे अनूचान! अहम्। एतमाकाशपुरुषम्। पूर्णम्। अप्रवर्त्ति। इति गुणद्वयविशिष्टं मत्वा वै निश्चयेन उपासे। अस्य गुणान् अधीये न तु ब्रह्मैतं मन्ये, न च मंस्ये। न च ब्रह्मबुद्धया एतं कदापि पूजयिष्यामि। अतो नेदं ब्रह्मास्तीति सूचयति। अग्रे उपासना फलं ब्रवीति राजा। प्रथमं पूर्णगुणोपासनफलमाह—स यः कश्चिदेतद्रहस्यवित्। एतमाकाशपुरुषम्। एवं पूर्वोक्तगुणसहितम्। विदित्वा उपास्ते। तस्य गुणान् अधीते। सः प्रजया पुत्रपौत्रादिसन्तत्या। पशुभिर्गवाश्वगजाजाविप्रभृतिभिः। पूर्यते पूर्णो भवति। अप्रवर्त्तिगुणोपासनफलं वक्ति। तथा

अस्योपासकस्य । प्रजा पुत्रपौत्रादिसन्ततिः । अस्मात् लोकात् । नोद्वर्त्तते नोच्छिद्यते । न कदापि प्रजाविच्छेदोभवतीत्यर्थः । यद्वा अस्य प्रजा । अस्माल्लोकात् नोद्वर्त्तते । शतसम्वत्सरात्कालात्पूर्वं न स्वयमुपासको न च तस्य प्रजा उद्वर्त्तते उर्ध्वं वर्तते प्रमीयत इत्यर्थः ॥ ५ कौषीतकिपाठानुक्रमेण व्याख्येयम् । "अयमाकाशः खलु सर्वाणि भूतानि विनिवेशयति । पृथिवी वायुः सूर्यश्चन्द्रो नक्षत्राणि सर्वमाकाशे प्रतितिष्ठति । सत्येवाकाशे सर्वेषां गतिक्रियोत्पादोरक्षा विनाशः सम्भवति । अत आकाशोऽपि कश्चिच्चेतनपुरुषोस्ति । महत्त्वाच्चोपासनीयश्चेति केचिदज्ञा मेनिरे मन्यन्ते मंस्यन्ते वा । अतोऽज्ञानद्वा भ्रमाद्वा केनाप्यन्येन कारणेन वा मा एतमाकाशं चेतनं मत्वा ब्रह्मबुद्ध्या केचित्पूपुजन्निति अस्माकं कल्याणमार्गप्रदर्शको महर्षिः शिक्षते ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यह आकाश, निश्चय सब भूतों को अपने उदर में निवेशित किये हुए हैं। पृथिवी, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सब ही आकाश में प्रतिष्ठित हैं, आकाश के रहने से ही सब की गतिक्रिया, उत्पत्ति, रक्षा और विनाश होता रहता है। अतः आकाश भी कोई चेतन पुरुष है और महान् होने के कारण उपास्य है ऐसा कोई अज्ञपुरुष मानते हैं वा मानलें वा मानेंगे। अतः अज्ञान से वा भ्रम से वा अन्य किसी कारण से इस आकाश को न कोई चेतन माने और न कोई ब्रह्म बुद्धि से इसकी पूजा उपासना करे। यह हम लोगों के कल्याणमार्गप्रदर्शक महर्षि शिक्षा देते हैं ॥ ५ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति सहोवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः इन्द्रोवैकुण्ठो पराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी * ॥ ६ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि वायु में ही जो यह पुरुष है। इसी को मैं "ब्रह्म" मान उपासता हूं। तब वे अजातशत्रु बोले नहीं नहीं। इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये, यह तो इन्द्र वैकुण्ठ और अपराजिता सेना है। ऐसा मानकर मैं इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है। वह प्रसिद्ध जयशील, अपराजिष्णु और शत्रुओं का विजयशील होता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट्! (वायौ) वायु में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) व्यक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूं आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा) नहीं नहीं ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+सम्वदिष्ठाः) इस वायु-गत पुरुष में ब्रह्म-संवाद मुझ से मत

---

*:स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह वा अपराजयिष्णुरन्यतस्त्यजायी भवति ॥ ७ ॥ कौ० अ० ४ ॥

अर्थ—उस बालाकि ने कहा कि जो वायु में पुरुष है उसकी उपासना मैं करता हूं। यह वचन सुन उस अजातशत्रु ने कहा कि नहीं नहीं, इस वायुपुरुष में मुझको ब्रह्म मत बतलावें। यह इन्द्र वैकुण्ठ और अपराजिता सेना है ऐसा मानकर इसके गुणों का अध्ययन मैं करता हूं। सो जो कोई इसको वैसा मान उपासता है। वह निश्चय जिष्णु अपराजिष्णु और अन्यों का जय करने वाला होता है ॥ ७ ॥

कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं। वायु के गुण कहते हैं—(इन्द्रः) परमैश्वर्यसम्पन्नः। पुनः (वैकुण्ठः) जिसको निवारण अन्य कोई नहीं कर सकता। पुनः (अपराजिता+सेना) यह एक ईश्वरीय सेना है। हे अनूचान ! (एतम्) इस वायु पुरुष को इन तीन गुणसहित मानकर (वै) निश्चय (अहम्+उपासे) मैं इसके गुणों का अध्ययन करता रहता हूं। आगे उपासना का फल कहते हैं। मुख्य तीन गुण हैं। अतः तीन ही फल भी कहे जाते हैं। वायु इन्द्र है, इसको जो जानता है वह (ह) सुप्रसिद्ध (जिष्णुः) सर्वत्र जयशील होता है। वायु वैकुण्ठ है इसको जो मानता है वह (अपराजिष्णुः) अपराजिष्णु होता है। जिसको दूसरे कोई जीत नहीं सकते। वायु ईश्वर की अपराजिता सेना है इसको जो जानता है वह (अन्यतस्त्यजायी) सम्पूर्ण शत्रुओं को जीतने वाला होता है॥ ६॥

भाष्यम्—सहेति। इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः। वायुरेवेन्द्रोऽस्ति। इतोऽन्यो न कश्चिदिन्द्रः स्वर्गाधिपतिर्देवस्वामी पुराणगाथाकल्पित इति भावः। पुनः। वैकुण्ठः विगता कुण्ठा परेण निवारणा यस्मात्स विकुण्ठः विकुण्ठ एव वैकुण्ठः। अपराजिता सेना न परैः पराजिता सेना अपराजिता सेना। एतद्गुणत्रयविशिष्टमेतं वायुपुरुषं मत्वोपासे। इन्द्रगुणफलमाह—सहोपासकः। जिष्णुर्भवति जयनशीलो भवति। ह प्रसिद्धौ। वैकुण्ठ-गुणफलमाह—अपराजिष्णुर्भवति। परैर्जेतुमशक्यशीलः। अपराजितसेनागुणफलमाह—अन्यतस्त्यजायी भवति अन्यतोभवोऽन्यतस्त्यः शत्रुः। तं जेतुं शीलमस्येति अन्यत-स्त्यजायी॥ ६॥

भाष्याशय—(इन्द्रः) यहां वायु को इन्द्र कहा है। पुराण में ४६ वायु और इन्द्र की कथा देखो। वहां इन्द्र शब्द सूर्य वा मुख्य प्राणवाचक है। "इदि परमैश्वर्ये" परम ऐश्वर्य अर्थ में "इदि" धातु है। उससे इन्द्र बनता। इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। स्वर्ग का अधिपति देवों का स्वामी पुराण कल्पित इन्द्र कोई देहधारी देव नहीं। वैकुण्ठ=आजकल एक कल्पित विष्णु के स्थान का नाम "वैकुण्ठ" मान रक्खा, सो ठीक नहीं। अनिवारित स्थान का नाम वैकुण्ठ है। वायु एक ऐसा पदार्थ है, इसी से जीवों का बाह्य जीवन है। अन्यतस्त्यजायी="अन्यतः+त्यजायी" ये तीन शब्द हैं अन्य शब्द से अन्यतः इससे "अन्यतस्त्य"। अन्य=पर=शत्रु। शत्रुपक्षावलम्बी को "अन्यतस्त्य" कहते हैं। और "जायी" जीतने वाला॥ ६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचा-जातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेव-मुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति *॥ ७॥

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् सम्वादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहि(हैवान्येष)र्हवा अन्येषु भवति॥ ६॥ कौ० ४॥

अर्थ—वे बालाकि बोले कि जो अग्नि में पुरुष है उसकी उपासना मैं करता हूं, यह वचन सुन उस अजातशत्रु ने कहा कि नहीं २ इस अग्नि पुरुष में मुझ को ब्रह्मसंवाद मत करवावें। हे अनूचान ! (विषासहि+इति) यह अग्नि सब कुछ सहनेवाला है वा अन्य इसको नहीं सह सकते हैं, मैं "विषासहि" इसे मान इसके गुण का अध्ययन करता हूं, जो ऐसा मान इसके गुण का अध्ययन करता है, वह भी (अन्येषु) दूसरों में (विषासहि) अतिशय सहनशील होता है॥ ६॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे सम्राट् ! अग्नि में ही जो यह पुरुष (शक्ति) है। इसी को "ब्रह्म" जान उपासता हूं (यह सुन) उस राजा ने कहा। नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत करें। यह विषासहि है। मैं निश्चय इसको 'विषासहि" जान उपासता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा ही मान उपासता है वह सुप्रसिद्ध विषासहि होता है। और इसकी प्रजा भी विषासहि होती है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ७ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (अग्नौ) अग्नि में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) शक्ति विशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूं आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं नहीं ऐसा मत कहें ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठाः) इस अग्निगत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत करें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं। हे अनूचान ! यह अग्नि (विषासहिः) सब कुछ सहने वाला है। अथवा इसको अन्य कोई नहीं सह सकता (अहम्+वै) मैं इसको "विषासहि" जान इसके गुणों का अध्ययन करता हूं (सः+यः) सो जो कोई इसको ऐसा ही मान उपासता है वह भी (ह) सुप्रसिद्ध (विषासहिः+भवति) सब दुःखों का सहने वाला होता है। और (अस्य+प्रजा) इसकी सन्तति और प्रजा (विषासहिः+ह+भवति) सुप्रसिद्ध सहनशील होता है अथवा अन्य कोई इसको नहीं सह सकता ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अयमग्निर्विषासहिरस्ति विशेषेण सहनशीलः दुःसह्यो वाऽन्यैः। यद्यद्विविंध्यते क्षिप्यते तत्सर्वं भस्मीकरणेन सहते। उपासकोऽपि यथोपास्ते तथैव भवति। अतः ह प्रसिद्ध उपासकः। तथाऽस्य प्रजा। विषासहिर्भवति। शेषं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपं हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते * ॥ ८ ॥

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा(नाम्नस्यात्मेति)स्तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते (नाम्नस्यात्मा) तेजस आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् ॥ १० ॥ कौ० ४ ॥

अर्थ—वे प्रसिद्ध बालाकि बोले कि हे राजन् ! जल में ही जो यह पुरुष है उसी की उपासना मैं करता हूं। यह सुन अजातशत्रु बोले कि न न इसके निमित्त सम्वाद मत करवावें। यह तैजस् आत्मा है ऐसा मान मैं इसकी उपासना करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा उपासता है वह भी तेजस्वी आत्मा होता है। अधिदैवतोपासना समाप्त हुई। आगे अध्यात्म उपासना कहेंगे ॥ १० ॥

कौषीतक्युपनिषद् के अधिदैवत उपासना में एक कण्डिका अधिक है वह यह है:—

स होवाच बालाकिर्य एवैषस्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥ ६ ॥

स्तनयित्नु=नाम मेघमण्डल का है अन्य पद स्पष्ट ही हैं।

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन् ! जल में ही जो यह पुरुष है उसी को "ब्रह्म" जान उपासता हूं, यह सुन अजातशत्रु बोले—नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये। यह प्रतिरूप है। ऐसा जानकर मैं निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हूं, सो जो कोई इसको ऐसा मानकर उपासता है। उसको प्रतिरूप ही वस्तु प्राप्त होती है अप्रतिरूप वस्तु नहीं। और इससे सब कुछ प्रतिरूप ही उपजता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (अप्सु) जल में (एव) ही (यः) जो (असौ) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें। इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा०) नहीं २ ऐसा मत कहें ऐसा मत कहें, क्योंकि यह ब्रह्म नहीं। हे अनूचान ! यह जलशक्ति (प्रतिरूप) अनुकूल है। इसमें अनुकूलत्व गुण है। जल प्राणिमात्र का अनुकूल है (अहम्) मैं निश्चय इसको प्रतिरूप जान इसके गुणों का अध्ययन करता हूँ (सः+यः) सो जो कोई इसको ऐसा ही मानकर जानते हैं (एनम्) इस उपासक को (प्रतिरूपम्) अनुकूल (ह+एव) ही पदार्थ (उपगच्छति) प्राप्त होता है (अप्रतिरूपम्+न) प्रतिकूल=विपरीत वस्तु उसको प्राप्त नहीं होती (अथो) और (प्रतिरूपः) अनुकूल ही पुत्र पौत्रादि गो महिषादि सब पदार्थ (अस्मात्) इस साधक से (जायते) उत्पन्न होते हैं ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सहेति। अप्सु जले। प्रतिरूपः अनुकूलः। जलं सर्वस्यानुकूलमस्ति। फलमपि तादृशमेव। एनमुपासकं प्रति। प्रतिरूपं वस्तु हैव। नान्यत्। उपगच्छति प्राप्नोति। अप्रतिरूपं प्रतिकूलं विपरीतं तन्नागच्छति। अथो तथा। अस्मादुपासकात्। प्रतिरूप एवानुकूल एवपुत्रादिर्धनादिश्च सर्वः पदार्थ उपजायते। शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते * ॥ ९ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन् ! आदर्श में ही जो यह पुरुष है उसी को "ब्रह्म" जान उपासना मैं करता हूं। यह सुन अजातशत्रु बोले—नहीं नहीं, इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये। यह तो रोचिष्णु है। ऐसा मैं मानकर इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा मान इसको उपासता है वह निश्चय रोचिष्णु (दीप्तिमान्) होता है। इसकी प्रजा रोचिष्णु होती है। और वह जिनके साथ सङ्ग करता है उन सबों को रोचिष्णु बना देता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—(स+होवाच+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि (आदर्शे) आरसी (एव+योऽयं+पुरुषः) ही जो यह पुरुष है (एतम्) इसी को ब्रह्म मानकर मैं उपासना करता हूँ (स+होवाचाजात०)

---

* स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः ॥ ११ ॥ कौ० अ० ४ ॥ इसका अर्थ सरल और प्रायः सब पद पूर्ववत् ही हैं ॥

इस वचन को सुनकर तब अजातशत्रु ने कहा कि नहीं यह ब्रह्म नहीं है। इस आदर्श पुरुष में ब्रह्म का आरोप मत करो और न इसके लिये विवाद ही बढ़ाओ यह ब्रह्म नहीं है। हे अनूचान! यह तो (रोचिष्णुः) प्रकाशवान् छायाग्राही वस्तु है (अहम्+एतम्) ऐसा इसको मैं भी मानता हूं और (सः+यः०) जो कोई इसको ऐसा मानता है (रोचिष्णु+ह०) वह दीप्तिमान होता है और (अस्य+प्रजा) इसकी प्रजा सन्तति (रोचिष्णुः+ह) दीप्तिमती होती है (अथो) और वह उपासक (यैः) जिन २ अन्य पुरुषों के साथ (सन्निगच्छति) संगम किया करता है (तान्+सर्वान्) उन सबों को भी (अतिरोचते) दीप्तिमान् सुशोभायुक्त बनाता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—सहेति। अधिदैवतविषये विभिन्नोपासनाः प्रदर्शिताः। तत्तद्गुणाश्चोक्ताः। नेदं ब्रह्मेति विशदीकृतम्। केचिद्बाह्यं जगद्विहायास्मिन् शरीरस्थे प्राणादौ ब्रह्माऽऽरोप्य प्राणादिकमेव ब्रह्म वा मत्वोपासते। तदुपासनमपि प्रसङ्गेन खण्डयति। आदर्शे। आदृश्यन्ते प्रतिरूपाणि यस्मिन् स आदर्शः। प्रसादस्वभाव्यं मुकुरम्। स्फटिकम्। खड्गम्। इत्यादि। पुरुषः शक्तिः। गुणमाह—रोचिष्णुरिति। दीप्तिस्वभाव आदर्शोऽस्ति। हे अनूचान! दीप्तिस्वभावमेतं मत्वाऽहमपि उपासे। उपासनाफलमाह—स ह्युपासकः। ह प्रसिद्धः रोचिष्णुर्दीप्तिमान् भवति। तथाऽस्य प्रजापि रोचिष्णुर्भवति। तथा च स उपासकः यैः पुरुषैः सार्धम्। सन्नियच्छति सन्निधिं संगमं कुरुते तान् सर्वान् अतिरोचते। दीपयति रोचिष्णून् करोति ॥ ६ ॥

भाष्याशय—अधिदैवतविषय में भिन्न २ उपासनाएं दिखलाई गईं उस २ उपासना के गुण भी कहे गये यह ब्रह्म नहीं है ऐसा भी विशद किया गया। अब कोई २ बाह्यजगत् को त्याग इसी शरीरस्थ प्राणादिक में ब्रह्म का आरोप कर अथवा प्राणादिक को ही ब्रह्म मान उपासते हैं। इस उपासना का भी प्रसङ्ग से खण्डन करते हैं। आदर्श+प्रतिरूप=प्रतिछाया जिसमें दीख पड़े उसे आदर्श कहते हैं। आदर्श नाम आरसी दर्पण मुकुर का है, परन्तु आदर्श समान जो स्फटिक खड्ग आदि पदार्थ हैं जिसमें प्रतिछाया दीख पड़ती है उस सब का ग्रहण है जो जैसी उपासना करता है उसको वैसा ही फल भी प्राप्त होता है, अतः दर्पण और दर्पण समान अन्य वस्तुओं के भी गुणों को जो जानता है वह अपने में भी रोचिष्णु गुण धारण करने के लिये सदा प्रयत्न करता है अतः वह स्वयं और इसकी प्रजा सन्तति आदि भी वैसी ही होती है ॥ ६ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिंल्लोक आयुरेतिनैनं पुरा कालात् प्राणो जहाति * ॥ १० ॥

* स होवाच बालाकिर्य एवैषप्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा असुरिति वा (द्वितीयोऽनपग इति) अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते (विन्दते द्वितीयान् द्वितीयवान् भवति) न पुराकालात् सम्मोहमेति ॥ १३ ॥ अ० ४ ॥ इसके साथ में इस कण्डिका का भी कहीं २ पाठ हैं, वह यह है—स होवाच बालाकिर्य एवैषशब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः। असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुराकालात् सम्मोहमेति ॥ दोनों के अर्थ विस्पष्ट हैं (प्रतिश्रुत्कायाम्) दिशाएं (अनपगः) गमन शून्य (शब्दः+पुरुषम्+अन्वेति) जो शब्द पुरुष के चलने के पीछे उदित होता है, (नो) नहीं (सम्मोहम्) मरण (एति) पाता है ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे सम्राट् ! गमन करते हुए प्राणी के पीछे जो शब्द उत्पन्न होता है उसी को "ब्रह्म" मान मैं उपासना करता हूं। यह सुन अजातशत्रु बोले कि नहीं २ इसमें ब्रह्मसंवाद आप मत कीजिये। यह तो "असु" है। ऐसा मान मैं निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हूं, सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है, वह इस लोक में निश्चय सब आयु को पाता है। काल से पहिले इसको प्राण नहीं त्यागता ॥ १० ॥

पदार्थ—(स+ह०) वे गार्ग्य बोले कि (यन्तम्) गमन करते प्राणी के (पश्चात्) पीछे २ (यः+अयम्) जो यह (शब्दः) शब्द (अनूदेति) उदित होता है अर्थात् चलते हुए के पीछे २ जो प्रतिध्वनि होती है (तम्+एव०) इत्यादि पूर्ववत्। हे अनूचान ! यह प्रतिध्वनि तो (असुः+इति) वायु है। यद्वा चलते समय जो वायु का प्रक्षेप=इधर उधर गमन होता है। उस कारण से वह प्रतिध्वनि होती है न कि वह कोई उपास्य वस्तु है, (अहम्) मैं (एतम्) इस प्रतिध्वनि को "असु" मानकर (वै) निश्चय ही (उपासे) उपासना करता हूं (सः+यः०) सो जो कोई इसको ऐसा मानकर उपासता है, वह (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (सर्वम्+ह=एव) सब ही (आयुः) आयु (एति) पाता है और (कालात्+पुरा) मरणकाल के पूर्व ज्वरादि रोगों से पीडित होने पर भी (एनम्) इसको (न+प्राणः+जहाति) प्राण त्यागता नहीं अर्थात् वह पूर्णायु को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—सहेति। यन्तम्। गच्छन्तं पुरुषम्। पश्चात् यः शब्दः। अनूदेति अनूत्पद्यते। हे अनूचान ! अयं पश्चादुत्पन्नः शब्दः। असुरिति वायुरिति। असुरिति प्राणवचनः। वायुहेतुः स शब्दो भवति। नहि तत्र किमपि चेतनगुणजातम्। यद्वा असुः प्रक्षेपः। गमनेन यो वायोः प्रक्षेप इतस्ततश्चालनं भवति। तेन हेतुना स शब्दो जायते। उपासनाफलमाह—अस्मिन् लोके। सर्वं पूर्णम्। आयुरेति प्राप्नोति। पुराकालात् कालात् प्रथमम्। एनमुपासकं रोगादिभिः पीड्यमानमपि प्राणो न जहाति न त्यजति। वैदिक-शतवर्षमायुः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते * ॥ ११ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले—हे राजन् ! दिशाओं में ही जो यह पुरुष है, उसी को ब्रह्म जान उपासना करता हूं, यह सुन अजातशत्रु बोले कि नहीं २ इसमें ब्रह्मसंवाद मत कीजिये। यह तो द्वितीय और अनपग है ऐसा मान मैं निश्चय इसके गुणों का अध्ययन करता हूं, सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है वह निश्चय द्वितीयवान् होता है और इससे गण का विच्छेद कदापि भी नहीं होता है ॥ ११ ॥

---

* कौषीतकि में दिशा पुरुष का वर्णन नहीं है। दशम कण्डिका के ऊपर जो प्रथम टिप्पणी दी गई है वह इसके तुल्य हो सकती है, परन्तु उसमें केवल "प्रतिश्रुत्वा" शब्दमात्र की समानता प्रतीत होती है, अन्य की नहीं। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् का जो आदर्श मेरे पास है। उसमें पाठभेद बहुत है और स्पष्ट नहीं है। कहीं २ ऐसा प्रतीत होता है कि उलटा पाठ होगया है, यह सब लेखक का दोष है, परन्तु मुझे जैसा पाठ मिला है वैसा ही रक्खा है ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (दिक्षु) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्वा दिशाओं में (यः+एव) जो ही (अयम्) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूं, आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं २ ऐसा मत कहें (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठाः) इस दिशागत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं है । हे अनूचान ! यह दिशागत पुरुष (द्वितीयः) द्वितीय (अनपगः) न कभी त्यागने वाला (वै) निश्चय (एतम्) इसको (उपासे+इति) उपासता हूं । आगे फल कहते हैं—(सः+यः) सो जो कोई तत्त्ववित् उपासक (एतम्+एव) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना करता है वह (द्वितीयवान्+ह+भवति) द्वितीयवान् होता है, और इस उपासक के (गणः+न+छिद्यते) पुत्रादियों और गवादियों का समूह वियुक्त कभी नहीं होता ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सहेति । दिक्षु प्राचीदक्षिणाप्रतीच्युदीची ध्रुवोर्ध्वासु दिक्षु । हे अनूचान ! अयं दिक्पुरुषः । द्वितीयः । तथा अनपगः नापगमोगमनं यस्य सोऽनपगोऽवियुक्तः । उपासनफलमाह—स उपासकः द्वितीयवान् भवति । तथा च—अस्मादुपासकात् । गणः पुत्रादीनां गवादीनाञ्च समूहः । न कदापि छिद्यते विच्छिन्नो भवति ॥ ११ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वं हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुराकालान्मृत्युरागच्छति * ॥ १२ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले हे—राजन् ! छाया में ही जो यह पुरुष है उसको "ब्रह्म" जान उपासना करता हूं । यह सुन अजातशत्रु बोले नहीं २ इसमें ब्रह्मसंवाद आप मत कीजिये । यह तो "मृत्यु" है । ऐसा मान निश्चय मैं इसके गुण का अध्ययन करता हूं । सो जो कोई इसको ऐसा मान उपासता है वह इस लोक में सर्व आयु को पाता है । और काल से पूर्व इसको मृत्यु नहीं आता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सः+ह+गार्ग्यः) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बालाकि (उवाच) बोले कि हे सम्राट् ! (छायामयः) बाहरी अन्धकार में (यः+एव) जो ही (असौ) यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है (एतम्+एव) इसी पुरुष को (ब्रह्म) ब्रह्म मान (अहम्+उपासे+इति) मैं उपासना करता हूँ । आप भी इसको ब्रह्म जानें और उपासना करें । इतना वचन सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले (मा+मा) नहीं २ ऐसा मत कहें, ऐसा मत कहें, (मा+एतस्मिन्+संवदिष्ठाः) इस अन्धकारगत पुरुष में ब्रह्मसंवाद मुझ से मत कहें क्योंकि यह ब्रह्म नहीं । हे अनूचान ! (मृत्युः) अन्धकार होने के कारण भयजनक है और (वै) निश्चय (एतम्) इसको ऐसा मान (उपासे+इति)

* स होवाच बालाकिर्य एवैष छायायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा (मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुराकालात्प्रमीयते) द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयात् द्वितीयवान् हि भवति ॥ १२ ॥ कौ० अ० ४ ॥

उपासता हूं (सः+यः) सो जो कोई तत्त्ववित् उपासक (एतम्+एवम्) इस पुरुष को ऐसा जान (उपास्ते) उपासना करता है, वह (अस्मिन्+लोके) इस लोक में (सर्वम्+आयुः+एति) सम्पूर्ण आयु को पाता है, (पुरा+कालात्) काल से पहिले (एनम्) इस उपासक को (मृत्युः+न+आगच्छति) मृत्यु नहीं आता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—सहेति । छायामयः छायाप्रधानः । बाह्यतमश्छाया । छायापुरुषविशेषणमाह मृत्युरिति अज्ञानान्धकारत्वाद् भयजनकः । फलमाह—अस्मिन् लोके । सर्वमायुरेति । पुराकालात्कालात्पूर्वम् । मृत्युः । नैनमुपासकमागच्छति ॥ १२ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वी ह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः * ॥ १३ ॥

* कौषीतकि में यद्यपि आत्मपुरुष का वर्णन नहीं है तथा कई एक अङ्गों के पुरुषों का वर्णन आया है । यथा—

स होवाच बालाकिर्य एवैष तत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नया चरति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते ॥ १५ ॥ स होवाच बालाकिर्य एवैष शरीरे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिर्यशसा ब्रह्मवर्चसेन स्वर्गेण लोकेन सर्वमायुरेति ॥ १६ ॥ स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठा वाच आत्माग्नेरात्मा, ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥ १७ ॥ स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षिणि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन् संवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा, विद्युत आत्मा, तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥ १८ ॥ कौ० उ० अ० ४ ॥

अर्थ—जो यह सुप्त पुरुष स्वप्नों को देखा करता है (यमो+राजा) जो नियम में रखनेवाला और दीप्तिमान् है । (अस्मै) इस उपासक के लिये (इदम्+श्रैष्ठ्याय) यह जगत् की श्रेष्ठता (यम्यते) प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ जो यह शरीर में पुरुष है (प्रजापतिः) प्राणादिक प्रजा का पालक (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (यशसा) यश से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से (स्वर्गेण+लोकेन) सुखी लोक से (प्रजायते) जगत् में प्रख्यात होता है । अर्थात् प्रजा प्रभृतियों की वृद्धि होती है और (सर्वम्+आयुः+एति) पूर्ण आयु को पाता है ॥ १६ ॥ जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है । (वाचः) नाम वाणी का (आत्मा) कारण है (अग्नेः) अग्नि का (आत्मा) स्वभाव है । और (ज्योतिष आत्मा) ज्योति का स्वभाव है ॥ १७ ॥ जो यह वामनेत्र में पुरुष है (सत्यस्य+आत्मा) सत्य का कारण है (विद्युत्+आत्मा) विद्युत् का स्वभाव है (तेजस+आत्मा) तेज का कारण है ॥ अन्य पद सुगम और पूर्व में व्याख्यात हैं ॥ १८ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले कि हे राजन् ! आत्मा में ही जो यह पुरुष है, इसी को "ब्रह्म" जानकर मैं उपासना करता हूं। यह वचन सुन वे अजातशत्रु बोले नहीं नहीं इसमें ब्रह्मसंवाद आप न करें, यह आत्मवान् है। ऐसा मानकर निश्चय मैं इसके गुण का अध्ययन करता हूं। सो जो कोई इसको ऐसा जान उपासता है। वह यहां आत्मवान् होता है और इसकी प्रजा भी आत्मवती होती है। इतनी बात सुनकर वे गार्ग्य चुप हो बैठे ॥ १३ ॥

पदार्थ—(स होवा०) वे प्रसिद्ध गार्ग्य बोले—हे राजन् अजातशत्रो ! अन्तिम मेरी बात सुनो (आत्मनि) जीवात्मा में (एव) ही (यः) जो (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुषशक्ति है (एतम्+एव+अहम्) इसी को मैं (ब्रह्म+उपासे+इति) ब्रह्म मानकर उपासना करता हूं, तू भी इसी की ब्रह्मबुद्धि से उपासना कर। इस असमंजस और शास्त्रविरुद्ध वचन को सुन (सः+ह+अजातशत्रुः) वे सुप्रसिद्ध अजातशत्रु बोले—हे अनूचान गार्ग्य बालाके ! (मा) नहीं २ (एतस्मिन्) यह ब्रह्म है या नहीं इसके निमित्त (मा+संवदिष्ठाः) संवाद मत कीजिये, यह निश्चय ही ब्रह्म नहीं है। अथवा (एतस्मिन्+मा+संवदिष्ठाः) इस आत्मपुरुष में ब्रह्मसंवाद मत करो। अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म नहीं है। हे राजन् ! यदि यह ब्रह्म नहीं है तो यह क्या है ? और इसकी उपासना का फल क्या है ? सो आप ही कहें। इस पर राजा कहते हैं। हे अनूचान ! (आत्मन्वी+इति) यह जीवात्मा आत्मावाला है। अर्थात् इस जीवात्मा का सहायक कोई अन्य पुरुष है। यह स्वतन्त्र नहीं। जो स्वतन्त्र नहीं वह ब्रह्म नहीं। अतः इससे कोई अन्य ब्रह्म है इसमें सन्देह नहीं। हे अनूचान ! मैं इसको आत्मवान् मान जानकर (वै) निश्चय ही इसके गुणों का अध्ययन करता हूं। आगे फल कहते हैं—(सः+यः+एतम्+एवम्+उपास्ते) सो जो कोई इसको ऐसा जानकर उपासता है, वह इस संसार वा जीवन में (आत्मन्वी+ह) प्रशस्त आत्मावाला होता है। अर्थात् इस साधक का जीवात्मा अच्छा शुद्ध गुणग्राही सर्वगुणसंपन्न हो जाता है। इतना ही नहीं किन्तु यहां (अस्य+प्रजा) इसके पुत्र पौत्र अथवा प्रजा भी (आत्मन्विनी+ह+भवति) अच्छे आत्मावाली होती है। अर्थात् इसके सन्तान की भी आत्मा शुद्ध होती है। यही इसका फल है। राजा के इस परम विज्ञान को सुन यह मुझसे भी बढ़कर विज्ञानी और ब्रह्मवेत्ता है यह जान (स+ह+गार्ग्यः) वे गार्ग्य (तूष्णीम्+आस) चुप होगये ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सहेति। केचिदिमं जीवात्मानं ब्रह्म मत्वोपासते। तदपि निराकरोति। केचिदात्मपदं बुद्धिपदेन व्याचक्षते। बुद्धिर्ज्ञानम्। ज्ञानाद्वा विज्ञानाद्वातिरिक्तं वस्तु नास्तीति केचिन्मत्वा विज्ञानमेवोपासते। तदप्यसाध्विति दर्शयति। अयमात्मा आत्मन्वी। आत्मवान्। अत्रार्षोविनि प्रत्ययः। आत्मा परमात्मा द्वितीयोऽस्यास्तीति आत्मन्वी। नायं जीवात्मा ब्रह्म। अस्य तु अन्यः सहायकः कोप्यस्तीति। आत्मन्वीति। विशेषणेन विशदयति। बुद्धि पक्षे। इयं बुद्धिः आत्मन्विनी जीवात्मसहायिका। फलमाह—स उपासकः इह जगति जीवने वा आत्मन्वी भवति प्रशस्तात्मा भवति। तथाऽस्य प्रजा आत्मन्विनी भवति। इति राज्ञोऽजातशत्रोर्विज्ञानं श्रुत्वा विचार्य्य च अयं राजा मत्तोऽपि विज्ञानितर ब्रह्मवेत्तृतरश्चेति मत्वा स ह गार्ग्यो तूष्णीमास। अग्रे ब्रह्मज्ञानोपदेशाद्विरराम ॥ १३ ॥

भाष्याशय—कोई २ पुरुष इसी जीवात्मा को ही ब्रह्म मान उपासना करते हैं। इसका भी खण्डन करते हैं। कोई टीकाकार आत्मशब्द का अर्थ बुद्धि करते हैं। बुद्धि नाम ज्ञान का है। ज्ञान वा विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं ऐसा कोई मानकर विज्ञान की ही उपासना करते हैं।

वह भी ठीक नहीं ऐसा दिखलाते हैं (आत्मन्वी) आत्मन् शब्द से "विनि" प्रत्यय होकर "आत्मन्वी" शब्द बनता है। आत्मवान् और आत्मन्वी का एक ही तात्पर्य है। प्रत्यय का भेद है, अर्थ का नहीं। जैसे धनवान्, धनी, ज्ञानवान्, ज्ञानी इत्यादि ॥ जैसे—यशस्वी, तेजस्वी, मेधावी आदि शब्द बनते हैं। और जैसे जिसका अच्छा यश हो उसे यशस्वी, अच्छा तेज हो उसे तेजस्वी, अच्छी मेधा हो उसे मेधावी कहते हैं वैसे ही जिसका आत्मा अच्छा हो उसे "आत्मन्वी" कहते हैं। यह जीवात्मा "आत्मन्वी" है इसका तात्पर्य यह है कि इस जीवात्मा का अन्य कोई आत्मसहायक है। अतः यह आत्मा भी आत्मवान् है। और बुद्धिपक्ष में जीवात्मा जिसका सहायक है। ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ १३ ॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू ३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उप त्वा यानीति * ॥ १४ ॥

अनुवाद—वे अजातशत्रु बोले कि क्या इतना ही ? हां इतना ही "ऐसा गार्ग्य ने उत्तर दिया" तब पुनः अजातशत्रु बोले कि इतने से वह विदित नहीं होता। तब गार्ग्य बोले कि तब आप के निकट मैं शिष्यवत् प्राप्त होऊं ॥ १४ ॥

पदार्थ—अनूचान गार्ग्य को ब्रह्मज्ञान में अपूर्ण देख (सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु (उवाच) बोले कि हे गार्ग्य ! (नु) क्या (एतावत्+इति) इतना ही। अर्थात् उस ब्रह्म के विषय में क्या आप इतना ही जानते हैं ? तब गार्ग्य कहते हैं कि (एतावत्+हि+इति) हां इतना ही। मैं इतना ही जानता हूं और इसी को ब्रह्म समझता हूं। इतना वचन सुन पुनः राजा बोले कि (एतावता) इतने ज्ञान से (न+विदितम्+भवति+इति) वह ब्रह्म विदित नहीं होता। अर्थात् आपको ब्रह्म सम्बन्धी जितना ज्ञान है, वह अपूर्ण है इससे भी अधिक ब्रह्म है, जिसको आप नहीं जानते हैं। परन्तु वह भी आपको जानना चाहिये। यह सुन (सः+ह+गार्ग्यः+उवाच) वह गार्ग्य बोले कि यदि ऐसा है और इससे भी अधिक ब्रह्म है तो (त्वा) आपके (उपयानि+इति) निकट शिष्य होकर मैं प्राप्त होऊं। यदि आपकी आज्ञा हो और ब्रह्म यदि मुझे अविदित ही है तो आपके निकट उस विद्या के लिये मैं शिष्य बनता हूं। आप कृपया उसकी शिक्षा मुझे देवें, यही आप से सविनय प्रार्थना है ॥ १४ ॥

---

* तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु बालाकी ३ इत्येतावदिति होवाच बालाकिस्तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै खलु मा संवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति ॥ १९ ॥ (क) कौ० अ० ४ ॥

अर्थ—तब ही वह बालाकि चुप होगया। तब अजातशत्रु उससे बोले—हे बालाके ! क्या इतना ही। तब बालाकि ने कहा—हां इतना ही। तब अजातशत्रु ने कहा कि बालाके ! आपने मुझे व्यर्थ ही कहा कि "आप से मैं ब्रह्म कहूंगा" हे बालाके ! जो परमात्मा इन सूर्य पुरुषादिकों का कर्त्ता है। जिसका यह सब कर्म है वही वेदितव्य है। राजा की यह वाणी सुन बालाकि समित्पाणि हो राजा के निकट शिष्यवत् उपस्थित हुए। और राजा से निवेदन किया कि मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूं ॥

भाष्यम्—गार्ग्यस्य दृप्तबालाकेः परिमितं ब्रह्म निरीक्ष्य नायं ब्रह्मविदिति सम्वादेन निश्चित्य च सहाजातशत्रुर्वक्ष्यमाणं वचनमुवाच । हे अनूचान ! नु ननु । एतावत् एतावदेव ब्रह्म भगवान् वेत्ति । आहोस्विदित अधिकमपीति प्रश्नः । बालाकिः कथयति । एतावद् हि इति । हे राजन् अहमेतावद् ब्रह्म वेद्मि हि निश्चयेन । इतोऽधिकमपि ब्रह्मास्तीति । न मम विज्ञातमस्तीति भावः । इति श्रुत्वा राजोवाच एतावता विज्ञानेन । नैव ब्रह्म विदितं भवति । हे अनूचान ! इतोऽप्यधिकं ब्रह्मास्ति । तद्भगवताऽविदितमेवास्ति तत्पुनरपि मीमांस्यमेव । इत्यजातशत्रोर्वचनं श्रुत्वा स ह गार्ग्यो बालाकिरुवाच—हे अजातशत्रो ! अवशिष्टब्रह्मविद्याविज्ञानाय । त्वा त्वाम् । उपयानि उपगच्छानीति । यथा जिज्ञासुः शिष्यो विद्यार्थं गुरुमुपगच्छति तथैवाहमपि त्वामुपयानि यदि भगवताऽनुमतिर्भवेत् । मां शिष्यवद् ब्रह्मविज्ञानं भगवान् शास्त्विति प्रार्थये । उपत्वायानीति व्यवहित उपसर्गः । छन्दसि परेऽपि ॥ १ । ४ । ८१ ॥ व्यवहिताश्च १ । ४ । ८२ ॥ इति नियमात् ॥ १४ ॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन्पाण्डरवासः सोम राजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ ॥ १५ ॥

अनुवाद—वे अजातशत्रु बोले कि यह विपरीत बात है कि ब्राह्मण एक क्षत्रिय के निकट जाय इस आशा से कि "यह क्षत्रिय मुझ ब्राह्मण को ब्रह्म कहेगा" परन्तु आपको मैं ब्रह्म का ज्ञान अवश्य करवाऊंगा । इतना कह उस गार्ग्य का हाथ पकड़ वहां से राजा उठे । और वे दोनों किसी एक "सुप्त" पुरुष के निकट आये । उसको इन नामों से राजा पुकारने लगे । हे बृहन् ! हे पाण्डरवासः ! हे सोम ! हे राजन् ! परन्तु वह नहीं उठा । तब उसको हाथ से मल २ कर जगाया । तब वह उठ खड़ा हुआ ॥ १५ ॥

पदार्थ—(सः+ह+अजातशत्रुः) वे अजातशत्रु बोले—हे गार्ग्य ! (एतत्) यह बात (प्रतिलोमम्) विपरीत है । कौन विपरीत है ? सो आगे कहते हैं—क्षत्रिय (मे) मुझ ब्राह्मण को (ब्रह्म+वक्ष्यति) ब्रह्म का उपदेश करेगा (इति) इस आशा से (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (क्षत्रियम्) क्षत्रिय के (उपेयात्) निकट जाय । यह बात विपरीत है । तथापि आप मेरे गृह पर कुछ काल ठहरें (त्वा) आपको (विज्ञपयिष्यामि+एव) निश्चय मैं ब्रह्म जताऊंगा (इति) इतना कह (तम्) उस गार्ग्य को (पाणौ+आदाय) हाथ पकड़ के (उत्तस्थौ) वहां से उठे (च) और (तौ) वे दोनों (सुप्तम्+पुरुषम्) किसी सुप्त पुरुष के (आजग्मतुः) समीप आए और (तम्) उस सुप्त पुरुष को (एतैः) इन वक्ष्यमाण (नामभिः) नामों से (आमन्त्रयाञ्चक्रे) जगाने के लिये पुकारने लगे । किन नामों से सो आगे कहते हैं—(बृहन्) हे बृहन् ! बड़े (पाण्डरवासः) हे शुक्ल वस्त्रधारी ! (सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजन् ! जागो, नहीं उठते हो । परन्तु (सः) वह सुप्त पुरुष (न+उत्तस्थौ) नहीं उठा । जब इन नामों से पुकारने पर भी वह नहीं जागा तब (तम्) उसको (पाणिना) हाथ से (आपेषम्) २ मल कर (बोधयाञ्चकार) उठाया (सः+ह+उत्तस्थौ) तब वह उठ खड़ा हुआ ॥ १५ ॥

भाष्यम्—प्रकृष्टविनयं विनिवृत्ताभिमानं समभ्युदितौदार्य्यं प्रदर्शितविज्ञानसंग्रहलालसं गार्ग्यस्य वचनमाकर्ण्य सहाजातशत्रुरुवाच—हे गार्ग्य ! एतच्च तव वचनं प्रतिलोमं विपरीतं मे भाति। किन्तत्प्रतिलोमं तदाह—यद् एष क्षत्रियो मे मह्यम्। ब्रह्म ब्रह्मज्ञानम्। वक्ष्यति उपदेक्ष्यति। इत्याशया। ब्राह्मणः। क्षत्रियं राजन्यम्। उपेयाद् उपगच्छेद् इति यद् वर्तते। तत्प्रतिलोमम्। विधानशास्त्रनिषेधः। तद् यतः। आचार्यो ब्राह्मणः। अनाचार्यः क्षत्रियः। ब्रह्मविदेव ब्राह्मण उच्यते नाब्रह्मवित्। यः कश्चिद्ब्रह्मवित्। स एवोपदेष्टुमर्हति। क्षत्रियः खलु शूरो वीरो सांग्रामिको भवति। संग्रामकलासु कुशलस्तामेव विद्यां शिक्षितुं समर्थः। न ब्रह्मविद्याम्। दृश्यते च ब्राह्मण एव ब्रह्मविद्याप्रशासको न क्षत्रियः। अतो ब्रह्मविद्याप्राप्त्यै ब्राह्मणस्य क्षत्रियसमीपगमनं विपरीतमेव। परन्तु नायं सार्वत्रिको नियमः। क्वचित् क्षत्रियोप्याचार्य्यायते जनकादिवत्। अन्यच्च मननादिव्यापाराधीनत्वाद्विद्याया यः कश्चिन्मननादिषु कालं यापयति सोऽतिशिष्यते। अतोऽजातशत्रुस्तस्मिन् काले क्षत्रियाणां मध्ये ब्रह्मविदां वरिष्ठः संवृत्त इति नाश्चर्यम्। अतः सम्यग् विचार्य्य पुनरपि सहाजातशत्रुर्ब्रवीति। यद्यप्येतद् विपरीतं तथापि हे गार्ग्य ! अहम्। त्वा त्वाम्। विज्ञपयिष्यामि एव। व्यवहितेन विना क्रियासम्बन्धः। त्वमत्र कञ्चित् कालं तिष्ठ। अहं तुभ्यं ब्रह्म ज्ञपयिष्याम्येव। न तु आचार्यत्वेन ब्रह्मविज्ञानशास्त्रमध्यापयिष्यामि किन्तु येन तव ब्रह्मविषये बोधोदयः स्यात्तं यत्नं करिष्यामि। इति कथयित्वा तं गार्ग्यम्। पाणौ हस्ते आदाय। हस्तावच्छेदेन तं गार्ग्यं गृहीत्वा। राजा उत्तस्थौ उत्थितवान्। उत्थाय च। तौ ह द्वौ। कञ्चित् सुप्तं शयितं गाढनिद्रायां पतितम्। आजग्मतुरागतवन्तौ। तथा च। तं सुप्तं पुरुषम्। एतैर्वक्ष्यमाणैर्नामभिः। आमन्त्रयाञ्चक्रे बोधयितुमाह्वयामास। हे बृहन् ! हे पाण्डरवासः ! हे सोम ! हे राजन् ! उत्तिष्ठ, इमानि चत्वारि चन्द्रमसोनामधेयानि। इति शब्दः प्रकारे। तेनैवम्। अतिष्ठा, मूर्धा, तेजस्वी, पूर्णम्, इन्द्रो, वैकुण्ठः, विषासहिरित्यादीनि सूर्यादीनां नामान्यपि अभिप्रेतानि। सर्वेषां सूर्यादीनां नामभिरित्यर्थः। तमामन्त्रयाञ्चक्रे इत्थमामन्त्र्यमाणोऽपि स नोत्तस्थौ नोत्थितवान्। ततस्तं सुप्तमप्रतिबुध्यमानं पाणिना हस्तेनापेषम् आपिष्यापिष्य। हस्तं पीडयित्वा पीडयित्वा बोधयाञ्चकार जागरयामास। इत्थं पाणिना पीडितः स ह। उत्तस्थौ उत्थितवान्॥ १५॥

भाष्याशय—प्रतिलोम=विपरीत इस हेतु है कि मन्वादि धर्मशास्त्र में लिखा है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
मनु० १। ८८॥

स्वयं पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना, दूसरों को यज्ञ करवाना, दान देना और दान लेना, ये छः अधिकार ब्राह्मणों को दिये गये हैं। और क्षत्रिय के लिये स्वयं यज्ञ करना, दान देना और अध्ययन करना ये तीन कर्म ब्राह्मण के समान ही कहे गये हैं। परन्तु यज्ञ को करवाना, विद्या पढ़ाना और प्रतिग्रह लेना ये तीन कर्म क्षत्रिय के लिये कहीं कहे नहीं गये हैं। क्योंकि—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च। विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
मनु० १। ८९॥

इस मनुश्लोक में दान, इज्या, अध्ययन ये तीन ही कर्म क्षत्रिय के लिये उपदिष्ट हुए हैं। इस अभिप्राय को लेकर राजा ने "प्रतिलोम" कहा है॥

शङ्का—इससे तो सिद्ध होता है कि जैसे पशुओं में गौ, महिष, उष्ट्र, गज, मृग आदि भिन्न २ जातियां हैं वैसे ही मनुष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार जातियां भी स्वाभाविक हैं ॥

समाधान—देखो पशुओं में भिन्नता प्रत्यक्ष है । एक दूसरे से स्वभाव, गुण, भोजन, बैठना, उठना, जन्म, आकृति आदि सब ही भिन्न हैं । भैंस को यदि छोड़ दो तो दिन भर पानी में बैठना पसन्द करेगी, परन्तु गाय नहीं । उष्ट्र कण्टक खाता है, परन्तु हाथी नहीं । किसी की उन्नति तीन महीने में जैसे कुत्तों की, किसी की बारह महीने में जैसे गाय आदि की । इस प्रकार लोकव्यवहार से देखो । गाय के शृङ्ग, शरीर के अवयव, ध्वनि, आकृति सब ही भैंस से भिन्न हैं, गाय के जैसा शृङ्ग है वैसा भैंस के नहीं । गाय की जैसी आकृति है । भैंस की वैसी नहीं । गाय की जैसी भाषण की ध्वनि है वैसी भैंस की नहीं । दोनों के स्वभाव में भेद है । भैंस पानी को अधिक पसन्द करती है, गाय नहीं, यदि दोनों पशुओं को एकत्रित कर देखें तो प्रत्यक्ष ही भिन्नता प्रतीत होगी । इसी प्रकार हाथी घोड़े आदि में भिन्नता प्रतीत होती है इस हेतु वे भिन्न कहे जाते हैं । परन्तु मनुष्य में यह भिन्नता कदापि नहीं । यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब एक स्थान में खड़े कर दिये जायं तो क्या भिन्नता प्रतीत होगी ? कुछ भी नहीं । देखो लोकव्यवहार में जब तुम किसी मनुष्य से पूछते हो कि आप किस जाति के हैं जब वह उत्तर देता है तब तुमको ज्ञात होता है कि यह अमुक जाति का है । पशुओं में ऐसा नहीं । हाथी बैल को देखकर तत्काल ही बोध हो जायगा कि यह हाथी है और यह बैल है । देखो पशुओं में आकृति की भिन्नता बहुत होती गई है । हाथी इतना लम्बा चौड़ा और कुत्ता कितना छोटा इत्यादि । मनुष्य में ऐसा नहीं है ॥

शङ्का—मनुष्य में भी देखने से मालूम होता है कि यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, यह वैश्य, यह शूद्र है । जैसे ललाट में चन्दन, हाथ में पञ्चाङ्ग, गले में माला आदि चिह्न देखते हैं तो समझते हैं कि यह ब्राह्मण है । और कटि में लटकता हुआ खड्ग, हाथ में बन्दूक भाला बर्छी आदि देखते हैं तब यह क्षत्रिय है ऐसा बोध होता है, वैश्य, शूद्र आदि में भी वैसा ही जानना ।

समाधान—यह सब कृत्रिम चिह्न हैं । कृत्रिम चिह्न जातिभेदक नहीं होसकता । यदि कोई क्षत्रिय भी वैसे ही चन्दन आदि धारण करले और ब्राह्मण वैसे ही खड्ग आदि बांधले तब तुम कैसे पहिचानोगे ? देखो आजकल की प्रथानुसार दरभङ्गानरेश ब्राह्मण हैं । खड्ग धारण करते हैं । क्षत्रियवत् ही रहते हैं । कोई भेद प्रतीत नहीं होता । इङ्गलिश पलटन में सब जाति के लोग भरती होते हैं । यूनिफ़ार्म के समय कोई भेद प्रतीत नहीं होता, परन्तु अब पशुओं में देखो यदि हाथी और कुत्ते दोनों को एक प्रकार के ही वेषों से भूषित करो क्या तब भी एक समान ही प्रतीत होंगे कदापि नहीं । कभी कुत्ता हाथी हो सकता है वा हाथी कुत्ता हो सकता है ? कदापि नहीं । परन्तु मनुष्य यदि एक वेष से भूषित हो तो एक समान ही प्रतीत होंगे । अतः मनुष्य में जातीय भिन्नता नहीं । एक बात यह भी देखो । क्या ब्राह्मणादि वर्ण की उत्पत्ति भारतवर्ष ही में हुई है, अथवा अन्य देश में भी ? यदि कहो कि ईश्वर का नियम सर्वत्र एकसा है तब जहां मनुष्य होंगे वहीं चार वर्ण होने चाहियें । अन्य देश में नहीं देखते, अतः मनुष्य में भिन्न जाति नहीं ॥

शास्त्र के सिद्धान्त देखो । पूर्वकाल में क्षत्रिय की कन्या से ब्राह्मण का विवाह हुआ है । मनुजी भी कहते हैं । ब्राह्मण का विवाह क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों में हो सकता । इसी प्रकार क्षत्रिय का वैश्य शूद्र वर्ण में भी विवाह हो सकता है । कहो यदि यह भिन्न जाति होती तो विवाह के लिये

मनुजी आज्ञा कैसे देते ? क्या संभव है कि हाथी का संयोग घोड़ी से हो वा घोड़े का संयोग हथिनी से हो ? कदापि नहीं। ब्राह्मण की कन्या से भी क्षत्रिय का विवाह हुआ है। जैसे शुक्राचार्य की कन्या से राजा ययाति का विवाह हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदिक कन्या से यवन का विवाह हुआ है। और उससे बालक उत्पन्न हुए हैं आज भी ऐसे हज़ारों उदाहरण हैं। ब्राह्मण जो क्रिस्तान हो गये हैं क्रिस्तान में ही विवाह करते हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण शूद्र महाचाण्डाल तक हो सकता है, परन्तु क्या किसी अवस्था में हाथी को कोई घोड़ा बना सकता है ? कदापि नहीं। अतः मनुष्य में जाति नहीं ॥

यदि कहो कि गौर वर्ण ब्राह्मण, रक्त वर्ण क्षत्रिय, पीत वर्ण वैश्य और कृष्ण वर्ण शूद्र है। ऐसा नियम मानो तो आजकल की प्रथानुसार हज़ारों ब्राह्मण शूद्र बन जायेंगे। जिस देश में कृष्ण वर्ण के मनुष्य होते ही नहीं वहां क्या करोगे ? इस नियम को किसी अल्पज्ञ पुरुष ने कहा है। यह नियम मेरे सिद्धान्त को किसी प्रकार पुष्ट करता है, तेरे सिद्धान्त को नहीं। यहां श्वेत रक्त आदि शब्द गुणवाचक हैं और लक्षणा वृत्ति द्वारा किन्हीं अन्य ही लक्ष्यार्थों को कहते हैं। अर्थात् सात्विक गुण का सूचक श्वेत। धार्मिक वीरतासूचक रक्त। व्यौपारसूचक पीत। अधर्मसूचक कृष्ण शब्द यहां है। लोगों ने इस भाव को न समझ केवल रंग अर्थ मान लिया ॥

शङ्का—वेद में मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैर से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है सो कैसे ?

समाधान—इस मन्त्र का अर्थ यह नहीं है। जब जातिप्रथा देश में चल गई थी उस समय इस मन्त्र का अर्थ लोगों ने वैसा ही कर लिया। यह अलङ्काररूप से जगत् का वर्णन है। इसका व्याख्यान जातिनिर्णय में बहुत विस्तार से कहा हुआ है, वहां देखो। यहां केवल इतना जानलो कि इसके पूर्व मन्त्र में प्रश्न है। इसका मुख कौन है ? बाहु कौन है ? ऊरु कौन है ? और पैर कौन है ? अब विचार करो कि जैसा प्रश्न होता है वैसा ही उत्तर होना चाहिये। उत्पत्ति का तो यहां प्रश्न ही नहीं। फिर उत्पत्ति यहां कैसे कही जासकती ? एवमस्तु यह सुनो ! जैसे आधुनिक संस्कृत ग्रन्थों में मुखज आस्योद्भव आदि शब्द ब्राह्मण के लिये। बाहुज करज आदि शब्द क्षत्रिय के लिये। ऊरुज आदि शब्द वैश्य के लिये। अन्त्यज जघन्यज पादज आदि शब्द शूद्र के लिये आए हैं, वैसे शब्द वेद और वैदिक समय के ग्रन्थों में नहीं आए हैं। इससे विस्पष्ट होता है कि मुखादिक से ब्राह्मणादिक की उत्पत्तिरूप वर्णन आधुनिक कल्पना है। फिर देखो पुराणादिक के ऊपर भी दृष्टि डालो। पुराण में कहा हुआ है कि ब्रह्म के अङ्गों से कश्यप, दक्ष, अत्रि, भृगु, वसिष्ठ, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुए हैं और इनसे ही सारी सृष्टि हुई है। अब विचार करो, कश्यप से तो सारी सृष्टि हुई। लोकव्यवहार में भी इस प्रजा का नाम काश्यप है। और कश्यप की कोई जाति नहीं कही गई है फिर आदि में जाति नहीं बनी यह सिद्ध हुआ। और कश्यपादि की उत्पत्ति में यह कहीं नहीं कहा हुआ है कि इतने ऋषि मुख से, इतने बाहु से, इतने ऊरु से और इतने चरण से हुए। यदि यह वर्णन रहता तो पुराण का सिद्धान्त वैसा समझा जाता सो पुराण में भी वैसा वर्णन नहीं। जब इन्हीं कश्यपादि से सारी सृष्टि हुई तो फिर ब्रह्मा को कौनसा अवसर मिला जिस काल में मुखादिक से ब्राह्मणादिक उत्पन्न किये। क्या ब्रह्मा के मुखादिक से और कश्यपादिक से जो सृष्टि हुई, वे दोनों दो हैं ? पुराण दो नहीं मानता। फिर पुराण के अनुसार भी यदि विचार करो तो मुखादिक से सृष्टि मिथ्या ही प्रतीत होगी। बात तो यह है कि पुराण लिखनेवाले

को इस का अभिप्राय कुछ विदित नहीं हुआ । सारी सृष्टि तो कश्यपादि से रच दिया । ववरा कर अन्त में यह भी लिख दिया की मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और पाद से शूद्र । पुनः विचारो । ब्राह्मण वही माना जाय जो मुख से हुआ इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्यादि । तो ऐसे मानने में भी पुराणवादियों की बड़ी आपत्ति आवेगी, क्योंकि पुराण के मत के अनुसार पशुओं में कोई पशु ब्राह्मण, कोई पशु क्षत्रिय, कोई पशु वैश्य, एवं कोई पशु शूद्र । इसी प्रकार वनस्पति आदिकों में भी पुराणों ने जातिविभाग किया है । रवि, सोम, मंगल, बुध आदिक ग्रहों में भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति मानी है, परन्तु इन सबों की उत्पत्ति मुखादिक से कहीं नहीं कही हुई है । तब मुखादिक से जो उत्पन्न वही ब्राह्मणादि वर्ण यह नियम जाता रहा । यहां पर मेरा ही सिद्धान्त पुष्ट होगा क्योंकि गुण के अनुसार इनमें जाति मानी गई है । जब बालक उत्पन्न होता है तब नक्षत्रानुसार उसकी जाति ज्योतिःशास्त्र में मानी गई है । इत्यादि अनेक प्रमाण सिद्ध करते हैं कि मनुष्य में विविध जाति नहीं । जिस समय वसिष्ठ, विश्वामित्र, दीर्घतमा, कक्षिवान्, अङ्गिरा, अथर्वा, दध्यङ्, वामदेव, अत्रि आदि ऋषि वेद का प्रचार कर रहे थे उस समय आर्य्यावर्त्त देश में भिन्न २ जाति नहीं मानी जाती थीं । अच्छे लोगों को आर्य्य और दुष्ट, चोर, डाकू आदि को दस्यु कहते थे । धीरे २ व्यापार के अनुसार जाति बन गई । कोई भी बुद्धिमान् इस जाति प्रथा को युक्तिमत् कदापि नहीं मान सकता । ऐसी प्रथा केवल, इसी भाग्यहीन भारत में है । जाति निर्णय ग्रन्थ में इस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है देखो ॥

शङ्का—यदि जातिप्रथा नहीं थी तो पुनः राजा ने बालाकि से "यह प्रतिलोम" है ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—जिसको जो अधिकार होता है, वही काम वह कर सकता है । मानलो कि एक पाठशाला में एक केवल वैयाकरण, एक केवल ज्योतिषी, एक केवल नैयायिक और एक केवल मीमांसक है । कोई चाहे कि मीमांसा का निर्णय वैयाकरण से करवावे तो कदापि ठीक नहीं होगा । इसी प्रकार व्याकरण का निर्णय मीमांसक से करवावे सो भी उचित नहीं होगा, परन्तु यदि एक आदमी व्याकरण, न्याय, मीमांसा, तीनों जानता हो तो वह तीनों का निर्णय करेगा । परन्तु जिसमें उसकी अधिक योग्यता होगी उसी में उसकी प्रधानता मानी जायगी । इसी प्रकार किन्हीं ने धार्मिक पुस्तक वा ग्रन्थों में अधिक समय लगाना आरम्भ किया और अपने सन्तानों को भी वही शिक्षा देना आरम्भ किया और किन्हीं ने वीरता देश की रक्षा में, किन्हीं ने व्यापार में । और जो लोग बिलकुल मूर्ख रहे उन्हें काम भी मूर्ख के योग्य ही दिये गये । इन ही में इनकी योग्यता भी बढ़ती गई । अजातशत्रु के वंश वालों ने वीरता का ही भार अपने ऊपर लिया था और गर्ग के वंश वालों ने धार्मिक शिक्षा का । वीरताशिक्षक के निकट जाकर, धार्मिक शिक्षा की आशा करें यह उचित नहीं हो सकता । आज कल कोई प्रिंसिपल पुलिस के कर्मचारी के निकट फ़िलासफ़ी के अध्ययन के लिये जाय तो यह हास्यकर ही माना जायगा । परन्तु सम्भव है कि कोई पुलिस के कर्मचारी भी अपने परिश्रम द्वारा फ़िलासोफ़ी के बड़े २ ग्रन्थों को भी अध्ययन किये हों आश्चर्य की बात नहीं । परन्तु सर्वदा यह संयोग नहीं होता और यह भी नहीं हो सकता कि जो रात्रिन्दिवा फ़िलासोफ़ी पढ़ रहा है उसे वह पुलिस कर्मचारी, जिसको विविध काम है, कभी पढ़ जाय । यही दशा यहां बालाकि और अजातशत्रु की है । अजातशत्रु राज्याधिकारी होने से सांसारिक नाना जंजालों से और प्रजापालन के बोझ से दबा हुआ है । इन्हें इतना अवकाश कहां जो ब्रह्मविद्या के विषय को विचार करें । और बालाकि के

शिर पर जगत् का कोई भार नहीं। आध्यात्मिक मनन के ही लिये ये स्वतन्त्र किये गये हैं। अतः इनमें ब्रह्मज्ञान की योग्यता की संभावना अधिक है, परन्तु बुद्धि सबकी भिन्न २ है। इस अवस्था में रहकर भी बालाकि ब्रह्मज्ञान से रहित रहे और राजा ब्रह्मज्ञानी हुए। यह केवल बुद्धि की विलक्षणता है इत्यादि ऊहापोह करना ॥ १९ ॥

परमात्मनि विज्ञापयितव्ये सुप्तपुरुषसन्निधिगमनं बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्नित्यादिसम्बोधनपदाभिमन्त्रणञ्च कमभिप्रायं सूचयतः। इत्याशङ्कायां ब्रूमः। कः पुनरुपायोऽभ्युपगन्तव्यो ब्रह्म [illegible]तुम्। नह्येतत् किञ्चिन्मूर्तं वस्तु यत्पाणावादायाऽऽमलकवत्साधकस्य प्रत्यक्षविषयतां नयेत्कोऽप्याचार्यः। तार्किकशतैरप्यनुमानयुक्तिसहस्रैरपि बोध्यमानो जनो न मनसि श्रद्दधाति। यतो हि न केनापि कदाचिदपि कस्यामप्यवस्थायां प्रत्यक्षी कृत्योदीरितम्, यदिदमेव ब्रह्म एतत्स्वरूपमेतल्लक्षणमीदृशमिति। समाधौ यदि कश्चिद् भाग्यवशादनुभवत्यपितदीयप्रकाशलवम्। तथापि न स तस्मिन् किमपि वक्ति। पृच्छ्यमानोपि मौनमेवावलम्बते ॥

यह शङ्का होती है कि यहां ब्रह्म का विज्ञान करवाना है, तब सुप्तपुरुष के निकट जाना और बृहत् पाण्डरवास आदि सम्बोधन पद से पुकारना किस अभिप्राय को सूचित करता है। इस शङ्का के ऊपर कहते हैं—ब्रह्म को जानने के लिये कौनसा उपाय स्वीकार करना चाहिये? यह कोई मूर्त्त वस्तु नहीं कि जिसको आमल के समान हाथ में लेकर कोई आचार्य्य साधक को प्रत्यक्ष करवा देवे। हज़ारों अनुमानों और युक्तियों से भी, हज़ारों तार्किकों से भी समझाने पर भी मनुष्य श्रद्धा नहीं करता है। क्योंकि जिस हेतु किसी अवस्था में कभी भी किसी ने भी प्रत्यक्षतया नहीं कहा है कि यही ब्रह्म है। इसका यह रूप, यह लक्षण है। समाधि अवस्था में यदि कोई भाग्यवश उसके प्रकाश के किञ्चित् अंश को अनुभव भी करता है तथापि वह उसके विषय में कुछ भी नहीं कहता है, बारम्बार पूछे जाने पर भी वह मौन ही साध लेता है।

अत्र चोक्तम्—समाधिनिर्धूतमलस्यचेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते। मैत्र्युपनिषदि ॥ ६। ३४ ॥ गीतायामपि ॥ ६। २०, २१ ॥ यत्रोऽपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया। यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ सुखमात्यन्तिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ अपामापोग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्। एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ॥ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तिं मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥ मैत्र्युपनिषदि ६। ३४ ॥ एवं नहि कश्चिदाप्तः परेत्यागत्यानुशास्ति वास्तवमस्य स्वरूपम्। अहो पूर्वस्मिन् जन्मनि सिद्धा अपि पुनरपि जननीगर्भान्निःसृत्य भगवल्लीलया प्रथमं तावत् पञ्चषं वर्षं क्रीडनकपरा अत ऊर्ध्वं विस्मृतसर्वभावा अवतिष्ठन्ते न स्मरन्ति किमपि प्राक्तनजन्मवृत्तम्। यत्र चानुमानं प्रवर्त्तते तद् वस्तु कदापि प्रत्यक्षमागत्य स्थूलानीन्द्रियाण्यपि प्रीणयति। न परं ब्रह्माभिधेयं वस्तु न कदापि कमपि कृतिनं जीवन्मुक्तनामकं निर्धूतसकलपाप्मानमागत्य महता पुण्यौघेनापि सुखयेत्। जीवन्मुक्तानुद्दिश्य भणन्तोपि न भणन्ति, हसन्तो न हसन्ति, इत्येवं विधाः सन्ति प्रवादाः। अथ कथं तर्हि ब्रह्मोपदेशसम्भवोऽस्ति? तथा च श्रुतय एवमनुशासति ॥

यहां कहा भी गया है। जिसने अपने चित्त को समाधि द्वारा शुद्ध करके परमात्मा में लगाया है उसको जो सुख प्राप्त होता है उसका वर्णन वचन से नहीं हो सकता। उसको अन्तःकरण द्वारा ग्रहण कर सकता है, परन्तु बाहर नहीं कह सकता। गीता में भी कहा है—जहां पर चित्त बाह्य कार्य से बिलकुल अलग होजाता है, जहां आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही तुष्ट रहता है। इस आत्यन्तिक सुख को कोई इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकता, केवल बुद्धि से इसका ग्रहण होता है। इस अवस्था को प्राप्त कर पुनः विचलित नहीं होता। जैसे जल में जल का, अग्नि में अग्नि का, आकाश में, आकाश का भेद नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार जिस का मन उसमें लीन हो जाता है, भेद प्रतीत नहीं होता वही मुक्त होता है ॥ २ ॥ मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है। विषयासंगी मन बन्ध का और निर्विषय मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार न कोई भी आप्त पुरुष मरकर वा वहां जा पुनः यहां आ इसके वास्तविक रूप को सिखलाता ही है। आश्चर्य की बात है कि पूर्वजन्म के सिद्ध पुरुष फिर भी जब जननी के गर्भ से निकलते हैं तब प्रथम तो पांच छः वर्ष क्रीड़ा में ही लगे रहते हैं, इसके बाद उन्हें कुछ भी पूर्व जन्म की बात स्मृत नहीं होती और जहां पर अनुमान की प्रवृत्ति है वह वस्तु कभी प्रत्यक्ष होकर स्थूल इन्द्रिय को भी प्रसन्न करती हैं। परन्तु परब्रह्माभिधेय जो वस्तु है, वह कदापि भी निर्धूतसकलपाप कृति जीवनमुक्त पुरुष को भी बहुत पुण्य के कारण से भी आकर सुखी नहीं करता। जीवनमुक्तों के विषय में बहुत से वादविवाद सुनने में आते हैं। लोग कहते हैं कि बोलते हुए भी वे नहीं बोलते, हंसते हुए भी वह नहीं हंसते, इत्यादि। फिर वे कैसे उपदेश कर सकते हैं। और श्रुतियां ऐसे कहती हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ २२ ॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २३ ॥ कठे ॥ अवत्वेवं तर्हि अस्य विज्ञाने एव न प्रवर्त्तितव्यमिति। किं प्रयोजनमवेक्ष्य तद्विज्ञातव्यम् विजिज्ञासनीयस्वा। इत्याक्षेपे ब्रूमः—प्रयोजनन्तु दर्शयन्ति साक्षात्कृतधर्माणो महात्मानः—अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

यह आत्मा केवल शास्त्रों के विविध व्याख्यान से लभ्य नहीं होता, अथवा मेधा से, अथवा बहुत श्रवण से, यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। इस आत्मा का जिसके ऊपर अनुग्रह होता है वही भक्तपुरुष उसको पा सकता है। उसी भक्तपुरुष को वह परमात्मा अपना प्रकाश प्रकट करता है। इसको दुराचार में आसक्त, अशान्त, असमाहित, अशान्तमानसपुरुष कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। प्रकृष्ट ज्ञान से ही इसे पा सकते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि यह प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है।

शङ्का—जब ऐसा है तो इसके ज्ञान के लिये यत्न करना ही उचित नहीं, किसी प्रयोजन के लिये इसको जानना चाहिये, अथवा इस की जिज्ञासा करनी चाहिये ? ॥

उत्तर—साक्षात्कृतधर्मा महात्मा लोग इसके प्रयोजन को दिखलाते हैं। वह सब शरीर में व्याप्त है परन्तु वह शरीर रहित है, वह विनश्वर पदार्थ में भी स्थित है परन्तु स्वयं अविनश्वर है, वह महान् व्यापक आत्मा है, उस को मनन कर विद्वान् शोक रहित हो जाते हैं।

अतः परमात्माऽशोकाय प्रत्यक्षीकर्त्तव्य एव। विरतेन, सुचरितेन, समाहितेन, जीवात्मना मनसाऽकरणेन सत्ववाप्तव्यः। वशीकृते मनसि च आत्मभावाः प्रसीदन्ति। प्रसन्नेषु आत्मभावेषु परमात्मा लक्ष्यते। परन्त्वात्मन्येव विप्रतिपद्यन्ते जनाः। अतः

प्रथमं जीवात्मा साक्षात्कर्त्तव्यः ! ततः परमात्मा । तस्माल्लक्षयितुं जीवात्मानं बालाकिं राजा प्रथमं सुषुप्तं पुरुषं नयति । यथा शास्त्रसागरे प्रवेशाय प्रथमं बालकमक्षरं ग्राहयति । कथमिहात्मावबोधः ? अत्रायं प्रकारो द्रष्टव्यः । यदि शरीरं चेतनं भवेत्तर्हि कथमाहूतं न ब्रवीति, न पश्यतीत्यादि । शरीरमिहास्त्येव । अतः शरीरं न चेतनम् । यदि इन्द्रियाणि चेतनानि । तर्हि अस्यामप्यवस्थायां तानीन्द्रियाणि विद्यन्ते एव । पूर्ववत् कर्णौ अपिहिते नासिके आच्छादिते त्वगनावृता । केवले नयने पुटाभ्यां निबद्धे । तर्हि जागरण इव सुषुप्तावपि कथन्न स्वस्वविषयं विषिण्वन्ति । अत इन्द्रियाणि न चेतनानि, प्राणोऽपि न चेतनः । एष हि सदा जागर्ति । सुप्तावपि व्यापारोऽस्य लक्ष्यते एव तर्हि आहूतः कथन्न शृणोति ? अतोऽस्यापि न चेतनत्वम् । एतेभ्यो भिन्नोऽस्ति कश्चिद् यो द्रष्टा श्रोता स एवात्मा । ननु स कथन्न शृणोति ? स तु इदानीं सर्वं संहृत्य विश्राम्यति । स्वात्मन्येव लीनः । अतः श्रवणादिकं न विदधाति । पुनः पुनराहूतः सन् समाधिपुरुष इव विश्रामं परित्यज्यावहितो भूत्वा श्रवणादिकं करोति । इमां विलक्षणां लीलामनुगमयितुं सुषुप्ताभ्यासनयनम् । बृहन्नित्यादिनामाभिधानस्यैतत्प्रयोजनम्—बृहन्नित्यादीनि चन्द्रादीनां नामधेयानि । चन्द्रादयस्तु अचेतनाः । आहूयन्तां जडाः कैश्चिदप्यभिधानैः । न ते कदापि संमुखीना भवन्ति । न च श्रोतुं कर्णौ च ददति । एवमेव सशरीरा इमे प्राणाः काभिश्चित्संज्ञाभिरामन्त्र्यन्ताम् न तैर्भोत्स्यते जडत्वात् । एतेन प्राणादीनां जडत्वं सूचितम् । यद्वा सूर्यो नेत्ररूपेणेत्थं सर्वे देवा इह शरीरेऽपि वर्तन्त एव यदि ते चेतनाः कथन्नास्माकं वचांसि शृणुयुः । अतस्तेषां न चेतनत्वम् ॥

इस हेतु अशोक के लिये परमात्मा अवश्य प्रत्यक्ष करने योग्य है । परन्तु विरत, सुचरित, समाहित, आत्मा को मन से उसकी प्राप्ति होती है, अर्थात् इसकी प्राप्ति में मन कारण है । जब मन वश होता है तो आत्मा के सब भाव प्रसन्न होते हैं और तब प्रसन्न आत्मभाव में परमात्मा लक्षित होता है, परन्तु प्रथम आत्मा के विषय में ही बहुत लोग सन्देह करते हैं । इस हेतु प्रथम जीवात्मा ही साक्षात् कर्त्तव्य है, तदनन्तर परमात्मा । इस कारण प्रथम जीवात्मा को लक्षित करने के लिये बालाकि को अजातशत्रु राजा सुप्त पुरुष के निकट ले जाते हैं । जैसे शास्त्रसागर में प्रवेश के लिये बालकों को अक्षर ग्रहण करवाते हैं ॥

शङ्का—सुप्त पुरुष के समीप जाने से आत्मा का बोध कैसे होगा ?

उत्तर—यहां यह प्रकार है । यदि शरीर चेतन हो, तो पुकारने पर उसे बोलना चाहिये । देखना चाहिये इत्यादि । क्योंकि यहां शरीर है अतः शरीर चेतन नहीं है । यदि कहो कि इन्द्रिय चेतन हैं, तो इस अवस्था में भी इन्द्रिय सब हैं ही । पूर्ववत् कान खुले हुए हैं । नासिका अनाच्छादित ही है । त्वचा भी अनावृत है । केवल नयन दोनों पुटों से ढका हुआ है । तब जागरणावस्था के समान सुषुप्ति में भी अपने २ विषय को इन्द्रिय क्यों नहीं ग्रहण करते हैं ? इस हेतु इन्द्रिय चेतन नहीं । प्राण भी चेतन नहीं है । यह सदा जागता है, सुषुप्ति में भी इसका व्यापार लक्षित होता है, तो आहूत होने पर क्यों नहीं सुनता है ? अतः यह भी चेतन नहीं है इन सबों से भिन्न कोई है सो द्रष्टा श्रोता है । वही आत्मा है ॥

शङ्का—फिर आत्मा ही क्यों नहीं सुनता है ?

उत्तर—वह इस अवस्था में अपनी सारी लीला को समेट कर विश्राम ले रहा है । अपने में ही लीन है । इस हेतु श्रवणादिक नहीं करता है । पुनः २ आहूत होने पर समाधिस्थ पुरुष के समान विश्राम को त्याग अवहित हो श्रवणादिक करता है । इस विलक्षण लीला को जनवाने के लिये सुप्त पुरुष के निकट जाने का प्रयोजन था । पूर्वोक्त विषय यहां अच्छे प्रकार समझ में आता है । बृहत्पाण्डरवासा इत्यादि नामों से पुकारने का तात्पर्य यह है । बृहन् इत्यादि नाम चन्द्रमा आदिक देवों का है परन्तु चन्द्र आदि अचेतन हैं । इन जड़ पदार्थों को किन्हीं नामों से पुकारें वे कदापि भी अभिमुख नहीं होंगे और न सुनने के लिये कान ही धरेंगे । इसी प्रकार शरीर सहित ये प्राण किन्हीं नामों से पुकारे जायं परन्तु ये समझेंगे नहीं क्योंकि ये जड़ हैं । इससे प्राणादि की भी जड़ता सूचित हुई । इस शरीर में नेत्ररूप से सूर्य, मनरूप से चन्द्रमा, कर्णरूप से वायु, घ्राणरूप से पृथिवी इस प्रकार सब ही देव वर्त्तमान हैं । यदि पूर्वोक्त देव चेतन हैं तो हम लोगों के वचन को क्यों नहीं सुनते हैं ? इस हेतु ये चेतन नहीं हैं ॥ १२ ॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः * ॥ १६ ॥

अनुवाद—वे अजातशत्रु बोले जिस काल में यह शयन कर रहा था । जो विज्ञानमय और पुरुष है उस समय यह (जीवात्मा) कहां था और पुनः कहां से इसने आगमन किया ? गार्ग्य ने निश्चय इसको नहीं समझा ॥ १६ ॥

पदार्थ—(सः+ह+अजातशत्रुः+उवाच) वे प्रसिद्ध अजातशत्रु बोले—हे अनूचान ! (यत्र+एषः) जिस काल में यह प्रसिद्धवत् भासमान जीवात्मा (एतत्+सुप्तः+अभूत्) जब सुषुप्तावस्था में सोरहा था (यः+एष+विज्ञानमयः+पुरुषः) जो यह ज्ञानमय पुरुष है । (तदा+एषः) तब यह (क्व+अभूत्) कहां था (कुतः) पुनः पेषण करने से (एतद्+आगात्) इसने कहां से आगमन किया ?

---

* तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तन्मन्ये यत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेतैहि व्येव त्वाज्ञपयिष्यामीति तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे बृहत्पाण्डरवासः सोमराजन्निति स उ ह शिश्य एव तत उ ह तं यष्ट्या विचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ तं होवाचाजातशत्रुः क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत्कुत एतदागादिति तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञे ॥ कौ० अ० ४ । १६ ॥

अर्थ—उन से अजातशत्रु बोले । मैं उस को विपरीत समझता हूं कि क्षत्रिय होकर ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या के लिये दीक्षित करे, एवमस्तु । आप यहां आवें मैं आपको अवश्य ही ब्रह्म का बोध करवाऊंगा । बालाकि के हाथ पकड़कर वे दोनों वहां सोए हुए पुरुष के निकट आए । उस सोए हुए पुरुष को हे बृहन् ! हे पांडरवासा ! हे सोम ! हे राजन् ! इत्यादि नामों से राजा ने पुकारा—वह सोया हुआ ही रह गया । तब इसको यष्टि (लकड़ी) से मारा । तब वह उठ खड़ा हुआ । तब अजातशत्रु ने बालाकि से पूछा कि हे बालाके ! कहां यह पुरुष सोया हुआ था ? और कहां था ? और कहां से आया ? परन्तु बालाकि ने इसको नहीं जाना ॥

कौन सोने और जागने हारा है और कौन उठाया गया ऐसी शङ्का स्वतः होती है (यः+एषः) जो यह (विज्ञानमयः) अतिशय ज्ञान है और जो (पुरुषः) विविध कर्मों को सीता रहता है अर्थात् उत्पन्न करता रहता है अथवा सब शरीर में जो रहनेहारा है वह जीवात्मा कहां था ? और कहां से आया ? ये मेरे दो प्रश्न हैं, क्या आप जानते हैं ? प्रथम शिष्य से प्रश्न पूछना, तब उत्तर देना, यह रीति अजातशत्रु महाराज की बहुत अच्छी है क्योंकि इसमें विचारने का अवसर मिलता और यदि शिष्य जानता ही हो। अपना परिश्रम बचता है यदि उसमें त्रुटि हो तो उतने ही अंश के कथन से शिष्य को भी शीघ्र बोध हो जाता (गार्ग्यः) गार्ग्य ने (तत्+उ+ह) इस विषय को निश्चय (न+मेने) न समझा। गार्ग्य के समझ में यह बात नहीं आई ॥ १६ ॥

भाष्यम्—सहेति। आत्मनः स्वाभाविकं स्वरूपं प्रथमं दर्शयति—सुषुप्ते उत्थिते च तस्मिन् पुरुषे। स ह अजातशत्रुः पुनरपि बालाकिं प्रत्युवाच—हे अनूचान ! यत्र यस्मिन् काले एष प्रसिद्धो जीवात्मा कर्त्ता भोक्ता। एतत् शयनमिति शेषः। एतच्छयनं यथास्यात्तथा। सुप्तः शयितः अभूत्। तदा तस्मिन् काले। एष जीवात्मा क कुत्र कस्मिन् स्वाभाव्ये कीदृग्विधे स्वरूपे स्थितोऽभूत्। कुतः कस्मात्स्थानात् कीदृग्विधात्स्वरूपात् प्रच्युतः सन् एतदागमनं यथास्यात्तथा आगात् आगमत् आगतवान्। इति मम प्रश्नौ स्तः। कः सुप्तः क उद्बोधितः कश्च जागरित इत्यत्र आह—य एष विज्ञानमयः विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्। अन्तःकरणधर्मविशेषः। लोके बुद्धिर्मतिरुपलब्धि-रित्यादयस्तत्पर्यायाः सन्ति। प्रचुरं विज्ञानमस्तीति विज्ञानमयः। यः कश्चित् प्रचुरविज्ञान-वान् वर्त्तते स स्वपिति, जागर्ति, करोति, भुङ्क्ते, आनन्दति, इत्येवं क्रियां करोति। पुनः पुरुषः यः कश्चित् पुरूणि बहूनि कर्माणि सीव्यतीति सः। यद्वा पुरि शरीरे शेते। स विज्ञानमयः पुरुषः क्वासीत् ? कुतश्चागमत् ? एवं पृष्टो गार्ग्यः किमुक्तवानित्यत आह—तदुह। तद्विज्ञानमयस्य पुरुषस्य स्वापसवेशनस्थाने न मेने न बुबुधे ॥ १६ ॥

भाष्याशय—यहां आत्मा की स्वाभाविक अवस्था कहते हैं। जो सोता जागता है वह आत्मा है। क्या केवल सोने जागनेहारा ही आत्मा है ? इस पर कहते हैं "विज्ञानमय" यह आत्मा ज्ञानमय है अर्थात् इसमें सब ज्ञान पूर्ण है। यदि ज्ञानमय है तो सब कुछ क्यों नहीं जानता ? इस हेतु कहते हैं कि "पुरुष" है (पुरु+स) पुरु=बहुत। स=सीनेवाला अर्थात् बहुत सीनेहारा अर्थात् बहुत कर्म करनेहारा। यह आत्मा बहुत व्यापार में फंसा हुआ है। अतः सब कुछ नहीं जानता। यदि एकाग्र हो तो बहुत ज्ञान इसमें भासित हो। अथवा "पुरुष" शब्द का अर्थ शरीर में शयन करनेहारा का है, जिस हेतु यह आत्मा शयन अर्थात् असावधानता में रहता है। अतः उतना नहीं जानता "विज्ञानमय" शब्द यद्यपि ब्रह्म के लिये ही आता है तथापि आत्मा में भी बहुत ज्ञान होने के कारण विज्ञानमय कहा जाता। अब इस उपनिषद् के अनुसार दो और कौषीतकि के अनुसार तीन प्रश्न होते हैं। यह विज्ञानमय भोक्ता किस देश में स्थित होकर शयन करता था ? १—शयन का आधार कौन है ? २—और किस देश से उठकर जाग्रत् अवस्था में आया ? ३—लोक में देखते हैं कि कोई पुरुष बैठा हुआ ही सो जाता है और कभी वही पुरुष शय्या पर भी सोता है इस हेतु शयनकर्त्ता पुरुष का आधार का नियम नहीं ॥

शङ्का—शयनकर्त्ता पुरुष के आधार का जो प्रथम प्रश्न है यद्यपि उसका संभव है तथापि शयन का आधार कौन है। इस दूसरे प्रश्न का सम्भव नहीं। क्योंकि शयनकर्त्ता का जो आधार होता है, वही शयन का भी आधार होता है॥

समाधान—जो शयनकर्त्ता पुरुष का आधार होता है वही शयन का आधार होता है, यह लोक में नियम नहीं। कहीं तो शयनकर्त्ता पुरुष का तथा शयन का एक ही आधार होता है, जैसे एक ही मंचा शयनकर्त्ता और दोनों का आधार है। और कहीं भिन्न २ आधार होता है, जैसे शयनकर्त्ता का पुरुष आधार तो मंचादिक है और मंच के उपरिस्थ जो तूलादिक हैं, वह उसके शयन का आधार है। इस प्रकार शयनकर्त्ता पुरुष के आधार को और शयन के आधार को लोक में भिन्न २ मानते हैं। इस हेतु प्रथम प्रश्न करके दूसरा प्रश्न चरितार्थ नहीं किन्तु भिन्न भी दूसरा प्रश्न संभव है॥

शङ्का—द्वितीय प्रश्न का प्रथम प्रश्न से भिन्न होना संभव भी है। परन्तु द्वितीय प्रश्न से तृतीय प्रश्न का भिन्न होना संभव नहीं क्योंकि जो शयनकर्त्ता का आधार होता है वही उसके आगमन की अवधि है, शयन के आधार का जब ही निश्चय होगा तब ही शयनकर्त्ता पुरुष के आगमन की अवधि का भी निश्चय हो जायगा। इस हेतु तृतीय प्रश्न व्यर्थ है॥

समाधान—जो शयन का आधार हो वही शयनकर्त्ता पुरुष के आगमन की भी अवधि हो यह नियम नहीं। क्योंकि लोक में शयन के आधार से भिन्न भी आगमन की अवधि कहीं २ देखते हैं। जैसे मञ्चक के ऊपर सोया हुआ पुरुष प्रथम मंचक से उठ कर बाहर आता है। इस प्रकार कोई नहीं कहता किन्तु मंचक से उठकर, गृह में स्थित होकर गृह से बाहर आया है इस प्रकार लोग कहते हैं। इस प्रकार लोकव्यवहार में शयन के आधार मञ्चक से आगमन की अवधि गृह भिन्न ही प्रतीत होती है, इस हेतु द्वितीय प्रश्न करके तृतीय प्रश्न चरितार्थ नहीं किन्तु तृतीय प्रश्न की भी संभावना है। इस प्रकार अजातशत्रु राजा बालाकि के प्रति शयनकर्त्ता विज्ञानमय भोक्ता के स्वरूप के बोधन के लिये तथा स्वप्न सुषुप्तिरूप दो प्रकार के शयन के स्वरूपबोध के निमित्त तथा दो प्रकार के शयन के आधार के बोधार्थ तथा शयनकर्त्ता विज्ञानमय भोक्ता के आगमन की अवधि के बोधन के वास्ते तीन प्रश्न करते हैं॥ १६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतश्चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः॥ १७॥

अनुवाद—वे अजातशत्रु बोले कि जिस काल में इस आत्मा ने शयन किया था। जो यह विज्ञानमय और पुरुष है। उस समय यह आत्मा सब इन्द्रियों के बोध को अपनी कुशलता से ले हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें सोजाता है। जब सब इन्द्रियों को वह अपने वश में कर लेता है तब इस पुरुष का "स्वपिति" ऐसा नाम होता है। उस समय प्राण बद्ध रहता, वाणी बद्ध रहती, चक्षु बद्ध रहता, श्रोत्र बद्ध रहता, मन बद्ध रहता है॥ १७॥

पदार्थ—(सः+ह+अजातशत्रुः+उवाच) वे अजातशत्रु बोले—हे बालाके ! (यत्र) जिस काल में (एषः) यह जीवात्मा (एतत्) इस शयन को (सुप्तः+अभूत्) कर रहा था (यः+एषः) जो यह (विज्ञानमयः) अधिक ज्ञानवान् है । और (पुरुषः) विविधकर्म करनेहारा है । ऐसा जीवात्मा जब शयन करता है (तद्) उस समय (एषाम्+प्राणानाम्) इन सकल इन्द्रियों के (विज्ञानम्) स्वस्वविषय-ग्रहण सामर्थ्य को (विज्ञानेन) निज-विज्ञान-कुशलता से (आदाय) लेकर (तस्मिन्+शेते) उस आकाश में सो जाता है । (यः+एषः+आकाशः) जो यह आकाश (अन्तर्हृदये) हृदय के मध्य में है कैसे समझते हैं कि वह सोता है ? इस हेतु जीवात्मा का यौगिक नाम कहते हैं (यदा) जब (तानि) सकल इन्द्रियों को (गृह्णाति) अपने वश में आत्मा ले आता है (अथ+पुरुषः) तब यह पुरुष (स्वपिति+नाम) "स्वपिति" ऐसे नाम को धारण करता है अर्थात् जीवात्मा का नाम ही दिखलाता है कि यह सोता है, जब सोता है तब इन्द्रियों की क्या दशा होती है ? सो आगे कहते हैं—(तत्) उस समय (प्राणः) घ्राणेन्द्रिय (गृहीतः+एव) बद्ध ही (भवति) रहता है । अपने व्यापार से निवृत्त ही रहता है । इसी प्रकार (वाग्+गृहीतम्) वाणी का व्यापार भी बन्द रहता है (चक्षुः+गृहीतम्) नयन भी व्यापारशून्य होजाता (श्रोत्रम्) श्रवणेन्द्रिय भी बन्द ही रहता है (मनः+गृहीतम्) मननक्रिया भी बन्द रहती है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—स हेति । यदा गार्ग्यो वै "क्वैष तदाभूत् ? कुत एतदागादिति" न विवेद तदाऽजातशत्रुः स्वयमेव स्वोक्तप्रश्नमनुवदन् जीवस्य शयनाधारं दर्शयति—हे बालाके ! य एष विज्ञानमयः पुरुषोऽस्ति । स एष यत्र यस्मिन् काले । एतच्छयनं यथास्यात्तथा सुप्तोऽभूत् । तदा तस्मिञ्छयनकाले प्राणानां सप्राणानां सर्वेन्द्रियाणाम् "एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेन आख्यायन्ते प्राणा इति" बहुश उक्तत्वात्प्राणशब्देन सर्वाणीन्द्रियाणि उच्यन्ते । विज्ञानं विशेषेण ज्ञानं इन्द्रियाणां स्वस्वविषयग्रहणाधिकसामर्थ्यमित्यर्थः । "सुषुप्तावपि किञ्चिज्ज्ञानमवशिष्यतई एवातो विज्ञानमित्युक्तम्" विज्ञानेन निजकौशलेन करणेन रज्ज्वा हयानिव आदाय गृहीत्वा संहृत्य इन्द्रियव्यापारान् समाहृत्येत्यर्थः । तदा तस्मिन्नाकाशे शेते । जागरितदर्शनस्वप्नमृत्युवासनानुभवनिवृत्तो भूत्वा स्वात्मस्थो भवतीत्यर्थः । कस्मिन्नाकाशे शेत इत्यत आह—अन्तर्हृदये हृदयस्य मध्ये । य एष योगादिशास्त्रैः प्रदर्शितोऽध्यानावस्थितैर्दृष्ट आकाशोऽस्ति । तत्र शेते इत्यन्वयः । एष विज्ञानमयः पुरुषः सर्वेषां प्राणानां विज्ञानमादाय आकाशे शेत इति कथमवगम्यते ? एतज्जीवात्मनो नामधेयमेव दर्शयति । तथाहि—यदा तानि सर्वाणीन्द्रियाणि गृह्णाति वशीकरोति । अथ तदा पुरुषो विज्ञानमयो जीवात्मा एतत्स्वपिति नाम बिभर्ति इति शेषः । इमामवस्थां प्राप्तस्य जीवात्मनो "स्वपितीति" नामधेयं भवति । यतोऽयं सर्वं संहृत्य अहरहः स्वपिति शेते । अतः शयनव्यापारप्राचुर्यात् "स्वपिति" इत्येवंशब्दानुकरणेन आत्मनो नामकरणं कृतवन्तस्तत्त्वदृशः यद्वा यदाऽयं स्वपिति तदा स्वस्मिन्नेव संकुचंस्तिष्ठति । स्वं निजम् । "अपीति" गच्छति, प्राप्तो भवतीति व्युत्पत्त्या स्वपिति नाम "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति" साधु । "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" इति श्रुत्यन्तरे स्वयमेव नामनिर्वचनसामर्थ्यात् । स्वापकाले सर्वेन्द्रियव्यापाराभावो भवतीति पुनरपि विस्पष्टयति । तत्तदा । प्राणो घ्राणेन्द्रियं गृहीतो निगृहीतः संहृत एव भवति । एवं वाग गृहीता

भवति। चक्षुर्गृहीतं, श्रोत्रं गृहीतं, मनो गृहीतम्। एवमुक्तेभ्योऽन्यदपि सर्वं गृहीतं भवति। अतो हे बालाके! आत्मनः शयनाधारोऽन्तर्हृदयमाकाशोऽस्ति। इति प्रथम-प्रश्नस्य समाधानम्। अस्मादेवस्थानादुत्थाय पुनरपि जाग्रदवस्थां प्राप्नोतीति द्वितीयस्यापि प्रश्नस्य समाधानं वेदितव्यम्। ऋषिणा क्वचिदप्यनुक्तत्वात्॥ १७॥

भाष्याशय—यह आत्मा कहां था और कहां से आया? इस विषय को जब गार्ग्य ने नहीं समझा, तब अजातशत्रु राजा अपने प्रश्न का अनुवाद करते हुए जीव के शयनाधार को दरसाते हैं। आकाश=यहां आकाश शब्द का अर्थ आकाश ही लेना उचित है, किन्हीं ने ब्रह्म अर्थ किया है सो ठीक नहीं। वेदान्ती लोग मानते हैं कि प्रतिदिन आत्मा सुषुप्ति में ब्रह्म होता है, क्योंकि इस अवस्था में अविद्यारूपी अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। इस हेतु उनके पक्ष में आकाश का अर्थ ब्रह्म करना ठीक है, परन्तु उपनिषद् का यह सिद्धान्त नहीं। शेते=जाग्रद् अवस्था में जो विविध बाह्य पदार्थों का दर्शन और स्वप्न में उनकी स्मृति और स्मृति के कारण और वासना का अनुभव, इन सबों से निवृत्त होना ही शयन है। यहां हृदय के मध्य जो आकाश वह शयन का आधार कहा गया है। यह प्रथम प्रश्न का समाधान है और इसी से द्वितीय प्रश्न का भी समाधान जानना। जो शयनाधार है वहां से फिर आत्मा जाग्रत अवस्था में आता है। ऋषि ने स्वयं द्वितीय प्रश्न का समाधान नहीं किया है, परन्तु इसी से समझ लेना॥ १७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथा कामं परिवर्त्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते॥ १८॥

अनुवाद—जब वह विज्ञानमय पुरुष स्वप्न की इच्छा से विचरण करता है। तब इसके वेही प्रसिद्ध लोक होते हैं। उस समय कभी वह महाराज के समान होता है। अथवा कभी उच्चस्वरूप को कभी नीच स्वरूपों को धारण करता है। और जैसे महाराज अपने राज्य सम्बन्धी विविध प्रकार के भृत्यादिकों को लेकर अपने राज्य में स्वेच्छानुसार घूमें, वैसे ही कभी यह आत्मा इन्द्रियों को लेकर अपने शरीर में ही स्वेच्छानुसार घूमता है॥ १८॥

पदार्थ—यहां प्रथम विज्ञानमय जीवात्मा की स्वप्नाऽवस्था के व्यापार को दरसाने के हेतु उत्तरग्रन्थ का आरम्भ करते हैं (यत्र+सः) जिस काल में वह जीवात्मा (स्वप्न्यया) स्वप्नलीला के द्वारा (एतत+आचरति) इस स्वप्नव्यापार रूप नाटक को करना आरम्भ करता है तो उस समय (अस्य) इस जीवात्मा के (ते+ह) वे प्रसिद्ध नाडीरूप (लोकाः) स्थान होते हैं। भाव यह है कि जैसे नटों के लीला के लिये विविध नगर ग्रामादिक स्थान होते हैं। वैसे ही इस आत्मा की लीला करने के लिये शरीरस्थ विविध नाड़ियां ही स्थान होती हैं। अथवा जैसे नटों की लीला देखने वाले बहुत से मनुष्य होते हैं, वैसे ही इस जीवात्मा की लीला देखनेहारे इन्द्रिय सब ही होते हैं। इस पक्ष में "लोकाः" शब्द का अर्थ देखनेहारे इन्द्रिय हैं। और जैसे लीला के समय में विविध रूपों को नट बनाते हैं, वैसे ही (तद्) उस समय (उत) कभी तो (महाराजः+इव+भवति) महाराज के समान होता है (उत) अथवा कभी (महाब्राह्मणः+इव+भवति) महाब्राह्मण के समान होता है (उत) अथवा कभी (उच्चावचम्) उच्च=श्रेष्ठ महाराजादि के उच्चस्वरूप को। अवच=नीच चाण्डालादि नीचस्वरूप को, इस प्रकार ऊंच नीच विविधरूपों को (निगच्छति) विशेष प्रकार से प्राप्त करता है।

भाव यह है कि कदाचित् राज्य को प्राप्त करके महाराजवत् निग्रह अनुग्रह करने के लिये चेष्टा करता है। कभी सब विद्या को प्राप्त महाब्राह्मण समान धर्माधर्म के निर्णय में प्रवृत्त होता है। कदाचित् चाण्डालादिवत् अपने को मलीन मानता है। कभी हंसता है, रोता है, हृष्ट हो सोचता है, मारता है, मारा जाता है। इत्यादि स्वप्न व्यापार को नीच पुरुष भी प्रतिदिन अनुभव करते हैं। आगे एक दृष्टान्त से महाराज की समानता को कहते हैं—इसी प्रकार अन्य दृष्टान्त के साथ में भी यथायोग्य योजना करलेनी चाहिये (यथा) जैसे (महाराजः) महाराज मनुष्यों की दशा देखने की इच्छा से अथवा मनोविनोदार्थ भ्रमण की इच्छा से (जानपदान्) अपने राज्यसम्बन्धी सब कार्य्य में चतुर और राज्य के उस २ स्थानों को जानने वाले अनेक भृत्यादिकों को (गृहीत्वा) लेकर (स्वे+जनपदे) अपने भुजोपार्जित राज्य में (यथाकामम्) अपनी इच्छानुसार (परिवर्तेत) भ्रमण करे (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (एषः) यह जीवात्मा (प्राणान्) इन्द्रियों को (गृहीत्वा) लेकर (स्वे+शरीरे) अपने शरीर में ही (परिवर्तते) भ्रमण करता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—स इति। अथ प्रथमं विज्ञानमयस्य पुरुषस्य स्वप्नावस्थाव्यापारं दर्शयन्नुत्तरग्रन्थमारभते। यत्र यस्मिन् काले। स विज्ञानमयः पुरुषः। स्वप्न्यया एतत्स्वप्नव्यापाररूपलीलमाचरति कर्तुमारभते। स्वप्नेनोपेता स्वप्न्या स्वप्नवृत्तिः स्वप्नव्यापारः स्वप्नसंमिलितलीलेत्यर्थः। यदा स्वप्नलीलां चिकीर्षति तदा नटस्य बाह्यनगरादिस्थानानीव। अस्य जीवात्मनः। ते ह सुप्रसिद्धा नाड्याख्या लोकाः स्थानानि भवन्ति। यद्वा नटस्य यथालीलादर्शका विविधाः पुरुषा भवन्ति। तथैव अस्यापि। ते इन्द्रियाख्याः प्रसिद्धा लोका अवलोकनकर्त्तारो भवन्ति। यथा लीलासमये विविधानि रूपाणि रूपयन्ति नटाः। तथैवायमपि। तत्तदा कदाचित् महाराज इव भवति। उताथवा। कदाचित् महाब्राह्मण इव भवति। उताथवा। उच्चावचं निगच्छति। उच्चावचं यथास्यात्तथा प्राप्नोति। उच्चं महाराजस्वरूपं महाब्राह्मणादिस्वरूपं च। अवचं नीचं चाण्डालादिस्वरूपं च। इत्थमुच्चानि नीचानि विविधानि रूपाणि। निगच्छति नितरां प्राप्नोति। कदाचिद्राज्यं प्राप्य निग्रहानुग्रहं कर्तुं चेष्टते महाराजवत्। कदाचित् सर्वं विद्यामुपलभ्य धर्म्माधर्म्मं निर्णेतु प्रवर्तते महाब्राह्मणवत्। कदाचिच्चाण्डाल इव मलीनमात्मानं मन्यते। कदाचित् हसति, रोदिति, हृष्यति, शोचति, हन्ति, हन्यते। इत्यादिस्वप्नव्यापाराः पामरैरप्यहर्दिवमनुभूयन्ते। स्वप्नेव्यापारानेव पुनरपि सदृष्टान्तानाचष्टे। यथा जनदशा अवलुलोकयिषुर्वा मनोविनोदाय विभ्रमिषुर्वा कश्चिन्महाराजः। जानपदान् जनपदसम्बन्धितत्तत्प्रदेशविशेषताऽभिज्ञान् भृत्यादीन् बहून् गणान् गृहीत्वा। यथाकामं स्वेच्छानुसारम्। स्वजनपदे स्वभुजोपार्जिते निरुपद्रवे राज्ये परिवर्त्तेत भ्रमेत्। एवमेवैष विज्ञानमयः पुरुषः। प्राणान् सर्वाणीन्द्रियाणि समनस्कानि गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते भ्रमति एतदिति क्रियाविशेषणम्। एतां विविधां लीलां करोतीत्यर्थः। केचिदज्ञाः स्वप्ने स्वशरीरान्निःसृत्य बाह्यप्रदेशमप्ययमात्मा व्रजत्येवं मन्यन्ते। तन्निरासाय स्वे शरीर इति पदं प्रयुक्तम् ॥ १८ ॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९ ॥

अनुवाद—अनन्तर जब यह आत्मा सुषुप्त होता (गाढ़ निद्रा में रहता) है और जब किसी पदार्थ के विषय में कुछ नहीं जानता उस समय जो हिता (हित करनेहारी) ७२ सहस्र नाड़ियां हृदय देश से लेकर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं। उनके द्वारा इधर उधर जा अन्त में इन्द्रियों को समेट शरीर में सोता है। सो जैसे कुमार अथवा महाराज अथवा महाब्राह्मण आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुँच कर सोवे। इसी प्रकार वह यह आत्मा सो जाता है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(अथ) अनन्तर (यदा) जब यह जीवात्मा (सुषुप्तः+भवति) अच्छे प्रकार सो जाता है अर्थात् आत्मा को जब सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है। (यदा) जब (कस्यचन) किसी पदार्थ के विषय में (न+वेद) कुछ नहीं जानता है तब उसका नाम सुषुप्त्यवस्था है और उस समय आत्मा "सुषुप्त" कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा कहां रहता है सो आगे कहते हैं—(हृदयात्) हृदय देश से (हिताः) हित=सुख देनेहारी (द्वासप्ततिः) ७२ बहत्तर (सहस्राणि) सहस्र (नाड्यः) नाड़ियां (पुरीततम्) सम्पूर्ण शरीर में (अभिप्रतिष्ठन्ते) फैली हुई हैं (नाम) यह बात प्रसिद्ध है तो फिर इससे क्या हुआ (ताभिः) उन ७२ सहस्र नाड़ियों के द्वारा खूब भ्रमण कर पीछे सब इन्द्रियों को अपने में सिमिट (पुरीतति) शरीर में ही (शेते) सो जाता है। आगे दृष्टान्त देते हैं (यथा) जैसे (कुमारः) अत्यन्त बालक (वा) अथवा (महाराजः) महाराजा (वा) अथवा (महाब्राह्मणः) परिपक्व विद्यासम्पन्न पूर्ण वेत्ता महाब्राह्मण (आनन्दस्य) आनन्द की (अतिघ्नीम्) परमाकाष्ठा अन्तिम सीमा तक (गत्वा) जाकर (शयीत) सो जायं (एवम्+एव) इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार (सः) वह (एषः) यह आत्मा (एतत्+शेते) इस सुषुप्ति अवस्था में शयन करता है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अथेति। सुषुप्त्यवस्थां लक्षयति। अथ पुनर्जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यतिरेकशुद्धिकथनानन्तरम्। यदा यस्मिन् काले। अयमात्मा। सुषुप्तो भवति शोभनं सुप्तः सुषुप्तः। विशेषज्ञानविक्षेपाभावेन संप्रसन्नोऽशेषवासनाविरहित इत्यर्थः। कदा सुषुप्तो भवतीत्याह—यदा यस्मिन् काले। अयमात्मा। कस्यचन कस्यचिद्वस्तुनः सम्बन्धे किमपि। न वेद विजानाति। तदास्य सुषुप्त्यवस्था। अस्यामवस्थायां क्व स तिष्ठति ? अतोऽग्रे पठति हृदयादिति—हृदयं नामोदरवक्षः प्रदेशयोर्मध्यस्थितः पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः। तस्मात्स्थानात्। हिताहितकारिण्यः। सर्वाः क्रिया नाडीद्वारा भवन्ति। अतोहिताः। द्वासप्ततिः सहस्राणि। द्वाभ्यां सहस्राभ्यामधिका सप्ततिर्द्विसप्ततिः सहस्राणि नाड्यो देहस्य शिराः। पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते। हृदयस्य वेष्टनं पुरीतदित्युच्यते। इह पुनस्तदुपलक्षितं शरीरं पुरीतत्कथ्यते। तां पुरीततमभितो व्याप्य वर्तन्ते। द्वासप्ततिः सहस्राणि नाड्यो हृदयदेशान्निःसृत्य सम्पूर्णं शरीरं व्याप्य वर्तन्ते। ततः किमित्याह—ताभिर्नाडीभिर्द्वारया प्रत्यवसृप्य सर्वत्र नितरां चरित्वाऽवसाने सर्वाणीन्द्रियाणि संहृत्य। पुरीतति। हृदयदेशे। शेते स्वपिति। अत्र दृष्टान्तमाह—स यथा। कुमारो वाऽत्यन्तं क्रीडनशीलो बालः। महाराजो वा वश्यप्रकृतिको महान् राजा वा। महाब्राह्मणः परिपक्वविद्याविनयसम्पन्नो ब्रह्मवेदनतया निखिलद्वन्द्वसङ्गविरहितो वा पुरुषः। अतिघ्नीम् अतिशयेन दुःखं हन्तीति अतिघ्नी ताम्। आनन्दस्य सुखस्यावस्थाम्। गत्वा प्राप्य शयीत। दुःखाननुविद्धसुखस्वाभाव्येऽवतिष्ठेत। एवमेव। दृष्टान्तत्रयतुल्यमेव। एष जीवात्मा। एतच्छयनं यथास्यात्तथा। शेते सुषुप्त्यवस्थायां तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २० ॥

अनुवाद—जैसे ऊर्णनाभि (मकरा) नाम कीट अपने तन्तु के द्वारा विचरण करता है और जैसे अग्नि से छोटे २ विस्फुलिङ्ग निकलते हैं। यह विषय प्रसिद्ध है। वैसे ही सब प्राण, सब लोक, सब देव, सब भूत इसी आत्मा से प्रस्फुटित वा उद्गत होते हैं। उसका उपनिषद् नाम "सत्य का सत्य" है। निश्चय प्राण ही सत्य है उनके मध्य यह सत्य है ॥ २० ॥

पदार्थ—अब जीवात्मा की स्वाभाविक स्वप्न और सुषुप्ति दो अवस्थाओं का व्याख्यान कर उसकी महिमा प्रकट करते हैं। (यथा) जैसे (सः+ऊर्णनाभिः) मकड़ी (तन्तुना) निजनिर्मित जाले से (उच्चरेत्) विचरण करती है अर्थात् ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर स्वच्छन्दतया उसके द्वारा क्रीडा करती है उसी जाले के आश्रित उसकी शयनादि क्रिया भी होती है और (यथा) जैसे (अग्नेः) अग्नि से निकल कर (क्षुद्राः) छोटे २ (विस्फुलिङ्गाः) चिनगारियां (व्युच्चरन्ति) इधर उधर ऊपर नीचे उड़ती हैं (एवम्+एव) वैसे ही (अस्मात्) इस (आत्मनः) जीवात्मा की सहायता से अर्थात् इससे प्रतिबिम्बित तथा उज्ज्वलित होकर (सर्वे+प्राणाः) सब वागादि इन्द्रिय (सर्वे+लोकाः) शरीरस्थ मुख कर्णादि प्रदेश (सर्वे+देवाः) चक्षुरादि द्वारा प्रविष्ट सब सूर्यादि देव (सर्वाणि+भूतानि) शरीर में सम्मिलित सब पृथिवी अप् तेज आदि महाभूत (व्युच्चरन्ति) विविध प्रकार से अपनी २ सत्ता के लाभ में काम कर रहे हैं (तस्य) उस जीवात्मा का (उपनिषद्) नाम (सत्यस्य+सत्यम्) सत्य का सत्य है (इति) इस प्रकार आगे "सत्यस्य" का अर्थ स्वयं ऋषि करते हैं—(प्राणाः+वै+सत्यम्) प्राण=समस्त इन्द्रियों का एक नाम प्राण है। निश्चय इन्द्रिय ही सत्यपदवाच्य है अर्थात् यहां सत्य पद से समस्त चक्षु आदि इन्द्रियों का ग्रहण है (तेषाम्) उन इन्द्रियों के मध्य में भी (एषः+सत्यम्) यह आत्मा ही सत्य है अथवा जीवात्मा की अवस्था के उपदेश से उसके प्रात्यहिक और सब लोगों के समझने के योग्य स्वरूप को दिखा अब ब्राह्मण की समाप्ति में किञ्चिन्मात्र ब्रह्म के तटस्थ स्वरूप का प्रस्ताव करते हैं। जैसे ऊर्ण नाम कीट निज निर्मित तन्तु के द्वारा विचरता है तद्वत् ब्रह्म भी निज सृष्ट जगत् के द्वारा अविचरणशील भी विचरता हुआ प्रतीत होता है। और जैसे वह कीट अपने जाले के आधार पर ही बराबर रहता है। तद्वत् निज निर्मित जगत्रूप आधार पर निराधार होने पर भी रहता है। इत्यादि भाव जानना। एवं जैसे अग्नि से छोटी २ चिनगारियां निकलती हैं (तस्मात् आत्मनः) इस प्रत्यक्षवत् भासमान आत्मा की अपेक्षा से (सर्वे+प्राणाः) सारे बाह्य अथवा आन्तरिक प्राण (सर्वे+लोकाः) सब भूरादि लोक (सर्वे+देवाः) सब सूर्यादि देव (सर्वाणि+भूतानि) पृथिवी जल तेज आदि सब महाभूत (व्युच्चरन्ति) आविर्भूत होते हैं। उसका (उपनिषद्) नाम (सत्यस्य+सत्यम्) सत्य का सत्य है (प्राणाः+वै+सत्यम्) निश्चय सब प्राण, लोक, देव, भूत ही सत्य हैं (तेषाम्) उन सबों में भी (एषः) यह परमात्मा (सत्यम्) सत्य है * ॥ २० ॥

भाष्यम्—स यथेति। जीवात्मनः स्वाभाविक्यौ स्वप्नसुषुप्ती व्याख्याय महिमानं प्रकटयति। तथाहि—ऊर्णनाभिः तन्तुवायाख्यकीटः सुप्रसिद्धो लोके "लूता स्त्री तन्तुवायोर्णनाभमर्कटकाः समाः" ऊर्णेव तन्तुर्नाभौ यस्य स ऊर्णनाभिः। तन्तुना

* ऐसे २ स्थलों में "स" शब्द प्रसिद्धार्थक होता है।

स्वनिर्मितेन तन्तुसमूहेन । उच्चरेत ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यगितस्ततः स्वच्छन्दतया विहरेत् । तथा च । अग्नेः सकाशात् । यथा क्षुद्राः स्वल्पाः स्वल्पा विस्फुलिङ्गा अङ्गाराः । व्युच्चरन्ति निःसरन्ति परितः प्रसर्पन्ति । स इति प्रसिद्धार्थकः । यथेमौ दृष्टान्तौ सुप्रसिद्धौ वर्तेते । एवमेव । अस्मादात्मनः । जागरणस्वप्नसुस्वप्नावस्थात्रयविशिष्टात् पूर्वोक्ता जीवात्मनः । अर्थात्तेन प्रतिबिम्बिताः प्रोज्वलिताश्च सन्तः । सर्वे प्राणा वागादयः । सर्वे लोकाः शरीरस्था मुखकर्णादयः प्रदेशाः । सर्वे देवाश्चक्षुरादिद्वारा प्रविष्टाः सूर्यादयः । सर्वाणि भूतानि । व्युच्चरन्ति शरीरक्रियाऽनुष्ठाने विशेषेण प्रसर्पन्ति । सर्वे स्वं स्वं नियोगमनुतिष्ठन्तो वर्तन्त इत्यर्थः ॥ द्वितीयोऽर्थः । अथवा । जीवात्मनोऽवस्थोपदेशेन तत्प्रात्यहिकसर्वलोकसुबोध्यस्वरूपं दर्शयित्वा । ब्राह्मणस्योपसंहारे किञ्चिन्मात्रं ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं प्रस्तूयते । यथा—ऊर्णनाभो निजनिर्मितेन तन्तुना व्युच्चरति । तथैव स्वसृष्टेन जगता सह सोऽपि परमात्मा क्रीडति । यथाग्नेः सकाशात् क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा उत्पतन्ति .तथैवेश्वरा वेक्षणाद् विविधाः सृष्टयो जायन्ते । इत्थं सर्वे बाह्या आभ्यन्तराश्च प्राणाः । सर्वे भूरादयो लोकाः । सर्वे सूर्यादयो देवाः । सर्वाणि आकाशादीनि महाभूतानि व्युच्चरन्ति निर्गच्छन्ति । योऽयमीदृशोऽस्ति स केन नाम्नाऽभिधीयत इति जिज्ञासायां तस्योपनिषदित्यादि प्रारभते—तस्य जीवात्मनः परमात्मनो वा । उपनिषन्नामधेयम् । उपसमीपं नि नितरां सादयति गमयति या सा उपनिषद् । काऽसावुपनिषदित्याह—सत्यस्य सत्यमिति । किं पुनः सत्यं किम्वा सत्यस्य सत्यमित्यत आह—प्राणा इति । प्राणा वागादयः । सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि च । वै निश्चयेन सत्यम् । सत्यपदाभिधेयाः । तेषामपि प्राणादीनां मध्ये । एष जीवात्मा परमात्मा वा सत्यम् । अविनश्वरं तत्त्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

भाष्याशय—यहां दो दृष्टान्त कहे गये हैं । एक ऊर्णनाभि और दूसरा अग्निविस्फुलिङ्ग । ऊर्णनाभि (मकड़ी) नामक कीट के ये व्यापार हैं—निज देह से तन्तुओं को निकाल एक उत्तम और दुर्गोपम जाला बना उसमें विविध कीट पतङ्ग मक्षिकाओं को फंसा उन बद्ध हतभाग्य जीवों से दिन यापन करता हुआ सतत क्रीडासक्त रहता है । उन जालीय तन्तुओं पर बहुत शीघ्र गति से दौड़ता है । कभी एक ही तन्तु को दो सिरे पर लगाकर उससे चढ़ता उतरता रहता है । आश्चर्य यह है कि यदि कीट को हाथ में लेकर कुछ जोर से पटको तो वह नीचे नहीं गिरेगा किन्तु वह उसी क्षण अति बुद्धिमत्ता के साथ पेट से तन्तु उत्पन्न कर आपके हाथ में लगा लटका हुआ रहेगा । अधिक झोंक देने से नीचे गिरेगा । अन्यथा लटका ही हुआ रहेगा । अर्थात् इसमें तत्क्षण तन्तु उत्पन्न करने की ईश्वर ने महती शक्ति दी है ।

इसी प्रकार यह जीवात्मा विविध वासनास्वरूप तन्तुओं को उत्पन्न कर उनमें आसक्त हो उन वासनाओं से प्रेरित नाना कर्मों में [illegible] हो तज्जनित भोगरूप कीटों को ले क्रीड़ा करता रहता है । जैसे ऊर्णनाभ तत्काल तन्तुओं को उत्पन्न कर निज मनोरथ सांधता है वैसे ही यह वासनारूप तन्तुओं को फैला निज अभीष्ट का अनुसरण करता रहता है । जैसे ऊर्णनाभ और तन्तु दो वस्तुएं हैं वैसे ही आत्मा और वासना भी दो पदार्थ हैं । दूसरे दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि अग्नि से निकल कर जैसे चिनगारियां पृथक् २ होती हैं और अपने को प्रकाशित कर कुछ देर में उपशान्त होती हैं । तद्वत् आत्मा से मानो विविध ज्ञानरूप विस्फुलिङ्ग निकलकर इन्द्रिय लोकादिक के तत्स्वरूप प्रकाश को

प्रकाशित कर शान्त होते हैं । यहां "व्युच्चरन्ति" यह क्रिया प्राणों के साथ मुख्यार्थ द्योतक है और अन्य पदों के साथ गौणार्थ प्रकाशक है । आत्मा की सहायता से ही प्राण (सब इन्द्रिय) "व्युच्चरन्ति" विविध विषयों के ऊपर दौड़ते हैं यह मुख्यार्थ है । और इसी आत्मा से सब लोक (व्युच्चरति) होते हैं, इसका भी भाव यह है कि आत्मा के विज्ञान की सहायता से ही ये सारे लोक अग्नि आदि देव ये सारे जीवधारी जाने जाते हैं। यदि विज्ञान न होवे तो एक तुच्छ से तुच्छ वस्तु का भी ज्ञान कदापि नहीं हो सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि सब पदार्थों का बोध आत्मा से ही होता है । अतः इसको त्याग अन्यत्र भ्रमण करना केवल शैशव क्रीडामात्र है ।। २० ।।

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जीवात्मनः स्वरूपमस्तित्वम्वा प्रदर्शितम् । स्वस्थादात्मन एव सर्वाणि ज्ञानानि जायन्त इत्यपि कथितम् । कदा जीवात्मा स्वस्थो भवति ? चित्तवृत्तिनिरोधे सति । चित्तं कदा निरुध्यते ? इन्द्रियाणां वृत्तिनिरोधे सति । इन्द्रियाणि कदा बध्यन्ते ? प्राणानां निरोधे । के च ते प्राणाः । किंरूपाः । को व्यापारः । के सहायकाः । कथं वाव तेषामवरोध इत्यादीनि विज्ञानानि अनेन ब्राह्मणेनाऽऽरभते । वृत्तीनां निरोधेन एकाग्रेण मनसा जीवात्मपरमात्मनोर्बोधः सम्भवति । अत इन्द्रियाणां वृत्तयोदर्शयितव्याः प्रथमम् । अतएव प्रथमब्राह्मणान्ते "प्राणा वै सत्य" मित्यनेन प्राणानां सत्यत्वप्रतिपादनेन तेषां सत्ता सम्यक् कथिता । एवं यथा बाह्यवायुप्रकोपेन गृहवृक्षादीनां भङ्गो दृश्यते । तथैवान्तरिकप्राणानां चाञ्चल्येनाऽस्य देहस्य महान्विपर्यय उपतिष्ठते । अतः शनैः शनैः प्राणा वशं नेतव्याः । इमे एव प्राणास्तत्तदिन्द्रियं प्राप्य तत्तत्स्वरूपा भूत्वा तत्तन्नामभिराख्यायन्ते । अथवा केचिन्मन्यन्ते । नहीन्द्रियाणि प्राणवायोर्विभिन्नानि । अतः प्राणशब्देन इन्द्रियाण्येवोच्यन्ते उपनिषत्सु । इन्द्रियस्वरूपव्याख्यानाय तर्हि ब्राह्मणमिदमारभ्यते ॥

संक्षेप से जीवात्मा का स्वरूप अथवा अस्तित्व दिखलाया । स्वस्थ आत्मा से ही सब ज्ञान होते हैं यह भी कहा, परन्तु कब जीवात्मा स्वस्थ होता है ?, चित्तवृत्तियों के निरोध होने पर । चित्त कब निरुद्ध रहता है ?, इन्द्रियों की वृत्तियों के निरोध होने पर । इन्द्रिय कब बद्ध होते हैं ?, प्राणों के निरोध होने पर । वे प्राण कौन हैं उनका स्वरूप क्या है, उनका व्यापार क्या है, उनके सहायक कौन हैं, किस प्रकार उनका अवरोध हो । इत्यादि विज्ञानों को इस ब्राह्मण के द्वारा आरम्भ करते हैं । जब वृत्तियों का निरोध होता है तब एकाग्र मन से जीवात्मा परमात्मा का बोध सम्भव होता है । इस हेतु इन्द्रियों की वृत्ति प्रथम दिखलानी चाहिये । अतएव प्रथम ब्राह्मण के अन्त में "प्राणा वै सत्यम्" प्राणों के सत्यत्व प्रतिपादन से उनकी सत्ता अच्छे प्रकार कथित हुई । एवं जैसे बाह्य वायु के प्रकोप से गृह वृक्षादिकों का भङ्ग होना देख पड़ता है वैसे ही आन्तरिक प्राणों के चाञ्चल्य से इस शरीर में महान् विपर्यय उपस्थित होता है । और ब्रह्मबोध होना असंभव है अतः धीरे २ प्राण वश में लाने चाहियें । ये ही प्राण उस २ इन्द्रिय को प्राप्त हो तत्तत् रूप हो तत्तत् नाम से पुकारे जाते हैं। अथवा कोई कहते हैं कि

प्राणवायु से भिन्न इन्द्रिय कोई पदार्थ नहीं। इस हेतु उपनिषदों में प्राण शब्द से इन्द्रिय ही कहे जाते हैं तब इन्द्रिय स्वरूप के ही व्याख्यान के लिये इस ब्राह्मण का आरम्भ है ऐसा मानना चाहिये। मन सहित इन्द्रिय के ज्ञान विना आत्मज्ञान नहीं। और आत्मज्ञान विना परमात्मज्ञान नहीं॥

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाऽऽधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम॥ १॥

अनुवाद—आधानसहित, प्रत्याधानसहित, स्थूणासहित और दामसहित शिशु को जो जानता है वह द्वेष करनेहारे सात भ्रातृव्यों (शत्रु) को अपने वश में करता है। यही शिशु है जो यह मध्यम प्राण है। उस शिशु का यह (शरीर) ही आधान है। यह (शिर) ही प्रत्याधान है, बल ही स्थूणा है, अन्न दाम है॥ १॥

पदार्थ—(साधानम्) आधानसहित। आधान आदिक शब्दों का अर्थ स्वयं उपनिषद् दिखलावेगी। (सप्रत्याधानम्) प्रत्याधानसहित (सस्थूणम्) स्थूणासहित (सदामम्) दामसहित (शिशुम्) जो शिशु बालक है उसको (ह+वै) निश्चय करके (यः) जो (वेद) जानता है उसको यह फल प्राप्त होता है (ह) निश्चयरूप से वह शिशुवित् पुरुष (द्विषतः) द्वेष करनेहारे (सप्त) सात (भ्रातृव्यान्) भ्रातृव्य=शत्रुओं को (अवरुणद्धि) अपने वश में करता है। अब आगे प्रत्येक शब्द का अर्थ दिखलाते हैं। पूर्व "शिशु" कहा है। लोक में छोटे बच्चे का नाम शिशु है। यहां शिशु कौन है? इस शङ्का पर कहते हैं—(अयम्+वाव+शिशुः) इस शरीर में यही शिशु है (यः+अयम्) जो यह (मध्यमः) शरीर के मध्य में रहनेहारा (प्राणः) लिंगात्मा प्राण है। अर्थात् इस स्थूल शरीर में लिंगात्मक शरीर ही शिशु है। क्योंकि यह अति सूक्ष्म रूप से शरीर के मध्य में सो रहा है। आगे आधान कहते हैं—जिसमें वस्तु स्थापित होसके उसे आधान कहते हैं। अधिष्ठान वा शरीर का नाम आधान है (तस्य) उस प्राण का (इदम्) यह स्थूल शरीर (एव) ही (आधानम्) अधिष्ठान=रहने की जगह है। क्योंकि इस शरीर में ही प्राण रहता है। अब प्रत्याधान कहते हैं—जिस एक ही स्थान में अनेक अधिष्ठान हों उसे प्रत्याधान कहते हैं (इदम्+प्रत्याधानम्) यह शिर ही प्रत्याधान है। क्योंकि इस शिर में प्राण के रहने को अनेक स्थान हैं दो आंखें, दो कान, दो नासिकाएं, एक रसना, इसके अतिरिक्त मानसिक शक्ति इस प्रकार शिर में अनेक आधान=अधिष्ठान हैं। अतः शिर का नाम प्रत्याधान है। अब स्थूणा कहते हैं—खूंटे का नाम स्थूणा है (प्राणः+स्थूणाः) प्राण नाम यहां बल का है। बल ही स्थूणा है, क्योंकि शरीर में बल रहने से ही प्राण रहता है। आगे "दाम" दिखलाते हैं—रज्जु (जेवरी) का नाम दाम है यहां (अन्नम् दाम) विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ ही दाम हैं। क्योंकि अन्न से ही यह प्राण बंधा हुआ रहता है *॥ १॥

---

* यहां एक उपमा के द्वारा प्राण का वर्णन किया है। मानो यह शरीर एक गोशाला है। और इस गोशाला में आंख, कान, नाक आदिक स्थान ही मानो विचरण करने की जगह बनी हुई हैं। इस में मानो बल (शक्ति) ही खूंटा है। और विविध प्रकार के खाने के पदार्थ ही मानो जेवरी है। और प्राण ही मानो वत्स है। अब इस प्राण के वश में लाने के लिये इसके आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम सब जानने चाहियें। जो कोई प्रबल शत्रु को वश करना चाहता है उसे चाहिये कि उसके दुर्ग=रहने की जगह, बल आदिक सब जाने। तद्वत्।

भाष्यम्—यो हेति। साधानम् आधानम्: शरीरम् अग्रे वक्ष्यमाणत्वात् तेन सह वर्तत इति साधानं स शरीरम्। स प्रत्याधानम् प्रत्याधानं शिरः तेन सह विद्यते सप्रत्याधानं सशिरस्कम्। सस्थूणं स्थूणात्र बलं तया सह विद्यत इति सस्थूणं स बलम्। सदामं दामान्नं तेन सह वर्तत इति सदामं सहान्नम्। ईदृशैर्विशेषणैर्विशेषितं शिशुं शयनशील-मनासक्तं बालं यो ह साधको वेद जानाति। तस्येदं फलम्—स शिशुतत्त्ववित्। द्विषतः द्वेष्टॄन् भ्रातृव्यान् अवरुणद्धि वशीकरोति। "भ्रातृव्यशब्दस्य द्विधावृत्तिः। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः।" "भ्रातुर्व्यच्च ४। १। १४४॥ अपत्येऽर्थे भ्रातुर्व्यत् प्रत्ययः स्यात्। चाच्छः। अणोपवादः भ्रातृव्यः भ्रात्रीयः" भ्रात्रीव्यः शत्रावपि, तथाहि व्यन् सपत्ने ४। १। १४५॥ भ्रातुर्व्यन् स्यात्। प्रकृतिप्रत्यय समुदायेन शत्रौ वाच्ये। भ्रातृव्यः शत्रुः। भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ इति कोशश्च। यः खलु शिशुं वेद स कान् भ्रातृव्यान् अवरुणद्धीत्याशङ्कायाम्। द्विषतो भ्रातृव्यानिति। शत्रवो ये भ्रातृव्याः सन्ति तान् नतु सहोदरजान् भ्रातृव्यानिति भवस्ते प्रधानतया कति सन्ति? सप्तेति सप्तसंख्याकाः। तान् सप्त शत्रूनवरुणद्धि इत्यन्वयः॥ द्वे अक्षिणी। द्वौ कर्णौ। द्वे नासिके। रसना च सप्तमी। इमे सप्त वशीभूताः शत्रवो भवन्ति। पुरुषं विषयं विषयं नीत्वाऽधोऽधः पातयन्ति। अतस्ते शत्रवः "द्विषोऽमित्रे ३। २। १३१॥ अमित्रेऽर्थे द्विषः शतृप्रत्ययः" अग्रे एवमेवोपनिषद् शिश्वादीनां पदार्थमाह—लोकेऽप्रसिद्धेः। अयं वाव शिशुः। अयमेव शिशुः। योऽयं मध्यमः प्राणः शरीरस्य मध्ये भवो मध्यमः। यो लिङ्गात्माख्यः प्राणः शरीरमध्ये तिष्ठति स शिशुशब्दवाच्यः। इतरेन्द्रियवत्कार्य्याशक्तिविरहाच्छिशुः। आधानं दर्शयति—तस्येद-माधानम्। आधीयते आसमन्ताद् धीयते निधीयते स्थाप्यते यत्र तदाऽऽधानं शरीरम्। शरीरे प्राणो निधीयते। प्रत्याधानमाह—इदं प्रत्याधानम्। इदं शिर एव प्रत्याधानम्। आधानं निवासस्थानम्। शिरसि चक्षुरादीनां लघूनि २ अनेकानि निवासस्थानानि विद्यन्त इत्यतः शिरः प्रत्याधानमुच्यते। प्रत्येकमाधीयते। इति व्युत्पत्तेः। स्थूणामाह—प्राणः स्थूणा प्राणोबलम्। स्थूणा गृहस्तम्भः शङ्कुः। त्रिषु पाण्डौ च हरिणः स्थूणास्तम्भेऽपि वेश्मनः, इत्यमरः। यथा स्थूणासु गृहं तिष्ठति तथैवायं प्राणो बले तिष्ठति। यदाऽबलो भवति। तदेदं शरीरं धारयितुं न शक्नोति। स यत्रायमात्माऽबल्यंन्येत्य सम्मोहमिव न्येति। अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति इत्यादि विधानात्। दामाह—अन्नं भोज्यं वस्तु दाम। यथागृहं दामभिर्बध्यते। तथा प्राणोऽपि अन्नैर्बध्यते। अन्नाभावात्प्राणाऽऽपत्तिः। अत्रेदम-वधार्यम्। प्राणस्य निवासस्थानं शरीरं प्रथमं विज्ञातव्यम्। आयुर्वेदशास्त्राच्छरीरतत्त्वानि निश्चेतव्यानि। केन साधनेन केन प्रकारेण चेदं स्वस्थं नीरुजं निरुपद्रवमभीष्टसाधनयोग्य-मातिष्ठेत। यो हि शरीरं तुच्छं हेयं ज्ञात्वा तस्मिन्ननवस्थां दर्शयति प्रत्यहं शातयति। स सर्वस्मिन् कर्मण्यसमर्थः। सोऽन्तेऽवसीदत्येव। अतो ब्रह्मचर्यादिद्वारा चतुर्वर्गसाधनं शरीरमेव प्रथमं सर्वथा दृढयितव्यम्। अन्यानि च शरीरे जिज्ञास्यानि जिज्ञासितव्यानि। ततः प्रत्याधानम्। प्रत्याधानं नाम शिरः। शिरसैव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं वस्तु विवेच्यते। शिरसा कानि कानि कर्माणि वयं कर्तुं समर्था इति सम्यङ् न जानीमः किञ्चिदं ज्ञातव्यम्। केनोपायेन शिरोविज्ञानं वर्धयितव्यं केनोपायेन सूक्ष्मतमं वस्तु शिर आददीत। कथं शिरसि बहूनि वस्तूनि स्मरणार्थं निधातव्यानि। कथं कस्यापि तद्भूयांसि कर्माणि

कुर्वन्नपि न व्यथते कथं कोऽपि तस्य साहाय्येनापूर्वं वस्त्वाविष्करोति । इत्येवं विधानि सन्ति तु बहूनि वस्तूनि शिरसि विज्ञातव्यानि । एवमेव बलेऽन्ने च तत्त्वान्यन्वेष्टव्यानि । एतैश्चतुर्भिः सार्धम् । यः प्राणं वेत्ति स कथन्न सप्त शत्रूनवरुन्ध्यात् ॥ १ ॥

भाष्याशय—यहां ऐसा निश्चय करे। प्राण के निवासस्थान शरीर को प्रथम अच्छी तरह जाने। आयुर्वेदशास्त्र से शरीर के तत्त्वों को अवश्य निश्चित करे। किस साधन से, किस प्रकार से यह शरीर नीरोग निरुपद्रव अभीष्टसाधन योग्य सदा रह सकता है। जो कोई शरीर को तुच्छ हेय मान उसके ऊपर अनादर प्रकट करते हैं वे सब कार्य्य में असमर्थ होकर अन्त में दुःख के भागी होते हैं इस हेतु ब्रह्मचर्यादि द्वारा चतुर्वर्ग साधन शरीर को प्रथम सर्वथा दृढ़ करे। और इसके अतिरिक्त शरीर सम्बन्धी जो जिज्ञास्य हों उन्हें जिज्ञासा करे जब इस प्रकार प्रथम शरीर दृढ़ होगा तब ही शिर भी कार्य में सक्षम होगा, अतः इसके अनन्तर प्रत्याधान की जिज्ञासा करे। शिर से ही सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु का विवेक होता है। शिर से किन २ कार्य्यों के करने में हम लोग समर्थ हैं सो नहीं जानते। किस उपाय से सूक्ष्मतम वस्तु को शिर ग्रहण करता है। किस प्रकार शिर में बहुत वस्तु स्मरणार्थ रखने चाहियें। कैसे किसी का शिर बहुत काम करता हुआ भी व्यथित नहीं होता। कैसे कोई उसकी सहायता से अपूर्व वस्तु का आविष्कार करता है। इत्यादि अनेक वस्तु शिर के सम्बन्ध में ज्ञातव्य हैं। ऐसा ही बल और अन्न के विषय में भी तत्त्व को अन्वेषण करे। इन चार विशेषणों के सहित जो लिङ्गशरीर को जानता है वह क्यों नहीं अपने शत्रुओं को वश में करेगा। शिशु—यहां से शिशुब्राह्मण आरम्भ होता है। लिङ्गात्मा शरीर का नाम शिशु है। "शीङ् स्वप्ने" धातु से शिशु शब्द बनता है जिस कारण छोटे बच्चे चलने फिरने में असमर्थ जहां सुला दिया जाता वहां ही सोया हुआ और वहां ही अपनी क्रीड़ा में आसक्त रहता है। तद्वत् इस लिङ्गशरीर को धर्म्माधर्म्मरूप पुरुष जहां लेजाकर छोड़ देता है वहां ही अपने कर्मों के फल भोगता हुआ रहता है इस हेतु इसे "शिशु" कहते हैं। अथवा स्थूल शरीर की अपेक्षा "लिंगशरीर" बहुत छोटा है इस हेतु भी इसे शिशु कह सकते हैं। भ्रातृव्य—आजकल दो अर्थों में यह "भ्रातृव्य" शब्द आता है भ्राता के पुत्र अर्थ में और शत्रु अर्थ में "शत्रु अर्थ" में ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इसके प्रयोग बहुत आये हुए हैं "भ्रातृ शब्द से भ्रातृव्य" बनता है। इसमें सन्देह नहीं क्योंकि शब्दतत्त्वविद् पाणिनि वैसा ही कहते हैं। यह "भ्रातृव्य" शब्द सूचित करता है कि निज परिवारों से ही अर्थात् निज भ्राता से ही शत्रुता का प्रथम जन्म हुआ है। देखते भी हैं कि निज सहोदर में बड़ी लड़ाई रहती है। जितना २ निकटस्थ सम्बन्ध है उतना २ युद्ध अधिक है। भारतवर्ष में जो भयङ्कर रोमहर्षण देवासुर नाम से संग्राम प्रसिद्ध है वह आपस की ही घोर लड़ाई है। तब ही से "शत्रु" अर्थ में "भ्रातृव्य" शब्द का अधिक प्रयोग होने लगा है। "भ्रातृव्य" का शब्दार्थ भ्रातृपुत्र अर्थ है। इस शरीर में चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रिय "भ्रातृव्य" हैं क्योंकि यह देह वा लिंगशरीर जीवात्मा का भाई है। और इसी देह वा लिंगशरीर के कारण ये सब इन्द्रिय हैं। अतः ये भाई के पुत्र हैं। परन्तु आत्मा के ये शत्रु भी हैं इस हेतु दोनों प्रकार से इन्द्रियगण आत्मा के भ्रातृव्य हैं। अपिकृत प्रयोगों का भाव लिख करके प्रकाशित करने में अतिशय कठिनता होती है ॥ १ ॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनका तयाऽऽदित्यो यत्कृष्णं

तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनंऽवर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥ २ ॥

अनुवाद—उसको ये सात अक्षितियां (प्रकृतियां=स्वभाव) उपस्थित होती हैं, वहां जो ये नेत्र में लाल रेखाएं हैं उससे इनको रुद्र अनुगत है। और जो यह नेत्र में जल है उससे इसको पर्जन्य अनुगत है जो कनीनका है उससे इसको आदित्य अनुगत है। जो कृष्णमंडल है उससे इसको अग्नि अनुगत है जो शुक्लमंडल है उससे इसको इन्द्र अनुगत है नीचे की वर्तनि से इसको पृथिवी अनुगत है और ऊपर की वर्तनि से द्यौ अनुगत है। इसका अन्न क्षीण नहीं होता है जो ऐसा जानता है ॥२॥

पदार्थ—प्राण वशीकर्तव्य है यह पूर्व में कहा गया। अब प्राण के बलिष्ठ सहायक कहते हैं क्योंकि सहायक ही शत्रु को बलिष्ठ बनाये रहते हैं (तम्) पूर्वोक्त उस शिशु प्राण के निकट (एताः) ये (सप्त) सात (अक्षितयः) प्रकृतियां वनिताओं के समान (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होती हैं। वे सातों अक्षितियां कौन २ हैं सो आगे कहते हैं—(तत्) उनमें (याः+इमाः) जो ये (अक्षन्) नेत्र में (लोहिन्यः) लोहित=लाल (राजयः) रेखाएं हैं (ताभिः) उन लाल रेखाओं से (एनम्) इस मध्यम शिशु के निकट (रुद्रः) विद्युत्शक्ति (अन्वायत्तः) अनुगत है अर्थात् नेत्र में जो लाल रेखा है उसमें विद्युत् शक्ति की अधिकता है। विद्युत् सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। परन्तु क्रोधावस्था में वा विशेष उष्णता आदि अवस्था में जो नेत्र के ऊपर लालिमा छाजाती है उसका कारण विद्युत् है। इस प्रकार नेत्र के ऊपर विद्युत्शक्ति प्रकटसी मालूम होती है। (अथ) और (याः) जो ये (अक्षन्) नेत्र में (आपः) जल है (ताभिः) उस जल के द्वारा (पर्जन्यः) मेघशक्ति रस मध्यम प्राण के निकट उपस्थित होता है (या+कनीनका) जो यह नेत्र की तारा है (तया) उसके द्वारा (आदित्यः) सूर्य शक्ति उपस्थित है (यत्+कृष्णम्) जो नेत्र में कृष्णमंडल है (तेन+अग्निः) उसके द्वारा आग्नेय शक्ति इसके निकट उपस्थित होती है (यत्+शुक्लम्) जो श्वेतमंडल है (तेन+इन्द्रः) उसके द्वारा वायु अनुगत है (अधरया) अधर=अधःस्थित (वर्तन्या) पक्ष्म नेत्र के नीचले पल के द्वारा (पृथिवी+अन्वायत्ता) पृथिवी अनुगत है और (उत्तरया) ऊपर के पक्ष्म से (द्यौः) द्युलोकशक्ति अनुगत है। अब आगे इस विज्ञान का फल कहते हैं—(यः+एवम्+वेद) जो साधक ऐसा जानता है। (अस्य) इसका (अन्नम्) अन्न (न+क्षीयते) क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

भाष्यम्—तमिति। प्राणो वशीकर्त्तव्य इत्युक्तम्। सम्प्रति प्राणस्य बलिष्ठाः सहायकाः कथ्यन्ते। सहायका ह्येव शत्रुं द्रढयन्ति। तं पूर्वप्रदर्शितं शिशुं प्राणम्। एता वक्ष्यमाणाः। सप्त सप्तसंख्याकाः। अक्षितयः क्षितिर्विनाशः, न क्षितिर्येषां तेऽक्षितय अविनश्वराः सहजाः प्रकृतयो वनिता इव। उपतिष्ठन्ते देवस्य शिशोः प्राणस्य गुणानुत्कीर्तयितुमिव सप्त अक्षितयो वनिता इव उपतिष्ठन्ते। ननु "उपान्मन्त्रकरणे १। ३। २५॥" इति मन्त्रकरणे आत्मनेपदाभिधानात् कथं तदिह स्यात्। सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिकाः। आर्षं छन्दोवन्मन्यते। यद्वा सप्तरुद्रादिदेवता नामानि मन्त्रवदवस्थितानि। तैरेव मन्त्रस्थानीयैः शिशोः प्राणस्य उपासनानुष्ठानानि क्रियन्ते तस्मादात्मनेपदम्। ता अक्षितीराह। तत्तत्र। या इमाः प्रसिद्धाः। अक्षन् अक्षणि अक्षिणि। "सुपां सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत, शे, या, डा, ड्या, याच्, आलः ७। १। ३९॥ इति ङेर्लुक्" लोहिन्यो लोहिता रक्ता इत्यर्थः। "लोहितो रोहितो रक्तः। शोणः कोकनदच्छविः" इत्यमरः। "वर्णादनुदात्ता-

च्चोपधातो: न: ४ । १ । ३९ ॥ इति ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च" राजयो लेखा: सन्ति । "वीथ्यालिरावलि: पङ्क्ति श्रेणी लेखास्तु राजय:" इत्यमर: । ताभिर्लोहितराजिभि: । रुद्रो विद्युच्छक्ति: । एनं मध्यमं प्राणम् । अन्वायत्तोऽनुगत: प्राप्त: उपतिष्ठते । नेत्रे या रक्ता रेखा उपलभ्यन्ते तत्र विद्युच्छक्तिर्विज्ञेया । अथ या इमा: । अक्षिन्नक्षिणि । आपो जलविन्दवो दृश्यन्ते । ताभिरद्भि: । पर्जन्यो मेघशक्ति: । एनमन्वायत्ता । एतत्पदद्वयं सर्वत्र सम्बध्यते । । येयम् अक्षिणि, कनीनका कनीनिका (कनीनिका इत्येव सुपाठ:) नेत्रस्य तारकास्ति । तया द्वारभूतया । आदित्य आदित्यशक्तिरेनमनुगत उपतिष्ठते । कनीनिकायामादित्य शक्तिर्द्रष्टव्या । नेत्रे । यत्कृष्णं मण्डलं दृश्यते । तेन अग्निरग्निशक्तिरेनं मध्यमं प्राणमनुगत उपतिष्ठते । नेत्रे यच्छुक्लं मण्डलमस्ति । तेनेन्द्र ऐश्वर्य्यशक्ति: । या च नेत्रे । अधरा अधोवर्त्तिनी वर्त्तनिर्नेत्राधारोऽस्ति । तयाऽधरया वर्तन्या । एनं प्राणं पृथिवी अन्वायत्ताऽनुगता । या च उत्तरा उपरितनी वर्त्तनि: नेत्रावरणम् । तयोत्तरया वर्त्तन्या द्वारया । द्यौ: । अन्वायत्ता विज्ञानफलमाह—य: साधक: । एवं वेद जानाति । अस्यान्नं खाद्यं वस्तु न क्षीयते न क्षयं याति । एकैकेन्द्रियद्वारा सप्त सप्त सहायका: प्राणमुपतिष्ठन्ते । इत्थं सप्तशत्रुद्वारा एकोनपञ्चाशत्तर्हि सर्वदा शत्रवो बलिष्ठा देवशब्दवाच्या उपतिष्ठन्ते । कथं तर्हि महतो बलिष्ठस्य प्राणस्य वशीकरणाशा । इह हि एकस्येन्द्रियस्य व्यापारप्रदर्शनेनेतरेषामप्येवमेव ज्ञातव्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशय—अक्षिति=क्षिति=क्षय, विनाश, ध्वंस, जो क्षिति न हो उसे अक्षिति कहते हैं । यद्वा जिसकी क्षिति=क्षय न हो उसे अक्षिति कहेंगे । तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों समास हो सकते हैं । स्वभाव अक्षय वस्तु है इस हेतु यहां स्वभाव का पर्य्याय अक्षिति है । नेत्र में लाल, काला, श्वेत ये तीन तो रंग दीखते हैं और जल एक छोटासा पुरुष जिसको कनीनिका, तारा, पुत्तलिका आदि संस्कृत में कहते हैं और दो ढकने एक ऊपर एक नीचे जिसको पक्ष्म कहते हैं ये सात पदार्थ । मानो इन सात पदार्थों के द्वारा सात देवताएं प्राण के निकट पहुंच उसकी स्तुति प्रार्थना करती हैं और इसको बल देती हैं जो बाह्यप्राण सूर्य है उसकी जैसे मानो सात प्रकार की किरणरूप देवताएं स्तुति करती हैं तद्वत् । अक्षिति+नेत्र रूपमार्ग के द्वारा सात देवों का गमन प्राण के निकट कहा गया है । इस का भाव यह है कि पुरुष का सर्व आन्तरिक भाव नेत्र के विकार से विदित होजाता है क्रोध वा शान्ति, धार्मिकता वा अधार्मिकता, राग वा त्याग, कार्यपटुता वा कार्य्यानभिज्ञता, दरिद्रता वा उदारता, विद्वत्ता वा मूर्खता इत्यादि गुण नेत्र की छवि से विस्पष्ट होते हैं । और नेत्र की चेष्टा के अनुसार सम्पूर्ण मुख कान्ति उस २ रूप के अनुसार बदलती रहती है । (१) रुद्र—जब मनुष्य क्रोधावस्था में प्राप्त होता है तब उसके नेत्र पर रौद्रता, भयङ्करता छाजाती है । (२) पर्जन्य—जब स्नेह वा प्रीति वा कोई असह्य दुःख प्राप्त होता है तब उसके नेत्र से अश्रु की धारा बहने लगती है मानो मेघ बरस रहा है । (३) आदित्य—जब अत्यन्त प्रसन्नता महाविजय आदि को प्राप्त करता है तो उसके नेत्र बड़े प्रकाशित प्रफुल्लित और तेजोमय दीखने लगते हैं । मानो सूर्य का प्रकाश इसके ऊपर साक्षात् पड़ रहा है । (४) अग्नि—जब महापापादि दुष्कर्म में पड़ जाता है तब जैसे सधूम अग्नि हो तद्वत् उसके नेत्र हो जाते हैं । (५) इन्द्र—धन सम्पत्ति लक्ष्मी को प्राप्त होता है तब उसके नेत्र भी शुद्ध दीखते हैं मानो ऐश्वर्य की मूर्ति छारही है । इसी प्रकार गम्भीरता, उदारतादि सूचक । (६) पृथिवी—शब्द है और उन्नतादि गुण सूचक । (७) द्यौ—शब्द जानना । इस प्रकार ये महाबलिष्ठ सात देव

एक नेत्र के द्वारा प्राण के निकट उपस्थित होते हैं। यहां केवल एक इन्द्रिय के व्यापार कहे गये हैं परन्तु इसी प्रकार अवशिष्ट अन्य छवों के भी व्यापार जानना चाहिये। इस प्रकार ७×७=४९ सहायक इसके होंगे जब ऐसे २ बलशाली ४९ शत्रु इस प्राण के निकट प्रतिक्षण सहायता करने के लिये उपस्थित रहते हैं। तब इसका वशीकरण अवश्य बहुत कठिन कार्य्य है। इसको दिखलाने को इस द्वितीय कंडिका का वर्णन किया गया है ॥ २ ॥

तदेष श्लोको भवति—अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना इति * ॥ ३ ॥ (क)

अनुवाद—उसके विषय में यह श्लोक होता है—एक चमस है जिसका बिल नीचे है। और ऊपर मूल (जड़) है। उसमें विविध प्रकार का यश स्थापित है। उसके समीप सात ऋषि रहते हैं। और आठवीं वाणी रहती है जो वेद के साथ मानो सम्वाद कर रही है॥ ३ ॥ (क)

पदार्थ—(तत्) उसके विषय में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक (भवति) होता है। सो आगे कहते हैं—(चमसः) सोमरस रखने के एक पात्र का नाम "चमस" है। हिन्दी में चमसा कहते हैं। वह चमस कैसा है उसका आगे अनेक विशेषणों से वर्णन करते हैं (अर्वाग्बिलः) अर्वाग् अधःस्थित= नीचे को। बिल=छिद्र=मुख है जिसका उसे 'अर्वाग्बिल" कहते हैं। अर्थात् जिसका छेद नीचे की ओर हो। पुनः (ऊर्ध्वबुध्नः) उर्ध्व=ऊपर। बुध्नः=मूल=जड़ है जिसका वह उर्ध्वबुध्न जिसकी जड़ ऊपर हो पुनः (तस्मिन्) उस चमस में (विश्वरूपम्) सब रूपवाला (यशः) यश (निहितम्) रक्खा हुआ है। पुनः (तस्य) उस चमस के (तीरे) समीप (सप्त+ऋषयः) सात ऋषि (आसते) रहते हैं और (अष्टमी+वाग्) आठवीं वाणी (ब्राह्मणा) वेदज्ञान के साथ (सम्विदाना) मानो वार्त्तालाप करती हुई है (इति) ॥ ३ ॥ (क)

भाष्यम्—तदिति। "सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि" इत्यादि पूर्वं यदुक्तम्—तत्र के पुनः सप्त द्विषतो भ्रातृव्याः। क्व ते निवसन्ति। अन्यत्रापि तेषां क्वचिद्व्याख्यानमस्ति उत त्वमेवापूर्वं किमपि वस्तु व्याचष्टे इत्यादि शङ्कां निराकुर्वन्नाह—तदित्यादि। तत्तत्र तस्मिन्विषये। एष वक्ष्यमाणः श्लोकोऽपि प्रमाणमस्ति कोऽसौ श्लोक इत्यत आह—अर्वागित्यादि। अस्यार्थः—अर्वागधःस्थितं बिलं विवरं छिद्रं यस्य सोऽर्वाग्बिलः "नागलोकोऽथ कुहरं शुषिरं विवरं बिलम्। छिद्रं निर्व्यथनं रोकं रन्ध्रं श्वभ्रं वपासुषि इत्यमरः। पुनः कीदृशः ऊर्ध्वबुध्नः। उर्ध्वस्थितो बुध्नोमूलं यस्य सः। उपरि यस्य मूलमस्ति स ऊर्ध्वबुध्नः। उच्यते; "शिरोऽग्रं शिखरं वा ना मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिनामकः" इत्यमरः। ईदृक् कश्चमसोऽस्ति। चमसः पात्रविशेषः। तत्र सोमरसो निधीयते। कोऽयमीदृक्

---

* ऐसा ही मन्त्र अथर्ववेद में है। किञ्चित्पाठ का भेद है, यथा—

तिर्य्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बुभूवुः॥

इस मन्त्र का निरुक्त दैवतकाण्ड ६। ३८ में भी व्याख्यान आया है। यहां अधिदैवत और अध्यात्मभेद से दो अर्थ किये हैं। सूर्य और शरीर पर घटाया गया है। अथर्ववेद १०। ८। ९वां मन्त्र है। "अत्रासत" की जगह "तदासत" पद आया है। अन्य सब समान हैं।

चमसः। शिर एवात्र चमसपदेन विवक्ष्यते। तदेव चमसाकारम्। कथम्। बिलरूपं मुखमस्याधः स्थितम्। उपरि च मूलं दृश्यते। तस्मिन् चमसस्वरूपे शिरसि। विश्वरूपम् विश्वानि विविधानि रूपाणि यस्य तद्विश्वरूपम्। यशः यशःशब्दः प्राणानाह—अग्रे तथैव व्याख्यानात् प्राणस्वरूपम्। निहितं स्थापितं वर्त्तते। यथा चमसे पात्रे सोमो निहितो भवति। तथैवास्मिञ्छिरसि प्राणस्वरूपं विविधं यशो निहितम्। प्राणाः पुनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि तस्य चमसस्य तीरे निकटे। सप्तसंख्याकाः सर्पणशीलाः सततगमनशीलाः वा ऋषयः प्राणरूपाः आसते वर्तन्ते। ऋषि शब्दोऽपि प्राणानेवाह यथा—सप्तहोतारऋषयो यागे स्वस्वकार्यमनुतिष्ठन्ति तथैव शीर्षण्यानि चक्षुरादीनि सप्तेन्द्रियाणि शिरसि स्थितानि स्वस्वकार्यं सम्पादयन्ति। अपि च। अष्टमी अष्टसंख्यापूरणी। एका तत्र। वाग् वाणी वर्तते सा च वाणी। ब्रह्मणा वेदेन ब्रह्मज्ञानेन सह "वेदस्तत्वं तपो ब्रह्म ब्रह्माविप्रः प्रजापतिः". इत्यमरः। सम्विदाना सम्वादं कुर्वतीव विद्यते इति। विदि प्रच्छि स्वरतीनामुपसंख्यानम्। इत्यात्मनेपदम्। ततः शानच्। द्वे चक्षुषी, द्वे नासिके, द्वौ कर्णौ, एका रसना एते सप्त प्राणाः शिरसि सन्ति। अपि च शिरस्येव मुखे वागप्यष्टमी वर्त्तते। सैव वाग् तेषां साहाय्येन सर्वान् वेदमन्त्रानुच्चारयति। अन्ये श्रोत्रादि प्राणाः श्रोतार इव श्रुत्वा मोदन्ते। यथा ऋषयः प्रविभज्य पदार्थान् निश्चिन्वन्ति निश्चित्य च प्राणिभ्यो ददति। तथैव इमे सप्त चक्षुरादयः प्राणा दीयमानं वस्तु विविच्य तथास्थानं नयन्तीव॥ ३॥ (क)

भाष्याशय—सात द्वेषी "भ्रातृव्यों" को वह अपने वश करता है इत्यादि पूर्व में कहा है। वे सात द्वेषी शत्रु कौन हैं? कहां रहते हैं? किसी अन्य ग्रन्थ में भी इनका व्याख्यान है या नहीं? अथवा यह आपकी अपूर्व कोई कल्पना है इत्यादि शङ्का को दूरीकरणार्थ इस कण्डिका का आरम्भ हुआ है। इसकी व्याख्या स्वयं ऋषि करते हैं॥ ३॥ (क)

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥ ३॥ (ख)

अनुवाद—"नीचे जिसका बिल है और ऊपर जिसकी जड़ है" ऐसा जो श्लोक में कहा है वह कौन पदार्थ है? इसके उत्तर में कहते हैं कि "शिर ही है" क्योंकि यही अर्वाग्बिल और ऊर्ध्वबुध्न चमस है। पुनः "उसमें विविध प्रकार का यश निहित है" ऐसा जो पूर्व कहा है सो कौन यश है? "प्राण ही विश्वरूप यश है" वे ही इसमें निहित हैं। यहां यश शब्द से प्राण का ही तात्पर्य है "पुनः उसके निकट सात ऋषि रहते हैं" ऐसा जो कहा है सो वे सात ऋषि कौन हैं? सो कहते हैं "प्राण ही सात ऋषि हैं" ऋषि शब्द से प्राणों से ही तात्पर्य है, पुनः "अष्टमी वाग् वेद के साथ सम्वाद करती हुई है" ऐसा जो कहा गया है। वह वाग् कौन है, इस पर कहते हैं—वाग् ही अष्टमी (आठवीं) है जो ब्रह्म=वेद के साथ सम्वाद करती है जैसे चमस शब्द से शिर यश और ऋषि शब्द से प्राण का ग्रहण हुआ है वैसा "वाग्" इस पद से अन्य पद का ग्रहण नहीं है किन्तु वाग् पद से वाग् का ही ग्रहण है॥ ३॥ (ख)

पदार्थ—पूर्व में जो श्लोक कहा है उसका अर्थ लोक में अप्रसिद्ध और कठिन है इस हेतु स्वयं ऋषि इसका अर्थ करते हैं। मूल में "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इतना जो कहा है इसका तात्पर्य क्या है? ऐसी शङ्का होती है, इसके समाधान में कहते हैं—(तत्+शिर+एव) वह "शिर" ही है (हि) क्योंकि (एषः) यही शिर ही (अर्वाग्बिलः) अर्वाग्बिल अर्थात् इस शरीर के नीचे मुख जिसमें छिद्र हैं उस छिद्र वाले मुख से यह शिर युक्त है (चमसः) चमसाकार है और (ऊर्ध्वबुधः) इसका मूल ऊपर मालूम होता ही है शिरोमण्डल ही मानो इसका मूल है फिर मूल में "तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्" यह जो कहा है इसका तात्पर्य क्या है? इस पर कहते हैं—(प्राणा+वै+यशः+निहितम्+विश्वरूपम्) इस चमसाकार शिर में निश्चय प्राणरूप ही यश निहित है इस हेतु (प्राणान्+एतत् आह) विश्वरूप यश से प्राणों का ही तात्पर्य है। २ आंखें। २ कान। २ नासिकाएं। १ रसना। मननशक्ति आदि यश इसमें स्थापित हैं। पुनः मूल में "तस्य आसत ऋषयः सप्त तीरे" जो कहा गया उसका क्या तात्पर्य है? सो कहते हैं (प्राणाः वै+ऋषयः) यहां सात ऋषियों से तात्पर्य प्राण ही का है। (प्राणान् एतद्+आह) इस सात से ऋषि लोग प्राणों को ही बतलाते हैं और मूल में "वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" ऐसा जो कहा है उसका क्या अभिप्राय है? सो आगे कहते हैं (वाग्+अष्टमी) यहां आठवीं वाग् से 'वाग्' का ही अभिप्राय है (हि) क्योंकि (ब्रह्मणा) वेद से (संवित्ते) संवाद करनेवाली अष्टमी वाणी ही है। इस प्रकार इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥ (ख)

भाष्यम्—उक्तश्लोकस्य दुरूहार्थतया स्वयमेवर्षिर्विस्पष्टयितुमुत्तरव्याख्यानमारभते। "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इति यदुक्तं पूर्वश्लोके तत्र शङ्का भवति। कोऽसावीदृक् चमसः? अत्राह—"इदं तच्छिर एव" शिर एव तद्वस्तु चमसाकारं खल्विदं शिर एव। हि यतः एषः। अर्वाग्बिलः मुखस्याधः स्थितस्य बिलरूपत्वात्। तथा ऊर्ध्वबुध्नः शिरोमण्डलस्य बुध्नत्वात्। पुनरपि यदुक्तं "तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपमिति" तत्र किन्तत् यश इत्याशङ्कायामाह—"प्राणा वै यशः" यशः शब्देन प्राणा इन्द्रियाण्येव अपेक्ष्यन्ते। चक्षुर्नासिकादीनां भिन्नरूपत्वात् स्वस्वविषयाऽऽदानसमयेऽनेकमुखवृत्तिमत्त्वाच्च प्राणा एव विश्वरूपाः। पुनरपि "तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे" इति यदुक्तम्—तत्र शङ्कते। के पुनरमी ऋषयः? इहाऽऽह—"प्राणा वा ऋषयः" प्राणानेतदाह। यथाग्निष्टोमे सप्त होतारः क्रियासम्पादका भवन्ति त एव ऋषय उच्यन्ते ऋषिगोत्रोत्पत्तौ—तथेहापि चक्षुरादय ऋषयः सप्त शिरोऽध्यास्य स्वस्वविषयसम्पादका भवन्ति। अतस्तेषां प्राणानामृषित्वम्। पुनरपि "वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" इति यदुक्तं तत्र केयमष्टमी वागित्याशंका जायते। तत्राऽऽह—"वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते" अत्र नान्याकापि कल्पना। हि यतः। अष्टमी वागेव वाग् वाक् पदेन वागेव गृह्यते सैव। ब्रह्मणा वेदेन सार्धं संवित्ते सम्वादं कुरुते। "वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्माविप्रः प्रजापतिः" इत्यमरः। "विदि प्रच्छि स्वरतीनामुपसंख्यानम्" इति संपूर्वात् वेत्तेरात्मनेपदम् ॥ ३ ॥ (ख)

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—ये ही (दोनों कर्ण) गोतम और भरद्वाज हैं, यह दक्षिण कर्ण 'गोतम' और यह वाम कर्ण 'भरद्वाज' हैं ये ही (दोनों चक्षु) विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। यह 'दक्षिणचक्षु' विश्वामित्र और यह 'वामचक्षु' जमदग्नि है। ये ही (दोनों नासिकाएं) वसिष्ठ और कश्यप हैं। यह दक्षिण नासिकापुट' वसिष्ठ और यह 'वाम नासिकापुट' कश्यप है और वाणी ही अत्रि ऋषि है। क्यों कि वाणी से अन्न खाया जाता है। अत्ति ऐसा ही इस वाणी का प्रसिद्ध नाम है जो यह अत्रि है। जो ऐसा जानता है वह सब का भोक्ता होता है और सब वस्तु इसका अन्न होता है ॥ ४ ॥

पदार्थ जैसे अग्निष्टोमादि याग में गोतम भरद्वाज आदि गोत्रोत्पन्न और गोतम भरद्वाज आदि नाम से ही प्रसिद्ध सात ऋषि ऋत्विग् होते हैं। वैसा यहां कौन गोतम कौन भरद्वाज है इत्यादि विषय को विस्पष्ट करने के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ होता है। यहां यह भी जानना चाहिये कि अङ्गुलि के निर्देश से आचार्य शिष्यों को जिस प्रकार बतलाते हैं वा बतलाया करते थे वैसे ही यहां पर भी रख दिये गये हैं। प्रथम दोनों कानों को अङ्गुलि दिखलाकर कहते हैं कि (इमौ एव) ये ही दोनों कान (गोतमभरद्वाजौ) गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं। कौन २ गोतम और कौन २ भरद्वाज हैं ? इसका निर्णय ऋषि ने नहीं किया है। परन्तु दक्षिण अङ्ग की प्रथम उपस्थिति होती है यह प्राचीन आचार्यों का एक नियम है तदनुसार (अयम् एव) यही दक्षिण कर्ण (गोतमः) गोतम और (अयम्) यह वाम कर्ण (भरद्वाजः) भरद्वाज है। कानों को कहकर अब चक्षुओं के ऊपर हाथ रखकर उपदेश देते हैं कि (इमौ एव) यही दोनों नयन (विश्वामित्रजमदग्नी) विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषि हैं (अयम् एव) यह दक्षिण चक्षु है (विश्वामित्रः) विश्वामित्र है और (अयम् जमदग्निः) यह वाम नेत्र जमदग्नि ऋषि पुनः अब नासिकाओं पर हाथ रख कर उपदेश देते हैं कि (इमौ एव) ये दोनों नासिकाएं (वसिष्ठकश्यपौ) वसिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं (अयम् एव) यह दक्षिण नासिका (वसिष्ठः) वसिष्ठ ऋषि है और (अयम् कश्यपः) यह वाम नासिका कश्यप ऋषि है (वाग् एव+अत्रिः) वाणी ही अत्रि ऋषि है (हि) क्योंकि (वाचा) वाणी की सहायता से (अन्नम्) अन्न (अद्यते) खाया जाता है। इस वाणी का (अत्तिः) अत्ति ऐसा (ह वै) प्रसिद्ध (नाम) नाम है अत्ति नाम होने से क्या हुआ। अत्रि तो इसका नाम नहीं है। फिर वाणी को अत्रि कैसे कहा गया है। इस पर कहते हैं— (एतत्) इसी अत्ति शब्द को (यद् अत्रिः) जिस कारण (अत्रिः इति) अत्रि ऐसा कहते हैं। आगे फल कहते हैं (यः+एवम्+वेद) जो साधक इस प्रकार इस विज्ञान को जानता है वह (सर्वस्य+अत्ता) सब वस्तु का अत्ता=भक्षक अर्थात् तत्त्ववित् होता है और (सर्वम्) सब वस्तु (अस्य) इस साधक को (अन्नम्) अन्न (भवति) होता है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यथाग्निष्टोमादौ गोतमभरद्वाजादिगोत्रोद्भवा गोतमभरद्वाजादिनाम्नैव प्रसिद्धाः सप्त ऋत्विजो भवन्ति। तथात्र को गोतमः को भरद्वाज इत्यादि विस्पष्टयितुमुत्तरोग्रन्थ आरभ्यते। अत्राङ्गुल्यानिर्देशेनाऽऽचार्यः शिष्यान् यथोपदिशति। तथैव निबद्धानि पदान्यत्र सन्ति। प्रथमं कर्णौ निर्दिश्य आह—इमौ कर्णौ एव गोतमभरद्वाजौ वेदितव्यौ। कः कर्णो गोतमः कश्च भरद्वाज इति शंका समुदेति। तत्र न निर्णयं कुर्वन्नृपिर्दृश्यते। परन्तु दक्षिणस्य प्रथमोपस्थितिं मन्यन्ते आचार्या इति साधारणनियमात् अयं दक्षिणः कर्णो गोतमः। अयं वामकर्णः भरद्वाजो ज्ञातव्यः। उत्तरत्राप्येवमेव योजयितव्यम्। चक्षुषीनिर्दिशन्नाह—इमावेव विधेयप्राधान्यात् पुंस्त्वम्। इमे चक्षुषी एव विश्वामित्रजमदग्नी ऋषी वेदितव्यौ दक्षिणं चक्षुर्विश्वामित्रः। वामं जमदग्निः। नासिके

दर्शयन्नाह । इमामेव इमे नासिके एव वसिष्ठकश्यपौ । दक्षिणा नासिका वसिष्ठः । वामा नासिका कश्यपः । इति सप्तानामृषीणां योजना समाप्ता । अष्टमी वागेव शिष्यते । तथाऽऽह-वागेवाऽत्रिः । अत्र्यर्षिर्वाग् वर्तते । कथम् । अदनक्रियायोगात् । तदेवविशदयति । हि यतः । वाचा वाग्द्वारया । अन्नम् । भूतैः । अद्यते भक्ष्यते । अतो वाचोऽत्तिर्हि वैनामप्रसिद्धं जगति वर्तते । भवतु तावदत्तिरिति वाचोनामधेयम् । किन्तेन नहि अत्रिरिति तस्या नाम कथं तर्हि अत्रिरित्युक्तमत आह—एतद्यद् "अत्ति"रिति नामास्ति तदेव अत्रिरिति वेदितव्यम् । प्रत्यक्षद्विष इव देवाः परोक्षप्रिया एव भवन्ति । इति नियमात् । अत्तिरिति वक्तव्ये अत्रिरिति कथ्यते । फलमाह—य एवं वेद । स सर्वस्य पदार्थस्य अत्ता भक्षयिता भवति । पुनः सर्वमस्यान्नं भवति ॥ ४ ॥

दृप्तबालाकिरादित्यचन्द्रविद्युत्पुरुषादीन् ब्रह्म मत्वोपास्ते स्म अजातशत्रुस्तु नाऽऽदित्यपुरुषादयो ब्रह्मेति मामैतस्मिन् सम्वदिष्ठा इत्यादि निषेधवाक्यैः स्वाशयं व्यक्तीकृतवान् । तत्र नहि कांश्चिदपि हेतून् प्रमाणानि वा दर्शितवान् । सम्प्रति आदित्यपुरुषादीनामब्रह्मत्वानुपास्यत्वसाधनाय तार्तीयकं ब्राह्मणमिदमारभते । सर्वे पदार्था अन्तरतो बाह्यतश्च दर्शनीयाः । बाह्यतः पदार्थस्य शुक्लादिरूपं शरीरस्याकृतिपरिणाहह्रस्वतादीर्घताऽऽयामस्थूलतेत्यादितद्गत धर्मान् जानीमः । अन्तरतः सर्वान् गुणान् परिच्छेत्तुं न केऽपि शक्नुवन्ति । एकस्या दूर्वाया अपि गुणा नियत्तया निर्धारयितुं के समर्थाः । कथम् ? यतस्ते गुणा अमूर्ताः सन्ति । अतः सर्वे पदार्था द्वाभ्यां धर्माभ्यां मूर्तामूर्तस्वरूपाभ्यां संयुक्ताः सन्त्यत्र न संदेहः । इमावुभावपि धर्मौ मूर्तामूर्तौ प्रकृतिजौ । अतः सर्वावच्छेदेन नेदृक् पदार्थो ब्रह्म । पदार्थस्य यो हि भागोमूर्तः स प्रत्यक्षतया दृश्यते या च शक्तिरमूर्ता सापि मूर्तभागस्यैव गुणीभूता अतो नैतयोर्ब्रह्मत्वम् ॥

दृप्तबालाकि "आदित्यपुरुष, चन्द्रपुरुष, विद्युत्पुरुष प्रभृतियों को ब्रह्म मान उपासना किया करते थे । परन्तु अजातशत्रु "आदित्य पुरुषादि ब्रह्म नहीं हैं" इस विषय को "इस में ब्रह्मसंवाद न करें" इत्यादि निषेध वाक्यों से अपना आशय प्रकट करते गये । परन्तु वहां किन्हीं हेतुओं को वा प्रमाणों को नहीं दिखलाये थे । सम्प्रति आदित्य पुरुषादिकों के अब्रह्मत्व और अनुपास्यत्व के साधन के लिये इस तृतीय ब्राह्मण का आरम्भ करते हैं । सब पदार्थ बाहर और अन्तर से देखने योग्य हैं, बाहर से पदार्थों का शुक्लादि रूप, आकृति, परिणाह, ह्रस्वता, दीर्घता, आयाम, आयतन, स्थूलता इत्यादि तद्गत धर्मों को जानते हैं । परन्तु अन्तर से पदार्थ के सब गुणों का ठीक २ पता कोई नहीं लगा सकता है । जिस हेतु वे गुण अमूर्त हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि सब मूर्तामूर्तस्वरूप दो धर्मों से युक्त हैं इसमें सन्देह नहीं । ये दोनों ही धर्म मूर्त वा अमूर्त प्रकृतिज हैं । इस हेतु सर्वावच्छेद से कोई भी यह पदार्थ ब्रह्म नहीं । क्योंकि पदार्थ का जो भाग मूर्त है । वह प्रत्यक्षतया दीखता है । जो पदार्थशक्ति अमूर्त है वह भी मूर्त भाग का ही गुण है । इस हेतु इन दोनों का ब्रह्मत्व नहीं है । ये ही दो रूप सम्पूर्ण जगत् के हैं । इस हेतु यह जगत् ब्रह्म नहीं । इसी को अति संक्षेप से आगे ऋषि कहते हैं ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

द्वे वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च ॥ १ ॥

अनुवाद—निश्चय, ब्रह्म अर्थात् जगत् और शरीर के दो ही रूप हैं मूर्त और अमूर्त । मर्त्य और अमृत । स्थित और यत् । सत् (व्यक्त) और त्यत् (अव्यक्त) ॥ १ ॥

पदार्थ—(ब्रह्मणः) इस जगत् और शरीर के (द्वे) दो (वाव) ही (रूपे) रूप हैं । वे दो रूप कौन हैं सो आगे कहते हैं—(मूर्तम्+च+एव) कोई रूप तो मूर्त ही है (च) और कोई (अमूर्तम्) अमूर्त है । मूर्त्तिमान्, व्यक्त, स्थूल, दृश्यमान, प्रत्यक्ष, कठिन आदिक को मूर्त और इसके विपरीत को अमूर्त कहते हैं अर्थात् कोई वस्तु मूर्त्तिधारी है कोई वस्तु मूर्त्तिधारी नहीं है । अब आगे "मूर्त" और "अमूर्त" इन दोनों के विशेषण कहते हैं (मर्त्यम्+च) वे दोनों कैसे हैं ? मर्त्य=मरने योग्य=विनश्वर (च) पुनः कैसे हैं (अमृतम्) नहीं मरने वाले (च) पुनः कैसे हैं (स्थितम्) स्थित रहनेवाले=स्थिर (च) पुनः कैसे हैं (यत्) चलने वाले (च) पुनः कैसे हैं (सत्) व्यक्त (च) पुनः कैसे हैं (त्यत्) अव्यक्त । अथवा यहां मूर्त अमूर्त के विशेषण न रखकर यों भी वर्णन कर सकते हैं कि जगत् और शरीर के दो रूप हैं—मूर्त, अमूर्त अथवा मर्त्य, अमृत । अथवा स्थितिमत्, गतिमत् अथवा व्यक्त, अव्यक्त ॥ १ ॥

भाष्यम्—अत्र ब्रह्मशब्दः समष्टिरूपेण जगतो वाचकः । व्यष्टिरूपेण शरीरस्य वाचकः । नात्र परमात्मनः प्रकरणमिदमेवार्थं द्योतयति । ब्रह्मणो दृश्यमानस्यास्य जगतः शरीरस्य च इदं जगच्छरीरञ्च बृहत्त्वाद्ब्रह्मोच्यते । द्वे द्विसंख्याके । वावशब्दोऽवधारणार्थः । द्वे एव । न त्रीणि न चत्वारि इत्येवम् । रूपे वर्तेते रूप्यते निरूप्यतेऽवधार्यतेऽनेन तद्रूपम् । कस्यापि वस्तुनो निरूपणं रूपेणैव भवितुमर्हति । अस्य जगतः शरीरस्य च निरूपणाय द्वे एव रूपे स्तः । के पुनस्ते रूपे । मूर्तञ्चैव मूर्तमेव चैकम् । अमूर्तञ्च अमूर्तमेव च द्वितीयम् । मूर्तं मूर्तिमद्व्यक्तं स्थूलं दृश्यमानं प्रत्यक्षमित्यर्थः । अमूर्तं मूर्त्तिरहितमव्यक्तं सुसूक्ष्मं इन्द्रियागोचरं केवलं प्रमाणगम्यमित्यर्थः । इदानीं मूर्तामूर्तयोरविभागेन विशेषणानि प्रदर्शयति । कथंभूतं मूर्तममूर्तञ्च मर्त्यञ्च मरणधर्म्मि च । च पुनः कीदृशम् । अमृतञ्च अमरणधर्मि नित्यमित्यर्थः । च पुनः स्थितं स्थितिमत्स्थाणु । यदेकरूपेणैव तिष्ठति न कदापि परिवर्तते तत्स्थितम् । च पुनः । यत् स्थितविपरीतम् गतिमत् । एति गच्छतीति यत् । इतेः शतृ प्रत्ययान्तरूपम् । इणो यण् ६ । ४ । ८१ ॥ अजादौ प्रत्यये परे इति यण्" । च पुनः । सत् अस्तीति सत् । "अस्तेः शतृप्रत्ययः । सदिति व्यक्तेऽर्थे । इन्द्रियगोचरम् । च पुनः । त्यत् तत् । त्यत् तच्छब्दौ एकार्थकौ आर्षग्रन्थेभ्योऽन्यत्रेदानीं त्यदिति न व्यवह्रियते" त्यदिति परोक्षार्थमाह । अव्यक्तमित्यर्थः ॥

अत्रेदमवधार्य्यम् । मूर्छामोहसमुच्छ्राययोः । इत्यस्मात् क्तप्रत्ययः । ततः न ध्या, ख्या, पॄ, मूर्छि, मदाम् ८ । २ । ५७ ॥ इति निष्ठा तस्य नत्वाभावः । ततो मूर्त शब्दसिद्धिः "कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम् । जठरं मूर्तिमन्मूर्तमित्यमरः । तेन कठिनार्थे

मूर्तशब्दः । केचित्पदार्थाः कठिनाः सन्ति । यथा पृथिव्यादयः । केचिदकठिनाः । यथा वाय्वादयः । कठिनाः पदार्था दृष्टिमारोढुमर्हन्ति । नाऽकठिनाः । अर्थादस्मिन्विश्वे सामान्यतया द्विविधं वस्तु दृश्यते । स्थूलां पृथिवीं नयनमनुभवति तदीयान् गुणांश्च ग्रहीतुं न सम्यक् शक्नोति । एवमेव सर्वेषां पदार्थानां दशास्ति । सर्वः पदार्थो मूर्तामूर्तधर्मद्वयविशिष्ट इति फलितम् । पुनः सर्वं वस्तु मर्त्यञ्चामृतञ्च । कार्यरूपा पृथिवी मर्त्यास्ति । सैव परमाणुरूपा अमृतास्ति । नहि पृथिव्याः परमाणवः कदापि म्रियन्ते । तेन सर्वः पदार्थो मर्त्यामृतधर्मद्वयावगाहीति फलितम् । पुनः सर्वः पदार्थः स्थितो यातश्च । कथम् ? प्रलयावस्थायां स्थितः । सृष्ट्यवस्थायां यातः । स्थितिमान् गतिमांश्चास्तीति लभ्यते । एवं सर्वः पदार्थः सन् व्यक्तः स्यः अव्यक्तः कार्य्यावस्थायां व्यक्तः । कारणावस्थायामव्यक्तः, इत्थं व्यक्ताव्यक्तरूपवान् पदार्थोऽस्तीति सिध्यति । ननु "अमूर्तं वायुश्चान्तरिक्षश्चैतदमृतम्" इत्यनेन अमूर्ते वायौ चान्तरिक्षे अमृतत्वमेक एव धर्म्म आरोप्यते न मर्त्यत्वमिति । तर्हि सर्वः पदार्थो धर्म्मद्वयविशिष्ट इति कथमुच्यते ? व्यावहारिकीयमुक्तिर्न पारमार्थिकी । वायुरपि द्विविधोऽस्ति । नित्यश्चानित्यश्च । कार्यरूपोऽनित्यः परमाणुरूपो नित्यः । एवमाकाशोऽपि द्विविधो भवितुमर्हति । पृथिव्यादीनामिव आकाशस्यापि उत्पत्तिः श्रूयते । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः" इति तैत्तिरीया श्रुतिः "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः" इति साक्षाद्वेद एवान्तरिक्षोत्पत्तिमामनति । उत्पत्तिशब्दो व्यक्तार्थद्योतकः । एतेन विज्ञायते । पूर्वमन्तरिक्षमव्यक्तमासीत् । पश्चाद्व्यक्तमभूत् । व्यक्तं वस्तु भवत्येव मर्त्यम् । अतोऽन्तरिक्षमपि मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितमित्यर्थः । इत्थं सर्वत्र बोद्धव्यम् । आकाशे वयं स्वल्पं जानीमः । अतो न तत्त्वतः सर्वमध्यवसितुं शक्नुमः । श्रुत्यनुसारिव्याख्यातम् । ननु "जीवात्मा परमात्मा चापि पदार्थोऽस्ति सोऽपि धर्मद्वयग्रस्तः सन् महतीमापत्तिं नेष्यति भवतां नये" । अत्र जगतो वर्णनास्ति तौ तु न प्रमाणैर्नान्यै रुपायैर्वा निरूप्येयाताम् तयोर्विषये नेति नेति इत्यादेशो भवतीति स्वयमेव वक्ष्यति । अतः प्रकृतेर्विचारः प्रारब्धः सा च द्विधा इत्येवस्थितम् ॥ १ ॥

भाष्याशय—ब्रह्म=यहां ब्रह्मशब्द समष्टिरूप से सम्पूर्ण जगत् का और व्यष्टिरूप से शरीर का वाचक है । परमात्मा वाचक नहीं । मूर्त, अमूर्त, मर्त्य, अमृत, स्थित, यत्, सत् और त्यत् ये आठ विशेषणवाचक शब्द हैं । प्रत्येक पदार्थ इन आठों विशेषणों से युक्त है । इनमें प्रथम सब पदार्थ के दो रूप मानने चाहियें । इनहीं दोनों के अन्य ६ विशेषण जानने चाहियें । उदाहरण के लिये एक पृथिवी को लेलो । प्रथम पृथिवी के सब अंश मूर्त हैं इसमें सन्देह नहीं । परन्तु पृथिवी के गुण सब नहीं दीखते इस हेतु बहुत गुण अमूर्त हैं । अब जो भाग मूर्त है और जो भाग मूर्त नहीं है वे दोनों पुनः मर्त्य और अमृत हैं क्योंकि स्थूलरूपा पृथिवी जो मूर्त है वह मर्त्य मरणवाला है । और स्थूलरूपा पृथिवी के जो अमूर्त गुण हैं वे भी मर्त्य मरने वाले हैं । इसी प्रकार परमाणुरूपा अमूर्ता पृथिवी अमृत सदा रहने वाली है और अमूर्ता परमाणुरूपा पृथिवी के अमूर्त गुण भी अमृत ही हैं इसी प्रकार प्रलयकाल में सब पदार्थ ही स्थित और सृष्टि अवस्था में "यत्" गतिमत् । पुनः सृष्टि अवस्था में "सत्" व्यक्त और प्रलय में "त्यत्" अव्यक्त । इस प्रकार समन्वय करना । इस प्रकार पदार्थमात्र

मूर्त्तामूर्त्त दो धर्मों से और स्थितत्वादि गुणों से युक्त है । अब यहां शङ्का होती है कि मूल में कहा गया है कि वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं । इससे सिद्ध हुआ कि वे मूर्त्त नहीं फिर सब ही पदार्थ मूर्त्तामूर्त्त हैं सो कैसे हो सकता ?

समाधान—जगत् में कोई पदार्थ मूर्त्त कोई अमूर्त्त प्रतीत होता है । यह लौकिक दृष्टि से कहा जाता है । परन्तु व्यावहारिक पदार्थमात्र को परमार्थ दृष्टि से मूर्त्तामूर्त्त कह सकते हैं । जब त्वगिन्द्रिय द्वारा वायु की और शब्द द्वारा आकाश की प्रत्यक्षता मानी हुई है तब इन्हें अमूर्त्त कैसे कह सकते । यदि मूर्त्त शब्द का केवल काठिन्य ही अर्थ लिया जाय तो तब आकाश और वायु को मूर्त्त नहीं कह सकते यदि मूर्त्त शब्द का अर्थ व्यक्त प्रत्यक्षविषयीभूत आदि किया जाय तो सब ही मूर्त्तामूर्त्त हैं इस हेतु लौकिक और पारमार्थिक दृष्टि से यथास्थान में व्याख्यान हो सकता है । क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि वायु भी दो प्रकार के हैं—एक नित्य और दूसरा अनित्य, कार्य्यरूप वायु अनित्य और परमाणुरूप वायु नित्य इसी प्रकार आकाश भी हो सकता क्योंकि उपनिषदों और वेदों में आकाश की भी उत्पत्ति कही जाती है उस इस आत्मा से आकाश व्यक्त हुआ और आकाश के अनन्तर वायु प्रकट हुआ । एवं "सूर्याचन्द्रमसौ" इत्यादि वर्णन में "अन्तरिक्ष" पद भी साक्षात् है । इस हेतु जब साक्षात् वेद ही आकाश की उत्पत्ति का उपदेश देता है तब हम लोग क्या कर सकते हैं, व्यक्त होना ही उत्पत्ति है और व्यक्तिगत पदार्थ अवश्य मूर्त्त हैं यह सिद्ध होगा । हम लोग आकाश के विषय में बहुत कुछ कम जानते हैं । इस हेतु श्रुति के अनुसार ही व्याख्यान करना उचित है । पुनः शङ्का होती है कि इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा भी तो पदार्थ हैं वे भी यदि दोनों धर्म से युक्त हों तो बड़ी अनिष्ट होगी ।

समाधान—यहां जीवात्मा और परमात्मा का प्रकरण नहीं । किन्हीं प्रमाणों से वा किन्हीं उपायों से उनका निरूपण होना अति कठिन है, इनके विषय में नेति २ कह कर वर्णन किया जाता है यहां प्रकृति का विचार आरम्भ हुआ है वह अवश्य ही मूर्त्त और अमूर्त्त है ।

यहां मानो पृथिवी एक पदार्थ है इस पृथिवी में गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव आदि जो धर्म्म हैं वे पृथक् मान करके व्याख्यात नहीं हुए हैं । क्योंकि ये सब मिल करके ही तो पृथिवी, पृथिवी है । इस हेतु निज गुण कर्मादिकसहित पृथिवी एक पदार्थ, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ॥ १ ॥

तदेतन्मूर्त्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्त्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥ २ ॥

अनुवाद—वायु और अन्तरिक्ष को छोड़ अन्य जो यह है वह मूर्त्त है, यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है । इस मूर्त्त का, इस मर्त्य का, इस स्थित का और इस सत् का यह रस है जो यह तपता है, क्योंकि यह सत् का रस है ॥ २ ॥

पदार्थ—इस परितोदृश्यमान जगत् और देह के मूर्त्त अमूर्त्त दो रूप कहकर, कितनी वस्तु मूर्त्त और कितनी वस्तु अमूर्त्त है इसको विभागपूर्वक आगे दिखलाते हैं—प्रथम मूर्त्त पदार्थ को कहते हैं क्योंकि इसकी प्रथम उपस्थिति है (वायोः+च) वायु से और (अन्तरिक्षात्+च) आकाश से (यद्+अन्यत्) जो अन्य पृथिवी जल और तेज ये तीन पदार्थ बाकी रहे क्योंकि पृथिवी जल तेज

वायु और आकाश ये पांच महाभूत माने गये हैं। इनमें वायु और आकाश को तो छोड़ ही दिया तब अवशिष्ट पृथिवी आदिक तीन ही रह गये, इस हेतु "अन्यत्" पद से पृथिव्यादि तीन भूतों का ग्रहण है (तद्+एतत् मूर्त्तम्) वे ये तीनों मूर्त्त हैं व्यवहारदृष्टि से यह कहा गया है (एतत्+मर्त्यम्) ये तीनों मर्त्य=मरण धर्मवाले हैं (एतत्+स्थितम्) ये तीनों स्थितिवाले हैं (एतत्+सत्) ये तीनों अति स्थूलतया सुव्यक्त हैं। आगे इन पदार्थों की सार वस्तु को कहते हैं—(तस्य+एतस्य) उस इस (मूर्त्तम्) मूर्त्त का (एतस्य+मर्त्तस्य) इस मरण धर्मवाले का (एतस्य+स्थितस्य) इस स्थितिशील वाले पदार्थ का और (एतस्य+सतः) इस सुव्यक्त पदार्थ का (एषः+रसः) यह रस है। वह कौन रस है सो कहते हैं (यः) जो (एषः) यह सूर्य (तपति) तीनों लोकों को तपाता है। तीनों लोकों को तपानेवाला सूर्य ही है। पुनः उक्त विषय को दृढ़ करते हैं (हि) क्योंकि (सतः) सत, स्थित, मर्त्य और मूर्त्त भूतत्रय का (रसः) रस (एषः) यह सूर्य है ॥ २ ॥

भाष्यम्—तदेतदिति। अस्य परितोदृश्यमानस्य जगतो देहस्य च मूर्त्तामूर्त्ते द्वे रूपे उपदिश्य कियद्वस्तु मूर्त्तं कियच्चामूर्त्तमिति प्रविभज्य निरूपयति। प्रथमोपस्थितं मूर्त्तमाह—वायोर्मरुतः। अन्तरिक्षादाकाशाच्च यदन्यद् भूतपञ्चके परिशिष्टं पृथिव्यादित्रयं वस्तु वर्तते। तदेतन्मूर्त्तम् मूर्छितं स्थूलमित्यर्थः। पुनरपि एतद्भूतत्रयं मर्त्यं मर्तुं योग्यं विनश्वरम्। व्यवहारदृष्ट्या अव्यक्तत्वगादि। पुनरपि एतत् स्थितं स्थाणु। न वायुवत् कम्पनशीलम्। पुनः—एतत् सत्—एतत् पृथिवीजलतेजस्त्रयमतिस्थूलतया सत् सुव्यक्तं दृश्यमानं चक्षुषानुभूयमानञ्च। वायुरपि सुव्यक्तोऽस्ति त्वगिन्द्रियेण चानुभूयते। तथापि नेत्राविषयत्वादव्यक्त इवाभिधीयते। एवमाकाशञ्च। अग्रे भूतत्रयस्य सारमाह—तस्यैतस्य मूर्त्तस्य, एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सतः, एतच्चतुर्विशेषणयुक्तस्य पृथिव्यत्तेजस्त्रयस्य। एष मयम्। रसः। कोऽसौ? य एष सूर्यस्तपति। हि यतः। एष सतो रसः—सतो भूतत्रयस्य रसः—एतेन न सूर्यो ब्रह्म नचोपासनीयश्चेति व्याख्यातम्। एवमेव चन्द्रे, वायौ, विद्युति, मेघे एवंविधे सर्वस्मिन् देवे विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

भाष्याशय—हे बालाके! आप विचार कर देखो यह सूर्य इन ही मूर्त्त पदार्थों का एक सार भाग है। वे मूर्त्त वस्तु मरण वाले हैं, परन्तु ब्रह्म मरनेवाला नहीं, इस हेतु यह सूर्य न ब्रह्म है और न यह उपास्य ही है। इसी प्रकार हे बालाके! चन्द्र, अग्नि, मेघ, जल आदि सब देवों के विषय में जानो, वे सब ही मूर्त्त पदार्थों का सारमात्र हैं अतः उपास्य नहीं ॥ २ ॥

अथामूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्त्यस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—अब अमूर्त्त कहते हैं। वायु और अन्तरिक्ष (अमूर्त्त हैं) ये अमृत हैं। ये यत्=गमनशील हैं। ये त्यत् (अव्यक्त+परोक्ष) हैं उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस गमनशील का और इस अव्यक्त का यह रस है। जो यह इस मण्डल में पुरुष है। क्योंकि यह अव्यक्त का रस है। यहां अधिदैवत समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

पदार्थ—अब असूर्त्त वस्तु का विभाग करते हैं (अथ+अमूर्त्तम्) अब आगे अमूर्त्त कौन महाभूत है सो कहते हैं—(वायुः+अन्तरिक्षम्+च) जो वहनशील हो उसे वायु कहते हैं। और जो सब पदार्थों के मध्य में दीखे उसे अन्तरिक्ष कहते हैं ये दोनों वायु और अन्तरिक्ष असूर्त्त हैं। चकार शब्द से यह भी अर्थ ग्रहण करना कि वायु और अन्तरिक्ष के समान अन्य जितने पदार्थ हैं वे भी मानो असूर्त्त हैं। आगे इनके विशेषण कहते हैं—(एतत्+अमृतम्) ये दोनों वायु और अन्तरिक्ष अमृत=अमरण धर्मवाले हैं। पुनः (एतद्+यत्) ये दोनों गमनशील हैं। पुनः (एतत्+त्यत्) अव्यक्त परोक्ष हैं। आगे इन दोनों भूतों के रस को कहते हैं—(तस्य+एतस्य+अमूर्त्तस्य) उस इस अमूर्त्त का (एतस्य+अमृतस्य) इस अमृत का (एतस्य+यतः) इस गमनशील का और (एतस्य+त्यस्य) इस अव्यक्त का (एषः+रसः) यह रस है। वह कौन रस है सो आगे कहते हैं—(अस्मिन्+मण्डले) इस सूर्यमण्डल में (यः+एषः) जो यह (पुरुषः) शक्तिविशेष है वह उन दोनों भूतों का रस सार पदार्थ है (हि) क्योंकि (एषः) यह पुरुष (त्यस्य) अव्यक्त का (रसः) रस है (इति+अधिदैवतम्) यहां अधिदैवत विज्ञान समाप्त हुआ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हे बालाके! यह आदित्य पुरुषादिक भी इन्हीं पांचों भूतों का रस हैं। इस हेतु ये आदित्य पुरुष आदिक भी ब्रह्म नहीं हैं। इसको विस्पष्ट करके अजातशत्रु ने बालाकि को समझाया। एवं ब्रह्मबुद्धि से जो आप इसकी उपासना करते हैं वह भी आप का भ्रम है और भ्रमात्मक होने से त्याज्य है, यह भी शिक्षा दी जाती है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथामूर्त्तं वस्तु विभाजयति। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। वायुर्वातीति समीरणो मरुत्। चकाराद्वायु सदृशोऽन्योऽपि पदार्थः। च पुनः। अन्तरिक्षमन्तर्मध्ये सर्ववस्तूनामीक्ष्यते दृश्यते यत्तदन्तरिक्षम्। एतद् भूतद्वयम् अमूर्त्तम् अमूर्छितमवयवमिव। असंहतमिव। अघनीभूतमिवास्ति। पुनरपि एतद्वाय्वन्तरिक्षद्वयम् अमृतम्। व्यवहारदृष्ट्या अमरणधर्मि। पुनः। एतद् द्वयम् यत् एतियातीति यत् गमनशीलम्। यद्यपि वायुरेव गन्ता न चान्तरिक्षं गन्तृ क्वचिदभिहितम् तथापि यः कश्चिच्छब्दगुण आकाशो वर्ण्यते सोऽवश्यमेव गमनशीलो भवितुमर्हति गुणाधारत्वात् पदार्थत्वाद्वा। सर्व एव पदार्थो गन्तेति वेदितव्यम् पृथिव्यादयोपि गन्तारः तथापि वायोरिव तद्गमनंनास्ति स्थितास्ते उच्यन्त इति विवेकः पुनः एतद् द्वयम् त्यत् त्यदितिपरोक्षाभिधायकम् यद्यपि वायुस्त्वचा प्रत्यक्षोऽस्ति तस्य गतिरपि गोचरा प्रतिक्षणं वायुमनुभवति प्राणी तथापि न चक्षुषा तस्य मूर्तिर्दृश्यानेतरैरिन्द्रियैर्ग्राह्या। अतः त्यदिति पदेनाभिधीयते। एवमन्तरिक्षमपि। अग्रे एतद्भूतद्वयस्य सारमाह—एतस्य तस्यामूर्त्तस्य, एतस्यामृतस्य, एतस्य यतः, एतस्य त्यस्य एष प्रत्यक्षो दृष्टिचरः। "अङ्गुल्यानिर्देशेन सूर्यपुरुषं शिष्येभ्योदर्शयन्नाह याज्ञवल्क्य एष इति"। रसः सारः। कोऽसौ रसः? एतस्मिन् दृष्टिचरे। मण्डले सूर्यमण्डले। य एष पुरुषोऽस्ति स भूतद्वयस्य रसः। हि यतः तस्य एष रसोऽस्ति। पुरुषशब्देन शक्तिरभिधीयते। पुरि सूर्यरूपे ग्रामे यः शेते स पुरुषः। आदित्ये या शक्तिः स वायोरन्तरिक्षस्य च सारोऽस्ति। अन्ते तस्यैकविशेषणमितरान्यपि विशेषणानि संबध्नाति। एतेनादित्यपुरुषादयो न ब्रह्मेति सम्यक् प्रदर्शितम्। अतो हे बालाके! ब्रह्मबुद्ध्या यत्त्वमादित्यपुरुषादीनुपास्से। स तव भ्रम एव। भ्रमत्वात्त्याज्यम्। इत्यधिदैवतम्।

जगद्द्विविधम् । अधिदैवतमध्यात्मञ्च । यस्मिन् पृथिवीसूर्यचन्द्रनक्षत्रादि जडदेवता जीवात्मशून्याः सन्ति तदधिदैवतम् । यस्मिन् मनुष्यपशुपक्षिप्रभृति चेतनाः सजीवात्मानः सन्ति तदध्यात्मम् । तद्दैवतविषयकं यद्दर्शनं विज्ञानमभूत् तदधिदैवतं समाप्तम् । अग्रे अध्यात्मोपासनमुपदेक्ष्यति ॥ ३ ॥

भाष्याशय—अमूर्त्त=अमूर्त्ति । आजकल जिसमें मुख, हस्त, पाद, उदर आदिक शरीर के अवयव विस्फुट देख पड़ें उसे मूर्त्ति कहते हैं । (मूर्त्त और मूर्त्ति में यह भेद है कि मूर्त्त शब्द विशेषण है और मूर्त्ति शब्द संज्ञावाचक है) परन्तु "मूर्छा" धातु से जिसका अर्थ मोह और समुच्छ्राय है मूर्त्त और मूर्त्ति शब्द बनता है । कोश के अनुसार कठिन, कठोर, घन आदिक अर्थ होते हैं । वायु अन्तरिक्ष कठिन (ठोस) पदार्थ नहीं हैं और न इनके मुख हस्त पाद आदि अवयव ही मनुष्य के समान दीखते हैं । अतः ये दोनों अमूर्त्त=अमूर्त्ति कहाते हैं ।

यहां शङ्का होती है कि पृथिवी, जल और तेज (अग्नि) के भी तो अवयव नहीं दीखते हैं । और जल और अग्नि ये दोनों पदार्थ कठिन वा कठोर (ठोस) भी नहीं हैं । फिर ये तीनों क्योंकर मूर्त्त कहलाते हैं । यदि कहो कि पृथिवी प्रभृति का एक प्रकार का आकार तो अवश्य दीख पड़ता है, परन्तु वायु तथा अन्तरिक्ष का कोई भी आकार नहीं देखते । यह कहना ठीक नहीं । क्या जिसका केवल नयनेन्द्रिय से ग्रहण होता है उसी को आप मूर्त्तिमान् वस्तु कहेंगे, परन्तु यदि ऐसा ही अर्थ लेंगे तो मूर्त्ति शब्द का अर्थ "कठिन" नहीं करने पावेंगे । परन्तु मूर्त्ति शब्द का कोश द्वारा कठिनता, कठोरता (ठोस) अर्थ होता है । यदि मान भी लेवें कि नयनेन्द्रिय गोचरमात्र को मूर्त्त कहेंगे तो ऐसे अर्थ करने से आप का अभीष्ट ही क्या सिद्ध होगा । क्योंकि किसी इन्द्रिय से पृथिवी का ग्रहण होता है और किसी इन्द्रिय से वायु का ग्रहण होता है । सब इन्द्रियों से सब के ग्रहण होने का कोई नियम भी नहीं । अतः दोनों पृथिवी और वायु इन्द्रियग्राह्य होने से तुल्य ही हैं । फिर इन दोनों में विशेषता क्या रही । वायु चलता है, त्वगिन्द्रिय से इसका अच्छे प्रकार बोध होता है । अतः यह भी तेज के समान मूर्त्त वस्तु है, इस में सन्देह नहीं । इसका समाधान इतना ही है कि व्यवहारदृष्टि से यहां ऋषि वर्णन करते हैं—पृथिवी जल और अग्नि की मूर्त्ति आंखों दीखती है, परन्तु वायु और अन्तरिक्ष की सावयव मूर्त्ति कोई नहीं देखती, अतः वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त कहलाते हैं, वायु=(वा गतिगन्धनयोः) धा धातु गति और गन्धन अर्थ में आता है । जो सदा बहता रहे उसे वायु कहते हैं । यद्यपि जल और अग्नि भी बहते हुए दीखते हैं परन्तु वायु में वहनशक्ति की अधिकता के कारण वायु ही वहनशील कहलाता है अन्य नहीं । इसमें सन्देह नहीं कि तत्त्वदृष्टि से यदि देखें तो जल और वायु में बहुत समानता पावेंगे । सूर्य के कारण से ही दोनों गतिमान् हैं । प्रखर किरण से वायु अतिसूक्ष्म हो अति प्रवहणशील होता है । तद्वत् जल भी सूर्य के किरणों से प्रसरणशील रहता है । यदि सूर्य की उष्णता जल में न प्रविष्ट हो तो जल भी पर्वत के समान एक घनीभूत ठोस पदार्थ बन जायगा । फिर यह जल है ऐसा भी विवेक रहना कठिन हो जायगा और आग्नेय शक्ति तो वायु के आधार पर ही स्थित है । जहां वायु न होगा वहां अग्नि कदापि प्रज्वलित नहीं होगा, परन्तु आग्नेय शक्ति में यह एक बड़ी विलक्षणता है कि बहुव्यापक है । सब पदार्थ के मध्य में गूढ़रूप से रहता है । जब हम उस अग्नि से कोई काम लेना चाहते हैं तो जिसमें अग्नि गूढ़रूप से छिपा है उसको भस्म करके अग्नि को पाते हैं, इस अंश में भी अग्नि वायुवत् सर्वगत और अमूर्त्त है ऐसा कह सकते हैं, अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अग्नि भी अमूर्त्त वस्तु है, क्योंकि अग्नि काष्ठ में हैं परन्तु दीखता नहीं । और जो जलते

समय ज्वाला दीखती है वह पदार्थ अग्नि नहीं क्योंकि काष्ठों के बहुतसे परमाणुओं का समूह वह ज्वाला है। काष्ठ से पृथक् होकर बहुतसे परमाणु समूह निकलते जाते हैं उसी को साधारण जन अग्निज्वाला कहते हैं यदि कहो कि तब वह इतना उष्ण क्यों है। उन परमाणुओं के अभ्यन्तर अग्नि बहुत ही जाग्रत और चञ्चल है, अतः वह उष्ण है। जैसे जब वायु बहुत प्रचण्ड रहता है तब वृक्षादि पदार्थ बहुत ही कम्पायमान दीखते हैं। तद्वत् एक बात यह भी देखो। अग्नि को पार्थिव परमाणु से पृथक् करके नहीं दिखला सकते हो। और जब अग्निज्वाला ऊपर को जाकर धूम के आकार में परिणत हो विलीनसी हो जाती है तब ऊपर से सूक्ष्म परमाणु गिरते हैं श्वेतवस्तु पर गिरने से वे शीघ्र काले हो जाते हैं इससे विस्पष्टतया सिद्ध होता है कि जिसको अग्निज्वाला कहते हैं वे यथार्थ में प्रज्वलित परमाणुसमूह हैं, अग्नि उसके अन्तर्गत है और वही परमाणुसमूह अति सूक्ष्म और अति लघु होने के कारण वायु की सहायता से ऊपर को उठता है और वायु के ही दबाव से एक आकारधारी बनजाता है। अतः सिद्ध है कि अग्नि भी अमूर्त्त वस्तु है। बहुतों का यह सिद्धान्त है कि अग्नि को कैसे मूर्त्त कहा। इसका भी उत्तर वही है जो मैंने पूर्व में कहा है। अर्थात् व्यवहार में अग्नि प्रत्यक्ष आकार वाला प्रतीत होता है। वायु वैसा नहीं है। इति दिक्॥

अमृत=यहां वायु और आकाश को अमृत कहा है। और पूर्व में पृथिवी जल और अग्नि का मर्त्य अर्थात् अमृत से विपरीत कहा है। सो कैसे? सृष्टि की आदि से पृथिवी आदिक पांचों महाभूत तुल्यरूप से चले आते हैं। और "अर्णः क्षोदः अमृतम्। इन्दुः। हेम। स्वः। सर्गः··· इत्येकशतमुदकनामानि। निघण्टु १। १२॥"

इस निघण्टु के तथा "पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्" इस अमरकोश के प्रमाण से जल का नाम ही अमृत है। और व्यवहारदृष्टि से भी देखते हैं तो जल यथार्थ में अमृत ही है। क्योंकि आप किसी पात्र में जल को रख कर चूल्हे के ऊपर चढ़ाओ और उसके नीचे बराबर अग्नि की आंच देते चले जाओ जबतक वह पानी बिलकुल जल न जाय। तब मन में प्रश्न करो कि वह जल कहां गया?

उत्तर—तुम देखते हो कि जल के जलने के समय बराबर वाष्प ऊपर को उठता गया है। तुम यह भी देखते हो कि ढकने की पेंदी में जल-बिन्दु बैठे हुए हैं इससे यह सिद्ध होता है कि जल वाष्परूप हो करके महा आकाश में जाकर कहीं जम जाता है वा अन्य आकार होकर फिर पृथिवी पर गिरता है उस जल में से एक अणु भी क्षय नहीं होता है। अतः प्राचीन ग्रन्थों में जल का नाम "अमृत" अमरणधर्मी [illegible] जाता है। पुनः निघण्टु में ऋत, सत्य, सत्, अक्षर, अक्षित आदिक नाम आये हुए हैं। जो नाम सिद्ध करते हैं कि जल अमृत है "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम्" यह ऋग्वेद का प्रमाण है। तब उपनिषद् ने जल को कैसे अमृत नहीं कहा और वायु को कैसे अमृत कहा।

उत्तर—व्यवहार में देखते हैं कि जो सरोवर वर्षाऋतु में पानी से भरा हुआ था। उतना ही ग्रीष्म में भी विद्यमान है। वायु से खाली वह सरोवर कभी नहीं हो सकता, अतः वायु तो अमृत है और जल नहीं। परन्तु परमार्थदृष्टि से जल भी अमृत ही है। इति दिक्॥

पुरुष=प्रथम हम कह चुके हैं कि गुण वा शक्ति अमूर्त्त वस्तु है। यहां वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त पदार्थ कहा गया है और इसी अमूर्त्त पदार्थ का सार वह सूर्य मण्डलस्थ पुरुष है इससे सिद्ध हुआ कि वह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष भी अमूर्त्त वस्तु है। जो नयनगोचर नहीं हो सकता। इसी कारण पुरुष शब्द का यहां अर्थ शक्ति है, शक्ति वा गुण अमूर्त्त वस्तु है इसमें संदेह नहीं॥

द्वितीय तृतीय कण्डिका से यह भी सिद्ध होता है कि सूर्य पांचों भूतों का समूह है अर्थात् इन पांचों भूतों के योग से पृथिवी आदि जैसे बने हुए हैं तद्वत् सूर्य भी। यहां सूर्य क्योंकर सब भूतों का रस (सार) कहा गया और क्योंकर मूर्त्त और अमूर्त्त पदार्थों का वर्णन किया गया। इसका मुख्य तात्पर्य यह है—"अनूचान दृप्तबालाकि ने इन्हीं पंचभूतों से रचित पदार्थों में जो पुरुष है उसी को "ब्रह्म" मान उपासता हूं ऐसा कहा है।" यहां पर राजा ने यह दिखलाया कि एक साकार सूर्य वस्तु है और दूसरा इसमें एक निराकार गुण वा शक्ति है जिसको पुरुष कहते हैं। वह अमूर्त्त निराकार पुरुष भी इन्हीं भूतों का रस है इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य और सूर्य का पुरुष (शक्ति) दोनों ही पंच महाभूतों के ही समूह हैं, ब्रह्म नहीं। जब पांच भूतों का सार पुरुष सहित सूर्य ही एक जड़ पदार्थ ठहरा तब पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, जल, मेघ, विद्युत्, चन्द्र, नक्षत्र, महाग्रह ये सब पदार्थ अपने २ पुरुष के साथ तो निःसन्देह जड़ हैं। और इन्हीं पांचों महाभूतों के समूह वा संयोग हैं यह सिद्ध हुआ। अतः पूर्वकथित आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि आदिक अपने २ पुरुष (शक्ति) सहित पंच महाभूतों के संयोग सिद्ध हुए हैं। और इसी हेतु यह सब ब्रह्म नहीं है, यह अर्थापत्त्या सिद्ध हुआ। यहां पर सूर्य की प्रधानता है। अतः सूर्य की ही रचना दिखलाई गई। अन्य वायु आदिक की नहीं। परन्तु यहां सूर्य की रचना का वर्णन उपलक्षणमात्र है वायु आदि का भी ऐसा ही जान लेना। इति दिक् ॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्त्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥ ४ ॥

अनुवाद—अब अध्यात्म (कहते हैं) शरीरस्थ प्राण (वायु) और शरीराभ्यन्तर स्थित आकाश इन दोनों को छोड़ कर जो अन्य तीन महाभूत (इस शरीर में) हैं ये मूर्त्त हैं। ये मर्त्य हैं। ये स्थित हैं। ये व्यक्त हैं। उस इस मूर्त्त का इस मर्त्य का इस स्थित का और इस सत् (व्यक्त) का यह रस है जो चक्षु है। क्योंकि यह सत् का रस है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अथ) अब (अध्यात्मम्) अध्यात्म वर्णन कहते हैं। इस शरीर में (प्राणात्+च) जो प्राणवायु है और प्राण के विकार जितने वायु हैं (च) और (अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (यः+अयम्+आकाशः) जो यह आकाश है। इन प्राण और आकाश दोनों को छोड़ कर (यत्+अन्यत्) जो अन्य पृथिवी, जल और अग्नि ये तीन महाभूत हैं (इदम्+एव) ये ही सब (मूर्त्तम्) इस शरीर में मूर्त्त=मूर्तिमान् हैं (एतत्+मर्त्यम्) ये मर्त्य=विनश्वर हैं (एतत्+स्थितम्) ये स्थित=स्थिर हैं और (एतत्=सत्) ये सत् अर्थात् व्यक्त हैं। आगे इन मूर्त्तों का कार्य्य कहते हैं—(तस्य+एतस्य+मूर्त्तस्य) उस इस मूर्त्त (एतस्य+मर्त्यस्य) इस मर्त्य (एतस्य+स्थितस्य) इस स्थित और (एतस्य+सतः) इस व्यक्त तीनों अवशिष्ट भूतों का (एषः+रसः) यह रस सार है (यत्+चक्षुः) जो नयनेन्द्रिय है अर्थात् नयनेन्द्रिय इन मूर्त्तादि गुणयुक्त तीनों भूतों का सार है। इसी को पुनः विस्पष्ट करते हैं—(सतः) व्यक्त, स्थित, मर्त्य और मूर्त्त जो तीनों पृथिवी, जल और अग्नि हैं इन का (एषः+रसः) यह चक्षुरिन्द्रिय रस=सार है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—"य एवायमादर्शे पुरुषः" "य एवायं छायापुरुषः" "य एवायमात्मनि पुरुषः" इत्यादिवर्णनेन शरीरस्य, शरीरस्थस्य पुरुषस्य (शक्तेः) ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वं शिक्षितम्। तदिह प्रधानस्य चक्षुषः चक्षुःपुरुषस्य च भौतिकत्वसाधनेन जडत्वं दर्शयित्वा अब्रह्मत्वमनुपास्यत्वं च सूचयिष्यति। प्रथमं मूर्त्तमाह—इदानीमध्यात्मविषये मूर्त्तामूर्त्तयोर्विभागं कण्डिका द्वयेनाऽऽरभते। अस्मिन् शरीरे यः प्राणो वायुरस्ति। चकारात् प्राणसदृशोऽन्योऽपि शरीरस्थः पदार्थः। पुनः। अन्तरात्मन् अन्तरात्मनि। आत्माऽत्र-शरीरवचनः। आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च इत्यमरः। आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि चेति धरणिः। शरीरस्याऽभ्यन्तरे। यश्चायमाकाशोऽस्ति। एतत्प्राणशरीरस्थाकाशद्वयं विहाय। शरीरे यदन्यत् परिशेषं भूतत्रयं वर्त्तते तदिदं सर्वं मूर्त्तम्। पुनः। एतत् सत्यम्। पुनः। एतत्स्थितम्। पुनः। एतत् सत्। इमानि पूर्वं व्याख्यातानि। तस्यैतस्य मूर्त्तस्य, एतस्य मर्त्यस्य, एतस्य स्थितस्य, एतस्य सतः। एष निकटस्थो दृश्यमानो रसः सारः। कोऽसौ रस इत्याह—यच्चक्षुः यच्चक्षुरिन्द्रियं वर्त्तते तन्मूर्त्तादिचतुष्टयविशेषणसहितस्य भूतत्रयस्य सारमस्तीति वेदितव्यम्। हि यतः सतो भूतत्रयस्यैष रसः। विस्पष्टार्थमेतद्वचनम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—पूर्व में "जो ही यह आदर्श में पुरुष है" "जो ही यह छाया पुरुष है।" इत्यादि वर्णन से शरीर और शरीर के गुण को ब्रह्म कह कर उपासना की सिद्धि की थी। इस हेतु यहां शरीर में प्रधान चक्षु और चक्षु की शक्ति को भौतिक सिद्ध करके न यह ब्रह्म है और न यह उपास्य है ऐसा सूचित करने के लिये इन दो कण्डिकाओं का आरम्भ करते हैं। जैसे अधिदैवत जगत् में सूर्य की प्रधानता है इसी कारण सूर्य की भौतिक सृष्टि कही गई वैसे ही इस शरीर में चक्षुरिन्द्रिय की प्रधानता के कारण इसकी उत्पत्ति कही गई है। जैसे अधिदैवत जगत् में सूर्य तैजस् पदार्थ हैं वैसे अध्यात्म में चक्षु तैजस् है। इत्यादि विज्ञान का परामर्श करना।

अन्तरात्मन्—यहां आत्मा शब्द शरीरवाची है। इस में कोश का प्रमाण। जीव, यत्न, धृति बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म और शरीर अर्थ में आत्मा शब्द। धरणि भी यही कहता है क्योंकि शरीर के अभ्यन्तर में आकाश है न कि जीवात्मा के भीतर। इस कारण यहां आत्मा शरीरवाचक है ॥ ४ ॥

अथामूर्त्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत् तस्यैतस्यामूर्त्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः ॥ ५ ॥

अनुवाद—अब अमूर्त्त कहते हैं। प्राणवायु और प्राणवायु के विकार और जो यह शरीर के अभ्यन्तर आकाश और आकाश के भेद हैं वे दोनों अमूर्त्त हैं। ये अमृत हैं। ये गमनशील हैं। ये अव्यक्त=परोक्ष हैं। उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का, इस गमनशील का और अव्यक्त का यह रस है जो दक्षिण चक्षु में पुरुष (शक्ति) है। क्योंकि यह इस अव्यक्त का रस है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अथ) अब (अमूर्त्तम्) अमूर्त वस्तु जो शरीर में है उसका उपदेश करते हैं (प्राणः) प्राणवायु (च) और प्राण के जितने भेद हैं और (अन्तरात्मन्) शरीर के अभ्यन्तर (यः+अयम्+आकाशः) जो यह आकाश है (च) और आकाश के जितने भेद हैं। वे दोनों अपने भेदसहित (अमूर्त्तम्) अमूर्त हैं (एतद्+अमृतम्) यह अमृत है (एतद्+यद्) ये गमनशील हैं

(एतद्+त्यद्) वे अव्यक्त अथवा परोक्ष हैं । अब आगे इनका कार्य कहते हैं—(तस्य+एतस्य+अमूर्त्तस्य०) उस इस अमूर्त्त, अमृत, गमनशील और अव्यक्त का (एषः+रसः) यह रस=सार है । कौन है सो आगे कहते हैं—(यः+अयम्) जो यह (दक्षिणे+अक्षन्) दक्षिण चक्षु में (पुरुषः) शक्ति है (हि) क्योंकि (त्यस्य) अव्यक्तत्वादि गुणसहित उन दोनों भूतों का (एषः+रसः) यह रस है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अथाध्यात्ममूर्त्तवर्णनानन्तरम् । इदानीमध्यात्मामूर्त्तमाह किमेतदमूर्त्तम् ? अयं शरीरस्थः प्राणो वायुः । चकारात्तस्य विकारश्च । पुनः । अन्तरात्मन् अन्तरात्मनि अन्तःशरीरे "इहात्मन्शब्दः शरीरवाचीति पूर्वोक्तम्" "अन्तरात्मनित्यत्र सुपां सु-लुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः । ७ । १ । ३९ ॥ इतिङेर्लुक्" शरीरस्याभ्यन्तरे । योऽयमाकाशो महाभूतमस्ति । चकारात्तद्भेदाश्च । एतत्प्राणाऽऽकाशद्वयम् । अमूर्त्तम् । एतदमृतम् । एतद्यद् । एतत् त्यद् । इदानीमेतस्य कार्य्यमाह—तस्य एतस्यामूर्त्तस्य । एतस्यामृतस्य । एतस्य यतः ।: एतस्य त्यस्य । एष रसोऽस्ति सारोऽस्ति । कः ? । योऽयम् । दक्षिणे, अक्षन् अक्षिणि "सुपांसुलुगित्यनेन ङेर्लुक् । पुरुषः शक्तिविशेषोऽस्ति । स तस्य सारः । पुनरपि विस्पष्टयति "त्यस्य ह्येष रसः" इति । इहेदं विवेच्यम् । द्वे नयने स्तः । तत्र किमप्येकं नयनं लक्षणीयम् । एकस्य लक्षणेनेतरस्यापि तदेव भविष्यति । तर्हि कतरल्लक्षणीयम् । उभयोर्मध्ये दक्षिणस्य प्रथमोपस्थितिरिति प्राचीनान् नियमाद्दक्षिण इत्युक्तम् । शरीरे तावदिन्द्रियाणि प्रधानानि । तत्रापि ज्ञानेन्द्रियाणि । तत्रापि चक्षुषी । तत्रापि । दक्षिणं चक्षुः । एतच्चक्षुः स्वपुरुषसहितं पञ्चभूतैर्मूर्त्तामूर्त्तैरेव विनिर्मितम् । अतो जडमचेतनम् । इदं जडं चेतनः कथमुपासीत् । अध्यात्मविषये अज्ञानिनश्चाक्षुषपुरुषस्यैवोपास्यत्वं प्रधानतया ब्रुवन्त्यतः चाक्षुषोपासनानिषेधेन सर्वाध्यात्मकर्णाद्युपासना निवारितेति वेदितव्यम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—यहां यह जानना चाहिये कि नयनेन्द्रिय दो हैं । उन दोनों में से किसी एक का ही निरूपण करना चाहिये क्योंकि किसी एक के ही निरूपण से दूसरे का भी निरूपण हो जायगा । तब दोनों में से किसका निरूपण होना चाहिये यह शङ्का होती है । दोनों में से दक्षिण अङ्ग की स्वभाव से ही प्रधानता के हेतु प्रथम उपस्थिति होती है । यह प्राचीन नियम है । इसके अनुसार दक्षिण नयन के पुरुष का वर्णन है । अन्य किसी कारण विशेष से नहीं । अबोध जन ऐसी २ बातों पर बहुधा संदिग्ध हो जाते हैं इस हेतु इसका तात्पर्य दिखलाया गया है । अब इन दोनों कण्डिकाओं का फलितार्थ यह हुआ कि प्रथम इस शरीर में इन्द्रिय प्रधान हैं । उन में भी ज्ञानेन्द्रिय । उन में भी दोनों नयन । उनमें भी दक्षिण नयन । यह नयनेन्द्रिय अपने पुरुष के साथ मूर्त्तामूर्त्त पञ्चमहाभूतों से ही निर्म्मित है । अतः यह जड़, अचेतन है । तब कैसे इस जड़ को चेतन जीवात्मा उपासना कर सकता है । अध्यात्म विषय में अज्ञानी जन चाक्षुष पुरुष की ही उपासना प्रधानतया कहते हैं । अतः चाक्षुष पुरुष की उपासना के निषेध से सब अध्यात्म कर्णादि विषय की उपासना का निषेध होगया ऐसा जानना चाहिये । अतः अधिदैवत और अध्यात्म इन दोनों जगतों में कोई वस्तु न तो ब्रह्म है और न उपास्य है यह सिद्ध हुआ ॥ ५ ॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तं सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥ (क)

अनुवाद—उस इस सुप्रसिद्ध पुरुष का यह रूप है जैसा कुसुम्भ फूल से रंगा हुआ वस्त्र होता है। जैसा मेष का रोम धूसर होता है। जैसा इन्द्रगोप नाम का कीट होता है। जैसी अग्नि की ज्वाला होती है। जैसा श्वेत कमल होता है। जैसा एकबार ही विद्युत् का प्रकाश होता है। जो साधक ऐसा जानता है। निश्चय इसकी शोभा भी सकृत् विद्युत् के प्रकाश के समान होती है ॥ ६ ॥ (क)

पदार्थ—(तस्य+ह+एतस्य) उस इस प्रसिद्ध (पुरुषस्य) जीवात्मा के (रूपम्) नैमित्तिक रूप को कहते हैं। यहां अनेक उपमाओं के द्वारा आत्मा के तटस्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं कभी इस आत्मा का स्वरूप (यथा) जैसा (माहारजनम्+वासः) कुसुम्भ नाम के फूलों से रंगा हुआ वस्त्र हो वैसा होजाता है। कभी (यथा) जैसा (पाण्डु) किञ्चित् श्वेत (आविकम्) मेष लोम होता है (यथा+इन्द्रगोपः) जैसा अतिशयरक्त इन्द्रगोप नाम का कीट विशेष होता है (यथा+अग्न्यर्चिः) जैसी अग्नि की ज्वाला होती है (यथा+पुण्डरीकम्) जैसा श्वेत कमल होता है (यथा) जैसा (सकृत्) एकबार ही झट (विद्युत्तम्) विद्युत् का प्रकाश होता है। इन उपमाओं के समान यह जीवात्मा विषय के संयोग से विविधरूप वाला हुआ करता है। आगे फल कहते हैं—(अस्य) इस रहस्य के जानने वाले पुरुष की (श्रीः) सम्पूर्ण सम्पत्ति (सकृत्+विद्युत्ता+इव+भवति) सकृत् विद्युत् प्रकाश के समान चमकने वाली होती है (ह+वै) इस में सन्देह नहीं ॥ ६ ॥ (क)

भाष्यम्—अधिदैवताध्यात्मद्विवरणेना चेतनायाः प्रकृतेस्तत्त्वं संक्षेपतो दर्शितम्। ततो जीवात्मनोऽपि लक्षणं स्वरूपञ्चा वाच्यम्। अतो जीवात्मनो नैमित्तिकं तटस्थं रूपं दर्शयति। तत्स्वरूपन्तु दुर्बोधादकृतात्मभिरग्रहणाच्च न लक्ष्यते इत्यतो न तन्निरूपणम्। तस्य ह प्रसिद्धस्य। एतस्य पुरुषस्य जीवात्मनः। इदं वक्ष्यमाणं नैमित्तिकं रूपम्। किन्तत्। यथा येन प्रकारेण माहारजनं वासो भवति। माहारजनं कुसुम्भम् "स्यात्कुसुम्भं वह्निशिखं महारजनमित्यपि" इत्यमरः। तेन महारजनेन रक्तं वस्त्रमिति महारजनम्। वासो, वस्त्रम्। तद्वदयं पुरुषः। कदाचिदयं जीवात्मा प्रियस्त्र्यादिविषयगृहीतो महारजनरञ्जितं वस्त्रमिव रक्तो भवति। पुनः। यथा। आविकं अवेर्मेषस्येदमित्याविकम्। "अवयः शैलमेषार्काः" इत्यमरः। "अविर्नाथे रवौ मेषे शैले मूषिककम्बल इति मेदिनी।" आविकमूर्णादि। पाण्डु पाण्डुरम्। इह पाण्डुशब्द ईषत्पाण्डुवचनः। अग्रे पुण्डरीकशब्देन श्वेतविधानात्। यथा ईषत्पाण्डुमेषलोम भवति तथैव सात्त्विकभावं कञ्चिदुपलभ्य कदाचित् सात्त्विक-राजसोभयभावमिश्रितो नयनेन धूसर इव लक्ष्यते। पुनः। यथा इन्द्रगोपः अत्यन्तरक्तः कीटविशेष इन्द्रगोपः। कदाचिदात्मा अत्यन्त रक्तो भवति विषयेषु। कदाचिद् यथाग्न्यर्चिः, अग्निज्वाला लेलायमाना भास्वरा भवति। तत्रैवात्मापि। कदाचित् यथा पुण्डरीकं श्वेतं कमलं भवति। तथैवायं पुरुषः। सर्वथा सात्त्विकभावमुपलभ्य श्वेतो भवति। कदाचित्। यथा। सकृदेकवारं। विद्युत्तम्—विद्युतो विद्योतनं प्रकाशो भवति तथैवायमपि पुरुषः। ज्ञानं प्राप्य झटिति प्रकाशते। क्षणेन पुनः विद्युदिव विनश्यति तद्रूपम्। अग्रे फलमाह—य एवं वेद। तस्यास्य श्रीः शोभा सकृद्विद्युत्तेव। सकृद्विद्योतनमिव भवति। ह वा इत्यवधारणार्थौ निपातौ ॥ ६ ॥ (क)

अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ ६ ॥ (ख)

अनुवाद—अब इस कारण "ब्रह्म के विषय में" आदेश होता है । नेति २ शब्द से उसका आदेश होता है क्योंकि इस आदेश से बढ़कर अन्य आदेश नहीं क्योंकि इससे परे कोई अन्य पदार्थ नहीं । अब उसका नाम कहते हैं "सत्य का सत्य" उसका नाम है, निश्चय प्राणों को सत्य कहते हैं उन प्राणों का यह (परमात्मा) ही सत्ता रखने वाला है ॥ ६ ॥ (ख)

पदार्थ—(अतः) इस कारण अर्थात् हे बालाके ! जिस हेतु यहां ब्रह्माख्य परमात्मा के सम्बन्ध में उपदेश देना समुचित है परन्तु अभी तक प्रकृति जीव का ही वर्णन हुआ है इस कारण (अथ) अब (आदेशः) उस परमात्मा के विषय में आदेश=उपदेश, शिक्षा प्रारम्भ करते हैं (नेति+नेति) उस परमात्मा का उपदेश नेति २ शब्द से होता है (हि) क्योंकि (न) इससे बढ़कर कोई आदेश नहीं है । ऋषि कहते हैं कि इसमें क्या कारण है क्योंकि (अस्मात्-इति) इस परमात्मा से बढ़कर (अन्यत्+परमम्) दूसरा उत्कृष्ट देव (नेति+अस्ति) नहीं है उस परमात्मा से बढ़कर कोई देव नहीं है वा उसके समान कोई नहीं है वा उसके वर्णन के लिये कोई सामग्री नहीं इस हेतु नेति २ शब्द के द्वारा उसका आदेश होता है (अथ) अब (नामधेयम्) उस ब्रह्म का नाम कहते हैं—(सत्यस्य+सत्यम्+इति) "सत्य का सत्य" उसका नाम है (प्राणाः+वै+सत्यम्) बाह्य और आभ्यन्तर प्राणों का नाम सत्य है (तेषाम्) उन प्राणों का भी (एषः) यह परमात्मा ही (सत्यम्) सत्ता रखने वाला त्रिकालाबाध्य सच्चिदानन्दस्वरूप एक अद्वितीय है ॥ ६ ॥ (ख)

भाष्यम्—हे बालाके ! यतो ब्रह्माख्यः परमात्मोपदेश्यत्वेनोपक्रान्तः । अतोऽस्मात्कारणात् । अथ प्रकृतिजीवात्मस्वभावविज्ञानानन्तरम् । अस्य परमात्मनः सम्बन्धे । आदेश उपदेशो व्याख्यानं प्रारभ्यते आदिश्यत उपदिश्यत अनेनादेशः । अवहितः संस्त्वं तच्छृणु । नेति नेति शब्देन तस्य व्याख्यानं भवति । कथम् । हि यस्मात् । एतस्मादादेशात् । अन्य आदेशो ब्रह्मव्याख्यानाय न भवति । हे बालाके ! यतः अस्माद् ब्रह्मणोऽन्यद्व्यतिरिक्तम् । परमुत्कृष्टं वस्तु । नेति नास्ति अतो नेति नेति शब्देन तस्यादेशः । अथ नामधेयं कथयामि । सत्यस्य सत्यमिति तस्य नामधेयम् । सत्यस्येत्यनेन कस्य ग्रहणम् ? प्राणा वै सत्यम् । बाह्याभ्यन्तरप्राणानां ग्रहणम् । तेषां प्राणानामपि । एष परमात्मैव सत्यम् । त्रिकालाबाध्यः सच्चिदानन्दस्वरूप एकोऽद्वितीय इत्यर्थः ॥ ६ ॥ (ख)

आदेशो नेति नेति ।

अत्रेदं विज्ञातव्यम्—यदि कोऽपि पृच्छेत् (१) तद्ब्रह्म किं मनुष्यादिवत् मूर्त्तिमद्वर्त्तते ? समाधानम्—न । (२) तद्ब्रह्म किं सूर्यादिवत् प्रकाशमानं क्वचिदपि स्थितं सूर्यादेरपि महत्तमं वस्तु वर्त्तते ? समाधानम्—न । (३) भवतु वयं मनुष्यास्तन्नावलोकयितुं शक्नुमः किम् ? किं क्वचिदपि एकस्मिन् स्थाने तस्य निवासस्थानं वर्त्तते ? एवं तत्र निकटस्थैर्जीवैः सूर्यादिवद् दृश्यते ? समाधानम्—न । (४) यथा राजा बहूनमात्यादीन् विचक्षणान् राज्यकार्यवीक्षणाय स्थापयति तथा सोऽपि परमात्मा विदधाति किम् ? समाधानम्—न । (५) किं स्वसृष्टाभिः प्रजाभिश्चेतनाभिः सह कदाचिदपि तत्स्वयं ब्रह्मक्रीडायै आलापाय भाषणाय दर्शनप्रदानाय निग्रहाय अनुग्रहाय एवंविधाय कस्मैचिदपि प्रयोजनाय सावयवपदार्थवद् प्रत्यक्षं भवति ? समाधानम्—न । (६) तत्पिपासति ? समाधानम्—न । (७) अशिशिषति ? समाधानम्—न । (८) शेते ? समाधानम्—न । (९) किमपि क्रीडां मनुष्यादिवत् करोति ? न । (१०) तत्किमिन्द्रियाणां विषयोऽस्ति ? न । (११) मनसः । न । तथा चोक्तम्—न तत्र चक्षुर्गच्छति । न वाग्गच्छति । नो मनः । इत्यादि । यद्वाचानभ्युदितम् । यन्मनसा न मनुते । इत्यादि । नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा । इत्यादि । (१२) नैयायिकाभिमतैः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनोभीरचितमस्ति किम् ? समाधानम्—न । (१३) शुक्लनीलपीतादिकं तस्य रूपमस्ति ? न । (१४) तस्मिन् गमनाऽऽगमनादिकं कर्मास्ति ? न । (१५) आदिकविरिव सदा किमपि ग्रथ्नाति ? न । (१६) महाब्राह्मण इव महाराज इव वा स्वसहचरैः सह परिषदं रचयति ? न । (१७) स्थपतिरिव सामग्रीः संयोज्य भवनमिव विश्वमिदं हस्तादिभिर्वा विविधयन्त्रैर्वा सृजति कश्चित् ? न । (१८) माता यथाऽन्नपानादिभिः शिशुं कदाचित्स्तन्यं पाययति । कदाचित् पर्यङ्के शाययति । कदाचित् वस्त्रं धापयति । कदाचित्कूपादौ पतनोन्मुखं बालं दृष्ट्वा पाणिना झटिति बिभर्त्ति । कदाचिद् रुग्णायौषधीर्ददाति । तथैव यावन्तो जीवाः सन्ति तावन्ति रूपाणि विधाय तत्तत्समीप्यमासाद्य प्रजाः पालयति कश्चित् । समाधत्ते—न । (१९) तर्हि किं व्याध इव विहगान् जगन्ति संहरति न । तथा (२०) अस्ति कापि उपमा तस्य जगति ? न ।

यहां यह जानना चाहिये । यदि कोई पूछे कि—(१) वह ब्रह्म क्या मनुष्यादिवत् मूर्त्तिमान् है ? समाधान—नहीं । (२) वह ब्रह्म क्या सूर्यादिवत् प्रकाशमान, कहीं पर स्थित और सूर्यादि से बहुत ही बड़ा पदार्थ है ? समाधान—नहीं । (३) अच्छा ऐसा हो । हम मनुष्य उसे देखने में असमर्थ होवें । किन्तु क्या कहीं भी एक स्थान में उसका निवासस्थान है ? और वहां निकटस्थ जीवों से सूर्यादिवत् देखा जाता है ? समाधान—नहीं । (४) जैसे राजा बड़े २ विद्वान् अमात्यादिकों को राजकार्य देखने के लिये स्थापित करता है । वैसा ही वह परमात्मा भी करता है क्या ? समाधान—नहीं । (५) क्या अपनी रची हुई चेतन प्रजाओं के साथ कभी वह स्वयं ब्रह्म क्रीड़ा, भाषण, दर्शन देने के लिये निग्रह, अनुग्रह इस प्रकार के किसी प्रयोजन के लिये सावयव पदार्थ के समान प्रत्यक्ष होता है ? समाधान—नहीं । (६) वह पानी पीने की इच्छा करता है ? नहीं । (७) वह खाने की

इच्छा करता है ? नहीं । (८) वह सोता है ? नहीं । (९) मनुष्यादि के समान किसी प्रकार की क्रीड़ा वह करता है ? नहीं । (१०) क्या वह इन्द्रियों का विषय है ? नहीं । (११) मन का विषय है ? नहीं । कहा गया है वहां चक्षु नहीं जाता है । वाणी नहीं जाती है । मन नहीं पहुंचता इत्यादि । जो वचन से उदित नहीं होता । जिसको मन से मनन नहीं कर सकता इत्यादि । जिसको वचन से मन से चक्षु से प्राप्त नहीं कर सकते इत्यादि । (१२) क्या नैयायिकाभिमत पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन नवों द्रव्यों से बना हुआ है ? समाधान—नहीं । (१३) उसका रूप शुक्ल नील पीत आदिक कुछ है ? समाधान—नहीं । (१४) उसमें गमन आगमनादिक कर्म हैं ? समाधान—नहीं । (१५) क्या कवि के समान कोई ग्रन्थ रचता रहता है ? नहीं । (१६) क्या महाब्राह्मण या महाराज के समान अपने सहचरों के साथ परिषद् की रचना कभी करता है ? नहीं । (१७) स्थपति जैसे सामग्री सब इकट्ठी कर भवन बनाता है वैसे ही क्या हस्तादिकों से वा विविध यन्त्रों से सृष्टि रचता है । समाधान—नहीं, इस प्रकार नहीं । (१८) माता जैसे अपने बच्चे को कभी दूध पिलाती है । कभी पर्य्यङ्क के ऊपर सुला देती है । कभी वस्त्र पहिरा देती है । कभी कूपादिक में गिरते हुए बच्चे को हाथ से झट पकड़ लेती है, कदाचित् रोगी को ओषधि देती है । इसी प्रकार से जितने जीव हैं उतने रूप बनाकर उस २ प्रजा के निकट जा प्रजाओं का पालन करता है क्या ? समाधान—नहीं, इस प्रकार नहीं । (१९) तब क्या जैसे व्याध विहगों का वैसे ही वह इन जगतों का संहार करता है । वैसा नहीं । (२०) जगत् में उसकी उपमा कोई वस्तु है ? नहीं ।

हे बालाके ! सहस्रश ईदृशान् प्रश्नान् पृच्छ्व सर्वत्र नकार एव प्रतिवचनम् । तेन किं विज्ञातं न शब्देन तस्यादेशः संभवति । पुनरपि निरीक्ष्यताम् । (२१) तस्मात्किमपि भूयोऽस्ति ? न । (२२) तस्मात्पृथिवीयं भूयसी ? न । (२३) तस्मादाकाशो भूयान् ? न । (२४) तस्माद्द्यौर्भूयसी ? न । (२५) तस्मात्सर्वे लोकाः समवेता भूत्वा भूयांसः ? न । (२६) तस्मात्कोऽपि व्रीहिरणीयानस्ति ? न । (२७) तस्मात् यवोऽणीयानस्ति ? न । (२८) सर्षपस्वा श्यामाकस्वा श्यामाकतण्डुलस्वाऽणीयोऽस्ति ? न । (२९) तस्मात् कोऽपि विद्वत्तरोऽस्ति ? न । (३०) तस्मात् कोऽपि गतिमत्तरोऽस्ति । न ।

हे बालाके ! ऐसे २ सहस्रों प्रश्न पूछते चलो सर्वत्र नकार ही उत्तर होगा । इससे आपने क्या समझा ? न शब्द से ही उसका आदेश होता है । पुनरपि देखो । (२१) उससे क्या कोई वस्तु बड़ी है ? नहीं । (२२) उससे क्या यह पृथिवी बड़ी है ? नहीं । (२३) उससे क्या आकाश बड़ा है ? नहीं । (२४) उससे क्या द्युलोक बड़ा है ? नहीं । (२५) उससे क्या सब लोक लोकान्तर मिलकर बड़े हैं ? नहीं । (२६) उससे क्या कोई व्रीहि छोटी है ? नहीं । (२७) उससे क्या यव छोटा है ? नहीं । (२८) सरसों वा श्यामाक वा श्यामाक तण्डुल उससे क्या छोटा है ? नहीं । (२९) उससे बड़ा विद्वान् है ? नहीं । (३०) उससे कोई अधिक चलनेवाला है ? नहीं ।

हे बालाके ! ईदृशेष्वपि विषयेषु नेतिशब्देनादेशो भवति । अतएव यदा त्वं सूर्यपुरुषं ब्रह्माभिप्रैषि तदा मया नेत्युक्तम् । इत्थं यत्किमपि मूर्त्तस्वामूर्त्तं वस्तु वर्त्तते तेन समं न ब्रह्मास्ति । ननु—हे राजन् अस्ति ओमित्येवंविधैः पदैरपि तस्यादेशो भवितुमर्हति । कथं

तर्हि नेतिनेत्यादेशस्तस्य । तथाहि—(१) ब्रह्मणि विज्ञानं वर्त्तते ? अस्ति । (२) सर्वेभ्यो ज्येष्ठत्वमस्ति तस्मिन् ? अस्ति । (३) तस्मिन् जगत्कर्तृत्वपातृत्वसंहर्तृत्वानि सन्ति । (४) अनवधिकत्वातिशयसुखित्वे वर्त्तेते ? स्तः । (५) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वं वर्त्तते ? अस्ति । (६) स खलु परमात्मा सर्वेभ्यः कर्मफलं ददाति कच्चित् । ओमिति । (७) तस्य ज्ञानेन केवलिनो भवन्ति जनाः कच्चित् ? ओम् । (८) तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ? ओम् । (९) अपि च स सर्वज्ञ अनन्तः शुद्ध अपापविद्धः । एवंविधैरनन्तविशेषणैर्युक्तोऽस्ति ? ओमिति ।

हे बालाके इन विषयों में भी न शब्द से ही उसका आदेश होता है । इसी हेतु जब आपने सूर्य पुरुष को ब्रह्म कहा था तब मैंने "न" ऐसा शब्द कहा था । इस प्रकार जो कुछ मूर्त वा अमूर्त वस्तु जगत् में है उसके समान ब्रह्म नहीं है । इसबालाकि शङ्का करते हैं कि राजन् ! "अस्ति" "ओम्" आदि पदों से भी तो उसका आदेश हो सक्ता है, फिर "नेति नेति" से ही उसका आदेश क्यों ? यथा—(१) क्या ब्रह्म में विज्ञान है ? है । (२) उसमें सब की अपेक्षा ज्येष्ठत्व है ? है । (३) उसमें जगत् कर्तृत्व, पातृत्व और संहर्तृत्व है ? हैं । (४) अनवधिकत्व, अतिशय सुखित्व उसमें है ? है । (५) क्लेश कर्म विपाक और आशय से असंबद्धत्व है ? है । (६) क्या वह परमात्मा सब को कर्मफल देता है ? हां, देता है । (७) क्या उसके ज्ञान से मनुष्य मुक्त होते हैं ? हां । (८) उसको जान लेने पर क्या सब विदित हो जाता है ? हां । (९) क्या वह सर्वज्ञ, अनन्त, शुद्ध, अपापविद्ध इस प्रकार के अनेक विशेषणों से युक्त है ? हां ।

हे राजन् ! ईदृशेषु स्थलेषु अस्तिप्रभृतिशब्दैरपि तस्यादेशो संभवति सति नेतिशब्देन योऽयमादेशप्रक्रमः । स अबोधान् जनान् संशयाब्धावेव पातयिष्यति । तस्यैव ब्रह्मणो नेतिनेति शब्दैरभावं ग्रहीष्यन्ति । तद्ब्रह्म नास्ति यतो न दृश्यते न श्रूयते न स्पृश्यते नानुभूयते न ज्ञायते न किमपि प्रयोजनं तेन सिद्ध्यति अतो न किमपि ब्रह्मनामाख्यं वस्तु । इत्येवमर्थम् । अबोधा ज्ञात्वा उदासीना भविष्यन्ति । अतो हे राजन् ! अस्तिप्रभृतिरेवादेशोवरमिति कलयामि ॥

हे राजन् ! ऐसे स्थलों में "अस्ति" "प्रभृति" शब्दों से भी उसका आदेश होना यदि सम्भव है तो नेति शब्द से जो यह आदेश का प्रक्रम किया है वह अबोधजनों को संशयाब्धि में गिरावेगा । नेति नेति शब्द से उस ब्रह्म का ही अभाव ग्रहण कर लेवेंगे । ब्रह्म नहीं है ब्रह्म नहीं है । जिस हेतु न वह दीखता है । न सुना जाता । न छूया जाता । न अनुभूत होता । न जाना जाता । न उससे कुछ प्रयोजन ही सिद्ध होता है, इस हेतु ब्रह्म नाम का कोई वस्तु नहीं है ऐसे ही अर्थ को अबोधजन मान उदासीन हो जावेंगे, इस हेतु हे राजन्, अस्ति प्रभृति शब्दों से ही आदेश अच्छा है, ऐसा मैं समझता हूं ।

बालाके ! साधूक्तं प्रतिभाति तव । तथापि इह हि प्रथमं जगद् द्विधा विभाजितम्—मूर्तञ्चामूर्त्तञ्च । तयोर्द्वयोर्ब्रह्मत्वप्रतिषेधाय द्वौ नकारौ प्रयुक्तौ । यदिह मूर्त्तं वस्तु सत्तया प्रतीयते तदपि न ब्रह्म । यदमूर्त्तमनुमीयते प्रमाणान्तरैर्वाबुध्यते तदपि न ब्रह्म । तदुभयविलक्षणं ब्रह्मेति । अथ नेह मूर्त्तामूर्त्तैरेव पदार्थैर्ब्रह्मोपमीयते । अथवा एतस्य दृश्यमानस्य

मूर्त्तस्यामूर्त्तस्य वा समं ब्रह्मास्तीति जानन्ति तन्निषेधायैषोक्तिः । परन्तु नेत्यादेशेन विपरीतग्राहिणो जना भविष्यन्तीति भवत्ता संदिग्धं तद्व्याख्यानेन परिहरिष्यते । अन्यच्च— प्राकृताद्वस्तुनो दूरं साधका नेतव्याः सन्ति । ततश्च ब्रह्म दर्शयितव्यमस्ति । कथं तर्हि अस्या दूरयितव्याः केन सरलेनोपायेन । तदपि दर्शयितव्यमिति । पुनः पुनः सञ्चिन्त्यमानेऽपि प्रकारान्तरमनवलोकयमानाश्चिरन्तनाः कारुणिका मुनयः प्रथमं नेति नेत्यादेशेन महामायाविन्याः प्रसारितजालायाः प्रकृतेः इमामेव ब्रह्ममत्वोपासीनान् साधकान् दूरं गमयन्ति यत्र नितरामासक्तिर्मिथाभूता जयतेतमां नृणां तत्र पुनः पुनर्नैरन्तर्य्येणोपदिष्टाः कदाचित्केऽपि तस्या विरमन्ति । अतोऽस्या प्रकृतेः सर्वतोभावेनानुपास्यत्वसिद्धये नेति नेति शब्देनोपदिशंति दयालवः । येन सर्वथा विश्वस्यानुभूय चेमां विहाय ब्रह्माभिमुखीना भवेयुरिति । तर्हि किं ब्रह्मेतिजिज्ञासायां श्रीमदुदयनाचार्यस्य वाक्यं संगृह्णानोऽहं प्रकरणमिदं समापयामि इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः । आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः । क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः । लोकवेदविरुद्धोऽपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः । शिव इति शैवाः । पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः । पितामह इति पौराणिकाः । यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः । निरावरण इति दिगम्बराः । उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः । यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः । लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः । किं बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासते । तस्मिन्नेवं प्रसिद्धानुभवे भगवति भवे सन्देह एव कुतः । किं निरूपणीयम् । तथापि—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् । उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥

अतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवति । "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इति श्रुतेः—

आगमनेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति स्मृतेश्च ॥

हे बालाके ! आपका कथन अच्छा प्रतीत होता है, तथापि यहां प्रथम जगत् को दो भागों में विभक्त किया है । मूर्त्त और अमूर्त्त, उन दोनों का ब्रह्मत्व निषेध के लिये दो नकार प्रयुक्त हुए हैं । यहां जो कुछ मूर्त्त वस्तु निज सत्ता से प्रतीत होती है, वह भी ब्रह्म नहीं और जो अमूर्त्त आकाशादि वस्तु अनुमित होता है वा अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है उन दोनों से विलक्षण ब्रह्म है । और यहां मूर्त्तामूर्त्त पदार्थों के द्वारा ही ब्रह्म की उपमा देते हैं अथवा इस दृश्यमान मूर्त्त वा अमूर्त्त पदार्थ के ही समान ब्रह्म है ऐसा जानते हैं । इस निषेध के लिये यह वचन है । परन्तु "नेति नेति" आदेश से विपरीतग्राही लोग हो जायेंगे ऐसा जो आपने सन्देह किया सो उसका व्याख्यान से परिहार हो जायगा । और भी देखो—प्राकृत वस्तु से साधकों को दूर ले जाना चाहिये और तब ब्रह्म दिखलाना चाहिये, परन्तु कैसे इससे ये मनुष्य दूर जाए जा सकते हैं और सरल उपाय से वह ब्रह्म भी दिखलाया जा सकता है । इसके पुनः २ विचार करने पर भी उपायान्तर को न देखते हुए चिरन्तन कारुणिक मुनि प्रथम नेति २ आदेश से महामायावी और जिसने यह सम्पूर्ण जाल फैला रक्खा है उस प्रकृति से इसी प्रकृति को ब्रह्म मानकर उपासना करते हुए अबोध जनों को दूर ले जाना चाहते हैं । जहां पर

अतिशय मिथ्याभूत आसक्ति मनुष्यों की हो जाती है, वहां पुनः २ लगातार उपदिष्ट होने पर मनुष्य कदाचित् कोई विरले ही उससे विरत होते हैं। इस हेतु इस प्रकृति के सर्वतोभाव से अनुपास्यत्व सिद्धि के लिये दयालु ऋषि लोग नेति २ शब्द से उपदेश करते हैं, जिससे पूर्णतया विश्वास तथा अनुभव करके इसको त्याग यथार्थ ब्रह्म की ओर जायं। तब ब्रह्म क्या है ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीमान् उदयनाचार्य के वाक्य को संग्रह करता हुआ मैं इस प्रकरण को यहां समाप्त करता हूं, उपनिषद्वित् पुरुष इसको "शुद्धबुद्धस्वभाव" मानते हैं। कापिल (कपिलसांख्यवादी) "आदिविद्वान् सिद्ध" पातञ्जल (योग्यशास्त्रवादी) इसको क्लेशकर्म, विपाकाशय से रहित और स्वयंजात शरीर को धारण कर "सम्प्रदायप्रद्योतक" और "अनुग्राहक" मानते हैं। महापाशुपत (शैवधर्म्म के एक सम्प्रदायी) इसको लोक वेदविरुद्ध सर्प और अग्नि धारण, दारु बन द्विजवधू विध्वंसनादि कर्मों से युक्त होने पर भी "निर्लेप और स्वतन्त्र" मानते हैं। शैव "शिव" वैष्णव "पुरुषोत्तम" पौराणिक "पितामह" याज्ञिक "यज्ञपुरुष" दिगम्बर "निरावरण" मीमांसक "उदास्यत्वेन" देशित "नैयायिक" "यावदुक्तोपपन्न" चार्वाक "लोकव्यवहारसिद्ध" मानते हैं। बहुत क्या कहें जिसकी उपासना कारु लोग भी "विश्वकर्मा" कहकर करते हैं। इस ब्रह्म को संसार पर्यन्त जाति, गोत्र, प्रवर, चरण, कुल, धर्मादिकों को जैसे कोई प्रत्यक्षतया अनुभव करता है तद्वत् अनुभूत भगवान् में सन्देह ही नहीं हो सकता। फिर निरूपण किस का। जिसमें सन्देह होता है उस का निरूपण होता है परन्तु इसके अस्तित्व में तो किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं। तथापि इस न्यायशास्त्र की चर्चा से ईश्वर की उपासना ही की जाती है, क्योंकि चर्चा के द्वारा मनन होगा और श्रवण के अनन्तर मनन ही होना चाहिये। श्रुति स्मृति इतिहास पुराण में भगवान् बहुत सुने गये! अब वह मन्तव्य होने चाहियें। क्योंकि श्रुति कहती है कि प्रथम उसको सुनना चाहिये पश्चात् मानना चाहिये। स्मृति में कहा गया है कि जो "आगम से अनुमान से और ध्यानाभ्यास के रस से" इन तीन प्रकार से अपनी बुद्धि को बढ़ाता है वह उत्तम योग को प्राप्त होता है॥

अथ चतुर्थब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥ १ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे मैत्रेयि! इस स्थान से, निःसन्देह मैं ऊपर को जाने वाला हूं (अतः तुम दोनों की) अनुमति चाहता हूं। और इस कात्यायनी सहित अब तुम्हारे सम्बन्ध का अन्त (विच्छेद) करना चाहता हूं॥ १॥

पदार्थ—(मैत्रेयि+इति) हे प्रिये मैत्रेयि! ऐसा सम्बोधन करके (ह) सुप्रसिद्ध महर्षि (याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य (उवाच) बोले। क्या बोले सो आगे कहते हैं—(अरे) हे प्रिये मैत्रेयि! (अहम्) मैं (अस्मात्+स्थानात्) इस गृहस्थाश्रमरूप स्थान से (वै) निश्चय करके (उद्यास्यन्+अस्मि) उद्=ऊर्ध्व=ऊपर को यास्यत्=जाने वाला अस्मि=हूं अर्थात् इस आश्रम से ऊपर जो वानप्रस्थाश्रम उसको ग्रहण करने वाला हूं। इस हेतु (हन्त) तुम दोनों से आज्ञा चाहता हूं। क्यों आज्ञा चाहते

हैं। क्या हम दोनों स्त्रियों को उस आश्रम में नहीं ले जायेंगे। इस शङ्का के निवारणार्थ आगे कहते हैं कि हे मैत्रेयि ! (अनया+कात्यायन्या) इस उपस्थित कात्यायनी के सहित (ते) तुम्हारा (अन्तम्) विच्छेद वियोग अर्थात् तेरे सम्बन्ध की समाप्ति (करवाणि+इति) कर दूं यदि तुम दोनों की सम्मति हो अर्थात् इतने काल पर्य्यन्त मुझ पति के साथ तुम दोनों का पतिपत्नी भाव का जो एक विलक्षण लौकिक सम्बन्ध था उसका अन्त=समाप्ति करना चाहता हूं और इस कार्य के लिये भी तुम दोनों की सम्मति चाहता हूं (इससे सिद्ध हुआ कि तुम दोनों को साथ लेजाना नहीं चाहता) इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—महर्षेर्याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये आस्ताम्। प्रथमा मैत्रेयी। द्वितीया कात्यायनी सामान्या स्त्रीव। इदानीं भगवान् याज्ञवल्क्यो द्वावाश्रमौ समाप्य तृतीयमाश्रममाशिश्रीषते। चिरकालसम्बद्धयोः प्रेमास्पदयोः पत्न्योरप्यनुमतिरत्रार्थे याचयितव्या। विवादनिवारणाय च चिरसञ्चितधनसम्पत्तिरपि तयोर्मध्ये विभाजयितव्येति प्रविव्रजिषुर्याज्ञवल्क्यो वक्ष्यमाणोपक्रमं निबध्नाति। मैत्रेयीत्यादिम्। जनकस्य प्रधानाचार्य्यत्वाद्धनमपि पुष्कलं सञ्चितम्। हे मैत्रेयि ! इति सम्बोध्य याज्ञवल्क्यो होवाच। प्रियत्वात् ज्येष्ठत्वात् प्रथमं मैत्रेयी सम्बोध्यते। शिष्टाचारानुरोधाच्च "मित्रस्यापत्यं स्त्री मैत्रेयी" शुभ्रादिभ्यश्च ४। १। १२३ ॥ इति ढक्। यद्वा। मित्रमेव मैत्रः स्वार्थेऽण्। मैत्रस्यापत्यं मैत्रेयः। स्त्रीत्वविवक्षायां मैत्रेयी। यद्वा। मित्रस्यभावो मैत्रम्। मैत्रे मित्रतायां साधुर्मैत्रेयी। यद्वा। मित्रयुरपत्यं स्त्री मैत्रेयी "गृष्ट्यादिभ्यश्च" ४। १। १३६ ॥ इति ढञ्। केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ७। ३। २ ॥ इति इयादेशे प्राप्ते। दाण्डिनायन हास्तिनायन······ ६। ४। १७४ ॥ इति निपात्यते ॥ किमुवाचेत्यत आह उद्यास्यन्नित्यादि। अरे इति सम्बोधनार्थम्। अरे अयि मैत्रेयि ! प्रिये। अहम्। अस्मात्स्थानात्। अस्माद्गार्हस्थ्याश्रमरूपात्स्थानात्। वै निश्चयेन। उद्यास्यन्नस्मि। उद् ऊर्ध्वमाश्रमं वानप्रस्थाख्यमरण्यायनम्। यास्यन् गमिष्यन्नस्मि। अतोऽहम्। हन्त तव कात्यायन्याश्चानुमतिं याचे कथमावयोरनुमतिं भगवान् याचते। किमावां तमाश्रमं न नयतीति शङ्का निवारयन्नग्रे ब्रवीति। अनया समीपे उपस्थितया। कात्यायन्या तव सपत्न्या समेतया। ते तव। अन्तं विच्छेदं सम्बन्धान्तम्। नियोगं करवाणि। इति सम्मतिमभ्यर्थये याचे। अयं भावः। एतत्कालपर्यन्तं मया पत्यासार्धं युवयोः पतिपत्नीभावात्मको विलक्षणो लौकिको यः सम्बन्ध आसीत्। तस्य सम्बन्धस्याद्य "अन्तं" समाप्तिं कर्तुमिच्छामि। यतो गार्हस्थ्यान्तोद्वारसम्बन्धः। सम्प्रत्यहमन्यमाश्रमं जिगमिषामि। अतः पूर्वं धनादीनां विभागं भविष्यद्विवादबाधाय कृत्वा ततः सम्बन्धान्तं करवाणीति कर्तुं पृच्छामि। संप्रश्ने लोट्। यद्यप्यत्र न धनसम्पत्तिविभागचर्चाऽस्ति तथाऽपि अग्रे मैत्रेयीप्रतिवचनेन धनविभागेप्सा याज्ञवल्क्यस्य लक्ष्यते। यदि युवयोः संमतिः स्यात्तर्हि धनसम्पत्तेर्यथास्वं विभागं सम्पाद्य सम्बन्धान्तञ्च कृत्वा अहमरण्यमाश्रयेयमित्यर्थः ॥ १ ॥

भाष्याशय—महर्षि याज्ञवल्क्य की दो भार्य्याएं थीं। प्रथम मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। उन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और विवेकवती थी और कात्यायनी साधारण स्त्री के समान थी अब भगवान् याज्ञवल्क्य दो आश्रमों को समाप्त कर तृतीय आश्रम का आश्रय लेना चाहते हैं और सम्राट् जनक महाराज के प्रधान आचार्य भी ये ही थे इस हेतु महाराज से इनको धन भी बहुत उपलब्ध हुआ

था इस हेतु अब चिरकाल से जिनके साथ सम्बन्ध रहा है और जो प्रेम के आस्पद (स्थान) हैं ऐसी अपनी दोनों भार्य्याओं से भी इस अर्थ में सम्मति ले लेनी चाहिये और भविष्यद् विवाद के निवारण के हेतु उस चिर-सञ्चित धनसम्पत्ति का भी विभाग पुत्र के न होने के कारण दोनों स्त्रियों में कर देना उचित है। इत्यादि विषय विचार गृहाश्रम को त्याग अन्य आश्रम में जाने की इच्छा करने वाले भगवान् याज्ञवल्क्य वक्ष्यमाण वचन कहते हैं—मैत्रेयी इत्यादि।

मैत्रेयी—प्रिय और ज्येष्ठ होने के कारण मैत्रेयी से ही वार्त्तालाप करना आरम्भ करते हैं, यह शिष्टाचार है। मैत्रेयी शब्द की सिद्धि अनेक प्रकार से कही गई है (मित्रस्यापत्यं स्त्री मैत्रेयी) मित्र की लड़की को मैत्रेयी कहते हैं। यद्वा—मित्रता का नाम मैत्र है। जो स्त्री अपने पति के साथ मित्रता के निर्वाह करने में सदा साध्वी हो उसे "मैत्रेयी" कहते हैं। यद्वा मित्रयु नाम के ऋषि की लड़की को "मैत्रेयी" कहते हैं। सम्भव है कि यह भार्य्या याज्ञवल्क्य महर्षि के परमप्रिया थी इस हेतु उसे "मैत्रेयी" कहते हों। अथवा मित्रयु नाम ऋषि की लड़की हो और इससे याज्ञवल्क्य का पाणिग्रहण हुआ हो, इस हेतु "मैत्रेयी" कहते हों। माता पिता के नाम पर सन्तान का नाम हुआ करता था यह एक अति प्राचीन नियम चला आता है। इससे द्वितीय अर्थ का ही ग्रहण करना समुचित मान होता है।

याज्ञवल्क्य=यज्ञ=याग। वल्क=वृक्ष की त्वचा को वल्क और वल्कल कहते हैं। अति प्राचीन समय में ऋषि लोग प्रायः भोजपत्र नाम के वल्कल को शरीराच्छादन के लिये धारण किया करते थे। यहां यज्ञ करना करवाना ही, मानो जिसका वल्कल है उसे "यज्ञवल्क" कहते हैं और यज्ञवल्क का जो अपत्य (सन्तान) उसे "याज्ञवल्क्य" कहेंगे अर्थात् इनके पिता का नाम "यज्ञवल्क" था अतः इनका नाम याज्ञवल्क्य हुआ ऐसा मालूम होता है। इनके पिता का अन्य नाम "वाजसनी" भी था अतः इनको वाजसनेय भी कहते हैं। यद्वा वाजसनेय और याज्ञवल्क्य ये दोनों पृथक् २ ऋषि हुए हों, ऐसा भी सम्भव है॥

अरे—कोशकार हेमचन्द्र कहते हैं कि नीच सम्बोधन में "अरे" शब्द आता है यद्वा अरणशील गमनशील और कम्पनशील को अरि कहते हैं। ऋ धातु से "अरि" बनता है। अर्थात् "मैं ऊपर जाऊंगा" इतना ही सुनकर चलनेवाली अथवा डरनेवाली स्त्री यहां "उद्यास्यन्" पद है इसके दो अर्थ हो सकते हैं, मैं ऊपर को जानेवाला हूं अर्थात् मैं अब शीघ्र मरनेवाला हूं अथवा मैं अन्य आश्रम को जानेवाला हूं। इन दोनों अर्थों के कारण पतिव्रता स्त्री अवश्य चलायमान होगी और यह अवश्य कहेगी कि मैं भी आप के साथ ही चलूंगी और चलनेवाले को अरि कहते हैं क्योंकि गमनार्थक "ऋ" धातु से अरि बनता है और उसके सम्बोधन में "अरे" पद होता है। सम्भव है कि याज्ञवल्क्य के मुख से "उद्यास्यन्" द्व्यर्थक पद निकलते ही मैत्रेयी घबरा गई हो और घबराई हुई उसे देख अन्वर्थ सम्बोधन याज्ञवल्क्य ने "अरे" ऐसा किया हो।

अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदीमरिः सूर्यस्य सप्तरश्मिभिः॥ ऋ० ८। ७२। १६॥

इस ऋग्वेद के मन्त्र में आए हुए "अरि" शब्द का अर्थ गमनशील (सतत चलनेवाला) वायु अर्थ किया है अतः यौगिकार्थ करने में कोई क्षति नहीं।

हन्त—"हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः" इस अमरकोश के प्रमाणानुसार हर्ष अनुकम्पा (दया) वाक्यारम्भ और विषाद इन चारों अर्थों में हन्त शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु श्रीशङ्कराचार्य महाराज "अनुमति" भी इस शब्द का अर्थ करते हैं।

कात्यायनी—"कतस्यापत्यं स्त्री" "कत" नामक ऋषि की लड़की को कात्यायनी कहते हैं। अति प्राचीन काल में सुप्रसिद्ध "कत" नाम के एक ऋषि हुए हैं। इसी हेतु इसका नाम कात्यायनी था। कात्यायनी का भ्राता कात्यायन भी प्रसिद्ध आचार्य हुए है॥

अन्त—यहां अन्त शब्द समाप्तिसूचक है। गृहस्थाश्रम पर्यन्त दारा के साथ सम्बन्ध रहता है। याज्ञवल्क्य अब गृहाश्रम को त्यागते हैं और अन्य वानप्रस्थाश्रम में जाना चाहते हैं। अतः पति और पत्नी का जो अबतक सम्बन्ध था उस का अन्त अर्थात् समाप्ति करना चाहता हूं यह ऋषि का आशय है॥

करवाणि—यह संप्रश्न अर्थ में लोट् लकार है। याज्ञवल्क्य अपनी प्रिय स्त्रियों से पूछते हैं कि मैं अन्य आश्रम का ग्रहण करना चाहता हूं। अतः आप लोगों से पूछता हूं कि आप लोगों के साथ जो सम्बन्ध था उसकी समाप्ति करूं या नहीं॥ १॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेनेति॥ २॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि हे पूज्यपाद भगवन्! यद्यपि धनपरिपूर्ण सम्पूर्ण यह पृथिवी मेरी ही होजाय (ऐसी मैं तर्कना करती हूं) तथापि क्या किसी प्रकार से मैं अमृता (मोक्ष सुख के भोगने वाली) हो सकती हूं * यह मैं आप से पूछती हूं। कृपया आप कहें। याज्ञवल्क्य ने कहा—नहीं। धन सम्पत्तिसाधनवालों का जैसा ही जीवन होता है वैसा ही तुम्हारा भी जीवन होगा, किन्तु धन से मोक्ष की आशा नहीं हो सकती॥ २॥

पदार्थ—जब याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से इस प्रकार पूछा तब उसने मोक्षमार्ग की कामना करती हुई इस प्रकार अपने अभिप्राय को प्रकट किया। सो आगे कहा जाता है—(सा+ह) वह परमप्रसिद्धा (मैत्रेयी+उवाच) मैत्रेयी बोली कि (भगः) हे—पूजनीय भगवन् स्वामिन्! (यद्) यदि (वित्तेन+पूर्णा) धन धान्य दास दासी हिरण्य परिच्छद और विविध रत्नादियों से भरी हुई (इयम्) यह (सर्वा+पृथिवी) सम्पूर्ण पृथिवी (मे) मेरी ही (स्यात्) होजाय। अर्थात् यदि विविध प्रकार की धन सम्पत्तियों से परिपूर्ण इस सम्पूर्ण पृथिवी की मैं ही अधिकारिणी होजाऊं ऐसा मैं वितर्क करती हूं तथापि हे स्वामिन्! (कथम्) किसी प्रकार से (तेन) उस सम्पूर्ण पृथिवी के अधिकार के लाभ से भी (अमृता) अमरणधर्मवाली अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होने वाली (स्याम्) हो सकती हूँ या नहीं ऐसा मैं आपको पूछती हूँ आप कृपया कहें। यह वचन सुन (याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य बोले कि (न+इति) नहीं सम्पूर्ण पृथिवी की प्राप्ति से भी तू अमृता नहीं हो सकती। इसी को पुनः विस्तारपूर्वक कहते हैं—(उपकरणवताम्) दास दासी गो महिष मेष आदि पशु हिरण्य रजत आदि धातु विविध वस्त्र विविध गोधूम, यव, शाली आदि धान्य इत्यादि सामग्री का नाम उपकरण है उत्तम उपकरण वालों का (यथैव) जैसा ही (जीवितम्) जीवन होता है सुखपूर्वक सम्प्राप्त विविध

---

* संस्कृत पदों का ठीक अनुवाद होना कठिन है। "स्याम्" यह क्रिया सम्भावना अर्थ को द्योतित करती हुई संप्रश्न अर्थ में आई है। मैं आप से पूछती हूं कि अमृता होने की संभावना भी कर सकती हूँ॥

भोग सम्पन्न जैसा एक महा धनाढ्य पुरुष का जीवन होता है (तथैव) वैसा ही (ते) तेरा भी (जीवितम्) जीवन (स्यात्) होगा (तु) परन्तु (वित्तेन) धन से (अमृतत्वस्य) मोक्ष की (आशा+न+इति) आशा नहीं हो सकती है ॥ २ ॥

भाष्यम्—सहेति । एवमुक्ता मैत्रेयी मोक्षमार्गं कामयमानाऽऽत्मनोऽभिप्रायं प्रकटयति । सा पत्याऽनुमतिप्रदानार्थं पृष्टा सती । ह प्रसिद्धा मैत्रेयी उवाच—वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् । भगोः हे पूज्यपाद भगवन् ! यद् यद्यपि नु वितर्के वितर्कः क्रियते । वित्तेन सम्पत्त्या । पूर्णा संकुला । इयं सर्वा समस्ता पृथिवी भूमिः मम स्यात् ममैव भवेत् नान्येषाम् । नानाविधै रत्नैः संकुलायाः सर्वस्याः पृथिव्या यद्यपि अहमेव राज्ञी भवेयम् तथापि कथं कथमपि कथञ्चन चोपार्थः प्रश्नार्थो वा । तेन वित्तपूर्णपृथिव्या अधिकारलाभेन । अमृता अमरधर्मिणी मोक्षोपभोक्त्री स्याम् भवेयमिति भगवतोऽग्रे पृच्छामि । इति संपृष्टो भगवान् याज्ञवल्क्यो होवाच नेति त्वममृता तु न भविष्यसि । इममेवार्थं पुनरपि व्याकरोति । हे प्रिये मैत्रेयि ! उपकरणवताम् उपकरणानि दासदासीपशुहिरण्यपरिच्छदादीनि भोगसाधनानि प्रशस्तानि उपकरणानि विद्यन्ते एषामित्युपकरणवन्तस्तेषाम् । यथैव यादृशमेव । जीवितं जीवनम् । सुखेन विविधभोगसम्पन्नं भवति । तथैव तादृशमेव । ते तवापि जीवितं जीवनं स्यात् । तु परन्तु । वित्तेन धनसम्पत्त्या । अमृतत्वस्य अपवर्गस्य आशा न नैवास्तीति ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ३ ॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि जिससे मैं अमृता होने की सम्भावना नहीं कर सकती हूं। उससे मैं क्या करूंगी, जिसी वस्तु को भगवान् जानते हैं उसी को मुझ से उपदेश करें । यह मेरी आप से प्रार्थना है ॥ ३ ॥

पदार्थ—पति के उस वचन को सुन (सा+ह+मैत्रेयी+उवाच) वह मैत्रेयी बोली कि हे भगवन् ! (येन) वित्तपरिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी के जिस अधिकार-लाभ से भी (अहम्) आप की दासी मैं (अमृता) मोक्ष सुख के उपभोग करने वाली (न+स्याम्) होनें की सम्भावना भी नहीं कर सकती हूं (तेन) उस धनादि के अधिकार से (अहम्) मोक्ष सुख चाहने वाली मैं आपकी दासी (किम्+कुर्याम्) क्या करूंगी यह आप से पूछती हूँ, अतः उस वित्त से तो मुझ को कुछ भी प्रयोजन नहीं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एवं प्रत्युक्ता सा होवाच मैत्रेयी—हे पूज्य स्वामिन् ! येन वित्तपूर्णायाः सर्वस्याः पृथिव्या अधिकारेणापि । अहं तव दासी अमृता मोक्षसुखोपभोक्त्री न स्याम् न भवेयमिति भगवदुपदेशेन जानामि । तेनाधिकारलाभेन । अहं मोक्षकामा तव दासी किं कुर्याम् किं करिष्यामीति पृच्छामि । अतः हे भगवन् ! वित्तेन न किमपि मम प्रयोजनम् । यस्मिन् कस्मिन् भगवान् तद्वित्तं विभाजयतु । मे मह्यन्तु यदेव यदेव मोक्षोपयोगि वस्तु । भगवान् पूज्यः । वेद जानाति । तदेव ब्रूहि उपदिशेति प्रार्थये । अनन्तशाश्वसुख ऐहिके कामे

सर्वस्य जन्तोः स्वाभाविकी प्रवृत्तिरस्तीति चित्तवृत्त्यनुसंधित्सवोमहात्मान उद्दिधीर्षितान् प्राणिनो महत्त्वशैलारोहयितुं लौकिकान् सर्वजनसेवितान् सततप्रमोदप्रदान् आपाततो रमणीयानेव विषयान् प्रथमं दर्शयन्ति । यः कश्चित्साधको विवेकेन इहलौकिकभोगसारः अस्थास्नुषु विद्युल्लीलायितेषु सुखेषु तिरस्क्रियां प्रकटयति तामेवानुक्रम्य तत्त्वमनुशासति । येन विज्ञानेन चिरसुखिनो भवन्ति जन्तवः । यमाचार्यैर्नाचिकेतसो रूपाख्यानमिममेवार्थं लक्षयति । प्रवाहणो जैवलिः प्रथमं गौतमं "मानुषस्य भगवन् गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा" इत्यवोचत् । तिरस्कृतमानुषवित्ताय गौतमाय पञ्चाग्निविद्यां पश्चादुपदिदेश । अश्वपतिर्वै कैकेय औपमन्यवादिभ्यः षड्भ्यो महाश्रोत्रियेभ्यः प्रथमं "यावदेकैकस्मै ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि । वसन्तु मे भगवन्त इति" इत्येवं लौकिकं प्रेयो दर्शयित्वा तद्विमुखेभ्योऽभीष्टं शिशिक्षे । इत्यादीनि सन्ति च भूयांसि आख्यानानि एवमेव भगवान् याज्ञवल्क्योऽपि दुर्लभवित्तलोभं मैत्रेय्यै दर्शितवान् । विचक्षणेन ब्रह्मवादिना स्वीयेन पत्या सह चिरनिवासेन कृतबुद्धिर्मैत्रेयी प्रेयोऽकामयमाना योगक्षेममेव वृतवती ॥ ३ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध भगवान् याज्ञवल्क्य बोले कि अरे मैत्रेयि ! तेरे ऊपर मुझे दया आती है * । तू हमारी प्रिया होती हुई प्रिय भाषण करती है यद्वा तू निःसन्देह हमारी प्रिया है और प्रिय बोलती भी है । यद्वा तू प्रथम भी प्रिया थी, अब भी प्रियभाषण कर रही है । आ बैठ, तेरे लिये मैं व्याख्यान करूंगा परन्तु व्याख्यान करते हुए मेरे "वचनों पर" निश्चय रूप से चिन्ता करने के लिये इच्छा कर ॥ ४ ॥

पदार्थ—जब मैत्रेयी ने वित्त में निरादर और अमृतत्व में आग्रह दिखलाया तब इसके साथ मेरा बहुत काल का परिश्रम आज फलवान् है । ऐसा विचार सन्तुष्ट हो (सः+ह+याज्ञवल्क्यः+उवाच) वे महर्षि याज्ञवल्क्य आत्मानुकूल इस वचन को बोले (अरे) यह सम्बोधनार्थक पद है अर्थात् हे मैत्रेयी प्रिये ! तेरे इस प्रियभाषण से (बत) तेरे ऊपर दया होती है । आज क्योंकर आपकी यह दया होती है, क्या प्रथम आप मुझ पर दया नहीं करते थे, जो आज यह दया आप प्रकट करते हैं । सत्य है, तथापि आज मुझे अत्यन्त दया होती है क्योंकि (नः) हमारी (प्रिया+सती) प्रिया होकर (प्रियं+भाषसे) प्रिय बोलती है । जैसे तू संसार दशा में मेरी परमप्रिया है वैसे ही आज पारलौकिक दशा में भी तू प्रियवचन ही भाषण करती है । इस कारण आज तेरे ऊपर विशेष दया उत्पन्न हुई है, जैसे तू पूर्व में प्रिया थी आज वियोगकाल में भी तू प्रिय ही भाषण करती है । अच्छा दया उत्पन्न हो

---

* बत=खेद (शोक) अनुकम्पा (दया) सन्तोष, विस्मय (अचम्भा) आमन्त्रण (न्योता) इन पांच अर्थों में बत शब्द का प्रयोग होता है । यहां अनुकम्पा (दया) अर्थ में "बत" का प्रयोग है स्त्री जाति होकर इस प्रकार ब्रह्म की ओर झुकी हुई है, इस हेतु मुझे दया आती है कि इसको मैं अवश्य ब्रह्मज्ञान सिखलाऊं । अनुवादक लोग प्रायः "बत" शब्दादि का अर्थ ठीक नहीं करते हैं किन्तु छोड़ देते हैं ॥ ४ ॥

करके क्या हुआ (एहि) आ मेरे साथ अन्य किसी एकान्त स्थान में चल, जहां निर्विघ्न निरुपद्रव ब्रह्मोपदेश मैं कर सकूंगा। इस कात्यायनी को ऐसे विषय में रुचि नहीं है इस कारण भी यहां से चल दूसरी जगह जाऊं। इस अर्थ की भी ध्वनि "एहि" पद से ज्ञात होती है (आस्स्व) इस विजन स्थान में बैठ (ते) तेरे लिये (व्याख्यास्यामि) तेरे अभीष्ट अमृतत्व का व्याख्यान करूंगा (तु) परन्तु (व्याचक्षाणस्य मे) व्याख्यान करते हुए मेरे वचनों पर (निदिध्यासस्व) पूर्ण विचार करने के लिये इच्छा कर अर्थात् सावधान होकर सुन अरण्यरोदन के समान मेरा व्याख्यान न होवे ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यदा मैत्रेयी वित्ते निरादरम् अमृतत्वे चाग्रहं प्रकटितवती तदा "अनया सह बहुकालो मम परिश्रमोऽद्य फलवान् जात" इति विचार्य सन्तुष्टः सन् महर्षियाज्ञवल्क्य इदं वचनमात्मानुकूलमुवाच—अरे इति सम्बोधनार्थः। अयि मैत्रेयि! तवानेन प्रियभाषणेन बत त्वयि ममानुकम्पा जायते। "खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत" इत्यमरः। कथमद्य भवतामनुकम्पा? किं पुरा भवतां मयि अनुकम्पा नासीद्यदिय-मद्यविशेषानुकम्पा प्रदर्श्यते। सत्यं पुरा साऽसीत्। अद्यतु सात्वं नोऽस्माकं। प्रिया सती मनोहारिणी स्वाचरणैः त्वं प्रियं भाषसे। "अस्मदोद्वयोश्च १।२।५९॥" एकत्वे द्वित्वे च विवक्षितेऽस्मदो बहुवचनं स्यात इति "नः इत्यत्र बहुवचनम्"। त्वमस्माकं प्रिया सती प्रियं मनोज्ञं स्वस्वामिरुचिप्रदं निजसौख्यकरञ्च वचनम् भाषसे कथयसि। यद्वा त्वं पूर्वमपि नोऽस्माकं प्रिया सती आसीत्। इदानीमपि प्रियं भाषसे इत्यादिर्भावोऽनुसंधेयः। अतः श्रद्धावते उपसन्नाय शिष्याय ब्रह्म वाच्यमिति नियमात् एहि आगच्छ अन्यत्र गच्छावः। यत्र निर्विघ्नं निरुपद्रवञ्च तुभ्यं ब्रह्मोपदिशेयम्। जनताया ब्रह्मोदेशस्यानौ-चित्यात्। यद्वा कात्यायनीं वर्जयित्वा इहागच्छ। नास्मिन्विषये हि कात्यायनी रुचिं दधातीति एहि पदेन सूच्यते अन्यत्र गमनस्यान्यप्रयोजनानवलोकात्। आस्स्व—इहोप-विश। ते तुभ्यम्। अहममृतत्वोपदेशं तवाभीष्टं व्याख्यास्यामि विशेषेण निरूपयिष्यामि। तु किन्तु व्याचक्षाणस्य व्याख्यानं कुर्वतः मे मम वचनानि। त्वं निदिध्यासस्व निश्चयेन सार्थतो ध्यातुं चिन्तयितुमिच्छ। अप्रमत्तया त्वया मम व्याख्यानश्रवणे भवितव्यम् अरण्यरोदनमिव मम व्याख्यानं माभूदित्यर्थः॥ ४॥

स होवाच—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।
न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।

न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु
कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति ।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे
दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—महर्षि याज्ञवल्क्य इस प्रकार उपदेश देने लगे—

१—(क) अरे मैत्रेयि ! निश्चय पति की कामना के लिये (भार्या को) पति प्रिय नहीं होता किन्तु निज जीवात्मा की कामना के लिये (भार्या को) पति प्रिय होता है ।

२—यद्वा पति के भौतिक शरीर की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु जीवात्मा की कामना के लिये पति का भौतिक शरीर प्रिय होता है ।

३—यद्वा ब्रह्मवादिनी स्त्री को पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं होता किन्तु परमात्मा की कामना के लिये पति प्रिय होता है ।

४—यद्वा ब्रह्मवादिनी स्त्री को पति की कामना के लिये पति प्रिय न होना चाहिये किन्तु परमात्मा की इच्छापूर्त्ति के लिये पति प्रिय होना चाहिये ।

(ख) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी पुरुष को) भार्य्या की कामना के लिये भार्य्या प्रिया नहीं होती, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्मवादी पुरुष को) भार्य्या प्रिया होती है ।

(ग) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी माता पिता को) पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये पुत्र प्रिय होता है ।

(घ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी पुरुष को) वित्त की कामना के लिये वित्त प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्मवादी को) वित्त प्रिय होता है ।

(ङ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) ब्राह्मण की कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये ब्राह्मण प्रिय होता है ।

(च) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) क्षत्रिय की कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है ।

(छ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) लोकों की कामना के लिये लोक प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये लोक प्रिय होते हैं ।

(ज) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) देवों की कामना के लिये देव प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना के लिये देव प्रिय होते हैं ।

(झ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, (ब्रह्मवादी को) भूतों की कामना के लिये भूत प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये भूत प्रिय होते हैं ।

(ञ) अरे मैत्रेयि ! निश्चय (ब्रह्मवादी को) सब की कामना के लिये सब प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना के लिये सब प्रिय होते हैं ।

(८) अरे मैत्रेयि ! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। अयि मैत्रेयि ! निश्चय आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विज्ञान से यह सब विदित होता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—१ (सः+ह+उवाच) वे याज्ञवल्क्य इस प्रकार शिक्षा देने लगे—(अरे) हे प्रिये मैत्रेयि ! (वै) इस विषय को निश्चय करके जानो कि (पत्युः+कामाय) पति की कामना के लिये स्त्री को (पतिः प्रियः न भवति) पति प्रिय नहीं होता है। (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) निज जीवात्मा की कामना के लिये स्त्री को (पतिः+प्रियः+भवति) पति प्रिय होता है अर्थात् पति प्रसन्न हो इस हेतु स्त्री पति को प्यार नहीं करती किन्तु पति के द्वारा मेरा आत्मा प्रसन्न हो इस हेतु स्त्री पति को प्यार करती है ॥

२—यद्वा (पतिः) स्थूल भौतिक शरीर का नाम यहां पति है और "आत्मा" स्थूल शरीर के अभ्यन्तर निवासी जीवात्मा का नाम आत्मा है। तब यह अर्थ होगा कि (पत्युः+कामाय) पति के भौतिक शरीर की कामना के लिये (पतिः+प्रियः+न+भवति) स्त्री को पति प्रिय नहीं होता है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) पतिशरीरस्थ जीवात्मा की कामना के लिये (पतिः+प्रियः+भवति) पति का भौतिक शरीर प्रिय होता है अर्थात् पति प्रिय इस हेतु है कि पतिशरीरस्थ जीवात्मा विद्यमान है, वह प्रसन्न होवे क्योंकि यदि केवल पतिशरीर प्रिय होता तो मरने पर भी वह प्रिय होना चाहिये परन्तु सो होता नहीं। इस हेतु पतिशरीरस्थ जीवात्मा के मनोरथ के लिये पति का भौतिक शरीर प्रिय है।

३—यद्वा आत्मशब्द का अर्थ परमात्मा होता है। तब यह अर्थ करना चाहिये कि (आत्मनः+ कामाय) परमात्मा की इच्छा के लिये (पतिः+प्रियः+भवति) पति प्यारा है केवल (पत्युः+कामाय) पति की कामना के लिये नहीं अर्थात् सब को उचित है कि परमात्मा (ब्रह्म) की इच्छा की पूर्त्ति के लिये ही सब काम करे अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिये नहीं। इसका भी भाव यह है कि यह सृष्टि ईश्वर की रची हुई है यह सर्वसिद्धान्त है। किसी अभिप्राय से ही सृष्टि रची होगी क्योंकि मन्दजन भी निष्प्रयोजन किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। इस हेतु यह सृष्टि ईश्वर के अभिप्राय के अनुकूल है इसके लिये जो नियम स्थिर किये हैं उनके ही अनुसार सब मनुष्यों को वर्त्तना चाहिये जैसे राजकृत-वाटिका में राजनियम का अनुसरण करना पड़ता है। ईश्वर रचित नियम वेद हैं। इस हेतु प्रतीत होता है वेद जैसा कहे वैसा करने से तो ईश्वर की इच्छा की पूर्त्ति होती है अन्यथा नहीं। इस हेतु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैत्रेयि ! (आत्मनस्तु+कामाय) ब्रह्मवादिनी स्त्री को परमात्मा की इच्छा की पूर्त्ति के लिये पति प्रिय होता है केवल पति की कामना के लिये नहीं।

४—अथवा (भवति) का "होना चाहिये" ऐसा अर्थ करना चाहिये तब ब्रह्मवादिनी स्त्री को (पत्युः+कामाय) पति की कामना के लिये (पतिः+प्रियः+न+भवति) स्त्री को पति प्रिय न होन चाहिये (तु) किन्तु (आत्मनः) परमात्मा की (कामाय) इच्छा-पूर्त्ति के लिये (पतिः+प्रियो+भवति पति प्रिय होना चाहिये। मैंने ये ४ (चार) पक्ष किये हैं और आगे भी ये ही चार पक्ष जानना।

(अरे) अरे मैत्रेयि ! (वै) निश्चय ही ब्रह्मवादी पुरुष को (जायायै+कामाय) स्त्री की कामना के लिये (जाया+प्रिया+न+भवति) स्त्री प्रिया नहीं होती है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (जाया+प्रिया+भवति) जाया प्रिया होती है। अन्य तीन पक्ष का अर्थ पूर्ववत् जानना ॥

(अरे) हे मैत्रेयि ! (पुत्राणाम्+कामाय) पुत्रों की कामना के लिये ब्रह्मवादी माता पुरुष को (पुत्राः+प्रियाः+न+भवन्ति) पुत्र प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (पुत्राः+प्रियाः+भवन्ति) पुत्र प्रिय होते हैं (अरे) हे मैत्रेयि ! (वै) निश्चय (वित्तस्य+कामाय) वित्त की कामना के लिये ब्रह्मवादी पुरुषों को (वित्तम्+प्रियम् न+भवति) वित्त प्रिय नहीं होता है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (वित्तम्+प्रियम्+भवति) वित्त प्रिय होता है (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (ब्रह्मणः+कामाय) ब्रह्मवेत्ता की कामना के लिये (ब्रह्म+प्रियं+न+भवति) ब्रह्मवेत्ता प्रिय नहीं होता (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की कामना के लिये (ब्रह्म+प्रियं+भवति) ब्रह्मवेत्ता प्रिय होता है (वै) निश्चय (अरे) मैत्रेयि ! (क्षत्रस्य+कामाय) वीर पुरुष की कामना के लिये ब्रह्मवादी पुरुषों को (क्षत्रम्+प्रियं+न भवति) क्षत्रिय प्रिय नहीं होते (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (क्षत्रं+प्रियं भवति) क्षत्रिय प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (लोकानाम्) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोकादिकों की कामना के लिये (लोकाः+प्रियाः+न+भवन्ति) पृथिवी आदिक लोक प्रिय नहीं होते (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (लोकाः+प्रियाः+भवन्ति) लोक प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (देवानाम्+कामाय) सूर्यादि तथा चक्षुरादि देवों की कामना के लिये (देवाः+प्रियाः+न+भवन्ति) सूर्यादि देव प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्त्ति के लिये (देवाः प्रिया+भवन्ति) देव प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (भूतानाम्+कामाय) सकल प्राणियों के निमित्त (भूतानि+प्रियाणि+न+भवन्ति) सकल प्राणी प्रिय नहीं होते हैं (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (भूतानि+प्रियाणि+भवन्ति) सकल प्राणी प्रिय होते हैं (वै) निश्चय (अरे) हे मैत्रेयि ! (सर्वस्य+कामाय) सब की कामना के लिये (सर्वम्+प्रियम्+न+भवति) सब वस्तु प्रिय नहीं होती है (तु) किन्तु (आत्मनः+कामाय) परमात्मा की इच्छापूर्ति के लिये (सर्वं प्रियं+भवति) वस्तु प्रिय होती है (वै) निश्चय करके (अरे) हे मैत्रेयि ! (आत्मा) जिस आत्मा के लिये सब ही प्रिय होता है वही जीवात्मा वा परमात्मा (द्रष्टव्यः) देखने योग्य है (श्रोतव्यः) सुनने योग्य है (मन्तव्यः) मनन करने योग्य है (निदिध्यासितव्यः) अतिशय ध्यान योग्य है अर्थात् पुनः २ मनन का विषय है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से क्या होता है सो आगे कहते हैं—(अरे+मैत्रेयि) हे मैत्रेयि ! (आत्मनः) जीवात्मा वा परमात्मा के (दर्शनेन) दर्शन से (श्रवणेन) श्रवण से (मत्या) मनन से (विज्ञानेन) पूर्ण विज्ञान से (इदम्+सर्वम्) जो आप पूछ रही हैं वह सब ही (विदितम्) ज्ञात हो जाता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—स होवाच। प्रथमममृतत्वोपलब्धये परमवैराग्यमुपदिशति याज्ञवल्क्यः सम्प्रियायै मैत्रेय्यै। अरे मैत्रेयि ! अहं तव पतिरस्मि। त्वं च मम पत्नी। कथं त्वं मह्यं स्पृहयसि। कथं त्वं मयि स्निह्यसि। कथं मम मुखं प्रेम्णा पिबसि। किन्त्वमेतस्य कारणं जानासि। त्वं न वेत्सि। अस्मिन् शरीरे कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, विज्ञानात्मा, पुरुषाख्यो जीवात्मा वर्तते। तस्यैव कामनायै। मैत्रेयि ! सर्वो जीवः प्रयतते। यद्वा आत्मनः कामनायै स्वयमात्मा प्रयतते। स एवात्मा द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः अस्मादन्यद्धेयमेतदस्यमु विषयं प्रपञ्चयति—न वा अरे इत्यादिना।

(१) अरे अयि मैत्रेयि ! इति सम्बोधनपदं सर्वत्राग्रे प्रयोक्तव्यम्। वै निश्चयेन। पत्युः कामाय इच्छायै। भार्यायाः पतिः प्रियो मनोज्ञो न भवति। तु परन्तु आत्मनो निजजीवात्मनस्तु कामाय भार्य्यायाः पतिः प्रियो भवति।

(२) यद्वा पतिशब्देन पतिभौतिकशरीरग्रहणम्। आत्मशब्देन तदन्तर्गो जीवात्मा। ततः पतिभौतिकशरीरकामाय पतिः प्रियो न भवति। किन्तु तदन्तर्गस्य जीवात्मनः कामाय पतिप्रियो भवति। यदि पतिशरीरमेव प्रियं भवेत्तर्हि मृतदेहेऽपि प्रीत्या भाव्यम्॥

(३) यद्वा आत्मशब्दो ब्रह्मपरकः। निरीहस्य ब्रह्मणः कामपूर्त्यै पति प्रियो भवति न वै पत्युः कामायेत्यर्थः अयमाशयः। ब्रह्मणः कृतिरियं विसृष्टिरित्यत्र सर्वेषामैकमत्यम्। मन्दोऽपि प्रयोजनमनुसन्धायैव कृतौ प्रवर्तते इति न्यायेन किमपि प्रयोजनं लक्ष्यीकृत्यैव ब्रह्मणा सृष्टमिदमिति निश्चीयते। अत इदं विश्वं ब्रह्माभिप्रायानुकूलमित्यत्र न सन्देहः। अत एतदर्थां ब्रह्मणा ये ये नियमा निर्धारितास्तदनुकूलैरेव सर्वैर्भाव्यम्। तन्नियमा खलु वेदाः। अतो वेदानुसरणेनैवेश्वरेच्छापूर्तिर्नान्यथेति प्रतीतिः। अतो महात्मा याज्ञवल्क्योऽनुशास्ति। हे मैत्रेयि ! ब्रह्मणः प्रीत्यर्थं ब्रह्मवादिन्या जायायाः पतिः प्रियो भवति। केवलं पत्युः कामाय पतिः प्रियो न भवति। एवमेव ब्रह्मवादिनः पुरुषस्य ब्रह्मप्रीत्यर्थमेव जाया प्रिया भवति। न तु जायायाः कामाय जाया प्रिया भवति।

(४) यद्वा भवेदित्यर्थे भवतीत्यस्य प्रयोगो वेदितव्यः। तर्हि पत्युः कामाय पतिना प्रियेण भवितव्यमित्यर्थो ग्राह्यः। इत्थं चत्वारः पन्था अग्रेपि बोद्धव्याः।

जायायै अत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्यामुपनिषदि प्रायः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी विधीयते।

न वा अरे पुत्राणां कामाय।

न वा अरे वित्तस्य कामाय। वित्तं धनम्।

न वा अरे ब्रह्मणः कामाय। ब्रह्म ब्राह्मणो ब्रह्मविद्।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय। क्षत्रं क्षत्रियो योद्धा इति यावत्।

न वा अरे लोकानां कामाय। लोकाः सामान्येन पुत्रपौत्रमित्रबन्धुपृथिव्यन्तरिक्षादयो लोका वा ज्ञातिप्रभृतयः।

न वा अरे देवानां कामाय। देवा इन्द्रियाणि सूर्यादयश्च।

न वा अरे भूतानां कामाय। उक्तेभ्योऽन्ये सर्वे जीवाः।

न वा अरे सर्वस्य कामाय। किं बहुना वर्णनेन। सर्वं वस्तु आत्मनः कामायैव प्रियं भवति। अतोऽरे मैत्रेयि !

स एवात्मा। वै विशेषतः। द्रष्टव्यो दर्शनीयः। श्रोतव्यः श्रवणीयः। मन्तव्यो मननीयः। निदिध्यासितव्यः निश्चयेन ध्यातुं कमनीयः। जीवात्मनो दर्शनादिभिः किं भविष्यतीत्यत आह—अरे ! आत्मनो वै दर्शनेन श्रवणेन मत्या मननेन विज्ञानेन इदमन्यत्सर्वं विदितं विज्ञानं भवति यत्त्वं पृच्छसि तत्सर्वमात्मविज्ञानेन विदितं भविष्यतीत्यर्थः॥ ५॥

भाष्याशय—यह प्रकरण परमात्मा परब्रह्म में भी किसी प्रकार घटित हो सकता है, परन्तु इस पक्ष में प्रत्यक्षानुभव विरुद्ध व्याख्यान होगा क्योंकि प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मनुष्य निज कामना के लिये ही स्त्री पुत्र मित्र बन्धु गौ पशु हिरण्य सम्पत्ति आदि को प्रिय मानता है न कि ईश्वर की कामना

के लिये परमात्मा प्रसन्न हो इस हेतु कोई भी पुरुष स्त्री को प्यार नहीं करता। हां जीवात्मा प्रसन्न हो इस हेतु तो अवश्य स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री प्रिय होती है परन्तु जो परमज्ञानी आत्मतत्व-दर्शी हैं वे अवश्य ईश्वर की प्रसन्नता के लिये ही सब काम करते हैं इसमें सन्देह नहीं परन्तु व्याख्यान सामान्य रीति की अपेक्षा से होता है विशेष की अपेक्षा से नहीं। सर्वसाधारण में देखा जाता है कि जीवात्मा की प्रसन्नता के लिये पति स्त्री को प्रिय मानती है। पुनः 'आत्मनः कामाय" इस पद का यदि "परमात्मा ब्रह्म की कामना के लिये" ऐसा ही अर्थ किया जाय तो प्रथम यह शङ्का होगी कि ब्र को कोई कामना ही नहीं और प्रायः "काम" शब्द का प्रयोग नीच अर्थ में अधिकतर आता है कामान्ध, कामोन्मत्त, कामी पुरुष इत्यादि। इसी कारण आजकल की संस्कृतभाषा में मन्मथ का ही "काम" रक्खा है। अतः "काम" शब्द का प्रयोग करना भी उचित नहीं था। इस हेतु परमात्मा के विषय में इस प्रकरण को लगाना उचित नहीं प्रतीत होता।

परन्तु इसी पञ्चम कण्डिका के अन्त में "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः" इत्यादि पद आए हैं जो परमात्मा के ही वर्णन हो सकते हैं। इन पदों को प्रायः सब ही आचार्य और भाष्यकर्त्ताओं ने निज २ ग्रन्थों में उद्धृत किया है और प्रायः परमात्मा में ही घटाया है और उपक्रम उपसंहार दोनों समान होना चाहिये। यदि अन्तिम भाग ईश्वरपरक है तो आद्य भाग भी ईश्वरपरक होना चाहिये, यह असमञ्जस उपस्थित होता है। इसका समाधान मेरे पक्ष में तो यों होता है कि यहां पर याज्ञवल्क्य जीवात्मस्वरूप का वर्णन करते हैं जो जीवात्मा को जानेगा वही परमात्मा को जान सकता है अर्थात् परमात्मा के जानने का साधन जीवात्मा है। यदि जीवात्मा अल्पज्ञ वा बहुज्ञ हुआ तो सर्वज्ञ परमात्मा को कैसे जान सकता है। जैसे बालक की बुद्धि ज्यों २ बढ़ती जाती है त्यों २ बड़े से बड़े ग्रन्थों को समझना आरम्भ करता है। यह सब विद्वानों का अनुभव सिद्ध है कि कठिन ग्रन्थ वा पदार्थ को समझने के लिये जिज्ञासु को कितने विचार, कितने निदिध्यासन, कितने मनन, कितने एकान्त सेवन करने पड़ते हैं। प्रायः देखा गया है कि पाठ्य पुस्तकों में कभी २ ऐसा कठिन स्थल आगया है कि बड़ी विलक्षण और तीक्ष्ण बुद्धि के विद्यार्थी को भी कई दिनों तक वह विषय समझ में नहीं आया। वारम्वार मनन करने पर वही विषय समझ में आगया। इसका कारण क्या है ? इसमें सन्देह नहीं कि मननादि द्वारा जितनी ही जीवात्मा की शक्ति बढ़ती जायगी उतने ही सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु जीवात्मा समझता जायगा। बड़े बड़े विद्वानों के जीवन में यह व्यापार देखा जाता है। सारी विद्याएं जीवात्मा के द्वारा प्रकाशित हुई हैं। कोटियों मनुष्य जिस पदार्थ को न समझ सके उसको किसी एक विद्वान् ने समझ लिया और औरों को समझाया। इस हेतु प्रथम जीवात्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य है, इस आत्मा के दर्शनादि व्यापार से सब विदित होता है। ऐसी संगति जीवात्म पक्ष में लग सकती है और परमात्मपक्ष में पूर्वोक्त दोष आते हैं।

शङ्का—यदि जीवात्मा कोई भिन्न वस्तु है और वह ज्ञानी है तो अपने आपको वह जानता ही है। जीवात्मा को जानने यह उपदेश ही निरर्थक और तुच्छ होगा क्योंकि जीवात्मा को कौन जानेगा ? जीवात्मा ही जानेगा अपने को ही आप जाने इस उपदेश का तो कोई अर्थ ही नहीं क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय दो वस्तु भिन्न २ होनी चाहियें और ज्ञाता उसी को कहेंगे जिसमें ज्ञान हो। अतः ज्ञाता जो जीवात्मा है उसके ज्ञान के लिये कोई अन्य वस्तु होनी चाहिये। जीवात्मा से भिन्न

परमात्मा वा प्रकृति है । अतः परमात्मा वा प्रकृति को जीवात्मा जाने यह उपदेश तो उचित प्रतीत होगा । जीवात्मा जीवात्मा को जाने यह उपदेश सर्वथा अर्थ रहित होगा । अतः जीवात्मपक्ष में न लगाकर परमात्मपक्ष में ही इस प्रकरण को घटाना चाहिये ।

समाधान—जीवात्मा एक आवरणशक्तिरूप वस्त्र से ढका हुआ है इस हेतु अपने स्वरूप को नहीं जानता ।

शङ्का—क्या कोई भी पुरुष अपने शरीर को वस्त्रादिक से ढकलेने पर अपने गौरादि रूप को भूल जाता है । तब आत्मा के ऊपर यदि कोई आवरण पड़ा हुआ है तो अपने को जीवात्मा क्योंकर भूलेगा । हां इतना हो सकता कि वह अपने को दूसरे के समीप प्रकाशित न कर सके ।

समाधान—जीवात्मा के ऊपर जो आवरण है सो देवदत्तवस्तुवत् संयोगसम्बन्ध से नहीं है किन्तु समवायसम्बन्ध से है । जैसे गृह का श्वेतादिरूप समवायसम्बन्ध से ।

प्रश्न—यदि अज्ञानरूप आवरण जीवात्मा में समवायसम्बन्ध से है तब त्रिकाल में भी यह रहेगा, कभी इससे छूट नहीं सकता । पुनः तब मुक्ति के लिये प्रयत्न करना ही व्यर्थ होगा ।

इस अवस्था में ज्ञानान्मुक्तिवाद जो आपका सिद्धान्त है वह भी नष्ट हो जायगा ।

समाधान—सुनो ज्ञान वा अज्ञान चेतन का गुण है । इस शरीर में चेतन आत्मा है । यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है कि जीवात्मा कभी तो विद्वान् और कभी अविद्वान् बनता है । कोल भील अभी तक बड़े अज्ञानी हैं । कई एक शतक तक "अग्नि में विधवा बालिका को भस्म करदेना चाहिये" इसी अज्ञान को कोटियों जीव यथार्थ ज्ञान मानते रहे । इस प्रकार के कोटियों उदाहरण देश में विद्यमान हैं जो सूचित करते हैं कि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से अज्ञानता भी विद्यमान है । यदि सो न माना जाय तो सब आत्मा के एक समान ही गुण होने चाहियें क्योंकि जाति से सब आत्मा समान हैं । यदि कहो कि मेघ का जल समान है परन्तु ऊषर भूमि और समुद्र में मिलकर क्षार, कहीं मीठा और कहीं अत्यन्त कटु होजाता, इसी प्रकार यह जीवात्मा जैसे २ गृह में आता है तदनुकूल होजाता है । यह कथन ठीक नहीं क्योंकि जल में तो उसके परमाणु मिल जाते हैं इस हेतु मीठा वा तिक्तक्षार आदि सब होजाता है । जैसे दूध में चीनी पड़ने से मीठा, निम्ब पड़ने से तिक्त होजाता है परन्तु एक अत्यन्त कठोर पदार्थ को जिस में अन्य पदार्थ के अंश प्रवेश न कर सकें, किसी दूध में वा निम्ब के अर्क में रख दो, कभी उसका स्वाद नहीं बदलेगा । आत्मा एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है, इस हेतु इसमें अन्य पदार्थ प्रविष्ट हो नहीं सकते हैं । इस हेतु आत्मा में नैमित्तिक गुण नहीं आसकते, अतः मानना पड़ता है कि अज्ञानता भी आत्मा का स्वभाव है । ज्यों २ ज्ञान गुण की वृद्धि होती जाती है त्यों २ अज्ञान गुण दबते जाते हैं वा दग्ध होते जाते हैं । ज्ञान के परमोदय होने से अज्ञान बिलकुल सूक्ष्म होकर विद्यमान रहता है । यदि ऐसा न माना जाय तो सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय की व्यवस्था भी ठीक नहीं हो सकती । अनादि काल से जीवात्मा के साथ ज्ञान और अज्ञान चला आता है इस अज्ञानता के कारण जीवात्मा अपने को ही नहीं जानता है कि आज से दश वर्ष में मैं कितने कार्य करलूंगा, कोई नहीं जानता । जब बालक पढ़ने लगता है, वह नहीं जानता कि कभी मैं बड़ा आचार्य भी बन जाऊंगा । यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि यह आत्मा नहीं जानता है कि मैं कितना काम कर सकता हूं । जिस जीवात्मा ने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है और इतिहासादि द्वारा विदित होगया है कि वह जीवात्मा बहुत कुछ कार्य

कर सकता है। ऐसे ज्ञानी जीवात्मा अज्ञानी जीवात्मा को जब समझाता है तो वह भी ज्ञानी बनता हुआ अपने आचार्य के तुल्य होता है। यदि एकान्त मननादि में अधिक परिश्रम करता है तब वह आचार्य से बढ़ जाता है। यह जीवात्मा का स्वभाव है। इस हेतु यह प्रकरण जीवात्मा में अच्छे प्रकार घट सकता है। इस हेतु चतुर्थ ब्राह्मण से जीवात्मा का और पञ्चम ब्राह्मण से परमात्मा का उपदेश है। यह सिद्ध होता है और ऐसे मानने में न कोई क्षति और न कोई दोष उपस्थित होता है परन्तु संन्यास के समय महर्षि याज्ञवल्क्य विदुषी मैत्रेयी से उपदेश करते हैं। इस हेतु यह संभव होता है कि यह ब्राह्मण भी परमात्मपरक हो। इस पक्ष में ब्रह्मवादी पुरुष और ब्रह्मवादिनी स्त्री का सम्बन्ध सर्वत्र जोड़ दिया जाय तो कोई भी दोष नहीं आवेगा अर्थात् ब्रह्मवादी पुरुष स्त्री की प्रसन्नता के लिये स्त्री को प्यार नहीं करते किन्तु परमात्मा के नियम के प्रतिपालन के लिए स्त्री को प्यार करते। इसी प्रकार पुत्र धन आदिक में भी योजना करनी। एवं ब्रह्मवादिनी स्त्री पति की प्रसन्नता के लिये पति को प्यार नहीं करती किन्तु परमात्मा के नियम प्रतिपालन के लिये पति को प्यार करती है, इत्यादि ऊहा करनी चाहिये अलमति विस्तरेण ॥ ५ ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्राऽऽत्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्राऽऽत्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा ॥ ६ ॥

अनुवाद—ब्रह्मत्व उसको त्याग देता है जो आत्मा के अन्यत्र ब्रह्मत्व को जानता है। क्षत्रियत्व उसको त्याग देता है जो आत्मा के अन्यत्र क्षत्रियत्व को जानता है। लोकज्ञान उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र लोकज्ञान को जानता है। देव शक्तियां उसको त्याग देती हैं जो आत्मा के अन्यत्र देवशक्तियों को जानता है। प्राणी उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र प्राणियों को जानता है। सब ही उसको त्याग देते हैं जो आत्मा के अन्यत्र प्राणियों को जानता है। यह ब्रह्मत्व, यह क्षत्रत्व, ये लोकशक्तिएं, ये देवशक्तिएं, ये प्राणीमात्र, यह सब जो कुछ दीखता है, वह सब यह आत्मा है ॥ ६ ॥

पदार्थ—जीवात्मा ही में सब शक्तियां हैं, इसका संक्षेप से व्याख्यान करते हैं। अरे मैत्रेयि! (ब्रह्म) ब्रह्मवेतृत्व शक्ति ने (तम्) उस पुरुष को (परादाद्) त्याग कर दिया है अर्थात् ब्रह्मवेतृ शक्ति उस पुरुष को त्याग देती है। (आगे भी ऐसा ही समझना पदार्थ में लकीर के अनुसार अर्थ दिखाया है) (यः) जो पुरुष (आत्मनः+अन्यत्र) आत्मा से जीवात्मा से भिन्न अन्य वस्तु में (ब्रह्म+वेद) ब्रह्मज्ञान शक्ति को जानता है, क्योंकि जीवात्मा ही में ब्रह्मज्ञातृत्वशक्ति विद्यमान है इस हेतु जीवात्मा में उस शक्ति का अन्वेषण करे। यद्वा (आत्मनः) परमात्मा से (अन्यत्र) भिन्न स्थान में (ब्रह्म) ब्रह्मवेतृत्व शक्ति को (यः) जो (वेद) जानता है। (तं+ब्रह्म+परादात्) उस अज्ञानी को ब्रह्मवेतृत्व शक्ति छोड़ देती है अर्थात् सब शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती हैं क्योंकि उसके आश्रय विना कोई पदार्थज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। आगे भी "आत्मा" शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों समझना। इसी प्रकार (क्षत्रम्) युद्ध करने की शक्ति ने (तम्) उस पुरुष को (परादाद्) त्याग दिया है (यः+अन्यत्र+आत्मनः) जो पुरुष आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में (क्षत्रम्+वेद)

युद्ध करने की शक्ति को जानता है। इसी प्रकार (लोकाः) द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, पृथिवीलोकादि अनन्त लोकों की ज्ञानशक्तियों ने (तम्) उसको (परादुः) त्याग दिया है (यः) जो आत्मा से अन्य वस्तु में लोकज्ञानशक्तियों को जानता है। इसी प्रकार (देवाः) सूर्य चन्द्र पृथिवी आदियों के ज्ञानशक्तियों ने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (यः) जो आत्मा से अन्य वस्तु में देवों को जानता है। (भूतानि) सकल प्राणियों के ज्ञान ने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (यः) जो आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में प्राणी ज्ञान को जानता है। हे मैत्रेयि ! बहुत क्या कहें (सर्वम्) सर्व ज्ञानशक्ति वा सब ही ने (तम्+परादुः) उसको त्याग दिया है (यः+अन्यत्र) जो आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में सर्वज्ञानशक्ति को जानता है। पुनः २ दृढ करने के लिये उसी वस्तु को पुनः कहते हैं। अरे मैत्रेयि ! (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म ज्ञानशक्ति (इदम्+क्षत्रम्) यह युद्ध करने की शक्ति (इमे+लोकाः) ये लोकविज्ञान शक्तियां (इमे+देवाः) ये देव (इमानि+भूतानि) ये सब प्राणी (इदम्+सर्वम्) यह सब ही (यद्) जो कुछ है सो सब ही (अयम्+आत्मा) यह आत्मा है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—जीवात्मनि सर्वा शक्तिरस्तीति संक्षिप्य व्याकरोति। अरे मैत्रेयि ! ब्रह्म ब्रह्मत्वं ब्रह्मवेत्तृत्वं तं पुरुषम्। परादात् परादध्यात् पराकुर्यात् त्यजेदित्यर्थः। कं पुरुषं ब्रह्म परादात् ? यः आत्मनो जीवात्मनः। अन्यत्र अन्यस्मिन् स्थाने नत्वात्मनि। ब्रह्म ब्रह्मवेत्तृत्वं। वेद जानाति। ईदृशमात्मशक्ति गतिविज्ञानविरहितं पुरुषं ब्रह्मत्वं त्यजति। आत्मन्येव ब्रह्मवेत्तृत्वशक्तिरस्ति नान्यत्रेत्यर्थः। यद्वा। आत्मनः परमात्मनोऽन्यत्र यो ब्रह्म वेद तं पुरुषं ब्रह्मनिराकरोति। परमात्मसकाशादेव सर्वाः शक्तयो जायन्ते। अतः परम्परया परमात्मन्येव सर्वाः शक्तयः सन्तीति वेदितव्यम्। अन्येष्वपि पर्यायेष्वयमर्थो घटयितव्यः। एवमेव तं पुरुषम् क्षत्रं वीरत्वं परादात् त्यजेत्। यः पुरुषः आत्मनोऽन्यत्र जीवात्मनोऽन्यस्मिन् क्षत्रं योद्धृत्वं वेद। तं पुरुषम् लोकाः सामान्येन द्युलोकादिविज्ञानानि परादुः त्यजेयुः। योऽन्यत्रात्मनः लोकान् द्युलोकादिविज्ञानानि वेद। तं देवाः सूर्यादि-परिज्ञानशक्तयः परादुः। योन्यत्रेत्यादि पूर्ववत्। भूतानि भूतविद्याज्ञानशक्तयः। हे मैत्रेयि ! किं बहुधोक्तेन। सर्वं सर्ववस्तुपरिज्ञानं तं पुरुषम् परादाद् परित्यजेत्। योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। दृढीकरणाय पुनस्तदेव वस्तु अभ्यस्यति। अरे मैत्रेयि ! इदं ब्रह्म। इदं क्षत्रम्। इमे लोकाः। इमे देवाः। इमानि भूतानि। इदं सर्वम् यद्वस्तु किमपि दृश्यते। स सर्वोऽयमात्मास्ति। अभेदविवक्षया इयमुक्तिः ॥ ६ ॥

आशय—यहां जीवात्मा का वर्णन होता आता है। पञ्चम कण्डिका में कहा गया है कि आत्मा के ही जानने से सब जाना जाता है। आत्मा का जानना क्या है ? हमारा आत्मा क्या २ कर सकता है। इसमें काम करने की कितनी शक्ति है। इसी आत्मा से लोगों ने क्या २ अद्भुत काम किये हैं और किस प्रकार से छिपी हुई आत्मा की शक्ति को लोगों ने बढ़ाया है। आत्मसम्बन्धी वस्तु का जानना ही आत्मज्ञान है।

१—किसी के गृह में एक लक्ष १००००० रुपये हैं परन्तु वह जानता नहीं इस हेतु वह उस रुपये से कोई व्यापार नहीं कर सकता। इसी प्रकार इस आत्मा में सब वस्तु के ज्ञान की शक्ति है, परन्तु जो नहीं जानता है वह इस आत्मा से क्या काम ले सकता है।

२—जैसे कोई चतुर बुद्धिमान् आदमी अपने पैत्रिक १००० रुपये को थोड़े दिनों में एक लक्ष, दो लक्ष बनाकर दिखलाता है परन्तु कोई विषयलम्पट उसी १०००) मुद्रा को थोड़े ही दिन में खर्च कर महादरिद्री बन जाता है। द्वार २ भिक्षा मांगता फिरता है, तद्वत् कोई चतुर ज्ञानी आत्मा के गुणरूप रुपयों को बहुत बढ़ाकर स्वयं सुखी हो अन्य को भी सुखी करता है और दूसरा उसी आत्मगुणरूप मुद्रा को दुष्ट कार्य में खर्च कर महामूर्ख बन अगाध अन्धकार में सदा के लिये गिर जाता है।

३—जैसे पृथिवीस्थ जल को खोदकर निकालते हैं तब उस जल से अपना और संसार का बहुत कार्य सिद्ध होता है। वैसे ही आत्मरूप पृथिवी के अभ्यन्तर गुणस्वरूप जल भरे हुए हैं, अवण मनन निदिध्यासन रूप खनन द्वारा उससे उन गुणों की धारा बहने लगती है, जिससे स्वयं सुखी होता है। पश्चात् अन्य को भी सुखी करता है।

४—जितनी ही गहिरी खोदाई होगी उतना ही अधिक जल निकलेगा। जितना ही मनन करेगा उतना ही गुण निकलेगा। जो मरुदेश है वहां भी जल पृथिवी से निकलता है परन्तु अधिक गंभीर खनन से। इसी प्रकार मूर्ख से मूर्ख आत्मा से गुणरूप जल निकाल सकता है यदि परिपूर्ण परिश्रम के साथ मननादि व्यापार किया जाय।

५—जिस प्रकार पेचक में सूत्र लिपटा रहता है खींचने से निकलता जाता तद्वत् इस आत्मा में सबल गुणरूप सूत्र लगे हुए हैं, खींचने वाला उसे खींचकर काम करता है।

६—परन्तु आश्चर्य यह है कि पेचक से तागा शीघ्र समाप्त हो जाता है परन्तु आत्मा से जितने गुण निकालो उतना ही और दिन २ अधिक होता जाता है।

७—आत्मा से ही व्याकरण, न्याय, सांख्यादि ज्ञान निकलता है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। जिससे सब निकलता है उसको प्रथम जानने की बड़ी आवश्यकता है।

यहां पर एक शङ्का उपस्थित होती है कि आत्मा को विज्ञान के लिये बाह्य पदार्थ की अपेक्षा है या नहीं ? इसका एक उत्तर नहीं हो सकता। किसी शङ्का का एक ही उत्तर होता है, किसी के दो उत्तर होते हैं। जैसे—जिसने जन्म लिया है वह मरेगा या नहीं ? इस शङ्का का एक ही उत्तर है कि वह अवश्य मरेगा परन्तु मनुष्य मोक्ष पावेगा या नहीं ? इसके दो उत्तर होंगे—धर्मात्मा ज्ञानी मोक्ष पावेगा, पापात्मा अज्ञानी मोक्ष को नहीं पावेगा। इसी प्रकार किसी विज्ञान के लिये आत्मा को बाह्य वस्तु की अपेक्षा होती है। यथा—इस पृथिवी के ऊपर मनुष्य वा पशु वा पक्षी वा जल जन्तु कितने और कितने प्रकार के हैं। इस ज्ञान के लिये नाना देश का भ्रमण करना होगा, नाना पशु पक्षियों को देखना होगा। अतः यहां तो बाह्यवस्तु की अपेक्षा है परन्तु सब वस्तु मुझे स्मरण रहे जो कुछ मैं देखता हूं, जो कुछ मैं सुनता हूं, जो कुछ मैं पढ़ता हूं, इत्यादि। इस ज्ञान के लिये बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है किन्तु पुनः २ एकान्त सेवनादि क्रिया से वह स्मरणादि शक्ति आत्मा में प्रकट होती है। किसी सूक्ष्म वस्तु के विचार के लिये बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है। यथा—गणित सम्बन्धी कोई कूट प्रश्न है उसके सोचने के लिये आन्तरिक पदार्थ की सहायता लेनी होगी। यद्यपि प्रथम तो बाह्य सहायता लीगई है तथापि इस समय आन्तरिक सहायता की ही अपेक्षा है। किसी एक वस्तु को तुमने पढ़ा है उसके तत्त्व के विचार के लिये आन्तरिक पदार्थ की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो ज्ञात हो जायगा कि एक आत्मा के ज्ञान से सब वस्तु का ज्ञान होता है।

ब्रह्म—आत्मा ही में सब ज्ञान है इसको संक्षेप से कहते हैं। संस्कृत भाषा में कहीं गुण शब्द के स्थान में गुणी शब्द का प्रयोग होता है कहीं इसके विपरीत। यथा श्वेतो धावति=श्वेत दौड़ता है। श्वेत घोड़ा या श्वेत गुणयुक्त जो पदार्थ वह दौड़ता यह अर्थ होता है। यहां गुणी की जगह में गुण वाचक श्वेत शब्द का प्रयोग हुआ "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" यहां द्वित्व एकत्व अर्थ में द्वि और एक शब्द का प्रयोग है इत्यादि अनेक प्रयोग संस्कृत में होते हैं, अतः यहां ब्रह्मशब्द का अर्थ ब्रह्मत्व=ब्रह्मपना, ब्रह्मज्ञानशक्ति और ब्रह्म शब्द का "ब्रह्मवेत्ता" अर्थ है। तब अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म जानने की मनुष्य में जो एक शक्ति है वह कहां है? वह यथार्थ में जीवात्मा में है। आत्मा में ही ब्रह्म जानने की शक्ति है अन्यत्र नहीं। अज्ञानी लोग किसी पुस्तक में वा किसी तीर्थादि भ्रमण करने में ब्रह्मज्ञान शक्ति मानते हैं अर्थात् अमुक पुस्तक पढ़ने से ब्रह्मज्ञान होगा अन्यथा नहीं होगा, ऐसा बहुत अज्ञानी मानते हैं परन्तु यह सत्य नहीं। यदि ऐसा होवे तो उसको पढ़कर सब कोई ब्रह्मज्ञानी बन जायँ, सो नहीं होता। अतः पुस्तक के पढ़ने से ब्रह्मज्ञान नहीं होता किन्तु वह मनन करने से ही होता है। मनन आत्मा का गुण है। यदि कहो कि तब सब आत्मा को वह गुण क्यों नहीं प्राप्त होता है तो इसमें इतना कहना होगा कि जिसने मनन किया उसमें वह ज्ञान प्राप्त हुआ जिसने नहीं किया उसमें वह ज्ञान नहीं आया। पुस्तकादि केवल सहायक है।

अन्य टीकाकार "ब्रह्म" शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति करते हैं सो बिलकुल ठीक नहीं क्योंकि उस समय मनुष्य में जाति का विभाग नहीं था और आत्मा में कोई जाति नहीं। आत्मा न तो ब्राह्मण है न क्षत्रिय, न पशु, न पक्षी, न ओषधि और न कुछ। अतः ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण जाति करना ठीक नहीं किन्तु वह ब्रह्मज्ञानी अर्थ ही ठीक है। यहां (आत्मनः) शब्द का अर्थ परमात्मा भी होता है। दोनों पक्षों में अर्थ संघटित होते हैं क्योंकि परमात्मा के आश्रय बिना अल्पसार अल्पज्ञ मनुष्य क्या कर सकता है? ॥ ६ ॥

यस्मादात्मनः सर्वा विद्याः प्रकाशन्ते स आत्मा प्रथमं ग्रहीतव्यः। कथं स ग्राहयितव्यः? किं तस्मात् प्रकाशितानां विद्यानामध्ययनेन? उत तं ग्रहीतुं कश्चिदन्य उपायोऽस्ति। विद्यानामानन्त्यादध्ययनेन तासां समाप्तिः दुःसाध्यास्त प्रथमम्। किं भोः। तर्हि विद्याध्ययनं प्रतिषिध्यते। हन्त! अष्टाचत्वारिंशद्वर्षं ब्रह्मचर्यं विधिना प्राप्तमधुना सर्वथा घातितम्।

भाषा—जिस आत्मा से सब विद्याएं प्रकाशित होती हैं वह आत्मा प्रथम ग्रहण करने योग्य है। वह कैसे ग्रहणीय हो सकता? क्या उससे प्रकाशित विद्याओं के अध्ययन से अथवा उसके ग्रहण के लिये कोई अन्य उपाय है। इस पर कहते हैं कि विद्याएं अनन्त हैं (क्योंकि भिन्न २ देशों में भिन्न २ भाषाएं और विविध काव्यादिक होने से) इस हेतु अध्ययन से उन सब विद्याओं की समाप्ति होनी एक जीवन में दुःसाध्य काम है। इस हेतु प्रथम पक्ष नहीं। इस पर एक शङ्का होती है। तब क्या आप विद्याध्ययन का प्रतिषेध करते हैं? शोक है कि तब विधि से प्राप्त अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचर्य को आपने अब सर्वथा विनाश किया॥

शृणु। आरुणेयः श्वेतकेतुर्द्वादश वर्षाणि गुरौ ब्रह्मचर्यमुवास। तथापि न किञ्चिदप्यात्मनो वेद।

सुनो—आरुणेय श्वेतकेतु द्वादशवर्ष गुरु के निकट विद्याध्ययनार्थ ब्रह्मचर्य करता रहा तथापि वह आत्मा के विषय में कुछ नहीं जान पाया।

नारदः खलु—ऋग्वेदं, यजुर्वेदं, सामवेदमाथर्वणं चतुर्थं, इतिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदं, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं, वाकोवाक्यं, एकायनं, देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पदेवजनविद्याम्। इमा अष्टादश विद्या अधिजगे तथापि नात्मविद् बभूव। स्वयमेव स कथयति—"सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविद् इति" औपमन्यवादयः षड् महाशाला महाश्रोत्रियाः सन्तोऽपि "कोनु आत्मा किं ब्रह्मेति" अत्र न निर्णयं प्रापुः। बालाकिरनूचानोऽपि ब्रह्मविद्यायामज्ञ एव बभूव। ईदृशानि सन्ति अन्यान्यपि भूरीणि निदर्शनानि। यानि केवलमध्ययनेन नात्मतत्त्वप्राप्तिरिति सूचयन्ति।

नारद ने ऋग्वेद (१), यजुर्वेद (२), सामवेद (३), अथर्ववेद (४), इतिहासपुराण (५), व्याकरण (६), पित्र्य (७), राशि (८), दैव (९), निधि (१०), वाकोवाक्य (११), एकायन (१२), देवविद्या (१३), ब्रह्मविद्या (१४), भूतविद्या (१५), क्षत्रविद्या (१६), नक्षत्रविद्या (१७), सर्पदेवजनविद्या (१८), इन अष्टादश विद्याओं को पढ़ा तथापि आत्मवित् नहीं हुए। स्वयं नारद कहते हैं कि हे भगवन् सनत्कुमार! सो मैं केवल मन्त्रवित् हूं, आत्मवित् नहीं। औपमन्यवादि छः आचार्य महाशाल और महाश्रोत्रिय होने पर भी "आत्मा" क्या है? "ब्रह्म" क्या है? इस विषय में निर्णय नहीं कर सके। बालाकि वेदवित् होने पर भी ब्रह्मज्ञान में अज्ञ ही रहे। ऐसे २ अन्यान्य बहुत उदाहरण हैं, जो सूचित करते हैं कि केवल अध्ययन से "आत्मतत्त्व की प्राप्ति" नहीं होती॥

अतएव बृहदारण्यके उक्तम् "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।"

अतएव बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञानी ब्राह्मण उसी को जानकर अपनी बुद्धि को बढ़ावें। बहुत शब्दों की चिन्ता में न रहे क्योंकि यह वचन का मलीन करने वाला है॥

योगशास्त्रे चित्तवृत्तिनिरोधेन आत्मनः सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्चोपपादितम्। अन्यच्च—सर्वस्य शास्त्रस्यैकैकः प्रथम आचार्यो बभूव। तत्तस्मात्पूर्वं तत्तच्छास्त्रं नासीदिति विज्ञायते अहो बत तर्हि के ग्रन्थास्तस्य तस्य आविष्कर्तुः सहायका अभूवन्। आत्मश्रवणमननवृत्तेर्व्यतिरेको न कोऽपि सहायको बभूव। सैव शास्त्रप्रणयने द्वितीया सहकारिणी जायेवाजायत। अतः स्वस्मादात्मन एव तास्ता विद्याः प्रकाशन्ते। किं तत्र विद्याध्ययनं सर्वथा विहाय केवलमात्मश्रवणमनननिदिध्यासनविज्ञानादिषु प्रयतितव्यमित्याशयो ध्वन्यते भवद्भिः। समादधाति—विद्याः सर्वा यथाशक्ति यथावसरमधिगन्तव्याः। मननद्वारा तु आलोचयितव्याः विस्तारयितव्याश्च। तासु त्रुटिश्चेत्पूरयितव्या। अगत्यनन्ता विद्याः सुलीना वर्तन्ते। कृतमतिस्ताः पश्यति। दृष्ट्वाचोद्भावयति प्रकटयति च सर्वत्र। इदमेव ऋषेऋषित्वम्। एवं पूर्वप्रकटिता विद्या अपि बहुष्वंशेषु सहकारिण्यो भवन्ति। इत्थं पूर्वे आचार्या उत्तरेषामाचार्याणां बाहुल्येन पथप्रदर्शका भवन्त्यत्र तु न सन्देहः। उत्तरे च तेषां ग्रन्थेभ्यो ग्रहणीय वस्तूनि आदाय, तानि स्वनूतनाविष्कारैः

प्रपूरयन्ति । क्वचिदुत्तरे सर्वथैव नवीनामेव काञ्चिद्विद्यां पश्यन्ति । शतशो नवीना आविष्कारा अभवन् । भवन्ति भविष्यन्ति च तैर्जगदुपकुर्वन्ति । अत आत्मनि गुणा अन्वेष्टव्याः । इति दिक् ॥

यहां "बहु शब्द" यह पद विविध शास्त्रसूचक है । योगशास्त्र में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध से आत्मा सर्व पदार्थ का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ अर्थात् बहुज्ञ हो सकता है । इस बात को अच्छी तरह से हम लोग जानते हैं कि सब शास्त्र के एक २ आचार्य आविष्कर्ता हुए हैं । उस २ आविष्कर्ता के पूर्व वह २ शास्त्र नहीं था ऐसा प्रतीत होता है, तब बड़ा आश्चर्य है कि उस समय कौन २ ग्रन्थ उस २ आविष्कर्ता के सहायक हुए । हम कह सकते हैं कि आत्मा के श्रवण मननरूप वृत्ति के अतिरिक्त कोई भी सहायक नहीं हुआ । वही वृत्ति शास्त्रों के बनाने में द्वितीया सहकारिणी जाया के समान हुई । पुनः शङ्का होती है कि क्या तब विद्याध्ययन सर्वथा छोड़ केवल आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और विज्ञान आदि में प्रयत्न करना चाहिये ऐसा आशय आपका है । इसका उत्तर देते हैं—विद्याएं सब ही पढ़नी चाहियें परन्तु मननादि व्यापार द्वारा उनकी समालोचना करनी चाहिये और पठित पाठ का विस्तार करना चाहिये । मति के अनुसार नवीन विद्या का आविष्कार करना चाहिये । जगत् में अनन्त विद्याएं छिपी हुई हैं । बुद्धिमान् उनको देखते हैं । देख करके उनको ऊपर लाते हैं और सर्वत्र प्रकाशित करते हैं । यही ऋषि का ऋषित्व है । इस प्रकार पूर्व प्रकटित विद्याएं भी बहुत अंशों में सहायक होती हैं । इस प्रकार पूर्व आचार्य उत्तर आचार्यों के बहुत प्रकार से पथप्रदर्शक होते हैं, इसमें सन्देह नहीं और उत्तर आचार्य उनके ग्रन्थों से ग्रहणीय वस्तुओं को लेकर उनको निज नवीन आविष्कारों से पूर्ण करते हैं । कहीं २ यह भी देखा गया है कि उत्तर आचार्य किसी नवीन ही विद्या को देखते हैं । सैकड़ों नवीन आविष्कार हो गये होते हैं और होते रहेंगे । उससे जगत् का उपकार करते हैं । इस हेतु आत्मा में जो गुण हैं उनका अन्वेषण करना चाहिये । इति संक्षेपतः ॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ७ ॥

अनुवाद—अरे मैत्रेयि ! जैसे हन्यमान दुन्दुभि के बाह्य (बाहर निकले हुए) शब्दों को ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं हो सकता परन्तु दुन्दुभि के ग्रहण करने से अथवा दुन्दुभि के बजाने वाले के ग्रहण करने से शब्द का ग्रहण हो जाता है । वैसे ही वह आत्मा गृहीत होता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—अरे मैत्रेयि ! (हन्यमानस्य) बजाये जाते हुए (दुन्दुभेः) दुन्दुभि नाम के बाजा से (बाह्यान्) बाहर निकलते हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) पकड़ने के लिये (यथा) जैसे (न+शक्नुयात्) कोई समर्थ नहीं होता अर्थात् जब दुन्दुभि बाजे को कोई पुरुष बजा रहा है तब उससे जो शब्द निकलते जाते हैं, उन शब्दों को कोई चाहे कि पकड़ रक्खें तो उनका पकड़ना जैसे असम्भव है । हे मैत्रेयि ! (सः) वैसे ही आत्मा को कोई बाहर से पकड़ना चाहे तो वैसा ही असम्भव है तब फिर आत्मा कैसे पकड़ा जा सकता है । इसको दृष्टान्त से कहते हैं—(तु) परन्तु (दुन्दुभेः) दुन्दुभि के (ग्रहणेन) पकड़ने से (शब्दः+ग्रहीतः) शब्द पकड़ा जाता है (वा) अथवा (दुन्दुभ्या-

घातस्य) दुन्दुभि के बजाने वाले के पकड़ने से वह शब्द पकड़ा जाता है । तद्वत् अरे मैत्रेयि ! आत्मा के ही साक्षात् ग्रहण करने से आत्मा गृहीत होता है अथवा आत्मा के संचालक जो इन्द्रिय समूह हैं वा प्राण हैं उन के ग्रहण करने से आत्मा गृहीत होता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—स यथेति । अरे मैत्रेयि ! यथा कोऽपि पुरुषः हन्यमानस्य आध्मायमानस्य दुन्दुभेः सकाशात् । बाह्यान् बहिर्निर्गच्छतः बहिर्निर्गतान्वा शब्दान् । ग्रहणाय ग्रहीतुम् । न शक्नुयात्र शक्तो भवति । तथा स आत्मा बाह्यतो ग्रहीतुम् । न शक्यते । तर्हि कथं स ग्रहीतुं शक्यत ? इत्यतो दृष्टान्तेनाह—दुन्दुभेस्तु हस्तादिना ग्रहणेन यथा स शब्दो ग्रहीतो भवति । वा अथवा दुन्दुभ्याघातस्य दुन्दुभेराघातः आघात आघातकः । आघात्यतेऽनेन आघातो वा तस्य ग्रहणेन शब्दस्तत्रैव गृहीतो भवति । तथैव आत्मनो ग्रहणेन आत्मनो गुणा गृहीता भवन्ति । अथवा आत्मन आघातकस्य इन्द्रियसमूहस्य प्राणस्य वा ग्रहणेन स आत्मा गृहीतो भवति ॥ ७ ॥

भाष्याशय—यहां शङ्का होती है कि आत्मा का ग्रहण कैसे हो सकता ? क्योंकि इन्द्रियों से वह दृश्य नहीं होता । यदि कहो कि आत्मा से निकली हुई विविध विद्याओं के अध्ययन से आत्मा का ग्रहण होगा तो कहते हैं कि सो नहीं हो सकता । जैसे दुन्दुभि से निकलते हुए वा निकले हुए शब्दों का ग्रहण करना कठिन है । तद्वत् आत्मप्रकाशित विद्याओं से आत्मग्रहण कठिन है परन्तु जैसे उसी दुन्दुभि को पकड़ लेने से अथवा दुन्दुभि के बजानेवाले को पकड़लेने से वह शब्द वहां ही पकड़ा जाता है । तद्वत् इस आत्मा को पकड़ना चाहिये । अथवा आत्मा का पकड़ना यदि कठिन प्रतीत हो तो आत्मा के चञ्चल करने वाले जो इन्द्रिय हैं उनको पकड़ो, क्योंकि इनको तो पकड़ सकते हो । जब इन्द्रियसमूह को अपने वश में ले आओगे तो आत्मा स्वतः स्थिर हो जायगा और इसी शरीर में इस को पकड़ लोगे । ऐसे ही यहां अनेक दृष्टान्त आगे कहेंगे उनका भी ऐसा ही आशय है ।

शब्दान्—इसी एक कण्डिका में बहुवचन और एक वचन "शब्द" का प्रयोग इसलिये है कि जब शब्द बाहर निकलता है तो फैल कर बहुत हो जाता है परन्तु वस्तुगत शब्द एक ही रहता है ॥ ७ ॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—जैसे ध्मायमान (बजाये जाते हुए) शङ्ख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने के लिये कोई समर्थ नहीं होता परन्तु शङ्ख के ग्रहण से अथवा शङ्खध्म (शङ्ख के बजाने वाले) के ग्रहण से वह शब्द गृहीत होता है वैसे वह आत्मा गृहीत होता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—अन्य दृष्टान्त कहते हैं (सः) वह आत्मा वक्ष्यमाण दृष्टान्त के समान गृहीत हो सकता । (यथा) जैसे (ध्मायमानस्य) बजाये जाते हुए (शङ्खस्य) शङ्ख के (बाह्यान्) बाहर निकले हुए (शब्दान्) शब्दों को (ग्रहणाय) ग्रहण के लिये (न+शक्नुयात्) कोई भी समर्थ नहीं होता (तु) परन्तु (शङ्खस्य) शङ्ख के (ग्रहणेन) ग्रहण से (वा) अथवा (शङ्खध्मस्य) शङ्ख के बजाने वाले के ग्रहण से (स+शब्दः) वह शब्द (गृहीतः) गृहीत होता है । वैसे ही इस आत्मा से निकले विविध शास्त्रों के द्वारा इसका ग्रहण असम्भव है किन्तु स्वयं इसी के ग्रहण वा इसके चञ्चल करने वाले इन्द्रियों के ग्रहण से उस आत्मा का भी ग्रहण हो सकता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—स इति। दृष्टान्तरं व्याकरोति। ध्मायमानस्य आहन्यमानस्य शङ्खस्य सकाशात् निर्गच्छतो निर्गतांश्च बाह्यान् शब्दान् ग्रहणाय ग्रहीतुं न कोपि पुरुषः शक्नुयात्। तथैव स आत्मापि बाह्यतो ग्रहणाय न शक्यते। अपि तु शङ्खस्य ग्रहणेन स शब्दो गृहीतो भवति। वा अथवा शङ्खध्मस्य शङ्खं धमति यः स शङ्खध्मः तस्य ग्रहणेन स शब्दो गृहीतो भवति। तथैव साक्षादात्मनो ग्रहणेन वा इन्द्रियाणां वृत्तीनां ग्रहणेन वा स आत्मा गृहीतो भवतीत्यर्थः॥ ८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

अनुवाद—जैसे वाद्यमान वीणा के बाह्य शब्दों के ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता परन्तु वीणा के ग्रहण से अथवा वीणावाद के ग्रहण से वह शब्द गृहीत होता है। वैसे ही यह आत्मा भी अन्तर से गृहीत होता है। बाहर से नहीं॥ ९॥

पदार्थ—(सः) वह आत्मा वक्ष्यमाण दृष्टान्त के अनुसार गृहीत होता है (यथा) जैसे (वाद्यमानायै) बजाई जाती हुई (वीणायै) वीणा के (बाह्यान्) बाहर निकलते हुए (शब्दान्) शब्दों को (न+ग्रहणाय+शक्नुयात्) ग्रहण करने को कोई समर्थ नहीं हो सकता (तु) परन्तु (वीणायै) वीणा के (ग्रहणेन) ग्रहण से (वा) अथवा (वीणावादस्य) वीणा के बजानेवाले के ग्रहण से (सः+शब्दः+गृहीतः) वह शब्द गृहीत होता है। तद्वत् आत्मा भी गृहीत होता है सो जानना॥ ९॥

भाष्यम्—स यथेति। अन्यं दृष्टान्तं दर्शयति। वीणायै इत्यत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। वाद्यमानायाः वीणायाः वीणावाद्यस्य। वीणां वादयति यः स वीणावादः। उक्तमन्यत्॥ ९॥

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ १०॥

अनुवाद—वह आत्मा ऐसा है। जैसे परितः स्थापित आर्द्र समिधाओं की अग्नि से पृथक् २ धूमावली चारों तरफ निकलती है। वैसे ही निश्चय, अरे मैत्रेयि! इस महान् भूतात्मा (जीवात्मा) का निःश्वसित यह सब है। जो यह ऋचाओं का ज्ञान, यजुर्गण मन्त्रों का ज्ञान, साम गान का ज्ञान, अथर्व मन्त्रों का प्रधान माधुर्य, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान हैं। हे मैत्रेयि! निश्चय इसी जीवात्मा के ये सब निःश्वास हैं॥ १०॥

पदार्थ—(सः) वह जीवात्मा ईदृग् गुणवाला है, दृष्टान्त के साथ इसका वर्णन करते हैं—(यथा) जैसे (अभ्याहितात्) लकड़ियों पर चारों तरफ से स्थापित (आर्द्रैधाग्नेः) आर्द्र=गीली। एध=समिधा, गीली समिधाओं से जलती हुई अग्नि से (पृथक्) पृथक् २ (धूमाः) धूमावली

(विनिश्चरन्ति) चारों तरफ फैलती है (एवं) इसी दृष्टान्त के अनुसार (अरे) अरे मैत्रेयि ! (वै) निश्चय करके तू जान कि (महतः) गुणों से महान् और स्वरूप से अतिसूक्ष्म (अस्य) इस (भूतस्य) जीवात्मा के (एतत्) यह वक्ष्यमाण सब विज्ञानशास्त्र (निःश्वसितम्) श्वास प्रश्वासवत् है अर्थात् प्रयत्न के विना ही आत्मा से निकले हुए हैं । वह विज्ञान कौन है सो कहते हैं—(यद्) जो यह (ऋग्वेदः) ऋचाओं का ज्ञान है (यजुर्वेदः) यजुर्वेद सम्बन्धी ज्ञान है (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद सम्बन्धी (आङ्गिरसः) अङ्गी=प्रधान, मुख्य । रस=माधुर्य अर्थात् अथर्ववेद सम्बन्धी जो प्रधान रस है, इसी प्रकार (इतिहासः) इतिहास (पुराणम्) पुराण (विद्याः) पशुविद्या आदि (उपनिषदः) अध्यात्मविद्या (श्लोकाः) श्लोकबद्ध काव्य (सूत्राणि) अति संक्षिप्त लाट्यायनादिकृत सूत्र (अनुव्याख्यानानि) अनुव्याख्यान और (व्याख्यानानि) व्याख्यान इस प्रकार के जितने शास्त्र नाम से प्रसिद्ध विज्ञान हैं (एतानि+सर्वाणि) ये सब (अस्यैव) इसी जीवात्मा का (निःश्वसितानि) निःश्वास हैं अर्थात् प्रयत्न विना ही निकले हुए हैं । ऐसा यह जीवात्मा है ॥ १० ॥

भाष्यम्—आत्मनः प्रकाशिता विद्याः संक्षेपेण महत्त्वप्रदर्शनाय गणयति । स जीवात्म ईदृग्गुणोऽस्ति । यस्य निःश्वसितानि सर्वाणि शास्त्रात्मकानि विज्ञानानि सन्ति । तथाहि अभ्याहितात् काष्ठादिषु अभितः परितः सर्वतः स्थापितात् प्रज्वलितात् । आर्द्रैधाग्नेः । एधः इन्धनम् । "काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः" इत्यमरः । आर्द्राः सजला एधा इन्धनानि इति आर्द्रैधाः । एधशब्दोऽकारान्तः पुल्लिङ्गः । यदा सान्तस्तदा "आर्द्रैधोऽग्निः" इति पाठः । तदा आर्द्राणि एधांसि इन्धनानि आर्द्रैधांसि । आर्द्रैधोभिः समिद्धोऽग्निः आर्द्रैधोऽग्निः । तस्मात् । तस्मादग्नेः सकाशात् । यथा धूमाः पृथक् विनिश्चरन्ति निःसरन्ति निर्गच्छन्ति । अरे मैत्रेयि ! एवम् अस्य दृष्टान्तेन तुल्यमेव । अस्य प्रसिद्धत्वेन निर्दिष्टस्य महतो भूतस्य गुणैर्महतो जीवात्मनः सकाशात् । एतद्वक्ष्यमाणं वस्तु निःश्वसितम् । निःश्वासप्रश्वासवत् सहजतया विनिर्गतम् । किन्तत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः । एतेषां व्याख्यानमनुपदमेव द्रष्टव्यम् । इतिहासो वसिष्ठादीनां जन्मादिवृत्तम् । पुराणानां बहूनामेवेतिहासानामेकत्रनिवेशनं तज्जातीयोपयोगिसर्ववस्तुसंग्रहश्च यत्र विद्यते तत्पुराणम् । विद्याः विविधानि ज्ञानानि मनुष्यविद्या, पशुविद्या, जलचरविद्या, सुवर्णादिधातुविद्या, भूगर्भविद्या, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, नक्षत्रविद्या, धनुर्विद्या, संगीतविद्या, इत्येवं विधाः सहस्रशो विद्या ऋषिभिः प्रकाशिताः । उपनिषदः केवलमध्यात्मविद्याः । श्लोकाः—मनोहरैश्छन्दोभिर्मन्वादीनां सम्राजां महात्मनाञ्च यशोवर्णनपरकाः पद्यात्मका ग्रन्थाः । सम्प्रति यथा वाल्मीकिरचितं रामायणं महाकाव्यं विद्यते । तथा रघुवंशादि । सूत्राणि अतिसूक्ष्मरूपेण वर्णितानि बालकाभ्यासार्थानि शाण्डिल्यलाट्यायनादीनि । सम्प्रति यथा पाणिनीयसूत्रादीनि । अनुव्याख्यानानि ग्रन्थस्याशयद्योतकानि संक्षिप्तानि वृत्तिस्वरूपाणि । व्याख्यानानि विस्तरेण ग्रन्थार्थप्रकाशकानि महाभाष्यस्वरूपाणि । यथा सम्प्रति पाणिनीय व्याकरणमुद्दिश्य पतञ्जलिकृतं महाभाष्यम् । वेदान्तसूत्राणां शाङ्करभाष्यमित्येवं विधानि ।

एतानि सर्वाणि विज्ञानानि अस्यैव जीवात्मनो निःश्वसितानि । अप्रयत्नोपपादितानि । ईदृशमात्मानं प्रथमं विजानीहि मैत्रेयि ।

अत्र वेदशब्दो ज्ञानार्थकः विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः । ऋचां वेदो ज्ञानम् । यजुर्वेदो यजुषां ज्ञानम् । सामवेदः साम्नां ज्ञानम् । अथर्वाङ्गिरसः अथर्वणां मन्त्राणाम् । अङ्गिरसः अङ्गीचासौ रसोङ्गिरसः । अङ्गी प्रधानः । रसो माधुर्यम् । अथर्वा न विद्यते थर्वा विनाशो यस्य सः अथर्वाऽविनश्वरो जगदीशः । तत्प्रतिपादको वेदोपि अथर्वा । यथा परमात्मनि वेदे च ब्रह्मशब्दः । अथर्वणां मन्त्राणां प्रधानमाधुर्यमिति अथर्वाङ्गिरसः । ब्रह्मणा प्रदत्तानां तेषां वेदानां ज्ञानं जीवात्मनः सकाशादेव निःसृतमिति प्रशंसा जीवात्मनाम् । तथाहि— महतो विदुषोऽभिप्रायं विविधशास्त्रसम्बन्धनिबन्धगूढीकृतं यदि कोपि लोकोत्तरः शिशु-रनायासेन प्रकटयितुं समर्थो भवेत्तर्हि सोऽप्यतिशयितः प्रशंसनीयः । यदि पाणिनेरष्टकस्य रेखागणितस्य वा सर्वार्थं धारयेत्कोपि शिशुस्तर्हि स कथमिव न जगतां वन्द्यो भवेत् । तथैव सर्वज्ञस्य परमात्मनो महद्विज्ञानं निखिलार्थप्रतिपादकं वेदनामधेयं यदि सम्यग् धारयितुं बोद्धुञ्च शक्नुयाज्जीवात्मा तर्हि सोपि श्लाघ्यत एव । अहो ईदृशस्य ऋगादिलक्षणस्य वेदस्यापि अनायासप्रचारको जीवात्मेति प्रशंसार्थमिदं वचनम् । ऋचादयो जीवात्मना प्रकाशिता इत्यभिप्रायेण एषोक्तिः । ऋचादीनां चतुर्णामीश्वरोक्तत्वमिति सर्वैरेकमत्या सिद्धान्तितत्वात् । ननु आत्मशब्देन परमात्मापि गृह्यते । तद् ग्रहणेन सर्वमसमञ्जसं परिहृतं भवतीति कथमस्थाने बहुलप्रयासः । न । न परिहृतं भवति । तथाहि—नहीतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि परमात्मना प्रकाशितानि । इमानि तु काले काले ऋषिभिराचार्यैर्कविभिश्च प्रणीयन्ते । ननु ऋगादि-ष्वेवाऽलङ्कारेण सूर्यादिदेवविवाहादिविवरणरूप इतिहासः । सृष्टिविसृष्ट्युत्पत्तिवर्णनरूपं पुराणम् । ब्रह्मविद्या, युद्धविद्या, कृषिविद्या, मधुविद्या इत्यादयो विविधा विद्याः । ईशावास्यादय उपनिषदः । ब्रह्मयशः प्रतिपादकमन्त्ररूपः श्लोकः । परस्परसर्ववेदसम्बन्धा-त्मकानि सूत्राणि । कचित्संक्षेपेणार्थं कथयित्वा पुनस्तमेवार्थं विस्तरेण व्याचक्षते मन्त्राः । तान्येव संक्षिप्तानि अनुव्याख्यानानि विस्तृतानि च व्याख्यानानि । इत्येवमाशयेन कथं न भवितव्यम् । समाधत्ते—इह हि कतिपय श्लोकसूत्रादयः संज्ञा अर्वाचीनैराचार्यैः परिभाषिताः । तथा च—प्रकरणमपि जीवात्मानमेव लक्षयति ॥ १० ॥

स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रूपाणाञ्चक्षुरे-कायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एकायनमेवं सर्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—यह आत्मा ऐसा है । जैसे सब जलों का समुद्र एकायन है (मुख्य आश्रय) एवम् सब स्पर्शों का त्वचा एकायन है । एवम् सब रसों का जिह्वा एकायन है । एवम् सब गन्धों का नासिका एकायन है । एवम् सब रूपों का चक्षु एकायन है । एवम् सब शब्दों का श्रोत्र एकायन है ।

एवम् सब सङ्कल्पों का मन एकायन है। एवम् सब विद्या का हृदय एकायन है। एवम् सब कर्म्मों का हाथ एकायन है। एवम् सब आनन्दों का उपस्थ एकायन है। एवम् सब विसर्गों का पायु एकायन है। एवम् सब मार्गों का चरण एकायन है। एवम् सब वेदों का वाणी एकायन है। जिस प्रकार के ये सब दृष्टान्त हैं वैसा ही सब ज्ञान का आत्मा एकायन है ॥ ११ ॥

पदार्थ—सब विद्याओं का आधार एक जीवात्मा ही है इसको अनेक दृष्टान्त से यहां कहते हैं। हे मैत्रेयि ! (सः) इस जीवात्मा को इस प्रकार जानो (यथा) जैसे (सर्वासाम्) सब (अपाम्) नदी, सरोवर, पल्वल, वापी, कूप, तड़ाग आदि जलाशयस्थ जलों का (समुद्रः) समुद्र (एकायनम्) प्रधान आश्रय है। "एक अयन=एक प्रधान मुख्य। अयन=आश्रय रहने की जगह। जैसे इस पृथिवी पर सकल जलों का एक आश्रय समुद्र है। समुद्र से वाष्परूप हो मेघ बन इतस्ततः पानी बरसता है। पुनः वे सब जल नदी द्वारा समुद्र में गिरते हैं। तद्वत् सकल शास्त्र वा विज्ञान का एक आश्रय यह जीवात्मा है। इसी जीवात्मा से सारी विद्याएं निकली हैं और पुनः उन सब विद्याओं को यही आत्मा ग्रहण करता है। आगे भी ऐसा ही आशय समझना (एवम्) इसी दृष्टान्त के समान इस जीवात्मा को भी जानो। हे मैत्रेयि ! (सर्वेषाम्+स्पर्शानाम्) सब कोमल, कठोर, रूक्ष, चिक्कण आदि स्पर्शों का (त्वक्+एकायनम्) त्वचा ही एक मुख्य आश्रय है। त्वगिन्द्रिय से ही स्पर्श का बोध होता है। एवम् ऐसा ही इस आत्मा को जानो और (सर्वेषाम्+रसानाम्) सब कषाय, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, अम्लादिक रसों का (जिह्वा+एकायनम्) जिह्वा=जीभ एक आश्रय है (एवम्) वैसा ही (सर्वेषाम्+गन्धानाम्) सब सुगन्ध और दुर्गन्धों का (नासिके) दोनों नासिकाएं (एकायनम्) मुख्याश्रय हैं (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+रूपाणाम्) श्वेत, पीत, हरित, लोहितादिक रूपों का (चक्षुः+एकायनम्) नयनेन्द्रिय एकायन है (एवम्) ऐसे ही (सर्वेषाम्+शब्दानाम्) तार, गम्भीर, मन्द्र, शब्दात्मक, ध्वन्यात्मक आदि सब शब्दों का (श्रोत्रम्+एकायनम्) श्रोत्र एक अयन है (एवम्) एवम् (सर्वेषाम्+सङ्कल्पानाम्) सब सङ्कल्प विकल्पों का (मनः+एकायनम्) मन प्रधानाश्रय है (एवम्) ऐसा ही (सर्वासाम्+विद्यानाम्) सम्पूर्ण शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष् आदि विद्याओं का (हृदयम्+एकायनम्) हृदय एकायन है (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+कर्म्मणाम्) सब उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) अवक्षेपण (नीचे फेंकना) संप्रसारण (फैलाना) संकोचन (समेटना) आदि जितने कर्म्म हैं उनका (हस्तौ+एकायनम्) हस्त ही एकायन है (सर्वेषाम्+आनन्दानाम्) सब आनन्दों का (उपस्थ+एकायनम्) उपस्थेन्द्रिय एकायन है (सर्वेषाम्+विसर्गाणाम्) उदरस्थ मल त्याग का (पायुः+एकायनम्) मलत्यागेन्द्रिय एकायन है (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+अध्वनाम्) सब मार्गों का (पादौ+एकायनम्) दोनों पैर एकाश्रय हैं क्योंकि पैरों से ही पथ काटे जाते हैं (एवम्) ऐसा ही (सर्वेषाम्+वेदानाम्) सकल विज्ञान शास्त्रों का वा ऋगादि वेदों का (वाग्+एकायनम्) वाणी एकायन है। जैसे ये दृष्टान्त वैसे ही आत्मा के विषय में भी जानो, यही आत्मा सब शास्त्रों का मुख्याश्रय है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सर्वासां विद्यानां जीवात्मैवाऽऽधारोऽस्तीति बहुभिर्दृष्टान्तैर्व्याचष्टे यथा येन प्रकारेण सर्वासां नदीसरःपल्वलवापीकूपतडागादिगतानाम् अपां जलानाम् समुद्रः जलनिधिः एकायनम्। एकं प्रधानं मुख्यम् "एके मुख्यान्यकेवलाः" इत्यमरः। अयनं स्थानमाश्रयः यन्ति गच्छन्ति यत्रेत्ययनम्। यथा सर्वेषां जलानामेकाश्रयः समुद्रोऽस्ति।

एवमेव अयं दृष्टान्तो यथा वर्त्तते तथैवायमात्मा सर्वेषां ज्ञानानामाधारोऽस्ति। पुनः सर्वेषां कोमलकठोररूक्षचिक्कणादीनाम् स्पर्शानाम् यथा येन प्रकारेण त्वग् त्वगिन्द्रियम् एकायनम् मुख्याश्रयः। सर्वे स्पर्शा त्वगिन्द्रियेण गृह्यन्ते। एवम् सर्वेषां कषायमधुर-लवणकटुतिक्ताम्लादीनाम् रसानाम् जिह्वा रसना एकायनम्। एवं सर्वेषां गन्धानां सुगन्ध-दुर्गंधादीनां। यथा—नासिके द्वे नासिके। इन्द्रियम् एकायनम्। एवम् सर्वेषां रूपाणाम् श्वेतपीतहरितलोहितादीनाम्। यथा—चक्षुरिन्द्रियमेकायनम्। एवं सर्वेषां शब्दानाम् श्रोत्रमेकायनम्। एवं सर्वेषां सङ्कल्पादीनाम् मन एकायनम्। एवम् सर्वासाम् व्याकरणन्यायादीनाम् विद्यानाम् हृदयं एकायनम्। ह्रियन्ते स्थाप्यन्ते पदार्था अस्मिन्निति-हृदयम् एकायनम्। सर्वेषां कर्मणां हस्तौ एकायनम्। एवम् सर्वेषामानन्दानाम् उपस्थः एकायनम्। सर्वेषां विसर्गाणां मलत्यागानाम् पायुः एकायनम्। एवम् सर्वेषामध्वनाम् पादौ एकायनम्। सर्वेषां वेदानां वेदशब्दानाम् समुच्चारणे वाग् वाणी एकायनम्। एवम् यथा इमे दृष्टान्ताः सन्ति। तथैव अयमात्मा सर्वेषां ज्ञानानामेकायनं वर्त्तते ॥ ११ ॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नहास्योद्ग्रहणायेवस्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १२ ॥

अनुवाद—इन तीन कण्डिकाओं का भाव भूमिका में विस्तार से वर्णित है। अतः यहां संक्षेप से लिखता हूं ॥ १२ ॥

पदार्थ—(स+यथा) यहां पुनः दृष्टान्त देते हैं—जैसे (उदके+प्रास्तः+सैन्धवखिल्यः) जल में फेंका हुआ नमक का ढेला (उदकम्+एव+अनु+विलीयेत) जल में ही सर्वथा विलीन अर्थात् मिल जाता है (अस्य+न+ह+उद्ग्रहणाय+इव+स्यात्) मानो पूर्ववत् अब उसके ग्रहण के लिये उपाय नहीं हो सकता (यतः+यतः+तु+आददीत) जल को जहां २ से लोगे वहां २ (लवणम्+एव) लवण ही प्रतीत होगा (अरे) अरे मैत्रेयि ! (एवम्+वै) इसी दृष्टान्त के समान (इदम्+महद्भूतम्) यह महान् भूत अर्थात् महान् आत्मा (अनन्तम्+अपारम्) अनन्त और अपार है (विज्ञानघनः+एवम्) यह विज्ञानमय ही है। अरे मैत्रेयि ! (एतेभ्यः+भूतेभ्यः+समुत्थाय) यह इन महाभूतों से ही उठकर (तानि+एव+अनु+विनश्यति) इसी में विनष्ट हो जाता है (न+प्रेत्य+संज्ञा+अस्ति) मरकर इसका ज्ञान वा नाम नहीं रहता (इति+अरे+ब्रवीमि+इति+होवाच+याज्ञवल्क्यः) अरे मैत्रेयि ! ऐसा मैं कहता हूं, इस प्रकार याज्ञवल्क्य बोले ॥ १२ ॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्तीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥ १३ ॥

अनुवाद—वह मैत्रेयी बोली कि "मरकर पृथक् संज्ञा नहीं है" यहां ही श्रीमान् ने मुझको मोहित किया है। तब वह याज्ञवल्क्य बोले कि अरे मैत्रेयि ! मैं मोहवश नहीं कहता हूं—निश्चय अरे ! विज्ञान के लिये यही पर्याप्त है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच+मैत्रेयी) वह मैत्रेयी बोली (अत्रैव+मा+भगवान्+अमूमुहत्) श्रीमान् ने यहां ही मुझे मोहित किया है। कहां पर मोहित किया सो कहते हैं—(न+प्रेत्य+संज्ञा+अस्ति) मर करके कोई पृथक् संज्ञा नहीं रहती, यह जो आपने कहा है—यहां ही मुझे बड़ा मोह हो रहा है। यदि मरण के पश्चात् जीव का अस्तित्व न रहेगा तो इससे यह फलित होगा कि इस संघात शरीर से भिन्न जीव नाम का कोई वस्तु नहीं। अतः हे स्वामिन्! आपके वचन से मैं कम्पायमान हो रही हूं। (स+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) तब वह याज्ञवल्क्य बोले—(न+वै+अरे+अहम्+मोहम्+ब्रवीमि) अरे मैत्रेयि! मैं मोहवश यह नहीं कहता हूं किन्तु निश्चय ऐसी ही बात है। (अलम्+वै+अरे+इदम्+विज्ञानाय) अरे मैत्रेयि! निश्चय विज्ञान के लिये यही पर्य्याप्त अर्थात् पूर्ण है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—सैवं प्रबोधिता मैत्रेयी होवाचात्रैवैकस्मिन्नेव वस्तुनि ब्रह्मात्मनि पूर्वं विज्ञानघन एवेति प्रतिज्ञाय पुनर्न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति विरुद्धं वदन्भगवान्पूजावान्मा मामभूमुहन्मोहितवानित्युक्तः सः याज्ञवल्क्यो ह प्रतिवचनमुवाच—अरे मैत्रेय्यहं मोहं मोहनवाक्यं नैव ब्रवीमि न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति तु विशेषज्ञानाभावस्यैवोक्तत्वादत अरे मैत्रेयीदं शृणु यन्महद्भूतमनन्तमपारं प्रज्ञानघनस्वरूपं यथाव्याख्यातमिदमेव विज्ञानाय विज्ञातुमलं युक्तं स्वप्रकाशत्वादिति याज्ञवल्क्य उक्तवानित्यर्थः ॥ १३ ॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥ १४ ॥

पदार्थ—(यत्र+हि+द्वैतम्+इव+भवति) अरे मैत्रेयि! इसको निश्चय जानो कि जहां द्वैत के समान भाव होता है (तत्) वहां (इतरः+इतरम्+पश्यति) इतर इतर को देखता है अर्थात् अपने से भिन्न अन्य को देखता है (तत्+इतरः+इतरम्+जिघ्रति) वहां इतर इतर को सूंघता है (तत्+इतरः+इतरम्+शृणोति) वहां इतर इतर को सुनता है (तत्+इतरः+इतरम्+अभिवदति) वहां इतर इतर को कहता है (तत्+इतरः+इतरम्+मनुते) वहां इतर इतर को मानता है (तत्+इतरः+इतरम्+विजानाति) वहां इतर इतर को जानता है परन्तु (यत्र+वै+अस्य+सर्वम्+आत्मा+एव+अभूत) निश्चय जहां इस ब्रह्मवित् पुरुष का सब ही आत्मा होगया है (तत्+केन+कम्+पश्येत्) वहां किससे किसको कौन देखेगा (तत्+केन+कम्+जिघ्रेत्) वहां किससे किसको कौन सूंघेगा (तत्+केन+कम्+शृणुयात्) वहां किससे किसको कौन सुनेगा (तत्+केन+कम्+अभिवदेत्) वहां किससे किसको कौन कहेगा (तत्+केन+कम्+मन्वीत) वहां किससे किसको कौन मानेगा (तत्+केन+कम्+विजानीयात्) वहां किससे किसको कौन जानेगा (येन+इदम्+सर्वम्+विजानाति) जिससे इस सब को जानता है (तम्+केन+विजानीयात्) इसको किससे जानेगा (विज्ञातारम्+अरे+केन+जानीयाद्+इति) अरे मैत्रेयि! विज्ञाता को किससे जानेगा ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अथैवमुक्तं विशेषविज्ञानाभावमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकुर्वन्नाह—यत्र यस्मिन्नविद्याविलासकाले हि प्रसिद्धं द्वैतमिवैकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि भासमानं भवति तत्तत्र तस्मिन्काल इतरो ऽन्येतरं गन्धं घ्राणेन जिघ्रति तद्विशेषविज्ञानेन संबध्यते। एवमेव तदितर इतरं पश्यतीत्यादौ योजनीयम्। एतावतैतेभ्यो भूतेभ्य इत्यत्र सूचितो भूताविद्योपाधिकः संसारो व्याख्यातः। इदानीं महद्भूतमनन्तमपारमित्यादिसूचितं ब्रह्मात्मदर्शनं व्याख्यास्यन्भूतोपाध्यभावेन विशेषविज्ञानलक्षणसंसाराभाव इति व्यतिरेकमाह—यत्र वा इति। यत्र यस्यां विद्यावस्थायामस्य ब्रह्मविदः सर्वं कर्तृकर्मक्रियाफलादिकं प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानविलापितं सदात्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थायां केन करणेन कः कं विषयं जिघ्रेन्न कोऽपि केनापि किमपि जिघ्रेत्कारणाभावात्। तथा तत्केन कं पश्येदित्यादि। एवं कैवल्यावस्थायां विशेषविज्ञानाभावमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिपाद्य तत्रैव कैमुतिकन्यायं दर्शयितुमविद्यावस्थायामपि साक्षिणो ज्ञानाविषयत्वमाह—येनेति। यत्राप्यविद्यावस्थायामन्योन्यं जानाति तत्रापि येन कूटस्थबोधेन व्याप्तो लोकः सर्वं जानाति तं साक्षिणं केन करणेन को वा विज्ञाता विजानीयान्न केनापि चक्षुरादेर्विषयग्रहण एवोपक्षीणत्वात्। किं पुनर्वक्तव्यं विद्यावस्थस्यासंसारिण आत्मनो ज्ञानाविषयत्व मित्याह—विज्ञातारमिति। अरे मैत्रेयि! यः पुनः केवलोऽद्वयो विद्यावस्थो विज्ञातैव वर्तते तं विज्ञातारं केन विजानीयान्न केनापीत्यर्थः॥ १४॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥ ४॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

बाह्ये संसारे पृथिवीं, वायुं, बलाहकं, सूर्य्यं, नक्षत्रं, पर्वतं, नदीं, समुद्रं, विविधान् पशुपक्षिणो वनस्पतिमोषधिम् तथाऽसंख्येयान् लघून् कीटान् पतङ्गान् सरीसृपान् एवंविधान्यन्यानि वस्तूनि, आन्तरिके, चक्षुः नासिकां, श्रवणं, जिह्वां, हस्तमुदरं, पायुमुपस्थं, वीर्य्यं, रक्तं, मांसमस्थि च यदा त्वं समीक्षसे तदा त्वं किमपि वैचित्र्यमन्योन्याश्रयं च सुनिपुणतया अङ्क्ष्यसि। त्रिचतुराणि क्षणानि यदि वायुरस्मात् काप्यन्यत्र पराक्रियेत तदा किं प्राण्युः केपि प्राणिनः? एतेन त्वं किमध्यवसास्यसि। वायुर्जीवनमस्तीति। ग्रीष्मर्तौ तृषिता जीवा यद्येकं दिवा पानीयं नाऽऽसादयेयुस्तर्हि ते किं प्राणान् धारयिष्यन्ति? न। एतेन त्वं किमनुमास्यसि। जलं जीवनमस्तीति। यदि त्वं विंशति वासराणि स्वस्थोनीरुक् सन्नुपवसेः तदा त्वं किं भविष्यसि? न। ओषधयो जीवनमस्तीति तेन दृष्टान्तेन कदाचित्त्वं निर्धारयिष्यसि। अन्यच्च यदि पवनो वारि तेजश्च न स्यात्तर्हि कथं वसुन्धरा जनयेत्। यदि दिवाकरो न भवेत्तर्हि कथं समीरो वहेत्। कुत उष्णता। उष्णतां विना कुतो जलस्य वाष्परूपेण परिणामः। तदभावे मेघाभावः मेघाभावे जलाभावः। जलाभावे ओषध्यभावः। ओषधीनामाभावे प्राणिनामभावः। यथा ग्रामाय कृत्रिमं गृहम्, कूपः, तडागः, अन्नोत्पादनम्, पश्वादिरक्षणम्। तथा वस्त्रादि, उपानहादि। एवं तत्तत्पदार्थानां

कर्तारो विभिन्ना मनुष्या अपेक्षिताः सन्ति। यथेदं सर्वं परस्परं साहाय्यकतां व्रजति। एवमेवास्मै जगते सूर्यवाय्वग्निप्रभृति सर्वमाकाङ्क्षितमन्योन्यसहायकञ्च। यथा गृह-कूपारामादि ग्रामस्य रामणीयकतां जनयति तथैव सूर्याद्यपि जगतः। पृथिवी च कया शक्त्या धृता आत्मानं धारयेत्। अन्यच्च—बाह्यजगदेव सर्वं भाति सूर्याभावे न पश्यति वाय्वभावे न स्पृशति। जलाभावे न रसयति। पृथिव्यभावे न जिघ्रति। यदि इमानि भूतानि न स्युः। तर्हि तव जीवनं किं स्यात्। शरीरस्य का दशा भवेत्। सम्प्रति त्वं वितर्कस्व त्वं कोऽसि। कैः पदार्थैः रचितोऽसि। अहो बाह्यं जगद्विना त्वं क्षणमपि जीवितुं न पारयसि। एतेन बाह्यजगद्रूप एवाहमस्मीति कदाचित्त्वं निश्चेष्यसि। परं न तथात्वमस्ति। दृश्यतामिह पृथिवी जडास्ति। चेतनं विना कथमुष्णप्रदो भवेत्। इत्थमस्ति कोपि महान् चेतनोयश्चेत-यति सर्वमित्यनुमीयते। कीदृक् स चेतनोऽस्तीति न प्रतीयते। यदि स सर्वव्यापी चेत् कोपि ज्ञानी बोद्धुं तं न शक्नुयात्। कथमिति—व्यापी सन् किं करोति। यदि तत्तच्छक्तिं प्रयच्छति तर्हि कथमनावृष्टिः। कथं दुर्बलबाधा। कथं विष्वङ् व्याधयः। अन्यच्च चेतनोऽऽनुभवतीति सर्वराद्धन्ततया सूर्यकिरणैः संतप्तः कथं न दह्येत्। कथं न दुःखमनु-भवेद्वा। कथं नासंख्येयैः पदार्थैः राहितश्चूर्णी भवेत्। कथं न अनुचितायाः प्रवृत्ते जीवान् अवरुन्ध्यात्। यदि व्यापी भूत्वापि स किमपि न करोति। तर्हि मुधा तस्य व्यापकता। कथं न सुखं शेते सर्वं समाहृत्यैकस्मिन्स्थाने इत्याद्यसदनुमानं भवति।

जब बाह्य संसार में पृथिवी, वायु, बलाहक, सूर्य, नक्षत्र तथा पर्वत, नदी, समुद्र, विविध पशुपक्षी, वनस्पति तथा ओषधि अन्य असंख्येय लघु २ कीट पतङ्ग सरीसृपादि वस्तुओं को देखते हैं और आन्तरिक संसार में चक्षु, नासिका, कर्ण, जिह्वा, हस्त, उदर, पायु, उपस्थ, वीर्य, रक्त, मांस, अस्थि आदि देखते हैं। क्या तुम बड़ी निपुणता के साथ इन सबों में विचित्रता और परस्पराश्रय को भी कुछ निहारते हो? देखो—दो तीन क्षण यदि वायु यहां से कहीं अन्यत्र हटा दिया जाय तब कोई भी प्राणी जीसकते हैं? इससे तुम क्या निश्चय करोगे? वायु ही जीवन है ऐसा मैं निश्चय करूंगा। ग्रीष्मऋतु में जलतृषित जीव यदि एक दिन पानी न पावें तब क्या वे प्राण रख सकते हैं? नहीं इससे तुम अनुमान करोगे कि जल ही जीवन है। यदि तुम स्वस्थतया निरोग रहने पर २० दिन उपवास करो तो क्या तुम्हारी सत्ता रहेगी? कदापि नहीं। ओषधियां ही जीवन हैं। कदाचित् तुम उस दृष्टान्त से निर्धारण करोगे और भी देखो, यदि वायु, जल और तेज न होवे तो पृथिवी कैसे उत्पन्न कर सकती है। यदि दिवाकर न होवे तो वायु कैसे बह सकता है, उष्णता कहां से आ सकती है। उष्णता के बिना जल कैसे वाष्परूप में आ सकता है। उसके बिना मेघ का अभाव, मेघ के बिना जलाभाव, जलाभाव से ओषधियों का अभाव, ओषधियों के बिना प्राणियों का अभाव हो जायगा। देखो—ईश्वर का कैसा प्रबन्ध है। जैसे ग्राम के लिये कृत्रिम गृह, कूप, तड़ाग, अन्नोत्पादन, पश्वादिरक्षा तथा वस्त्र, उपानह एवं भिन्न २ उपानहादि सम्पादक मनुष्य की आवश्यकता है और ये परस्पर सहायक होते हैं। तद्वत् इस जगत् के परस्पर सहायक सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी, जल, मेघ आदि पदार्थ हैं। जैसे गृह, कूप, आरामादि मिलकर ग्राम की शोभा बढ़ती है तद्वत् सूर्यादि पदार्थ मिलकर जगत् की शोभा तथा अस्तित्व है। पृथिवी किस शक्ति से धृत होकर अपने को धारण कर सकती है और भी देखो—जब सूर्य नहीं रहता तब कोई भी नहीं देख सकता। पृथिवी के अभाव में सूंघ नहीं सकता। जलाभाव में स्वाद नहीं ले सकता यदि ये महाभूत न होवें तो तुम्हारा जीवन क्या होजाय। शरीर की दशा क्या

हो। सम्प्रति तुम्हें तर्क करना चाहिये। तुम कौन हो किन पदार्थों से रचित हो। आश्चर्य है बाह्य-जगत् विना क्षण भी तुम जीवित नहीं रह सकते हो इससे कदाचित् बाह्य जगद्रूप ही मैं हूं, ऐसा निश्चय करोगे। परन्तु वैसा नहीं है। यहां देखो ! पृथिवी जड़ है। चेतन विना कैसे उत्पन्न कर सकती। सूर्य जड़ है। चेतन विना कैसे उष्णप्रद हो सकता। इस प्रकार अवश्य कोई महान् चेतन है। जो सब को चेतनवत् बना रहा है, ऐसा अनुमान होता है। इति।

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १ ॥

अनुवाद—यह पृथिवी सब (आकाशादि) भूतों का मधु (कार्य) है और ये आकाशादि महाभूत भी पृथिवी के मधु (कार्य) हैं। यद्वा "यह पृथिवी सकल जीवों को मधुवत् प्रिय है और ये सब प्राणी पृथिवी के मधुवत् प्रिय हैं" और जो यह पृथिवी में तेजोमय, अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मसम्बन्धी शरीर तेजोमय अमृत पुरुष है, वह दोनों का मधुवत् प्रियतम है और वे दोनों इसके प्रिय हैं। वह यही है जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है * ॥ १ ॥

पदार्थ—(इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब आकाश, वायु, तेज, जल इन महाभूतों का (मधु) मधु=कार्य है अर्थात् संयोग है और (सर्वाणि+भूतानि) सब आकाशादि महाभूत (अस्यै+पृथिव्यै) इस पृथिवी का (मधु) मधु=कार्य संयोग है (इयम्+पृथिवी) यह पृथिवी (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सकल प्राणियों का (मधु) मधु के समान प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी जीव (अस्यै=पृथिव्यै) इस पृथिवी के (मधु) मधुवत् प्रिय है अर्थात् परस्पर एक दूसरे के प्रिय हैं (च) और (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) मधुमयी पृथिवी में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः) अत्यन्त तेजस्वी तथा (अमृतमयः) सर्वदा अमृतमय एक रस अविनश्वर (पुरुषः) पुरुष है वह तो मधुतम है क्योंकि यह मधुओं का भी मधु है (च) और इसी प्रकार (अध्यात्मम्) इस व्यष्टि शरीर में (यः+अयम्) जो यह (शारीरः) स्थूलशरीर व्यापी (तेजोमयः) तेजोमय= अति तेजस्वी (अमृतमयः) अविनश्वर (पुरुषः) पुरुष है वह भी मधुतम अर्थात् अतिशय मधु है। ये अधिदैवत और अध्यात्म दोनों एक ही हैं। यहां दोनों में व्यापकता दिखलाने के लिये ऐसा वर्णन है (सः) वह मधुमय पुरुष (अयमेव) यही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापी है (इदम्+अमृतम्) अमृत अविनश्वर सदा एक रस रहने वाला है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ १ ॥

भाष्यम्—इयमिति इयं दृश्यमाना पृथिवीतरैर्जलादिभूतैः संयुक्ता सत्येव पृथिवी-शब्दवाच्या भवति। अत इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां यद्वा प्राणिनाम्। अप्तेजोवाय्वा-काशानाम् मध्वस्ति—सारो वा कार्यम्वास्ति। न स्वतन्त्रेत्यर्थः। यद्वा मध्विव प्रियास्ति। सर्वेषां भूतानामियं पृथिवी मध्विव प्रियास्ति। तथा विपरीतेन सर्वाणि भूतानि पृथिव्याः

* इसी प्रकार आगे सर्वत्र अनुवाद समझना।

मध्विव प्रियाणि सन्ति। एवमेव अस्यां पृथिव्यां योऽयं तेजोमयोऽमृतमयो पुरुषोऽस्ति स एवं पृथिवी विकारे शरीरेपि तस्य सत्त्वात् विकारेऽपि व्यापकतां दर्शयन्नध्यात्ममारभते। अथाध्यात्मम्। शारीरः पार्थिवे शरीरे भवः शारीरोऽमृतमयः पुरुषोस्ति। स मधुतमम्। अग्रे विस्पष्टम्। यथा विविधपदार्थानां भिन्नप्रकृतीनां भिन्नरूपाणां भिन्नाऽऽकृतीनां रसानां समूहा मध्वास्ति। तदपि मधुमक्षिकाभिरेव स्वादितं विनिर्मितञ्च मधु भवेन्नान्यैः। एवमेव भिन्नप्रकृत्यादीनामितरेषां भूतानां समूह एषा पृथिवी वर्तते। ईश्वरेण रचिता सत्येव नान्यैरिति मधु शब्देन व्यज्यते। विपरीतञ्च दर्शयति। इमानि चेतराणि भूतानि अस्यै पृथिव्यै अस्याः पृथिव्याः मध्वस्ति सारोस्ति। पृथिव्यांशानां सर्वत्र सत्त्वात्। यद्वा प्रियाणि सन्ति मध्विव। यद्वा सर्वेषां जीवानां निवासस्थानादियं पृथिवी प्रियास्ति मध्विव। एवमेव स्वोत्पादितैर्विविधैरन्नैर्जीवानि या पालयत्यतस्तस्या अपि सर्वाणि भूतानि प्रियाणि सन्ति। यद्वा उदारपुरुषस्य कोऽपि दीयमानमपि धनं नाऽऽददीत् तदा तस्योदारताऽप्रकटीभूता दुःखायैव भवति। अतो वयं पृथिव्याः सकाशात् यद् गृह्णामः स तस्या उपकार इव। यथा मधु सर्वेषां स्पृहणीयं ग्रहणीयं भवति। यदि किमपि मधुनामपि मधुस्यात्तर्हि तत्स्पृहणीयतमं ग्रहणीयतमञ्च भवेत्। ब्रह्म खलु मधुनोऽपि मधु वर्तत इति अग्रे व्याकरोति। अस्यां पृथिव्यां मधुमय्यं पृथिव्यामित्यर्थः। यश्चायम् तेजोमयः। प्रचुरजस्वी। तेजो विनश्वरं दृश्यते। अत उच्यते। अमृतमयः। अविनश्वरः। न कदापि म्रियते इत्यर्थः। ईदृक् पुरुषः पुरुषेषु सर्वेषु पदार्थेषु लीनो यो भाति स मधुतमोऽस्तीत्यर्थः। मधुतमशब्दस्यप्रयोगो गुप्तोऽस्ति। परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः। तथा च अध्यात्मम्। अध्यात्मं निरूप्यते। अस्मिन् व्यष्टिशरीरे योऽयं शारीरः। शरीरव्यापी स्थूलमधुमयः। पृथिव्यंशाधिक्यात् शारीर इत्युक्तिः। तेजोमयः अमृतमयः पुरुषोऽस्ति। सोऽपि मधुतमः। उभयत्रैक्यात्। सोऽयमेव। योऽयमात्मा। योऽयं परमात्मा। अतति व्याप्नोति सर्वमात्मा। इदमेवामृतम्। इदमेव ब्रह्म। इदं ब्रह्मैव सर्वम् सर्वेषु पदार्थेषु। ईश्वरस्यैव प्रधानता। अतः सर्वपदेन व्यवह्रियते। यथा कुशलः परोपकारी ग्रामणीः सर्वो निगद्यते ॥ १ ॥

भाष्याशय—पृथिवी=प्रथम ईश्वर की व्यापकता पृथिवी में दिखलाते हैं क्योंकि पृथिवी बहुत स्थूल और अति समीपी है। अति स्थूल होने से ही 'पृथिवी' ऐसा नाम होता है। यह पृथिवी क्या है? निःसन्देह सब आकाश वायु आदि भूतों का समूह है। स्वतः एकत्व पृथिवी नहीं है किन्तु अनेक वस्तुओं के संयोग से बनी हुई है। अतः मधु कार्य कहा गया है।

मधु=भिन्नस्वरूप वाले भिन्न आकृति वाले भिन्न २ स्वभाव वाले जो पदार्थ हैं उन भिन्न रसों का समूह एक रस और एक स्वादवाला मधु होता है अर्थात् तिक्त (तीत) कटु (कडुआ) मधुर (मीठा) अम्ल (खट्टा) इत्यादि जितने प्रकार के वृक्ष हैं उन सब वृक्षों से मधुमक्खियां रस लेती हैं। इस हेतु भिन्न २ प्रकार के हुए परन्तु सब रसों को चूसकर जब मधुमक्खियां उसको बनाती हैं तो वह एक प्रकार का और एक स्वाद वाला होजाता है फिर भिन्न २ स्वाद नहीं मालूम होता और जब मधुमक्खियां ही बनाती हैं तब ही मधु होता है, अन्य पतङ्गों से वह नहीं होता। इसी प्रकार यह पृथिवी भिन्न २ स्वभाव वाले पदार्थों से बनी हुई है परन्तु यहां भिन्नता कोई नहीं मालूम होती। यहां एकरूपा पृथिवी ही पृथिवी मालूम होती है और जैसे मक्षिकाओं के बनाने से ही मधु बनता

है अन्य किसी प्रकार से नहीं होता । वैसे ही ईश्वर के बनाने से ही यह पृथिवी बन जाती है अन्य के बनाने से नहीं । पृथिवी बनी हुई है यह संयोगज है । इसका कर्त्ता ईश्वर है । यह ध्वनि "मधु" शब्द से होती है । दूसरा भाव यहां यह भी ग्रहण करना चाहिये । मनुष्य पशु पक्षी आदि जितने जीव हैं उन सबों को पृथिवी प्रिया है क्योंकि इस पर रहते हैं और उससे उत्पन्न अन्नों को ग्रहण करते हैं और इसी प्रकार पृथिवी को भी वे सब जीव प्रिय हैं । यदि वे जीव पृथिवी को प्रिय नहीं होते तो पृथिवी क्योंकर इतने पदार्थ अपने से उत्पन्न कर इन जीवों को देती है । अथवा पृथिवी का अस्तित्व इन जीवों के लिये है और ये जीव पृथिवी के लिये हैं । इत्यादि भाव का अनुसन्धान करना । भूत और मधु शब्द दो २ अर्थों के द्योतक हैं ।

भूत=आकाशादि महाभूत तथा प्राणी ।
मधु=संयोगज पदार्थ तथा मधुवत् प्रिय ।

और जैसे मधु सर्वप्रिय और ग्रहणीय होता है परन्तु मधुओं का भी यदि कोई रस हो तो वह कैसे प्रिय और ग्रहणीय होगा नहीं कह सकते । ईश्वर इन मधुओं को भी अकार्य्य मधु है अतः सर्वथा ग्रहणीय है । इस भाव को भी मधु शब्द द्योतित करता है और यही भाव व्यापकता के साथ २ दिखलाया जाता है । "इमानि भूतानि मधु" पृथिवी के मधु ये भूत हैं क्योंकि पृथिवी के भी अंश इन भूतों में हैं । इस प्रकार सब पदार्थ एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं । सूर्य चन्द्र नक्षत्र ये सब पार्थिव पदार्थ हैं पृथिवी में जो धातु हैं वे २ उनमें भी हैं । अब यदि सूर्यरूप पृथिवी न हो तो वायु आदि किसी की स्थिति नहीं हो सकती अतः मालूम हुआ कि पृथिवी के मधु (संयोग) सब ही प्राणी हैं ।

अथवा—"सब भूत" शब्द से सकल प्राणी का ग्रहण है यह पृथिवी सब भूतों का मधु है और इस पृथिवी का मधु सब भूत हैं । यह एक अद्भुत रहस्य है । यह सिद्धान्त है कि जितने जीव उत्पन्न हुए हैं वे सब ही पृथिवी, अप्, तेज, वायु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिक कारणों से बने हुए हैं परन्तु पृथिवी ही जीव धारण करने वाली है । अर्थात् जैसे गोधूम आदि के बीज पृथिवी से निकलते हैं । तद्वत् सम्पूर्ण जीव पृथिवी से निकले हुए हैं और जैसे वायु, आकाश, सूर्य, प्रकाश, जल आदिक पदार्थों के रहने से ही पृथिवी से बीज निकल सकता है, अन्यथा नहीं, तद्वत् अप्, तेज आदिक भी ज़ीव की उत्पत्ति में सहायक है अर्थात् जैसे सृष्टि की आदि में सब स्थावर वृक्ष आदि पृथिवी से उत्पन्न हुए हैं । वैसे ही कीट पतङ्ग से लेकर मनुष्य पर्यन्त जीव पृथिवी से उत्पन्न हुए हैं । ऐसा किसी का सिद्धान्त है ।

शारीर—यहां ब्रह्म की व्यापकता सर्वत्र दिखलाना है । जगत् दो प्रकार के हैं हमने प्रथम कहा है एक अधिदैवत दूसरा अध्यात्म, अब अधिदैवत जगत् में जहां २ व्यापकता दिखलावेंगे उसके अंश से इस शरीर में जो भाग बना हुआ है उसमें भी वह व्यापकता दिखलाई जावेगी । यहां पृथिवी में व्यापकता कही गई है और शरीर में स्थूल भाग पार्थिव है अतः इसमें भी ईश्वर की व्यापकता कही जाती है । इसी कारण "शारीर" पद आया है ।

तेजोमय—इस पृथिवी में कौन तेज देखते हैं ? यद्यपि इसमें अग्नि के समान तो तेज नहीं दीखता परन्तु इसमें एक अदृश्य महान् तेज है जो पृथिवी के अभ्यन्तर कार्य्य कर रहा है ।

अमृतमय—लोक में तेज को नष्ट होते हुए देखते हैं तो क्या वह भी वैसा तेज है इस शङ्का की निवृत्ति के लिए अमृत पद आया है, यह कभी नहीं मरता है ॥ १ ॥

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ २ ॥

अनुवाद—यह जल सब भूतों का मधु है और इस जल का सब भूत मधु है। जल में जो यह तेजोमय अमृत पुरुष है और शरीर में जो यह रैतस तेजोमय अमृत पुरुष है ये दोनों (अत्यन्त मधु हैं) और वह यही है जो यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सब है ॥ २ ॥

पदार्थ—(इमाः+आपः) यह जल (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब भूतों का यद्वा प्राणियों का (मधु) मधु=संयोग वा कार्य है वा प्रिय है। और इसके विपरीत (आसाम्+अपाम्) इस जल का (सर्वाणि+भूतानि) सब भूत (मधु) मधु है (च) और (अप्सु) जल में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) इस व्यष्टि शरीर के मध्य (यः+अयम्) जो यह (रैतसः) जलव्यापक (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है वह तो अतिशय मधुतम है और (अयम्+एव+सः) वह यही है (यः+अयम्+आत्मा) जो यह आत्मा व्यापक परमात्मा है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ २ ॥

भाष्यम्—इमा इति, रैतसः रेतसि जलाधिक्यात्। अन्यत् समानम् ॥ २ ॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ३ ॥

अनुवाद—यह अग्नि सब भूतों (पृथिवी, जल, वायु और आकाश) का मधु (कार्य) और ये सब पृथिव्यादि भूत अग्नि के मधु (कार्य्य) हैं। यद्वा "यह अग्नि सब जीवों के मधुवत् प्रिय है" और जो यह अग्नि में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सम्बन्धी वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह दोनों अतिशय मधुतम हैं और इसको यह दोनों मधुतम हैं। वह यही है जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (सर्वेषां+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि भूतों के (मधु) कार्य्य हैं (सर्वाणि+भूतानि) और ये पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+अग्नेः) इस अग्नि के (मधु) कार्य हैं। यद्वा यह अग्नि (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब जीवों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) और ये सब जीव (अस्य+अग्नेः) इस अग्नि का (अग्नेः) मधुवत् प्रिय है (च) और (अस्मिन्) इस मधुमय (अग्नौ) अग्नि में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय अमृतमय (पुरुषः) व्यापक पुरुष है। वह अग्नि का और सर्व प्राणियों का अतिशय मधुवत् प्रियतम है और उसको ये सब प्रिय हैं इस प्रकार परस्पर मधुवत् प्रियता है। अध्यात्म कहते हैं। इस शरीर

के अभ्यन्तर वाणी में अग्नि का अधिष्ठान माना गया है। इस हेतु आगे कहते हैं—(च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (यः+अयम्) जो यह (वाङ्मयः) वचन व्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय और अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है वह भी सबों का प्रिय है और उसके सब प्रिय हैं। वह कौन है? (अयम्+एव+सः) यही वह है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब ही है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अयमग्निरिति। क्रमप्राप्तावग्नौ व्यापकतां दर्शयति। एवमन्योऽन्योपकार्योपकारभावश्च। अस्मिञ्छरीरे वाचि प्रतिष्ठिताग्निः। तत्राप्यस्य व्यापकतेति वाङ्मय इति विशेषणम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ४ ॥

अनुवाद—यह वायु सब पृथिव्यादि भूतों का मधु (कार्य) है और ये सब पृथिव्यादिभूत इस वायु के कार्य हैं। यद्वा यह वायु इन सब जीवों को मधुवत् प्रिय है और ये सब जीव इस वायु के मधुवत् प्रिय हैं और इस (मधुमय) वायु में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म सम्बन्धी प्राणव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह वायु और सब प्राणी को प्रिय है और उसको ये सब प्रिय हैं) वही वह है जो यह आत्मा है। अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(अयम्+वायुः) यह वायु (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+वायोः) इस वायु के (मधु) कार्य हैं अथवा यह वायु (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+वायोः) इस वायु के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+वायौ) इस वायु में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (प्राणः) प्राणेन्द्रियव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसको वे सब प्रिय हैं। वह कौन है? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतमय है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अयं वायुरिति। क्रमप्राप्तौ वायौ व्यापकतां दर्शयति। प्राणो घ्राणेन्द्रियम्। प्राणे वायुः प्रतिष्ठित इति भावः ॥ ४ ॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ५ ॥

अनुवाद—यह आदित्य सब पृथिव्यादि महाभूतों का मधु (कार्य) है और ये सब पृथिव्यादि भूत इस आदित्य के मधु (कार्य) हैं अथवा यह आदित्य सब (मनुष्यादि) जीवों का मधुवत् प्रिय है और ये सब जीव इस आदित्य के मधुवत् प्रिय हैं और इस मधुमय आदित्य में जो यह तेजोमय अमृत पुरुष है और जो यह अध्यात्मसम्बन्धी चक्षुर्व्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और ये सब प्राणी इसके मधुवत् प्रियतम हैं) यह वही है जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अयम्) यह (आदित्यः) सूर्य (सर्वेषाम्) सब (भूतानाम्) पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+आदित्यस्य) इस आदित्य का (मधु) कार्य है अथवा यह सूर्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आदित्यस्य) इस सूर्य के (मधु) मधुवत् प्रिय है (च) और (अस्मिन्+आदित्ये) इस आदित्य में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म-सम्बन्धी (चाक्षुषः) चक्षुर्व्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—अयमादित्य इति। अन्तरिक्षस्थवायोरनन्तरमादित्यः प्राप्यते। चक्षुष्यादित्यः प्रतिष्ठितोऽस्तीत्यत आह—चाक्षुष इति ॥ ५ ॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशां सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—यह दिशाएं सब मनुष्यादि जीवों के मधुवत् प्रिय हैं और ये मनुष्यादि जीव इन दिशाओं के मधुवत् प्रिय हैं और इन दिशाओं में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह श्रुति (कर्ण) व्यापी, प्रतिश्रुत्क (प्रतिश्रवणव्यापी) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह इन सबों का मधुवत् प्रियतम है और उसको ये सब मधुवत् प्रिय हैं) यह वही है जो यह आत्मा है। जो यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(इमा+दिशः) ये पूर्व पश्चिमादिक दिशाएं (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सकल मनुष्यादि प्राणियों के (मधु) मधु सदृश प्रिय हैं (सर्वाणि+भूतानि) और ये सब मनुष्यादि प्राणी (आसाम्+दिशाम्) इन दिशाओं के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (आसु+दिक्षु) इन दिशाओं में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः) तेजोमय अमृतमय (पुरुषः) पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (श्रौतः) श्रुति=कर्णव्यापी (प्रातिश्रुत्कः) प्रतिश्रवणव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। यह सबों का मधुवत् प्रियतम है और उसके ये सब प्रिय हैं (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्+आत्मा) जो यह सर्वव्यापी है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—इमा दिश इति । दिक्स्थेषु पदार्थेषु व्यापकतां दर्शयित्वा दिक्षु दर्शयति। कर्णे दिशः प्रतिष्ठिताः । अत आह—श्रौत्र इति । श्रुत्योः कर्णयोर्भवः श्रौतः । तथा प्रातिश्रुत्कः प्रतिश्रुत्कायां प्रतिश्रवणवेलायां भवः प्रातिश्रुत्कः । यद्यपि दिशां श्रोत्रमध्यात्मं तथापि प्रतिश्रवणवेलायां विशेषतः संनिहितो भवतीति प्रातिश्रुत्कविशेषणम् ॥ ६ ॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—यह चन्द्र सब मनुष्यादि जीवों का मधुवत् प्रिय है और ये मनुष्यादि जीव इस चन्द्र के मधुवत् प्रिय हैं और इस चन्द्रमा में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्मसम्बन्धी जो मनसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह सबों का मधुवत् प्रिय है। और ये सब इसके प्रिय हैं) यही वह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(अयम्+चन्द्रः) यह चन्द्र (सर्वेषां+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों के (मधु) मधुसदृश प्रिय हैं (सर्वाणि+भूतानि) और ये सब प्राणी (अस्य+चन्द्रस्य) इस चन्द्र के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+चन्द्रे) इस चन्द्र में (यः+अयम्) जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (यः+अयम्) जो यह (मानसः) मनोव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है । वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और उसके ये सब प्रिय हैं (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्+आत्मा) जो यह सर्वव्यापी है (इदम्+अमृतम्) यह अमृत है (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) यह सब है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यथा चक्षुषि सूर्यः तथा मनसि चन्द्रः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ ७ ॥

इयं विद्युत् सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ८ ॥

अनुवाद—यह विद्युत् मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और सब मनुष्यादि जीव इस विद्युत् के मधुवत् प्रिय हैं । इस विद्युत् में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रिय हैं) यही वह है जो यह आत्मा है । यह अमृत है । यह ब्रह्म है । यह सब है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(इयम्+विद्युत्) यह विद्युत् (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+विद्युतः) इस विद्युत् का (मधु) कार्य है अथवा यह विद्युत् (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+विद्युत्) इस विद्युत् के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्याम्+विद्युति) इस विद्युत् में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) यह अध्यात्म

सम्बन्धी (तैजसः) तेजोव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे प्रिय हैं। वह कौन है? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इयम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो सब ही है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—इयं विद्युदिति। शरीरस्योष्णता कारणं विद्युदिति तैजस विशेषणम् ॥८॥

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिंस्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ९ ॥

अनुवाद—यह गर्जनशील मेघ मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस मेघ के मधुवत् प्रिय हैं। इस मेघ में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह शब्दव्यापी तथा स्वरव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) वही वह है जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ९ ॥

पदार्थ—(अयम्+स्तनयित्नुः) यह नाद करनेवाला मेघ (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+स्तनयित्नोः) इस मेघ का (मधु) कार्य हैं अथवा यह मेघ (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+स्तनयित्नोः) इस मेघ के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+स्तनयित्नौ) इस मेघ में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (शाब्दः) शब्दव्यापी उसमें भी (सौवरः) स्वरव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसका वे सब प्रिय हैं। वह कौन है? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स्तनयित्नुर्बलाहको गर्जनशीलो मेघः। अयं स्तनयित्नुरिति। शब्दे भवः शाब्दः। स्वरे भवः सौवरः। नादः स्वरे प्रतिष्ठितः। अतः सौवरः ॥ ९ ॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाऽऽशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं हृद्याकाशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १० ॥

अनुवाद—यह आकाश मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस आकाश के प्रिय हैं। इस आकाश में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है अध्यात्म सम्बन्धी जो यह हृदय व्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) वही वह है जो यह आत्मा है। यह अमृत है यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ १० ॥

पदार्थ—(अयम्) जो यह (आकाशः) आकाश (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+आकाशस्य) इस आकाश का (मधु) कार्य है अथवा यह आकाश (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आकाशस्य) इस आकाश का (मधु) मधुवत् प्रिय है (च) और (अस्मिन्+आकाशे) इस आकाश में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (हृदि+आकाशः) हृदयव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ १० ॥

भाष्यम्—अयमाकाश इति । हृद्याकाशः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

अयं धर्म्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ ११ ॥

अनुवाद—यह धर्म मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस धर्म के मधुवत् प्रिय हैं। इस धर्म में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह धर्मव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (यह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) वही वह है। जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(अयम्+धर्म्मः) यह धर्म (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+धर्मस्य) इस धर्म का (मधु) कार्य है अथवा यह धर्म (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+धर्मस्य) इस धर्म के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+धर्मे) इस धर्म में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (धार्मः) धर्मव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है उनका मधुवत् प्रियतम है और इसका वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—सर्वं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

इदं सत्यं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं सर्वम् ॥ १२ ॥

अनुवाद—यह सत्य मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस सत्य को मधुवत् प्रिय हैं। इस सत्य में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह सत्यव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है। जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है॥ १२॥

पदार्थ—(इदम्+सत्यम्) यह सत्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+सत्यस्य) इस सत्य का (मधु) कार्य हैं अथवा यह सत्य (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+सत्यस्य) इस सत्य के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+सत्ये) इस सत्य में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्म सम्बन्धी (सात्यः) सत्यव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है। वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है॥ १२॥

भाष्यम्—सर्वं पूर्ववत्॥ १२॥

इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥ १३॥

अनुवाद—यह मानुष सब जीवों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इस मानुष के मधुवत् प्रिय हैं। इस मानुष में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्म सम्बन्धी जो यह मानुषव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है। जो आत्मा है। वह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है॥ १३॥

पदार्थ—(इदम्+मानुषम्) यह मानुष (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+मानुषस्य) इस मानुष के (मधु) कार्य हैं अथवा यह मानुष (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब प्राणी (अस्य+मानुषस्य) इस मानुष के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+मानुषे) इस मानुष में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (अध्यात्मम्) अध्यात्मसम्बन्धी (मानुषः) मानुषव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है॥ १३॥

भाष्यम्—भाष्यं पूर्ववत्॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—यह आत्मा मनुष्यादि सब जीवों का मधुवत् प्रिय है और मनुष्यादि जीव इस आत्मा के प्रिय हैं। इस आत्मा में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और अध्यात्मसम्बन्धी जो यह आत्मव्यापी तेजोमय अमृतमय पुरुष है। (वह सबों का मधुवत् प्रियतम है और सब जीव इसके प्रियतम हैं) यही वह है। जो यह आत्मा है। यह अमृत है। यह ब्रह्म है। यह सब है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अयम्+आत्मा) यह आत्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिव्यादि महाभूतों का (मधु) कार्य है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब पृथिव्यादि महाभूत (अस्य+आत्मनः) इस आत्मा के (मधु) कार्य हैं अथवा यह आत्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब मनुष्यादि प्राणियों का (मधु) मधुवत् प्रिय है और (सर्वाणि+भूतानि) ये सब मनुष्यादि प्राणी (अस्य+आत्मनः) इस आत्मा के (मधु) मधुवत् प्रिय हैं (च) और (अस्मिन्+आत्मनि) इस आत्मा में (यः+अयम्) जो यह (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है (च) और (आत्मा) आत्मव्यापी (तेजोमयः+अमृतमयः+पुरुषः) तेजोमय अमृतमय पुरुष है वह उनका मधुवत् प्रियतम है और इसके वे सब प्रिय हैं। वह कौन है ? (अयम्+एव+सः) यह वही है (यः+अयम्) जो यह (आत्मा) सर्वव्यापक है (इदम्+अमृतम्) जो यह अमृतप्रद है (इदम्+ब्रह्म) जो यह महान् ब्रह्म है (इदम्+सर्वम्) जो यह सब ही है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—विस्पष्टार्था ॥ १४ ॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥ १५ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह आत्मा सकल पृथिव्यादि और मनुष्यादि भूतों का अधिपति है और सकल भूतों के मध्य राजा (प्रकाश देने वाला) है सो जैसे रथ के नाभि में तथा रथ की नेमि (धारा) में सब अर समर्पित रहते हैं इसी प्रकार इस आत्मा में सब पृथिव्यादि महाभूत सब सूर्यादि देव सब भूरादि लोक सब चक्षुरादि प्राण सब ये जीवात्मा समर्पित हैं ॥ १५ ॥

पदार्थ—क्या यह आत्मा केवल व्यापक और अमृतमय ही है वा अन्य कुछ भी, इस पर उपसंहार में कहते हैं (वै) निश्चय (सः+अयम्+आत्मा) सो यह सर्वव्यापी परमात्मा (सर्वेषाम्+भूतानाम्) सब पृथिवी आदि एवं मनुष्यादि भूत कहे जाते हैं उन सबों का (अधिपतिः) सम्यक् प्रकार से पालन करनेवाला अधिष्ठाता और रक्षक है क्योंकि उसके बिना जगत् की स्थिति आदि नहीं हो सकती है। वह आत्मा केवल अधिपति ही नहीं है किन्तु (सर्वेषाम्+भूतानाम्+राजा) सब भूतों के मध्य में वही तेज देने वाला है क्योंकि "राजृ दीप्तौ" धातु से राजा बनता है। उसी की दीप्ति से अन्य सब पदार्थ दीप्तिमान् होते हैं। जैसे उद्भूत आग्नेय पदार्थ के अभाव से सब पदार्थ अन्धकारावृत

होते हैं। वैसे ही यदि ब्राह्मी दीप्ति न हो तो कोई भी पदार्थ अपने २ सत्ता को प्राप्त नहीं हो सकता। कैसे उस ब्रह्म से सब भूत दीप्तिमान् और अधिक्रियमाण होते हैं। इनको दृष्टान्त से कहते हैं— (तद्+यथा) सो जैसे (रथनाभौ+च) रथ की नाभि में (रथनेमौ+च) रथ की नेमि में। च शब्द से इस प्रकार के अन्य सब दृष्टान्त ग्रहण करने चाहियें (सर्वे+अराः+समर्पिताः) सब अर समर्पित हैं (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (अस्मिन्+आत्मनि) इस महान् आत्मा में (सर्वाणि+भूतानि) सब पृथिवी मनुष्यादिभूत (सर्वे+देवाः) सकल सूर्यादि देव (सर्वे+लोकाः) सकल भूर्लोक भुवर्लोकादि (सर्वे+प्राणाः) सकल चक्षु आदि प्राण (सर्वे+एते) सब ये (आत्मानः) जीवात्मा (समर्पिताः) स्थापित हैं अर्थात् जैसे रथ की नाभि में संलग्न होकर ही परितस्थित छोटी २ अर (कीलें) कार्य साधक होते हैं इसी प्रकार इसी आत्मा से सम्बन्ध रखते हुए ही सब पदार्थ कार्य्यसाधक हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

भाष्यम्—स वा इति। स आत्मा किं व्यापकोऽमृतमयश्चैव केवलोऽस्ति अन्यद्वा किमपि। तत्र वक्ति वै इति निश्चयं द्योतयति निश्चयेन अयमात्मा परमात्मा सर्वेषां पृथिवीसूर्यादीनां मनुष्यादीनाञ्च भूतानामधिपतिः अधिकः पतिः पालयिता अधिष्ठाता रक्षकः। तस्माहते जगतः स्थित्याद्यभावात् न केवलमधिपतिरेव किन्तु सर्वेषां भूतानां मध्ये स एवात्मा राजा दीप्तिकरः प्रकाशकः। राजृ दीप्तौ। तस्यैव भासा सर्वाणि भूतानि भासितानि सन्ति। यथोद्भूताग्नेय पदार्थाभावे सर्वे अन्धकारावृता भवन्ति। तथैव यदि ब्राह्मी दीप्तिर्नस्यात्तर्हि न किमपि लब्धस्व स्वसत्ताकं भवेत्। कथमिव ब्रह्मणात्मना सर्वेषां भूतानां दीप्तिमत्त्वमधिक्रियमाणत्वञ्च। अत्र दृष्टान्तेनाह—तत्तत्र। यथा येन प्रकारेण रथनाभौ च रथचक्रपिण्डिकायां चादीदृशमन्यन्निदर्शनमपि ग्राह्यम्। रथनेमौ च वलयभूतायां सर्वे अराः समर्पिताः स्थापिताः संलग्नाः सन्त एव तिष्ठन्ति तदैव कार्योपयोगिनोऽपि भवन्ति। एवमेव। यथायं दृष्टान्तोऽस्तीति तथैव अस्मिन् ब्रह्माख्ये आत्मनि सर्वाणि पृथिव्यादीनि भूतानि सर्वे सूर्यादयः देवाः सर्वे भूरादयः लोकाः सर्वे चक्षुरादयः प्राणाः तथा सर्वे एते आत्मानो जीवात्मानः आत्म बहुत्वाद्बहुवचनम् समर्पिताः स्थापिताः सन्ति। एवमत्रैव संलग्नाः सन्त एव कार्यकरणे समर्था भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। "तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्। दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच" इति * ॥ १६ ॥

अनुवाद— निश्चय, इस प्रसिद्ध मधुविद्या को आथर्वण दध्यङ् ने अश्वियों से कहा। इस विषय में मधुविद्या को दिखाते हुए स्वयं मन्त्र कहता है:—

हे सर्वव्यवहार के नेता अहोरात्ररूप ब्रह्मचारियो! जैसे विद्युत् वर्षा की सूचक होती है तद्वत् मैं आप दोनों के उस २ कर्म को प्रकट करता हूँ। वह यह है कि आप दोनों को आथर्वण दध्यङ् ने अश्व के शिर से ही (आपकी योग्यता के अनुसार ही) मधुविद्या का उपदेश किया है ॥ १६ ॥

* यह मन्त्र ऋ० १। ११६। १२ का है ॥

पदार्थ—(वै) सुप्रसिद्ध (इदम्+तद्) उस पूर्वोक्त इस (मधु) मधुविद्या को (आथर्वणः) परमात्मभक्त (दध्यङ्) ध्यानरत ज्ञानीजन (अश्विभ्याम्) दिन और रात्रिरूप ब्रह्मचारियों को (उवाच) उपदेश देते हैं (तत्) इस विषय में (ऋषिः) वेदमन्त्र (एतत्) इस वार्ता को (पश्यत्) देखते हुए (अवोचत्) कहते हैं ॥

(नरा) हे सर्वव्यवहार के नायक अहोरात्र ! जिस हेतु आप आचार्य के अनुग्रह से परमज्ञान का प्राप्त हुए हैं (तत्) उस कारण से (वाम्) आप दोनों के (इदम्+उग्रम्) इस उग्र (दंसम्) कर्म को अर्थात् विद्याध्ययनसम्बन्धी जीवनचरित्ररूप उग्र कर्म को (सनये) जगत् के लाभ के लिये (आविष्कृणोमि) प्रकाश करता हूं । इसमें दृष्टान्त देते हैं—(न) जैसे (तन्यतुः) विद्युत् (बिजुली) (वृष्टिम्) वर्षा का आविष्कार करती है अर्थात् विद्युत् जैसे वर्षा की सूचक होती है । तद्वत् मैं आपके जीवनचरित्र का सूचक होऊंगा ॥

आगे उग्रकर्मवर्णनपूर्वक प्रशंसार्थ और भविष्यत्प्रचारार्थ अध्यापक का नाम कहते हैं-(ह) यह विषय प्रसिद्ध है (यत्) कि (आथर्वणः) अविनश्वरोपासक (दध्यङ्) ध्यानरत ज्ञानी जन (मधु) मधुवत् परममधुर मोक्षसाधन ज्ञान (वाम्) आप दोनों को (अश्वस्य+शीर्ष्णा) आपके अनुकूल आपके समान अश्वशिर से (ईम्) ही (प्र+अवोचत्) सिखलाते हैं (यत्) जो यह वृत्तान्त है उसको मैं प्रकाशित करूंगा ॥ १६ ॥

भाष्यम्—मधुविद्यामुपदिश्य विद्याप्रचारप्रणाली वक्तव्या । अध्यापका अध्याप्याश्च कियत्परिश्रमेण विद्याऽऽविष्कारेण जगदुपकुर्वन्ति । एवं तेनोपकारेणेतरेषां किं विधेय-मित्यपि प्रदर्शनीयमित्यतो मधुविद्याप्रशंसार्थं नित्यमितिहासमाचष्टे । इहैतत्प्रसिद्धम् । उद्भूताश्च सर्वा विद्या वेदेभ्य एव । वेदाः खलु अपौरुषेया इति तत्त्वविदो वदन्ति । तत्र न संभवोऽस्ति केषांचिद्व्यक्तिविशेषाणामितिहासस्य परन्तु वेदा मनुष्यबोधार्थाः । अतस्तदुपयोगिनीभिः सर्वाभिः शिक्षाभिस्तत्र भाव्यम् । अतो भगवान् सूर्यादिपदार्थान् मनुष्यानिव रूपयित्वा तद्द्वारा सर्वा विद्या शिक्षते । ऋषयोऽपि येन नाम्ना वेदेषु विद्या उपदेशिताः सन्ति तेनैव नाम्ना तास्ता विद्याः प्रकटीचक्रुः । वेदेषु दधीच आथर्वणस्या-चार्यस्य नामधेयेन विद्योपवर्णिताऽतस्तेनैव नाम्नेहापि प्रकटयन्ति । तथाहि—आथर्वणो दध्यङ् अश्विभ्यामहोरात्रस्वरूपाभ्यां ब्रह्मचारिभ्याम् । इदं वै तन्मधु मधुविद्यां मधुवन्मिष्टं मोक्षसाधनं ज्ञानशास्त्रमुवाच—तत्तत्र तस्मिन् विषये ऋषिर्मन्त्रः स्वयमेव एतद्विज्ञानं पश्यन्नवोचत् उपदिशति । अत्राग्रे प्रमाणत्वेन मन्त्रं दर्शयति । प्रथममत्रेदमवगन्तव्यम् । परस्परं विद्वांसः स्तुत्याः । ते बहुप्रयासेन मनुष्यानुपकुर्वन्ति । क्वचित् साक्षादाचार्याः स्तूयन्ते । क्वचिच्च शिष्यद्वारेण । अहो अयं बटुः गरीयाञ्छास्त्रे, सम्यगधिगतो वेदान् इति कथनेनाचार्याणामेव स्तुतिः । तद्वदिहापि शिष्यद्वारा आचार्यप्रशंसाऽऽरभ्यते । अथ मंत्रार्थः ॥

नरा हे नरौ, नरश्च नारी च नरौ दिवसरात्रिरूपौ ब्रह्मचारिणौ सर्वव्यवहारस्य नेतारौ वा । यतो युवामाचार्यानुग्रहेण कृतविद्यौ संपन्नौ । तत्तस्माद्धेतोः वां युवयोः इदं प्रत्यक्षमुग्रमुत्कटं दंसं कर्म जीवनचरित्ररूपं कर्म सनये जगल्लाभाय आविष्कृणोमि प्रकटी-करोमि । विद्याध्ययने महद्दुःखमापततीति सर्वेषां प्रत्यक्षगोचरः । प्रथमं तावत् सर्वप्रिय-

मातृपितृबन्धुवियोगः । ततोऽभ्यासातिशयेन शरीरकार्श्यम् । अनभ्यासे अज्ञाते वाऽऽचार्यस्य बहुभर्त्सनम् । कदाचित्तेन शारीरो दण्डः । कदाचिदनशनम् । कदाचित् सम्पूर्णरात्रिजागरणम् । कदाचिद् गोचारणम् । एतद्व्यतिरेकेण सत्यभाषणादि महाव्रतधारणमित्यादिवर्णिनां कर्म्मोग्रतामेव सूचयति । यच्च विदुषां कर्म जगति प्रकाश्यते तेन जगतामेव लाभः । अत उक्तम् सनय इति ।

उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—तन्यतुर्न विद्युदिव । वेदे उपमार्थीयोनकारः । वृष्टिम् वर्षाम् । यथा विद्युत् वृष्टिं प्रकटयति वृष्टेः सूचयित्री वा यथा विद्युद्भवति । तथैवाहं युवयोरुग्रकर्मणश्चरित्रस्य प्रचारको भविष्यामीति । उग्रकर्मवर्णनपुरःसरप्रचारार्थमाचार्य्यनामधेयं कीर्त्तयति । आथर्वणः अथर्वा अविनश्वरः परमेश्वरः स देवता पूज्यत्वेनास्येति आथर्वणः । ह किल प्रसिद्धः दध्यङ् ध्यानरतो विदितसर्वतत्त्वः ईदृशोपि निःस्पृह आचार्य्यः । वाम् युवाभ्याम् । अश्वस्य अहोरात्रादिरूप महाकालस्य शीर्ष्णा शीर्षोपलक्षितयोग्यतया । यस्य यादृशी योग्यता तदनुसारेणैवाध्याप्यश्छात्रः । अश्विनौ अश्वाख्यस्य महाकालस्य पुत्रौ स्तः । अतस्तदनुरूपेणैव शिरसा तावध्याप्यौ । ईम्—एव यन्मधु यन्मधुवन्मिष्टं मोक्षप्रदं ज्ञानशास्त्रम् प्र उवाच प्रोक्तवान् व्याख्यातवान् । इत्येवंविधं युवयोर्यत्कर्माऽस्ति तत्कर्माविष्करोमीत्यन्वयः । मोक्षशास्त्रे सहस्रेषु कश्चिदेव प्रथमं प्रक्रमते । तत्रापि कोप्येव तत्त्वं जानाति । युवां खलु तस्मिन् कृतविद्यौ प्रख्यातौ बभूवतुः । अतः परा कोग्रता । अहो धन्यौ युवां यौ ब्रह्मविद्यामधिगतौ ॥ १६ ॥

भाष्याशय—"नरा=नरौ" वेद में "नरौ" के स्थान में "नरा" हो जाता है, यह द्विवचन है । जिस हेतु "दिन" और "रात्रि" दो हैं । इस हेतु द्विवचन है । "नरश्च नारी च=नरौ" नर और नारी इन दो शब्दों के समास करने पर केवल "नर" शब्द शेष रहता है । दिन नरस्वरूप और रात्रि नारीस्वरूप ।

"अश्विनौ" दिन और रात्रि का नाम है । समीक्षा में विस्तार से दिखलाया है । अथवा पुण्यकृत=धर्मात्मा राजा और राज्ञी का नाम है । समीक्षा देखो । यहां मानो दिन और रात्रि ही ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी हैं ॥

(आथर्वणः) अ+थर्व ॥ थर्व=हिंसा विनाश, जो विनाश से रहित हो उसे 'अथर्वा" कहते हैं । अथर्वा=परमेश्वर ही पूज्यदेव है जिसको वह आथर्वण कहता है । जैसे वैष्णव शैव आदि पद होते हैं । विष्णु के भक्त को वैष्णव और शिव के भक्त को शैव ॥

दध्यङ्=ध्यानरत परमज्ञानी पुरुष का नाम है । यहां "आथर्वण दध्यङ्" पद से अन्य टीकाकारों ने जो अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ऋषि अर्थ किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वेद में किसी मनुष्य का इतिहास नहीं है । यह सर्व शास्त्र का सिद्धान्त है ।

अश्वस्य=यहां अश्व शब्द का अर्थ घोड़ा नहीं है "अश्व" नाम सूर्य का है और अखण्ड जो क्षण, पल, प्रहर, अहोरात्रि, पक्ष, मासादि एक महाकाल है उसका नाम अश्व है । उस महाकाल (Time) का व्यवहारार्थ क्षण, पल, दिन, रात्रि आदि विभाग माना गया है । यह भाग सूर्य के कारण से होता है । इस हेतु इस प्रकार इस काल का जनक सूर्य है । इस हेतु मुख्यार्थ अश्वशब्द का सूर्य है । गौणार्थ

काल है । अतिव्यापनशील वस्तु का नाम अश्व होता है । सूर्य अपने किरण द्वारा शीघ्र सर्वत्र व्याप्त होता है और काल व्यापक ही है । अतः ये दोनों अश्व कहलाते हैं । वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय देखो, मानो उस महाकाल के क्षण, पल, प्रहर, दिन, रात्रि आदि एक २ बच्चे हैं । इनमें दिन और रात्रि बड़े लड़के प्रतीत होते हैं क्योंकि दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन बराबर लगा ही रहता है । जैसे पिता के संग प्रायः प्रिय पुत्र सदा रहता है । अश्व (काल) के अपत्य को "अश्वी" कहते हैं "अश्वस्य अपत्यम्" दिन रात्रि दो पदार्थ प्रतीत होते हैं अतः द्विवचन में "अश्वि" शब्द आता है । अब विचार करो—अश्व के पुत्र को अश्व के ही शिर से पढ़ाना उचित होगा अर्थात् जैसा जिसका शिर हो उसी के अनुसार पढ़ना चाहिये । यहां शरीर का अर्थ योग्यता है । जैसी जिसकी योग्यता हो तदनुसार आचार्य को पढ़ाना उचित होगा । इस हेतु यहां "अश्वस्य शीर्ष्णा" पद आया है । जिस हेतु आजकल "अश्व" शब्द का अर्थ घोड़ा ही होता है, इस हेतु वेद के तात्पर्य को न समझ लोगों ने "घोड़े का शिर" अर्थ कर दिया है । इस पर अनेक आख्यायिकाएं भी गढ़ली हैं ।

शिक्षा—(१) अनादि काल से विद्वान् शिक्षा का प्रचार करते आए हैं । वैसा ही सबों को करना चाहिये ।

(२) जब विद्वान् होकर ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी गृह लौट आवें तो इन के यश को प्रकाशित कर देना चाहिये । यदि ये अध्यात्म विद्या में अधिक परिश्रम किये हों और आचार्य ने बड़ी प्रशंसा की हो तो इनकी संक्षिप्त जीवनी मुद्रित करवाकर प्रकाशित करनी चाहिये ।

(३) जिस आचार्य से इन्होंने विद्या प्राप्त की हो उनकी कीर्त्ति भी प्रकाशित होनी चाहिये ।

(४) नवीन आविष्कारकर्त्ता आचार्यों के नाम से ही उस विद्या का प्रचार होना चाहिये और उस आचार्य के नाम पर बड़े पुरुष्कार देने चाहियें, इत्यादि ।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । "आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वाम्" इति * ॥ १७ ॥

अनुवाद—निश्चय, आथर्वण दध्यङ् ने अहोरात्ररूप ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी से उस इस मधु विद्या का उपदेश किया । इस मधु विद्या के विषय में स्वयं मन्त्र कहता है, मन्त्र का अर्थ—(दस्रौ) हे सकलप्राणियों के आयु के क्षय करने वाले ! (अश्विना) हे दिन और रात्रिरूप ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी ! आप दोनों ने (आथर्वणाय+दधीचे) ब्रह्मपरायण ध्यानरत गुरु के लिये (अश्व्यम्) महाकाल सम्बन्धी (शिरः+प्रति) शिर के प्रति (ऐरयतम्) प्रेरणा की । अर्थात् हे गुरो ! आप जो पढ़ाते हैं उसे हम दोनों नहीं समझते हैं । इस हेतु हमारी योग्यता के अनुकूल आप पढ़ावें । इस वचन को सुन करके आपके गुरु ने भी वैसा किया, ब्रह्मपरायण होने पर भी आपके लिये इन्होंने जो ऐसा किया वह आप की ही प्रशंसा है । जिस कारण अश्वी अश्व के पुत्र हैं इस हेतु अश्वियों ने अपने योग्य अश्व के शिर को धारण के लिए अपने गुरु से कहा अर्थात् जैसे विद्यार्थी हो तदनुसार गुरु पढ़ावे । यदि न समझता हो तो अपने आचार्य से नम्रतापूर्वक निवेदन करे कि मेरी योग्यता के अनुसार आप कृपया

* ऋग्वेद मण्डल १ । सूक्त ११७ । मन्त्र १२ ॥

पढ़ावें । शिष्य के शिर के अनुसार गुरु का पढ़ाना ही मानो अन्य का शिर धारण करना है, हे अश्विनौ ! इस प्रकार आपके वचन को स्वीकार करके (सः) ब्रह्मपरायण भी आथर्वण दध्यङ् ने (वाम्) आप दोनों से (मधु+प्रवोचत्) मधुविद्या का उपदेश किया । किस प्रयोजन के लिये ? (ऋतायन्) सत्य की पालना की इच्छा करते हुए अर्थात् सत्य विद्या जो मधुविद्या है सो अध्यापन विना कदाचित् विनष्ट न होजाय इस हेतु आप दोनों को शिष्य बनाकर इस विद्या की पालन की इच्छा से पढ़ाया । केवल आप दोनों को मधुविद्या का ही उपदेश नहीं किया (अपि) किन्तु (त्वाष्ट्रम्) चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी (कक्ष्यम्) गोप्यविज्ञान (यत्) जो है उसको भी (वाम्) आप दोनों से कहा । इत्यादि आपके जो कर्म हैं उनको मैं प्रकाशित करना चाहता हूं ॥ १७ ॥

पदार्थ—अनुवाद के अन्तर्गत ही पदार्थ है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—पुनस्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण ब्रवीति । इदमित्याद्यवोचदन्तं पदमुक्तमेव । मंत्रार्थस्त्वयम् । हे अश्विना अश्विनौ ! अश्वस्य अखण्डस्य क्षणाद्यात्मकस्य कालस्य अपत्ये इति अश्विनौ । अहोरात्ररूपौ पुत्रौ । महाकालस्याहोरात्रः पुत्रत्वेनाध्यारोपितः । पुनः युवां कथंभूतौ दस्रौ अखिलप्राणिनामायुष उपक्षयितारौ । अहोरात्रस्यैव गतागतैर्जीवनं क्षीयते । ईदृशौ युवाम् आथर्वणाय अथर्वदैवताय ब्रह्मपरायणाय दधीचे ध्यानरताय स्वगुरवे । अश्व्यम् अश्वस्येदमश्व्यम् । शिरः प्रति ऐरयतम् प्रेरितवन्तौ । अर्थात् हे गुरो ! यत्त्वं पाठयसि न तदावां सम्यग् विद्वः । अतोऽस्मदनुकूलया योग्यतया पाठय । इति युवयोर्वचनं श्रुत्वा तथैव सोऽपि कृतवान् । युष्मदर्थं तादृशोपि विद्वान् युष्मदानुकूल्यमाचरिवानिति यत्तद्युवयोरेव माहात्म्यम् । अन्यथा तादृशो महात्मा कथमिदं कुर्यात् । ततो युवयोर्वचनानुकूल्यं स आथर्वणो दध्यङ् वां युवाभ्याम् मधु मधुवन्मधुरं मोक्षशास्त्रं प्रवोचत् प्रावोचत् । छान्दसोऽडागमाभावः । किं कुर्वन् ऋतायन्—ऋतं सत्यं प्रतिपालयितुमिच्छन् ऋतं मोक्षशास्त्रम् । अध्यापनमन्तरा मा विनष्टं भूदित्यर्थं तच्छास्त्रं परिपालयितुमिच्छन् स दध्यङ् युवाभ्यां मधुशास्त्रमवोचत् । अपि च—किन्तु त्वाष्ट्रम् त्वष्टुरिदं त्वाष्ट्रम् । त्वक्षू तनूकरणे । त्वष्टा चिकित्सको भिषक् तत्सम्बन्धि । कक्ष्यम् कक्षेभवः कक्ष्यं गोप्यम् । यथा कक्षस्थलोमादि गुप्तभावेन तिष्ठति । शब्दानामन्यत्प्रवृत्तिनिमित्तम् । अन्यच्च प्रकृतिप्रत्ययनिमित्तम् । यथा कुशलः कुशं लातीति । गोप्यञ्चिकित्साशास्त्रं तदपि युवाभ्यामवोचत् । अत्र चिकित्साशास्त्रं पदार्थविद्याया उपलक्षकम् । अहोरात्र एव चिकित्सक इत्यपि वेदितव्यम् ॥ १७ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच । तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्" इति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम् ॥ १८ ॥

पदार्थ—(इदम्+वै०) यह वह मधुविज्ञान है जिसको आथर्वण दध्यङ् अश्विद्वय से कहा करते हैं । इस विषय को वेदमन्त्र भी कहता है । आगे मन्त्रार्थ यह है—(पुरः+चक्रे) वह परमात्मा पृथिवी, सूर्य, नक्षत्र आदि अनेक अनन्त असंख्येय ग्राम बनाया करता है (द्विपदः) दो पैरों से युक्त

मनुष्य पक्षी आदिकों को बनाता है (पुरः+चतुष्पदः+चक्रे) चार पैरों से युक्त हाथी, घोड़ा, बैल, सिंह, व्याघ्र आदिस्वरूप शरीरों को बनाता है। (सः+पक्षी+भूत्वा) वह व्यापक होके (पुरः+पुरः) सब शरीर में सब लोक लोकान्तर में (आविशत्) ओतप्रोत भाव से प्रविष्ट होता है अतः वह (पुरुषः) पुरुष कहाता है (इति) इति शब्द मन्त्र समाप्तिसूचक है। आगे पुरुष शब्द का अर्थ कहते हुए व्यापकता दिखलाते हैं (सः+वै+अयम्+पुरुषः) निश्चय, सो यह पुरुष (सर्वासु+पुर्षु) सम्पूर्ण शरीरों में व्यापक है अतः (पुरिशयः) वह पुरिशय कहाता है जो सब पुरी में विराजमान हो उसको पुरिशय वा पुरुष कहते हैं "पुरि शेते सं पुरिशयः पुरुषो वा" (एनेन+न+किञ्चन+अनावृतम्) इससे कोई पदार्थ अनाच्छादित नहीं है किन्तु सब ही आच्छादित ही हैं (न+एनेन+किञ्चन+असंवृतम्) इससे कोई पदार्थ अननुप्रवेशित नहीं है किन्तु सब ही प्रवेशित हैं इसका आशय भूमिका में देखो ॥ १८ ॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश" इति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(इदम्+वै०) निश्चय उस इस मधुज्ञान को आथर्वण दध्यङ् अश्विद्वय से कहते हैं। यह विषय मन्त्र में भी दृष्ट है, यथा—(प्रतिरूपः) जिस शरीर में जाता है उसी के अनुकूल इस जीवात्मा का भी रूप प्रतीत होता है अतः यह जीवात्मा प्रतिरूप कहाता है। सो यह प्रतिरूप जीवात्मा (रूपम्+रूपम्+बभूव) प्रत्येक लाल, पीला आदि रूप को प्राप्त होता है। "भू प्राप्तौ" यहां भू धातु प्राप्ति अर्थ में है (अस्य+रूपम्+प्रतिचक्षणाय+तत्) इस परमात्मा के स्वरूप को जगत् में प्रख्यात करने के लिये जीवात्मा का वह कर्म हुआ करता है (इन्द्रः) इन्द्र नाम भी जीवात्मा का ही है यह (मायाभिः) विविध ज्ञानों से संयुक्त होने के कारण (माया नाम मेधा का है) (पुरुरूपः+ईयते) बहुरूपधारी प्रतीत होता है (हि) क्योंकि (अस्य) इस जीवात्मा के शरीररूप रथ में (युक्ताः) युक्त (शता+दश+हरयः) १०० और १० इन्द्रियरूप घोड़े हैं (वै+अयम्+हरयः) वास्तव में इन्द्रिय घोड़े नहीं हैं किन्तु यह जीवात्मा ही हरि अर्थात् हरण करनेहारे घोड़े हैं (अयम्+दश+च+सहस्राणि+बहूनि+च) यही जीवात्मा दश है। यही सहस्र है। यही बहुत है (अनन्तानि+च) यही अनन्त है (तद्+एतत्+ब्रह्म) सो यह महान् जीवात्मा (अपूर्वम्) अपूर्व है अर्थात् इसका पूर्वकारण कोई नहीं (अनपरम्) और न अपरकारण कोई है (अनन्तरम्) मध्य में भी कोई नहीं है (अबाह्यम्) जिससे कोई बाह्य पदार्थ नहीं है (अयम्+आत्मा) यही आत्मा (ब्रह्म) महान् है (सर्वानुभूः) सर्व पदार्थ का अनुभव करनेहारा है। (इति+अनुशासनम्) यह याज्ञवल्क्य की शिक्षा है। इति ॥ १९ ॥

दध्यङ् और अश्विद्वय और इन्द्र आदिकों की कथा वास्तविकरूप और कथा का आशय इत्यादि अनेक बातें वैदिक-इतिहासार्थनिर्णय में देखिये ॥

समीक्षा ॥

दध्यङ्ङाथर्वणः ॥

आथर्वणः+दध्यङ् (दधीचिः) * ॥

दध्यङ् ऋषि के सम्बन्ध में प्रथम कतिपय वेदमन्त्रों को सायणादिकृत अर्थसहित प्रकाशित करता हूं। पश्चात् इस पर सुमीमांसा करूंगा।

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥ (क)

अर्थ—(नरानरौ) हे नर शूरवीर अश्विकुमारो ! (न) जैसे (तन्यतुः) बिजुली (वृष्टिम्) वर्षा का प्रकाश करती है अर्थात् जैसे विद्युत् वर्षा की सूचक होती है वैसे ही मैं (वाम्) आप दोनों के (तत्) उस (उग्रम्) भयङ्कर (दंसः) कर्म को (सनये) लाभ के लिये (आविष्कृणोमि) प्रकाशित करता हूं। वह कर्म यह है (ह) सुप्रसिद्ध (आथर्वणः) अथर्वा के पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नाम ऋषि ने (अश्वस्य+शीर्ष्णा) अश्व के शिर से (वाम्) आप दोनों को (ईम्) निश्चय (यत्+मधु) जो मधु, मधु विद्या को (प्र+उवाच) कहा। कोई पुरुष अश्विकुमारों की स्तुति करता है कि जैसे विद्युत् वर्षासूचक होती है, तद्वत् मैं आपके यश को प्रकाशित करूंगा। वे आप ही हैं जिनके लिये आथर्वण दध्यङ् ऋषि ने अश्व के शिर धारण कर मधु विद्या का उपदेश किया। (क)

आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् स वां मधु प्रवोच दृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥ (ख)

अर्थ—(अश्विना) हे अश्विकुमारो ! आपने (आथर्वणाय+दधीचे) आथर्वण दध्यङ् ऋषि के लिये (अश्व्यम्+शिरः) अश्व सम्बन्धी शिर को (प्रत्यैरयतम्) प्रत्यर्पित किया और इसके बदले (ऋतायन्) सत्य से भरे हुए (सः) उस ऋषि ने (वाम्) आप दोनों को (मधु+प्रवोचत्) मधुविद्या कहा (दस्रौ) हे अद्भुत कर्म करने वाले अश्विकुमारो ! (त्वाष्ट्रम्) ब्रह्मसम्बन्धी (अपि+कक्ष्यम्) ज्ञान को भी (वाम्) आप दोनों से कहा ॥ (ख)

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥ (ग)

अर्थ—(अप्रतिष्कुतः) शत्रुओं से प्रतिकूल शब्द रहित (इन्द्रः) इन्द्र ने (दधीचः) दध्यङ् के (अस्थभिः) हड्डियों से (नव+नवतीः) ९+९०=९९ निन्यानवे (वृत्राणि) आवरण करने वाले असुरों का (जघान) हनन करता है ॥ (ग)

यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत। तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋग्वेदः १। ८०। १६ ॥ (घ)

---

* पुराणादि में कहीं २ दध्यङ् को दधीचि नाम से कहा है।

अर्थ—(पूर्वथा) पूर्वकाल में जैसे (अथर्वा) अथर्वा ऋषि (पिता+मनुः) सब प्रजाओं का पिता मनु ऋषि और (दध्यङ्) दध्यङ् ऋषि जिस इन्द्र के निमित्त (यास्+धियम्) जिस स्तोत्रादिक की (अन्नत) किया (तस्मिन्+इन्द्रे) उस इन्द्र के निमित्त (पूर्वथा) पूर्ववत् (ब्रह्माणि) हम लोगों से किये हुए ब्रह्म नामक स्तोत्र (उक्था) उक्थ नामक स्तोत्र (समग्मत) संगत=प्राप्त होते हैं। वह इन्द्र कैसा (स्वराज्यम्) अपने सुखस्वरूप राज्य को (अनु+अर्चन्) प्रकाशित करता हुआ ॥ (घ)

तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्रईधे अथर्वणः। वृत्रहणं पुरन्दरम् ॥

यजु० ११। ३३ ॥ (ङ)

अर्थ—हे अग्ने ! (अथर्वणः) अथर्वा ऋषि के (पुत्रः) पुत्र (दध्यङ्+ऋषिः) दध्यङ् नाम के ऋषि (त्वाम्) आप को (उ) ही (ईधे) प्रज्वलित करते हैं। हे अग्ने ! आप कैसे हैं ? (वृत्रहणम्) पाप के नाश करने वाले, पुनः आप कैसे हैं ? (पुरन्दरम्) रुद्ररूप से ग्रामों को नाश करने वाले। वेदों के ये चार मंत्र मैंने यहां प्रथम कहे हैं। अब अन्य प्रमाण सुनिये।

"तद्वां नरा" इस मन्त्र के ऊपर सायण लिखते हैं—

इन्द्रो दधीचे प्रवर्ग्यविद्यां मधुविद्याञ्चोपदिश्य यदीमामन्यस्मै वक्ष्यसि शिरश्छेत्स्यामीति तज्ज्ञात्वाऽश्विनौ दधीचः शिरः प्रच्छिद्यान्यत्र निधाय तत्राश्व्यं शिरः प्रत्यधत्ताम्। तेन दध्यङ् ऋचः सामानि यजूंषि च प्रवर्ग्यविषयाणि मधुविद्याप्रतिपादकं ब्राह्मणञ्चाश्विनावध्यापयामास। तदिन्द्रो ज्ञात्वा वज्रेण तच्छिरोऽच्छिनत्। तथाश्विनौ तस्य स्वकीयं मानुषं शिरः प्रत्यधत्तामिति शाट्यायनवाजसनेययोः प्रपञ्चेनोक्तम् ॥

अर्थ—इन्द्र ने दध्यङ् ऋषि को प्रवर्ग्यविद्या और मधुविद्या का उपदेश देकर कहा कि यदि इस विद्या को किसी अन्य से आप कहेंगे तो आपका शिर काट डालूंगा तब अश्वियों ने अश्व के शिर को काट दध्यङ् के शिर को भी काट उसे अन्यत्र रख अश्व के शिर को दध्यङ् के शिर के स्थान में जोड़ दिया। उस शिर से दध्यङ् ने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा मधुविद्याप्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों अश्विकुमारों को पढ़ाया, इस व्यापार को इन्द्र ने जान वज्र से उसके शिर को काट लिया, तब अश्वियों ने दध्यङ् के निज मानुष शिर को फिर आन यथास्थान में संयोजित किया। यह आख्यायिका शाट्यायन और वाजसनेय में विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस कथा में सायण की एक बात ठीक नहीं है। दध्यङ् ऋषि ने इन्द्र को विद्या पढ़ाई थी, ऐसा भी कोई कहते हैं परन्तु सायण कहते हैं कि इन्द्र ने ही दध्यङ् को विद्या पढ़ाई। यह बात उलटी पुलटी पाई जाती है। "इन्द्रो दधीच" इस मन्त्र पर सायण यह लिखते हैं ॥

(अत्र शाट्यायनिन इतिहासमाचक्षते) आथर्वणस्य दधीचो जीवतो दर्शनेन असुराः पराबभूवुः। अथ तस्मिन् स्वर्गते असुरैः पूर्णा पृथिव्यभवत्। अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह योद्धुमशक्नुवंस्तमृषिमन्विच्छन् स्वर्गं गत इति शुश्राव। अथ पप्रच्छ तत्रत्यान् नेह किमस्य किञ्चित्परिशिष्टमङ्गमस्ति ? इति। तस्मा अवोचन्। अस्त्येतदाश्वं शीर्षम् येन शिरसा अश्विभ्यां मधुविद्यां प्राब्रवीत्। तत्तु न विद्मः। यत्राभवद् इति। पुनरिन्द्रोऽब्रवीत्। तदन्विच्छत इति। तद्धान्वेषिषुः तच्छर्यणावत्यनुविद्याऽऽजहुः। शर्यणावद्धवै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धसरः। स्यन्दते। तस्य शिरसोऽस्थिभिरिन्द्रोऽसुरान् जघान इति ॥

अर्थ—शाख्यायिनी लोग इस विषय में इतिहास कहते हैं, जब आथर्वण (अथर्वा ऋषि के पुत्र) दध्यङ् जीवित थे तब इनके दर्शनमात्र से असुर परास्त होजाते थे। जब यह ऋषि स्वर्ग को चले गये तब यह सम्पूर्ण पृथिवी असुरों से पूर्ण होगई और इन्द्र राजा उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ होकर उस ऋषि को खोजने लगे तो उन्हें सुन पड़ा कि वह स्वर्ग को चले गये। वहां के लोगों से पूछा कि क्या इनका कोई अङ्ग बचा हुआ है ? उन्होंने इनसे कहा कि हां यह अश्व-सम्बन्धी शिर है जिस शिर से अश्वियों को मधुविद्या सिखलाई थी परन्तु वह शिर कहां है सो मालूम नहीं। तब इन्द्र ने कहा कि आप लोग उसे खोज कीजिये उन्होंने उसका अन्वेषण किया। शर्यणावान् में उसे पाकर ले आये। कुरुक्षेत्र के निकट में शर्यणावत् नाम का एक सर है, उस सिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों का संहार किया। महाभारत वनपर्व अध्याय १०० में दध्यङ् की कथा।

आसन् कृतयुगे घोरा दानवा युद्धदुर्म्मदाः।
कालकेया इति ख्याता गणाः परमदारुणाः॥
ते तु वृत्रं समाश्रित्य नानाप्रहरणोद्यताः।
समन्तात्पर्यधावन्त महेन्द्रप्रमुखान् सुरान्॥ इत्यादि॥

कृतयुग में बड़े २ योद्धा दानव थे। "कालकेय" नाम से प्रसिद्ध थे और इन का स्वामी वृत्र था। वे लोग ऐसे दारुण और योद्धा थे कि इन्द्रादि सब देव हार अपने २ अधिकार छोड़ इधर उधर भाग परम व्याकुल हुए। एवं ब्रह्म के निकट जा सब वृत्तान्त सुनाये। तब ब्रह्मा ने मन में विचार यह कहा।

तमुपायं प्रवक्ष्यामि यथा वृत्रं वधिष्यथ।
दधीच इति विख्यातो महानृषिरुदारधीः॥
तं गत्वा सहिताः सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत।
स वो यास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना॥

उस उपाय को कहूंगा जिससे आप लोग वृत्र को मार सकोगे। हे इन्द्र ! सुनो एक दधीच नाम परम उदार ऋषि हैं उनसे सब कोई मिलकर वर मांगो। वे धर्मात्मा ऋषि अवश्य ही आप लोगों को प्रसन्न चित्त से वर देवेंगे। वर क्या मांगना सो आगे कहते हैं—

स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकांक्षिभिः।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै॥
स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं सं क्रियतां दृढम्॥

हे इन्द्र ! तब आप सब मिलकर उनसे वर मांगना कि आप अपनी हड्डिएं दीजिये। क्योंकि इनसे तीनों लोकों का उपकार होगा। वह महात्मा शरीर को त्याग अपनी अस्थियों को अवश्य देवेंगे, ब्रह्मा के इस वचन को सुन वे लोग जहां ऋषि दधीच रहते थे वहां गये और वे ऋषि भी प्रसन्न होकर शरीर त्याग सुखधाम को चले गये। यथा—

ततो दधीचः परमः प्रतीतः सुरोत्तमांस्तानिदमभ्युवाच।
करोमि यद्वोहितमद्य देवाः स्वञ्चापि देहं स्वयमुत्सृजामि॥

स एवमुक्तो द्विपदां वरिष्ठः प्राणान् वशी स्वान् सहसोत्ससर्ज ।
ततः सुरास्ते जगृहुः परसोरस्थीनि तस्याथ यथोपदेशम् ॥

तब दधीच ऋषि परम विश्वस्त हो उन देवताओं से बोले कि हे देवो ! आप लोगों का जो हित होगा सो काम आज मैं करूंगा । निज शरीर का भी परित्याग करूंगा । इस प्रकार कहकर सर्वश्रेष्ठ और वशी पञ्चत्व को प्राप्त हुए । तब इन्द्रादि देवों ने इनकी हड्डियों को अस्त्र शस्त्र बना वृत्र को हत किया । इत्यादि कथा महाभारत में देखो ।

मघवन् यात भद्रं वो दध्यञ्चमृषिसत्तमम् ।
विद्याव्रततपः सारं गात्रं याचतमाचिरम् ॥ ५१ ॥
स वा अधिगतो दध्यङ् अश्विभ्यां ब्रह्मनिष्कलम् ।
यद्वा अश्वशिरो नाम तयोरमरतां व्यधात् ॥ ५२ ॥

भागवत स्कन्ध ६ अध्याय ६ ॥

इन्द्र से नारायण कहते हैं कि देवेन्द्र ! आपका कल्याण हो. आप शीघ्र ऋषि सत्तम दध्यङ् ऋषि के निकट जाइये और विद्या तप व्रत से पुष्ट उनके शरीर को मांगिये । जिस दध्यङ् ने स्वयं ब्रह्मविद्या को प्राप्त होकर अश्विकुमारों को दिया । जिस हेतु अश्वशिर से उस विद्या को उपदेश किया था, इस हेतु उसका अश्व शिर हुआ । जिसने उन दोनों अश्विकुमारों को अमर बनाया ।

एवं व्यवसितो दध्यङ्ङाथर्वणस्तनुम् ।
परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं सं नयन् जहौ ॥ १ ॥ भागवत ६ । १० ॥

जब इन्द्रादि देवों ने इनसे हड्डियां मांगी तब परोपकार समझ आथर्वण दध्यङ् ऋषि ने परब्रह्म में मन को लगाकर इस शरीर को त्याग दिया । तब इनकी हड्डियों से अस्त्र बनाकर वृत्र को मारा, इत्यादि कथा देखो ॥

यह आख्यायिका आथर्वण दध्यङ्, इन्द्र तथा अश्वी इन तीन से सम्बन्ध रखती है, अश्वियों ने दध्यङ् से मधुविद्या का ग्रहण किया और अश्व के शिर को दध्यङ् के शिर के स्थान में लगाया और इन्द्र ने दध्यङ् ऋषि की हड्डियों से वृत्रों का हनन किया इतना सार है, इस पर मीमांसा कर्तव्य है । अश्वी कौन है ?

तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके । अहोरात्रावित्येके ।
सूर्याचन्द्रमसावित्येके । राजानौ पुण्यकृता वित्यैतिहासिकाः ॥ नि॰ दै॰ ६ । १ ॥

अर्थ—अश्वी कौन है ? ऐसी शङ्का कर उत्तर देते हैं कि कोई आचार्य "द्यावापृथिवी" को अश्वी कहते हैं । कोई आचार्य "अहोरात्र" को अश्वी कहते हैं । कोई "सूर्य चन्द्र" को और ऐतिहासिक पुण्यकृत "राज्ञी" और "राजा" को अश्वी कहते हैं, ये चार पक्ष हैं । दध्यङ् कौन है ?

प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा । प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा ॥ निरुक्त दैवत॰ ६ । ३३ ॥

अर्थ—ध्यान में जो परम आसक्त हो उसे दध्यङ् कहते हैं । अथवा जिसमें ध्यान लगा हो । दोनों का एकसा अर्थ है । अर्थात् परमध्यानी ज्ञानी तत्त्ववित् का नाम दध्यङ् है ॥

देवराज यज्वाजी निघण्टु के "निर्वचन नामक" टीका में लिखते हैं कि—

ध्यानं ज्ञानं लोककृत्याकृत्य विषयं लोकपालत्वात् । ध्यानं प्रतिगतः प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा । ध्यानशब्दोपपदाञ्चतेः क्विन्पृषोदरादित्वाद् ध्यानशब्दस्य दधिभावः । क्विन् प्रत्ययस्य कुः । ८ । २ । ६२ ॥

अर्थ—"ध्यान" पूर्वक अञ्च धातु से दध्यङ् शब्द की सिद्धि देवराज यज्वाजीने मानी है और निरुक्त का भी यही पक्ष है । अन्य कोशकार कहते हैं "दधिं धारकमञ्चतीति" इसके अनुसार दधि अञ्च से दध्यङ् सिद्ध होता है और इस "दध्यच्" से स्वार्थ में अण् और इञ् प्रत्यय होने से और पृषोदरादि के कारण वृद्धि न होने से "दधीच" और "दधीचि" शब्द भी सिद्ध होते हैं । इत्यादि ॥

अश्व—यहां इतना और भी जानना चाहिये कि "अश्व" यह शब्द सूर्य के अर्थ में वेदों में बहुधा प्रयुक्त हुआ है ।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ॥

अर्थ—"अश्व" शब्द सूर्य के किरण अर्थ में आया है । जो अपने किरण द्वारा बहुत प्रदेश में व्यापक हो वह अश्व है । अश्व के सम्बन्ध से अश्वि शब्द बना है । यह सिद्ध हुआ है कि किन्हीं खास दो मनुष्य व्यक्तियों का नाम अश्वी नहीं । अश्वी दिन रात का नाम है । दिन और रात्रि ने मिलकर दध्यङ् ऋषि से विद्या अध्ययन किया इसका तात्पर्य क्या होगा । यह आलङ्कारिक वर्णन है । इसमें सन्देह नहीं कि यह विद्वानों का वर्णन मात्र है । जो तत्त्ववित् परोपकारी महात्मा पुरुष होते हैं वे क्या दिन क्या रात्रि सर्वदा विद्यादान करते ही रहते हैं वे दिन रात बैठते नहीं । और वे दिन रात्रि भी धन्य हैं जिनमें विद्वान् लोग ब्रह्मविद्या की चर्चा रखते हैं ।

विद्वान् लोग विद्या किस रीति से पढ़ाते हैं—जो बालक आज अक्षरारम्भ करता है उसको अक्षर का ही बोध करवाना होगा । यदि इसको व्याकरण के सूत्र समझाने लगें तो बिलकुल ही व्यर्थ होगा और इसके विपरीत जिसकी पाणिनी अष्टाध्यायी समाप्त होगई है उसे यदि अक्षर सिखलावें तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि वह अक्षर पहले से ही जानता है । इसका भाव यह है कि शिष्य का शिर जैसा हो उसी के अनुसार विद्या देनी चाहिये अर्थात् जहां तक शिष्य को समझने की शक्ति का दौड़ हो वहां तक ही विद्या देनी चाहिये और धीरे २ क्रम से अपने शिर के समान शिष्य को बना देना आचार्य्य का धर्म है । मानो एक शिशु बड़े भारी अनूचान के निकट विद्याध्ययन को आया है । अब इसे किस रीति से विद्या देनी चाहिये । प्रथम यह उपाय अवश्य ग्रहण करना होगा कि अपना शिर (योग्यता) तो अलग रक्खो और शिष्य का शिर देखो । यह कैसे किस प्रकार से विद्या ग्रहण कर सकता है उसकी रुचि किस में अधिक है इत्यादि । इस प्रकार उस शिशु शिष्य के शिर (योग्यता) के अनुसार गुरु वा आचार्य को वर्त्तना पड़ेगा उसको विद्या आसकती है । इस प्रकार पढ़ाते २ अपने शिर तक उसे ले जाना होगा । जब तक शिष्य आचार्य के शिर तक नहीं पहुँचता है तब तक मानो आचार्य का शिर कहीं अन्यत्र ही है और जब शिष्य वहां तक पहुंचा तब मानो आचार्य का शिर पुनः इसके कन्धे पर आ गया । भाव यह है कि जबतक आचार्य्य अपने शिष्य को प्रौढ दृढ और बोद्धा नहीं बना लेता है तबतक वह अपने शिर को पृथक् ही रखता है और पृथक् रखने का कारण शिष्य है और जब शिष्य प्रौढ होता जाता है तब मानो आचार्य्य का शिर पुनः आजाता है और आने का

भी कारण शिष्य ही है। आजकल की शिक्षाप्रणाली देखो। विद्यास्वरूप पर्वत की जड़ से शिष्य को आचार्य धीरे २ ऊपर लेजाना आरम्भ करता है। जब वह शिष्य विद्यारूप पर्वत के शिखर पर चढ़ जाता है तब उसको वहां ही छोड़ पुनः आचार्य नीचे आता है और दूसरे शिष्य को चढ़ाना आरम्भ करता है पुनः उसको शिखर पर चढ़ाकर पुनः आचार्य नीचे आता है अर्थात् आचार्य को सर्वदा नीचे ऊपर होना पड़ता है॥

दध्यङ् और अश्विद्वय के विषय में यही अलङ्कार है। जब अश्वियों को दध्यङ् पढ़ाने लगे तब अपना शिर तो अलग करना पड़ा और अश्विद्वय के शिर के समान ही शिर धारण करना पड़ा और जब अश्वि पूर्ण बोधवाले हुए तो मानो दध्यङ् ने पुनः अपने शिर को धारण किया। वेद में कोई मानवीय कथा नहीं है परन्तु मनुष्य के लिये ही वेद है। इस हेतु मनुष्योपयोगी सब विषय वेद में आजाने चाहियें। अब यहां विद्या के विषय में मनुष्यों के निमित्त शिक्षा देनी है। इस हेतु कल्पना करो कि दिन, रात्रि ही दो विद्यार्थी हैं। ये दोनों अश्वि कहलाते हैं और एक परमतत्त्ववित् आचार्य है। इसके निकट ये दोनों जाते हैं। अब इन दोनों की जैसी बुद्धि होगी तदनुसार ही शिक्षा दातव्य होगी। इस हेतु मानो दध्यङ् ने अपने शिर को अलग कर रक्खा और अश्वियों का जैसा शिर था वैसा ही धारण किया जब आचार्य के सिद्धान्त तक वे दोनों पहुँचे तो मानो आचार्य ने अपने शिर को पुनः धारण किया।

यहां इतना विचार रखना चाहिये कि आचार्य के शिर के पृथक् और योग करने में कारण शिष्य ही है। शिष्य के लिये अपने शिर को पृथक् करता है और शिष्य के शिर के अनुसार कुछ दिन चलना पड़ता है पुनः जब शिष्य प्रौढ़ होता है तब उसी शिष्य के कारण पुनः अपना शिर धारण करता है। यदि शिष्य विद्या में निपुण नहीं हुआ तो उसके लिये आचार्य का शिर अलग ही है। यदि आचार्य के शिर तक वह पहुँच गया तो मानो उसने पुनः आचार्य के शिर को योग कर दिया। यहां शिर शब्द का लक्ष्यार्थ ज्ञान योग्यता आदि है।

प्रश्न—अश्वियों को अश्व के शिर से ही क्यों विद्या पढ़ाई?

उत्तर—प्रथम ही कह चुके हैं कि जैसा शिष्य होता है वैसा ही आचार्य को शिर धारण करना पड़ता है। यहां अश्वजाति के अपत्य अश्वी हैं। अतः अश्व का शिर धारण करना उचित है। यहां केवल सादृश्यद्योतक शिरः शब्द है अर्थात् यहां यह दिखलाना है कि जैसा शिष्य हो तदनुसार ही पढ़ाना चाहिये। जिस हेतु अश्व ही शिष्य है। अतः अश्वशिर धारण करना पड़ा।

प्रश्न—मनुष्य का उदाहरण क्यों नहीं दिया। ऐसे २ उदाहरण से अस्मदादिकों को बड़ा सन्देह हो जाता है।

उत्तर—मनुष्य का उदाहरण इस हेतु योग्य नहीं होता कि मनुष्य के शिर से मनुष्य को पढ़ाना यह कथन व्यर्थ होता क्योंकि मनुष्य को मनुष्य के शिर से पढ़ाना चाहिये ही। यहां कुछ विपरीतता दिखलानी है। यदि कहते कि दध्यङ् ऋषि अपने शिर को अलग कर शिशु के शिर को धारण कर शिष्य को पढ़ाते हैं या पढ़ाया, ऐसा यदि कहते तो इतना सन्देह नहीं होता। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसी २ बातें प्रायः गूढार्थ में कही जाती हैं और कहीं बहुत ही सहजार्थ में कही जाती हैं। दोनों अवस्था में व्याख्यान से ही कार्य सिद्ध होता है। "बालक के शिर से पढ़ाना"

इसमें भी व्याख्यान की ही आवश्यकता थी। "अश्व" शब्द के प्रयोग से यह एक गूढ़ तात्पर्य है कि तीव्र संवेग से आचार्य शिष्य को पढ़ावे क्योंकि अश्व शब्द का लक्ष्यार्थ तीव्र संवेग है। जैसे अश्व बड़े वेग से दौड़ता है तद्वत्।

प्रश्न—यहां दिन रात्रि को शिष्य क्योंकर माना, क्या इसमें भी कोई विशेष तात्पर्य है ?

उत्तर—हां, इसमें भी विशेष तात्पर्य है। जैसे दिन के अनन्तर रात्रि और रात्रि के अनन्तर दिन आते जाते रहते हैं। तद्वत् आचार्य के निकट एक पढ़ कर गया दूसरा आया। ब्रह्मचारियों का आना जाना बराबर लगातार लगा रहता है। इस अर्थ को द्योतित करने के लिये दिन रात्रि वाचक अभि शब्द का प्रयोग हुआ है और रूपक के द्वारा दिवस में पुरुषत्व और रात्रि में स्त्रीत्व का अध्यारोप होता है। ऐसा संस्कृत का नियम है, इससे यह सूचित हुआ कि बालक बालिका दोनों विद्याध्ययन करें। रात्रि दिन शब्द से रात्रिस्थ और दिनस्थ पुरुषों का भी ग्रहण हो सकता है, विद्वान् लोग दिन में और रात्रि में पढ़ने वालों को रात्रि में पढ़ावें। इतर दो पक्षों में भी अध्यारोप से यह आख्यायिका घटती है और राजा राज्ञी में तो सर्वथा घट सकती है।

इन्द्र और दध्यङ्—अब इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से वृत्रों का हनन किया। इस पर मीमांसा करनी है। यहां एक भूल मालूम होती है। वेद के मन्त्र में "अस्थभिः" पाठ है। "अस्थन्" शब्द से "अस्थभिः" रूप होगा। संस्कृत में एक "अस्थि" शब्द है जिसका अर्थ हड्डी होता है परन्तु टीकाकार वा भाष्यकारों ने "अस्थभिः" का अर्थ "अस्थिभिः" किया है सो उचित प्रतीत नहीं होता। यहां "अस्थभिः" का अर्थ "अस्त्र" करते तो सब सुसंगत हो जाता है अर्थात् इन्द्र जो देशरक्षक प्रजापालक राजा है वह विद्वानों से आविष्कृत विविध (अस्थभिः) अस्त्रों से (वृत्राणि) प्रजा की बुद्धियों के आवरण करने वाले पापों को अथवा उपद्रवों को (जघान) नाश किया करें अथवा राजाओं को उचित है कि वह विद्वानों का अधिकतर आदर करें। इस विषय को सूचित करने के लिये ईश्वर शिक्षा देते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्वानों की हड्डियां भी मरने के बाद काम करती हैं। केवल ये विद्वान् लोग जीते जागते ही काम नहीं करते हैं किन्तु मर जाने पर भी वे कार्य करते रहते हैं। उनके पढ़ाये हुए विद्यार्थी गण, उनके विरचित शस्त्र शास्त्र, उनके बनाये हुए विविध ग्रन्थ, उनके शिक्षित राजपुरुषादि गण इनके मरने के पीछे बराबर कार्य करते रहते हैं, इस हेतु इन विद्वानों का आदर तुम अधिक करो। देखो इन्द्र ने दधीची के छोड़े हुए ग्रन्थादि स्वरूप अस्थियों से कार्य्य लिया, इस पक्ष में अस्थि शब्द से ही "अस्थभिः" ऐसा मानना चाहिये क्योंकि वेदों में वैसा भी होता है।

नवतीर्नव—संस्कृत में संख्याद्योतक नौ अङ्क होते हैं। जैसे—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९ इसके अनन्तर एक अङ्क पर शून्य देने से १०, एक पर एक ११, एक पर दो १२ इस प्रकार नौ ही अङ्क हैं और ९ के बाद शून्य है। जैसे ९ के बाद १०, १९ के बाद २०, २९ के बाद ३०, इसी प्रकार ३९ के ४०, ४९ के ५० ५९, के ६० इत्यादि। इससे यह सिद्ध हुआ कि नौ के बाद कोई अङ्क नहीं। इस हेतु नवम अङ्क "सर्वार्थक, समस्तार्थ" है, अर्थात् नौ का अर्थ सब बिलकुल, समस्त आदि है और ९ पर एक ही शून्य देने से ९० नवति, नब्बे होता है। शून्य शब्द का अर्थ क्या है ? कुछ नहीं।

तब वेद मन्त्र का भाव यह हुआ कि नौ अर्थात् सकल विघ्नों को नाश करता है और जब सकल विघ्नों का नाश होगया तो उन विघ्नों की शून्यता होगई। देश विघ्नों से शून्य=रहित होगया। इस भाव को १० दिखलाता है। इस पर वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय में भी देखो। इसके अन्यान्य भी अर्थ किये गए हैं।

प्रश्न—१, २, ३ आदि शब्दों को तो ऋषियों ने वा मनुष्यों ने बनाया है और वेद ईश्वरीय हैं। उस समय अङ्क नहीं थे, फिर आपका अर्थ कैसे घट सकता है?

उत्तर—वेद के अभिप्राय से ही ऋषियों ने सब विद्याएं निकाली हैं। "न द्वितीयो न तृतीयो" इत्यादि वेद के मन्त्र से नव अङ्क के ही सङ्केत प्रतीत होते हैं, इस हेतु ऋषियों ने वेद के सङ्केत के अनुसार नौ ही अङ्क रक्खे हैं।

प्रश्न—तमुत्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईंधे अथर्वणः वृत्रहणं पुरन्दरम्॥

इस मन्त्र में तो साक्षात् अथर्वा का पुत्र दध्यङ् ऋषि कहे गये हैं। इससे यह सिद्ध है कि अथर्वा के बाद ही वेद बना है और इसमें मनुष्य का इतिहास है।

उत्तर—यहां अथर्व नाम ईश्वर का है और पुत्र नाम अधिकारी का है। जो विद्वान् है वह ईश्वरीय धन का अधिकारी है, यह इसका भाव है। यहां अथर्वा वा दध्यङ्, मनु आदि जो वेद में शब्द आये हैं वे किसी मनुष्य वाचक शब्द नहीं हैं। 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' में इसकी मीमांसा देखो।

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः—

पौतिमाष्यः—गौपवनात् ।	गौपवनः—पौतिमाष्यात् ।
पौतिमाष्यः—गौपवनात् ।	गौपवनः —कौशिकात् ।
कौशिकः—कौण्डिन्यात् ।	कौण्डिन्यः—शाण्डिल्यात् ।
शाण्डिल्यः—कौशिकाच्च गौतमाच्च ।	— गौतमः—
— —आग्निवेश्यात् ।	आग्निवेश्यः—शाण्डिल्याच्च अनभिम्लाताच्च ।
अनभिम्लातः—आनभिम्लातात् ।	आनभिम्लातः—आनभिम्लातात् ।
अनाभिम्लातः—गौतमात् ।	गौतमः—सैतव प्राचीनयोगाभ्याम् ।
सैतव प्राचीनयोग्यौ—पाराशर्यात् ।	पाराशर्यः—भारद्वाजात् ।
भारद्वाजः—भारद्वाजाच्च, गौतमाच्च ।	गौतमः—भारद्वाजात् ।
भारद्वाजः—पाराशर्य्यात् ।	पाराशर्यः—वैजवापायनात् ।
वैजवापायनः—कौशिकायनेः ।	कौशिकायनिः—
— —घृतकौशिकात् ।	घृतकौशिकः—पाराशर्य्यायणात् ।

पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या प्राप्त की ।	गौपवन ने पौतिमाष्य से विद्या प्राप्त की ।
पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या प्राप्त की ।	गौपवन ने कौशिक से विद्या प्राप्त की ।
कौशिक ने कौण्डिन्य से विद्या प्राप्त की ।	कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से विद्या प्राप्त की ।
शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से विद्या प्राप्त की ।	गौतम ने ,, से विद्या प्राप्त की ।
— आग्निवेश्य से विद्या प्राप्त की ।	आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और अनभिम्लात से विद्या प्राप्त की ।
अनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की ।	आनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की
आनभिम्लात ने गौतम से विद्या प्राप्त की ।	गौतम ने सैतव और प्राचीन योग्य से विद्या प्राप्त की ।
सैतव और प्राचीन योग्य ने पराशर्य से विद्या प्राप्त की ।	पाराशर्य ने भारद्वाज से विद्या प्राप्त की ।
भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम से विद्या प्राप्त की ।	गौतम ने भारद्वाज से विद्या प्राप्त की ।
भारद्वाज ने पाराशर्य से विद्या प्राप्त की ।	पाराशर्य ने वैजवापायन से विद्या प्राप्त की ।
वैजवापायन ने कौशिकायनि से विद्या प्राप्त की ।	कौशिकायनि ने ,, से विद्या प्राप्त की ।
वैजवापायन ने घृतकौशिक से विद्या प्राप्त की ।	घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से विद्या प्राप्त की ।

पाराशर्यायणः—पाराशर्यात् ।
पाराशर्यः—जातूकर्ण्यात् ।
जातूकर्ण्यः—आसुरायणाच्च यास्काच्च ।
आसुरायणः—त्रैवणेः ।
त्रैवणिः—औपजन्धनेः ।
औपजन्धनिः—आसुरेः ।
आसुरिः—भारद्वाजात् ।
भारद्वाजः—आत्रेयात् ।
आत्रेयः—माण्टेः ।
माण्टिः—गौतमात् ।
गौतमः—गौतमात् ।
गौतमः—वात्स्यात् ।
वात्स्यः—शाण्डिल्यात् ।
शाण्डिल्यः—कैशोर्यात्काप्यात् ।
कैशोर्यःकाप्यः—कुमारहारितात् ।
कुमारहारितः—गालवात् ।
गालवः—विदर्भिकौण्डिन्यात् ।
विदर्भिकौण्डिन्यः—वत्सनपातोबाभ्रवात् ।
वत्सनपाद्बाभ्रवः—पन्थासौभरात् ।
पन्थाः सौभरः—आयास्यादाङ्गिरसात् ।
आयास्यआङ्गिरसः—आभूतेःत्वाष्ट्रात् ।
आभूतिस्त्वाष्ट्रः—विश्वरूपात्त्वाष्ट्रात् ।
विश्वरूपाःत्वाष्ट्रः—अश्विभ्याम् ।
अश्विनौ—दधीच आथर्वणात् ।
दध्यङ्ङाथर्वणः—अथर्वणो दैवात् ।
अथर्वा दैवः—मृत्योःप्राध्वंसनात् ।
मृत्युः प्राध्वंसनः—प्रध्वंसनात् ।
प्रध्वंसनः—एकर्षेः ।
एकर्षिः—विप्रचित्तेः ।
विप्रचित्तिः—व्यष्टेः ।

पाराशर्यायण ने पाराशर्य से विद्या प्राप्त की ।
पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से विद्या प्राप्त की ।
जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से विद्या प्राप्त की ।
आसुरायण और यास्कने त्रैवणि से विद्या प्राप्त की ।
त्रैवणि ने औपजन्धनि से विद्या प्राप्त की ।
औपजन्धनि ने आसुरि से विद्या प्राप्त की ।
आसुरि ने भारद्वाज से विद्या प्राप्त की ।
भारद्वाज ने आत्रेय से विद्या प्राप्त की ।
आत्रेय ने माण्टि से विद्या प्राप्त की ।
माण्टि ने गौतम से विद्या प्राप्त की ।
गौतम ने गौतम से विद्या प्राप्त की ।
गौतम ने वात्स्य से विद्या प्राप्त की ।
वात्स्य ने शाण्डिल्य से विद्या प्राप्त की ।
शाण्डिल्य ने कैशोर्यकाप्य से विद्या प्राप्त की ।
कैशोर्यकाप्य ने कुमारहारीत से विद्या प्राप्त की ।
कुमारहारीत ने गालव से विद्या प्राप्त की ।
गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से विद्या प्राप्त की ।
विदर्भि कौण्डिन्य ने वत्सनपातबाभ्रव से विद्या प्राप्त की ।
वत्सनपातबाभ्रव ने पन्था सौभर से विद्या प्राप्त की ।
पन्था सौभर ने आयास्य आङ्गिरस से विद्या प्राप्त की ।
आयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से विद्या प्राप्त की ।
आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से विद्या प्राप्त की ।
विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विद्वय से विद्या प्राप्त की ।
अश्वी ने दध्यङ् आथर्वण से विद्या प्राप्त की ।
दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वा दैव से विद्या प्राप्त की ।
अथर्वा दैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से विद्या प्राप्त की ।
मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से विद्या प्राप्त की ।
प्रध्वंसन ने एकर्षि से विद्या प्राप्त की ।
एकर्षि ने विप्रचित्ति से विद्या प्राप्त की ।
विप्रचित्ति ने व्यष्टि से विद्या प्राप्त की ।

व्यष्टिः—सनारोः । सनारुः—सनातनात् ।
सनातनः—सनगात् । सनगः—परमेष्ठिनः ।
परमेष्ठीः—ब्रह्मणः । ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥

व्यष्टि ने सनारु से विद्या प्राप्त की । सनारु ने सनातन से विद्या प्राप्त की ।
सनातन ने सनग से विद्या प्राप्त की । सनग ने परमेष्ठी से विद्या प्राप्त की ।
परमेष्ठी ने ब्रह्म से विद्या प्राप्त की । ब्रह्म स्वयम्भु है उस ब्रह्म को नमस्कार ॥ ३ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

* ओ३म् *

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायारम्भः

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवां सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

अनुवाद—वैदेह जनक महाराज ने (किसी एक समय) बहुदक्षिण * नामक यज्ञ द्वारा यज्ञ किया। वहां कुरु और पञ्चाल देश के ब्राह्मण एकत्रित हुए (तत्पश्चात्) उस वैदेह जनक महाराज को विशेष रूप से जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि इन ब्राह्मणों में "अनूचानतम" † कौन है। इस हेतु उन प्रसिद्ध राजा ने एक सहस्र गायें (गौशाला में) रोकीं और एक २ गाय के दोनों सींगों में दश २ पाद ‡ बांधे गये ॥ १ ॥

पदार्थ—किसी समय में (वैदेहः) वैदेह (जनकः+ह) सुप्रसिद्ध जनक नाम के राजा हुए। उन्होंने (बहुदक्षिणेन) बहुत दक्षिणा वाले (यज्ञेन) यज्ञ से (ईजे) यज्ञ किया अर्थात् बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ को किया (तत्र) उस यज्ञ में (ह) परम प्रसिद्ध (कुरुपञ्चालानाम्) कुरु और पञ्चाल देश के (ब्राह्मणाः) ब्रह्मवित् पुरुष (अभिसमेताः+बभूवुः) इकट्ठे हुए क्योंकि महाराजाओं के यज्ञ केवल अपने पुरोहितादियों से ही नहीं होते किन्तु उस समय के द्वीप द्वीपान्तर में प्रसिद्ध विद्वान् जितने होते वे सब ही बुलाये जाते हैं। यहां ब्रह्मविद्या का प्रसंग है अतः केवल दो एक प्रसिद्ध देश का नाम कह दिया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इन्हीं दो देशों के ब्राह्मण आये थे अब ऐसे विद्वानों का संगम केवल दक्षिणा मात्र के लिये ही नहीं होता किन्तु ऐसे समय पर बहुत सूक्ष्म विषय

---

* बहु दक्षिण=शङ्कराचार्य कहते हैं कि अश्वमेध यज्ञ का नाम बहुदक्षिण है ऐसा किसी शाखा में है। जिसमें बहुत दक्षिणा दी जाय उसे बहुदक्षिण कह सकते हैं। अश्वमेध में बहुत दक्षिणा होती है इस हेतु उसे बहु दक्षिण कहते हैं। अथवा जिस किसी यज्ञ में बहुत दक्षिणा दी जाय उस सब को बहुदक्षिण कह सकते हैं। राजसूयादि यज्ञ में भी बहुत दक्षिणा होती है ॥

† अनूचान=वेद जानने वाले। जो अतिशय विद्वान् हों उन्हें अनूचानतम कहते हैं। भाष्याशय देखो ॥

‡ पाद=सोने के एक पल के चतुर्थ भाग को पाद कहते हैं ॥

का विचार भी होता था। अतः आगे प्रस्तावना की जाती है। (तस्य+ह+जनकस्य+वैदेहस्य) उन प्रसिद्ध वैदेह जनक महाराज को (विजिज्ञासा+बभूव) विशेष जिज्ञासा उत्पन्न हुई सो आगे कहते हैं—(एषाम्+ब्राह्मणानाम्) इन माननीय ब्राह्मणों के मध्य (कः+स्वित्) कौन (अनूचानतमः) अतिशय अनूचान=वेदवित् हैं। यद्यपि ये सब ही अनूचान हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु तारतम्य सर्वत्र रहता है इस हेतु इनमें सबसे बढ़कर अनूचान कौन हैं (इति) ऐसी जिज्ञासा जनक महाराज को उत्पन्न हुई। इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये राजा ने क्या उपाय किया सो आगे कहते हैं—(सः+ह) उन राजा ने (गवाम्+सहस्रम्) गायों का एक सहस्र अर्थात् एक सहस्र नवीन दुग्धवती गायों को (रुरोध) किसी एक स्थान में रोका अर्थात् भृत्यादिकों के द्वारा एक सहस्र गायें मंगवाई और (एकैकस्याः) एक २ गाय के (शृङ्गयोः) दोनों सींगों में (दश+दश+पादाः) दश २ पाद सोने (एक पल के चतुर्थ भाग का नाम पाद है) (आबद्धा+बभूवुः) बांधे गये अर्थात् उन सहस्रों गौवों के एक २ सींग में सोने के पांच २ पाद बांधे गये। बांध कर क्या किया सो आगे कहेंगे ॥ १ ॥

भाष्यम्—जनक इति। विदेहाः क्षत्रियास्तेषां निवासा जनपदास्तेपि विदेहाः। विदेहानां क्षत्रियाणां जनपदान्त वा राजा वैदेहः। "जनपदे लुप् ४। २। ८१॥" "लुपियुक्तवद्व्यक्तिवचने १। २। ५१॥" इति नियमात्। जनपदो ग्रामसमुदायः। यद्वा। विगतोदेहोऽभिमानादिर्देहधर्मो यस्य सः विदेहः कश्चिद्राजा तस्यापत्यं पुमान् वैदेहः। विदेहं प्रति पुराणानि इतिहासाश्च बहुवादिनो दृश्यन्ते। प्रथमं "मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु द्वेषः। रागद्वेषाधिकाराच्चासूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिसिद्धमैथुनान्याचरति। वाचाऽनृतपरुषसूचनासम्बद्धानि। मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यञ्चेति।" इति वात्स्यायनमुनिना स्वन्यायभाष्ये प्रतिपादितम्। इमे एव शरीरधर्माः पापाय भवन्ति। अतो रागद्वेषरहित इति सूचितम्। रागद्वेषरहित एव पुरुषः प्रजानां जनको भवितुमर्हति। अतः स जनक इति नाम्ना विख्यातो बभूव। स ह वैदेहो जनकः सम्राट् कदाचित् बहुदक्षिणेन बहव्यो दक्षिणा ऋत्विजां सत्काररूपाणि दानानि यस्मिन् स बहुदक्षिणस्तेन राजसूयेन यज्ञेन क्रतुना। "शाखान्तरप्रसिद्धो बहुदक्षिणो नाम यज्ञोऽश्वमेधो वा दक्षिणाबाहुल्याद् बहुदक्षिण उच्यत इति" शङ्करः ईजे अजयत। क्रियाफलस्य यजमानगामित्वादात्मनेपदम्। नहि सम्राजो यज्ञः स्वैरेव पुरोहितादिभिः सम्पाद्येत। किं तर्हि तत्कालीनाः सर्वे द्वैप्या विद्वांसः समभियन्ति। अतोऽग्रे तत्सामयिकान् आगतान् प्रधानाननूचानान् देशनाम्ना उत्कीर्तयति तत्र ह तस्मिन् सुविख्याते यज्ञे कुरुपञ्चालानाम्। कुरवश्च पञ्चालाश्चेति कुरुपञ्चाला देशविशेषास्तेषां ब्राह्मणा ब्रह्मविद्यायां निपुणाः अभिसमेताः अभितः परितः समेताः संगता बभूवुः। ते च यथायोग्यं नृपेण विधिना पूजिता बभूवुः। नहीदृशानामनूचानतमानां संगमः केवलं कर्मणामार्त्विजीनानां विधानाय भवति किन्तु सूक्ष्मतमानामितरपुरुषैरमीमांस्यानां तत्त्वानां परस्पर सम्वादैरवधारणायाऽतस्तदर्थं प्रस्तूयते तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा विशेषाजिज्ञासा विजिज्ञासा। यतः सा ब्रह्मविषयिणी वर्त्तते। अतः स विशेषास्ति। सा का विजिज्ञासा—एषामभिसमेतानाम् ब्राह्मणानां मध्ये कः स्वित् कः खलु अनूचानतमः अतिशयेन अनूचानोऽनूचानतमः अतिशायने तमबिष्ठनौ ५। ३। ५५॥

आचार्यमुखात्श्रुतानि वचनानि योऽनुब्रवीति पश्चादुब्रवीति सोऽनूचानः। वेदस्यानुवचनं कृतवानित्यर्थः। उपेयिवननाश्वाननूचानश्च ३।२।१०६॥ एते निमात्यन्ते। यद्यप्यत्र समवेता ब्राह्मणा सर्वे एव अनुचानाः सन्ति। तथापि तारतम्यं भवत्येव। अतोतिशयितोऽनूचानः कोऽस्तीति विजिज्ञासा बभूव। भवतु नावद्विजिज्ञासा। तदर्थं तेन किंकृतमित्याह—तद्विषय जिज्ञासुः स सम्राट् तद्विज्ञानोपायार्थम् गवाम् होमादिसम्पादकत्वेन प्रियत्वात् प्रथमवयसां धेनूनाम् सहस्रमेकसहस्रम् अवरुरोध। तत्रैवैकस्मिन् स्थानेऽवरोधनं कारयामास। तथा च एकैकस्याः तस्या गोः शृङ्गयोः उभयोः शृङ्गयोर्मध्ये दश दश पादाः आबद्धानि बद्धा बभूवुः। सुवर्णस्य पलचतुर्थभागः पादो निगद्यते। अतः सुवर्णस्य पञ्च पञ्च पादाः सर्वासां गवामेकैकस्मिन् शृङ्गे निबद्धा कारिता इत्यर्थः। ईदृशं गवां सहस्रमवरुरोध। अवरुध्य किं कृतवानिति वक्ष्यत्यग्रे॥ १॥

भाष्याशय—जनक=पिता (जनयति उत्पादयति जनकः) जो उत्पन्न करे। णिजन्त जन धातु से बनता है, परन्तु मिथिला जिसको आजकल तिरहुत कहते हैं जिसमें मुज़फ्फरपुर, दरभंगा, सीतामढ़ी, समस्तीपुर आदि शहर प्रसिद्ध हैं। उस देश के राजा का नाम भी जनक था यह बात एक बालक भी आज कल जानता है परन्तु विचारणीय यह है कि क्या किसी एक ही राजा का नाम जनक था वा औरों का भी। मालूम पड़ता है कि उस राज्य के अधिकारी जो जो राजा होता था वह सब ही "जनक" कहा जाता था। उन राजाओं की "जनक" एक पदवी थी ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि सब युग में "जनक" यह नाम पाया जाता है। काण्व वा वाजसनेय शाखा के जितने ब्राह्मण हैं प्रायः उनमें जनक राजा का नाम बराबर आता है। ये ग्रन्थ सब अति प्राचीन हैं। त्रेता में रामचन्द्र के श्वसुर भी जनक कहे जाते हैं। पुनः कलियुग के प्रारम्भ में व्यासपुत्र शुकाचार्य ने भी मिथिलाधिपति जनक महाराज के निकट जाकर शिक्षा ली है ऐसी आख्यायिका भी आती है। इतनी आयु एक ही राजा की होनी सर्वथा असम्भव है। अतः प्रतीत होता है कि वंशपरम्परा की "जनक" यह पदवी थी। जैसे आजकल द्विवेदी, उपाध्याय, श्रोत्रिय आदि अनेक पदवियां हैं॥

जहां से "जनक" यह पदवी चली है, वहां ऐसा कारण मालूम होता है कि यह राजा बहुत दयालु बहुत ही प्रजारक्षक बहुत ही प्रसिद्ध हुआ होगा। अतः सब प्रजाएं जनक जनक (पिता, पिता) कहकर उसे पुकारती होंगी, इस हेतु उस राजा का नाम जनक हुआ होगा। पीछे उस वंश के सब ही राजा जनक नाम से प्रसिद्ध हुए होंगे। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता ३।२०॥" कर्म से ही जनकादि महाराज सिद्धि को प्राप्त हुए। "अथ हैनं जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसेमेत्योवाच भगवन् सन्न्यासे ब्रूहीति" जाबालोपनिषद्॥ ४॥ महाभारतादि में इनकी बहुत ही आख्यायिका आई हैं।

वैदेह—विदेहशब्द से "वैदेह" बनता है "विदेह" शब्द का अर्थ सामान्य रीति से देशरहित अर्थ करते हैं। "वि" यह उपसर्ग है। विशेष, वैरूप्य, नञर्थ, गति और दान इतने अर्थ में यह आता है। यहां नञर्थ का ग्रहण है। जैसे विजातीय, विधर्मा, विनिद्र (निद्रारहित), विशोक (शोकरहित), विजन (जनरहित), विकल (कल व्यक्त ध्वनि वा कलारहित), विकाल (खराब काल) आदि शब्द में और जैसे मनुस्मृति में (पाखण्डिनो विकर्मस्थाः) यहां, विकर्मशब्द का अर्थ विरुद्धाचरण होता है। विरुद्धाचरण में जो रहे उसे विकर्मस्थ कहते हैं और जैसे पाणिनिसूत्र

(२ । १ । ६) में "व्यृद्धि" शब्द आया है "विगता ऋद्धि" विगत ऋद्धि को "व्यृद्धि" कहा है इस प्रकार के बहुत उदाहरण हैं परन्तु विशेष अर्थ में इनके बहुत प्रयोग आते हैं । जैसे नश्वर और विनश्वर, जय और विजय, घातक विघातक, नाश और विनाश, ख्यात और विख्यात, नय और विनय, द्युत् और विद्युत्, काश और विकाश । इस प्रकार के सहस्रों शब्द संस्कृत में भरे पड़े हुए हैं । तब इसके अनुसार "विदेह" शब्द के दो अर्थ होंगे—एक तो देहरहित और दूसरा विशेष देहवाला स्थूल-शरीर वाला (विशेषः स्थूलो देहो यस्य । यद्वा विशेषेण देग्धि उपचिनोति वर्धते यः स) जिसका वि=विशेष अर्थात् स्थूल देह हो । यद्वा जो विशेषरूप से बढ़े अर्थात् जो बहुत बढ़े उसे विदेह कहना चाहिये इत्यादि अर्थ इसका होगा । मालूम पड़ता है कि "विदेह" यह नाम देशवाचक था क्योंकि देश की लम्बाई चौड़ाई की देह है और जिसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक हो वह विदेह । संस्कृत का यह एक नियम है कि देश और उस देश के रहनेवाले एक ही नाम से पुकारे जाते हैं । जैसे कुरु, पञ्चाल, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग सब शब्द देश और वहां के मनुष्य दोनों को जनाते हैं । उस विदेह देश वा मनुष्यों का जो राजा सो वैदेह कहलाता होगा, ऐसा प्रतीत होता है । यद्वा "विदेह" शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि जिसका देह न हो अर्थात् अभिमान आदिक जो देहधर्म सो जिसको न हो अर्थात् अभिमान आदिक दुर्गुणों से रहित ॥

न्यायभाष्य में वात्स्यायन ऋषि कहते हैं कि मनुष्यों को मिथ्याज्ञान के कारण अनुकूल वस्तुओं में राग और प्रतिकूल वस्तुओं में द्वेष उत्पन्न होता है और राग द्वेष के कारण असूया, ईर्ष्या, माया, लोभादि दोष उत्पन्न होते हैं । तब दोषग्रस्त होकर शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन, वचन से मिथ्याभाषण, कठोरता, पिशुनता, मन से परद्रोह, पर धनेच्छा, नास्तिक्य आदि दुराचार करता है, ये सब जो शरीर के धर्म हैं वे पाप के लिये होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जनक महाराज रागद्वेष रहित थे । अतः प्रजाओं के "जनक" पिता भी कहे जा सकते हैं ।

विदेह—शब्द को लेकर पुराणादिकों में अनेक प्रकार की आख्यायिकाएं बनाई गई हैं । वाल्मीकि रामायण में भी लिखा है कि इक्ष्वाकु राजा के पुत्र निमि थे । इन्होंने यज्ञ करने की इच्छा से गुरु वसिष्ठ को यज्ञ करवाने के लिये प्रार्थना की परन्तु किसी कारण से वसिष्ठजी यज्ञ नहीं करवा सके । तब निमि राजा ने दूसरे से यज्ञ करवाया । इस व्यापार को देख वसिष्ठ ने क्रुद्ध होकर निमि को शाप दिया कि तुम देह रहित होजाओ, वे वैसे ही होगये । ऋषियों ने निमि के शरीर का मथन किया । उससे एक बालक उत्पन्न हुआ । मथन से उत्पन्न हुआ इस हेतु "मिथि" और देह रहित हुआ अतः "विदेह" और जनन से उत्पन्न हुआ इस हेतु "जनक" कहलाया और उसके वंश के जितने राजा होते गये वे भी विदेह कहलाते गये ।

कुरु—यह एक देशवाचक शब्द है । वर्तमान दिल्ली के समीप देश को कुरु कहते हैं ।

पञ्चाल—वर्तमान कन्नौजसहित समीपस्थ देश को पाञ्चाल । ये दोनों देश अतिप्रसिद्ध थे ॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषु रथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रवीतेत्यथ

ह जनकस्य वैदेहस्य होताऽश्वलो बभूव सहैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी३ इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्म्मो गोकामा एव वयं स्म इति तं ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताऽश्वलः ॥ २ ॥

अनुवाद—उन से महाराज जनक बोले कि हे भगवान् ब्राह्मणो ! आप लोगों में जो ब्रह्मिष्ठ हों वे इन गौवों को लेजायं परन्तु उन ब्राह्मणों ने धृष्टता नहीं की तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही ब्रह्मचारी से कहा कि हे सोम्य ! सामश्रवा ! इन गायों को ले जाओ। तब वह उन गौवों को ले गया। तब वे ब्राह्मण क्रुद्ध होगये कि यह कैसे, हम लोगों के मध्य में भी अपने को ब्रह्मिष्ठ कह सकता है। इसके अनन्तर वैदेह जनक के अश्वल नामक एक होता ऋत्विज थे उसने इस याज्ञवल्क्य से पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या हम लोगों के मध्य आप ही ब्रह्मिष्ठ हैं। वे बोले ब्रह्मिष्ठ पुरुष को मैं नमस्कार करता हूं मैं गौवों की कामना करनेवाला हूं। तब इसी कारण होता अश्वल ने उनसे पूछना आरम्भ किया ॥ २ ॥

पदार्थ—(तान्+ह+उवाच) जनकजी उन ब्राह्मणों से बोले कि (ब्राह्मणाः+भगवन्तः) हे पूज्य माननीय ब्राह्मणो ! (यः+वः+ब्रह्मिष्ठः) जो कोई आप लोगों के मध्य अतिशय श्रेष्ठ ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष हों (सः+एताः+गाः+उद्जातम्+इति) वे इन गौवों को अपने गृह लेजायं इतना कह के चुप हो गए। (ते+ह+ब्राह्मणा+न+दधृषुः) वे सुप्रसिद्ध ब्राह्म प्रगल्भ नहीं हुए अर्थात् गौ लेने की उन्होंने धृष्टता प्रकट नहीं की (अथ+ह+याज्ञवल्क्यः) तब याज्ञवल्क्य ने (स्वम्+एव+ब्रह्मचारिणम्+उवाच) निज ही ब्रह्मचारी से कहा कि (सोम्य+सामश्रवाः+उ+इति) हे प्रिय ! हे सामवेदयशस्विन् ! (एताः+उद्ज) तुम इन गौवों को लेजाओ (इति+ताः+ह+उदाचकार) गुरु का वचन सुन वह उन गौवों को यहां से ले गया। तब (ते+ह+ब्राह्मणाः+चुक्रुधुः) वे समस्त ब्राह्मण क्रुद्ध हो गए और बोले कि (कथम्+नः+ब्रह्मिष्ठ+ब्रुवीत) यह याज्ञवल्क्य हम लोगों के बीच में अपने को कैसे ब्रह्मिष्ठ अर्थात् सर्वोत्तम ब्रह्मवित् कह सकता। (अथ+ह+जनकस्य+वैदेहस्य+होता+अश्वलः+बभूव) पश्चात् जनक वैदेह के होता अश्वल नाम के थे (सः+ह+एनम्+पप्रच्छ) उन होता ने इन याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना आरम्भ किया (याज्ञवल्क्यः+नः+त्वम्+नु+खलु+ब्रह्मिष्ठः+असि३+इति) हे याज्ञवल्क्य ! हम ब्राह्मणों में निश्चय क्या आप ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हैं ? (सः+ह+उवाच+वयम्+ब्रह्मिष्ठाय+नमः+कुर्म्मः) हे होता अश्वल ! हम सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुष को नमस्कार करते हैं हम ब्रह्मवेत्ता नहीं हैं किन्तु (गोकामाः+एव+वयम्+स्मः+इति) हम तो केवल गौवों की कामना करनेहारे ही हैं। ततः+एव+होता+अश्वलः+तम्+ह+प्रष्टुम्+दध्रे) तब इसी कारण होता अश्वल ने उन याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना आरम्भ किया ॥ २ ॥

भाष्यम्—तानिति। दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुरित्युक्तम्। बध्वा च किं कृतवानित्याह—स ह जनको वैदेहः तान् अभिसमेतान् ब्राह्मणान् होवाच। हे भगवन्तः पूजनीयाः परममाननीया ब्राह्मणाः ब्रह्मतत्त्वविदः वो युष्माकं मध्ये यो ब्राह्मणः ब्रह्मिष्ठः अतिशयेन ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठः। अतिशायने तमबिष्ठनौ ५। ३। ५५॥ यद्यपि सर्वे यूयं ब्राह्मणाः तथापि युष्माकं मध्ये यः कश्चिदतिशयितो ब्रह्मास्ति ब्रह्मविदस्ति। स एताः पुरतस्थिताः गाः। एकसहस्र संख्याका गा। उद्जतामिति प्रार्थये। स्वगृहं प्रति उद्जताम्

जयतु । न कोऽप्यात्मानं ब्रह्मिष्ठं मन्येतेत्यतः ते ह सुप्रसिद्धाः ब्राह्मणाः न दधृषुः । ता गा नेतुं न केपि ब्राह्मणाः प्रगल्भा बभूवुः । धृष प्रागल्भ्ये । स्वीयां धृष्टतां न केऽपि दर्शयामासुरित्यर्थः । तूष्णींभूतायां परिषदि अनादित्सूंश्च सर्वानवलोक्य अथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणं स्वान्तेवासिनमुवाच । हे सोम्य प्रियपुत्र ! हे सामश्रवा ! सामवेदे श्रवो यशो यस्य तत्संबोधने । हे सामवेदवित् ! एता गा उद्ज मम गृहं प्रति त्वं नय । इत्याचार्यस्याज्ञां लब्ध्वा ता ह गा उदाचकार निनायेत्यर्थः । याज्ञवल्क्यस्य धृष्टतामिमां दृष्ट्वा ते ह ब्राह्मणाः चुक्रुधुः क्रुद्धा बभूवुः । क्रोधस्य कारणमाह—कथमयं याज्ञवल्क्यः । सोऽस्माकं मध्ये अहं ब्रह्मिष्ठोऽस्तीति ब्रुवीत कथयेत् अर्थात् केन प्रकारेणायं स्वात्मानं ब्रह्मिष्ठ कथयति । किं वयमस्मान्न्यूनाः किमयं ब्रह्मणि अस्मदधिकं वेत्ति । केनाभिमानेन गा उद्गमयाञ्चकारेत्यादिभिर्हेतुभिः सर्वे ते चुक्रुधुः । अथ ब्राह्मणानां क्रोधानन्तरम् जनकस्य वैदेहस्य सम्राजः कश्चिदश्वलो नाम होता बभूव आसीत् । अश्वाः प्रशस्ताः सन्त्यस्य अश्वलः । जुहोतीति होता ऋत्विक् । सहाश्वलोह एनं याज्ञवल्क्यं प्रति प्रपच्छ पृष्टवान् । हे याज्ञवल्क्य ! किं त्वं नु खलु नोऽस्माकं मध्ये ब्रह्मिष्ठोसीति भर्त्सनार्थः प्लुतः । अनादरं दर्शयन्नुच्चैःस्वरेण स पृष्टवानित्यर्थः । इत्थमश्वलेन भर्त्सितः पृष्टश्च स ह याज्ञवल्क्य उवाच—हे अश्वल ! ब्रह्मिष्ठाय सर्वोत्तमाय ब्रह्मणे वयं नमस्कुर्मः । ब्रह्मवित्तमं पुरुषन्तु अहं नमस्करोमि ! नाहं ब्रह्मिष्ठोऽस्मि "अस्मदो द्वयोश्च १ । २ । ५६ ॥ इति वयमित्यत्र बहुवचनम्" यदि त्वं न ब्रह्मिष्ठोऽसि तर्हि ब्रह्मिष्ठपणभूता गाः कथमग्रहीः अत्राह—वयं सम्प्रति गोकामा एव स्मः । गोषु कामो येषामिति गोकामाः । हौत्रार्थं गवामावश्यकता भवति । अतोहं गाः प्रत्यग्रहीषम् । इति व्यङ्ग्येनोवाच याज्ञवल्क्यः । होताश्वलः तत एव येन हेतुना गावो नीतास्तस्मादेवकारणात् ब्रह्मिष्ठपणस्वीकारादित्यर्थः । तं ह याज्ञवल्क्यं प्रष्टुं दध्रे प्रश्नान् प्रष्टुं मनो दधे ॥ २ ॥

व्याख्या—ब्रह्मिष्ठ=ब्रह्मन् शब्द से इष्ठन् प्रत्यय होके ब्रह्मिष्ठ बनता है । ब्रह्मा, ब्राह्मण ये दोनों एकार्थक हैं । सामश्रवाः—सामवेद को जो सुना करे अर्थात् पढ़े । यहां सामवेद के कारण जिसकी बहुत कीर्त्ति है । सामश्रवाः ३ ब्रह्मिष्ठोऽसी ३ । इन दोनों पदों के आगे जो ३ तीन का अङ्क लिखा गया है वह प्लुत का सूचक है जब किसी शब्द पर ज़ोर देना हो तो निरादर करना डांटना आदि अर्थ हो तो अन्तिम स्वर को प्लुत करके बोलते हैं । यथा—अरे सनिचरा ३ इधर आ । अरे वसुदेवा ३ तू कहां जाता है ? अश्वल जिसके चंचल घोड़े हों वह अश्वल कहाता है । नयन, कर्ण, जिह्वा आदि इन्द्रिय ही घोड़े हैं । जनक महाराज के होता अतिचंचल चपल थे अतः इनको यहां अश्वल नाम से पुकारा है और चूंकि जनक के समीप यह होता का कार्य्य किया करते थे । याज्ञवल्क्य भी वहां ही रहते थे । "अतिपरिचयादवज्ञा" इस हेतु होता अश्वल को सब से प्रथम प्रश्न पूछने का साहस हुआ । जिस कारण होत्रिकर्म्म में ये निपुण थे अतः एतत्सम्बन्धी प्रश्न भी पूछेंगे ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाऽग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक्सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः साऽति मुक्तिः ॥ ३ ॥

अनुवाद—वे होता अश्वल बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सर्व वस्तु मृत्यु से प्राप्त है। सब ही मृत्यु से गृहीत हैं तब किससे यजमान मृत्यु की प्राप्ति से बच सकता है। (याज्ञवल्क्य ने इसके उत्तर में कहा कि) होतारूप ऋत्विक् से। जो अग्नि है। जो वाणी है, वाग् ही यज्ञ का होता है। वहां जो यह वाग् है वह यह अग्नि है। वह (अग्नि) होता है। वह (होता) मुक्ति है। वह (मुक्ति) अतिमुक्ति है ॥ ३ ॥

पदार्थ—पूर्व प्रकरण में कहा गया है कि वाग्, श्रोत्र, प्राण, रसना आदि सब ही यज्ञ के अयोग्य हैं क्योंकि इनमें स्वार्थ है। जब ये स्वार्थ को त्याग केवल परार्थ की ही चिन्ता में लगते हैं तब ही ये यज्ञ के योग्य होते हैं और उन्हीं शुद्ध इन्द्रियों से यजमान भी अभीष्ट फल को प्राप्त हो सकता है। होता अश्वल वस्तुमात्र को इस प्रकार अशुद्ध जान, मुक्ति का मार्ग न देख, अपने जानने में कठिन प्रश्न पूछना आरम्भ करते हैं (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) प्रथम हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन करके वह बोले अर्थात् हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपकी सम्मति हो तो मैं प्रश्न पूछूं इस शिष्टता को दिखलाने के हेतु प्रथम—हे "याज्ञवल्क्य" ! ऐसा सम्बोधन पद आया है (यद्+इदम्+सर्वम्+मृत्युना+आप्तम्) हे याज्ञवल्क्य ! यज्ञ में जो कुछ वस्तु देखता हूं वह सब ही मृत्यु से प्राप्त है। केवल प्राप्त ही नहीं किन्तु (मृत्युना+सर्वम्+अभिपन्नम्) मृत्यु से सब ही ग्रस्त हैं। इस अवस्था में (केन+यजमानः+मृत्योः+आप्तिम्+अतिमुच्यत+इति) किस वस्तु के द्वारा यजमान मृत्यु की प्राप्ति से अतिमुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रश्न करके होता चुप हो गये। आगे समाधान है—(होता+ऋत्विजा) हे अश्वल ! होता नाम का जो ऋत्विक् है इसकी सहायता से यजमान अतिमुक्ति को पाता है। वह होता मनुष्य नहीं किन्तु (अग्नि) अग्निरूप जो होता है यह भौतिक अग्नि नहीं किन्तु (वाचा) वचनरूप जो अग्नि है अर्थात् शुद्ध वाणीरूप होता की सहायता से ही यजमान अतिमुक्ति को पा सकता है। इसी को आगे विस्पष्ट करते हैं—हे अश्वल ! (वाग्-वै+यज्ञस्य+होता) वचन ही यज्ञ का होता है (तत्-या+इयम्+वाग्+सः+अयम्+अग्निः) उस यज्ञ में जो यह वाग् है वही यह अग्नि है (सः+होता) वह अग्नि ही होता है (सः+मुक्तिः) वह मुक्ति है (सा+अतिमुक्तिः) वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है। इसका आशय आगे देखो ॥ ३ ॥

भाष्यम्—होतारश्वल इदानीं स्वाभीष्टान् प्रश्नान् प्रच्छति। स्वाभिमुखीकारणायानुमतिग्रहणाय प्रथमं सम्बोधयति याज्ञवल्क्येति। यदि प्रश्नजिज्ञासायां तवानुमतिः स्यात्तर्हि प्रच्छामीति याज्ञवल्क्य इति सम्बोधयति। ततस्तस्यानुमतिं प्राप्य पृच्छतीति शिष्टव्यवहारः सूचितः। हे याज्ञवल्क्य ! यज्ञे यदिदं वस्तु दृश्यते तत्सर्वं मृत्युना मरणधर्म्मेण विनाशेन आप्तम् व्याप्तम्। न केवलमाप्तमेव किन्तु तत्सर्वं मृत्युना अभिपन्नम् अभितः परितः सम्यग्गृहीतं बद्धम्। ईदृश्यामवस्थायां यजमानः केन वस्तुना मृत्योः आप्तिं व्याप्तिमभिपत्तिञ्च अतिमुच्यते अतिक्रम्य मुक्तो भवति। इति होतुः प्रश्नः। अत्र याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—होत्रा ऋत्विजा अग्निना वाचा च। यजमानोमृत्योराप्तिमतिमुच्यते। स्ववाक्यार्थं विशदयति वाग्वै यज्ञस्य होतेत्यादिना। हे होतः ! यद्यपि सर्वं मृत्युना व्याप्तमस्ति तथापि यजमानस्य मुक्तेरुपाया सन्ति। यादृशं यज्ञं त्वं सम्पादयसि प्रतिदिनम्। तेन न कोऽपि विशेषलाभः। वाग् हि अशुद्धा। मनश्चाशुद्धम्। द्रव्याण्यपि तादृश्यान्येव। यज्ञे शुद्धा पवित्रीभूता वागेव होताऽस्ति। नान्यः कश्चिन्मनुष्यरूपः। सैव वाग् अग्नि नान्योऽग्निः

कल्पनीयः । स होता प्रवाग्रूपोऽग्निरेव होता स होतैवमुक्तिः सा मुक्तिरेव अतिमुक्तिः । यस्य वाणी असुरैरविद्धास्ति । स तया वाण्या मृत्योरतिव्याप्तिमुल्लङ्घ्य व्रजति ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तं सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषाऽऽदित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युं स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ४ ॥

अनुवाद—वे (होता अश्वल) बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सब वस्तु अहोरात्र से प्राप्त है । सब ही अहोरात्र से गृहीत है तब किस (उपाय) से यजमान अहोरात्र की प्राप्ति से अतिमुक्त होता है । (यह सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं) अध्वर्यु नाम के ऋत्विक् से । जो चक्षु है । जो आदित्य है । चक्षु ही यज्ञ का अध्वर्यु है । अतः जो यह चक्षु है वह यह आदित्य है वह (आदित्य) अध्वर्यु है वह (अध्वर्यु) मुक्ति है वह (मुक्ति) अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

पदार्थ—प्रथम यज्ञ में होता नाम का ऋत्विक् वाग् है, यह कहा गया है । अब क्रमप्राप्त चक्षु का विषय लेते हैं । प्रथम प्रश्न के समाधान से सन्तुष्ट होता अश्वल पुनः पूछना आरम्भ करते हैं— (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) "हे याज्ञवल्क्य" ! ऐसा सम्बोधन करके वह होता बोले (यद्+इदम्+ सर्वम्+अहोरात्राभ्याम्+आप्तम्) इस यज्ञक्षेत्र में अथवा इस संसार में जो यह सब वस्तु है वह दिन और रात्रि से प्राप्त है अर्थात् (अहोरात्राभ्याम्+अभिपन्नम्) दिन और रात्रि से गृहीत है । ऐसी अवस्था में (केन+यजमानः+अहोरात्रयोः) किस उपाय से यजमान अहोरात्र की (आप्तिम्) प्राप्ति को (अतिमुच्यते) उल्लङ्घन करके मुक्त हो सकता है (इति) यह मेरा प्रश्न है । इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे होता अश्वल ! (अध्वर्युणा+ऋत्विजा) अध्वर्यु नाम का जो ऋत्विक् है उसी की सहायता से यजमान अतिमुक्त हो सकता है परन्तु वह अध्वर्यु मनुष्य नहीं किन्तु (चक्षुषा) नेत्र रूप जो अध्वर्यु है । नेत्र भी यह नहीं किन्तु (आदित्येन) आदित्यरूप जो चक्षु है अर्थात् शुद्ध पवित्र नयनरूप अध्वर्यु ही मुख्य साधन है । (चक्षुः+वै+यज्ञस्य+अध्वर्युः) हे होता ! यह शुद्ध चक्षु ही यज्ञ का अध्वर्यु है (तत्+यद्+इदम्+चक्षुः) सो जो यह चक्षु है (सः+असौ+आदित्यः) वह यह आदित्य आकाश में दृश्यमान आदित्य है (सः+अध्वर्युः) वह आदित्य अध्वर्यु है (सः+मुक्तिः) वह अध्वर्यु मुक्ति है (सा+अतिमुक्तिः) वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है ॥ ४ ॥

आशय—यह है कि मानुष अध्वर्यु से कोई विशेष लाभ नहीं किन्तु इस शरीरस्थ जो यह नयन हैं वही यथार्थ में अध्वर्यु हैं क्योंकि इसके बिना किसी यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता है परन्तु चक्षु भी तो स्वार्थग्रस्त है प्रश्न में इसका भी पराजय हो चुका है तब चक्षु से कैसे यजमान अतिमुक्ति को पासकता है । इस पर कहते हैं कि (आदित्येन) आदित्यरूप चक्षु अर्थात् परमपवित्र चक्षु क्योंकि पूर्व में कहा गया है । "अथ ह चक्षुरत्यवहत् तद्यदा मृत्युमतिमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति" कि जब यह चक्षु स्वार्थरूप मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है तब यही आदित्य होता है अर्थात् जैसे चक्षु का कारणस्वरूप आदित्य में किंचित् भी स्वार्थ नहीं तद्वत् यह भी चक्षु हो जाता है । यही चक्षु का आदित्य होना है । इति दिक् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति किमेकमेव वागिन्द्रियं शोधयितव्यमन्यानि वा । इदं दर्शयितुं द्वितीयप्रश्नव्याजेन कण्डिकामारभते । प्रथमं प्रश्नस्य प्रतिवचनं स्वसन्तोषजनकं

दृष्ट्वा प्रश्नान्तरं प्रष्टुमनुमतिं प्राप्तये पुनरपि संबोधयति याज्ञवल्क्येति । हे याज्ञवल्क्य ! यदि तवानुज्ञास्यात्तर्हि द्वितीयं प्रश्नं यज्ञसम्बन्धिनमेव पृच्छेयमिति होताश्वल उवाच— स्वप्रश्नमुद्घाटयति । यदिदं यज्ञस्थल्यां वस्तु प्रसारितं दृश्यते । अथवा जगति यत्किमपि वस्तु वर्त्तते तत्सर्वम् अहोरात्राभ्यामह्नारात्र्याच आप्तम् व्याप्तम् । अहश्चरात्रिश्च अहोरात्रः ताभ्याम् । न केवलं ताभ्यामाप्तमेव किन्तर्हि रात्राभ्यामिदं सर्वं अभिपन्नं ग्रसितम् निगलितम् । ईदृश्यामवस्थायाम् । हे याज्ञवल्क्य ! यजमानो यज्ञफलभोक्ता केन साधनेन अहोरात्रयो आप्तिं व्याप्तिं अभिपत्तिश्च अतिमुच्यते अतिक्रम्य मुक्तो भवेत् । अहोरात्रयो र्व्याप्तिमतिक्रम्य मुक्तो भवेतीति प्रश्नः । समाधत्ते—अध्वर्युणा ऋत्विजा, चक्षुषा, आदित्येन एतैस्त्रिभिः साधनैर्यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यते । किमेते त्रयो भिन्नत्वेन अभिप्रेता उत एकत्वेन । तत्र स्वार्थं प्रकाशयति । हे अश्वल ! यज्ञस्य अध्वर्युश्चक्षुरेव । न कोप्यन्यो मनुष्यः । तत्तत्र यदिदं चक्षुर्वर्त्तते सोऽसौ दूरस्थो दृश्यमानो जगत्प्रकाशक आदित्यः । न हि साक्षादादित्यश्चक्षुरस्ति । आदित्येनानुगृहीतं वर्त्तते । सोऽध्वर्युरेवमुक्तिः सा मुक्तिरेव अतिमुक्तिः ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तं सर्वं पूर्वपक्षापर-पक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः साऽतिमुक्तिः ॥ ५ ॥

अनुवाद—वह होता अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह सब पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से व्याप्त है अर्थात् सब ही वस्तु पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से गृहीत हैं तब किस उपाय से यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की प्राप्ति से अतिमुक्ति को प्राप्त हो (यह प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं) उद्गाता नाम के ऋत्विक् से, जो प्राण वायु है । जो प्राण है । निश्चय, प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है इसलिये जो यह प्राण है वह वायु है । वह उद्गाता है । वह मुक्ति है । वह अतिमुक्ति है ॥ ५ ॥

पदार्थ—अब क्रमप्राप्त प्राणेन्द्रिय के उद्देश से आगे प्रश्न करते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहके वह होता अश्वल पुनः बोले—(यदि+इदम्+सर्वम्+पूर्वपक्षापरपक्षा-भ्याम् * +आप्तम्) यह सब पदार्थ पूर्वपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष और अपरपक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष इन दोनों पक्षों से व्याप्त है अर्थात् (सर्वम्+पूर्वपक्षापरपक्षाभ्याम्+अभिपन्नम्) सब पदार्थ पूर्वपक्ष और अपरपक्ष से गृहीत हैं । (केन+यजमानः+पूर्वपक्षापरपक्षयोः+आप्तिम्+अतिमुच्यते+इति) इस अवस्था में—हे याज्ञवल्क्य ! किस उपाय से यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्ष की व्याप्ति से अतिमुक्ति पासकता है, यह मेरा प्रश्न है (उद्गात्रा+ऋत्विजा) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे अश्वल उद्गातृ नाम का जो ऋत्विक् है उसी की सहायता से यजमान कल्याण पासकता है परन्तु मानव उद्गाता नहीं किन्तु (वायुना)

* पूर्व समय में शुक्लपक्ष से मास आरम्भ माना जाता था और अमावस्या को मास की समाप्ति मानी जाती थी । उसके अनुसार पूर्वपक्ष "शुक्लपक्ष" और अपरपक्ष "कृष्णपक्ष" अर्थ होगा परन्तु आजकल कृष्णपक्ष से मास आरम्भ कर शुक्लपक्ष में समाप्ति मानी गई है । अतः मैंने ऐसा ही अर्थ कर दिया है ॥

प्राणवायुरूप जो उद्गाता है उससे । यह प्राण भी नहीं किन्तु (प्राणेन) बाह्यवायुरूप जो प्राण है । अर्थात् शुद्ध पवित्र प्राण यदि हो तो यजमान का कल्याण है। हे अश्वल ! (प्राणः+वै+यज्ञस्य+उद्गाता) निश्चय यह प्राण ही यज्ञ का उद्गाता है । (तद्+यः+अयम्+प्राणः) इसलिये जो यह प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय वायु है (सः+वायुः) वही यह बाह्यवायु है (सः+उद्गाता) वही वायु उद्गाता है (सः+मुक्तिः+सा+अतिमुक्तिः) वह उद्गाता ही मुक्ति है और वह मुक्ति ही अतिमुक्ति है अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय को शुद्ध करना और उसी से कार्य लेना परमसाधन है । अज्ञ अज्ञानी जन यज्ञ में मानव उद्गाता को बैठाकर और उससे वेद गवाकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं परन्तु इस शरीरस्थ उद्गाता की ख़बर ही नहीं । अतः हे अश्वल ! इस देह में यह प्राणरूप महा उद्गाता है, प्रथम इसको शुद्ध करो । इससे आत्मरूप यजमान को कल्याण प्राप्त होगा । इति दिक् ॥ ५ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति । सम्प्रति क्रमप्राप्तं घ्राणेन्द्रियमुद्दिश्य कण्डिकामारभते । यज्ञे प्राणमपि शोभनीयम् । शुद्धेन प्राणेन युक्तस्यैव यजमानस्य कल्याणम् । कण्डिका विस्पष्टार्था ॥ ५ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्भणमिव केनाऽऽक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥ ६ ॥

अनुवाद—(पुनः वह होता अश्वल) बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! यह अन्तरिक्ष आलम्बन रहित प्रतीत होता है अर्थात् इस अन्तरिक्ष में कोठे के समान सिड्ढियां लगी हुई नहीं दीखती हैं तब किस आक्रमण (सिड्ढी) से यजमान स्वर्गलोक की ओर आक्रमण करता है (यह मेरा प्रश्न है), (इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं) ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् से । जो मन है । जो चन्द्र है । मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है इसलिये जो यह मन है सो यह चन्द्र है वह ब्रह्मा वह मुक्ति है वह अतिमुक्ति है इसी प्रकार पुरुष अतिमोक्ष होते हैं अर्थात् आत्यन्तिक सुख को प्राप्त होते हैं । अब आगे सम्पत्तियां कही जाती हैं ॥ ६ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच+यद्) हे याज्ञवल्क्य ऐसा कहके वे अश्वल बोले कि (इदम्+अन्तरिक्षम्+अनारम्भणम्+इव) यह अन्तरिक्ष अर्थात् यह जो आकाश है वह निरालम्बसा प्रतीत होता है तब (केन+आक्रमणेन) किस आक्रमण से अर्थात् किस सिड्ढी की सहायता से (यजमानः+स्वर्गम्+लोकम्+आक्रमते) यजमान स्वर्गलोक की ओर आक्रमण करता है (इति) यह मेरा प्रश्न है । इस पर याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं कि हे अश्वल ! (ब्रह्मणा+ऋत्विजा) ब्रह्मा नाम का जो ऋत्विक् है उसी की सहायता से यजमान स्वर्गलोक को चढ़ सकता है । वह ब्रह्मा क्या मानव-रूप है ? नहीं । (मनसा) मनोरूप जो ब्रह्मा है उससे (चन्द्रेण) मन भी यह मन नहीं किन्तु (चन्द्रेण) चन्द्रस्वरूप जो मन है अर्थात् शुद्ध पवित्र मन से यजमान का कल्याण हो सकता है । हे अश्वल ! (मनः+वै+यज्ञस्य+ब्रह्मा) मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है (तद्+यद्+इदम्+मनः+सः+असौ+चन्द्रः) इस कारण जो यह मन है वह यह चन्द्रमा है (सः+मुक्तिः) वह चन्द्र ही मुक्ति है (सा+अतिमुक्तिः) वह मुक्ति ही अति मुक्ति है (इति+अतिमोक्षाः) इस प्रकार मनुष्य अतिमोक्ष होते हैं अर्थात् अत्यन्त सुखभोगी होते हैं । इतनी सामग्री कही (अथ+सम्पदः) अब आगे यज्ञ की सम्पत्तियां कही जायेंगी ॥ ६ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति। मनोऽपि शोधयितव्यम्। यज्ञे मन एव ब्रह्माऽस्ति। अज्ञः खलु यजमानो मानवं ब्राह्मणं वृत्वाऽऽत्मानं कृतकृत्यं मन्यते। मनो यद्यशुद्धं चपलं तर्हि अनुष्ठीयन्तां बहवः क्रतवो न तैः किमपि प्रयोजनं सेत्स्यतीति। :अतिमोक्षाः अतिमोक्षो विद्यते येषां त इत्यतिमोक्षाः ॥ ६ ॥

आशय—द्रव्यमय यज्ञ में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा चार ऋत्विक् होते हैं और पञ्चम एक यजमान। अब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि द्रव्यमय यज्ञ से उतना लाभ नहीं, अध्यात्म यज्ञ ही यथार्थ में यज्ञ है। इस शरीर में वाग्, चक्षु, प्राण और मन ये जो चार कार्य्यकर्त्ता हैं वे ही अध्यात्म-यज्ञ में होता आदिक चार ऋत्विक् हैं। ये चार शुद्ध पवित्र रहने पर क्रमशः अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्र नाम से पुकारे जाते हैं। यदि ये चार शुद्ध हों तो मुक्ति प्राप्त करने में कोई भी विघ्न प्राप्त नहीं हो सकता है। मृत्यु, अहोरात्र, पूर्वपक्षापरपक्ष और अनाश्रय अन्तरिक्ष इत्यादि अज्ञानी पुरुष के बन्धन होते हैं, ज्ञानी के नहीं। इस प्रकार यज्ञसम्बन्धी होता आदि का वर्णन करके अब यज्ञ की सम्पत्ति अर्थात् सामग्रियों का निरूपण करेंगे॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होताऽस्मिन् यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किञ्चेदं प्राणभृदिति ॥ ७ ॥

अनुवाद—हे याज्ञवल्क्य! ऐसा कह वे अश्वल बोले कि यह होता आज इस यज्ञ में कितनी ऋचाओं से (अपने कार्य्य को) करेगा। तीन से। कौनसी वे तीन हैं? पुरोऽनुवाक्या याज्या और शस्या ही तीसरी है। इनसे (यजमान) किसका जय करता है। जो कुछ यह सब प्राणधारी है ॥७॥

पदार्थ—अब सपरत्तियां कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+होवाच) पूर्ववत् याज्ञवल्क्य से अश्वल पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! (अद्य+अयम्+होता) आज यह होता (अस्मिन्+यज्ञे) इस प्रस्तुत यज्ञ में (कतिभिः+ऋग्भिः) कितनी ऋचाओं से (करिष्यति+इति) शंसनरूप निज कार्य को करेगा, यह मेरा प्रश्न है। इसके समाधान में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (तिसृभिः+इति) तीन ऋचाओं से यह होता आज कार्य सम्पादन करेगा। (कतमाः+तिस्रः+इति) वे तीन प्रकार की ऋचाएं कौन २ सी हैं। हे याज्ञवल्क्य! इसको कहो (पुरोऽनुवाक्या+च) पहिली पुरोनुवाक्या है दूसरी (याज्या+च) याज्या है (तृतीया शस्या+एव) तीसरी शस्या ही है। १—जो ऋचाएं कार्य्यारम्भ के प्रथम ही पढ़ी जाती हैं वे पुरोनुवाक्या पुरः=प्रथम, अनुवाक्या=अनुवचन जैसे स्वस्तिवाचन पहले पढ़ा जाता है, २—जो प्रत्येक विधि में यज्ञ के समय पढ़ी जाती है, वह याज्या। और ३—प्रशंसार्थ बहुत सी ऋचाएं पढ़ी जाती हैं, वे शस्या कहाती हैं। ये ही तीन प्रकार की ऋचाएं होती हैं। इनको ही पढ़ के आज होता यज्ञ करेगा। इस पर पुनः अश्वल पूछते हैं कि (किम्+ताभिः+जयति+इति) हे याज्ञवल्क्य! इन तीन प्रकार की ऋचाओं से यजमान किस पदार्थ का लाभ करता है सो आप कहें। उत्तर देते हैं—(यत्+किञ्च+इदम्+प्राणभृत्+इति) हे अश्वल! इस जगत् में जितने प्राणधारी प्राणी समूह हैं उन सब को यह यजमान प्राप्त करता है, इति ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्रतिवचनं प्राप्य पुनरपि पिपृच्छिषुरश्वलोऽभिमुखीकरणानुयामति-ग्रहणाय च मन्त्रयति—याज्ञवल्क्येति। हे याज्ञवल्क्य! अद्य अस्मिन् दिने। अयं होता जुहोतीति होता ऋग्वेदविदृत्विक् अस्मिन् प्रारब्धे यज्ञे कतिभिर्ऋग्भिः करिष्यति शंसनरूपं

सकार्यं सम्पादयिष्यतीति मम प्रश्नः। तत्र याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—तिसृभिरिति। पुनः पृच्छति—कतमास्तास्तिस्र इति। समाधत्ते—प्रथमा पुरोनुवाक्या च चकारादेतत्समाना अन्यापि। विशेषयज्ञक्रियाप्रारम्भात्पूर्वं या ऋग्जातीया अनूच्यते सा पुरोऽनुवाक्या पुरः पूर्वमनुकूलयितुं यामृचं ब्रवीतीति व्युत्पत्तेः। द्वितीया याज्या च यष्टुं यज्ञस्य विधिं विधिं प्रति सम्पूर्णं यज्ञं समापयितुं या या ऋग् अन्यद्वा यजुषां वचनं प्रयुज्यते सा सा याज्या यजते। तृतीया शस्यैव—मध्ये मध्ये शंसितुं स्तोतुं स्वरादिवर्जं जयादि कार्यं सम्पादयितुं या ऋक् पठ्यते सा शस्या शंसितुं योग्या शस्या शंसतेः। पुनः पृच्छति—ताभिस्तिसृभि-र्ऋग्भिर्यजमानः किं जयति प्राप्नोतीति वक्तव्यम्। समाधत्ते—यदिदं किञ्च प्राणभृत् वस्तु जगति दृश्यते तत्सर्वं स जयति। कथमिति सर्वेषां प्राणिनां यज्ञेनोपकारादित्यर्थः॥ ७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन् यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेवताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः॥ ८॥

अनुवाद—अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य! यह अध्वर्यु आज इस यज्ञ में कितनी आहुतियां देवेगा? तीन। वे तीन कौनसी हैं?। जो दत्त आहुतियां ऊपर को प्रज्वलित होती हैं, जो दत्त आहुतियां अत्यन्त नादयुक्त होती हैं, जो दत्त आहुतियां नीचे को बैठ जाती हैं। उनसे (वह यजमान किसका लाभ करता है? जो आहुतियां उज्ज्वलित होती हैं उनसे देवलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि देवलोक मानो दीप्त होरहा है। जो आहुतियां अति नादयुक्त होती हैं उनसे पितृलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि अत्यन्त कोलाहल युक्त के समान ही पितृलोक है। जो आहुतियां नीचे को बैठजाती हैं, उनसे मनुष्यलोक को ही प्राप्त करता है क्योंकि अधःस्थित ही मानो मनुष्यलोक है॥८॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्येति+होवाच) पुनः अश्वल पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! (अद्य+अयम्+अध्वर्युः+अस्मिन्+यज्ञे) आज यह अध्वर्यु इस यज्ञ में (कति+आहुतीः+होष्यति+इति) कितनी आहुतियों को देगा, यह मेरा प्रश्न है। इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (तिस्रः+इति) तीन आहुतियां। पुनः पूछते हैं (कतमाः+ताः+तिस्रः+इति) कि वे तीन आहुतियां कौनसी हैं? समाधान करते हैं (याः+हुताः+उज्ज्वलन्ति) जो आहुतियां कुण्ड में प्रक्षिप्त होने पर ऊपर को प्रज्वलित होती हैं (याः+हुताः+अतिनेदन्ते) जो आहुतियां कुण्ड में प्रक्षिप्त होने पर अत्यन्त नाद करती हैं। (याः+हुताः+अधिशेरते) जो आहुतियां प्रक्षिप्त होने पर नीचे को बैठ जाती हैं। ये तीन प्रकार की ऋचाएं हैं। पुनः अश्वल पूछते हैं (ताभिः+किम्+जयति+इति) हे याज्ञवल्क्य! उन आहुतियों से यजमान किस वस्तु को प्राप्त करता है इस पर समाधान करते हैं कि (याः+हुताः+उज्ज्वलन्ति) जो आहुतियां उज्ज्वलित होती हैं (ताभिः+देवलोकम्+एव+जयति) उन आहुतियों से देवलोक को ही जय करता है (दीप्यते+इव+हि+देवलोकः) क्योंकि देवलोक दीप्तिमान् सा है। अतः उज्ज्वलित आहुतियों से देवलोक की प्राप्ति कही गई है। (याः+हुताः+अतिनेदन्ते) जो आहुतियां अति नाद करती हैं (ताभिः+पितृलोकम्+जयति) उन से पितृलोक का जय करता है (अति+इव+हि+पितृलोकः) क्योंकि यह पितृलोक अति कोलाहल

से युक्त है (याः+हुताः+अधिशेरते) जो आहुतियां नीचे को बैठ जाती हैं (ताभिः+मनुष्यलोकम्+एव+जयति) उन से मनुष्यलोक का ही जय करता है (अधः+इव+हि+मनुष्यलोकः) यह मनुष्यलोक अधःस्थित ही के समान है अर्थात् मनुष्यलोक नीचे स्थित है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति होवाचेति पूर्ववत्। हे याज्ञवल्क्य ! अयमध्वर्युः "ध्वरो हिंसा न विद्यते ध्वरो हिंसा यस्मिन् सोऽध्वरो यागः अध्वरं यौति सम्पादयतीति अध्वर्युर्यजुर्वेदविदृत्विक्"। अद्यास्मिन्दिने कति का संख्या यासां ताः कति कियती आहुतिः देवतोद्देशनाग्नौ द्रव्याणां प्रक्षेप आहुतिस्ताः अस्मिन् यज्ञे होष्यति करिष्यतीत्यर्थ इति प्रश्नः। याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—तिस्र इति। तिस्र आहुतीरद्यास्मिन्यज्ञे होता होष्यतीति योजना। पृच्छति। तास्तिस्रः कतमाः सन्ति। समाधत्ते—या आहुतयः। हुता अग्नौ प्रक्षिप्ताः सत्यः उज्ज्वलन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्त्यः। प्रज्वलन्ति ईदृशी आहुतीनामेकाविधा। या हुता अग्नौ प्रक्षिप्ताः सत्यः। अतिनेदन्ते अतिशयं नादं कुर्वन्ति। इति द्वितीया विधा। या हुताः। अतिशेरते नोज्ज्वलन्ति न चातिनेदन्ते किन्तु अधिशेरते अधिशयिता अधःस्थिता एवं भवन्ति। इति तृतीया विधा। इमास्तिस्रः आहुतयः सन्ति। पुनः पृच्छति—यजमानः ताभिराहुतिभिः साधनेन किं जयति। समाधत्ते या आहुतयो हुताः सत्यः उज्ज्वलन्ति। ताभिर्देवलोकं देवलोकस्य तत्त्वं देवा एव लोका देवलोकाः। सूर्यवाय्वग्निप्रभृतयो वा सत्यभाषणादिव्रतोपेता मनुष्या वा देवा उच्यन्ते। सूर्यादीनां तत्त्वं मनुष्यादीनां स्वभावञ्च प्राप्नोति। कथं ताभिर्देवलोकस्य प्राप्तिः ? हि यतः देवलोकः। दीप्यते इव देदीप्यमानः प्रकाशमान इवास्ति। या आहुतयो हुताः सत्योतिनेदन्ते। ताभिः पितृलोकमेव जयति। पितर एव लोकः पितृलोकः। अग्निष्वात्ता अग्निदग्धा नवग्वा अथर्वाणः सुकालिन इत्यादयः पितरः तं पितृलोकमेव जयति वशीकरोति। हि यतः पितृलोकः। अतीव वर्त्तते कोलाहलयुक्तोस्ति। या आहुतयो हुताः सत्य अधिशेरते ताभिः मनुष्यलोकमेव जयति। हि यतः मनुष्यलोकः। अध इवास्ति। अध स्थितोस्ति ॥ ८ ॥

भाष्याशय—तीन ही प्रकार के सब पदार्थ होते हैं। पुनः इन तीन में अनेक अवान्तर भेद हुआ करते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम। ऊपर, मध्य, नीचे। इसी प्रकार आहुतियां भी ऊपर को जानेवाली, अतिनाद करनेवाली अर्थात् मध्य में रहनेवाली और नीचे को जानेवाली, इन भेद से तीन प्रकार की हैं। याज्ञवल्क्य जो कुछ वर्णन करते हैं वे अध्यात्म हैं, बाह्य जगत् का वर्णन नहीं। यह शिर ही देवलोक है क्योंकि इसी में सब देव बैठे हुए हैं और मध्य शरीर ही पितृलोक है इसी में कोलाहल होते रहते हैं। कटि से नीचे मनुष्यलोक है, जो अधःस्थित है ही। बाहरी जगत् में भी यह जो मध्यलोक है जहां मेघ वायु आदि हैं, वे पितृलोक कहाते हैं और वे कोलाहलयुक्त हैं। पूर्व में यह भी कहा है कि "देवाः पितरो मनुष्याः एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः" वाग् ही देव है। मन ही पितर है। प्राण ही मनुष्य है। इत्यादि अनुसन्धान करना, इति ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

अनुवाद—होता अश्वल बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आज यह ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् दक्षिण दिशा में आसन पर बैठ कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा । एक ही देवता से । वह एक कौनसा देवता है ? मन ही है । निश्चय मन अनन्त है । विश्वेदेव अनन्त हैं, वह (यजमान) उनसे लोक को जीतता है ।। ६ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कह, वह होता अश्वल बोले—(अद्य+अयम् ब्रह्मा) आज यह ब्रह्मा (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा में बैठ (कतिभिः+देवताभिः+यज्ञम्+गोपायति) कितने देवताओं से यज्ञ की रक्षा करेगा (इति) इस प्रकार पूछने पर समाधान करते हैं कि (एकया इति) एक ही देवता से (सा+एका कतमा इति) वह एक कौनसा देवता है ?

समाधान—(मन+एव+इति) वह एक देवता मन ही है । (वै+मन+अनन्तम्) निश्चय मन अनन्त है (विश्वेदेवाः+अनन्ताः) वे विश्वेदेवता भी अनन्त हैं (स+तेन+अनन्तम्+एव+लोकम्+जयति) वह यजमान उस मन से अनन्त लोक को ही जीतता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अभिमुखीकरणायानुमतिग्रहणाय च पुनः संबोधयति याज्ञवल्क्येति । हे याज्ञवल्क्य! अद्यायं ब्रह्मा नामर्त्विक् । दक्षिणतः यज्ञस्य दक्षिणे भागे ब्रह्मा उपविशति । अत आह—दक्षिणत इति । दक्षिणस्यां दिशि आसने उपविश्य कतिभिर्देवताभिः कति सङ्ख्याभिर्देवताभिः यज्ञं गोपायति रक्षति । इति मम प्रश्नः । समाधत्ते—हे अश्वल ! एकयेति एकया देवतया ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं रक्षतीति । पुनः पृच्छति—सा एका देवता कतमास्ति । उत्तरम्—मन एव । सा एका देवता मन एव । कथमेकया मनोरूपया देवतया बह्वीनां देवतानां रक्षा संभवति । तत्र हेतुमाह—वै निश्चयेन मनः अनन्तम् । नान्तं विद्यते यस्य तदनन्तम् । मनस्येव नानावृत्तय उत्पद्यन्ते । अतो मनसोऽनन्तत्वम् । तथा च विश्वेदेवा अपि अनन्ताः सन्ति । अतोऽनन्तेन मनसा करणेन । अनन्तानां विश्वेषां देवानां रक्षा संभवतीत्यर्थः । फलं ब्रूते—तेन मनसा स यजमानोऽपि अनन्तमेव लोकं जयति । ब्रह्मस्वरूपं लोकं प्राप्नोति ॥ ६ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकं शस्यया ततो ह होताऽश्वल उपरराम ॥ १० ॥

अनुवाद—वह होता अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आज इस यज्ञ में यह उद्गाता कितने स्तोत्र पढ़ेंगे ? तीन । वे तीन कौन हैं ? पुरोनुवाक्या याज्या और तीसरी शस्या ही है । वे तीनों ऋचाएं कौन हैं ? जो अध्यात्म से सम्बन्ध रखती हैं ? प्राण ही पुरोनुवाक्या है । अपान याज्या है । व्यान ही शस्या है । उनसे (वह यजमान) क्या जीतता है ? पुरोनुवाक्या से पृथिवी लोक को ही जीतता है । याज्या से अन्तरिक्ष लोक को । शस्या से द्युलोक को जीतता है । तब वह होता अश्वल चुप होगये ॥ १० ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्य+इति ह+उवाच) वह अश्वल पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! (अद्य) आज (अस्मिन्+यज्ञे) इस यज्ञ में (अयम्+उद्गाता) यह उद्गाता नामक ऋत्विक् (कति+स्तोत्रियाः) कितने स्तोत्र (स्तोष्यति+इति) करेंगे, यह मेरा प्रश्न है । (तिस्रः+इति) याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं

कि तीन स्तोत्र । पुनः अश्वल पूछते हैं (कतमाः+तिस्रः+इति) वे तीनों ऋचाएं कौनसी हैं । उत्तर— (पुरोनुवाक्या) प्रथम पुरोनुवाक्या नाम की ऋचा (च) और दूसरी (याज्या) याज्या नाम की ऋचा (च) और (तृतीया) तीसरी (शस्या+एव) शस्या नाम की ऋचा ही । (कतमाः+ताः+इति) वे तीनों ऋचाएं कौनसी हैं ? (याः+अध्यातमम्) जो अध्यात्मविद्या से सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् आपका तात्पर्य तो अध्यात्मविद्या से ही रहता है सो हे याज्ञवल्क्य ! पुरोनुवाक्या आदि से आप कौनसा तात्पर्य लेते हैं, क्या जो पुरोनुवाक्या आदि नाम से ऋग्वेद की ऋचा प्रसिद्ध है, उसी को आप लेते हैं या कुछ अन्य ही अभिप्राय आपका है । इस हेतु पुनः अश्वल ने प्रश्न पूछा, इसका उत्तर देते हैं—(प्राणः+ एव+पुरोनुवाक्या) प्राणवायु ही यहां पुरोनुवाक्या है (अपानः+याज्या) अपानवायु ही यहां याज्या है (व्यानः+शस्या) व्यानवायु ही यहां शस्या है । पुनः अश्वल पूछते हैं (किम्+ताभिः+जयति इति) यदि इन तीनों से यज्ञ करें तो उनसे क्या प्राप्त करेगा ?

उत्तर—(पुरोनुवाक्यया) पुरोनुवाक्या से (पृथिवीलोकम्+एव+जयति) पृथिवीलोक को ही जीतता है पृथिवीलोक के तत्व को प्राप्त करता है (याज्यया+अन्तरिक्षलोकम्) याज्या से अन्तरिक्षलोक के तत्व को प्राप्त करता है (शस्यया+द्युलोकम्) शस्या से द्युलोक के तत्व को पाता है (ततः ह+ होता+अश्वलः) तब होता अश्वल (उपरराम) चुप रह गये ॥ १० ॥

भाष्यम्—पुनरपि याज्ञवल्क्येति आमन्त्र्य होताऽश्वलो होवाच—हे याज्ञवल्क्य ! अद्यास्मिन् दिने । अस्मिन् यज्ञे । अयमुद्गाता । कति स्तोत्रियाः कतिस्तोत्राणि तोष्यतीति मम प्रश्नः । कतिपयानामृचां समुदायः स्तोत्रियाः स्तोम शब्दादि नामभिरपि कथ्यन्ते । समाधत्ते—तिस्र इति । स्तोत्रिया वा शस्या वा पुरोनुवाक्या वा या काश्चन ऋचः सन्ति । ता इह सर्वाः तिस्र एव नाधिका न न्यूनाः । कतमास्तास्तिस्र इति । पुनः होता पृच्छति । समाधत्ते—पुरोनुवाक्या च याज्या च तृतीया शस्या एव । इमा एव तिस्रः स्तोत्रिया अद्योद्गाता स्तोष्यतीति । ऋग्वेदस्य काचिदृगेव पुरोनुवाक्यादिपदेनाभिधीयते । किं त्वमपि त्वामेव लक्षयसि । अन्यत्किमपि वा ? सर्वत्रैवाध्यात्ममर्थमवोचः—अत्रापि किमप्यध्यात्मं वर्त्तते नवा इति शङ्कां मनसि उद्भाव्य पुनर्होता पृच्छति । ता ऋचः कतमाः या अध्यात्मम् । अध्यात्मविषये ताः कतमा ऋचो गृह्यन्ते भवता । समाधत्ते— पुरोनुवाक्या प्राण एव पुरोनुवाक्यापदेनात्र प्राणः गृह्यते । अनुवाक्यापानः । अनुवाक्या- शब्देन अपानो वायुर्गृह्यते । व्यानः शस्या । शस्यापदेन व्यान उच्यते । अस्मिन् शरीरे य एते प्राणापानव्यानाः सन्ति । त एव पुरोनुवाक्यादि पदवाच्याः । नान्या कापि ऋगित्यर्थः । अग्रे फलाय जिज्ञासते । किं ताभिर्जयतीति । समाधत्ते—पुरोनुवाक्यया पृथिवीलोकं जयति । पृथिवीलोकस्य तत्त्वं प्राप्नोति । एवमेव याज्यया अन्तरिक्षलोकं जयति । अन्तरिक्षलोकस्य तत्त्वं प्राप्नोति जानातीत्यर्थः । शस्यया द्युलोकं जयति । द्युलोकस्य तत्त्वं जानाति । इत्थं स्वाभिमतमुत्तरं प्राप्य ततो ह तदनन्तरं होताश्वल उपरराम । आउपरतिं प्राप्य तूष्णीं बभूवेत्यर्थः ॥ १० ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इति । अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

अनुवाद—अनन्तर जारत्कारव आर्तभाग नामक अनूचान ने इस याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया और इस प्रकार बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने ग्रह और कितने अतिग्रह हैं ? आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं । वे कौन हैं ? ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) अश्वल के चुप होजाने के अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (एनम्) इस याज्ञवल्क्य से (जारत्कारवः) जरत्कारु के पुत्र (आर्तभागः) आर्तभाग नामक ऋषि- अनूचान ने (पप्रच्छ) पूछना आरम्भ किया, इतना कथन ग्रन्थकार का है । किस प्रकार पूछना आरम्भ किया सो आगे कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) अभिमुखीकरण अर्थात् अपनी ओर करने के लिये और आज्ञा मांगने के लिये । हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार जोर से पुकार कर यह आर्तभाग बोले अर्थात् प्रश्न किया । आगे प्रश्न कहते हैं—(कतिग्रहाः) ग्रह कितने हैं और (अतिग्रहाः+कति) अतिग्रह कितने हैं (इति) ये मेरे प्रश्न हैं इनका उत्तर आप देवें । याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(अष्टौ+ग्रहाः) आठ ग्रह हैं (अष्टौ+अतिग्रहाः) और आठ अतिग्रह हैं । पुनः आर्तभाग पूछते है (ये) जो (ते) वे (अष्टौ+ग्रहाः) आठ ग्रह हैं और (अष्टौ+अतिग्रहाः) आठ अतिग्रह हैं (ते+कतमे) वे कौन २ से हैं । (इति) यह प्रश्न है ॥ १ ॥

भाष्यम्—हकारः प्रसिद्धार्थः । अथाश्वलस्य होतुरुपरत्यनन्तरम् । ह सुप्रसिद्धम् एनं याज्ञवल्क्यं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ वक्ष्यमाणं प्रश्नं पृष्टवानित्यर्थः । जारत्कारवः करोतीति कारुः । कर्त्ता यज्ञाद्यनुष्ठानकर्त्ता । यद्वा कारुः शिल्पी । "कारुः शिल्पी संहतैस्तैर्द्वयोः श्रेणिः सजातिभिः" इत्यमरः । जरत् स्थविरो वृद्धः "प्रवया स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि" इत्यमरः । जीर्यतेरतृन् ॥ ३ । २ । १०४ ॥ इति तृन् प्रत्ययः । जरंश्चासौ कारुर्जरत्कारुः कस्यापि ऋषिनामधेयम् । यद्वा । वृद्धशिल्पी । जरत्कारोरपत्यं जारत्कारवः "तस्यापत्यम्" ॥ ४ । १ । ९२ ॥ इत्यण् आर्तभागः । आर्तान् दुःखितान् जनान् उपकारादिव्यापारैर्यो भजते सेवते स आर्तभागः । यो जरत्कारोः पुत्रोऽस्ति स प्रकृत्यैव दुःखार्तान् उद्धर्तुं सर्वथैव प्रयतते स प्रश्नमपि तादृशमेव प्रक्ष्यति । विवेकदृष्ट्यावलोकने नेन्द्रियाण्येव जीवान् दुन्वन्ति अतः तद्विषयकं प्रश्नं पृच्छति । अभिमुखीकरणायाज्ञाग्रहणाय च याज्ञवल्क्येति आमन्त्रयति । हे याज्ञवल्क्य ! कतिग्रहाः सन्ति ? कति च अतिग्रहाः सन्तीति मम प्रश्नः । तान् मां ब्रूहि । याज्ञवल्क्यः प्रतिब्रूते । अष्टौ अष्टसंख्याकाः ग्रहाः सन्ति । अष्टौ अष्टसंख्याकाः एव अतिग्रहा अपि सन्ति । पुनः पृच्छति—ये त्वया अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाश्चोच्यन्ते ते । कतमे सन्ति । इति ॥ १ ॥

भाष्याशय—जारत्कारव=जरत्कारु से जारत्कारव बनता है "जरत्+कारु" ये दो शब्द हैं। वृद्ध स्थविर बुड्ढे को जरत् कहते हैं। "करोतीति कारुः कर्ता" करने वाले को कारुक अर्थात् वेदविहित जो शुभ कर्म उनको यथाविधि जो करने वाला वह "कारु" और वृद्ध जो कारु सो जरत्कारु। यद्वा शिल्प काम करने वाले को भी कारु कहते हैं। जिसको आजकल बढ़ई वा खाती कहते हैं। संभव है कि शिल्पकारी के काम करने और वृद्ध होने से ये जरत्कारु कहाते हों।

आर्तभाग—(आर्तान् दुःखितान् भजते सेवते) दुःखित पुरुषों की जो सदा सेवा किया करें वह "आर्तभाग" जो आर्तसेवी पुरुष है वह अवश्य दुःख सम्बन्धी प्रश्न करेगा। यह इसके नाम से सूचित होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अवश्य इन्द्रियों के कारण से ही सब दुःख है। इन्द्रियाधीश मन का वश करना ही सुख का हेतु है. सुख वा दुःख को ग्रहण करने वाले इन्द्रिय ही हैं। एक सन्तोषी एक रुपया में प्रसन्न होजाता है परन्तु दूसरा असन्तोषी वा राजादि १०००) में भी प्रसन्न नहीं होता। एक विज्ञानी एक पुष्प को ही देखकर अति आनन्दित होता है दूसरा अज्ञानी पुष्प परिपूर्ण वाटिका के देखने से भी सुख लाभ नहीं करता। इस प्रकार मीमांसा करने से विदित होता है कि इन्द्रिय ही सुख दुःख का ग्रहण करने वाला है। जो ग्रहण करें वही ग्रह हैं। इस आत्मा को भी पकड़े हुए इन्द्रिय ही हैं इस हेतु ये भी ग्रह हैं। आर्तभाग दुःखितों की सेवा में रहते थे इससे उन्हें पूरा अनुभव भी होगया होगा कि किस प्रकार इन्द्रिय विषय ग्रहण करने में बलवान् और निर्बल होते हैं और इसके पकड़ में आकर कैसे दुःख और सुख को उठाते हैं। यदि यह इन्द्रियवश हैं तो इसके द्वारा ब्रह्मानन्द का सुख भोगते हैं यदि यह अविवश हैं तो इसी के द्वारा नाना दुःख को भोगते हैं। यद्यपि चेतन आत्मा ही सुख दुःख भोगता है। इन्द्रिय अचेतन हैं। इस हेतु इन्द्रिय सुख दुःख को अनुभव नहीं कर सकता। तथापि इन्द्रिय के द्वारा ही आत्मा सुख दुःख का भोक्ता बनता है। अतः उपचार से सुख दुःख इन्द्रियों में माना गया है इस हेतु यह सिद्ध है कि इन्द्रिय ही सुख दुःख को ग्रहण करने वाले हैं। परन्तु यहां प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा क्रम से वर्णित होंगे और इनका ही नाम यह है ऐसा आगे कहेंगे परन्तु यदि इनका विषय न मिले तो ये इन्द्रिय किसको ग्रहण करेंगे। इस हेतु इन आठों के आठ विषय हैं। गन्ध, नाम, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्श। ये क्रम से विषय हैं और ये आठों विषय अति प्रबल हैं अपने २ विषय को दबा लेते हैं इस हेतु ग्रह से भी अति बलवान् होने के कारण ये विषय अतिग्रह कहलाते हैं। यहां अति शब्द अधिक वाचक है। जैसे—बलवान् अतिबलवान्। दुर्बल अतिदुर्बल। अथवा इन्द्रियरूप जो ग्रह हैं उनके ऊपर भी अपना अधिकार जमाकर आक्रमण करने वाले हैं इस हेतु से भी अतिग्रह कहलाते हैं। जैसे—अतिदेश अतिव्याप्ति आदि, शब्द में अति का अर्थ होता है, ग्रह=यज्ञ में पात्रों को ग्रह कहते हैं।

प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥ २ ॥

अनुवाद—निश्चय प्राणेन्द्रिय ही ग्रह हैं, वह गन्धरूप अतिग्रह से गृहीत हैं क्योंकि प्राण से ही गन्ध को लेता है ॥ २ ॥

पदार्थ—प्रथम कण्डिका के प्रश्न का उत्तर देते हैं। आठों ग्रह और अतिग्रहों को क्रम से याज्ञवल्क्य कहेंगे। उन में प्रथम ग्रह का उपदेश देते हैं। यहां प्रथम यह भी जान लेना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह के साथी एक २ अतिग्रह हैं। यहां (वै) निश्चय अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि (प्राणः) प्राणेन्द्रिय ही (ग्रहः) ग्रह है और इस ग्रह का संगी सुगन्धि और दुर्गन्धि है। अतः (सः) वह

घ्राणरूप ग्रह (अपानेन) गन्धरूप (अतिग्राहेण) अतिग्राह अर्थात् अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (अपानेन) अपानवायु युक्त घ्राणेन्द्रिय से (गन्धान्) विविध गन्धों को (जिघ्रति) लेता है ॥ २ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—क्रमशोऽष्टौ ग्रहानतिग्रहांश्च वक्ष्यति—तत्र प्रथमं गन्धातिग्रहेण सह प्राणनामकं ग्रहमादिशति । * शरीरकोष्ठाद्यो वायुर्बहिर्निस्सरति श्वासरूपेण सन् स प्राणः । बाह्यप्रदेशाद्यो वायुरभ्यन्तरं प्रविशति प्रश्वासरूपेण सोऽपानः । घ्राणेन वै वायुर्बहिर्गच्छति । अतः प्राणशब्देन घ्राणः । सुगन्धिर्वा दुर्गन्धिर्वा बाह्यवायुना समं प्रश्वासकाले आगच्छति । अतोऽपानशब्देन गन्धः । अपानिति अपकृष्यति । प्राणो वै ग्रहः । प्रकरणात् प्राणशब्दो घ्राणमभिदधाति । अपानशब्दो गन्धम् । सर्वाणीन्द्रियाणि प्राण शब्देनोच्यन्ते इत्यपि अनुसन्धेयम् । ततोऽयमर्थः । वै निश्चयः । प्राणो घ्राणेन्द्रियमेको ग्रहोऽस्तीति तत्र न सन्देहः । तस्य घ्राणस्य सहजोऽपानो गन्धोऽतिग्रहोऽस्ति । अतिक्रम्य गृह्णातीत्यतिग्रहः । यद्वा ग्रहमतिक्रान्तो व्याप्तः । यद्वा ग्रहादधिकोऽतिग्रहः । गन्धरूपो विषयो ग्रहरूपं विषयिनं घ्राणमतिक्रम्य व्याप्य तिष्ठति । अतः सोऽतिग्रहोऽस्तिः । स ग्रहः प्राणः । अपानेन गन्धेन अतिग्राहेण अतिग्रहेण छान्दसो दीर्घः । गृहीत आक्रांतोऽस्ति । कथं हि यतः । प्राणी अपानेन प्रश्वासरूपेण वायुना सह युक्तेन घ्राणेन गन्धान् जिघ्रति आदत्ते । अतोऽपानोऽतिग्रहः । गां पृथिवीं धरतीति गन्धः । पृथिव्याश्रितो हि गन्धोऽतो गन्धवती पृथिवीति तार्किकलक्षणम् । तेन गन्ध इत्यन्वर्था संज्ञा । पृथिव्या एव गुणो गन्धोऽस्तीति गन्धशब्दः सूचयति । गमनेन धरतीति वा । यथा पुष्पगन्धः पुष्पादुत्थाय वायुसहकारेण घ्राणसमीपं भवति तथायं पुष्पगन्धः इति प्रतीतिः अतो गन्धस्य गमनं सूच्यते । ततोऽपि गन्ध इति विज्ञायते । सुगन्धितवस्तूनां परमाणवः परितः प्रसरन्ति । ते च घ्राणसहयोगिनो भूत्वा गन्धजनका इति विवेकः । अतो गमनेन घ्राणेन्द्रियं धरतीति गन्धः । नेदृक् स्वभावो रूपादीनामित्यनुसन्धेयः ॥ २ ॥

भाष्याशय—पूर्व में कह आये हैं कि इन्द्रिय ही ग्रह हैं और प्रत्येक इन्द्रिय का एक २ विषय है । वे विषय ही अतिग्रह हैं क्योंकि वे विषय इन्द्रियों को दबा लेते हैं इस हेतु इन्द्रियों की अपेक्षा अति बलवान् हैं इस हेतु विषयों के नाम अतिग्रह हैं । यहां प्रथम ग्रह घ्राण (नाक) इन्द्रिय है और घ्राण इन्द्रिय का विषय निःसन्देह गन्ध है इस हेतु घ्राणेन्द्रिय रूप ग्रह का साथी गन्धरूप अतिग्रह है ।

* प्राण=शरीर के अभ्यन्तर कोष्ठ से जो वायु घ्राण से होकर निकलता है उसे प्राण कहते हैं अर्थात् श्वास ; जिस कारण प्राण का स्थान घ्राण है अतः यहां प्राण शब्द से घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण होता है ।

* अपान=जो वायु प्रश्वासरूप से बाहर से शरीर के भीतर जाता है उसे अपान कहते हैं (अपानीति) 'अप अन" दो शब्द हैं ऐसे २ स्थलों में "अप" शब्द का अर्थ "अधः" नीचा होता है । जैसे उपचय (वृद्धि) अपचय (अवनति) उत्कृष्ट और अपकृष्ट । सुचेष्ट और अपचेष्ट आदि । वायु ऊपर नीचे भरा हुआ है जिस हेतु ऊपर की वायु को इस शरीररूप नीचे गर्त्त में खींचते हैं । अतः इसको अपान कहते हैं और जिस हेतु अपान वायु के साथ ही गन्ध आता है इस हेतु अपान शब्द से गन्ध का अर्थ किया गया है । जब प्रश्वास लेवेंगे तब ही सुगन्ध वा दुर्गन्ध का बोध होगा ।

* प्राण और अपान के विवरण में ऐसा प्रतीत होता है कि उल्टा होगया है अर्थात् प्राण को अपान और अपान को प्राण नाम दिया है ।

गन्ध—(गां धरतीति गन्धः) पृथिवी का जो धारण करे उसे गन्ध कहते हैं। यह "गन्ध" शब्द ही जताता है कि गन्ध वस्तु पृथिवी के ही आश्रित रहता है। पृथिवी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। इसी हेतु पृथिवी के लक्षण में नैयायिक लोग कहते हैं कि "गन्धवती पृथिवी" जिसमें गन्ध है उसी का नाम पृथिवी है। अथवा (गमनेन धरतीति) यह एक नियम है कि सुगन्धित वस्तुओं में से परमाणु अलग होकर के चारों तरफ पसरते हैं जब वे परमाणु घ्राणेन्द्रिय से युक्त होते हैं तब गन्ध का बोध होता है। इससे वायु की सहायता से सुगन्धित परमाणुओं का गमन प्रतीत होता है इस हेतु जो अपने गमन के द्वारा घ्राण इन्द्रिय को पकड़ता है वह घ्राणेन्द्रिय है। रूप आदिक विषयों का यह स्वभाव नहीं है। इस हेतु इनको गन्ध नहीं कह सकते हैं, संस्कृतभाषा में प्रायः सब शब्द अन्वर्थ हैं अर्थात् अर्थ के अनुकूल ही उसका नाम है, जैसा अर्थ है वैसा ही नाम है ॥ २ ॥

वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३ ॥

अनुवाद—निश्चय वाणी ही ग्रह है वह वाग्रूप ग्रह नामरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि वाणी से ही नामों को कहते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थ—(वाग्+वै) वागिन्द्रिय ही (ग्रहः) ग्रह है। (सः) वागिन्द्रियरूप ग्रह (नाम्ना+अतिग्राहेण) नामरूप अतिग्रह से (गृहीतः) बद्ध है (हि) क्योंकि (वाचा) वाणी से ही (नामानि) नामों को (अभिवदति) सब प्रकार से प्रकाशित करता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—द्वितीयं ग्रहमतिग्रहञ्च व्याचष्टे—उच्यतेऽनया या सा वाग्। नामोच्चारणमेव वाग् व्यापारः। तच्च नाम वाचमतिक्रम्याधितिष्ठति। अतो वाचोऽतिग्रहो नामैव। हे आर्तभाग! द्वितीयो ग्रहो वागस्ति। अतिग्रहस्तु नाम। वै इति निश्चयं द्योतयति। अत्र न सन्देहः कार्यः। असत्यमप्रियं वाचा प्रकटयति। पैशुन्यं वाचैवाचरति। देशे नास्तिक्यं तयैव प्रचारयति। मधुरध्वनिना सैव दिङ्मात्रान् सर्वान् दर्शीकरोति। मधुरगायकः क्षणेन सर्वान् व्यामोहयति। वाग्व्यासंगेन अनेके विनष्टाः। अतो वाक् तु महान् ग्रहोऽस्ति। सा च वाग् स्वयं किमपि नास्ति। यदि तत्र नाम न स्यात्। मंगलनामोद्दिश्य सा प्रेर्य्यते। अतो नामाभिधानावाग्। यस्य योऽधीनः स तस्मान्न्यूनः। यथा राज्ञोऽधीनोऽमात्यस्तस्मान्न्यूनः। अतो नाम तु महत्तरोऽतिग्रहोऽस्ति। ननु अप्रियं प्रियञ्च वाचा वदति। प्रियेण मुक्तिः अप्रियेण ग्रहणं भवितुमर्हति। तर्हि कथं स ग्रह एव न मुक्तिः। वाचैव मंत्रानधीत्य यज्ञेषु मुक्तो भवति। यदि वाङ् नाभविष्यत् तर्हि स्वाध्यायोऽपि नाभविष्यत्। स्वाध्यायाभावे मननादिकमपि न संभवति। तदभावे ब्रह्मज्ञानानुत्पत्तिः। ततो न मुक्तिः न च किमपि। अतो वाक् कथं ग्रहशब्देन क्षिप्यते। सत्यम्। वाचि यः खलु असत्यादिधर्महेतुकव्यापारः स एवाक्षिप्यते। ननु सत्यादिकधर्म्महेतुकव्यापारोऽपि कथं तदवगम्यते। बाहुल्यनिर्देशात्। लोके न्यूनताधिक्ययोर्मध्ये आधिक्येनैव व्यपदिशति। लोके यथा किञ्चिच्छुभगुणो बहुलदुर्गुणः पुरुषो दुर्गुण एवोच्यते। कस्यचित्समीपे सत्यपि कथञ्चिन्निर्वाहाय धने दरिद्र एव स कथ्यते। न धनिकः। किञ्चिदधीतविद्योऽज्ञ एवमेव प्रख्यायते। न विद्वत्वेन। एवमेव वाचि असत्यादिबाहुल्यं सत्यादिकस्वल्पीयस्त्वं दृश्यते। सहस्रेषु कश्चिदेव सत्यवान् कश्चिदेव वाचः परमार्थप्रयोजने नियोक्ता। अतः

सापि स्वविषयेण असत्यादिभाषणरूपेण नाम्ना गृह्णाति बध्नात्येव जीवं न विमोचयति। सा च वाक् नाम्ना गृहीता बद्धास्ति। यत्किमपि ब्रुवति वाचा तन्नामैव। अयं घटः। अयं पटः। इदं ब्रह्म। इदं जगत्। इदं सर्वं वस्तुनामालङ्कृतम्। तत्तन्नाम तु वाचैव प्रकटयति। ग्राहकमेव वदति लोके। यथा ज्वरेण गृहीतो रुग्णः सर्वदा ज्वरमेव भणति। क्षुधातुरः क्षुधामेव वक्ति। एवमेव ब्रह्मविद्यागृहीतो ब्रह्मैव वदिष्यति। इतिहासगृहीत इतिहासमेव वक्ष्यति। येन स गृहीतो भवति तदेव स ब्रूते। इत्येषा प्रकृतिर्जीवस्य। स वाग्रूपो ग्रहः नाम्ना। अतिग्राहेण अतिग्रहेण। दीर्घश्छान्दसः। गृहीतोऽस्ति। हि यतः वाचा करणेन जीवो नामानि अभिवदति अभितः प्रकाशयति ॥ ३ ॥

आशय=वाग्—अब द्वितीयग्रह और अतिग्रह कहते हैं। जिस इन्द्रिय के द्वारा नाम का उच्चारण है उसे वागिन्द्रिय कहते हैं अर्थात् मुख ही वागिन्द्रिय है क्योंकि बोला जाता है। वह वागिन्द्रिय स्वयं कुछ नहीं है यदि नाम न होवे क्योंकि मुख से नाम के ही उद्देश्य से वाणी की प्रेरणा होती है यदि नाम न होवे तो वाणी की प्रेरणा कदापि नहीं हो सकती, इस हेतु नाम के अधीन वाक् है। जिसका जो अधीन होता है वह उससे न्यून होता है जैसे राजा के अधीन अमात्य (मंत्री) राजा से न्यून है इस हेतु वाणी से अधिक नाम है अतः वाक् ग्रह है और नाम अतिग्रह है वाणी से असत्य अप्रिय वचन को प्रकट करता है पिशुनता वाणी से ही करता है। देश में नास्तिकता का प्रचार उसी से होता है। वही वाणी मधुरध्वनि से विज्ञ और अज्ञ सबों को अपने वश करती है। मधुर गायक क्षण भर में सबों को व्यामोहित कर देता है इस प्रकार वाणी के व्यसन में पड़कर बहुत नष्ट हो गये।

अब शङ्का होती है कि प्रिय और अप्रिय दोनों वाणी से बोलते हैं तो प्रिय से मुक्ति और अप्रिय से ग्रहण बन्धन होना सम्भव है तब कैसे कहते हैं कि वाणी ग्रह ही है, मुक्ति नहीं। इसको मुक्ति भी कहना चाहिये। यज्ञों में वाणी के द्वारा ही मन्त्रों को पढ़ते हैं और उससे मुक्ति भी होती है। यदि वाणी न होवे तो स्वाध्याय न होगा। स्वाध्याय के न होने से मननादि व्यापार नहीं हो सकता। मननादि नहीं होने से ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी और ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति न होने से मुक्ति नहीं होगी। न जगत् में अन्य कुछ कार्य ही हो सकता। अतः वचन को "ग्रह" कह करके कैसे निन्दा करते हैं।

उत्तर—सत्य है। वाणी में जो असत्यादि अधर्म्म हेतुक व्यापार है उसी की निन्दा की जाती है और जो सत्यादिक धर्म्म हेतुक व्यापार है उसकी निन्दा नहीं की जाती है। यह विषय कैसे मालूम होता है। लोक में देखते हैं कि अधिकता का कथन होता है अर्थात् न्यूनता और अधिकता की जहां बात होती है वहां अधिकता को लेकर के ही बात होती है। जैसे किसी बालक में शुभ गुण तो बहुत कम हैं और अशुभ गुण अधिक हैं तो उस बालक को दुर्गुणी ही कहेंगे, शुभगुणी नहीं। यद्यपि उसमें शुभगुण भी किञ्चित् है तथापि वह शुभगुणी नहीं कहलाता क्योंकि दुर्गुण उसमें अधिक हैं। इसी प्रकार कथंचित् निर्वाह के लिये जिसके पास कुछ धन है भी तथापि वह दरिद्री ही कहा जावेगा, धनिक नहीं। किञ्चिन्मात्र विद्या पढ़े हुए को विद्वान् नहीं कहेंगे। वैसे ही वाणी में असत्यादि तो बहुत हैं और सत्यादिक बहुत थोड़े हैं क्योंकि इतिहास से मालूम हुआ है कि सहस्रों में कोई विरले ही सत्यभाषी हुये हैं और कोई परमार्थ में वचन को लगाने वाले हुए हैं अतः वह वाणी भी स्वविषय असत्यादि भाषण रूप नाम से जीवों को बांधती ही है, छोड़ती नहीं।

नाम—उस वाणी को नाम ने पकड़ रक्खा है क्योंकि यह घट, यह पट, यह ब्रह्म, यह जगत् सब वस्तु ही नाम से अलंकृत है। उस २ नाम को वाणी ही प्रकट करती है। लोक में अपने ग्राहक को ही कहता है अर्थात् जैसे कोई ज्वर से गृहीत है तो ज्वर उसका ग्राहक (पकड़ने वाला) हुआ। वह ज्वरी पुरुष जब बोलेगा तो ज्वर की ही बात करेगा। क्षुधार्त पुरुष क्षुधा की बात करेगा। ब्रह्मविद्यागृहीत पुरुष ब्रह्मविद्या की चर्चा अधिक करेगा। इतिहासगृहीत पुरुष इतिहास की बात करेगा। इस प्रकार जो जिससे गृहीत होता है उसी के विषय में वह चर्चा करता है। दार्ष्टान्त में नाम से वाणी गृहीत है तब नाम वाणी का ग्राहक हुआ और वाणी गृहीत (जो पकड़ी गई) है इस वाणी को जब बोलेगी तब नाम को ही कहेगी। इस हेतु हे आर्तभाग ! वाणी और नाम को ग्रह अतिग्रह जानो ॥ ३ ॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥ ४ ॥

अनुवाद—निश्चय, जिह्वा ग्रह है। वह रसरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि जिह्वा से ही रस को जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (जिह्वा) जीभ (ग्रहः) ग्रह है। (सः) वह जिह्वारूप ग्रह (रसेन) रसरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (जिह्वया) जीभ से (रसान्) विविध रसों को (विजानाति) जानता है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—जिह्वेति रसना। अन्यदतिरोहितार्थम् ॥ ४ ॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥ ५ ॥

अनुवाद—निश्चय, चक्षु ही ग्रह है। वह रूपस्वरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि चक्षु से ही रूपों को देखता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (चक्षुः) नेत्र (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह चक्षुस्वरूप ग्रह (रूपेण) रूपस्वरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (चक्षुषा) चक्षु से (रूपाणि) विविध रूपों को (पश्यति) देखता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—चक्षुरिति। विस्पष्टार्था कण्डिका ॥ ५ ॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति ॥ ६ ॥

अनुवाद—निश्चय, श्रोत्र ग्रह है। वह शब्दरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि श्रोत्र से ही शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (श्रोत्रम्) श्रोत्र (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह श्रोत्रस्वरूप ग्रह (शब्देन) शब्दस्वरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (श्रोत्रेण) श्रोत्र से ही (शब्दान्) विविध शब्दों को सुनता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—श्रोत्रमिति। विस्पष्टार्था कण्डिका ॥ ६ ॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥ ७ ॥

अनुवाद—निश्चय, मन ग्रह है। वह कामस्वरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि मन से ही विविध कामों की इच्छा करता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (मनः) मन (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह मनरूप ग्रह (कामेन) कामरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है। (हि) क्योंकि (मनसा) मन से ही (कामान्) विविध कामनाओं को (कामयते) चाहता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—मन इति। विस्पष्टार्था कण्डिका ॥ ७ ॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्म्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म्म करोति ॥ ८ ॥

अनुवाद—निश्चय, दोनों हाथ ही ग्रह हैं। वे कर्म्मरूप अतिग्रह से गृहीत हैं क्योंकि हाथों से कर्म्म को करता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (हस्तौ) दोनों हाथ ही (ग्रहः) ग्रह हैं (सः) वे हाथरूप ग्रह (कर्म्मणा) कर्म्मरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (हस्ताभ्याम्) हाथों से (कर्म्म) कर्म्म को (करोति) करता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—हस्ताविति। विस्पष्टार्था कण्डिका ॥ ८ ॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥ ९ ॥

अनुवाद—निश्चय, त्वचा ही ग्रह है। वह त्वचारूप ग्रह स्पर्शरूप अतिग्रह से गृहीत है क्योंकि त्वचा से ही विविध स्पर्शों को जानता है, इस प्रकार ये आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (त्वग्) त्वचा (ग्रहः) ग्रह है (सः) वह त्वचारूप ग्रह (स्पर्शेन) स्पर्शरूप (अतिग्राहेण) अतिग्रह से (गृहीतः) पकड़ा हुआ है (हि) क्योंकि (त्वचा) त्वचा से ही (स्पर्शान्) विविध स्पर्शों को (अवेदयते) जानता है (इति) इस प्रकार (एते) ये (अष्टौ) आठ (ग्रहाः) ग्रह हैं (अष्टौ) आठ (अतिग्रहाः) अतिग्रह हैं ॥ ९ ॥

भाष्यम्—त्वगिति। विस्पष्टार्था कण्डिका ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥ १० ॥

अनुवाद—पुनः आर्तभाग बोले कि हे याज्ञवल्क्य! जो यह सब (वस्तु) मृत्यु का अन्न है। तब वह कौन देवता है जिसका मृत्यु ही अन्न है। उत्तर—निश्चय अग्नि मृत्यु है। वह अग्नि जल का अन्न है, वह पुनः मृत्यु का जय करता है ॥ १० ॥

पदार्थ—जारत्कारव आर्तभाग ने जब यह देखा कि भगवान् याज्ञवल्क्य ने मेरे ग्रहातिग्रह विषय के प्रश्न का समीचीनतया यथोचित व्याख्यान किया इसका यही उत्तर होना चाहिये। तब पुनः द्वितीय प्रश्न करने के लिये याज्ञवल्क्य को अपनी ओर अभिमुख करने के और आज्ञा मांगने के हेतु पुकारते हैं (याज्ञवल्क्य+इति) हे याज्ञवल्क्य भगवन! यदि आज्ञा हो तो मैं पुनः द्वितीय प्रश्न पूछूं।

(ह+उवाच) इस प्रकार आर्तभाग ने कहा और आज्ञा पाने पर यह प्रश्न किया (यद्+इदम्) जो यह (सर्वम्) सब वस्तु दृष्ट वा अदृष्ट, मूर्त्त वा अमूर्त्त, सूक्ष्म वा स्थूल दीखती है, वह सब ही (मृत्योः+अन्नम्) ग्रह अतिग्रहरूप मृत्यु का अन्न अर्थात् आहार है अर्थात् मृत्यु के सब ही अधीन है ऐसा आप के वचन का आशय मालूम होता है । तब हे याज्ञवल्क्य ! (का+स्वित्+सा) वह कौन (देवता) देवता है (यस्याः) जिस देवता का (मृत्युः+अन्नम्) मृत्यु ही अन्न होवे । याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि (वै) निश्चय ही (अग्निः) अग्नि (मृत्युः) मृत्यु है (सः) वह (अपाम्) जल का (अन्नम्) अन्न है । आगे फल कहते हैं—जो मनुष्य इस विज्ञान को जानता है वह (पुनः) फिर (मृत्युम्) मृत्यु का (अपजयति) विजय करता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति ।.ग्रहातिग्रहौ भगवता याज्ञवल्क्येन समीचीनतया यथाभिमतं व्याख्यातौ दृष्ट्वा प्रश्नान्तरमपि पिपृच्छिषुरार्तभागोऽभिमुखीकरणायाज्ञाग्रहणाय च याज्ञवल्क्येति सम्बोध्य वक्ष्यमाणं प्रश्नं होवाच—हे भगवन् याज्ञवल्क्य ! भगवदुक्त्याशयेन । यदिदं दृष्टमदृष्टं मूर्त्तममूर्त्तम्वा वस्तु वर्त्तते । तत्सर्वं ग्रहातिग्रहाख्यस्य मृत्योः । अन्नमाहारोऽस्ति । मृत्युशब्दः प्रकरणात् ग्रहातिग्रहवाची । का स्वित्सा देवता वर्त्तते । यस्या देवतायाः । मृत्युर्ग्रहातिग्रहरूपः । अन्नमाहारो भवेत् । हे याज्ञवल्क्य ! ईदृशी का देवताऽस्ति । या मृत्युमपि भक्षयेत् । इति द्वितीयो मे प्रश्नः । प्रच्छकस्यायमभिप्रायः—यदि याज्ञवल्क्यो मृत्योरपि मृत्युरस्तीति समाधास्यति तर्हि पुनरपि प्रक्ष्यामि तस्य को मृत्युरेवमनवस्थास्यात् । यदि न वक्ष्यति तर्हि अस्माद् ग्रहातिग्रहरूपान्मृत्योः सकाशान्न कदापि मुक्तिः । ग्रहातिग्रहविनाशे सत्येव हि मोक्षः सम्भवेत् । तर्हि सर्वः प्रयत्नो व्यर्थः । यदि मृत्योरपि भोक्त्री कापि देवता । सा नित्या अनित्या वा । यदि अनित्या तर्हि तस्या अपि कापि भक्षयित्री भविष्यति । यदि नित्या तर्हि सा का । इत्थं दुस्तरं प्रश्नं मन्वान आर्त्तभागः पृच्छति—का स्वित्सा देवतेति । याज्ञवल्क्यः प्रष्टुरभिप्रायं विदित्वा दृष्टान्तेनैव समाधत्ते—अग्निर्वै मृत्युः । सर्वेषां वस्तूनामित्यर्थः । परन्तु सोऽग्निः । अपां जलस्यान्नम् । जलं हि प्रशमयत्यग्निम् । अतोऽग्नेर्भोक्तृ जलमस्ति । इत्थं सर्वेषां मृत्युरस्तीति ग्रहातिग्रहलक्षणस्य मृत्योरपि केनापि मृत्युना भवितव्यमिति ध्वनितम् । योऽह्येवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति । अयमाशयः—हे आर्तभाग ! इह हि सर्वेषां वस्तूनां भक्षकोऽग्निर्दृश्यते । अग्निर्हि सर्वभक्षकः । अतः सर्वेषां मृत्युरिति निश्चीयते । जलं तु तमपि शमयति । अतोऽग्नेर्मृत्युर्जलमस्ति । अतो मृत्योरपि मृत्युर्भवति । भवतु तावत् मृत्योरपि मृत्युः । तस्य को मृत्युः । तस्यापि कोऽपि महानग्निमृत्युः । उक्तदृष्टान्ते—महान् सूर्यो जलमपि शोषयति । अतो जलस्यापि सूर्यरूपो मृत्युः । सूर्योऽपि युगे युगे विनश्यति । यश्च विनाशयिता स सूर्यस्यापि मृत्युः । इत्थं दृश्यते मृत्योरपि मृत्युः । अस्ति तर्हि कापि स्थितिर्नवेति । अस्ति । क्व ? ब्रह्मणि । कथम् ? तत्सर्वभक्षकम् । यत्सर्वं भक्षयति न तस्यान्यः कोऽपि भक्षयिता । एष नियमः । नहि सर्वः सर्वभक्षकः यद्यपि सर्वान् जन्तून् सिंहो भक्षयति । तथापि विषधरदंशनेन सोऽपि झटिति म्रियते । न च स स्थावरान् वृक्षादीन् भक्षयति । गजादयः स्थावरभक्षकाः ते न शृगालादिभक्षकाः । इत्थं नहि सर्वः सर्वभक्षकः । इत्थं सर्वेषां समालोचनान्ते वह्निरेव सर्वान्तरावस्थितः सन् सर्वभक्षक इति प्रत्ययो भविष्यति । प्रलये वह्निरौष्ण्येन सर्वे परमाणवः पृथक्भूय तिष्ठन्ति । ततो महाप्रलयः । अग्निः खलु समष्टिरूपे

वस्तुनि संहतान् घनीभूतान् परमाणून् पृथक्कृत्वा रूपान्तरं प्रतिपादयति । अयमेव विनाशः । यथा काष्ठमग्निना दह्यते । तदा किं भवति । तस्याधिकांशो जलार्द्रोभागो धूमो भूत्वोपरि गच्छति । स च धूमोऽपि परमाणूनां समूह एव । कियन्तोंऽशा भस्मानि भूत्वा तत्र तिष्ठन्ति । स भस्मीभूतोऽपि पदार्थ उपायान्तरेण धूमो भवितुमर्हति । अग्निवज्ज्वलित्वा महाकाशे प्रलीयते । अयमाशयः । तस्य पदार्थस्य असंख्येया अदृश्याः परमाणवो जाताः । अतोतिसूक्ष्मत्वान्न दृश्यते । सा च महती अग्निशक्तिरपि जलेन शाम्यति । इदं सम्पूर्णं ब्रह्माण्डमादौ अग्निरूपं जाज्वल्यमानं सूर्यवद् दीप्यमानमासीदिति सर्वसिद्धान्तः । शनैः शनैः शीतलं भवितुमारेभे । बहुकालादनन्तरं जीववासार्हं जातमित्यपि अनुमीयते । अतोऽग्निजलयोर्दृष्टान्तो दर्शितो मुनिना ॥ १० ॥

भाष्याशय—प्रश्न उत्तर का भाव कुछ कठिन प्रतीत होता है और किस अभिप्राय से ऐसा प्रश्न पूछा ? प्रश्न पूछने का अभिप्राय यह है—याज्ञवल्क्य पूर्व कह आए हैं कि ग्रह अतिग्रह के वश में सब है अर्थात् ग्रह अतिग्रह सब का मृत्यु है । जो अपने वश में करे उसे ही मृत्यु कहते हैं । सब का मृत्यु तो ग्रह अतिग्रह हुआ । इसका मृत्यु कौन है । यदि इसका भी कोई मृत्यु है ऐसा याज्ञवल्क्य कहेंगे तो पुनः प्रश्न होगा कि उसका कौन मृत्यु है । यदि उसका भी कोई मृत्यु बतलावेंगे तो फिर पूछूंगा कि उसका कौन मृत्यु है । इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । (जिसकी कहीं भी अवस्था स्थिति न हो उसे अनवस्था कहते हैं) यदि ग्रहातिग्रह का कोई मृत्यु नहीं बतलावेंगे तो उससे कोई छूटेगा नहीं और ग्रहातिग्रह से जबतक छूटेगा नहीं तबतक मोक्ष नहीं हो सकता क्योंकि मोक्ष का यही प्रतिबन्धक है । यदि कहो कि मोक्ष किसी को होता ही नहीं तो ब्रह्मज्ञान साधन ही व्यर्थ हो जायगा अतः मोक्ष होता है इसमें सन्देह नहीं । यदि मोक्ष होता है तो ग्रहातिग्रह से भी छूटना चाहिये । इस हेतु ग्रहातिग्रह का भी कोई मृत्यु होना चाहिये । यदि उसका कोई मृत्यु है तो फिर उसका कौन मृत्यु है, फिर उसका कौन मृत्यु है । इस प्रकार आर्तभाग ने अपने प्रश्न को दुस्तर समझ कर याज्ञवल्क्य से पूछा । महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर दृष्टान्त से दिया, साक्षात् नहीं । लोक में देखते हैं कि मृत्यु का मृत्यु है । जैसे अग्नि सब का मृत्यु है परन्तु अग्नि का भी मृत्यु जल है । इस प्रकार ग्रहातिग्रहरूप जो महामृत्यु है उसका भी कोई मृत्यु अवश्य है । यदि इसका मृत्यु न हो तो मोक्ष नहीं होगा तब मोक्ष में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । इस हेतु इसका भी मृत्यु है परन्तु इसका मृत्यु कौन है सो याज्ञवल्क्य ने नहीं कहा । दृष्टान्त ही देकर रह गये । इसमें बड़ा भारी सन्देह उत्पन्न होता है । उत्तर न देने का कारण यह है कि आ पामर सब कोई जानता है कि ईश्वर का साक्षात्कार ही मृत्यु से छूटना है सो आर्तभाग स्वयं जानते हैं और रह गई यह बात कि मृत्यु का मृत्यु नहीं होता है । यदि कोई ऐसा माने तो सो बात नहीं हो सकती । मृत्यु का भी मृत्यु होता है, जैसे—अग्निरूप मृत्यु का जलरूप मृत्यु है इस हेतु ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु का भी मृत्यु होने के कारण उस मृत्यु के अन्वेषण करने के लिये ब्रह्मज्ञान का साधन सफल है व्यर्थ नहीं । भगवान् याज्ञवल्क्य के उत्तर में किसी २ को यह शङ्का हो सकती है कि अग्नि और जल का दृष्टान्त क्यों दिया ?

उत्तर—यदि विवेकदृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि आग्नेय शक्ति ही जगत् का प्रलय करने वाली है । प्रलयकाल में अग्नि की उष्णता ही परमाणुओं को पृथक् २ कर देती है तब प्रलय होता है अर्थात् जब कोई वस्तु अग्नि में जलती है तब उसकी क्या दशा होती है उसमें जितने जलीय

परमाणु थे वे अतिसूक्ष्म धूम हो करके आकाश में चले गये। उनमें भी जो स्थूल अंश पार्थिव (पृथिवी सम्बन्धी) भाग थे वे बहुत ही सूक्ष्म हो करके पृथिवी वृक्षादिक पर गिरजाते हैं जो बिलकुल ही जलीय अंश थे वे वाष्प होकर महाऽऽकाश में स्थित होकर रहते हैं परन्तु वे कोयले भी पुनः जलाये जासकते हैं और उसमें कोई ऐसी अन्य वस्तु डाली जाय कि उन कोयलों वा भस्म को गलादेवे और गलाकर जलरूप में करके वाष्प बन जाय तो वह भस्म बिलकुल ही वाष्प बनकर महाऽऽकाश में लीन हो जायगा कुछ भी उसका पता नहीं रहेगा। वह वस्तु क्या हुई ? इसमें सन्देह नहीं कि जो पहिले एक स्थूलरूप वस्तु थी वही वस्तु असंख्य परमाणुओं में बट गई अर्थात् अनन्त परमाणु मिलकर जो वृक्ष वा पशु आदि पदार्थ बन गये थे उनके सब परमाणु अलग २ हो गये। यही वस्तु की स्थिति है। इन परमाणुओं को अलग २ करनेवाली यदि कोई शक्ति है तो वह आग्नेयशक्ति है। वह आग्नेयशक्ति वस्तुमात्र में विद्यमान है जिस प्रकार वन के बांसों में काल पाकर स्वयं अग्नि उन से ही उत्पन्न होकर लगजाती है और अपने निवासस्थानरूप जंगलको जला देती है, इसी प्रकार महाप्रलय में भी इसी जगत् में महा अग्नि उत्पन्न होता है और सबों को जलाकर पृथक् २ कर देता है इस हेतु अग्नि ही सबका मृत्यु है। यह महर्षि याज्ञवल्क्य का आशय है परन्तु विचारशीलपुरुषो ! यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बहुत दिनों तक अग्नि से जलता हुआ रहता है। अन्त में एक महागोलाकार बन जाता है। वह गोल पदार्थ कितना बड़ा बनजाता है, यह अनुमान में भी मनुष्यों के नहीं आसकता। जैसे एक सूर्य हम देखते हैं ऐसे २ लाखों सूर्य मिलकर जितना बड़ा होना चाहिये उससे भी कहीं बड़ा होता है। इस प्रकार वह गोलाकार वस्तु भ्रमण करती हुई हज़ारों वर्ष तक रहती है। तत्पश्चात् खण्ड २ होकर कई एक लोक बनजाते हैं, तत्पश्चात् धीरे २ उसके ऊपर का भाग शीतल होना आरंभ होता है। शीतल होते २ बिलकुल शीतल होजाता है। प्रारंभ में यह पृथिवी भी एक जलती हुई गोलाकार वस्तु थी। धीरे २ ठंडी होगई है। अतः आज ऐसी दीखती है। अब आप जान सकते हैं कि उस महा अग्नि का भी मृत्यु जल ही है क्योंकि किसी जलती हुई वस्तु को ठंडा करना जल का गुण है अतः कहा गया है कि अग्नि का भी मृत्यु जल है। ऋषि लोग बहुत सूक्ष्म से वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११ ॥

अनुवाद—आर्तभाग पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस काल में यह पुरुष मरता है तब प्राण उससे ऊपर को जाते हैं या नहीं ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि नहीं, यहां ही लीन हो जाते हैं। वह विवेकी जीव आनन्द से मरजाता है और आनन्द से पूर्ण होकर मूर्च्छित के समान मानो सोता रहता है ॥ ११ ॥

पदार्थ—आर्तभाग को द्वितीय प्रश्न का उत्तर मिला उससे वे सन्तुष्ट हुए। अब तृतीय प्रश्न पूछते हैं (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) "हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार सम्बोधन कर बोले (अयम्) यह ज्ञानी (पुरुषः) पुरुष ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु से छूटकर (यत्र) जिस काल में अथवा जिस स्थान में मरते हैं। तब (अस्मात्) इस मरते हुए ज्ञानी पुरुष से (प्राणाः) अपनी २ वासना सहित सब इन्द्रिय (उद्+क्रामन्ति) ऊपर को जाते हैं (आहो+न+इति) या नहीं ? यह मेरा तृतीय प्रश्न है

(याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि (न+इति) नहीं अर्थात् ऊपर को नहीं जाते हैं तो क्या होता है सो कहते हैं—(अत्र+एव+समवनीयन्ते) यहां ही लीन होजाते हैं और (सः) वह ज्ञानी देह (उच्छ्वयति+आध्मायति) आनन्द से मरजाता है और (आध्मातः) आनन्दपरिपूर्ण होता हुआ (मृतः) मूर्च्छित सा होकर (शेते) मानो सो जाता है ॥ ११ ॥

भाष्यत्—आर्तभागो द्वितीयस्य प्रश्नस्य समाधानं लब्ध्वा अतुष्यत् । इदानीं प्रेत्य लोकाल्लोकं ज्ञानी याति न वेत्यमुं विषयमुद्दिश्य प्रष्टुकाम आर्तभागो याज्ञवल्क्येति निमन्त्रणेन तृतीयं प्रश्नं करोति । हे याज्ञवल्क्य ! यत्र यस्मिन् स्थाने काले वा । अयम् । प्रसिद्धवन्निर्देशः । अयं प्रसिद्धो ग्रहातिग्रहविमुक्तो ज्ञानी म्रियते वर्त्तमानशरीरसंयोगं त्यजति । तदा अस्मात् म्रियमाणाद्विवेकिनः पुरुषात् सकाशात् । प्राणावागादयो ग्रहाः नामादयोऽतिग्रहाश्च अन्तःकरणस्थाभिः स्वस्ववासनाभिः । जीवात्मानं गृहीत्वा उत्क्रामन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति सुकृतदुष्कृतफलभोगाय लोकान्तरं यांति । आहोनेति अथवा न यांति । इति मम तृतीयः प्रश्नः । इतिशब्दो वाक्यसमाप्त्यर्थः । याज्ञवल्क्यः समादधाति—नेति । हे आर्तभाग ! ज्ञानिनः पुरुषस्य प्राणाः न क्वापि गच्छन्तीति । याज्ञवल्क्य उवाच—हे आर्तभाग ! विवेकोत्पत्त्या वासनानां तनूकरणेन फलप्रदानासामर्थ्यात् । अत्रैव स्वस्वकारणे एव स्वस्वावस्थायामेवेत्यर्थः । समवनीयन्ते विलीयन्ते इति तु इन्द्रियाणां दशा । स तु स्वयं जीवः । उच्छ्वयति । ब्रह्म प्राप्य दिने दिने आनन्देन सह आध्मायति आसमन्ताद् वर्धते परिपूर्य्यते उच्छ्वयति यस्यैव आध्मायत्यनुवादः । स आध्मात आनन्दैःपरिपूर्णः सन् मृतो मूर्छित इव शेते यथा चिरविनष्टं प्रियं पुत्रं दृष्ट्वाऽऽनन्देन क्षणमात्रं मूर्छितो यथा माता वा पिता भवति । तथैव देहं परित्यज्य चिरकालान्वेषणेन प्राप्तं स्वमित्रं ब्रह्मालोक्याऽऽनिर्वचनीयेन आनन्दातिशयेन परिपूर्य्यमाणः सन् मूर्छित इव भूत्वा ब्रह्मच्छायामाश्रित्य बहुकालाय सुखं शेते । शेते इव । अत्र मृतशब्दो मूर्छितार्थमाह— यद्वा अमृत इति पदच्छेदः । मृतं मरणं न विद्यते पुनर्मरणं यस्य सोऽमृतः । यः खलु ब्रह्म प्राप्नोति स न कदापि म्रियते । यथेह हि शरीरपरित्यागो मरणमुच्यते । तथैव मुक्तिस्थान-परित्यागोऽपि मरणमेव । लोकेऽपि प्रियवस्तुत्यागो मरणमुच्यते ॥ ११ ॥

भाष्याशय—याज्ञवल्क्य के कथन से आर्तभाग को मालूम हुआ कि ग्रहातिग्रहरूप मृत्यु से जीव छूट सकता है और जो इनसे छूटा है वही मुक्त है । जो मुक्त होते हैं उनको वाक्, प्राण, श्रोत्र, चक्षु आदि ग्रह और नाम गन्ध, शब्द, रूप आदि विषयज्ञान रहता है या नहीं ? यदि कहो कि नहीं रहता है तो मुक्ति में वह मुक्तपुरुष सुख कैसे भोगता है ? क्योंकि इन्द्रिय विना सुख का अनुभव नहीं हो सकता । यदि कहो इन्द्रिय रहते ही हैं तब ग्रहातिग्रह से वह मुक्त नहीं हुआ, फिर उसको मुक्ति कैसी ? क्योंकि यदि इन्द्रिय रहेंगे तो उनके विषय भी रहेंगे । दोनों रहने से वह मुक्तपुरुष बद्धपुरुषवत् ही होगया ।

दूसरी शङ्का—देवयान, पितृयान और जायस्व म्रियस्व तीन मार्ग कहे गये हैं । देवयान से जाने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गई है मुक्त जीव देवयान से जाकर यदि ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं तो कर्म्मी के तुल्य ही हुए और यदि वे भी लोक लोकान्तर जायँ और तत्तल्लोक में सुख भोगें तो सुख में तारतम्य होने से वह मुक्ति नहीं कहला सकती । यदि कहो कि वे कहीं नहीं जाते तो इनके

इन्द्रिय कहां चले जाते हैं ? इत्यादि अनेक हेतु से अपने प्रश्न को दुस्तर समझ आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा ॥ ११ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ १२ ॥

अनुवाद—हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहकर आर्तभाग बोले कि जिस काल में यह पुरुष मरता है, तब इसको कौनसा पदार्थ नहीं त्यागता है ? नाम । निश्चय नाम अनन्त हैं, विश्वेदेव अनन्त हैं । वह विद्वान् इस विज्ञान से अनन्त लोक का जय करता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—वे आर्तभाग (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार सम्बोधन करके बोले कि (यत्र+अयम्+पुरुषो+म्रियते) जिस काल में यह पुरुष मरता है (किम्+एनम्+न+जहाति+इति) कौनसा पदार्थ इसको नहीं छोड़ता ? इस प्रकार मेरा प्रश्न है । उत्तर—(नाम+इति) नाम इस पुरुष का त्याग नहीं करता (वै+नाम+अनन्तम्) निश्चय नाम अनन्त है (विश्वेदेवाः+अनन्ताः) विश्वेदेव अनन्त हैं (सः+तेन+अनन्तम्+एव+लोकम्+जयति) वह विद्वान् उससे अनंन्त लोक का विजय करता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—आर्तभागः पुनरपि याज्ञवल्क्यं पृच्छति—यत्र यस्मिन् काले अयं विद्वान् पुरुषो म्रियते तदैनं किम् जहातीति मम प्रश्नः । समाधत्ते—नामेति सर्वमेवैनं जहाति नाममात्रन्तु अवशिष्यते । यतः वै निश्चयेन नाम अनन्तं नित्यं वर्त्तते यथा—वशिष्ठो मुक्त इति व्यवहारपरम्परा भवति । सम्प्रति ब्रह्मविद्यां स्तोतुं किञ्चिदाह—विश्वेदेवा अनन्ताः प्रसिद्धाः सन्ति । स विद्वान् पुरुषोऽपि अनन्तं लोकं जयति ॥ १२ ॥

आशय—अब यह एक प्रश्न पूछते हैं कि मरने के पश्चात् विद्वान् पुरुषों का कौनसा वस्तु अवशिष्ट रह जाता है ? याज्ञवल्क्य इसका सहज उत्तर देते हैं कि नाम अवशिष्ट रहजाता है । परन्तु नाम ही क्यों ? विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थ भी अवशिष्ट रह जाते हैं जैसे पाणिनि की लिखी हुई अष्टाध्यायी, आविष्कृत यन्त्र जिससे संसार का बहुत उपकार होता है अवशिष्ट रहता, जैसे स्टेफिन्सन की आविष्कृत रेलगाड़ी । इसी प्रकार किन्हीं विद्वानों के तारयन्त्र, जिसके द्वारा क्षण मात्र में लाखों कोस शब्द दौड़ जाता है । किन्हीं विद्वानों का टेलिस्कोप जिसके द्वारा देखने से अतिदूरस्थ आकाश के पदार्थ भी अति समीप प्रतीत होते हैं फिर याज्ञवल्क्य ने नाम ही शेष रह जाता है ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—ग्रन्थ यन्त्र आदि के साथ यदि नाम न हो तो ग्रन्थादिक ग्रन्थकर्त्ता के विषय को कुछ प्रकट नहीं कर सकते, अतः नाम की प्रधानता देख याज्ञवल्क्य ने वैसा उत्तर दिया । इति दिक् ॥ १२ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य ! हस्तमार्तभागाऽऽवामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत्सजन इति । तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशंसतुः कर्म्म हैव तत्प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥१३॥

अनुवाद—आर्तभाग पुनः बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस काल में इस मृतपुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है । प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, शरीरान्तर्वर्ती आकाश महाऽऽकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में, शोणित और रेत जल में लीन होजाते हैं । तब यह पुरुष किस आधार पर रहता है, यह मेरा प्रश्न है । याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि हे सोम्य आर्तभाग ! हाथ लाओ । हम ही दोनों इसके विषय में समझेंगे । हम लोगों के भाव को इस जनता में कोई नहीं समझेगा । इति । वे दोनों वहां से उठकर (दूसरी जगह) विचारने लगे । वहां उन दोनों में क्या वार्त्ता हुई सो ग्रन्थकार आगे कहते हैं । उन दोनों ने जो कुछ कहा सो कर्म्म को ही कहा, उन दोनों ने जो कुछ प्रशंसा की सो कर्म्म की ही प्रशंसा की । पुण्यकर्म्म से जीव पुण्य अर्थात् धर्म्मात्मा होता है और पापकर्म्म से पापी होता है । तब आर्तभाग जारत्कारव चुप हो गये ॥ १३ ॥

पदार्थ—आर्तभाग ने कठिन से कठिन प्रश्न किये और उत्तर पाकर बड़े प्रसन्न होते गये । अब एक विचित्र प्रश्न पूछते हैं जिसके उत्तर में आधुनिक वेदान्ती बड़े ही घबड़ा उठते हैं । वह यह है— (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! यदि आज्ञा हो तो मैं पश्चिम और अन्तिम प्रश्न पूछूं । इस प्रकार आर्तभाग उनसे प्रार्थनापूर्वक बोले (यत्र) जिस काल में (अस्य+मृतस्य+पुरुषस्य) इस मरे हुये पुरुष की (वाग्) वागिन्द्रिय शक्ति (अग्निम्) अग्नि में (अप्येति) लय=ध्वंस हो जाती है अर्थात् शरीर की उष्णता के निकल जाने से भाषणशक्ति जाती रहती है (प्राणः) शरीरान्तःसंचारी वायु (वातम्) बाह्यवायु में मिल जाता है अर्थात् आग्नेय शक्ति जो उष्णता उसके निकलने से नाड़ियों के संचालक की जो वायु वह भी बाह्यवायु में मिलकर एक होगया । तब (चक्षुः) दर्शनशक्ति (आदित्यम्) मानो आदित्य में मिलगई । (मनः) मन की वृत्ति जो आनन्द सो, (चन्द्रम्) चन्द्र में मिलगया क्योंकि आह्लादजनक चन्द्रमा ही है (श्रोत्रम्) श्रवणशक्ति (दिशः) दिशाओं में मिल गई । शरीर का स्थूल पार्थिवभाग (पृथिवीम्) पृथिवी के साथ जा मिला । (आत्मा+आकाशम्) शरीर के भीतरी आकाश बाह्य आकाश में जा मिले (लोमानि) शरीर के केश (ओषधीः) ओषधियों में प्रविष्ट होगये (केशान्) माथे के केश (वनस्पतीन्) वनस्पतियों में घुसकर लीन होगये (लोहितं+च) रक्त और रक्त के साथ अन्य अशेष भाग (रेतः+च) वीर्य और वीर्य-सदृश अन्य पदार्थ (अप्सु) जल में (निधीयते) मिल गये । हे याज्ञवल्क्य ! अर्थात् जिस २ कारण से यह संघात कार्यशरीर बना था वह २ जब उसी में जा मिले (तदा) तब (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (क) कहां, किस आधार पर (भवति) होता है अर्थात् रहता है (इति) यह मेरा प्रश्न है, कृपाकर इसका उत्तर आप देवें । आगे याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (हे सोम्य आर्तभाग) हे प्रिय आर्तभाग ! (हस्तम्+आहर) हस्त लाओ (आवाम्+एव) हम दोनों ही (एतस्य) इस प्रश्न के विषय में जो कुछ विचारणीय है उसको (वेदिष्यावः) समझेंगे और (नौ) हम दोनों के (एतत्) इस विचार्यमाण विषय को (सजने) इस जनसमूह में (न) नहीं कोई समझेगा । (तौ+ह) वे दोनों जन सभा में इतनी बातकर (उत्क्रम्य) कहीं एकान्त में जाकर (मन्त्रयाञ्चक्राते) विचार करने लगे । उन दोनों ने क्या विचारा सो आगे ग्रन्थकार कहते हैं—(तौ+ह+यद्+ऊचतुः) उन दोनों ने जो कुछ कहा (तत्+कर्म्म+ह+एव+ऊचतुः) सो कर्म्म को ही कहा (अथ+यत्+प्रशशंसतुः) और उन दोनों ने जो कुछ प्रशंसा की (कर्म्म+ह+एव+तत्+प्रशशंसतुः) कर्म्म की ही प्रशंसा की (वै) निश्चय इसमें सन्देह नहीं कि (पुण्येन+कर्म्मणा)

पुण्यजनक कर्म्म से (पुण्यः+भवति) पवित्र होता है (पापेन) पापजनक कर्म्म से (पापः) पापी होता है (इति) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया (ततः+ह) तब (जारत्कारवः+आर्तभागः) जारत्कारव आर्तभाग (उपरराम) चुप होगये ॥ १३ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति पूर्ववत् । हे याज्ञवल्क्य ! यत्र यस्मिन् यस्मिन् काले अस्य मृतस्य म्रियमाणस्य । पुरुषस्य जीवस्य । वाक् । वागिन्द्रियगोलकम् । अग्निम् । अप्येति स्वकारणमग्निं प्राप्य लयं गच्छति । एवम् प्राणः प्राणवायुः । वातं स्वकारणं बहिर्वायुं अप्येति । चक्षुः । आदित्यम् भास्करम् । अप्येति । मनश्चन्द्रमप्येति । दिशः श्रोत्रम् । शरीरं पृथिवीम् । आत्मा आकाशम् । लोमानि ओषधीरपि यन्ति । केशाः वनस्पतीन् अपि यंति । लोहितश्च रक्तं शोणितमसृगित्यर्थः । रेतश्च अप्सु जले निधीयते स्थाप्यते । तदा अयं पुरुषः । क भवति । कस्मिन्नाधारे तिष्ठति । इन्द्रियादिरहितः स किमाश्रित्य तिष्ठतीत्यर्थः । इति पृष्टो याज्ञवल्क्य आह—हे सोम्य आर्तभाग ! हस्तमाहर देहि । हे आर्तभाग ! अस्यां जनतायामस्य प्रश्नस्य समाधानं भवितुं नार्हति तस्मादावां कचिदेकान्ते गत्वा एतस्य त्वत्पृष्टस्य प्रश्नस्य विषये वेदिष्यावः विचारयिष्यावः । कथमिति यस्मात् नौ आवयोरेतद्वस्तु सजने जनसमुदायसंयुक्ते प्रदेशे निर्णेतुं न शक्यते इत्थं तौ याज्ञवल्क्यार्तभागौ होत्क्रम्य तस्मात्स्थानादुत्थाय मन्त्रयाञ्चक्राते परस्परं विचारितवन्तौ । तौ किं मन्त्रयाञ्चक्राते इति ग्रन्थकारोऽग्रे स्पष्टयति—तौ हेत्यादिना—तौ ह विचार्य यदूचतुः—सर्वानेव स्वभाववादादिपूर्वपक्षानपोह्य तच्छृणु । तत्तत्र विचारावस्थायामेकान्ते स्थित्वा कर्म्म हैवाश्रयं पुनः पुनः कार्यकारणोपादानहेतुमूचतुः—न केवलमूचतुरथापि तु कालेश्वराद्यभ्युपगतेषु हेतुषु यत्तौ प्रशशंसतुः । कर्म्मैव प्रधानं कारणमिति प्रशंसापदोपपादितं प्राधान्यमुपसंहरति—पुण्य इति । यस्मादेवं ग्रहातिग्रहादिरूपकार्यकारणोपादनं कर्म्मप्रयुक्तमिति निश्चितं तस्मात्पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्म्मणा देवादिषु जायमानः पुण्यात्मा वै भवति । पापेन शास्त्रनिषिद्धेन कर्म्मणा स्थावरादिषु जायमानः पापः पापात्मा भवति । तत एवं प्रश्ननिर्णयानन्तरं जारत्कारव आर्तभागो मनसाऽप्यचिन्तनीयपराजयोऽयमित्यभिप्रायेणोपरराम ॥ १३ ॥

भाष्याशय—वाणी अग्नि को प्राप्त होता है, इस शरीर में जितने अवयव आंख, नासिका, घ्राण आदि हैं वे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय स्व २ नियत विषय का ही ग्रहण करनेवाला है । जैसे—रूप का ग्राहक चक्षु है, गंध का नासिका है, इससे प्रत्यक्षरूप में प्रतीत होता है । यह शरीर बाह्य जगत् का एक अंकुर है क्योंकि पृथिवी, अप् , तेज, वायु, आकाश, इन्हीं सबों से यह शरीर बना हुआ है यदि यह न हों तो यह शरीर भी कदापि नहीं बन सकता । उत्पत्ति काल से लेकर इस शरीर के परमाणुओं के पृथक् २ होने पर्यन्त इसकी स्थिति रहती पुनः २ इसके अवयव अपने २ कारण में लीन हो जाते, यह प्रत्यक्ष बात है । इस पर आर्तभाग को यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि शरीर जब रहता ही नहीं तो आत्मा किस आधार पर ठहरता है ? यद्यपि आत्मा एक स्वतः पृथक् वस्तु है, इस शरीर में केवल निज कर्म्म को भोगने के लिये आता है, ऐसा आस्तिकवाद है फिर आर्तभाग को सन्देह ही क्यों हुआ ? यह आर्तभाग का आत्मा के अस्तित्व वा नास्तित्व के ऊपर सन्देह नहीं है न यह कोई सूक्ष्म प्रश्न है, यह एक साधारण प्रश्न है । जैसा कि बारहवीं (१२) कण्डिका में

आर्तभाग ने पूछा था कि मरजाने पर पुरुष को कौनसा पदार्थ नहीं त्यागता ? इसी प्रकार मरने के पश्चात् इस लोक में मनुष्य किस आधार पर रहता है अर्थात् मरने के पश्चात् भी पुरुष का कुछ अवशेष रह जाता है या नहीं ? इसके ऊपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि कर्म्म ही शेष रह जाता है, यह याज्ञवल्क्य का कथन बहुत ही उचित है क्योंकि लोक में देखते हैं कि जनकादिक राजाओं की तथा वशिष्ठादि ऋषियों की तथा रावणादिक घृणित पुरुषों की कीर्ति अथवा अपकीर्ति ही अभी तक विद्यमान है, पुण्यात्मा का पुण्यकर्म्म और पापात्मा का पापकर्म्म सदा जगत् में विद्यमान रहता है मानो इसी पर पुरुष सर्वदा स्थिर रहता है। देखो ! जनक महाराज शरीरनिवासी जीव संभव है कि अब मुक्त हो गया हो, इसी प्रकार रावणदेहनिवासी जीव भी मुक्त हो गया हो परन्तु जनक और रावण के देह से जीवों ने जो कर्म्म किये थे उनकी प्रशंसा वा निन्दा अबतक विद्यमान है और रहेगी और यह दो नाम भी इन कर्म्मों के साथ सदा रहेंगे, इसलिए १२ वीं कण्डिका में कहा है कि नाम शेष रह जाता और इस १३ वीं कण्डिका में कर्म्म शेष रहजाता है ऐसा कहा गया है, इस प्रकार एक कण्डिका का सम्बन्ध दूसरी कण्डिका से शृङ्खलाबद्ध रहता है। अब यह शङ्का होती है कि याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग के अन्तिम प्रश्न का समाधान सभा में न करके एकांत स्थल में क्यों किया ?

समाधान—बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं कि मनुष्य-समुदाय में सन्तोषदायक समाधान पाने पर भी स्वीकार नहीं करते क्योंकि स्वीकार करने से अपना पराभव समझते हैं। याज्ञवल्क्य आर्तभाग का स्वभाव और दुराग्रह जानते थे इसलिये एकान्त में बुलाकर समझा दिया अथवा मनुष्य के मरने के पश्चात् कर्म्म शेष रह जाता है इस गूढ़ रहस्य को सभास्थ पुरुष न समझ सकते हों इसलिये एकान्त में समाधान किया हो अथवा कर्म्म का विषय नाना शाखाओं से और नाना तर्क वितर्कों से जटिल है। सर्वसाधारण में अनेक विवाद उपस्थित हो जायँ इत्यादि कारणवश एकान्त में समाधान किया।

आर्तभाग—मैं पूर्व कह चुका हूं आर्तों अर्थात् दुःखग्रस्त पुरुषों की सेवा करनेवाले का नाम आर्तभाग है। कर्म्मशेष सुनकर आर्तभाग चुप हो गए। इससे यह दिखलाया कि जब तक ये जीव प्रयत्न के साथ शुभ कर्म्म न करेंगे तब तक इनका उद्धार नहीं है। हे आर्तभाग ! आप दुःखितों का उद्धार करना चाहते हैं इसलिये आपको उचित है कि शुभ कर्म्म करने का उपदेश किया करें। इन्द्रियों को वश कर ईश्वर में समाहित हो जीव शुभ कर्म्म करे, ऐसी शिक्षा किया कीजिये, इत्यादि अर्थ इससे निकलते हैं ॥ १३ ॥

द्वितीय ब्राह्मण की समाप्ति ॥

पञ्चप्रश्नीयुतमिदं द्वैतीयकं ब्राह्मणम्। तत्र पोतभङ्गेनोदधौ निमग्नं कंचित् पुरुषं यथा महाकाया मकरादयो निगलन्ति। तानपि बलिष्ठा अतिदीर्घदेहास्तिमिङ्गिलादयः कवलयन्ति। एवमेव संसाराम्बुधौ निपतितमज्ञानतरङ्गैरितश्चेतश्च वाह्यमानं श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि वशं नयन्ति तानि च शब्दादयो विषयाः। हे आर्तभाग ! यथाऽऽखून् मार्जारा गजान् सिंहा धर्षिकाः श्येना धीवरा जले मत्स्यान् अबलान् सबला "दैवो दुर्बलघातकः" इति न्यायेन निगृह्णन्ति तथैव ज्ञानविकलान् अबोधान् जनान् इन्द्रियाणि स्ववशं नीत्वा

कापथे पातयन्ति । श्रोत्रादिग्रहाधीनो बोधितोऽपि चिररोगीव हिताहितविवेकं न लभते । हे आर्तभाग ! बलवता पुरुषेण वशं नीतो मकरो यथा न कमपि जिघृक्षति तेन प्रेरितस्तु तथा चिकीर्षति । तथैव केवला इन्द्रियग्रहा न किन्तु अतिग्रहैः प्रेरिताः सन्तो मुग्धान् जीवान् निगडयन्ति । ननु पंच ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च पंच उभयात्मकं मन इति शास्त्रप्रसिद्धान्येकादशेन्द्रियाणि । विषयाश्च तेषामेकादशेति वक्तव्याः । कथमष्टौ ग्रहा अष्टातिग्रहा याज्ञवल्क्येनोक्ताः । समाधानम्—प्राधान्योक्तिरेषा । यद्वा त्वचि उपस्थस्य, हस्ते पादपाय्वोरन्तर्भावं केचिदिच्छन्ति । स्पर्शेनैव उपस्थे आनन्दानुभवः । स च त्वग्धर्मः । पादेन गमनक्रिया, पायुना मलत्यागरूपा क्रिया सा हस्तस्य ग्रहणरूपायाः क्रियायाः समाना इति प्रथमप्रश्नस्य भावः ॥

भाषा—द्वितीय ब्राह्मण में पांच प्रश्न हैं, जहाज के भग्न होने से समुद्र में डूबे हुए पुरुष को जैसे महाशरीर वाले मकरादि ग्राह निगल जाते हैं और उनको भी बलिष्ठ, अतिदीर्घदेह तिमिङ्गिलादि खाजाते हैं । वैसे ही संसाररूप समुद्र में पतित अज्ञानरूप तरङ्गों से इधर उधर वाह्यमान पुरुषों को श्रोत्रादि इन्द्रिय अपने वश में ले आते हैं और उन इन्द्रियों को शब्दादि विषय अपने वश में ले आते हैं । हे आर्तभाग ! "दैव दुर्बल घातक होता है" इस न्यायानुसार जैसे चूहों को मार्जार, हाथियों को सिंह, बटेरों को बाजपक्षी, जल में मछलियों को मल्लाह और अबलों को सबल पकड़ते हैं । वैसे ही ज्ञानविकल अबोध जनों को इन्द्रिय अपने वश में लाकर कुपथ में गिरा देते हैं तब चिररोगी के समान श्रोत्रादिग्रहाधीन पुरुष समझाये जाने पर भी हित और अहित के विवेक को नहीं पाता है । हे आर्तभाग ! बलवान् पुरुष से गृहीत जैसे मकर अन्य पुरुष को ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है परन्तु जब उसी पुरुष से वह मकर प्रेरित होता है तब अन्य पुरुष को मारना चाहता है वैसे ही श्रोत्रादि इन्द्रिय स्वयं जीव को नहीं पकड़ते किन्तु शब्दादि अतिग्रह से संयुक्त प्रेरित हो मुग्ध जीव को बन्धन में डालते हैं । यहां एक शङ्का होती है कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और उभयात्मक मन ये एकादश शास्त्रप्रसिद्ध इन्द्रिय हैं और इनके एकादश ही विषय भी हैं । तब आठ ग्रह और आठ ही अतिग्रह याज्ञवल्क्य ने कैसे कहे ?

उत्तर—ये ही आठ प्रधान हैं । अतः आठ की चर्चा की । यद्वा त्वगिन्द्रिय में ही उपस्थ इन्द्रिय की गणना हो जाती है । पाद और पायु इन इन्द्रियों की गणना हस्त इन्द्रिय के साथ ही समझना क्योंकि हस्त का कर्म विषय कहा गया है । अतः पाद से गमनरूप कर्म, पायु से मलत्यागरूप कर्म, हस्त कर्म के साथ समान ही है ।

ग्रहातिग्रह का विषय विस्पष्ट कर आर्तभाग पूछते हैं कि मृत्यु सब के साथ लगा हुआ है क्या उस मृत्यु का भी कोई मृत्यु है ? प्रथम यह प्रश्न ही कुछ दुर्बोध प्रतीत होता है क्योंकि मृत्यु कोई देहधारी वस्तु नहीं जो इसका भी कोई मृत्यु हो । यह पदार्थ का एक धर्मविशेष है । प्रत्येक पदार्थ कुछ काल जीवित अवस्था में रह मरजाता है अर्थात् स्वकार्य से निवृत्त हो जाता है और उसका संगठन वैसा नहीं रहता इसी का नाम मृत्यु है फिर इस मृत्यु का मृत्यु कौन ? प्रश्न का भाव ऐसा प्रतीत होता है कि यह जीव जीवनमरणरूप प्रवाह में ही सदा रहेगा या कभी इस से छूट भी सकता है । इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि इस प्रवाह से जीव बच सकता है यदि उपाय खोजें, उपाय है इस में सन्देह नहीं ।

अब तृतीय प्रश्न यह पूछते हैं कि जब मनुष्य मरता है तो उसके प्राण अर्थात् कर्म्म और ज्ञान के ग्राहक नयन इत्यादि इन्द्रिय उसके साथ जाते हैं या नहीं ? इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं, यहीं ये रहजाते हैं। ठीक है क्योंकि ये इन्द्रिय भौतिक हैं वे यहां ही नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं यह प्रत्यक्ष है। चतुर्थ और पंचम प्रश्न के ऊपर पहिले ही बहुत कुछ विचार हो चुका है। इति दिक् ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्याऽऽसीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन्स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥ १ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् लाह्यायनि भुज्यु ने इनसे पूछा। हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहकर वे भुज्यु बोले कि मद्र देश में विद्यार्थी होकर रहते हुए हम सब विचरण कर रहे थे वे हम सब कभी काप्य पतञ्चल के गृह पर आये उनकी कन्या गन्धर्वगृहीता थी अर्थात् अध्यापनार्थ उनकी कन्या के निकट गन्धर्व अर्थात् गायक जाति का कोई अध्यापक था। उनसे पूछा आप कौन हैं ? उन्होंने कहा कि मैं सुधन्वा आङ्गिरस हूं उनसे जब लोकों के अन्त पूछे तब इनसे यह पूछा था कि पारिक्षित कहां होंगे ? पारिक्षित कहां होंगे ? इस तत्त्व का जाननेहारा वह मैं याज्ञवल्क्य ! वही प्रश्न आप से पूछता हूं वे पारिक्षित कहां होंगे ? ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) आरत्कारव आर्तभाग के चुप होजाने के पश्चात् (भुज्युः+लाह्यायनिः) भुज्यु नाम के ब्राह्मण ने (ह+एनम्+पप्रच्छ) इन प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य से पूछा (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन कर वह भुज्यु बोले (मद्रेषु+चरकाः+पर्यव्रजाम) मद्र देश में व्रताचरणपूर्वक विद्यार्थी होकर हम कतिपय मित्र भ्रमण कर रहे थे (ते+पतञ्चलस्य+काप्यस्य+गृहान्+ऐम) वे सब हम काप्य पतञ्चल के घर पर आये। (तस्य+दुहिता+गन्धर्वगृहीता+आसीत्) वहां उनकी कन्या गन्धर्वगृहीता थी अर्थात् कन्या को गानशास्त्र पढ़ाने के लिये कोई गन्धर्व अर्थात् गायक वहां रहते थे (तम्+अपृच्छाम+कः+असि+इति) उनसे हमने पूछा कि आप कौन हैं ? (सः+अब्रवीत्+सुधन्वा+आङ्गिरसः+इति) उन्होंने कहा कि मेरा नाम सुधन्वा है और मैं गोत्र से आङ्गिरस हूं। तब हम लोगों ने उनसे बहुत से प्रश्न पूछे (यदा+लोकानाम्+अन्तान्+तम्+अपृच्छाम) जब हम सब उन से लोक लोकान्तरों के अन्त पूछ रहे थे (अथ+एनम्+अब्रूम) उस समय उससे एक यह भी प्रश्न पूछा था

(क्व+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) हे गन्धर्व ! इस समय पारिक्षित कहां होंगे ? (क्व+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) हे गन्धर्व ! इस समय पारिक्षित कहां होंगे ? इस प्रश्न का तत्त्व जानने वाला (सः) वह मैं (त्वा+पृच्छामि) आप से पूछता हूं (याज्ञवल्क्य+क्व+पारिक्षिताः+अभवन्+इति) याज्ञवल्क्य ! वे पारिक्षित इस समय कहां होंगे यह मेरा प्रश्न है, इस प्रश्न का यदि आप समाधान कर सकें तो मैं समझूंगा कि आप ब्रह्मिष्ठ हैं ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति । जारत्कारवस्य उपरत्यनन्तरं हैनं याज्ञवल्क्यं लाह्यायनिर्भुज्युः पप्रच्छ । लह्यस्यापत्यं लाह्यः तदपत्यं लाह्यायनिः । भुज्यः भुनक्तीति भुज्युः भोक्ता अत्र कस्यचिन्नामधेयम् । याज्ञवल्क्य इति होवाच पूर्ववत् । याज्ञवल्क्य ! यदि तवानुमतिः स्यात्तर्हि अहमपि पिपृच्छिषामि—कदाचित् वयं मद्रेषु देशेषु अध्ययनार्थम् । चरकाः चरन्ति ब्रह्मचर्यावस्थायां सत्यादिव्रतं कुर्वन्ति ये ते चरका विद्यार्थिनः सन्तः पर्य्यव्रजाम पर्यटितवन्तः । ते वयं कदाचित् काप्यस्य कपिगोत्रस्य पतञ्चलस्य पतञ्चलनाम्नः कस्यचित् पुरुषस्य गृहान् आवसथान् ऐम अगच्छाम आगत्य किं कृतवन्तः ? तस्य पतञ्चलस्य दुहिता कन्या गन्धर्वगृहीता आसीत् । अध्यापनार्थं गृहीतः स्थापितो गन्धर्वः कश्चिद्गायको यया सा गन्धर्वगृहीता गृहीतगन्धर्वेत्यर्थः । तं गन्धर्वमपृच्छाम कोऽसीति कस्त्वं को नामासीति । स पुनरस्मान्प्रत्यब्रवीत् नाम्ना अहं सुधन्वा गोत्रेणाङ्गिरस इति । इत्थं तत्स्वरूपं विदित्वा तं गन्धर्वं प्रति यदा यस्मिन् काले लोकानामन्तां अवसानान्यपृच्छाम । अथ तदैनं गन्धर्वं प्रति पारिक्षिताः परितो दुरितं क्षीयते येन स परिक्षिदश्वमेधः तद्याजिनः पारिक्षिताः । क्वाभवन् क्व गता बभूवुरिति पृष्टवन्तो वयम् । इत्थं क्व पारिक्षिता अभवन्निति प्रश्नस्य गन्धर्वदत्तोत्तरज्ञः सोऽहं हे याज्ञवल्क्य ! क्व पारिक्षिता अभवन्निति त्वा त्वां पृच्छामि । यदि त्वमेतज्जानासि तर्हि वद नोचेत्त्वमज्ञानादिना गृहीतः सन् ब्रह्मिष्ठोऽसीति ब्रह्मसभायां कथं ब्रवीषि ॥ १ ॥

भाष्याशय—भुज्यु=भोक्ता भोगकर्त्ता पुरुष का नाम भुज्यु है परन्तु यहां किसी पुरुष का नाम कहा गया है । लाह्यायनि=लह्य के अपत्य को लाह्य कहते हैं और लाह्य के अपत्य को लाह्यायनि कहते हैं अर्थात् लह्य का पौत्र । चरक—ब्रह्मचर्यावस्था में जो नाना व्रतों का आचरण करे उसे चरक कहते हैं अथवा विद्याध्ययन के लिये जो इधर उधर विचरण करे उसे भी चरक कहते हैं । पूर्व समय में चरक अध्वर्यु तित्तिरि आदि विद्यार्थियों के भेद थे । काप्य—कपिगोत्रोत्पन्न । गन्धर्वगृहीता—इस पद का कोई अर्थ करते हैं कि जैसे भूत प्रेत से गृहीत मनुष्य समझा जाता है इसी प्रकार पतञ्चल की कन्या किसी अदृष्ट गन्धर्व से गृहीता थी अर्थात् उसके देह पर कोई गन्धर्व निवास करता था । यह अर्थ सर्वथा मिथ्या है इसका सत्यार्थ यह है कि उस कन्या को पढ़ाने के लिये कोई गन्धर्व अर्थात् गायक अथवा विद्वान् रहा करते थे । पारिक्षित्—परिक्षित्—जो परि अर्थात् सब प्रकार से दुरित को नाश करे अथवा जिसके करने से सब दुरित नष्ट हों उसे परिक्षित् कहते हैं अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञ का नाम परिक्षित् है और उस यज्ञ के करने हारे का नाम पारिक्षित । प्रायः सब टीकाकारों ने इस शब्द का ऐसा ही अर्थ किया है ॥ १ ॥

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तं समन्तं पृथिवी

द्विस्तावत्पर्येति तां समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाऽऽकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छ-त्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशंस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युञ्जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २ ॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले कि हे भुज्यु ! मैं अनुमान करता हूं कि उन्होंने आप से इस प्रकार कहा "वे वहां गये जहां अश्वमेधयाजी जाते हैं"। अश्वमेधयाजी कहां जाते हैं ? यह लोक ३२ देवरथाह्न्य हैं उस लोक के चारों तरफ उतनी ही द्विगुणा पृथिवी है उस पृथिवी के चारों तरफ उतना ही द्विगुणा समुद्र है उन दोनों के मध्य उतना अवकाश है जितनी क्षुर की धारा है यद्वा मक्षिका का जितना पक्ष होता है। इन्द्र ने सुपर्ण होकर उनको वायु देवता के समीप समर्पित किया उनको वायु अपने में रखकर वहां ले गया जहां अश्वमेधयाजी थे। इस प्रकार निश्चय, उसने वायु की ही प्रशंसा की इसलिये वायु ही व्यष्टि है वायु ही समष्टि है जो ऐसा जानता है वह मृत्यु का जय करता है तब भुज्यु लाह्यायनि चुप हो गये ॥ २ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) वह याज्ञवल्क्य बोले कि हे भुज्यु ! (सः+वै+उवाच) उन गन्धर्व ने आप से इस प्रकार कहा सो सुनिये (ते+तत्+वै+अगच्छन्) वे पारिक्षित वहां गये (यत्र+अश्वमेधयाजिनः+गच्छन्ति+इति) जहां अश्वमेध यज्ञ करने वाले जाते हैं (क+नु+अश्वमेधयाजिनः+गच्छन्ति+इति) अश्वमेधयाजी कहां जाते हैं ? अब आगे अलङ्कार रूप से वर्णन करते हैं। प्रथम भुवनकोश का परिमाण कहेंगे (देवरथाह्न्यानि) देव=सूर्य उसका रथ वह देवरथ एक अहोरात्र में निरन्तर चलकर जितने देश में जाता है उतना देश देवरथाह्न्य कहलाता है (अयम्+लोकः) यह लोक (द्वात्रिंशतं+वै+देवरथाह्न्यानि) ३२ देवरथाह्न्य हैं (तं+समन्तं+पृथिवी+द्विस्तावत्+पर्येति) उस लोक के चारों तरफ लोकपरिमाण के द्विगुणपरिमाणयुक्त पृथिवी है (तां+समन्तं+पृथिवीम्+द्विस्तावत्+समुद्रः+पर्येति) उस पृथिवी के चारों तरफ पृथिवीपरिमाण से द्विगुणपरिमाणयुक्त समुद्र विद्यमान है (तावत्+अन्तरेण+आकाशः) इन दोनों के मध्य उतना अवकाश है (तत्+यावती+क्षुरस्य+धारा) क्षुर (चाकू) की धारा अर्थात् अग्रभाग जितना होता है (वा+मक्षिकायाः+यावत्+पत्रम्) अथवा मक्षिका का जितना पक्ष होता है (तान्+इन्द्रः+सुपर्णः+भूत्वा+वायवे+प्रायच्छत्) वहां इन्द्र ने उनको सुपर्ण होकर वायु को समर्पित किया (तान्+वायुः+आत्मनि+धित्वा) वायु उन्हें अपने में रखकर (तत्र+अगमयत्) वहां ले गया (यत्र+अश्वमेधयाजिनः+अभवन्+इति) जहां अश्वमेधयाजी रहते थे (एवम्+इव+वै+सः+वायुम्+एव+प्रशशंस) इस प्रकार निश्चय उन्होंने वायु की ही प्रशंसा की (तस्मात्+वायुः+एव+व्यष्टिः) इसलिये वायु ही व्यष्टि है (वायुः+समष्टिः) वायु ही समष्टि है (यः+एवम्+वेद) जो ऐसा जानता है (मृत्युम्+पुनः+अपजयति) वह मृत्यु का जय करता है (ततः+ह+भुज्युः+लाह्यायनिः+उपरराम) तब भुज्यु लाह्यायनि चुप हो गये ॥ २ ॥

भाष्यम्—भुज्युवचनं परिहर्त्तुमिच्छन्स याज्ञवल्क्यो ह भुज्युं प्रति गन्धर्वोक्त-प्रत्युक्तिमुवाच। हे भुज्यो ! स गन्धर्वस्तुभ्यमिति वै, उवाच। इतीति किं त इदानीन्तनाः पारिक्षितास्तत्राऽऽगच्छन्यत्र पूर्वतना अश्वमेधयाजिनो गच्छन्ति। पूर्वतना अश्वमेधयाजिनः

क नु कुत्र गच्छन्तीति पृष्टे तद्वक्तुं तावद्भुवनकोशपरिमाणमाह—द्वात्रिंशतमिति। देव आदित्यस्तस्य रथो देवरथस्तस्यैकाहोरात्रावच्छिन्नगतिवेगेन यावान् देशो मीयते तावान् देश एकदेवरथाह्न्यं तस्य द्वात्रिंशत्संख्यया गणने कृते सति द्वात्रिंशतं वै प्रसिद्धानि देवरथाह्न्यानि भवन्त्येतावत्परिमाणोऽयं ससागरः सर्वप्राणिभोगहेतुभूतो लोको लोक्यते सूर्यादिभिः प्रकाश्यत इति लोकोऽतः परमलोकस्तं च लोकं समन्त समन्ततः पृथिवी द्विस्तावल्लोकपरिमाणाद् द्विगुणपरिमाणा पर्येति परितो व्याप्य तिष्ठति। तां च पृथिवीं पृथिवीपरिमाणाद्द्विस्तावद्द्विगुणपरिमाणः समुद्रः समन्तं पर्येति व्याप्नोति। एवमुक्तस्य ब्रह्माण्डस्य कपालयोर्विवरपरिमाणं सदृष्टान्तमाह—तदिति। तत्तत्र व्यवहारभूमौ यावती यावत्परिमाणा क्षुरस्य धाराऽग्रं वाऽथवा यावत्सौक्ष्म्येण युक्तं मक्षिकायाः पत्रं पक्षस्ताव-त्परिमाणः कपालयोरन्तरेण मध्य आकाशोऽवकाशः। यद्विवक्षयेदं सर्वमुक्तं तदाह—तानिति। तेनाऽऽकाशद्वारेण तान्पारिक्षितानिन्द्रो विराडात्मभूतोऽश्वमेधे श्येनाकारेण चितोऽग्निः सुपर्णः पक्षपुच्छाद्यात्मकः पक्षी भूत्वा वायवे प्रायच्छत्प्रदत्तवान्स्वस्य स्थूल-त्वेनोक्तच्छिद्रद्वारा बहिर्गमनासंभवात्। वायुः पुलस्तान् पारिक्षितानात्मनि स्वस्मिन् धित्वा स्थापयित्वा स्वात्मभूतान्कृत्वा तत्रागमयद्यत्र पूर्वोक्ताक्रान्तकालिका अश्वमेधयाजिनोऽभव-न्निति। एवमाख्यायिकया निर्णीतमर्थं पुनरुपसंहरति—एवमिति। हे भुज्यो! एवमिवैवमेव वै स गन्धर्वस्तुभ्यं वायुमेव सूत्रमेव पारिक्षितगतिस्थानं प्रशशंस प्रकर्षेण कथयामासेति समाप्तं मुनिवचनम्। एवमाख्यायिकानिर्वृत्तमर्थं श्रुतिः स्वमुखेनैवास्मभ्यं कथयति—तस्मादित्यादिना। यद्वाऽभवन्नित्यत्रस्य इतिशब्द आख्यायिकासमाप्त्यर्थः। ते पूर्वेऽपि केत्यादि प्रकृतप्रश्नस्यैव शेषभूतं श्रुतिरेव स्वमुखेनाऽऽह—एवमिति। एवमिवैवमेव वै स गन्धर्वो वायुमेव क्रियाशक्तिप्रधानं सूत्रमेव प्रशशंस संस्तुतयामासास्यैवाऽस्मिंश्चराचरे जगति सामान्यविशेषरूपेणान्तर्बहिश्च व्याप्यावस्थानाद्देवतान्तराणां त्वण्डाद्बहिर्गमनाशक्तेः। यस्मादेवं तस्माद्वायुरेव व्यष्टिरध्यात्माधिभूताधिदैवविभागेन व्यावृत्तरूपा विविधाऽष्टि-र्व्याप्तिः। तथा वायुरेव समष्टिः समानुगतरूपा केवलेन सूत्रात्मनाऽष्टिर्व्याप्तिः। एतद्वि-ज्ञानफलमाह—अपेति। य एवं समष्टिव्यष्टिरूपवाय्वात्मकत्वेनाऽऽत्मानं वेदोपगच्छति स पुनर्मृत्युं पुनर्मरणमपजयति। तावद्यावत्तत्रावस्थानं न सर्वथा। ततो ह भुज्युर्लाह्यायनि-रुपराम। अतः स एवाप्रतिभारूपं निग्रहं प्राप्त इत्यर्थः॥ २॥

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम्॥ ३॥

तृतीय ब्राह्मण की समाप्ति॥

३२ देवरथाह्न्य—ऋषि याज्ञवल्क्य अभीतक अध्यात्मवर्णन करते आए हैं। अब इनसे एक विचित्र प्रश्न पूछा गया है कि "पारिक्षित अर्थात् अश्वमेधयाजी जन कहां गए"? इसका अध्यात्म अर्थ हो नहीं सकता। शरीर को त्याग के अनन्तर अन्यत्र कहीं जीव जाता है ऐसा आस्तिक सिद्धान्त है। अतः ये पारिक्षित भी यहां से कहीं अन्यत्र ही गये होंगे। इस अवस्था में अध्यात्मवाद को छोड़ जगत् की स्थिति की दशा याज्ञवल्क्य को दिखलानी पड़ी। ऐसा उत्तर से प्रतीत होता है परन्तु यह वर्णन

भी अध्यात्म है। पूर्व में ८ ग्रह ८ अतिग्रह कहे गये हैं। प्राण, वाग्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा ये आठ ग्रह और अपान, नाम, रस, रूप, शब्द, काम, कर्म्म और स्पर्श ये आठ अतिग्रह। ये दोनों मिलके १६ होते हैं परन्तु यह शरीर इतने ही ग्रहों अतिग्रहों से शासित नहीं है किन्तु इससे भी अधिक से यह शासित है। जहां मन की गति नहीं वहां भी यह दौड़ जाता है, अदृष्ट स्वर्ग, नरक इसके सामने सदा स्थित रहते हैं। जगत् के सब पदार्थों को निज वश में रखना चाहता है तथा नाना व्याधियां और आधियां सदा जाग्रत् रहती हैं। अतः याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह ३२ देवरथाह्नय हैं अर्थात् १६ ग्रहातिग्रह से द्विगुण ३२ देवरथाह्नय के बराबर यह शरीर लोक है। इन्द्रिय और मन सहित इस शरीर की जहां तक गति है वही यह लोक है। इस प्रकार इसकी गति ही प्रथम अनन्त दीखती है क्षणमात्र में मन वहां तक दौड़ जाता है जहां तक इसने प्रथम अनुभव किया है, अतः यह शरीर लोक अनन्त है यह इससे सिद्ध हुआ। अब इस लोक से द्विगुण पृथिवी है। पृथिवीशब्द स्थूल पदार्थ का बोधक है। यदि स्थूल पदार्थों को हिसाब के लिये ले लेवें तो इसका भी कहीं अन्त न लगेगा। ये सूर्य्य लाखों हैं। ये नक्षत्र असंख्य हैं। ऐसी २ पृथिवी कितनी हैं इसकी भी गणना कोई नहीं कर सकता। अतः ये स्थूल सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि अनन्त हैं, यह इससे सिद्ध हुआ। अब इससे द्विगुण समुद्र है, समुद्रशब्द आकाशवाची है निघण्टु देखो। हे भुज्यु! इस सृष्टि में स्थूल पदार्थ तो अनन्त हैं ये कभी गिन्ती में आ भी जायँ परन्तु इस समुद्र (आकाश) के अन्त आदि का पता कभी लग ही नहीं सकता। किसी योगी के मन में भी इसके अन्त का अनुभव नहीं हो सकता। हे भुज्यु! क्या आप पूर्व पश्चिम का अन्त लगा सकते हैं? कदापि नहीं। अतः सिद्ध है कि यह समुद्र अर्थात् अवकाशरूप आकाश अनन्त हैं, अब ऋषि कहते हैं इस अनन्त जगत् में हम कहां तक बतलावें कि वे पारिक्षित कहां गये हैं? परन्तु आप इनके गमन का अन्तिम परिणाम जानना चाहते हैं अतः मैं कहता हूं। बात समझो—

हे भुज्यु! इस प्रकार अध्यात्म और अधिभूत दोनों जगत् अनन्त हैं परन्तु इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिभूत जगत् के विना अध्यात्म का अस्तित्व कठिन है और तद्विपरीत अध्यात्म जगत् के विना अधिभूत जगत् भी निष्प्रयोजन है क्योंकि सूर्य्यादि अधिभूत को देखनेहारा यदि चेतन न हो तो इस अद्भुत कौशल को कौन वर्णन करे, कौन जाने जनवावे अतः ये दोनों लोक अतिसमीपी हैं। इस कारण कहा गया है कि इन दोनों के मध्य अन्तर क्षुर की धारा के अथवा मक्षिका के पत्र के तुल्य है अर्थात् उभय जगत् के ज्ञान के विना तत्त्व का पता नहीं लग सकता। जब साधक इस प्रकार तत्त्ववित् होता है तब इसका आत्मा उज्ज्वलित, निर्मल, शुद्ध, विशुद्ध, बुद्ध और परमैश्वर्यसंपन्न होता है इस समय यही आत्मा इन्द्र नाम से पुकारा जाता है। पुनः सुपर्ण कहाता है जैसे पक्षी स्वतन्त्रतया आकाश में विचरण करता है तद्वत् निखिल दुःखों से छूट वह शुद्ध चेतन तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सर्वथा स्वतन्त्र हो जाता है। अथवा सुपर्ण=सुन्दर पतनशाली अर्थात् प्रत्येक सूक्ष्म पदार्थ में इस साधक की गति होजाती है। इस अवस्था को प्राप्त कर वह साधक सर्वव्यापी सूत्रात्मा वायु की सहायता से सर्वत्र विचरण करता रहता है, अतः कहा गया है कि यह इन्द्र इस साधक को वायु के समीप पहुंचाता है, इत्यादि।

वायु—उपनिषदों में वायु शब्द अनन्त आकाशव्यापी अद्भुत गुणयुक्त चालकशक्ति में प्रायः प्रयुक्त हुआ है, इस वायु से यहां तात्पर्य नहीं है। यह पृथिवी, यह सूर्य आदि पदार्थ किस शक्ति से चल रहे हैं इसी चालक शक्ति का नाम वायु है, इसी वायु में सब मुक्त जीव विचरण करते रहते हैं,

मानो यह वायु तत् २ जीव को निजस्थान पर पहुँचाया करता है। हे भुज्यु ! जो कुछ है वह वायु ही है, वायु के विना चणमात्र भी आप नहीं रह सकते। यही जीवन है, यही उन अश्वमेधयाजी पुरुषों को भी मानो यथास्थान में पहुँचाया करता है। इति संक्षेपतः ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानीति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् चाक्रायण उषस्त ने इन याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया। याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन कर वे बोले कि जो ब्रह्म साक्षात् अपरोक्ष है अर्थात् प्रत्यक्ष=व्यक्त है जो आत्मा सर्वान्तर अर्थात् जो सब में व्याप्त है उसके विषय में मुझे कहो। तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि यह आपका आत्मा है जो सर्वान्तर अर्थात् सब के बीच में विद्यमान है। पुनः उषस्त पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह आत्मा जो प्राणवायु से चेष्टा करता है, वह आपका आत्मा सर्वान्तर है जो अपान वायु से चेष्टा करता है वह आपका आत्मा सर्वान्तर है। जो व्यान वायु से चेष्टा करता है वह आपका आत्मा सर्वान्तर है जो उदान वायु से चेष्टा करता, वह आपका आत्मा सर्वान्तर है यह आपका आत्मा सर्वान्तर है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) भुज्यु के चुप होजाने के पश्चात् (चाक्रायणः+उषस्तः) चाक्रायण उषस्त ब्राह्मण ने (एनम्+पप्रच्छ) इन याज्ञवल्क्य से पूछना आरम्भ किया (याज्ञवल्क्य+इति+होवाच) हे याज्ञवल्क्य ! ऐसा सम्बोधन कर वे उषस्त बोले (यत्+साक्षात्+अपरोक्षात्+ब्रह्म) जो साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है (यः+आत्मा+सर्वान्तरः) जो आत्मा सर्वान्तर अर्थात् सब के अभ्यन्तर में है (तम्+मे+व्याचक्ष्व+इति) उस आत्मा का विषय मुझ से कहिये यह मेरा प्रश्न है। इस प्रश्न को सुन याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (एषः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है अर्थात् सब के मध्य विराजमान है इस उत्तर से संतुष्ट न होकर पुनः उषस्त पूछते हैं (याज्ञवल्क्य+कतमः+सर्वान्तरः) कौनसा आत्मा सर्वान्तर है, याज्ञवल्क्य कहते हैं (यः+प्राणेन+प्राणिति) जो प्राणवायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) वह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यः+अपानेन+अपानीति) जो अपान वायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) वह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यः+व्यानेन+व्यानीति) जो व्यान वायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) वह आपका आत्मा सर्वान्तर है (यः+उदानेन+उदानिति) जो उदान वायु से चेष्टा करता है (सः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) वह आपका आत्मा सर्वान्तर है (एषः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथ भुज्योरुपरत्यनन्तरं हैनं याज्ञवल्क्यं चाक्रायणः चक्रस्यापत्यं चाक्रायणः। नाम्ना उषस्तः कश्चिद् ब्राह्मणः पप्रच्छ। हे याज्ञवल्क्य! मे मह्यम्। तमात्मानमुद्दिश्य व्यचक्ष्व व्याख्यानं कुरु। यत्साक्षात्प्रत्यक्षतया भासमानम् अपरोक्षादपरोक्षं घटपटादिवद्व्यक्तं यद्ब्रह्म शरीरे बृहत् वस्तु वर्त्तते अर्थात् य आत्मा सर्वान्तरः सर्वस्याभ्यन्तरोऽस्ति इति मे प्रश्नः। याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—यत्त्वं पृच्छसि स एष ते तव आत्मास्ति सर्वान्तरः। याज्ञवल्क्यस्याशयमबुध्वा पुनरुषस्तः पृच्छति। याज्ञवल्क्य! कतमः खलु आत्मा सर्वान्तरो भवताऽभिप्रेतः। तं पुनरपि विस्पष्टयतु। याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—यः प्राणेन मुखनासिकासंचारिणा वायुना प्राणिति प्राणचेष्टां करोति। स ते आत्मा सर्वान्तरः। योऽपानेन अपानवायुना अपानीति अपानचेष्टां करोति। अपानीति दीर्घश्छान्दसः। स ते आत्मा सर्वान्तरः। यो व्यानेन व्यानीति व्यानचेष्टां करोति। व्यानीति दीर्घश्छान्दसः स ते आत्मा सर्वान्तरः। य उदानेन उदानिति उदानचेष्टां करोति स ते आत्मा सर्वान्तरः। स एष ते आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥ २ ॥

अनुवाद—पुनः वे चाक्रायण उषस्त बोले—हे याज्ञवल्क्य! जैसे कोई कहे कि यह गौ है, यह अश्व है, वैसे ही आपने इस आत्मवस्तु का (इस संभा में) उपदेश किया है। अतः आप मुझ से उसका व्याख्यान करें जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो आत्मा सर्वान्तर है। (याज्ञवल्क्य ने पुनः वही उत्तर दिया कि) यह आपका आत्मा सर्वान्तर है (इस पर पुनः उषस्त पूछते हैं) हे याज्ञवल्क्य! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है? (याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं) हे उषस्त! दृष्टि के द्रष्टा को आप नहीं देख सकते। श्रुति के श्रोता को आप नहीं सुन सकते। मति के मन्ता को आप नहीं मनन कर सकते। विज्ञाति के विज्ञाता को आप नहीं जान सकते। हे उषस्त! यह आपका आत्मा है जो सर्वान्तर है। इससे अन्य सब वस्तु आर्त अर्थात् दुःखरूप है। तब उषस्त चाक्रायण चुप होगये ॥ २ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उषस्तः+चाक्रायणः+उवाच) याज्ञवल्क्य के समाधान से संतुष्ट न हो के वे सुप्रसिद्ध उषस्त चाक्रायण पुनः बोले—हे याज्ञवल्क्य! (यथा+विब्रूयात्) जैसे कोई किसी से कहे अर्थात् किसी शिष्य को कोई गुरु गौ की सींग पकड़ के समझावे कि देख (असौ+गौः) यह गौ है (असौ+अश्वः) यह घोड़ा है इसको पहचान रख। (इति+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य! उसी प्रकार (एतत्+व्यपदिष्टम्+भवति) यह आत्मरूप वस्तु भी उपदिष्ट होता है ऐसा आपने कहा था अर्थात् जैसे प्रत्यक्षरूप से गौ, घोड़े, मनुष्य आदिकों के पहचान के लिये उपदेश होता है उस २ पदार्थ को लेकर कहा जाता है कि यह गौ है। यह हाथी है। वैसा ही आत्मा का भी उपदेश होता है ऐसी आप की प्रतिज्ञा है परन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं करते। आप प्रत्यक्षरूप से आत्मा बतलावें,

हे याज्ञवल्क्य ! मैं पुनः पूछता हूँ (यद्+एव+साक्षात्+अपरोक्षात्+ब्रह्म) जो ही साक्षात् अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है (यः+आत्मा) जो सब का आत्मा है और जो (सर्वान्तरः) सब के मध्य में विराजमान है (तम्+मे+व्याचक्ष्व+इति) उसी आत्मा के विषय में मुझ को अच्छे प्रकार समझा कर व्याख्यान सुनावें ताकि आपका यश इस महती सभा में प्रकाशित हो, इस व्याजप्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य वही उत्तर देते हैं जो पहिले दे चुके हैं । (एषः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) हे उषस्त ! यह आपका आत्मा ही है । जो सब के भीतर विराजमान हो रहा है (कतमः+याज्ञवल्क्य+सर्वान्तरः) हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपका पूर्ववत् ही समाधान है तब मेरा प्रश्न भी पूर्ववत् ही है कि कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? उषस्त का यह हठ देख याज्ञवल्क्य ने विचारा कि यदि मैं पुनः उसी उत्तर को दुहराता हूं तो पुनः ये उसी प्रश्न को पूछेंगे, अतः इस समय किसी अन्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये । यह विचार याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे उषस्त ! सुनो । (दृष्टेः+द्रष्टारम्+न+पश्येः) दृष्टि के द्रष्टा को आप गौ अश्वादिवत् नहीं देख सकते । हे उषस्त ! हम सब जो कुछ देखते हैं इसमें विविध भ्रम है । दृष्टि अर्थात् अस्मदादिकों की दर्शनशक्ति अनित्य है । इस दर्शनशक्ति को भी यथार्थरूप से देखनेहारा कोई अन्य ही है जो दर्शन का भी द्रष्टा है उसको आप कैसे देख सकते हैं "तत् केन कं जिघ्रेत् । तत् केन कं पश्येत् । तत् केन कं शृणुयात् । तत् केन कमभिवदेत् । तत् केन कं मन्वीत । तत् केन कं विजानीयात्" इत्यादि मैत्रेयीसंवाद की बातों को भी यहां मिलाना चाहिये । इसी प्रकार हे उषस्त ! (श्रुतेः+श्रोतारम्+न+शृणुयाः) जो श्रवणशक्ति का भी श्रोता है उसको आप नहीं सुन सकेंगे (मतेः+मन्तारम्+न+मन्वीथाः) मननशक्ति के भी मन्ता को आप नहीं मनन कर सकते (विज्ञातेः+विज्ञातारम्+न+विजानीयाः) विज्ञानशक्ति के विज्ञाता को आप न जान सकेंगे । हे उषस्त ! जो दृष्टि का द्रष्टा है । जो श्रुति का श्रोता है । जो मति का मन्ता है । जो विज्ञाति का विज्ञाता है । (एष+ते+आत्मा) वही यह आपका आत्मा है (सर्वान्तरः) वही सबके अभ्यन्तर विराजमान है (अतः+अन्यत्+आर्त्तम्) इस आत्मविज्ञान से अतिरिक्त जो वस्तु है वह आर्त्त अर्थात् दुःखप्रद ही है । (ततः+ह+उषस्तः+चाक्रायणः+विरराम) तब वे उषस्त चाक्रायण विराम करने लगे अर्थात् चुप हो गये ॥ २ ॥

भाष्यम्—सहेति । याज्ञवल्क्यस्य समाधानेनासंतुष्टः पुनरप्युषस्तस्तं पृच्छति । याज्ञवल्क्य ! यथा कश्चित् पुरुषः कमपि बोधयितुमिच्छन् गोः शृङ्गं धृत्वा विब्रूयात् तं प्रति व्याख्यानं कुर्य्यात् । यद् हे वटो ! असौ मया ध्रियमाणो गौरस्ति । अयं खलु अश्वोऽस्ति । इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति अनेनोक्तेन दृष्टान्तेन तुल्यमेव आत्मस्वरूप-विज्ञानमप्यस्तीति भगवताऽस्यां सभायां व्याख्यातम् । किन्तु पृष्टः सन् भगवान् तथैवेदं वस्तु न निरूपयति अतो भगवतः प्रतिज्ञाहानिर्भवति । अस्यां जनकपरिषदि तेनोपहासो भविष्यति भगवतः । अतो गवाश्वादिवत् प्रत्यक्षतया आत्मा दर्शनीयः । अहं पुनरप्य-स्मादेव कारणात् तमेव प्रश्नं पृच्छामि । यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेति याज्ञवल्क्योऽपि स्वसमाधाने परमविश्वासी सन् पुनस्तदेव समाधानं करोति एष त आत्मा सर्वान्तर इति । याज्ञवल्क्यस्य तदेव समाधानं श्रुत्वा हठादुषस्तोऽपि पुनस्तमेव पृच्छति—कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः । सम्प्रति उषस्तस्य हठं विदित्वा प्रकारान्तरेण समाधत्ते—उषस्त ! यत्त्वं पृच्छसि समाहितः सन् तच्छृणु । त्वं दृष्टेर्द्रष्टारं न पश्येः द्रष्टुं न समर्थोऽसि । अस्माकं दर्शनशक्तिरनित्यास्ति । अस्या दृष्टेर्दर्शनशक्तेरपि द्रष्टा यः कश्चिदस्ति तं पुरुषं गवाश्वादिवत् द्रष्टुं त्वं न शक्नोषि । नान्यः कश्चित्

सभायामपि द्रष्टुं शक्नुयात् । उषस्त ! "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं शृणुयात् । तत्केन कमभिवदेत् । तत्केन कं मन्वीत । तत्केन कं विजानीयात्" इत्थमेव उषस्त ! श्रुतेः श्रवणशक्तेः श्रोतारं त्वं न शृणुयाः । मतेर्मननशक्तेर्मन्तारं न त्वं मन्वीथाः । विज्ञातेर्विज्ञानशक्तेः विज्ञातारं न त्वं विजानीयाः । अस्माद्धेतोः उषस्त ! यः दृष्टेर्द्रष्टाऽस्ति । श्रुतेः श्रोता । मतेर्मन्ता । विज्ञातेर्विज्ञाता । स एवैष त आत्मास्ति । स एवासौ सर्वान्तरः सर्वेषामभ्यन्तरे विराजमानोऽस्ति । एतावदेवात्मविज्ञानम् । अतोऽस्मदात्मविज्ञानाद् । अन्यद्विज्ञानम् । आर्तं दुःखदमेवास्ति । मिथ्यैवास्तीति वेदितव्यम् । याज्ञवल्क्यस्येदं तथ्यं समाधानं श्रुत्वा तुष्टः सन् ततोहोषस्तश्चाक्रायणोऽपि विरराम ॥ २ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति । एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्याथ बाल्येन तिष्ठासेद् । बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्त्तं ततोह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् इस याज्ञवल्क्य से कौषीतकेय कहोल नाम के ब्राह्मण पूछने लगे । याज्ञवल्क्य ! ऐसा कहके वे कहोल बोले—जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है । जो आत्मा है जो सर्वान्तर अर्थात् सब के अभ्यन्तर में व्याप्त है उस आत्मा को मुझ से आप कहें । इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—यह जो आपका आत्मा है वही सर्वान्तर है । पुनः कहोल पूछते हैं—याज्ञवल्क्य ! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं जो (आत्मा) अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु को लांघकर विद्यमान है । कहोल ! निश्चय, ब्राह्मणगण इस उस आत्मा को जानकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से विमुख हो ऊपर उठके अर्थात् इनमें विराग करके पश्चात् जीवनार्थ भिक्षाचरण करते हैं । जो पुत्रैषणा है वह वित्तैषणा है जो वित्तैषणा है वह लोकैषणा है । ये दोनों एषणायें हैं । इस कारण ब्राह्मण पाण्डित्य को निःशेष करके ज्ञानबल के आधार पर खड़े होने की इच्छा करें । बाल्य

और पाण्डित्य को निःशेष करके तब वह मुनि होता है। अमौन और मौन को निःशेष करके तब वह ब्राह्मण होता है। वह किससे ब्राह्मण होता है? जिससे हो परन्तु वह ऐसा ही है इसमें सन्देह नहीं इसके अतिरिक्त अन्य आर्त है। तब कहोल कौषीतकेय उपरत अर्थात् चुप होगये ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ) चाक्रायण उषस्त के चुप होने के पश्चात् (कौषीतकेयः) कुषीतक ऋषि के पुत्र (कहोलः) कहोल नाम के कोई ब्राह्मण (एनम्+ह+पप्रच्छ) इन सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य से पूछने लगे (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य! इस प्रकार सम्बोधन करके वे कहोल बोले याज्ञवल्क्य! (यद्+एव+ब्रह्म) जो ही ब्रह्म (साक्षात्) साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्ष=व्यक्त है (अपरोक्षात्) और जो अपरोक्ष अर्थात् अव्यक्त नहीं किन्तु व्यक्त है। (यः+आत्मा) जो आत्मनाम से पुकारा जाता है और (सर्वान्तरः) जो सब के भीतर प्रविष्ट माना जाता है (तम्+मे+व्याचक्ष्व+इति) हे याज्ञवल्क्य! उस आत्मा के विषय में मुझ को व्याख्यान सुनावें, यही आप से निवेदन है। इस पर याज्ञवल्क्य ने जैसा उत्तर उषस्त को दिया था वही उत्तर यहां भी देते हैं (एषः+ते+आत्मा+सर्वान्तरः) कहोल! वह यह आपका आत्मा ही है जो सर्वान्तर है (याज्ञवल्क्य+कतमः+सर्वान्तरः) यह सुन उषस्तवत् इन कहोल ने पूछना आरम्भ किया कि याज्ञवल्क्य! कौनसा आत्मा सर्वान्तर है यह आप विस्पष्टरूप से कहें। इस पर याज्ञवल्क्य कहोल के आशय को समझ सावधान हो समाधान करने लगे (यः+अशनाया-पिपासे+अत्येति) जो आत्मा भोजन की इच्छा को और पिपासा=पीने की इच्छा को अतिक्रमण करके विद्यमान है अर्थात् जो खाने पीने की इच्छा से रहित है और (शोकम्+मोहम्+जराम्+मृत्युम्+अत्येति) जो आत्मा शोक, मोह, जरा और मृत्यु को लांघकर विद्यमान है वही आत्मा आप का है। वही सर्वान्तर है। कहोल! (ब्राह्मणाः) ब्रह्मज्ञानी जन (एतम्+वै+तम्+आत्मानम्) इसी प्रत्यक्ष अपरोक्ष आत्मा को (विदित्वा) जानकर (पुत्रैषणायाः+च) पुत्रैषणा से अर्थात् पुत्र की इच्छा से (वित्तैषणायाः+च) वित्तैषणा से अर्थात् वित्त की इच्छा से (लोकैषणायाः+च) लोकैषणा से अर्थात् लोक की इच्छा से (व्युत्थाय) विमुख हो इनमें वैराग्य करके ब्रह्म की ओर ऊपर उठके (अथ+भिक्षाचर्यं+चरन्ति) तब केवल शरीरनिर्वाहार्थ भिक्षावृत्ति किया करते हैं (या+हि+एव+पुत्रैषणा) जो ही पुत्रैषणा=पुत्र के लिये इच्छा है (सा+वित्तैषणा) वह वित्तैषणा है (या+वित्तैषणा) जो धन की इच्छा है (सा+लोकैषणा) वह लोकैषणा ही है (हि+उभे+एते+एषणे+एव+भवतः) हे कहोल! दोनों ही ये इच्छाएं हैं अर्थात् ये दोनों भी एक प्रकार से निकृष्ट कामनाएं ही हैं (तस्मात्+ब्राह्मणः) इस कारण ब्राह्मण को उचित है कि (पाण्डित्यम्+निर्विद्य) शास्त्रसम्बन्धी जितना जो कुछ ज्ञान है उसको कुछ भी शेष=बाकी न रक्खें। इस प्रकार प्रथम शास्त्रज्ञान को समाप्त करके (बाल्येन+तिष्ठासेत्) तब केवल ज्ञानविज्ञानरूप महाशक्ति के ऊपर स्थित होने की इच्छा करे। सर्वदा लोकरचित पुस्तकों के आधार पर ही न चलता रहे किन्तु निजज्ञान का भी संपादन करे और उसी ज्ञानबल से स्थिर रहने की इच्छावान् होवे (बाल्यम्+च+पाण्डित्यं च+निर्विद्य) इस प्रकार ज्ञान विज्ञान को और पाण्डित्य को समाप्त करके (अथ+मुनिः) तब मुनि होवे अर्थात् निरन्तर पदार्थों की सत्ता के वास्तविक रूप का मनन करे (अमौनं+च+मौनम्+निर्विद्य) तब अमौन अर्थात् मनन वृत्ति के अतिरिक्त जो शास्त्रादिकों का परिचय उसे और मौन अर्थात् मननवृत्ति को समाप्त कर (अथ+ब्राह्मणः) तब ब्राह्मण होता है (सः+ब्राह्मणः+केन+स्यात्+येन+स्यात्) वह किस साधन से ब्राह्मण होता है? वह जिस साधन से हो, अर्थात् वह जिस किसी साधन से ब्राह्मण हो अथवा (तेन) पूर्वोक्त साधन से ही ब्राह्मण है परन्तु (ईदृशः+एव) ऐसा ही ब्राह्मण, ब्राह्मण है (अतः+अन्यत्+आर्तम्) इससे भिन्न विज्ञान जो कहते हैं

यह आर्त दुःख ही है (ततः+ह+कौषीतकेयः+कहोलः+उपरराम) तब याज्ञवल्क्य का यथोचित उत्तर सुन और जान के वे कुषीतक के पुत्र कहोल उपराम को प्राप्त हुए अर्थात् चुप होगये ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथ हैनमिति । साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म जिज्ञासमानमुषस्तं प्रति समादधतो याज्ञवल्क्यस्य समाधानेनाऽसंतुष्टः कश्चिन्नाम्ना कहोलः कौषीतकेयः कुषीतकस्यापत्यम् । अथ हैन प्रवक्तारं तमेव प्रश्नं पुनरपि पप्रच्छ—याज्ञवल्क्योऽपि प्रथमं तदेव समाधानमकार्षीत् । यदेवादिः सर्वान्तरान्तो ग्रन्थस्तयोरेव प्रश्नप्रतिवचने अनुवदति । सम्प्रति कहोलस्यापि तादृशमेवानुबन्धमाग्रहञ्चावलोक्य प्रवक्ता अन्यां विलक्षणां रीतिमाश्रित्य "योऽशनायापिपासे" इत्यादिग्रन्थेन समाधत्ते—कहोल ! यत्त्वं पृच्छसि समाहितः सन् तत्त्वं शृणु । स आत्मा सर्वान्तरः यः अशनायापिपासे अत्येति अशितुं भोक्तुमिच्छा अशनाया । पातुमिच्छा पिपासा । अशनाया च पिपासा चेति अशनायापिपासे । अत्येति अतिक्रम्य वर्त्तते । पुनः यः शोकं मोहं जरां मृत्युञ्च अत्येति उल्लङ्घयति स सर्वान्तर आत्मा । कहोल ! ब्राह्मणा ब्रह्मविदः । एतं वै तमात्मानं विदित्वा । पुत्रैषणायाश्च पुत्रार्थमेषणा इच्छा पुत्रैषणा पुत्रोत्पत्तिमुद्दिश्य दारग्रहणेच्छालक्षणा । वित्तैषणायाश्च वित्तानां हिरण्यगवाश्वादीनां धनानामेषणा वित्तैषणा । लोकैषणायाश्च पुत्रेणेमं लोकं जेष्यामि केवलकर्म्मणा पितृलोकमुपासनासहितेन केवलया वा तथोपासनया देवलोकमिति बुद्धया तत्साधनानुष्ठानम् । एताभ्य एषणाभ्यः । व्युत्थाय विमुखा भूत्वा ब्रह्मलक्षीकृत्य ऊर्ध्वमुत्थाय ब्रह्माभिमुखी भूयेत्यर्थः । अथानन्तरं शेषकाले देहस्थित्यर्थं भिक्षाचर्य्यं भिक्षार्थं चरणं संचरणम् । चरन्ति कुर्वन्ति । फलेच्छासाधनं संक्रामतीति न्यायाल्लोकैषणैवैकेत्याह—येति । याहि प्रसिद्धा पुत्रैषणा सैव वित्तैषणा दृष्टफलसाधनत्वादिसामान्यात् । या पुत्रैषणैकत्वमापन्ना वित्तैषणा कर्म्मभूता सा लोकैषणैव साध्यलोकैषणाप्रयुक्तत्वात्साधनैषणायाः । एवमेकत्वेऽपि लोकैषणायाः साधनमन्तरेणासिद्धेः साध्यसाधनभेदेन द्वैविध्यमाह—उभे इति । हि यस्मादुभे एते साध्यसाधनरूपे एषणे एव भवत इति । यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणाः क्रमेण तमेतमात्मानं विदित्वा व्युत्थानादि चक्रुस्तस्मादद्यतनोऽपि ब्राह्मण आपातदर्श्येषणाभ्यो व्युत्थाय पाण्डित्यं शास्त्रोत्था बुद्धिः पण्डा तद्वान् पण्डितस्तस्य कर्म्म वेदान्तवाक्यविचारलक्षणं श्रवणापरपर्य्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽनन्तरं बाल्येन तिष्ठासेच्छ्रवणज्ञानोत्पन्नाशेषानात्मदृष्टितिरस्करणसामर्थ्यं बलं तस्य भावो बाल्यं तेन ज्ञानबलभावेन विषयानाकृष्टचित्तः संस्तिष्ठासेत्स्थातुमिच्छेत् । बाल्यशब्दाभिधेयं मननं कुर्य्यादिति यावत् । बाल्यं च पाण्डित्यञ्च निर्विद्य निःशेषं कृत्वाऽथानन्तरं मुनिर्मौनवान्धारावाहिकात्मप्रत्ययप्रवाहवांस्तिष्ठासेदित्यनुषज्यते निदिध्यासनं कुर्यादिति यावत् । एवममौनं चोक्तार्थपाण्डित्य बाल्यशब्दाभिधेयं श्रवणमननाख्यं निर्विद्य मौनं चोक्तार्थमुनिशब्दवाच्यं निदिध्यासनाख्यं निर्विद्याथानन्तरं ब्राह्मणो निरुपचरितब्राह्मण्यवान्साक्षात्कृतब्रह्मैव स्यात्कृतकृत्यो भवेदिति यावत् । उक्तब्राह्मण्यसाधनं साधनान्तर शङ्कया पृच्छति—स इति । स ब्राह्मणः केन साधनेन स्यात् । उत्तरमाह—येनेति । तेनोक्तनैष्कर्म्यसाधनेन स्याद्येनानवाप्तज्ञानोऽपीदृश उक्तब्राह्मणसदृश एव भवेत् । उक्तं ब्रह्मैक्यमुपसंहरति—अत इति । अतोऽस्माद्ब्राह्मण्यावस्थानादशनायाद्यतीतात्मरूपादन्यदेषणालक्षणं वस्त्वन्तरमार्तमार्तिपरिगृहीतं स्वप्नमायामरीच्युदकादिवदसारमित्यर्थः ॥ १ ॥

भाष्याशय—कौषीतकेय—कुषीतक का पुत्र कौषीतकेय। कुषीतक नाम के कोई प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, कौषीतकोपनिषद् इनके ही नाम से प्रसिद्ध है। अशनाया=अश भोजने। भोजनार्थक अश् धातु से अशनाया बनता है। पिपासा=पीने की इच्छा। पुत्रैषणा=पुत्र की इच्छा अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की कामना से दार ग्रहण करने की इच्छा। वित्तैषणा=वित्त=धन की इच्छा। लोकैषणा= लोक की इच्छा। पितृलोक, देवलोक, प्रजापतिलोक, स्वर्गलोक इत्यादि मनोरथ कल्पित अनेक लोकों की इच्छा को लोकैषणा कहते हैं। व्युत्थाय=वि+उत्थाय। वि=विमुख। उत्थाय=उठकर अर्थात् तीनों प्रकार की इच्छाओं से विमुख हो ब्रह्म की ओर उठना। बाल्य="बलस्य भावो बाल्यम्" परमात्मा में दृढ़ विश्वास, तत्वज्ञान की प्राप्ति श्रद्धा आदि जो सामर्थ्य इसका नाम यहां बल है। मौन="मुनेर्भावो मौनम्" मुनि के परम कर्त्तव्य का नाम मौन है। परमात्मा के और तदुचित वस्तुओं के निदिध्यासन से बढ़कर अन्य कर्त्तव्य क्या है? अमौन=शास्त्र आदि जन्य जो ज्ञान वह अमौन है ॥ १ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदं सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माऽतिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि माऽतिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

अनुवाद—तब वाचक्नवी गार्गी इन याज्ञवल्क्य से पूछने लगीं। याज्ञवल्क्य! ऐसा कहकर वे बोलीं! जो यह सर्व पदार्थ जल में ओत और प्रोत हैं। वह जल किस में ओत और प्रोत है? (यह मेरा प्रश्न है) इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! वायु में ।
गार्गी—वह वायु किसमें ओत और प्रोत है ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकों में ।
गार्गी—वे अन्तरिक्षलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! गन्धर्वलोकों में ।
गार्गी—वे गन्धर्वलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! आदित्यलोकों में ।
गार्गी—वे आदित्यलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! चन्द्रलोकों में ।
गार्गी—वे चन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! नक्षत्रलोकों में ।
गार्गी—वे नक्षत्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! देवलोकों में ।
गार्गी—वे देवलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! इन्द्रलोकों में ।
गार्गी—वे इन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! प्रजापतिलोकों में ।
गार्गी—वे प्रजापतिलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?
याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! ब्रह्मलोकों में ।
गार्गी—वे ब्रह्मलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ?

वे याज्ञवल्क्य बोले कि हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत पूछो । ऐसा न हो कि तुम्हारा मूर्धा (शिर) गिरजाय । हे गार्गि ! अनतिप्रश्न्या देवता को तुम बहुत पूछ रही हो । बहुत मत पूछो । तब वे वाचक्नवी गार्गी उपरत होगईं ॥ १ ॥

पदार्थ—(अथ+ह+वाचक्नवी+गार्गी+एनम्+पप्रच्छ) जब कहोल चुप रह गए तत्पश्चात् श्रीमती ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गी इन याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने लगीं (याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं भी कुछ प्रश्न करूं, ऐसी अनुमति मांग कर वे बोलीं (यद्+इदम्+सर्वम्) जो यह सर्व वस्तु दीखती है वह (अप्सु+ओतम्+प्रोतम्) जल में ओत और प्रोत है ओत=ताना । प्रोत=बाना अर्थात् जिस प्रकार कपड़े के ताना और बाना दोनों प्रकार के सूत परस्पर ग्रथित रहते हैं । वैसे ही जल में यह सब दृश्यमान पदार्थ ग्रथित हैं ऐसा शास्त्र कहता है परन्तु (आपः+कस्मिन्+नु+खलु) वह जल किसमें (ओताः च प्रोताः च) ओत और प्रोत है (इति) हे याज्ञवल्क्य ! यह मेरा प्रश्न है । अनुग्रह करके आप उत्तर देवें । इसका समाधान याज्ञवल्क्य करते हैं (गार्गि+वायौ+इति) हे गार्गि ! वह जल वायु में ओत और प्रोत है । (वायुः+कस्मिन्+नु+खलु+ओतः+च+प्रोतः+च+इति) हे याज्ञवल्क्य ! वह वायु किसमें ओत और प्रोत है ? (गार्गि+अन्तरिक्षलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वह वायु अन्तरिक्षलोकों में ओत और प्रोत है (अन्तरिक्षलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) हे याज्ञवल्क्य ! वे अन्तरिक्षलोक किस में ओत और प्रोत हैं ?

(गार्गि+गन्धर्वलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोकों में ओत और प्रोत हैं। (गन्धर्वलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) गन्धर्वलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ? (गार्गि+आदित्यलोकेषु+इति) वे आदित्यलोकों में ओत और प्रोत हैं (आदित्यलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे आदित्यलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ? (गार्गि+चन्द्रलोकेषु+इति) वे चन्द्रलोकों में ओत और प्रोत हैं (चन्द्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे चन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ? गार्गि+नक्षत्रलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे नक्षत्रलोकों में ग्रथित हैं (नक्षत्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे नक्षत्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ? (गार्गि+देवलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे देवलोकों में ओत और प्रोत हैं (देवलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे देवलोक किस में ओत और प्रोत हैं (गार्गि+इन्द्रलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे इन्द्रलोकों में ओत और प्रोत हैं। (इन्द्रलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे इन्द्रलोक किसमें ओत और प्रोत हैं ? (गार्गि+प्रजापतिलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे प्रजापतिलोकों में ग्रथित हैं (प्रजापतिलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे प्रजापतिलोक किस में ओत और प्रोत हैं (गार्गि+ब्रह्मलोकेषु+इति) हे गार्गि ! वे ब्रह्मलोक में ग्रथित हैं (ब्रह्मलोकाः+कस्मिन्+नु+खलु+ओताः+च+प्रोताः+च+इति) वे ब्रह्मलोक किस में ओत और प्रोत हैं। हे याज्ञवल्क्य ! इसका समाधान कीजिये। इस प्रश्न को सुन (सः+ह+उवाच) वे याज्ञवल्क्य बोले अर्थात् गार्गी इस प्रकार बराबर पूछती चली जायँगी मैं कहां तक उत्तर देता रहूंगा और ब्रह्मलोक से परे कोई लोक भी नहीं यह सब विचार प्रवक्ता बोले कि (गार्गि+मा+अतिप्राक्षीः) हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत करो। अति सर्वत्र वर्जित है। जो प्रश्न न करना चाहिये वह आप पूछ रही हैं सो उचित नहीं (मा+ते+मूर्धा+व्यपप्तत्) यदि आप इस प्रकार पूछती रहीं तो ऐसा न हो कि आपका मूर्धा देह से पृथक् हो गिर पड़े अर्थात् ऐसा न हो कि प्रश्न पूछते २ आपकी बुद्धि ही मारी जाय, आप पगली होजायं अतः सोच विचार कर प्रश्न पूछा कीजिये। हे गार्गि ! (अनतिप्रश्न्याम्) जो अतिप्रश्न से भी दूर है। एक तो अतिप्रश्न ही अनुचित है। इसमें भी जो अतिप्रश्न से भी बाह्य विषय है (वै+देवताम्) ऐसे देवता के विषय में (अतिपृच्छसि) आप बहुत पूछती हैं (गार्गि+मा+अतिप्राक्षीः+इति) हे गार्गि ! उस विषय में बहुत मत पूछिये। ब्रह्मलोक से परे कोई लोक नहीं, मैंने आप से सब का आधार ब्रह्म कहा परन्तु आप ब्रह्म का भी आधार पूछती हैं यह कैसी अज्ञानता की बात है (ततः+ह+वाचक्नवी+गार्गी+उपरराम) याज्ञवल्क्य का इस प्रकार समाधान सुनके वे वाचक्नवी गार्गी चुप होगईं ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथानन्तरमेनं मुनिं गार्गी नामतो वचक्नोर्दुहिता वाचक्नवी पप्रच्छेत्यादि पूर्ववत्। किं हे मुने ! यदिदं सर्व भूभूधरादि पार्थिवं धातुजातमप्सूदके स्वकारण ओतं च दीर्घतन्तुवत्प्रोतं च तिर्यक्तन्तुवदन्यथा सक्तुमुष्टिवद्विशीर्येत। तथा च यथेयं पञ्चीकृता पृथिवी कार्यत्वात्स्वकारणभूतासु पञ्चीकृतास्वप्स्वोतप्रोता तद्वदपामपि कार्यत्वात्कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेत्यनुमानविधया पृष्ट उत्तरमाह—वायाविति हे गार्गि ! वायौ पञ्चीकृत ओताश्च प्रोताश्च कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोताश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु पद्यादिगतिहेतुभूतेषु पञ्चीकृतभूतात्मकेष्वाशेष्वित्यादौ। सर्वत्रैकैकस्मिन्नपि बहुवचनं त्वारेरंभकभूतानां बहुत्वापेक्षया। प्रजापतिलोका विराट्शरीराम्भकपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मका

ब्रह्मलोकेषु हिरण्यगर्भलोकेष्वपञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकेषु । समानमन्यत् । एवं ब्रह्मलोकाश्रयं सूत्रात्मानमपि पृच्छतीं निषेधयति—स इति । स याज्ञवल्क्यो होवाच । किं हे गार्गि ! यस्यां ब्रह्मलोका ओतप्रोतभावेन वर्त्तन्ते तां प्राणात्मभूतां सूत्रदेवतामानुमानिकत्वप्रश्न-विषयतामतीत्य वर्तमानामनुमानेन मा प्राक्षीर्मा पृच्छ । निषेधातिक्रमणे दोषमाह—मा त इति । पृच्छन्त्याश्च ते तव मूर्धा शिरो मा व्यपप्तद्विस्पष्टं मा पतेत् । तत्पातप्रसङ्गं प्रकटयन्प्रतिषेधमुपसंहरति—अनतिप्रश्न्यामिति । देवतायाः स्वप्रश्न आगमविषयस्त-मतिक्रान्तो गार्ग्याः प्रश्न आनुमानिकत्वात्स प्रश्नो यस्या इन्द्रादिदेवताया विद्यते साऽति-प्रश्न्या । इयं तु नातिप्रश्न्याऽनतिप्रश्न्या स्वप्रश्नविषयैव केवलागमगम्येति यावत् । तामनतिप्रश्न्यां सूत्रदेवतां वा अतिपृच्छसि अतो गार्गि ! मर्तुं चेन्नेच्छसि तर्हि माप्राक्षी-रित्यनुग्रहार्थो निषेधः ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराममेत्युपसंहारः पूर्ववत् ॥ १ ॥

आशय—वाचक्नवी=वचक्नु की कन्या को वाचक्नवी कहते हैं वचक्नु नाम के कोई ऋषि थे । गार्गी इन्हीं की कन्या थी । ओत=कपड़े के ताना अर्थात् लम्बे सूत को ओत कहते हैं । प्रोत=कपड़े के बाना अर्थात् चौड़े या तिरछे सूत को प्रोत कहते हैं । अनतिप्रश्न्या=प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विषय होते हैं । अभी तक गार्गी ने जो कुछ पूछा था वह प्रत्यक्ष विषय था अतः गार्गी को पूछना भी वहां तक उचित ही था । अनुमान से भी बहुत विषय जाने जाते हैं केवल अनुमान से जो विषय जाने जायं उस सम्बन्ध में जो प्रश्न है उसको अतिप्रश्न कहेंगे परन्तु जहां अनुमान की भी गति नहीं है केवल जो पदार्थ शब्दप्रमाण से ही विदित होता है अथवा जहां शब्दप्रमाण भी काम नहीं करता ऐसे गूढ़ विषय को पूछने का नाम अनतिप्रश्न है जो देवता अनतिप्रश्न से सम्बन्ध रखता है उसको अनतिप्रश्न्या देवता कहते हैं । इसके विषय में ये तीन श्लोक हैं—

उचितोऽस्या भवेत्प्रश्नो देवता येन पृच्छ्यते ।
वर्त्तते यस्तमुल्लङ्घ्य सोऽतिप्रश्नोऽनुमुच्यते ॥ १ ॥
या तमर्हति पूर्वोक्ता साऽतिप्रश्न्येह देवता ।
तदन्यत्वादिमां त्वाहुरनतिप्रश्न्यनामिकाम् ॥ २ ॥
तामेतामनतिप्रश्न्यामतिप्रश्नेन साहसात् ।
पृच्छन्त्या मूर्धपातस्ते स्यादेव स्वापराधतः ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षलोक—"अन्तरिक्षाण्येव लोकः अन्तरिक्षलोकाः" अन्तरिक्ष को ही अन्तरिक्षलोक कहते हैं इसी प्रकार गन्धर्वलोक आदित्यलोक आदि में भी जानना ।

अध्यात्मवाद—इस षष्ठ ब्राह्मण में १—आप (जल), २—वायु, ३—अन्तरिक्षलोक, ४—गन्धर्वलोक, ५—आदित्यलोक, ६—चन्द्रलोक, ७—नक्षत्रलोक, ८—देवलोक, ९—इन्द्रलोक, १०—प्रजापतिलोक, ११—ब्रह्मलोक । ये ११ लोक उत्तरोत्तर आधार कहे गये हैं । इस प्रकार के वर्णन से सर्वसाधारण में महाभ्रम उत्पन्न होता आया है ; पौराणिक समय में इनका महाविस्तार से वर्णन हो गया । ये पृथक् २ लोक माने जाने लगे परन्तु यह वर्णन बाह्यजगत् का नहीं है । याज्ञवल्क्य इस प्रकरण में प्रायः अध्यात्म वर्णन ही करते आये हैं और आगे भी करेंगे । यह केवल इस शरीर का ही वर्णन है । यथा—आप=जल, इस भौतिक शरीर का प्रथम आधार जल ही है जलमात्र से यह मानव शरीर होता है वृक्षादिक भी जल से ही उत्पन्न होते हैं ऐसा विचार से प्रतीत

होगा । प्रथम तो प्रायः जल के संयोग विना कोई बीज अंकुरित ही नहीं होता । द्वितीय यह है कि बीज का जलीय भाग ही अंकुर बनता है । आप प्रत्यक्षरूप से देखते हैं कि बीज का स्थूल भाग ज्यों का त्यों बना रहता है उस बीज से अद्भुत प्रकार से एक अंकुर निकल आता है और शनैः २ बढ़कर महावृक्ष बन जाता है। इस प्रकार जल ही सब का प्रथम आधार है अतः गार्गी ने कहा कि यह दृश्यमान पदार्थ जल में ओत प्रोत है परन्तु वह जल किस में ओत प्रोत है यह मैं नहीं जानती । हे याज्ञवल्क्य ! कृपाकर आप कहें । अतः यहां बाह्य जल से तात्पर्य नहीं है किन्तु शरीर के कारणभूत जल से तात्पर्य है । इसी कारण शास्त्रों में वर्णन आता है प्रथम जल की ही सृष्टि हुई "अप एव ससर्जादौ" ।

वायु—याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जल वायु में ओत प्रोत है । भाव इसका यह है कि यदि प्राणवायु न हो तो वह कारणात्मक बीजभूत जल भी कुछ नहीं कर सकता । यह प्रत्यक्ष विषय है यदि वायु की सृष्टि नहीं होती तो एक भी जीव पृथिवी पर नहीं दीखता । अतः जल भी वायु में ओत प्रोत है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा । यहां वायु पद से शरीरस्थ प्राण अपान इत्यादिकों का ग्रहण है ।

अन्तरिक्षलोक—वह वायु=अध्यात्म प्राण अपान आदि अन्तरिक्षलोक में ओत प्रोत है । ठीक है । "अन्तः ईक्ष्यते" अन्तरिक्ष उसे कहते हैं जो सब के अन्तर=मध्य में दीख पड़े । प्राणवायु और बाह्यवायु और अन्तरिक्ष का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है यदि अन्तरिक्ष अर्थात् अवकाश न हो तो वायु रहे कहां ? वायु बहता है ? कौनसा पदार्थ है जो बहता है ? कौनसा बाह्यपदार्थ है जिसका यह वाहक है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जो कुछ हो परन्तु यह कहना पड़ेगा कि यह भी अन्तरिक्ष में ओत प्रोत है । यहां अन्तरिक्ष पद से शरीरस्थ अवकाश का ग्रहण है ।

गन्धर्वलोक—यह अन्तरिक्षलोक गन्धर्वलोक में ओत प्रोत है। ऐसे स्थलों में सूर्य की किरणों का नाम गन्धर्व होता है । अब यह दिखलाते हैं कि बीज, वायु और अन्तरिक्ष इन तीनों के रहते हुए भी यदि गरमी न हो तो कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होसकता । पूर्वोक्त तीनों सूर्यकिरण अर्थात् गरमी, ऊष्मा=उष्णता । गन्धर्व अर्थात् गरमी में ओत प्रोत हैं अर्थात् उनका जीवनप्रद उष्णता है शरीर में जो उष्णता है उसी का नाम यहां गन्धर्व है ।

आदित्यलोक—बाह्यजगत् में देखते हैं कि पृथिवी पर सम्पूर्ण गरमी सूर्य से आती है । इस शरीर में भी उसी सूर्य से गरमी आती है परन्तु मानो इस देह में जो जाठराग्नि है वही आदित्य है। अतः वह गन्धर्व आदित्य में ओत प्रोत है, ऐसा कहा है ।

चन्द्रलोक—वह आदित्यलोक चन्द्रलोक में ओत प्रोत है, ठीक है। चन्द्र शब्द से प्रायः मन का ग्रहण होता है, यद्यपि मन और चन्द्र का कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तथापि अध्यात्म वर्णन में चन्द्र का कार्यभूत जो मन उसी का ग्रहण होता है। यदि मन न हो तो इस शरीर का भी अस्तित्व नहीं रह सकता है । अतः पूर्वोक्त जल, वायु, गन्धर्व और आदित्य ये सब मनोरूप चन्द्र में ओत प्रोत हैं ।

नक्षत्रलोक—चक्षु, कर्ण, नासिका आदि इन्द्रियों का नाम यहां नक्षत्रलोक है । जैसे—बाह्यजगत् में चन्द्र एक और नक्षत्र अनेक प्रतीत होते हैं तद्वत् इस शरीर में मन तो एक है, इन्द्रिय अनेक हैं । मन इन्द्रियों के अधीन है । अतः कहा गया है कि नक्षत्रलोक में चन्द्रलोक ओत प्रोत है ।

देवलोक—इन्द्रियों के जो दर्शन, श्रवण, घ्राण (सूंघना), आस्वादन, स्पर्शन, मनन आदि विषय हैं वे यहां देवता कहाते हैं, इन्द्रियगण अपने २ विषय के अधीन हैं। अतः कहा गया है कि नक्षत्रलोक (इन्द्रियलोक) देवलोक (इन्द्रियविषय लोक) में ओत प्रोत हैं।

इन्द्रलोक—इन्द्र नाम जीवात्मा का है, चतुर्दशभुवन और वैदिकइतिहासार्थनिर्णय आदि ग्रन्थ देखिये। इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय और पूर्वोक्त आप आदि सब ही आत्मा के अधीन हैं इसमें सन्देह नहीं, क्या यदि आत्मा न हो तो इस शरीर का अस्तित्व ही नहीं बन सकता।

प्रजापतिलोक—अदृष्ट शुभाशुभ कर्म्म का नाम प्रजापति है, यदि अनादिकाल से चला आता हुआ अदृष्ट अर्थात् शुभाशुभ कर्म्म न हो तो यह जीवात्मा भी इस संसाररूप गुहा में क्योंकर आवे और क्योंकर यह विविध सृष्टियां हों, अतः कहा है कि वह इन्द्रलोक अर्थात् जीवात्मा प्रजापतिलोक अर्थात् कर्म्म में ओत प्रोत है।

ब्रह्मलोक—परमात्मा का नाम यहां ब्रह्मलोक है। वह अदृष्ट भी परमात्मा के अधीन है। अतः कहा गया है कि वह प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में ओत प्रोत है। इस प्रकार यह अध्यात्म वर्णन है बाह्यजगत् का निरूपण नहीं है।

मूर्धापतन—इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने आप अर्थात् कारणभूत बीज से लेकर ब्रह्मपर्यन्त आधाराधेय भाव कह दिया। अब पुनः ब्रह्म का भी आधार गार्गी पूछने लगीं इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे गार्गि ! आप अनतिप्रश्न्या देवता को पूछ रही हैं। क्या यह विषय तेरे शिर में आ सकता है ? कदापि नहीं। ऐसा न हो कि तुमको यह आगमगम्य विषय मैं समझाऊं परन्तु तुम न समझसको तब तुम्हारा हास्य होगा और तुम्हें लज्जित होके इस सभा में अधोमुखी होना पड़े। अतः तुम्हारे कल्याण के लिये यह मैं कहता हूं। तुम अनतिप्रश्न्यदेव को मत पूछो। इति संक्षेपतः ॥ १ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्य्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति ॥ १ ॥ (क)

अनुवाद—तत्पश्चात् आरुणि उद्दालक इनसे पूछने लगे—हे याज्ञवल्क्य ! इस प्रकार प्रथम सम्बोधन कर उन आरुणि ने याज्ञवल्क्य से पूछना आरंभ किया। हम लोग कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल नाम के ऋषि के गृह पर यज्ञशास्त्र को अध्ययन करते हुए ठहरे हुए थे। उनकी स्त्री ने निज अध्ययन के लिये गन्धर्व जातीय एक विद्वान् को रक्खा था। उनसे हम लोगों ने पूछा कि "आप कौन हैं" ? उन्होंने उत्तर दिया कि "मैं आथर्वण कबन्ध हूं" इति ॥ १ ॥ (क) *

---

* यहां इसी अध्याय का तृतीय ब्राह्मण देखो ॥

पदार्थ—(अथ) अब सप्तम प्रश्नक के दिखलाने को आगे ग्रन्थ आरम्भ करते हैं, जब गार्गी याज्ञवल्क्य के समीचीन समाधान को सुन और उनको दुर्धर्ष और अजेय विद्वान् जान प्रश्न करने से उपरत होगई। तत्पश्चात् (आरुणिः) अरुणा ऋषि के पुत्र (उद्दालकः) उद्दालक ने (एनम्+ह) इस सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य से (पप्रच्छ) पूछा। किस रीति से उसने अपने प्रश्न का आरम्भ किया सो आगे कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+इति+ह+उवाच) हे याज्ञवल्क्य महाराज ! इस प्रकार पुकार कर वह बोले। आगे अपना इतिहास कहते हैं—तब उसी के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे। हे याज्ञवल्क्य ! हम लोग (काप्यस्य) कपि नाम के ऋषि के गोत्र में उद्भव (पतञ्चलस्य) पतञ्चल नाम के विद्वान् के (गृहेषु) गृह पर (यज्ञम्+अधीयानाः) यज्ञशास्त्र को पढ़ते हुए (अवसाम) ठहरे हुए थे। (तस्य) उनकी (भार्य्या) पत्नी ने (गन्धर्वगृहीता+आसीत्) एक गन्धर्वजातीय विद्वान् को अध्ययनार्थ रक्खा था। (तम्) उस गन्धर्व से (अपृच्छाम) हम लोगों ने पूछा कि (कः+असि+इति) आप कौन हैं ? (सः+अब्रवीत्) उन्होंने उत्तर दिया कि मैं (आथर्वणः) अथर्वा ऋषि का पुत्र हूं और (कबन्ध+इति) मेरा नाम कबन्ध है ॥ १ ॥ (क)

भाष्यम्—अथेति सप्तमं प्रश्नकं दर्शयितुमथेत्यादिना ग्रन्थमवतारयति ग्रन्थकृत्। यदा गार्गी याज्ञवल्क्यस्य समीचीनं समाधानं श्रुत्वा दुर्धर्षमजेयञ्च तं विदित्वा प्रश्नाद्विरराम। अथानन्तरम्। आरुणिररुणस्याऽपत्यमारुणिः नाम्नोद्दालकः एनं ह याज्ञवल्क्यं प्रपच्छ प्रश्नं कृतवान्। कया रीत्या प्रश्नोपन्यासं कृतवानिति वक्ति। हे याज्ञवल्क्येति प्रथमं संबोध्य तत उद्दालको वक्ष्यमाणं वचनमुवाच। हे याज्ञवल्क्य ! कदाचित् वयम्। काप्यस्य कपिर्नाम कश्चिदृषिः तस्य गोत्रापत्यमिति काप्यस्तस्य। पतञ्चलस्य पतञ्चलनाम्नः कस्यचिदनूचानस्य। गृहेषु यज्ञं यज्ञशास्त्रम्। अधीयानाः अध्ययनं कुर्वाणाः सन्तः मद्रेषु मद्रदेशेषु अवसाम वासं कृतवन्तः। तस्य पतञ्चलस्य। भार्य्या भर्तुं पोषयितुं योग्या "भरणाद् भार्य्या" गन्धर्वगृहीता आसीत्। गृहीतः पठनाय स्थापितो नियोजितो गन्धर्वो गन्धर्वजातीयो विद्वान् यया सा गन्धर्वगृहीता गृहीतगन्धर्वेत्यर्थः। अध्ययने सहायतां लब्धुं कश्चिद्विद्वान् नियोजितः। तादृशीत्यर्थः। तमध्यापकं गन्धर्वं वयमपृच्छाम "कोऽसीति"। स गन्धर्वः अब्रवीत्। अहं आथर्वणोऽथर्वगोत्रोत्पन्नः। यद्वा अथर्वणोऽपत्यमाथर्वणः। नाम्ना कबन्धोऽस्मि इति ॥ १ ॥ (क)

भाष्याशय—उद्दालक "उद्दारयतीति उद्गतो भूत्वा दारयतीति" यद्वा "उद्गाता दारा यस्य सः" जो उद्गत अर्थात् दृढ़ संनद्ध होके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य को विदारित=विनष्ट करे उसे उद्दालक कहते हैं। यद्वा जिनको अच्छी दार=स्त्री प्राप्त है वह उद्दालक। आरुणि+अरुण का अपत्य=पुत्र। काप्य=कपिगोत्रोत्पन्न। गन्धर्वगृहीता=जिसने अध्ययन के लिये गन्धर्व को नियुक्त किया है वह गन्धर्वगृहीता। कबन्ध="कं सुखं वा ब्रह्मायद्वन्वा बध्नातीति" जो सुखी हो यद्वा ब्रह्मायक के तत्व को जाने वह कबन्ध। आथर्वण=अथर्वा का पुत्र। प्राचीनकाल में अथर्वा नाम के एक सुप्रसिद्ध ब्रह्मवादी हुए हैं ? ॥ १ ॥ (क)

सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्योनाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यं याज्ञिकांश्च वेत्थ नु त्वं काप्य

तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकांश्च यो वै तत्काप्य सूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति ॥ १ ॥ (ख)

अनुवाद—(गन्धर्व अध्यापक ने) उन काप्य पतञ्चल से और हम याज्ञिकों से कहा कि हे काप्य ! क्या तू उस सूत्र को जानता है जिससे यह लोक और परलोक और सब भूत ग्रथित होते हैं। उस काप्य पतञ्चल ने कहा कि हे भगवन् ! मैं उस (सूत्र) को नहीं जानता, पुनः उन (गन्धर्व अध्यापक ने) काप्य पतञ्चल और हम याज्ञिकों से कहा कि हे काप्य ! क्या तू उस अन्तर्यामी को जानता है जो (अन्तर्यामी) इस लोक और परलोक और समस्त प्राणियों को स्वयं उनके बीच में स्थित होकर नियम में रखता है। उस काप्य पतञ्चल ने कहा कि हे भगवन् ! मैं नहीं जानता हूं। पुनः उन गन्धर्व अध्यापक ने काप्य पतञ्चल और हम याज्ञिकों से कहा कि हे काप्य ! जो पुरुष निश्चयरूप से उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जान जाय वह ब्रह्मवित् वह लोकवित् वह वेदवित् वह भूतवित् वह आत्मवित् वह सर्ववित् है ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ—उन गन्धर्व अध्यापक (काप्यम्) कपिगोत्रोत्पन्न (पतञ्चलम्) पतञ्चल (याज्ञिकान्+च) और यज्ञशास्त्र के अध्ययन करनेहारे हम लोगों से (अब्रवीत्) कहा अर्थात् पूछा कि (काप्य) हे कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल ! (नु) क्या (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (त्वं+वेत्थ) तू जानता है (येन) जिस सूत्र से (अयम्+लोकः) यह दृश्यमान लोक और इसके सूक्ष्म कारण और (परः+च+लोकः) परलोक और उसके सूक्ष्म कारण (सर्वाणि+च+भूतानि) समस्त जीव जन्तु और जो कुछ अनुमान-शास्त्र-प्रत्यक्ष-गम्य वस्तु है सब ही (संदृब्धानि+भवन्ति) ग्रथित होते हैं अर्थात् जिस सूत्र में दृश्यादृश्य सब ही वस्तु ग्रथित हुए हैं उसको क्या आप अपने शिष्यसहित जानते हैं (इति) यह मेरा प्रश्न है (सः+काप्यः+पतञ्चलः) उस काप्य पतञ्चल ने (अब्रवीत्) कहा कि (भगवन्) हे भगवन् ! (तत्) उस सूत्र को (न+अहम्+वेद) मैं नहीं जानता हूं। पुनः (सः) उन गन्धर्व अध्यापक ने (पतञ्चलम्+काप्यम्+याज्ञिकान्+च) पतञ्चल काप्य और यज्ञशास्त्र के अध्ययन करनेवाले हम लोगों से (अब्रवीत्) पूछा कि (काप्य) हे काप्य ! (नु) क्या (तम्+अन्तर्यामिणं) उस अन्तर्यामी को (त्वं+वेत्थ) आप जानते हैं। (यः) जो अन्तर्यामी (इमम्+च+लोकम्) इस दृश्यमान लोक को अपने कारण सहित तथा (सर्वाणि+च+भूतानि) सब भूतों को (यः) जो (अन्तरः) सबों के मध्य में विराजमान होकर (यमयति) नियम में रखता है (इति) उस अन्तर्यामी को तू जानता है उस गन्धर्व से इस प्रकार पूछे जाने पर (सः) वह (काप्य+पतञ्चलः) कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चल (अब्रवीत्) बोले कि (भगवन्) हे पूज्यपाद भगवन् ! (तम्+अहम्+न+वेद+इति) मैं उसको नहीं जानता हूं। जब गन्धर्व के दोनों प्रश्नों का उत्तर नहीं हुआ तब वह गन्धर्व उस सूत्र और उस सूत्र के अन्तःस्थित अन्तर्यामी को जानने से क्या फल होता है सो आगे लोगों की प्रवृत्ति के लिये कहते हैं (सः) वह गन्धर्व (पतञ्चलम्+काप्यम्) पतञ्चल काप्य और (याज्ञिकान्+च) यज्ञ के अध्ययन करनेवाले हम लोगों से (अब्रवीत्) बोले कि (यः) जो विद्वान् (वै) निश्चय करके (काप्य) हे काप्य पतञ्चल ! (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को और (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) उस

अन्तर्यामी पुरुष को (विद्यात्) जान लेवे । (इति) अच्छे प्रकार से जान जाय (सः+ब्रह्मवित्) वह परमात्मवेत्ता है (सः+लोकवित्) वह भूः भुवः स्वः आदि लोक लोकान्तरों का विज्ञाता है (सः+देववित्) वह अग्नि सूर्य आदि देवों के तत्व को जाननेवाला है (सः+वेदवित्) वह ऋग्, यजुः, साम. अथर्ववेदों का ज्ञाता है (सः+भूतवित्) वह सकल प्राणियों को जाननेवाला है (सः+आत्मवित्) वह जीवात्मवित् है । हे काप्य ! विशेष क्या कहूँ (सः+सर्ववित्+इति) वह सर्ववित् सकल वस्तु का ज्ञाता है इसमें सन्देह नहीं । उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को आप नहीं जानते हैं फिर आप अध्यापकवृत्ति कैसे करते हैं ॥ १ ॥ (ख)

भाष्यम्—स इति । स पूर्वोक्तोऽध्यापकत्त्वेन नियोजितो गन्धर्वः । काप्यं कप्यृषिगोत्रम् । नाम्ना पतञ्जलम् । याज्ञिकांश्च यज्ञशास्त्रमधीयानानस्मांश्च । अब्रवीदवोचत् । काप्य हे स्वशिष्ययाज्ञिकसहित काप्य ! प्राधान्यात् पतञ्जल एव काप्यशब्देन सम्बोध्यते न याज्ञिकाः । सम्बोधिते आचार्ये तेऽपि सम्बोधिता इत्युत्प्रेक्ष्यम् । यद्वा याज्ञिकास्तु सम्प्रति पठन्त्येव । अतस्तान्प्रति न प्रश्नयोग्यता । पतञ्जलस्त्वध्यापयिताऽस्ति । ज्ञेयज्ञानस्य तस्मिन् संभवात् तं प्रति प्रश्नावकाशः । याज्ञिकाश्च श्रोतृत्वेन तिष्ठन्तु । नातस्ते सम्बोध्यन्ते । नु ननु । नु इति शङ्कायाम् । ननुत्वं । तत्सूत्रं वेत्थ वेत्सि जानासि "विदोलटोवा । ३ । ४ । ८३ ॥ वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयोवास्युः" । येन सूत्रेण अयश्च लोकः अयं दृश्यमानोऽखिलो लोकः । चात्तस्य सूक्ष्मतममदृश्य कारणञ्च परश्च लोकः प्रत्यक्षविषयीभूतोऽनुमानावगम्योऽनन्तो लोकः चात्तत्कारणं प्रकृतिश्च । च पुनः सर्वाणि भूतानि भवन्तीति भूतानि उपचयापचयशीलानि वस्तुमात्राणीत्यर्थः । संदृब्धानि भवन्ति संग्रथितानि जायन्ते । यथा कुसुमानि सूत्रेण ग्रथितानि भवन्ति तथैव येन सूत्रेण परस्परं सर्वाणि वस्तूनि ग्रथितानि भूत्वा माल्यानीव शोभन्ते । तत्सूत्रं किं त्वं जानासि । प्रथमं विशेषणं गृहवद् बाह्यजगद्दर्शयति । द्वितीयन्तु गृहस्य पदार्थवदाभ्यन्तरं । एवं गन्धर्वेण पृष्टोऽस्माकमध्यापकः पतञ्जलः काप्योऽब्रवीत् । भगवन् पूज्य माननीय ! तत्सूत्रं । नाहं वेदेति । अहं तत्सूत्रं न जानामीत्यर्थः ॥

द्वितीयप्रश्नमारभते—पुनः स गन्धर्वः । पतञ्जलं काप्यमस्माकमाचार्य्यम् । अस्मान् याज्ञिकांश्च अब्रवीत्—हे काप्य ! तमन्तर्यामिणं पुरुषम् । नु ननु त्वं वेत्थ जानासि । अतोऽन्तस्थितः सन् यन्तुं नियन्तुं यथावत्स्थापयितुं शीलमस्येत्यन्तर्यामी । अन्तःपूर्वायच्छतेर्णिनिः । यो ऽन्तर्यामी पुरुषः अन्तरोऽभ्यन्तरो स्थितः सन् द्वितीयो यच्छब्दप्रयोगोऽनर्थकः । विस्पष्टार्थम्वा । इमञ्च लोकम् । परञ्च लोकम् । सर्वाणि च भूतानि इमानि पदानि पूर्ववद् व्याख्येयानि । यमयति नियमयति यथायोग्यं पदार्थानां परस्परं संबन्धं निघटयति स्वाकर्षणशक्त्या सर्वाणि परमाणूनि यथायोग्यं स्थापयित्वा धारयित्वा च अनुशास्तीत्यर्थः । ईदृशमन्तर्यामिणं त्वन्नु जानासि ? एवं पृष्टः स शिष्यः काप्योऽब्रवीत् । हे भगवन् ! नाहं तमन्तर्यामिणं वेदेति वेद्मीति जानामीति । सम्प्रति स गन्धर्वः सूत्रस्य तदन्तर्गतस्यान्तर्यामिणश्च विज्ञानप्रवृत्त्यर्थं माहात्म्यं स्तूयते । पूर्ववत् पतञ्जल काप्यं याज्ञिकांश्चाब्रवीत् स गन्धर्वः । हे काप्य ! वै निश्चितं यथास्यात्तथा । यः कश्चित् । तत्सूत्रम् । तमन्तर्यामिणञ्च । विद्यात् जानीयात् । स ब्रह्मवित् ब्रह्मपरमात्मानं वेत्ति इति

ब्रह्मवित्। स लोकवित् लोकान् भूरादीन् अन्तर्यामिणा नियम्यमानान् लोकान् वेत्ति जानातीति—स देववित् आदित्यादि देवानां ज्ञाता। स वेदवित् वेदज्ञः। स भूतवित्। स आत्मवित् जीवात्मवित् किं बहुप्रोक्तेन स सर्वविदित्यर्थः। हे काप्य! स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ (ख)

तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद् ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥ १ ॥ (ग)

अनुवाद—उन हम लोगों से उसने कहा—उसको मैं जानता हूं। हे याज्ञवल्क्य! उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को न जानते हुए आप यदि ब्रह्मवेत्ताओं की गौवों को ले जायँगे तो आपका मूर्धा विस्पष्टरूप से गिर पड़ेगा। (याज्ञवल्क्य कहते हैं) हे गौतम! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को अच्छे प्रकार जानता हूं (गौतम कहते हैं) इसको सब कोई कह सकता है कि मैं जानता हूं, मैं जानता हूं परन्तु यदि आप जानते हैं तो जैसा जानते हैं वैसा कहैं ॥ १ ॥ (ग)

पदार्थ—(तेभ्यः) उन गन्धर्व ने उस सूत्र और उस अन्तर्यामी के विज्ञान का फल कहा तब हम लोग उनके वचन पर ध्यान देने लगे, सावधान होकर सुनने लगे और प्रार्थना की कि हे गन्धर्व! वह सूत्र और वह अन्तर्यामी कौन हैं सो हम लोगों से आप कृपा करके कहें। तब उन्होंने उन अवहित अभिमुख हम लोगों से (अब्रवीत्) उपदेश दिया। भला उन्होंने उपदेश दिया सो अच्छा किया परन्तु आपको क्या वह उपदेश स्मरण है या नहीं? यदि नहीं है तो मेरे समाधान से भी आपको कैसे सन्तोष होगा इस आशङ्का से आगे कहते हैं। हे याज्ञवल्क्य! (तद्+अहम्+वेद) मैं उस विज्ञान को जानता हूं। (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य! (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) और उस अन्तर्यामी को (अविद्वान्) न जानते हुए (त्वम्) आप (चेत्) यदि (ब्रह्मगवीः) ब्रह्मवेत्ता निमित्त आनीत गौओं को (उदजसे) लिवा जाते हैं तो (ते) आप का (मूर्धा) शिर (विपतिष्यति) अवश्य गिर पड़ेगा (इति) इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं (गौतम) हे गौतम! गौतम गोत्रोत्पन्न उद्दालक! (वै) निश्चयरूप से (अहम्) मैं (तत्+सूत्रम्) उस सूत्र को (तम्+च+अन्तर्यामिणम्) उस अन्तर्यामी को (वेद) जानता हूं। उद्दालक कहते हैं (यः+कश्चित्) जो कोई अर्थात् सब कोई (वै) निश्चय (इदम्) इस बात को (ब्रूयात्) कह सकता है कि (वेद+वेद+इति) मैं जानता हूं मैं जानता हूं अर्थात् मैं जानता हूं ऐसा तो सब कोई निश्चय ही कह सकता है परन्तु यदि आप जानते हैं तो (यथा+वेत्थ) जैसा जानते हैं (तथा+ब्रूहि) वैसा कहैं अर्थात् गर्जन करने से क्या प्रयोजन यदि आप जानते हैं तो कहैं ॥ १ ॥ (ग)

भाष्यम्—तेभ्य इति। यदा स गन्धर्वस्तत्सूत्रतदन्तर्गतान्तर्यामिणोर्विज्ञानस्य तादृशफलमश्रावयत्तदा। हे याज्ञवल्क्य ममाचार्यो वयश्च तच्छ्रवणेऽभिमुखीभूत्वा सावधाना अभूम। तदा च तेभ्योऽभिमुखी भूतेभ्यः सावधानेभ्यश्चास्मभ्यम्। तद्विज्ञानमुपदिदेश। तद्विज्ञानमहं वेद जानामि। "यदि तस्योपदेशं त्वमधुना न स्मरसि तर्हि मम समाधानेन तव कथं सन्तोष" इत्याशङ्कया "तदेह वेदेत्युक्तिः" सम्प्रति व्यङ्ग्योक्त्या प्रश्नं करोति। हे याज्ञवल्क्य! चेत्त्वम् यदित्वम्। तत्सूत्रम्। अविद्वान् अजानन् सन्। च

पुनः तमन्तर्यामिणमविद्वान् सन्। ब्रह्मगवीः ब्रह्मणां वेदविदां पणीभूता गाः। उद्जसे प्रापयसि। मूर्धा ते विपतिष्यति इति ब्रह्मणां ब्रह्मविदां निमित्ताय या गावः। ता ब्रह्मगव्यस्ताः। "गोरतद्धितेलुकि। ५। ४। ९२॥ इति टच्। ततो ङीप्। अन्यायेन गवां हरतोऽब्रह्मविदस्ते मूर्धा विपतिष्यति विस्पष्टं पतिष्यति। विवेक राहित्येन पतितमिव सर्वेषां समक्षे अन्धकृतमिव भविष्यतीत्यर्थः। इत्थं भर्त्सितो महात्मा याज्ञवल्क्योऽब्रवीत्। हे गौतम! गोत्रेण गौतम! अहं तत् सूत्रम्। तञ्चान्तर्यामिणम्। वै निश्चयेन वेद जानामि। स गन्धर्वो यत्सूत्रं यञ्चान्तर्यामिणं युष्मभ्यमुक्तवान्। तत्सूत्रं तमन्तर्यामिणञ्चाहं सम्यग् जानामि। कथं मां त्वं भर्त्सयसि। इत्थं प्रत्युक्तो गौतमः कथयति—यः कश्चिद् पुरुषस्त्वमिव ब्रूयाद्। यदहं वेद अहं वेदेति अर्थात् सर्वोऽपि जनः अहं वेद अहं वेदेति वक्तुं शक्नोति। वचने का दरिद्रतेति न्यायात्। हे याज्ञवल्क्य! यदि त्वं जानासि यथा यादृशं त्वं वेत्थ जानासि तथा तादृशमेव ब्रूहि कथय—किं तेन बहुना गर्जितेन वा श्लाघया। स्वोत्तरेणैव स्वशक्तिं दर्शयेत्यर्थः॥ १॥ (ग)

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रंसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति॥ २॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले हे गौतम! वायु ही वह सूत्र है। हे गौतम! निश्चय वायुरूप सूत्र से ही यह लोक और परलोक और सब भूत अच्छे प्रकार ग्रथित हैं। इस हेतु हे गौतम! मृत पुरुष को (देखकर) लोग कहते हैं कि इसके अङ्ग विशेषरूप से ढीले हो गये हैं क्योंकि वायुरूप सूत्र से ही सब अच्छे प्रकार ग्रथित हैं (इस उत्तर को सुन उद्दालक कहते हैं) हे याज्ञवल्क्य! ठीक है। यह वैसा ही है। अब अन्तर्यामी को कहैं॥ २॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) जब गौतम उद्दालक ने डांट करके याज्ञवल्क्य से उत्तर देने को कहा तब वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य सभा के बीच में बोले (गौतम) हे गौतम! गौतम गोत्रोत्पन्न उद्दालक! (वै) निश्चय इसमें सन्देह नहीं (वायुः) वायु ही (तत्+सूत्रम्) वह सूत्र है। गन्धर्व ने आप लोगों से जिस सूत्र को कहा है वह वायु ही है इसमें संशय नहीं (वै) निश्चय (वायुना सूत्रेण) वायुरूप सूत्र से ही (अयम्+च+लोकः) कारणसहित यह दृश्यमान लोक (परः+च+लोकः) स्वकारणसहित प्रत्यक्ष के अविषयीभूत केवल अनुमानगम्य अनन्त आकाशस्थ लोक लोकान्तर (सर्वाणि+च+भूतानि) और दृश्यादृश्य लोकस्थित संपूर्ण पदार्थ (संदृब्धानि+भवन्ति) ग्रथित हैं (तस्माद्+वै) इसी हेतु (गौतम) हे गौतम! (प्रेतम्+पुरुषम्) मृतपुरुष को देखकर (आहुः) मनुष्य कहते हैं कि (अस्य) इस मृत पुरुष के (अङ्गानि) अवयव (व्यस्रंसिषत) गिर गये हैं ढीले पड़ गये हैं अर्थात् जैसे माला से सूत्र के निकल जाने पर फूल इधर उधर छितरा जाते हैं तद्वत् वायुरूप बन्धनरहित होकर सब अङ्ग मानो इधर उधर गिर पड़ते हैं। (हि) क्योंकि (गौतम) हे गौतम! (वायुना+सूत्रेण) वायुरूपी सूत्र से (संदृब्धानि भवन्ति) सब पदार्थ ग्रथित हैं। (इति) इस प्रकार योगी याज्ञवल्क्य

के समीचीन और गन्धर्व समान उत्तर पाकर गौतम उद्दालक नितान्त संकुचित होकर कहते हैं कि (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (एतत्) यह विज्ञान (एवम्+एव) ऐसा ही है अर्थात् आपने जो उत्तर दिया है सो बहुत ही ठीक है, एक प्रश्न का उत्तर तो होगया। अब (अन्तर्यामिणम्+ब्रूहि) अन्तर्यामी के विषय में जो दूसरा प्रश्न है सो आप कहें, (इति) ॥ २ ॥

भाष्यम्—सहेति। गौतमेनोद्दालकेनैवमुक्तः स ह याज्ञवल्क्य उवाच—हे गौतम ! तत्सूत्रम् गन्धर्वेण युष्मान् प्रति यत्सूत्रमुक्तम्। वायुर्वै निश्चयेन वायुरस्ति। हे गौतम ! वायुना सूत्रेण वायुरूपेण सूत्रेण। अयञ्च लोको लोक्यते दृश्यते प्रत्यक्षतया साकृति मूर्त्तश्चानुभूयते स लोकः। दृश्यमानमिदं सकारणं ब्रह्माण्डम्। चकारेण तत्तत्कारणमपि संगृह्यते। परश्च लोकः प्रकृष्टो लोको दृश्यलोकाद्विभिन्नोऽनुमानगम्यो लोकः यो यत्र तिष्ठति तस्य स सन्निकृष्टो लोकः। तद्भिन्नः परलोकः। वयमेकं सौरं जगत् पश्यामः। सन्ति तु सहस्राणि लोकानां तान् न पश्यामः। तेऽस्माकं दृष्ट्याऽदृश्यं लोकाः। तत्स्थानं तत्स्थानां दृष्ट्या च स दृश्यो लोकः। इत्थं दृश्यादृश्यत्वभेदेन लोको द्विधा। सर्वाणि च भूतानि इहलोकपरलोकस्थानि सर्वाणि वस्तूनि भवन्तीति भूतानि। लोक शब्देन समष्टिं भूतशब्देन व्यष्टिं दर्शयत्याचार्य्यः। यद्वा गृहवल्लोकशब्दः। तत्स्थवस्तुवद् भूतशब्दः। संदृब्धानि ग्रथितानि भवन्ति। वाय्वात्मकेन सूत्रेणैव सर्वमिदं कुसुमचय इव परस्परं सम्बध्यते। लौकिकमुदाहरणं विस्पष्टार्थं ब्रवीति। हे गौतम ! प्रेतं प्रकर्षेण गतं मृतं पुरुषं दृष्ट्वेति शेषः। जना आहुः—अस्य प्रेतस्य पुरुषस्य। अङ्गानि व्यस्रंसिषत विशेषेणाधोऽपतन् अधः पतितानि। स्रंसु अवस्रंसने। मरणावसरे सर्वाङ्गानि परस्परं शिथिलबन्धनानि भवन्ति। अङ्गादङ्गाद् वायुनिःसरणात्। हे गौतम ! हि यतः। वायुना सूत्रेण। अङ्गानि सन्दृब्धानि भवन्ति। निर्गते च वायौ सूत्रेण रहितानि कुसुमानीवाङ्गानि विकीर्णानि भवन्ति। इत्युत्तरं समुचितं गन्धर्ववचनसमञ्च दृष्ट्वा गौतम उद्दालको ब्रवीति। हे याज्ञवल्क्य ! एवमेवैतत्। त्वया यदुक्तं तत्समीचीनम्। अस्य मम प्रश्नस्य ईदृशमेवोत्तरमस्ति। प्रथमप्रश्नस्य समाधानं कृतम्। अवशिष्यते तु द्वितीयप्रश्नः। अतस्त्वमन्तर्यामिणं ब्रूहि इति। कस्त्वन्तर्यामीति कथय—अत्रान्तर्यामी विशेष्यवत्प्रयुक्तः ॥ २ ॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ३ ॥

अनुवाद— जो पृथिवी में रहता हुआ भी पृथिवी से अन्तर अर्थात् बाहर विद्यमान है जिसको पृथिवी नहीं जानती है। जिसका शरीर पृथिवी है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर पृथिवी का शासन करता है। जो आप का आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(यः) जो (पृथिव्याम्+तिष्ठन्) पृथिवी में रहता हुआ वर्त्तमान है। हे गौतम ! वह अन्तर्यामी है।

शङ्का—पृथिवी में तो सब ही पदार्थ हैं तब क्या सब ही अन्तर्यामी हैं। इस हेतु आगे अनेक विशेषणों के द्वारा कहते हैं। (पृथिव्याः+अन्तरः) जो पृथिवी से अन्तर अर्थात् बाहर भी व्यापक है केवल पृथिवी में ही नहीं किन्तु पृथिवी के ऊपर भी है। पुनः वह कैसा है। (यम्+पृथिवीम्+न वेद) जिसको पृथिवी नहीं जानती है अर्थात् मेरे अन्दर कोई मेरा शासक रहता है इसको पृथिवी नहीं

जानती है । अचेतन पृथिवी उसको कैसे जान सकेगी । यह एक आलङ्कारिक वर्णन है । अचेतन पृथिवी में चेतनत्व का आरोप करके "पृथिवी नहीं जानती है" ऐसा अर्थ होता है अथवा महत्त्वस्थापनार्थ यह वर्णन है । पृथिवी की जो महिमा है उससे कहीं बढ़कर उसकी महिमा है । पुनः (यस्य) जिसका (पृथिवी+शरीरम्) पृथिवी शरीर अर्थात् शरीर समान है क्योंकि पृथिवी के भीतर भी वह है, अतः उतने अंश में तो पृथिवी मानो उसके शरीर के समान है, वास्तविक शरीर नहीं और (यः) जो (अन्तरः) बाहर भीतर रह कर (पृथिवीम्) पृथिवी को (यमयति) स्वव्यापार में लगाकर यथावत् शासन करता है और जो (अमृतः) मोक्ष देनेवाला है यद्वा मरणरहित अर्थात् निर्विकार है और (ते+आत्मा) जो तेरा मेरा सब का आत्मा=परम माननीय परमात्मा है । हे गौतम उद्दालक ! (एषः) यही वह (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—य इति । प्राथम्यात्सामीप्याच्च प्रथमं पृथिव्यां व्यापकतां दर्शयन्नाह—यः पृथिव्यामिति । हे गौतम ! यः पृथिव्यां तिष्ठन् वर्त्तते सोऽन्तर्यामी । पृथिव्यान्तु सर्वः पदार्थस्तिष्ठति किं सर्वोऽन्तर्यामी ? अतोऽन्यानि विशेषणान्याह—यः पृथिव्याः सकाशात् । अन्तरः सुदूरस्थो बाह्यो बहिर्भूत इत्यर्थः । पृथिव्यां तिष्ठन्नपि स तस्या बहिर्भूतोऽपि वर्त्ततेऽतिमहत्त्वात् । "अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये । छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च" इत्यमरकोषः । अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १ । १ । ३६ ॥ इति पाणिनिरपि अन्तरशब्दं बहिर्योगे पठति । पुनः पृथिव्यां तिष्ठन्तमपि यं स्वयं पृथिवी न वेद न जानाति मय्यन्यः कश्चिद् वर्तत इति न जानाति । अचेतना सा कथं ज्ञातुमर्हति । अचेतने चेतनत्वारोपवद् वर्णनम् । पुनः यस्यान्तर्यामिणः पृथिवी शरीरम् । शरीरमिवास्ति । ब्रह्मणोऽन्तः स्थित्या पृथिव्यां शरीरत्वोपचारः । न वास्तविकं शरीरं पृथिवी । पुनः अन्तरः अभ्यन्तरे बाह्ये च स्थितः सन् । यः पृथिवीं यमयति नियमयति स्वव्यापारे यथावत्स्थापयति । पुनः योऽमृतः अमृतं मोक्षोऽस्यास्तीत्यमृतः । अर्श आदिभ्योऽच् । यद्वा न मृतं मरणं विद्यते यस्य सोऽमृतः निर्विकार इत्यर्थः । पुनः ते आत्मा माननीयः परमात्मा ते इत्युपलक्षणम् । तव मम सर्वेषाञ्च माननीयः परमात्मास्ति । स एव एष हे गौतम ! अन्तर्यामी यस्त्वया पृष्टः ॥ ३ ॥

आशय—पृथिव्याः अन्तरः । यहां "पृथिव्याः" यह पञ्चम्यन्त पद है । अन्तर शब्द अनेकार्थक है । यहां "बाह्य अर्थात् बाहर में स्थित" अर्थ है पृथिवी को पंचम्यन्त देख अन्तर शब्द का अर्थ "बाह्य" किया गया है । पृथिवी से जो बाहर है पृथिवी में भी है और जो पृथिवी के बाहर भी है, यह दोनों वाक्यों का अर्थ है । कोई २ अन्तर शब्द का अर्थ "अभ्यन्तर" करते हैं अर्थात् जो पृथिवी में स्थित हैं और जो पृथिवी के अभ्यन्तर में भी है परन्तु तब दोनों वाक्यों का अर्थ समान होजाता है । इस अवस्था में पृथिवी के ऊपर रहता हुआ पृथिवी के अभ्यन्तर में भी है ऐसा अर्थ करना योग्य होगा अथवा पृथिवी से उस परमात्मा का अन्तर=अवकाश नहीं है इत्यादि अर्थ जानना चाहिये ॥ ३ ॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्याऽऽपः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

अनुवाद—जो जल में रहता हुआ भी जल से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको जल नहीं जानता है, जिसका शरीर जल है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो जल का शासन करता है जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(यः+अप्सु+तिष्ठन्) जो जल में रहता हुआ भी (अद्भ्यः+अन्तरः) जल से अन्तर अर्थात् बाह्य हैं अर्थात् जो जल से बाहर भी है (यम्+आपः+न+विदुः) जिसको जल नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+आपः) जिसका शरीर जल है (यः+अन्तरः+अपः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर जल का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—चतुर्थकण्डिकामारभ्य द्वाविंशकण्डिकान्तो ग्रन्थो विस्पष्टार्थः । अतः संस्कृतभाष्यं न क्रियते ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

अनुवाद—जो अग्नि में रहता हुआ भी अग्नि से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको अग्नि नहीं जानता । जिसका शरीर अग्नि है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो अग्नि का शासन करता है । जो आप का आत्मा है । जो अमृत है, यही वह अन्तर्यामी है ॥ ५ ॥

पदार्थ—(यः+अग्नौ+तिष्ठन्) जो अग्नि में रहता हुआ भी (अग्नेः+अन्तरः) अग्नि से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो अग्नि से बाहर भी है (यम्+अग्निः+न+वेद) जिसको अग्नि नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+अग्निः) जिसका शरीर अग्नि है (यः+अन्तरः+अग्निम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर अग्नि का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षं शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

अनुवाद—जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ भी अन्तरिक्ष से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता है । जिसका शरीर अन्तरिक्ष है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो अन्तरिक्ष का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(यः+अन्तरिक्षे+तिष्ठन्) जो अन्तरिक्ष में रहता हुआ भी (अन्तरिक्षात्+अन्तरः) अन्तरिक्ष से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो अन्तरिक्ष से बाहर भी है (यम्+अन्तरिक्षम्+न+वेद) जिसको अन्तरिक्ष नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+अन्तरिक्षम्) जिसका शरीर अन्तरिक्ष है (यः+अन्तरः+अन्तरिक्षम्=यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर अन्तरिक्ष का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृत स्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥६॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो वायु में रहता हुआ भी वायु से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको वायु नहीं जानता है जिसका शरीर वायु है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो वायु का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यः+वायौ+तिष्ठन्) जो वायु में रहता हुआ भी (वायोः+अन्तरः) वायु से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो वायु से बाहर भी है (यम्+वायुः+न+वेद) जिसको वायु नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+वायुः) जिसका शरीर वायु है (यः+अन्तरः+वायुम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर वायु का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृत है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—जो द्युलोक में रहता हुआ भी द्युलोक से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको द्युलोक नहीं जानता है। जिसका शरीर द्युलोक है और जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो द्युलोक का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(यः+दिवि+तिष्ठन्) जो द्युलोक में रहता हुआ भी (दिवः+अन्तरः) द्युलोक से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो द्युलोक से बाहर भी है (यम्+द्यौः+न+वेद) जिसको द्युलोक नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+द्यौः) जिसका शरीर द्युलोक है (यः+अन्तरः+दिवम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर द्युलोक का शासन करता है। (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं यः आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

अनुवाद—जो आदित्य में रहता हुआ भी आदित्य से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको आदित्य नहीं जानता है। जिसका शरीर आदित्य है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो आदित्य का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ९ ॥

पदार्थ—(यः+आदित्ये+तिष्ठन्) जो आदित्य में रहता हुआ भी (आदित्यात्+अन्तरः) आदित्य से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो आदित्य से बाहर भी है (यम्+आदित्यः+न+वेद) जिसको आदित्य नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+आदित्यः) जिसका शरीर आदित्य है (यः+अन्तरः+आदित्यम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर आदित्य का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

अनुवाद—जो दिशाओं में रहता हुआ भी दिशाओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको दिशाएं नहीं जानती हैं। जिसका शरीर दिशाएं हैं। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो दिशाओं को शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १० ॥

पदार्थ—(यः+दिक्षु+तिष्ठन्) जो दिशाओं में रहता हुआ भी (दिग्भ्यः+अन्तरः) दिशाओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो दिशाओं से बाहर भी है (यम्+दिशः+न+विदुः) जिसको दिशाएं नहीं जानतीं (यस्य+शरीरम्+दिशः) जिसका शरीर दिशाएं हैं (यः+अन्तरः+दिशः+यमयति)

जो अन्तर और बाहर स्थित होकर दिशाओं का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रऽतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकं शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

अनुवाद—जो चन्द्र और ताराओं में रहता हुआ भी चन्द्र और ताराओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको चन्द्र और ताराएं नहीं जानतीं। जिसका शरीर चन्द्र और ताराएं हैं। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो चन्द्र और ताराओं का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(यः+चन्द्रतारके+तिष्ठन्) जो चन्द्र और ताराओं में रहता हुआ भी (चन्द्रतारकात्+अन्तरः) चन्द्र और ताराओं से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो चन्द्र ताराओं से बाहर भी है (यम्+चन्द्रतारकम्+न+वेद) जिसको चन्द्र ताराएं नहीं जानतीं (यस्य+शरीरम्+चन्द्रतारकम्) जिसका शरीर चन्द्र और ताराएं हैं (यः+अन्तरः+चन्द्रतारकम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर चन्द्र और ताराओं का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

अनुवाद—जो आकाश में रहता हुआ भी आकाश से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको आकाश नहीं जानता है। जिसका शरीर आकाश है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर आकाश का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(यः+आकाशे+तिष्ठन्) जो आकाश में रहता हुआ भी (आकाशात्+अन्तरः) आकाश से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो आकाश से बाहर भी है (यम्+आकाशः+न+वेद) जिसको आकाश नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+आकाशः) जिसका शरीर आकाश है (यः+अन्तरः+आकाशम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर आकाश का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥१२॥

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

अनुवाद—जो तम में रहता हुआ भी तम से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको तम नहीं जानता है। जिसका शरीर तम है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर तम का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(यः+तमसि+तिष्ठन्) जो तम में रहता हुआ भी (तमसः+अन्तरः) तम से अन्तर बाह्य है अर्थात् जो तम से बाहर भी है (यम्+तमः+न+वेद) जिसको तम नहीं जानता। (यस्य+शरीरम्+तमः) जिसका शरीर तम है (यः+अन्तरः+तमः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर तम का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४ ॥

अनुवाद—जो तेज में रहता हुआ भी तेज से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको तेज नहीं जानता है, जिसका शरीर तेज है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो तेज का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है। अधिदैवत समाप्त हुआ। अब अधिभूत आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(यः+तेजसि+तिष्ठन्) जो तेज में रहता हुआ भी (तेजसः+अन्तरः) तेज से अन्तर अर्थात् बाह्य है अर्थात् जो तेज से बाहर भी है (यम्+तेजः+न+वेद) जिसको तेज नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+तेजः) जिसका शरीर तेज है (यः+अन्तरः+तेजः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर तेज का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है (इति+अधिदैवम्) यह अधिदैवत समाप्त हुआ (अथ+अधिभूतम्) अब अधिभूत कहते हैं ॥ १४ ॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५ ॥

अनुवाद—जो सम्पूर्ण भूतों में रहता हुआ भी सब भूतों से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको सब भूत नहीं जानते। इसका शरीर सब भूत हैं। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो सब भूतों का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है। इस प्रकार अधिभूत का वर्णन हुआ। अब अध्यात्म कहते हैं ॥ १५ ॥

पदार्थ—(यः+सर्वेषु+भूतेषु+तिष्ठन्) जो सर्व भूतों में रहता हुआ भी (सर्वेभ्यः+भूतेभ्यः+अन्तरः) जो सब भूतों से बाह्य है अर्थात् जो सब भूतों से बाहर भी है (यम्+सर्वाणि+भूतानि+न+विदुः) जिसको सब भूत नहीं जानते (यस्य+शरीरम्+सर्वाणि+भूतानि) जिसका शरीर सब भूत है। (यः+अन्तरः+सर्वाणि+भूतानि+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित हो सब भूतों का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है (इति+अधिभूतम्) इस प्रकार अधिभूत का वर्णन हुआ (अथ+अध्यात्मम्) अब अध्यात्म कहते हैं ॥ १५ ॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १६ ॥

अनुवाद—जो प्राण में रहता हुआ भी प्राण से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको प्राण नहीं जानता। जिसका शरीर प्राण है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यः+प्राणे+तिष्ठन्) जो प्राण (अर्थात् वायुसहित प्राण में) रहता हुआ भी (प्राणात्+अन्तरः) प्राण से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+प्राणः+न+वेद) जिसको प्राण नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+प्राणः) जिसका शरीर प्राण है (यः+अन्तरः+प्राणम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर प्राण का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १६ ॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १७ ॥

अनुवाद—जो वाणी में रहता हुआ भी वाणी से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसका शरीर वाणी है जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित होकर वाणी का शासन करता है। जो आपका आत्मा है जो अमृत है, यही वह अन्तर्यामी है ॥ १७ ॥

पदार्थ—(यः+वाचि+तिष्ठन्) जो वाणी में रहता हुआ भी (वाचः+अन्तरः) वाणी से अन्तर अर्थात् बाह्य है। (यम्+वाक्+न+वेद) जिसको वाणी नहीं जानती (यस्य+शरीरम्+वाक्) जिसका शरीर वाणी है (यः+अन्तरः+वाचम्+यमयति) जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो वाणी का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १७ ॥

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १८ ॥

अनुवाद—जो चक्षु में रहता हुआ भी चक्षु से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको चक्षु नहीं जानता है। जिसका शरीर चक्षु है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो चक्षु का शासन करता है। जो आपका आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(यः+चक्षुषि+तिष्ठन्) जो चक्षु में रहता हुआ भी (चक्षुषः+अन्तरः) चक्षु से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+चक्षुः+न+वेद) जिसको चक्षु नहीं जानता है। (यस्य+शरीरम्+चक्षुः) जिसका शरीर चक्षु है (यः+अन्तरः+चक्षुः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर चक्षु का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १८ ॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यं श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रं शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ १९ ॥

अनुवाद—जो श्रोत्र में रहता हुआ भी श्रोत्र से अन्तर अर्थात् बाह्य है। जिसको श्रोत्र नहीं जानता है। जिसका शरीर श्रोत्र है। जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो श्रोत्र का शासन करता है। जो आप का आत्मा है। जो अमृत है। यही वह अन्तर्यामी है ॥ १९ ॥

पदार्थ—(यः+श्रोत्रे+तिष्ठन्) जो श्रोत्र में रहता हुआ भी (श्रोत्रात्+अन्तरः) श्रोत्र से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+श्रोत्रम्+न+वेद) जिसको श्रोत्र नहीं जानता (यस्य+शरीरम्+श्रोत्रम्)

जिसका शरीर श्रोत्र है (यः+अन्तरः+श्रोत्रम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर श्रोत्र का शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ १६ ॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २० ॥

अनुवाद—जो मन में रहता हुआ भी मन से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको मन नहीं जानता है । जिसका शरीर मन है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो मन का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

पदार्थ—(यः+मनसि+तिष्ठन्) जो मन में रहता हुआ भी (मनसः+अन्तर) मन से अन्तर अर्थात् बाह्य है । (यम्+मनः+न+वेद) जिसको मन नहीं जानता है (यस्य+शरीरम्+मनः) जिसका शरीर मन है (यः+अन्तरः+मनः+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित हो मन का शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ २० ॥

यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २१ ॥

अनुवाद—जो त्वचा में रहता हुआ भी त्वचा से अन्तर अर्थात् बाह्य है । जिसको त्वचा नहीं जानती है । जिसका सरीर त्वचा है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो त्वचा का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है । यही वह अन्तर्यामी है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(यः+त्वचि+तिष्ठन्) जो त्वचा में रहता हुआ भी (त्वचः+अन्तरः) त्वचा से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+त्वक्+न+वेद) जिसको त्वचा नहीं जानती है (यस्य+शरीरम्+त्वक्) जिसका शरीर त्वचा है (यः+अन्तरः+त्वचम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर त्वचा का शासन करता है । (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ २१ ॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ २२ ॥

अनुवाद—जो विज्ञान में रहता हुआ भी विज्ञान से अन्तर अर्थात् बाह्य है जिसको विज्ञान नहीं जानता है । जिसका शरीर विज्ञान है । जो अभ्यन्तर और बाहर स्थित हो विज्ञान का शासन करता है । जो आपका आत्मा है । जो अमृत है, यही वह अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

पदार्थ—(यः+विज्ञाने+तिष्ठन्) जो विज्ञान में रहता हुआ भी (विज्ञानात्+अन्तरः) विज्ञान से अन्तर अर्थात् बाह्य है (यम्+विज्ञानम्+न+वेद) जिसको विज्ञान नहीं जानता (यस्य+विज्ञानम्+शरीरम्) जिसका विज्ञान शरीर है (यः+अन्तरः+विज्ञानम्+यमयति) जो अन्तर और बाहर स्थित होकर विज्ञान का शासन करता है (ते+आत्मा) जो आपका आत्मा है (अमृतः) जो अमृतस्वरूप है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है ॥ २२ ॥

यो रेतसि तिष्ठन्रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥ २३ ॥

अनुवाद—जो रेत में रहता हुआ भी रेत से बाहर है। जिसको रेत नहीं जानता है। जिसका शरीर रेत है। जो रेत के बाहर भीतर रहकर उसको अपने व्यापार में रखता है। जो मोक्षप्रद है और तेरा मेरा सब का पूज्य है यही वह अन्तर्यामी है। पुनः जो अदृष्ट है परन्तु द्रष्टा है। अश्रुत है परन्तु श्रोता है। अमत है परन्तु मन्ता है। अविज्ञात है परन्तु विज्ञाता है। इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं। इससे अन्य कोई श्रोता नहीं। इससे अन्य कोई मन्ता नहीं। इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं। जो अमृत है और तेरा मेरा सब का पूज्य परमात्मा है। यही वह अन्तर्यामी है। इस विज्ञान से अन्य सब ही दुःखप्रद है। तब उद्दालक आरुणि चुप होगये ॥ २३ ॥

पदार्थ—(यः) जो (रेतसि) सम्पूर्ण समष्टि जगत् का एक नाम रेत है उसमें (तिष्ठन्) रहता हुआ जो वर्त्तमान है वह अन्तर्यामी है। पुनः वह कैसा है ? (रेतसः) रेत से (अन्तरः) बाहर स्थित है (यम्+रेतः+न+वेद) जिसको रेत नहीं जानता है (यस्य+रेतः+शरीरम्) जिसका रेत शरीर है और (यः+अन्तरः) जो बाहर भीतर परिपूर्ण होकर (रेतः) सम्पूर्ण विश्व को (यमयति) स्व २ व्यापार में यथावत् स्थित रखता है। पुनः (अमृतः) जो मोक्ष देनेवाला वा मरण धर्म्म रहित अर्थात् निर्विकार है और जो (ते+आत्मा) तेरा मेरा और सब का माननीय पूजनीय परमात्मा है (एषः+अन्तर्यामी) यही वह अन्तर्यामी है पुनः दृढ़ करने के लिये उसी अन्तर्यामी का वर्णन करते हैं। हे गौतम ! वह पुनः कैसा है (अदृष्टः) किन्हीं ने न जिसको देखा न देखेंगे न देखते हैं अर्थात् जो चक्षुरिन्द्रिय का विषय नहीं है परन्तु (द्रष्टा) स्वयं जो सब को देखनेहारा है अर्थात् उसको तो कोई नहीं देख सकता परन्तु वह सब को देखता है। आगे भी इसी प्रकार भाव जानना, पुनः (अश्रुतः) जो सुना नहीं जाता परन्तु (श्रोता) जो सब की बात सुनता है। (अमतः) जो मनन नहीं किया जाता परन्तु (मन्ता) जो सब का मनन करता है। (अविज्ञातः) जो जाना नहीं जाता परन्तु (विज्ञाता) जो सब को अच्छी तरह जानता है। फिर वह कैसा है (अतः) इस अन्तर्यामी से (अन्यः) अन्य कोई (द्रष्टा+न+अस्ति) द्रष्टा नहीं है अर्थात् वही एक द्रष्टा है (अतः) इस अन्तर्यामी से (अन्यः) अन्य (श्रोता+न+अस्ति) श्रोता नहीं है (अतः+अन्यः+मंता+न+अस्ति) इससे अन्य मंता नहीं है। (अतः+अन्यः+विज्ञाता+न+अस्ति) इससे अन्य विज्ञाता नहीं है अर्थात् जिससे परे न कोई द्रष्टा न कोई श्रोता न कोई मंता न कोई विज्ञाता है। जो स्वयं अदृष्ट, अश्रुत, अमत, अविज्ञात है, वही अन्तर्यामी है। पुनः वह कैसा है ? (अमृतः) अमृतवाला है। पुनः (ते+आत्मा) तेरा मेरा सब का पूज्य परमात्मा है (एषः) यही वह (अन्तर्यामी) अन्तर्यामी है। हे गौतम ! (अतः) इस विज्ञान से (अन्यत्) अन्य जो विज्ञान है वह (आर्तम्) दुःखग्रस्त अर्थात् दोषप्रद है। मैंने जो विज्ञान कहा है वही यथार्थ विज्ञान है। अन्य सब विज्ञान दुःखप्रद है। इस बात को सुन (ततः) तब (उद्दालकः+ह+आरुणिः) उद्दालक आरुणि (उपरराम) चुप हो बैठे ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यो रेतसीति। यो रेतसीत्यादिरमृतान्तो ग्रन्थः पूर्ववदेव व्याख्येयः। अदृष्टादिपदजातैरन्तर्यामिण असाधारणगुणान् कीर्त्तयन्तो ब्राह्मणमिदमुपसंहरन्त्याचार्याः। कथंभूतोऽन्तर्यामी—अदृष्टो न कैश्चित्कदाचिदपि स स्थूलचक्षुर्विषयोऽकारि न क्रियते न च करिष्यते। स्वयं तु सर्वत्र सन्निहितत्वात् सर्वं पश्यतीति द्रष्टास्ति। पुनः—अश्रुतः श्रवणेन्द्रियविषयत्वमप्राप्तः। स्वयं तु सर्वेषामुच्चावचानि वाक्यानि शृणोतीति श्रोतास्ति। ननु "य आत्मदा बलदाः" "स नो बन्धुर्जनिता" "ईशावास्यमिदम्" इत्यादि वेदवचनैः स श्रूयते कथं तर्हि "अश्रुत" इति। सत्यम्। यथा देवदत्तो वा गौर्वा सर्वगुणजातैरवधार्य्यते निश्चीयते परिच्छेद्यते च। न तथान्तर्यामी। गुणानामनन्तत्वात्स्वल्पात्स्वल्पन्तरमेव स श्रूयते। अतोऽश्रुतप्राय एव सोऽस्ति। पुनः अमतो न मनसो मननविषयीभूतः। यस्य दर्शनं श्रवणञ्च भवति तमेव मनोऽपि संकल्पयति यस्य दर्शनश्रवणे एव न कदाचिज्जाते। कथं तस्य मननम्। अतोऽमत इति। स्वयं सर्वद्रष्टृत्वात् श्रोतृत्वाच्च सर्वं मनुत इति मन्ता। पुनः अविज्ञातः निश्चयगोचरत्वमनापन्नः। न सर्वैर्विशेषणैर्ज्ञातुं शक्यते। स्वयं तु सर्वं विजानातीति विज्ञाता। ज्ञानार्थं पुनस्तमेव विषयं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे। हे गौतम! नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा। अतोऽस्मादन्तर्यामिणोऽन्योऽपरो कोऽपि द्रष्टा न विद्यते। स एव द्रष्टॄणां द्रष्टा। ननु जीवात्मापि द्रष्टा श्रूयते। सत्यम्। चक्षुषः सूर्यस्येव जीवात्मनो द्रष्टृत्वमीश्वरस्याधीनत्वान्न जीवात्मा वास्तविको द्रष्टेत्यनुसन्धेयम्। पुनः नान्योऽतोऽस्ति श्रोता। नान्योऽतोऽस्ति मन्ता। नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। हे गौतम! यस्मादन्तर्यामिणः परो नास्ति द्रष्टा, नास्ति श्रोता, नास्ति मन्ता, नास्ति विज्ञाता, यश्चादृष्टो द्रष्टा, अश्रुतः श्रोता, अमतो मन्ता, अविज्ञातो विज्ञाता। सोऽमृतो मोक्षप्रदः। ते तव मम सर्वेषामात्मा माननीयः परमात्मा। एष एवान्तर्यामी। एतमेव विजानीहि। अतोऽन्यदार्त्तम्। अतोऽस्माद्विज्ञानादन्यत् सर्वम्। आर्तं दुःखप्रदमेव असुखमेव। याज्ञवल्क्यस्यैवं भूतं वचनं श्रुत्वा तत उद्दालक आरुणिरुपरराम तूष्णीं बभूव ॥ २३ ॥

इति सप्तमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

अथाष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥ १ ॥

अनुवाद—अनन्तर वह प्रसिद्धा वाचक्नवी गार्गी पुनः बोलीं—हे भगवन् ब्राह्मणो! यदि आप लोगों की आज्ञा हो तो मैं इनसे दो प्रश्न पूछूंगी। यदि वे मुझको उन दोनों का उत्तर देवेंगे तो मैं समझूंगी कि आप लोगों में से कोई भी पुरुष कदाचित् भी इन ब्रह्मवादी को जीतनेवाला नहीं होगा। यह निश्चय है, इसमें आप लोगों की क्या आज्ञा होती है? इस प्रकार गार्गी का वचन सुन ब्राह्मण लोग कहते हैं—हे गार्गि! पूछो ॥ १ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ) आरुणि उद्दालक के चुप हो जाने के पश्चात् पुनः (वाचक्नवी+ह) वह प्रसिद्धा वाचक्नवी गार्गी (उवाच) बोली—(ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादी (भगवन्तः) परमपूज्य महात्माओ ! (हन्त) यदि आप लोगों की आज्ञा हो तो (अहम्) मैं (इमम्) इन याज्ञवल्क्य से (द्वौ+प्रश्नौ) दो प्रश्न (प्रक्ष्यामि) पूछूंगी और हे ब्राह्मणो ! ये याज्ञवल्क्य (चेत्) यदि (तौ) उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (मे) मुझसे (वक्ष्यति) कह देवेंगे तो मैं निश्चय करूंगी कि (युष्माकम्) आप लोगों में से (कः+चित्) कोई भी पुरुष (जातु) कदाचित् भी (इमम्) इन (ब्रह्मोद्यम्) ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को (न+वै+जेता+इति) नहीं जीतेंगे। यह मेरा निश्चय है, आप लोगों की क्या सम्मति है ? गार्गी के इस वचन को सुन और प्रसन्न हो सब ब्राह्मण कहते हैं कि (गार्गि) हे गार्गि ! (पृच्छ+इति) पूछो अर्थात् हे गार्गि ! अपनी इच्छा के अनुसार याज्ञवल्क्य से प्रश्न करो, हम लोग आज्ञा देते हैं ॥ १ ॥

भाष्यम्—अथेति। उद्दालक आरुणावुपरते सती पूर्वं याज्ञवल्क्यकोपभीत्या त्यक्तप्रश्नारंभा अपूर्णमानसविकाशा अतृप्ता सती सा गार्गी पुनरपि प्रश्नं करिष्यमाणा "अनवसरे पृच्छन्त्यै मह्यं ब्रह्मवादिनो कुप्येयुः" इति तेषामाज्ञां प्रथमं याचते। अथ ह सुप्रसिद्धा वाचक्नवी गार्गी पुनरप्युवाच–हे ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनो भगवन्तो मम पूजनीयाः ! ममाभिप्रायं भगवन्तः शृण्वन्तु—अहम् इमम् याज्ञवल्क्यं—द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि। हन्त यदि भगवतामनुमतिर्भवेत्। अनुमतिं विना नाहं प्रक्ष्यामीति भावः। एवं तौ द्वौ प्रश्नौ मे मह्यं मां प्रति। स याज्ञवल्क्यो वक्ष्यति चेत्। तर्हि इदं ज्ञातव्यम्। युष्माकं मध्ये कश्चिदपि विद्वान्। जातु कदाचिदपि। इमं ब्रह्मोद्यं ब्रह्मवादिनं याज्ञवल्क्यम्। न वै जेतेति न जेष्यतीति निश्चयः। अत्र युष्माकं काऽनुमतिर्भवति। इति सविनयं गार्ग्या प्रार्थिताः सर्वे ब्राह्मणाः—"पृच्छ गार्गि !" इति स्वानुमतिमाहुः। शङ्कते। अस्यैवाध्यायस्य षष्ठे ब्राह्मणे अस्या गार्ग्या एव प्रश्ना विद्यन्ते। तत्र सा तूष्णीं बभूव। पुनरपि सा कथं पिपृच्छिषति। समाधत्ते—याज्ञवल्क्यकोपभीत्या प्रकृतिसरलतया त्यक्तप्रश्नारम्भापि अपूर्णमानसविकाशा अतृप्तैव निषसाद। सम्प्रति मानसोल्लासं रोद्धुं न शशाक। परमवसरे व्यतीते कथं सा पृच्छेत् ? सर्वेषामेको वारोऽपि प्रश्नाय दुर्लभोऽस्ति। प्रश्नाभिधाने सातिशया कुतूहलिनी। अत एव सा स्वभावपरवशा भूत्वा ब्राह्मणानुमतिं प्रार्थयते—"अनवसरे द्विवारप्रश्नकरणोचितव्यापारमवलोक्य ब्रह्मवादिनो मह्यं मा कुप्येयुः" इति।

शङ्कते=सर्वेषां ब्रह्मवादिनां समक्षे "तौ चेन्मे वक्ष्यतीति न वै जातु युष्माकमिमं ब्रह्मोद्यं जेता" इति कथं साभिमानं प्रतिजानीते। कथञ्च तेऽनुमोदिष्यन्ते। समाधत्ते—स्त्रीजातिः प्रकृत्यैव पटीयसी। चेष्टया वानुमानेन वा परस्परवार्त्तालापेन सर्वेषां शास्त्रविज्ञानबलं तस्याः सुविदितमिवाभूत्। अन्यच्च सर्वकालेषु विख्यातो विद्वान् अंगुल्यग्रे प्रायस्तिष्ठति। याज्ञवल्क्यस्य विद्वत्तापि न तस्याः परिज्ञाता नासीत्। निजविद्याबलन्तु जानात्येवातः साभिमानं सभायां तादृशं वचनं ब्रुवाणा सा न ललज्जे। न च संचुकोच ॥ १ ॥

भाष्याशय—इसी अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में गार्गी का ही प्रश्न है। वहां चुप होगई थीं तब फिर क्योंकर प्रश्न करने के लिये उद्यत होती हैं ?

उत्तर—यहां याज्ञवल्क्य के कोप के भय से यद्यपि गार्गी ने प्रश्न करना छोड़ दिया था परन्तु इसके मानस के विकाश की पूर्णता नहीं हुई। अतः विना तृप्त हुए ही चुप हो बैठ गई थी। इस समय अपने मानस के उल्लास को रोक नहीं सकी परन्तु अवसर व्यतीत होगया। पुनः कैसे पूछ सकती है ? क्योंकि एक २ वार ही पूछने का सब को समय मिलना कठिन है। दो बार कैसे कोई पूछ सकता परन्तु प्रश्न करणार्थं ये अतिशय कुतूहलिनी हो रही है। अतः स्वभावविवश हो के ब्राह्मणों की आज्ञा की प्रार्थना करती हैं क्योंकि ऐसा न हो कि मेरे द्विवार प्रश्नकरणरूप अनुचित परामर्श को देख ब्राह्मण कुपित हो मुझे रोक देवें। पुनः शङ्का होती है कि सब ब्रह्मवादियों के समक्ष में "इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यदि मुझको दे देवेंगे तो मैं निश्चय करूंगी कि आप लोगों में से कोई भी इन ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को न जीतेंगे" इस अभिमान के साथ वे गार्गी क्यों प्रतिज्ञा करती हैं और कैसे सब ब्रह्मवादी इस का अनुमोदन करेंगे ?

समाधान—स्वभाव से ही स्त्रीजाति सब शास्त्रविषय में अतिशय पटु होती है इस हेतु चेष्टा से वा अनुमान से वा परस्पर आलाप से सब का शास्त्र विज्ञानबल उनको विदित होगया होगा। अन्य भी सब कालों में विख्यात विद्वान् लोगों की गणना अंगुली के अग्रभाग में प्रायः करते हैं। याज्ञवल्क्य की भी विद्वत्ता उससे अविज्ञात नहीं थी निज विद्याबल को तो वे जान ही रही हैं। अतः राजसभा में भी वैसा वचन बोलती हुई वे लज्जित वा संकुचित नहीं हुई ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य तथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥ २ ॥

अनुवाद—वे प्रसिद्ध वाचक्नवी गार्गी बोलीं—हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, आप से मैं दो प्रश्न पूछूंगी। जैसे शूरवीरवंशी काशिराज यद्वा विदेहराज ज्यारहित धनु को पुनः अधिज्य करके शत्रुओं के अतिशय बींधने वाले और तीक्ष्णाग्रवाले दो तीरों को हाथ में लेकर उपस्थित हों। वैसे ही मैं दो प्रश्नों से आप के निकट उपस्थित हुई हूं। उन दोनों का उत्तर मुझ से आप कहें—(याज्ञवल्क्य कहते हैं) हे गार्गि ! पूछिये ॥ २ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच) वह वाचक्नवी ब्राह्मणों की आज्ञा पा पुनः बोली—(याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (अहम्+वै+त्वा) मैं निश्चय आप से दो प्रश्न पूछूंगी। वे दोनों कौन प्रश्न हैं इस जिज्ञासा से दृष्टान्त के साथ अपने प्रश्नों को कहती हैं और इस दृष्टान्त से अपने प्रश्नों की दुरुत्तरता भी सूचित करती हैं—हे याज्ञवल्क्य ! (यथा) जैसे (उग्रपुत्रः) उग्र=शूरवीर योद्धा भयङ्कर उनके पुत्र वीरवंशीय (काश्यः) काशीदेशाधिपति (वा) अथवा (वैदेहः) विदेहदेशेश्वर (उज्ज्यम्) धनुष् के गुण का नाम ज्या है। जिसका ज्या=गुण=रस्सी उतार लिया गया है उसे उज्ज्य कहते हैं अर्थात् ज्यारहित (धनुः) धनु को (अधिज्यम्) जिस पर ज्या (रस्सी) चढ़ाई गई हो उसे अधिज्य कहते हैं अर्थात् ज्या सहित (कृत्वा) करके (बाणवन्तौ) शर के अग्रभाग में जो तीक्ष्ण लोह लगाया जाता है उसे भी बाण ही कहते हैं। इस हेतु (बाणवन्तौ) विशेषण कहते हैं अर्थात् तीक्ष्णाग्र और (सपत्नाति+व्याधिनौ) सपत्न=शत्रु। उनको अतिशय बींधने वाले (द्वौ) दो तीरों को (हस्ते+कृत्वा) हाथ में करके (उपोत्तिष्ठेत्) शत्रुओं के हनन के लिये उपस्थित होवें। हे याज्ञवल्क्य ! (एवम्+एव)

वैसे ही (अहम्) मैं (त्वा) आपके निकट (द्वाभ्याम्+प्रश्नाभ्याम्) दो प्रश्नों से (उपोदस्थाम्) उपस्थित हुई हूं । (तौ) उन दोनों प्रश्नों का उत्तर (मे) मुझ से (ब्रूहि) कहिये (इति) इस प्रकार गार्गी के वचन को सुनकर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि (गार्गि) हे गार्गि ! (पृच्छ) पूछिये (इति) ॥२॥

भाष्यम्—सेति । ब्राह्मणैरनुज्ञापिता सती सा वाचक्नव्युवाच—हे याज्ञवल्क्य ! अहं वै त्वा त्वां प्रति द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामीति सम्बध्यते । कौ ताविति जिज्ञासायां निजप्रश्नयोर्दुरुत्तरत्वं द्योतयन्ति दृष्टान्तपूर्वकं तौ ब्रवीति । हे याज्ञवल्क्य ! यथा उग्रपुत्रः उग्रश्चासौ पुत्र उग्राणां भयङ्करस्वभावानां क्षत्रियाणाम्वा पुत्र इत्युग्रपुत्रः । उभयत्रेदं विशेषणं सम्बध्यते । काश्यः काशीषु देशेषु भवः काशीनामीश्वरः । काश्यनृपेषु पुरा प्रसिद्धं शौर्यमासीत् । वाऽथवा वैदेहो विदेहानां जनपदानां राजा । उज्ज्यमवतारितज्याकम् । धनुः । पुनरपि । अधिज्यमधि अधिरोपिता ज्या गुणो यत्र तदधिज्यमारोपितज्याकम् । कृत्वा । सपत्नातिव्याधिनौ सपत्नान् शत्रून् अतिशयेन विध्यतो यौ तौ सपत्नातिव्याधिनौ । बाणवन्तौ तीक्ष्णाग्रलोहखण्डो बाणकाभिधेयः । स यः शराग्रे सन्धीयते सोऽपि बाण एवोच्यते । ताभ्यां बाणाभ्यां संयुक्तौ । द्वौ बाणौ हस्ते करे धृत्वाऽऽदाय । शत्रुवधायोपोत्तिष्ठेत् उपस्थितो भवेत् । एवमेव । यथायं दृष्टान्तस्तथैव । अहम् । शरस्थानीयाभ्यां द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यां लक्ष्यस्थानीयत्वात् । उपोदस्थाम् उपोत्थितास्मि । हे याज्ञवल्क्य ! तौ द्वौ प्रश्नौ । त्वम् । मे मह्यम् ब्रूहि इति । तया पृष्टो याज्ञवल्क्यो ब्रवीति । हे गार्गि ! यथेच्छं पृच्छेति ॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतञ्च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥ ३ ॥

अनुवाद—वे वाचक्नवी गार्गी बोलीं—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊर्ध्व है । जो पृथिवी से नीचे है । जो इस द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और जिसको भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कहते हैं, सब वह किस में ओत और प्रोत है ॥ ३ ॥

पदार्थ—अब प्रथम प्रश्न गार्गी पूछती हैं—(सा+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य की आज्ञा पाकर वे गार्गी बोलीं (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (दिवः+यद्+ऊर्ध्वम्) द्युलोक से ऊपर जो वस्तु है (पृथिव्याः+यद्+अवाक्) पृथिवी के नीचे जो है और (इमे+द्यावा+पृथिवी) इस द्युलोक और पृथिवी लोक के (यद्+अन्तरा) मध्य में जो है और (यत्+भूतम्+च+भवत्+च+भविष्यत्+च) जिसको भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+कस्मिन्+ओतम्+च+प्रोतम्+च) वह सब किस में ओत प्रोत अर्थात् ग्रथित है ? किसके आश्रित है ? यह मेरा प्रथम प्रश्न है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सेति । यावन्तं देशं सचन्द्रः सनक्षत्रश्च सूर्य्य आच्छादयति सा द्यौरुच्यते । यावन्तश्च पृथिवी स पृथिवीलोकः । यो यत्र तिष्ठति । तस्य सा पृथिवी । परितः स्थिता लोका द्यौरिति विवेकः । अनन्ताः पृथिव्यः । अनन्ताः सूर्य्याः । अनन्ताश्चन्द्राः । अनन्ता ग्रहराशयः । अनन्ता अन्ये पदार्था विद्यन्ते । यान् वयं कथमपि न द्रष्टुं शक्नुमः । सर्वे निराधारा दृश्यन्ते कथञ्च परस्परं संघट्य विनश्यन्ति अथवा कथञ्च कुत्रापि व्रजेयुः । कुथन्नेयं पृथिवी अधो वोर्ध्वम्वा आपतेत् । कथञ्च सूर्यः पृथिव्यां पतति । परन्तु

सर्वे पदार्थाः स्वस्वस्थानं परित्यज्य न कुत्राऽपि परिचलन्ति। नाणुमात्रमपि स्वस्वनियत-स्थितिं विजहति। एवं महदाश्चर्यमवलोक्य विमोहिता गार्गी याज्ञवल्क्येनानुज्ञाता सती वक्ष्यमाणं प्रश्नं होवाच। हे याज्ञवल्क्य! दिवो यदूर्ध्वम् द्युलोकस्य सकाशात् ऊर्ध्वं यत्किमपि वर्त्तते। पृथिव्याः अवागधोऽधो यद् वर्त्तते। इमे द्यावापृथिवी अन्तरा मध्ये चन्द्रमेघादि यद् वर्त्तते। पुनः विद्वांसो यद्भूतञ्चातीतम्। भवच्च वर्त्तमानं स्वव्यापारस्थं। भविष्यच्च वर्त्तमानादूर्ध्वकालः। इत्याचक्षते कथयन्ति तत्सर्वं कस्मिन् वस्तुनि ओतञ्च प्रोतञ्च ग्रथितं स्यूतम्। यथा मालाः सूत्रे ओताः प्रोता गृहाःस्तम्भेषु मत्स्या जलाधारे तरन्ति। वाय्वाऽऽधारे विहगा उड्डीयन्ते। तथा सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतमस्तीति प्रश्नस्याशयः॥ ३॥

भाष्याशय—जितने देश को चन्द्र नक्षत्रादि सहित सूर्य्य आच्छादित करता है वह "द्यौ" कहलाता है और जिसको पृथिवी आच्छादित करती है उसे पृथिवी लोक कहते हैं। यहां इतना अवश्य जानना चाहिये कि जो जहां है उसके लिये वह पृथिवीलोक और उसके परितःस्थित लोक उसके लिये द्युलोक है। अनन्त पृथिवी हैं। अनन्त सूर्य्य हैं। अनन्त चन्द्र हैं। अनन्त नक्षत्रराशि हैं। अनन्त अन्य लोक लोकान्तर हैं। जिनको हम लोग देख नहीं सकते। सब ही निराधार हैं तो परस्पर टकराकर क्यों नहीं विनष्ट होजाते अथवा क्यों नहीं कहीं इधर उधर चले जाते। क्यों नहीं यह पृथिवी नीचे वा ऊपर को कहीं चली जाती। क्यों नहीं सूर्य वा चन्द्र वा ग्रह पृथिवी के ऊपर गिर पड़ते। इसी प्रकार पृथिवी ही सूर्य्यादिक के ऊपर क्यों नहीं गिर पड़ती परन्तु ये सब पदार्थ स्व २ स्थान को परित्याग कर न कहीं जाते हैं। अणुमात्र भी स्व २ निर्दिष्टस्थान को नहीं त्यागते। इन सबों को कौनसी शक्ति ने बांध रक्खा है। मैं नहीं जानती यह प्रश्न याज्ञवल्क्य से पूछ देखें, वे क्या उत्तर देते हैं। इस प्रकार विचार कर और महान् आश्चर्य देख विमोहित हो याज्ञवल्क्य की आज्ञा पा गार्गी प्रश्न पूछने के लिये उद्यत होती हैं। प्रश्न का भाव यह है—ये सब किस आधार पर ठहरे हुए हैं। जैसे स्तम्भ के ऊपर गृह सूत्र के आधार पर माला, जल के आधार पर मत्स्य तरते हैं, जैसे वायु के आधार पर पक्षी उड़ते हैं तद्वत् ये सब किस आधार पर हैं॥ ३॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं प्रोतं चेति॥ ४॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गि! जो द्युलोक के ऊपर है। जो पृथिवी के नीचे है। जो इन द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है और जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं। वह सब आकाश में ओत और प्रोत है॥ ४॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) गार्गी का प्रश्न सुन वे याज्ञवल्क्य बोले—(गार्गि) हे गार्गि! (यद्+दिवः+ऊर्ध्वम्) जो द्युलोक के ऊपर है (यत्+पृथिव्याः+अवाक्) जो पृथिवी के नीचे है (यद्+इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरा) इन द्युलोक पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है (यत्+भूतम्+च+भवत्+च+भविष्यत्+च) जिसको विद्वान् लोग भूत वर्त्तमान और भविष्यत् (आचक्षते) कहते हैं (तत्+आकाशे+ओतम्+च+प्रोतम्+च) वह सब आकाश में ओत और प्रोत है अर्थात् आकाश में आश्रित हैं आकाशीयशक्ति के ऊपर सब स्थिर हैं। हे गार्गि! यह आप के प्रथम प्रश्न का उत्तर है॥४॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥ ५ ॥

अनुवाद—वे गार्गी बोलीं याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार हो । जिन्होंने मेरे इस प्रश्न की व्याख्या की है परन्तु आप अब दूसरे प्रश्न के लिये अपने को धारण करें (अर्थात् दूसरे प्रश्न के उत्तर देने के लिये अब यत्नवान् होवें) याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि ! पूछिये ॥ ५ ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य के समीचीन उत्तर श्रवण कर अति प्रसन्न हो (सा+ह+उवाच) वे गार्गी विनयपूर्वक बोलीं (याज्ञवल्क्य+नमः+ते+अस्तु) आप को मेरा नमस्कार होवे (यः+मे+एतम्+व्यवोचः) जिन्होंने मेरे इस प्रश्न का विशेषरूप से व्याख्यान किया है । अब (अपरस्मै+धारयस्व) दूसरे प्रश्न के लिये अपने को दृढता पूर्वक धारण कीजिये । गार्गी के इस वचन को सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (पृच्छ+गार्गि+इति) हे गार्गि ! दूसरा प्रश्न भी पूछ लीजिये, इति ॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति * ॥ ६ ॥

अनुवाद—वे वाचक्नवी गार्गी बोलीं—हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक से ऊर्ध्व है । जो पृथिवी से नीचे है । जो इस द्युलोक और पृथिवी के मध्य में है और जिस को भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कहते हैं । वह सब किस में ओत और प्रोत है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य की आज्ञा पाकर वे गार्गी बोलीं (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (दिवः+यद्+ऊर्ध्वम्) द्युलोक से ऊपर जो वस्तु (पृथिव्याः+यद्+अवाक्) पृथिवी के नीचे जो है और (इमे+द्यावापृथिवी) इस द्युलोक और पृथिवीलोक के (यद्+अन्तरा) जो मध्य में है और (यत्+भूतम्+च+भवत्+च+भविष्यत्+च) जिसको भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् (आचक्षते) विद्वान् लोग कहते हैं (तत्+कस्मिन्+ओतम्+च+प्रोतम्+च) वह सब किस में ओत और प्रोत=स्यूत अर्थात् सीया हुआ अर्थात् ग्रथित है किसके आश्रित है, यह मेरा प्रथम प्रश्न है ॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति † ॥ ७ ॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गि ! जो द्युलोक के ऊपर है । जो पृथिवी के नीचे है । जो इन द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है और जिसको भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कहते हैं । वह सब आकाश में ही ओत और प्रोत है इस पर पुनः गार्गी पूछती हैं—हे याज्ञवल्क्य ! आकाश किस में ओत और प्रोत है ॥ ७ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) गार्गी का प्रश्न सुन वे याज्ञवल्क्य बोले (गार्गि) हे गार्गि ! (यद्+दिवः+ऊर्ध्वम्) जो द्युलोक के ऊपर है (यत्+पृथिव्याः+अवाक्) जो पृथिवी के नीचे है (यद्+इमे+द्यावापृथिवी+अन्तरा) द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों के मध्य में है (यत्+भूतम्+च+भवत्+च+भविष्यत्+च) जिसको विद्वान् लोग भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् (आचक्षते) कहते हैं

* यह कण्डिका तृतीय कण्डिका के समान है ॥

† यह कण्डिका चतुर्थ कण्डिका के समान है ॥

(तत्+आकाशे+ओतं+च+प्रोतं+च) वह सब आकाश में ओत और प्रोत है अर्थात् आकाश के आश्रित है आकाशीय शक्तिपर सब स्थित है। इस समाधान को सुन पुनः गार्गी पूछती हैं (कस्मिन्+नु+खलु+आकाशः+ओतः+च+प्रोतः+च+इति) हे याज्ञवल्क्य ! वह आकाश किसमें ओत और प्रोत है ? यह मुझे समझाइये इसका समाधान विस्तार से आगे करेंगे ॥ ७ ॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८ ॥

अनुवाद—वे याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गि ! ब्रह्मवादी लोग निश्चय करके उस इसको अक्षर कहते हैं। वह न स्थूल है। न अणु है। न ह्रस्व है। न दीर्घ है। न लोहित (लाल) है। वह अस्नेह, अच्छाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमना, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और अबाह्य है। न वह भोक्ता है न उसका कोई भोक्ता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) वे याज्ञवल्क्य बोले (गार्गि) हे गार्गि ! (ब्राह्मणाः+वै+तत्+एतत्+अक्षरम्+अभिवदन्ति) ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मवादी लोग निश्चय करके उसको अर्थात् जिसके आश्रित आकाश भी है उसको अविनाशी अक्षर कहते हैं। आगे इसी अक्षर के अनेक विशेषण कहते हैं, यथा—वह अक्षर कैसा है। (अस्थूलम्) स्थूल=मोटा नहीं है और (अनणु) अणु=पतला भी नहीं है (अह्रस्वम्) छोटा नहीं है और (अदीर्घम्) लम्बा भी नहीं है (अलोहितम्) अग्नि के समान लाल नहीं है। (अस्नेहम्) सांसारिक जीववत् स्नेहवाला भी नहीं है। (अच्छायम्) आवरणरहित है (अतमः) अन्धकार रहित है (अवायु) बाह्यवायु से वह आवृत नहीं है। (अनाकाशम्) आकाशरहित है (असङ्गम्) संसारी जीववत् वह किसी से सङ्ग करनेवाला नहीं है। (अरसम्) रसरहित है (अगन्धम्) गन्धरहित है (अचक्षुष्कम्) नेत्ररहित है (अश्रोत्रम्) श्रोत्रेन्द्रिय से विरहित है। (अवाग्) अवाणी है (अमनः) मनोरहित है (अतेजस्कः) तेजोरहित है (अप्राणम्) प्राणरहित है (अमुखम्) अमुख है (अमात्रम्) मात्रा=परिमाण रहित है (अनन्तरम्) उस में कुछ अन्तर नहीं है। (अबाह्यम्) बाहर भी नहीं है (तद्) वह अक्षर (न+किञ्चन+अश्नाति) किसी वस्तु का भोग नहीं करता है और (कः+चन) कोई पदार्थ (तद्+न+अश्नाति) उसको नहीं खाता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—स इति। गार्गीप्रश्नं श्रुत्वा स ह याज्ञवल्क्य उवाच। हे गार्गि ! यत्त्वया पृष्टम्। "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" इत्यस्य समाधानं शृणु। ब्राह्मणाः ब्रह्मवादिनो जनाः। तदेतद् अक्षरम् अभिवदन्ति। यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति तद् वस्तु अक्षराभिधाने वर्णयन्ति। अग्रेऽक्षरं विशिनष्टि। अस्थूलम्=न स्थूलम् स्थूलाद्भिन्नम्। यथाऽऽम्रफलाद् बिल्वफलं तस्मादपि कूष्माण्डं यथा वा वृक्षात् पर्वतः तस्मात्पृथिवी तस्या अपि नक्षत्रं स्थूलमस्ति। अपेक्षाकृता स्थूलतास्त्येव सर्वत्र। परमाणुरपि किञ्चित्स्थूलोऽस्त्येव। तदक्षरन्तु न तादृशम्। यदि तत्स्थूलन्नास्ति। तर्हि अणु भवेत्, इत्यत आह—

अनणु—अणुभिन्नम् । यथा—कूष्माण्डाद्विल्वफलमणु । विल्वफलादाम्रफलमणु । तस्मादपि वटफलम् । तस्मादपि वटबीजमणु वर्त्तते इत्थमणुतापि सापेक्षा दृश्यते । तादृक्षंनेदमक्षरम् । स्थूलाद्वा सूक्ष्माद्वा सर्वस्माद्वस्तुनोभिन्नमित्यर्थः । अह्रस्वम्=अदीर्घम् । तृणवद्ये ह्रस्वास्तालवद्ये दीर्घाः पदार्थाः सन्ति । तद्विलक्षणमिदमक्षरमस्ति । एतैश्चतुर्भिर्विशेषणैः परिणामप्रतिषेधैर्द्रव्यधर्मः प्रतिषिद्धः न तद्द्रव्यमक्षरमित्यर्थः । अलोहितम्=लोहितमीषद्रक्तम् । तद्भिन्नमलोहितम् । अग्निवल्लोहितद्रव्यात्सर्वस्माद्भिन्नम् । लोहितोऽग्नेर्गुणः । अस्नेहम्—जलतैलादिवद्द्रव्यात्सर्वस्माद्भिन्नम् । अपां स्नेहोगुणः । अच्छायम्=छायाद्ये पृथिव्यादिपदार्थाः सन्ति । तत्सकलेभ्यो विलक्षणम् । अतमः=तमालवृक्षवत् श्यामाः अन्धकारवन्नेत्रावरोधकाश्च ये पदार्थाः सन्ति । तेभ्यो विलक्षणम् । अवायुः=यस्मादिदं गतिरहितमस्ति । तस्माद्गतिमतो वायोर्विलक्षणम् । अनाकाशम्=यस्मादिदमच्छिद्रमस्ति तस्मात् सच्छिद्रादाकाशाद्विलक्षणम् । असङ्गम्—यत इदममूर्त्तं संगरहितम् । तस्मात् मूर्त्तात्सङ्गवतस्तेजसादपि विभिन्नम् । अरसम्=यतो मधुरादिरसरहितमिदमतो-मधुरगुणवतो जलादेर्विलक्षणम् । अगन्धम्=यतः सुगन्धादिविवर्जितमिदमतो गन्धवत्याः पृथिव्या अपि विलक्षणम् । अचक्षुष्कम्=न विद्यते चक्षुःकरणं यस्य तदचक्षुष्कम् । पश्यत्यचक्षुरिति श्रुतेः । अश्रोत्रम्=श्रोत्रेन्द्रियरहितम् "शृणोत्यकर्णः" इति श्रुतेः । अवाग्=अवचनम् । अमनः=मन इन्द्रियविवर्जितम् । अतेजस्कम्=अग्न्यादिप्रकाशवतो भिन्नम् । अप्राणम्=आध्यात्मिक वायुरिहप्राणस्तद्रहितम् । अमुखम्=अद्वारम् । अमात्रम्=मीयते येन तन्मात्रं मानं मेयान्वयरूपम् मात्रारूपम् तन्न भवति न तेन किञ्चिन्मीयते । अनन्तरम्=अन्तरं=छिद्रं तद्रहितम् । अबाह्यम्=न विद्यते बाह्यं यस्येति । अपरिच्छिन्नमिति यावत् । न तदश्नाति तत् किमपि न भक्षयति । भवतु तावत् कस्यचिद् भक्ष्यं । कश्चन न तदश्नाति कश्चन कोऽपि पदार्थः तदक्षरं नाश्नाति न भक्षयति । अचक्षुष्कादीनामयं भावोऽस्ति । हे गार्गि ! अस्याक्षरस्यात्मनो न पञ्चज्ञानेन्द्रियस्वरूपं न च कर्मेन्द्रियस्वरूपं । न च मनोबुद्धिचित्ताहंकारचतुष्टयान्तःकरणस्वरूपम् । नह्येतस्मिन्नक्षरात्मनि प्राणोऽपानः समानोव्यान उदानः पञ्चप्राणाः । मोक्षस्थायि लोकद्वयावगाहि सूक्ष्मशरीरं न च कारणशरीरं विद्यते । अयमात्मा केवलोऽन्तरो भवेत्तर्हि बाह्यान् पदार्थान् कः प्रकाशयेत् । यदि बाह्य एव स्यात् तर्हि अन्तरान् पदार्थान् कः प्रकाशयेत् । आत्मनो भिन्नाः सर्वे जडस्वरूपाः । तेषु न संभाविनी प्रकाशकर्ता । अतोऽयमात्मा स्वप्रकाशरूपेणान्तराबाह्यपदार्थान् प्रकाशयन् तद्विलक्षणो वर्त्तत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राण्यर्द्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां याञ्च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥ ९ ॥

अनुवाद—हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से सूर्य्य और चन्द्र नियमित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से द्युलोक और पृथिवी नियमित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्द्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर ये सब नियमित होकर स्थित हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से कुछ नदियां श्वेत पर्वतों से निकलकर पूर्व दिशा की ओर बहती हैं और कुछ नदियां पश्चिम की ओर बहती हैं और जो २ नदियां जिस २ दिशा को बहती हों वे इसी अक्षर की आज्ञा से जाती हैं। हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से मनुष्य दानी की प्रशंसा करते हैं, देवता यजमान के अनुगामी होते हैं और पितर होमदर्वी के अनुगामी होते हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(गार्गि+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गि ! इसी अक्षर की प्रशासन अर्थात् आज्ञा से (सूर्याचन्द्रमसौ+विधृतौ+तिष्ठतः) सूर्य और चन्द्र विधृत अर्थात् नियमित होकर स्थित हैं (गार्गि+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से (द्यावापृथिव्यौ+विधृते+तिष्ठतः) द्यौ और पृथिवी नियमित होकर स्थित हैं (गार्गि+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से (निमेषाः+मुहूर्ताः+अहोरात्राणि+अर्धमासाः+मासाः+ऋतवः+संवत्सराः+इति+विधृताः+तिष्ठन्ति) निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर इत्यादि नियमित होकर स्थित हैं। (गार्गि+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से (अन्याः+नद्यः+श्वेतेभ्यः+पर्वतेभ्यः+प्राच्यः+स्यन्दन्ते) कुछ नदियां श्वेत पर्वतों से निकलकर पूर्व दिशा की ओर बहती हैं (अन्याः+प्रतीच्यः) और कुछ नदियां पश्चिम की ओर बहती हैं (याम्+याम्+च+दिशम्+अनु) जो २ नदियां जिस २ दिशा को बहती हैं वे २ उसी अक्षर की आज्ञा से बहती हैं। (गार्गि+एतस्य+वै+अक्षरस्य+प्रशासने) हे गार्गि ! इसी अक्षर की आज्ञा से (मनुष्याः) मनुष्यगण (ददतः) दान देनेहारों की (प्रशंसन्ति) प्रशंसा करते हैं। (देवाः+यजमानम्+अन्वायत्ताः) उसी अक्षर की आज्ञा से अग्नि, वायु आदि देवतायें यजमान की अनुगामिनी होती हैं (पितरः+दर्वीम्) पितृगण भी इसी अक्षर की आज्ञा से होमदर्वी के अनुगामी होते हैं। दर्वी=करछुल=करछी अर्थात् दाल, शाक वगैरह चलाने का पात्रविशेष ॥ ९ ॥

भाष्यम्—एतस्येति। गार्ग्येतस्योक्तरूपस्याक्षरस्य प्रशासने आज्ञायां सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ नियमितौ तिष्ठतो वर्त्तेते भृत्यादिवत्। तथा यदक्षरप्रशासने द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठते हस्तन्यस्तपाषणादिवत्तदस्ति। तथा निमेषादयः कालावयवाः सर्वजनिमतः कलयितारो गणकवदस्य प्रशासने विधृतस्तिष्ठन्ति तदस्ति। तथा प्राच्यः प्रागञ्चनाः पूर्वदिग्गमना अन्या गङ्गाद्या नद्यः श्वेतेभ्यो हिमवदादिभ्यः पर्वतेभ्यः स्यन्दते स्रवन्ति। तथा प्रतीच्यः प्रतीचीदिग्गमनाः सिन्ध्वाद्या तद्योऽन्याश्च या या नद्यो यां यां दिशमनुप्रवृत्तास्ता यदक्षरशासनादद्यापि तथैव प्रवर्तन्ते तदस्ति। तथा ददतो दुःखार्जितान्गोहिरण्यादीन्प्रयच्छतः पुरुषान्मनुष्याः हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्त इति प्रमाणज्ञाः प्रशंसन्ति स्तुतिं कुर्वते। तथा चैतस्य प्रशंसनस्य फलसंबन्धपूर्वकत्वेन तत्कर्त्रेक्षां सिद्धम्। न च स्वातन्त्र्येण देवादिकर्तृक एव फलसंबन्ध इति वाच्यं तेषामपीश्वराधीनत्वादित्याह—यजमानमिति। देवा इन्द्राद्योऽन्यथा जीवितुं समर्था अपि जीवनं निमित्तीकृत्य पुरोडाशाद्युपजीवनप्रयोजने नानीश्वरमपि यजमानमन्वायत्ता अनुगताः। तथा पितरोऽर्य्यमाद्यो दर्वी दर्वीहोममन्वायत्ता इति सम्बन्धः। तथा च देवादीनामेतादृग्धीनवृत्त्याश्रयणमक्षरास्तित्वे लिङ्गमित्यर्थः ॥ ९ ॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥ १० ॥

अनुवाद—हे गार्गि ! जो इस अक्षर को न जानकर इस लोक में होम और यज्ञ करता है और अनेक सहस्र वर्षों तक तप करता है उसका वह सब कर्म अन्तवाला ही होता है। हे गार्गि ! निश्चय, इस अक्षर को न जानकर इस लोक से जो सिधार जाता है वह कृपण है और हे गार्गि ! जो ही इस अक्षर को जानकर इस लोक से सिधारता है वही ब्राह्मण है ॥ १० ॥

पदार्थ—(गार्गि+यः+वै+एतत्+अक्षरम्+अविदित्वा) हे गार्गि ! जो अज्ञानी पुरुष इस अक्षर को न जानकर (अस्मिन्+लोके+जुहोति+यजते) इस लोक में होम और यज्ञ करता है (बहूनि+वर्षसहस्राणि+तपः+तप्यते) अनेक सहस्र वर्ष तप करता है (तत्+अस्य+अन्तवत्+एव+भवति) उसका वह सब कर्म अन्तवत् अर्थात् विनश्वर होता है। (गार्गि+यः+वै+एतत्+अक्षरम्+अविदित्वा) हे गार्गि ! जो ही इस अक्षर को न जानकर (अस्मात्+लोकात्+प्रैति) इस लोक से चला जाता है (सः+कृपणः) वह कृपण है। (अथ+गार्गि+यः+एतत्+अक्षरम्+विदित्वा+अस्मात्+लोकात्+प्रैति) और हे गार्गि ! जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से गमन करता है (सः+ब्राह्मणः) वही ब्राह्मण है ॥ १० ॥

भाष्यम्—यो वा इति। हे गार्गि यो वै कश्चित्पुरुष एतदक्षरमविदित्वाऽविज्ञायास्मिन्कर्मलोके जुहोति देवतोद्देशेन संकल्पितं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिपति यजते देवतोद्देशेन द्रव्यं सङ्कल्पयति तपश्चान्द्रायणादि तप्यत आचरति यद्यपि बहूनि वर्षसहस्राणि तथाऽप्यस्य कर्तुस्तत्साङ्गमपि क्रियमाणं कर्मान्तवदेवान्तवत्फलकमेव भवति। न नित्यमोक्षफलकम्। तथा च हे गार्गि ! यो वा एतदक्षरम् अविदित्वाऽस्मात्कर्मलोकात्प्रैति म्रियते स कर्मी कृपणो दीनः पणीकृतदासवत्कर्मफलस्यैव भोक्ता न मोक्षस्य। अथ तु य एतदक्षरं श्रुत्याचार्योपदेशतः विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः स एव ब्रह्मवेत्तास्ति ॥ १० ॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥ ११ ॥

अनुवाद—हे गार्गि ! सो यह अक्षर स्वयं अदृष्ट होने पर भी द्रष्टा है। स्वयं अश्रुत होने पर भी श्रोता है। स्वयं अमत होने पर भी मन्ता है। स्वयं अविज्ञात होने पर भी विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई अन्य द्रष्टा नहीं, इससे भिन्न कोई अन्य श्रोता नहीं, इससे भिन्न कोई अन्य मन्ता नहीं, इससे भिन्न कोई अन्य विज्ञाता नहीं। हे गार्गि ! आप निश्चय करके जानें उसी अक्षर में यह आकाश वस्त्र में सूत्रवत् ओत और प्रोत है ॥ ११ ॥

पदार्थ—(गार्गि+तत्+वै+एतत्+अक्षरम्) हे गार्गि ! सो यह अक्षर अर्थात् अविनश्वर परमात्मा (अदृष्टम्) अदृष्ट है अर्थात् इस अक्षर को किसी ने नेत्र से अनुभव नहीं किया है क्योंकि वह दृष्टि का अविषय है परन्तु स्वयं (द्रष्टृ) सब का द्रष्टा है अर्थात् वह सब को देखता है परन्तु

उसको कोई नहीं देखता । इसी प्रकार आगे भी भाव जानना । (अश्रुतम्+श्रोतृ) वह स्वयं अश्रुत है परन्तु सब की बातों का श्रोता है । (अमतम्+मन्तृ) वह स्वयं मननेन्द्रिय का अविषय है परन्तु स्वयं सब का मनन करता है (अविज्ञातम्+विज्ञातृ) स्वयं अविज्ञात है परन्तु सब को जाननेहारा है । (अतः+अन्यत्+न+द्रष्टृ+अस्ति) इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं (अतः+अन्यत्+न+श्रोतृ+अस्ति) इससे अन्य कोई श्रोता नहीं (अतः+अन्यत्+न+मन्तृ+अस्ति) इससे अन्य कोई मन्ता नहीं (अतः+अन्यत्+न+विज्ञातृ+अस्ति) इससे अन्य कोई विज्ञाता नहीं । (गार्गि+तस्मिन्+नु+खलु+अक्षरे) हे गार्गि ! यह आप निश्चय जानें यह बात सब विद्वानों से निर्धारित है कि उसी अक्षर में (आकाशः+ओतः+च+प्रोतः+च+इति) आकाश ओत और प्रोत है । हे गार्गि ! यही आप के प्रश्नों का उत्तर है, अब आप विचार कीजिये ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तद्वा इति । हे गार्गि ! एतद्वै तदक्षरमस्थूलादिवाक्येनावगमितमदृष्टं केनचिन्न दृष्टं दृष्ट्यविषयत्वात्स्वयं तु द्रष्टृ दृशिस्वरूपत्वात् । एवमश्रुतं श्रोत्रित्यादि व्याख्येयम् । तस्य नानात्वशङ्कां निराकरोति—नेति । अस्मात्प्रकृतादक्षरादन्यद्द्रष्टृ दर्शनक्रियाकर्तृ नास्त्येतदेव तत्कर्तृ समानमन्यत् । एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्युक्तार्थम् ॥ ११ ॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम ॥ १२ ॥

अनुवाद—वह गार्गी बोली—हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! उसी को आप सब बहुत मानें, यदि इस याज्ञवल्क्य से नमस्कार करके छूट जायँ । मुझे विश्वास है कि आप लोगों में से कोई भी कभी इस ब्रह्मवित् याज्ञवल्क्य को न जीतेंगे । तब वह वाचक्नवी चुप होगई । (क) अथवा वह गार्गी बोली—हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! मैंने जो यह कहा था कि यदि दो प्रश्नों का याज्ञवल्क्य उत्तर देदेंगे तो आप लोगों में से कोई भी कभी इस ब्रह्मवेत्ता को न जीतेंगे । इसी बात को आप बहुत मानें । इस हेतु नमस्कार करके इस याज्ञवल्क्य से अपना २ छुटकारा पावें । इतना कह वह वाचक्नवी चुप होगई ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सा+ह+उवाच+भगवन्तः+ब्राह्मणाः) वह गार्गी बोली—हे मेरे पूज्य ब्राह्मणो ! (तत्+एव+बहु+मन्येध्वम्) उसी को आप बहुत मानें (यत्+नमस्कारेण+अस्मात्+मुच्येध्वम्) यदि नमस्कार के द्वारा भी इस याज्ञवल्क्य से छूट जायँ अर्थात् आप सब याज्ञवल्क्य को नमस्कार करके भी इनको यदि प्रसन्न करलें और यह आप लोगों के दोषों को क्षमा करदें तो यही एक बड़ी बात है नहीं तो कदाचित् आप ही लोगों के समान यह याज्ञवल्क्य आप लोगों से प्रश्न करें तो आप लोग इस प्रकार उत्तर न दे सकेंगे, तब आप लोगों का बहुत हास्य होगा । इसलिये इनको नमस्कार करके अपना २ दोष क्षमा करवा लीजिये क्योंकि मुझे निश्चय है (युष्माकम्+कश्चिद्) आप लोगों में से कोई (जातु) कभी (इमम्+ब्रह्मोद्यम्+न+वै+जेता+इति) इस ब्रह्मवेत्ता को नहीं जीतेंगे । (ततः+वाचक्नवी+उपरराम) तब वाचक्नवी चुप होगई । इसका अन्य प्रकार से भी अर्थ होसकता है जैसा कि अनुवाद में दिखलाया गया है । यथा—(सा+हो०) वह गार्गी बोली (यत्) मैंने जो कहा था कि मेरे दो प्रश्नों का यदि यह उत्तर देदेंगे तो (न+वै+जातु+युष्माकम्+कश्चित्+इमम्+ब्रह्मोद्यम्+जेता+इति) तो कभी आप लोगों में से कोई भी इस ब्रह्मवेत्ता को न जीतेंगे, यह मेरा विश्वास है । (तत्+एव+बहु+मन्येध्वम्) इसलिये

मेरे उसी वचन को बहुत मानें अर्थात् प्रमाण समझें । अब (नमस्कारेण+अस्मात्+मुच्येध्वम्) नमस्कार से इन्हें प्रसन्न कर इन से छुटकारा पावें । इनका पराजय मन से भी शङ्कित न करना चाहिये । (ततः+ह+वाचक्नवी+उपरराम) फिर वाचक्नवी चुप होगई ॥ १२ ॥

भाष्यम्—सोऽकप्रश्नद्वयनिर्णयश्रोत्री गार्ग्युवाच । किं हे ब्राह्मणाः ! भगवन्तः प्रश्नौ चेन्मह्यं वक्ष्यति तदा न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति युष्मान्प्रति पूर्वोक्तं यन्मम वचनं तदेव वचनं बहु मन्येध्वम् बहुमानविषयं कुरुध्वम् प्रमाणीकुरुध्वम् । यद्यस्माद्बहुर्वचो प्रश्नावनेनोत्तरितौ तस्मादस्माद्याज्ञवल्क्यान्नमस्कारेणमुच्येध्वमस्मै नमस्कारं कृत्वाऽनुज्ञां प्राप्य यूयं मुच्यध्वमस्य पराजयो मनसाऽपि न शङ्कनीयः । तत एवं ब्राह्मणानां हितोपदेशानन्तरं वाचक्नव्युपररामेत्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥ (क)

अनुवाद—इसके अनन्तर शाकल्य विदग्ध ने इनसे पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ? उन्होंने इस निविदा (मन्त्र के टुकड़े) से ही उत्तर दिया वैश्वदेव सम्बन्धी मन्त्र की निविदा में जितने देव कहे गये हैं । तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र । तब शाकल्य विदग्ध ने कहा कि हां ठीक है ॥ १ ॥ (क)

पदार्थ—(अथ+शाकल्यः+विदग्धः) अनन्तर शाकल नाम के ऋषि के पुत्र विदग्ध नामवाले अनूचान ने (एनम्+ह+पप्रच्छ) इस याज्ञवल्क्य को पूछा (याज्ञवल्क्य+कति+देवाः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! देव कितने हैं अर्थात् देवों की संख्या कितनी है, यह मेरा प्रश्न है । विदग्ध के इस प्रश्न को सुनकर (सः+ह+एतया+निविदा+प्रतिपेदे) उस याज्ञवल्क्य ने इस वक्ष्यमाण मन्त्र के टुकड़े से उत्तर दिया (वैश्वदेवस्य+निविदि+यावन्तः+उच्यते) विश्वेदेव सम्बन्धी जो मन्त्र उसके पद में जितने देव कहे गये हैं अर्थात् विश्वेदेव सम्बन्धी मन्त्र में देवों की संख्या जितनी उक्त है उतनी ही संख्या याज्ञवल्क्य ने कही, आगे निविदा दिखलाते हैं उसका अर्थ (त्रयः+च+त्री+च+शता) तीन और तीन सौ और (त्रयः+च+त्री+च+सहस्रा) तीन और तीन सहस्र देव हैं । याज्ञवल्क्य के इस उत्तर को सुन कर विदग्ध ने (ह+उवाच+ओम्+इति) कहा कि हां ठीक है । आप देवसंख्या जितनी कहते हैं उतनी ही देवसंख्या है इसमें सन्देह नहीं ॥ १ ॥ (क)

भाष्यम्—अथेति । अथानन्तरम् । शाकल्यः शकलस्यापत्यं विदग्ध इत्येवंनामा कश्चित्प्रसिद्धोऽनूचानः । एनं ह याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ—हे याज्ञवल्क्य ! कति देवाः सन्ति ? देवानां संख्याः कति सन्ति ? एष मम प्रश्नः । तेन पृष्टो याज्ञवल्क्यः एतया वक्ष्यमाणया निविदैव वेदवाचैव न प्रकारान्तरेण न च स्वकपोलकल्पनया वा । प्रतिपेदे प्रत्युत्तरं ददौ । धातूनामनेकार्थत्वात् । यद्वा यदा तेनानुयुक्तोऽभूद् याज्ञवल्क्यस्तदा एतया निविदा कर्त्र्या स ह याज्ञवल्क्यः प्रतिपेदे प्राप्तोऽभूत । सा निवित्तस्मिन्काले तस्य स्मृताऽभूदित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे कर्मणि प्रत्ययः । निवेद्यते ज्ञाप्यते संख्या यया सा निविद् । यद्वा निवेदयति ज्ञापयति भावं या सा निविद् । यद्वा निवेद्यते ज्ञायते भावो यथा सा निविद् । मन्त्रैकदेशा मन्त्रावयवा मन्त्रपदानि च निवित्संज्ञकानि । इममर्थं विस्पष्टयति । वैश्वदेवस्य विश्वे च देवा विश्वदेवाः सर्वदेवाः विश्वदेवानामयं वैश्वदेवः सर्वदेवगुणवर्णनपरको मन्त्र इत्यर्थः । तस्य निविदि अवयवे यावन्तो यत्संख्याका देवा उच्यन्ते । तया निविदा तावन्तो देवाः प्रतिपेद इत्यर्थः । सम्प्रति निविदं दर्शयति—"त्रयश्च त्री च शता" "त्रयश्च त्री च सहस्रा" इति, हे विदग्ध ! देवाः त्रयश्च सन्ति । पुनः त्री च शता देवानां त्रीणि शतानि च सन्ति । पुनः त्रयश्च त्री च सहस्रा देवाः त्रयः त्रीणि सहस्राणि च वर्तन्ते । इतिनिविदा द्वारभूतयोत्तरं श्रुत्वा शाकल्यो होवाच ओमिति । ओमिति स्वीकारे । हे याज्ञवल्क्य ! या त्वया देवसंख्या प्रोक्ता सा तथ्या तावत्येव देवसंख्यात्र न संदेहः । यदा गार्गी नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति । सर्वानुपस्थितानन्नूचानानब्रवीत् । तदा केचन बोद्धारो याज्ञवल्क्यस्य प्रतिभां लोकोत्तरां विदित्वैनं ब्रह्मिष्ठं मेनिरे । मत्वा च योषमासाञ्चक्रिरे । केचित्तु गार्गीवचनमनुचितमहितञ्च मत्वा चुकुपुः । स्त्रीवचनेऽनास्थाञ्च प्रकटीकृत्य तामेव भर्त्सयामासुः । तत्रासीत् कोऽपि शकलस्य पुत्रः । स च याज्ञवल्क्यस्य राजसभायां ब्रह्मिष्ठत्वोत्पादिकां सर्वश्रेष्ठां प्रतिष्ठां सोढुं न शशाक । एष शकलपुत्रो विदग्धनामा । इदं नाम तावद्गुणमस्य प्रकटयति । विशेषेण दग्धो विदग्धः । याज्ञवल्क्यप्रतिष्ठाया असहमानतया सम्यग्भस्मीभूत इत्यर्थः । अतो विदग्ध इति नामनिर्देशः । किन्तु विदग्धो विद्वानपि वर्तते । इत्युभयार्थद्योतकः । विशेषेण दग्धो निपुणः । सभायां यः कश्चिद्विद्वत्तरोस्ति सम्प्रति स प्रष्टुमायाति, अनेनावश्यम्भावी-याज्ञवल्क्यपराजय इत्यपि ध्वनयति विदग्धशब्दः । एवं शकलं खण्ड एकदेश इत्यर्थः । तस्य पुत्रः शाकल्यः । अवयविदेव न सर्वज्ञ इत्याक्षेपः । यद्वा शं कल्याणं कलयति करोति इति शकलः कल्याणकारी तस्य पुत्रोप्यस्माकं कल्याणं साधयिष्यतीत्याशंसा । शकलो नाम कश्चित् विबुधधौरेयोऽपि तत्सामयिकः तस्यौरसेनापि तथैवावस्थेयमित्यादरः ॥ १ ॥ (क)

भाष्याशय—जब सब उपस्थित अनूचानों से गार्गी ने कहा कि हे ब्राह्मणो ! आप लोगों का इस ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य से विवाद करना अनुचित है । नमस्कार करके अपने को इस अपराध से मुक्त करें । आप लोगों में से कोई भी इस ब्रह्मवेत्ता को न जीत सकेगा । तब किन्हीं योद्धाओं ने याज्ञवल्क्य की लोकोत्तर प्रतिभा जान उन्हें ब्रह्मिष्ठ माना और मानकर चुप होगये परन्तु किन्हीं को गार्गी का वचन अनुचित और अहित प्रतीत हुआ, इस हेतु क्रुद्ध हुए । स्त्री के वचन में अनादर दिखा उसी को ऊंच नीच कहने लगे । उस सभा में उस समय एक कोई शकल ऋषि का पुत्र था वह याज्ञवल्क्य

की ब्रह्मिष्ठत्व प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा को न सह सका और अपने जानते कठिन प्रश्न पूछने लगा। इसका नाम विदग्ध था, यह नाम ही इसके गुण को प्रकट करता है। यथा—वि+दग्ध=जो अच्छे प्रकार से जला हो उसे विदग्ध कहते हैं अर्थात् राजसभा में याज्ञवल्क्य की प्रतिष्ठा को न सहकर क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो उठा। इस हेतु यहां "विदग्ध" नामका निर्देश हुआ है। यह तो आक्षेप है परन्तु "विदग्ध" बड़े निपुण को भी कहते हैं। इस हेतु यह शब्द दोनों अर्थ को कहता है अर्थात् अब सभा में जो सब से बड़ा विद्वान् है वह याज्ञवल्क्य से पूछने को आता है। अवश्य अब इनका पराजय होगा। इस अभिप्राय को भी यह शब्द ध्वनित करता है। इसी प्रकार "शाकल्य" शब्द भी द्व्यर्थ प्रतिपादक है। शकल=खण्ड, अवयव, एकदेश आदि को कहते हैं। उसका पुत्र वा तत्सम्बन्धी शाकल्य अर्थात् यह अवयव विद्=खण्डविद् है सर्ववित् नहीं है। किसी पदार्थ के एक खण्ड को वा एक अवयव को जानता है। सम्पूर्ण का ज्ञाता नहीं। यह तो आक्षेप है (शम् कल्याणम् कलयति) कल्याण के करनेवाले को भी "शकल" कहते हैं उसका पुत्र शाकल्य। यह कल्याणकर्ता का पुत्र है अवश्य हम लोगों का भी कल्याण करेगा। यह इसकी प्रशंसा है। इस प्रकार "विदग्ध" और "शाकल्य" दो २ अर्थ के सूचक शब्द हैं। "निविद्" नि+विद् धातु से बनता है मन्त्र के पदों का नाम निविद् है। बहुत से मन्त्र ऐसे हैं जिनके एक २ टुकड़े से काम चल सकता है। इस अवस्था में सम्पूर्ण मन्त्र कहने की आवश्यकता नहीं होती। इस हेतु यज्ञादि अनुष्ठान के समय बोलने के लिये मन्त्रों से चुन २ करके बहुत से पद एकत्रित किये हुए हैं वा अब भी हो सकते हैं। उन्हीं पदों का नाम निविद् है जिससे कि आशय विदित हो जाय (वैश्वदेवस्य) विश्व=सब। देव=पदार्थ। वेदों में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि एक २ देव के नाम से एक २ मन्त्र आए हैं परन्तु कहीं २ सब देवों का वर्णन एक साथ ही किया है। वह सब मन्त्र विश्वेदेव सम्बन्धी कहलाता है। जो मन्त्र ऐसे हैं उन्हें वैश्वदेव मन्त्र कहते हैं ॥ १ ॥ (क)

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्द्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥ १ ॥ (ख)

अनुवाद—पुनः शाकल्य विदग्ध पूछते हैं—विदग्ध—हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं। याज्ञवल्क्य—तैंतीस। विदग्ध—हां ठीक है। ये याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं। याज्ञवल्क्य—छः। विदग्ध—हां ठीक है। हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं। याज्ञवल्क्य—दो। विदग्ध—हां ठीक है। हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं। याज्ञवल्क्य—अध्यर्द्ध (इसका अर्थ ९ वीं कण्डिका में देखो) विदग्ध—हां ठीक है। हे याज्ञवल्क्य ! कितने ही देव हैं। याज्ञवल्क्य—एक। विदग्ध—हां ठीक है। हे याज्ञवल्क्य ! वे तीन और तीनसौ (३०३) और तीन और तीन सहस्र (३००३) देव कौन हैं ? अर्थात् उन तीनसौ तीन और तीन सहस्र तीन देवों के नाम बतलावें ॥ १ ॥ (ख)

पदार्थ—इसके पदार्थ सहज हैं ॥ १ ॥ (ख)

भाष्यम्—पुनर्विदग्धः पृच्छति। विदग्धः—याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति। याज्ञवल्क्यः—त्रयस्त्रिंशत्। विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति। याज्ञ-

वल्क्यः—षड् । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—त्रयः । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—द्वौ । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—अध्यर्धम् । विदग्धः—ओम् याज्ञवल्क्य ! कत्येव देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—एकः । विदग्धः—ओम् कतमे ते "त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा इति । सर्वपदान्यत्रातिरोहितार्थानि । अध्यर्द्धपदमग्रे (९) व्याख्यास्यते । देवसंख्यां पृष्ट्वा संख्येयस्वरूपं पृच्छति । ते त्रयो देवाः के सन्ति तान् नाम्ना अभिधेहि । एवं देवानां त्रीणि शतानि । पुनः त्रयो देवाः त्रीणिसहस्राणि च कानि कानि सन्ति । तेषां नामानि कथय ॥ १ ॥ (ख)

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ २ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य बोले कि इन देवों की यह महिमा ही है परन्तु देव तो तेंतीस ही हैं । विदग्ध पूछते हैं कि वे तेंतीसों देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं आठ वसु । एकादश रुद्र । द्वादश आदित्य हैं । यह सब मिलके इकत्तीस होते हैं, बत्तीसवां इन्द्र और तेंतीसवां प्रजापति है ॥ २ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच+देवाः+तु+त्रयस्त्रिंशत्+एव) याज्ञवल्क्य बोले कि हे विदग्ध ! देव तो तेंतीस (३३) ही हैं । भला जब देव तेंतीस (३३) ही हैं तो आपने उस निविद् के द्वारा ३०३ और ३००३ देव हैं यह कैसे कहा था, क्या आप झूंठ भी बोलते हैं । इस पर कहते हैं—(एषाम्+एते+महिमानः) इन तेंतीस देवों के ही ये सब महिमा हैं, वास्तव में देव तेंतीस ही हैं । तब विदग्ध इतनी ही संख्या को स्वीकार करके पूछते हैं । (ते+त्रयस्त्रिंशत्+कतमे) वे तेंतीस देव कौन हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(अष्टौ+वसवः+एकादश रुद्राः+द्वादश+आदित्यः+ते+एकत्रिंशत्) आठ (८) वसु, ग्यारह (११) रुद्र और द्वादश (१२) आदित्य । ये सब मिलकर इकत्तीस होते हैं और (इन्द्रः+च+एव+प्रजापतिः+च+इति) इन्द्र और प्रजापति तेंतीसवें हैं, ये ही तेंतीस देव हैं ॥ २ ॥

भाष्यम्—स इति । हे विदग्ध ! देवास्तु त्रयस्त्रिंशदेव वर्तन्ते । तर्हि तया निविदा देवानां त्र्युत्तराणि त्रीणि शतानि । पुनः त्र्युत्तराणि त्रीणि सहस्राणि च त्वया किमवेदयोक्तानि । किं मिथ्यापि त्वं भाषसे । इत्यत आह—एतेषां त्रयस्त्रिंशतो देवानां पूर्वोक्ता महिमान एव विभूतय एव । न च सा निविद् वास्तवेन देवानामियतीं संख्यां ब्रवीति । त्रयस्त्रिंशतो देवानामेव तया संख्यया महिमानं प्रकटयति । इत्युक्तो विदग्धस्तावतीमेव संख्यां स्वीकृत्य संख्येयस्वरूपं पृच्छति । हे याज्ञवल्क्य ! ते त्रयस्त्रिंशद्देवाः कतमे सन्ति । याज्ञवल्क्य आह—अष्टौ वसवः । एकादश रुद्राः । द्वादश आदित्याः । एते मिलित्वा एकत्रिंशद् भवति । इन्द्रश्च प्रजापतिश्च एतौ द्वौ देवौ त्रयस्त्रिंशौ । त्रयस्त्रिंशतो पूरणावित्यर्थः ॥ २ ॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

अनुवाद—विदग्ध पूछते हैं कि वसु कौन हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु हैं क्योंकि इनमें ही यह सब वसु (धन वा वस्तु) निहित है, इस हेतु ये वसु कहलाते हैं ॥ ३ ॥

पदार्थ—(कतमे+वसवः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! वे वसु कौन हैं ? उनके नाम आप कहें । आगे याज्ञवल्क्य नाम गिनाते हैं (अग्निः+च) अग्नि और अग्नि के सहचर वा आग्नेयप्रधान पदार्थमात्र इसी प्रकार "च" का अर्थ यहां सर्वत्र करना (वायुः+च) वायु (अन्तरिक्षम्+च) अन्तरिक्ष=आकाश (आदित्यम्+च) सूर्य (द्यौः+च) द्युलोक (चन्द्रमाः+च) चन्द्रमा (नक्षत्राणि+च) और नक्षत्र (एते+वसवः) ये आठों वसु हैं (हि) क्योंकि (एतेषु) इनमें (इदम्+सर्वम्) यह सब (वसु) धन वा वस्तुमात्र (हितम्) निहित है (तस्मात्) इस हेतु (वसवः+इति) ये वसु कहलाते हैं अर्थात् इन आठों के अधीन धन वा वस्तुमात्र है अथवा इनके आश्रय से ही जीव वसते हैं अथवा ये सब अपने ऊपर सब जीवों को बसाए हुए हैं, इत्यादि हेतु से ये वसु कहाते हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—कतम इति । वसूनां नामानि पृच्छति । याज्ञवल्क्यो नामानि गणयति । अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौ, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि, एते अष्टौ वसवो नाम्ना कीर्त्तिताः । चकारादग्न्यादीनां सहचराणां तत्तद्गुणविशिष्टानां च सर्वेषां ग्रहणम् । कथमेते वसवो निगद्यन्ते । तत्र व्युत्पत्तिमाह—एतेषु अष्टसु वसुषु सर्वं वसु धनं वस्तु वा पदार्थमात्रम्वा हितं निहितं वर्त्तते । सर्वं वस्तु स्वस्मिन्स्वस्मिन्वासयन्ति उत सर्वं वस्तु एतेषु वसति अतो वसवः । एतेषामाधारेण जीवानां वासोऽपि । एतेषां निमित्तादेव धनं वासो वा जीवानां प्राप्यते । तस्माद्धेतोरेते वसव उच्यन्ते ॥ ३ ॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

अनुवाद—विदग्ध पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! रुद्र कौन हैं ? याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं कि पुरुष में जो ये दश प्राण हैं और एकादश आत्मा (मन वा जीवात्मा) वे जब इस मर्त्य शरीर से ऊपर जाते हैं तब रुला देते हैं । जिस हेतु वे रुलाते हैं उस निमित्त ये रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(कतमे+रुद्राः+इति) विदग्ध पूछते हैं कि रुद्र कौन हैं ? इनके नाम आप कहें । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—(पुरुषे) प्राणीमात्र में जो (इमे+दश) ये दश (प्राणाः) प्राण हैं (पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय) अथवा प्राण अपान आदि जो दश प्राण हैं और (एकादशः) ग्यारहवां (आत्मा) मन वा जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र हैं । ये रुद्र क्योंकर कहलाते हैं सो कहते हैं (यदा) जब (मर्त्यात्+अस्मात्+शरीरात्) इस मर्त्य शरीर से (उत्क्रामन्ति) ऊपर को जाते हैं अर्थात् इस शरीर को त्याग अन्य नव शरीर की प्राप्ति के लिये जाते हैं (अथ) तब (रोदयन्ति) मृतपुरुष के पुत्र, बन्धु, बान्धवादि सम्बन्धियों को रुला देते हैं (तत्) इस हेतु (यत्) जिस हेतु (रोदयन्ति) रुला देते हैं (तस्मात्+रुद्राः+इति) इस हेतु रुद्र कहलाते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—कतमे इति । विदग्धो रुद्रनामधेयानि पृच्छति—याज्ञवल्क्यः समादधाति—हे विदग्ध ! पुरुषे पुरुष इति प्रधानतयोक्तिः । प्राणिमात्रे इमे प्रसिद्धवन्निर्देशः । इमे प्रसिद्धाः ये दश दशसंख्याकाः प्राणाः सन्ति । पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि

एते दश । प्राणशब्देनेन्द्रियाणां ग्रहणम् । अथवा प्राणापानादयो दश । एकादश आत्मा एकादशानां पूरण एकादशः । आत्मा मनः । एते एकादश रुद्राः । कथमेते रुद्राः ? अतो व्युत्पत्तिं दर्शयति—हे विदग्ध ! ते रुद्राः । यदा यस्मिन् काले अस्मान्मर्त्यात् मरणधर्मशीलात् शरीराद्देहात् । कर्मफलोपभोगक्षये । उत्क्रामन्ति ऊर्ध्वं गच्छन्ति शरीरं विहाय अन्यन्नवतरं ग्रहीतुं गच्छन्ति । अथ तदा मनसा वाऽऽत्मना सह इमे दश प्राणाः मृतसम्बन्धिनः पुत्रादीन् रोदयन्ति रोदनहेतवो भवन्ति । तत्तत्र यद्यस्माद्धेतोः रोदयन्ति तस्मादेव ते रुद्राः कथ्यन्ते ॥ ४ ॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

अनुवाद—विदग्ध पूछते हैं कि आदित्य कौन है ? याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—वर्ष के जो ये द्वादश मास हैं, ये ही आदित्य हैं क्योंकि ये सब को लेते हुए जा रहे हैं । जिस हेतु इन सब को लेते हुए जा रहे हैं, इस हेतु ये आदित्य कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थ—विदग्ध क्रमके अनुसार आदित्य के नाम पूछते हैं—(कतमे+आदित्याः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य कौन हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं (संवत्सरस्य+द्वादश+मासाः) वर्ष के जो चैत्रादि बारह मास हैं (एते+आदित्याः) वे ही आदित्य हैं (हि) क्योंकि (एते) ये द्वादश मास (इदम्+सर्वम्) प्राणियों के सम्पूर्ण आयु को (आददानाः) ग्रहण करते हुए (यन्ति) जारहे हैं=घूम रहे हैं, पुनः २ गतागत कररहे हैं (यत्) जिस हेतु (ते) वे द्वादश मास (इदम्+सर्वम्+आददानाः) प्राणियों के सब आयु को लेते हुए (यन्ति) घूमरहे हैं (तस्मात्) उस हेतु ये (आदित्याः) आदित्य कहलाते हैं ॥ ५ ॥

भाष्यम्—कतम इति । क्रमानुरोधेनाऽऽदित्यनामानि पृच्छति । विदग्धः—आदित्याः कतमे इति । याज्ञवल्क्यः समादधाति—हे विदग्ध ! संवत्सरस्य वर्षस्य ये द्वादश चैत्रादयो मासाः प्रसिद्धाः सन्ति । वै निश्चयेन एत एव आदित्या उच्यन्ते नान्ये । कथमेतेषामादित्यत्वमिति व्युत्पादयति । हि यतः एते द्वादश मासाः । इदं सर्वम् । सर्वेषां प्राणिनां सर्वमायुरित्यर्थः । आददानाः गृह्णानाः । यन्ति परिवर्तन्ते । यद्यस्माद्धेतोः ते सर्वमिदमाददाना यन्ति । तस्मात्ते आदित्याः । इति ॥ ५ ॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

अनुवाद—विदग्ध पू०—इन्द्र और प्रजापति कौन हैं ? याज्ञवल्क्य क०—स्तनयित्नु ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है । विदग्ध—स्तनयित्नु कौन है ? याज्ञवल्क्य—अशनि । विदग्ध—यज्ञ कौन है ? याज्ञवल्क्य—पशु ॥ ६ ॥

पदार्थ—पदार्थ इसके सरल हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—कतम इति । क्रमादिन्द्रप्रजापती पृच्छति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । यज्ञः प्रजापतिः । इत्युत्तरम् । उभयोः शब्दयोराशयमज्ञात्वा पुनः पृच्छति । कतमः स्तनयित्नुः, इति प्रश्नः । अशनिरित्युत्तरम् । कतमो यज्ञ इति प्रश्नः । पशव इत्युत्तरम् ॥ ६ ॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदं सर्वं षडिति ॥ ७ ॥

अनुवाद—विदग्ध—छः कौन २ हैं ? याज्ञवल्क्य—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ। ये छः हैं, ये छः ही सब हैं ॥ ७ ॥

पदार्थ—विदग्ध पूछते हैं—(कमते+षड्+इति) हे याज्ञवल्क्य ! आपने पूर्व छः देव कहे थे, वे छः देव कौन २ हैं ? सो कहते हैं याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(अग्निः+च) अग्नि के सहचर सहित अग्नि। इसी प्रकार पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक (एते+षट्) ये ही छः (हि) क्योंकि (एते+षट्) ये ही छः (इदम्+सर्वम्) सब हैं अर्थात् इन छः के ही अन्तर्गत सब हैं। पूर्व में जो आठ वसु हैं, उनमें चन्द्रमा और नक्षत्र को छोड़कर छः रहते हैं ॥ ७ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! त्वया षड् देवाः पूर्वमुक्ताः। ते कतमे षड् वर्तन्ते। समाधत्ते—अग्निश्च पृथिवी च वायुश्च अन्तरिक्षश्च आदित्यश्च द्यौश्च पूर्वमग्न्यादयो ये अष्टौ देवा वसुत्वेन पठिताः। तेषां मध्ये चन्द्रमसं नक्षत्राणि च त्यक्त्वा। षड् भवन्ति। इदं षट्। षट्स्वेव सर्वेषामन्तर्भवति। नह्येभ्योऽष्टाभ्योऽन्ये केऽपि षड् देवाः सन्तीति भावः ॥ ७ ॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कमतौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्द्ध इति योऽयं पवत इति ॥ ८ ॥

अनुवाद—विदग्ध—वे तीनों देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य—ये ही तीनों लोक क्योंकि इनमें ही सब देव हैं। विदग्ध—वे दो देव कौन हैं ? याज्ञवल्क्य—अन्न ही और प्रजापति ही। विदग्ध—अध्यर्द्ध कौन है ? याज्ञवल्क्य—जो यह बहता है अर्थात् वायु ॥ ८ ॥

पदार्थ—विदग्ध पूछते हैं (कतमे+ते+त्रयः+देवाः) हे याज्ञवल्क्य ! आपने पूर्व में जो कहा था कि देव तीन हैं, वे कौन तीन हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया (इमे+एव+त्रयः+लोकाः) हे विदग्ध ! ये ही तीन लोक तीन देव हैं (हि) क्योंकि (इमे+सर्वे+देवाः) ये सब देव (एषु) इन ही तीनों लोकों में अन्तर्गत होते हैं। भाव यह है कि पृथिवी और अग्नि मिलाकर एक देव। अन्तरिक्ष और वायु मिलाकर दूसरा देव। द्युलोक और आदित्य मिलाकर तीसरा देव। ये ही तीन देव हैं। इन में ही सब का अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ये ही तीन देव हैं। प्रथम आठ को छः में अन्तर्भाव कहा। अब उन छवों को भी तीन में अन्तर्भाव है। आगे पुनः विदग्ध पूछते हैं कि (कतमौ+तौ+द्वौ+देवौ) वे दोनों देव कौन हैं। इस प्रश्न के उत्तर में (अन्नञ्चैव+प्राणश्च) अन्न और प्राण ही दो देव हैं ऐसा याज्ञवल्क्य कहते हैं। भाव यह है कि सकल पदार्थ दो २ प्रकार के हैं। एक नित्य और दूसरे अनित्य। जो परमाणुरूप है वह तो नित्य है और जो कार्यरूप है सो अनित्य है। प्राण शब्द से नित्य पदार्थ का और अन्न शब्द से कार्य रूप पदार्थ का ग्रहण है। इन दो में ही सब है अतः दो देव कहाते हैं। आगे (कतमः+अध्यर्धः+इति) विदग्ध पुनः पूछते हैं। अध्यर्ध कौन है ? उत्तर—(यः+अयम्) जो यह (पवते) बहता है अर्थात् वायु ही अध्यर्द्ध है। अध्यर्द्ध को क्यों कहते हैं सो आगे स्वयं कहेंगे ॥ ८ ॥

भाष्यम्—विदग्धः—हे याज्ञवल्क्य ! कतमे ते त्रयो देवाः सन्ति । याज्ञवल्क्यः—इमे प्रसिद्धास्त्रयो लोका एव त्रयो देवाः । हि यतः एषु त्रिषु लोकेषु इमे सर्वे देवाः अन्तर्भवन्ति । विदग्धः—कतमौ तौ द्वौ देवौ इति । याज्ञवल्क्यः—अन्नञ्चैव प्राणश्च इति । विदग्धः—कतम अध्यर्द्धः इति । याज्ञवल्क्यः—योऽयं पवते । वहति वायुरित्यर्थः ।

पृथिवीमग्निं चैकीकृत्यैको देवः । अन्तरिक्षं वायुञ्चैकीकृत्य द्वितीयो देवः । दिवमादित्यञ्चैकीकृत्य तृतीयो देवः । एष्वेव सर्वे देवा अन्तर्भवन्ति । अतस्त्रय एव देवाः । अग्रे द्वौ देवावभिहितौ अन्नञ्च प्राणश्च । सर्वः पदार्थो द्विविधः । नित्योऽनित्यश्च । परमाणुरूपो नित्यः । कार्यरूपोऽनित्यः । प्राणशब्दो नित्यत्वमाह—अन्नशब्दः कार्यत्वमिति विवेकः । ततोऽध्यर्धपदेन वायुर्विवक्षितः । अस्य कारणमपि स्वयं वक्ष्यति ॥ ८ ॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्द्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्द्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ॥ ९ ॥

अनुवाद—उस विषय में वे (पण्डितगण) कहते हैं कि यह (वायु) एक बहा करता है तब क्योंकर यह अध्यर्ध कहाता है । जिस हेतु इस (वायु) में यह सब ही परमवृद्धि को प्राप्त होता, अतः इसको अध्यर्ध कहते हैं । एक देव कौनसा है ? प्राण है । वह ब्रह्म है उसको "त्यत्" कहते हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—वायु को अध्यर्ध क्यों कहते हैं, इसका कारण अब दिखला रहे हैं (तद्+आहुः) इस वायु के विषय में तत्त्ववित् पुरुष कहते हैं कि (यद्+अयम्+एकः+इव+एव+पवते) जिस हेतु यह वायु अकेलासा ही बहता दीखता (अथ+कथम्+अध्यर्धः+इति) तब इसको अध्यर्ध कैसे कहते । अधि+अर्द्ध शब्द में अर्द्ध शब्द का आधा अर्थ जान यह शङ्का की गई है । इसका उत्तर देते हैं—(यद्+अस्मिन्+इदम्+सर्वम्) जिस हेतु इस वायु की सत्ता रहने पर ही यह स्थावर और जंगम पदार्थ (अध्यार्ध्नोत्=अधि+आर्ध्नोत्) अधि=अधिक । ऋद्धि वृद्धि अर्थात् परम वृद्धि को प्राप्त होता है (तेन+अध्यर्धः+इति) इस कारण इस वायु को अध्यर्ध कहते हैं । अब अवशिष्ट अन्तिम प्रश्न पूछते हैं—(कतमः+एकः+देवः+इति) हे याज्ञवल्क्य ! एक देव कौन है सो अब कहिये (प्राणः+इति) वह एक देव प्राण है (सः+ब्रह्म) वह यहां ब्रह्म है अर्थात् प्राण शब्द से यहां ब्रह्म का ग्रहण है (त्यत्+इति+आचक्षते) उस ब्रह्म को "त्यत्" ऐसा कहते हैं । त्यत् और तत् ये दोनों शब्द एकार्थक हैं । ब्रह्म को प्रत्यक्षरूप से कोई दिखला नहीं सकता, अतः उसको "त्यत्=वह" इस नाम से पुकारते हैं । एक ही ब्रह्म परम देवता है, यह अन्त में याज्ञवल्क्य ने निर्णय किया ॥ ९ ॥

भाष्यम्—तदेति । शङ्कामुत्थाप्य व्याचष्टे—तत्तत्र । कोविदा आहुः । यदयं वायुः । एक इवैव एकाकी सन्नेव पवते वहति । अथ तर्हि कथमध्यर्द्धः स वायुरुच्यते इति । उत्तरम्—यद्यस्माद्धेतोः । अस्मिन्वायौ सत्येव इदं सर्वं स्थावरं जंगमञ्च जगत् अध्यार्ध्नोत् अधि आर्ध्नोत् । अधि अधिकामृद्धिं प्राप्नोति । वायुनैव सर्वे जीवाः प्राणवन्तो भवन्ति । तेनायं वायुरध्यर्ध उच्यते । इत्युत्तरं श्रुत्वाऽवशेषमन्तिमं प्रश्नं पृच्छति । कतम एको देव इति । समाधत्ते—प्राणः । स प्राणो ब्रह्म न बाह्यवायुः । तच्च ब्रह्म त्यदित्याचक्षते परोक्षाभिधायकेन त्यच्छब्देन तद्ब्रह्म कथ्यते । यतस्तत्प्रत्यक्षतया न गृह्यते । एकस्मिन्नस्मिन् ब्रह्मणि सर्वेषां देवानामन्तर्भावतया एक एव देवो निर्णीतः ॥ ९ ॥

पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच * ॥ १० ॥

अनुवाद—जिस (पुरुष) का पृथिवी ही आयतन, अग्नि ही लोक, मन ही ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है । उस पुरुष को जो निश्चित रूप से जाने । हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी है । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं, मैं उस पुरुष को जानता हूं । इसमें सन्देह नहीं जो यह "शारीरपुरुष" है वही यह है । हे शाकल्य ! पूछते ही जाओ । तब पुनः शाकल्य पूछते हैं उसका देवता (कारण) कौन है ? याज्ञवल्क्य स०—अमृत (रज वीर्य) ॥ १० ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य से शाकल्य पूछते हैं—(यस्य) जिस पुरुष का (पृथिवी+एव+आयतनम्) पृथिवी ही शरीर है (अग्निः+लोकः) अग्नि ही ठहरने का कारण वा साधन है (मनः+ज्योतिः) मन ही ज्योति=प्रकाश है पुनः (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीव का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (वै) निश्चय करके (यः+विद्यात्) जो जाने अर्थात् जो विधिपूर्वक उस पुरुष को जानता है (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (सः+वै+वेदिता+स्यात्) वही वेदिता अर्थात् ज्ञानी हो सकता है । दूसरा नहीं । यदि आप उस पुरुष को जानते हैं तो आप ही वेदिता हैं इसमें सन्देह नहीं । यदि नहीं जानते हैं तो आपका मिथ्या अहंकार है । शाकल्य के इस प्रश्न को सुनकर याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—यदि इस पुरुष के जानने से ही कोई ज्ञानी वा श्रेष्ठ कहलावे तो सुनो—(तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+वेद) मैं जानता हूं (वै) निश्चय ही । इसमें सन्देह नहीं (यम्) जिस पुरुष को (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा के उत्तम शरण (आत्थ) आप कहते हैं अर्थात् जिसको आप जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्त त्रिगुणविशिष्ट कहते हैं उस पुरुष को मैं जानता हूं । यदि जानते हैं तो आप उसके नाम को क्यों नहीं कहते चुप क्यों हैं ? कहिये । इस शङ्का पर याज्ञवल्क्य कहते हैं—(यः+अयम्) जो यह (शारीरः+पुरुषः) शरीरोद्भव=शरीर से सम्बन्ध रखने वाला पुरुष है अर्थात् स्थूल शरीररूप जो पदार्थ है (सः+एव+एषः) वही यह है । इस प्रकार समाधान करके पुनः शाकल्य को पूछने के लिये प्रेरणा करते हैं (शाकल्य) हे शाकल्य ! (वद+एव) आप प्रश्न करने से विश्राम क्यों लेते हैं ? आप जिस पुरुष के विषय में पूछते हैं वह यह स्थूल शरीर है । पूछते ही चलिये । आपको जो २ कुछ कठिन प्रश्न पूछना हो वह सब पूछते चलिये । यह सुन क्रोध में आ ईर्ष्या के विवश हो अपने जानते कठिन प्रश्न शाकल्य पूछते हैं (तस्य) उस

* पृथिव्ये यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥१०॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ । ११ ॥

यह पाठ माध्यन्दिन शाखा के अनुसार है कण्वशाखा में अग्निर्लोकः । हृदयं लोकः चक्षुर्लोकः । इस प्रकार बतलाया गया है परन्तु माध्यन्दिन शाखा में सर्वत्र "चक्षुर्लोकः" ऐसा ही पाठ है ॥

पुरुष का (देवता) कारण (का) कौन है ? यदि आप को अहङ्कार है तो कहें कि उस पुरुष का कारण कौन है ? (अमृतम्) हे शाकल्य ! उसका कारण अमृत है (इति ह+उवाच) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यहां "अमृत" शब्द का अर्थ रज और वीर्य है ॥ १० ॥

भाष्यम्—पृथिवीति । हे याज्ञवल्क्य ! यस्य पुरुषस्य पृथिवी एव नत्वन्यत् । आयतनमाश्रयः शरीरमस्ति । यस्य शरीरं पार्थिवांशाधिक्यविशिष्टं वर्त्तत इत्यर्थः । पुनः यस्याग्निर्लोकः आधारः स्थानम् । उष्णस्पर्शजनकाग्नेयशक्तिः यस्य स्थितिकारणम् । पुनः यस्य मनोज्योतिः मनुतेऽनेन मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकोऽन्तःकरणधर्मविशेषः । ज्योतिः प्रकाशः । हे याज्ञवल्क्य ! तं पुरुषं पूर्वोक्तविशेषणत्रयविशिष्टमीदृशं पुरुषं यो वै पुरुषः । विद्यात् जानीयात् । स वै वेदिता स्यात् स एव निश्चयेन विज्ञानी ब्रह्मविदां ब्रह्मिष्ठ उच्यते नान्यः । पुनः कथंभूतं तं पुरुषम्—सर्वस्यात्मनः परायणम् । आत्मनो जीवात्मनः परायणं परमाश्रयः । ईदृशं पुरुषं यो वै वेद स वेदिता स्यादित्यहं मन्येऽन्ये चापि सर्वे मुनयोऽपि च तथैव मन्यन्ते । इत्थं शाकल्येन पृष्टो याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—हे शाकल्य ! यद्यस्यैव पुरुषस्य वेदनेन वेदिता उच्येत तर्हि त्वं शृणु—त्वं यं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणम् । अत्थ कथयसि तं पुरुषमहं वेद जानामि । वैशब्दो निश्चयं द्योतयति । तस्य पुरुषस्य मम सम्यग्ज्ञानमस्तीत्यत्र त्वया न संशयितव्यम् । यदि त्वं तं पुरुषं जानासि तर्हि नामनिर्देशेन कथं न कथयसि कथय कथं तूष्णीमास्से । इत्येवं क्रोधाग्निप्रज्वलितेन शाकल्येनोक्तो याज्ञवल्क्यो ब्रवीति । शृणु—य एवायं शारीरः पुरुषः स एष त्वयाभिमतः । शरीरे भवः शारीरः । पुरुषशब्देन पदार्थोवस्तु स्थूलशरीररूपं वस्त्वित्यर्थः । इत्थं समाधानं विधाय याज्ञवल्क्यः शाकल्यं प्रति ब्रवीति—हे शाकल्य ! त्वं वदैव कथं त्वं प्रश्नाद्विरमसि । यद्यत् तव मनसि गूढं प्रष्टव्यं वर्तते तत्सर्वं वदैव पृच्छैव । पुनरपि पृच्छेति भावः । इत्येवं कोपितो व्याकुलीभूतो शाकल्यः पृच्छति । यदि त्वं पृच्छायै मां प्रेरयसि तर्हि पृच्छामि समाधत्स्व । तस्य पुरुषस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणमिति मम प्रश्नः अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्रैव देवताशब्देन कारणस्य ग्रहणम् । समाधत्ते याज्ञवल्क्यः । तस्य देवता अमृतमस्ति । वक्ष्यमाणेषु पर्य्यायेष्वपि सामान्यतोऽयमेवार्थो ज्ञातव्यः । यत्र यत्र विशेषता तत्र तत्र व्याख्यास्यते ॥ १० ॥

भाष्याशय—शाकल्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस पुरुष को जानते हैं जिसका शरीर पार्थिवप्रधान हो अग्नि लोक (स्थान=रहने की जगह) मन प्रकाश है और जो जीवात्मा भी परायण (उत्तम आश्रय हो) याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि हां मैं उस पुरुष को जानता हूं यह शरीर पुरुष है अर्थात् माता पिता अन्न और साधारण और असाधारण दोनों कारणों से जो यह स्थूल शरीर बना हुआ है वही यह पुरुष है जिसको आप पूछते हैं क्योंकि इस शरीर में पृथिवी का अंश अधिक दृष्टिगोचर होता है । अतः इसका पृथिवी ही आयतन है । अग्निलोक=और यह अग्नि के ऊपर स्थित है अर्थात् आग्नेय शक्ति के द्वारा चर्म, मांस, मज्जा, रुधिर, अस्थि, वीर्य ये सब अपने २ कार्य कर रहे हैं । ज्यों २ इसमें से वृद्धावस्था में अग्निशक्ति निकलती जाती है त्यों २ यह शरीर शिथिल पड़ता जाता है । यह प्रत्यक्ष विषय है । मरने के समय में सर्वथा शीतल हो जाता है । इस हेतु यह शरीर आग्नेयशक्ति के ऊपर ही स्थित है । इस हेतु इसका लोक अग्नि है ऐसा कहा गया है ।

मनोज्योति—जब स्थान हुआ तब उसमें प्रकाश भी होना आवश्यक प्रतीत होता है। अतः कहते हैं कि मन ही इस का प्रकाश है क्योंकि सब इन्द्रिय सब अङ्गावयव अच्छे हैं परन्तु यदि मन न हो तो वह शरीर किसी काम का नहीं रहता। मन के बिगड़ने से ही पागल हो जाता है मन के अच्छे रहने से ही जगत् में पूज्य मान्य विज्ञ विज्ञानी सब कुछ हो सकता है। इस हेतु शरीर का मन ही ज्योति है।।

सर्वस्य आत्मनः परायणम्—आत्मा अनेक हैं इस हेतु सर्वशब्द का प्रयोग है। आत्मा एक प्रकार की जाति है इस हेतु एक वचन का प्रयोग है। सब आत्मा का यह स्थूल शरीर "परायण" है (पर=उत्कृष्ट) अयन गृह, शरण, गमनस्थान, गमन आदि अर्थ होते हैं। जीवात्मा इस शरीर में रहता है; इस हेतु यह शरीर आत्मा का उत्तम स्थान कहिये, उत्तम आश्रय कहिये, शरीर कहिये सब अर्थ घट सकता है। "अमृतम्" इस स्थूल शरीर का कारण क्या है। 'अमृत" जल कारण है अर्थात् रज और वीर्य को यहां अमृत कहा है। इसमें सन्देह नहीं जिससे उत्तम शरीर बन जाता है उसे 'अमृत" ही कहना उचित है। देवता शब्द का अर्थ इस प्रकरण में कारण होता है। यह "पुरुष" शब्द का अर्थ स्वरूप वस्तु पदार्थ आकार है। जैसे शरीरपुरुष=शरीरस्वरूप वा शरीररूप जो वस्तु वा पदार्थ वा आकार और जैसे धर्मपुरुष, पापपुरुष, जलपुरुष, प्राणपुरुष इत्यादि प्रयोग उपचार से होते हैं। यहां पुरुष शब्द का अर्थ पदार्थ है। जलपुरुष अर्थात् जलरूप जो पदार्थ है। इत्यादि भाव जानना ॥ १० ॥

काम एव यस्यायतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच * ॥ ११ ॥

अनुवाद—जिस पुरुष का काम ही आयतन है। हृदय ही लोक है। मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है। उस पुरुष को जो निश्चयरूप से जाने। हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी है। याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं। मैं उस पुरुष को जानता हूं। इसमें सन्देह नहीं जो यह काममय पुरुष है वही यह है। हे शाकल्य ! पूछते ही जाओ। तब पुनः शाकल्य पूछते हैं। उसका देवता (कारण) कौन है ? याज्ञवल्क्य०—स्त्रियां (अर्थात् स्त्रियः उसका कारण हैं) ॥ ११ ॥

पदार्थ—(कामः) विधिपूर्वक गृहाश्रम के अवलम्बन से दाम्पत्यभाव सम्बन्धी जो परमप्रीति है उसको काम कहते हैं (यस्य) जिस पदार्थ का (कामः+एव+आयतनम्) काम ही शरीर है (हृदयम्+लोकः) हृदय देखने का साधन वा रहने की जगह है (मनः+ज्योतिः) मन ही प्रकाश है और जो (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (यः+वै+विद्यात्) जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (सः+वै+वेदिता+स्यात्) वही ज्ञानी हो सकता है। यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा।

* काम एव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोको मनो० य एवासौ चन्द्रे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मन इति होवाच ॥ १७ ॥ शतपथ काण्ड १४। अध्याय ६। ब्राह्मण ९। १४ ॥

शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+वेद) मैं जानता हूं (यम्) जिस को हे शाकल्य ! (त्वम्) आप (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय हैं और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट (आत्थ) कहते हैं (यः+अयम्) जो यह (काममयः+पुरुषः) कामस्वरूप पुरुष=पदार्थ है (सः+एव+एषः) वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वह काममय पदार्थ है । मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूं । शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं (शाकल्य) हे शाकल्य ! (वद+एव) क्यों आप चुप होते हैं पूछते ही जायं । यह सुनकर शाकल्य पूछते हैं (तस्य+का+देवता) उस काम की उत्पत्ति का कारण कौन है ? (इति) यह मेरा प्रश्न है (ह+उवाच) याज्ञवल्क्य ने कहा कि (स्त्रियः+इति) हे शाकल्य ! काम का कारण स्त्रियां हैं क्योंकि स्त्री ही प्रीति का परम स्थान है । इन्हीं से परम प्रीति की उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

भाष्यम्—काम इति । विधिना गार्हस्थ्यधर्मावलम्बनेन दाम्पत्यविषयिका या परमा प्रीतिः स कामः । यस्यायतनं शरीरं काम एवास्ति । हृदयं बुद्धिः । लोकं लोकयति पश्यत्यनेनेति लोक आलोको दर्शनसाधनं हृदयेनैव सर्वो जनस्तं कामं पश्यति । यद्वा लोकः स्थानम् । कामः क्व तिष्ठति । हृदये प्रीतिः हृदये तिष्ठति । अतो हृदयं लोक इति । स च काममयः पुरुषः मनसि पुनः पुनर्ध्यातः सन् उद्दीप्यते । अतस्तस्य कामस्य मनोज्योतिरुद्दीपनसाधनम् । समाधत्ते—यस्य काम एव आयतनमित्यादि । स काममयः पुरुषोऽस्ति । प्रचुरकामः काममयः । स पुरुषः काम एवास्ति । तस्य काममयस्य पुरुषस्य का देवता किमुत्पत्तिकारणमिति शाकल्येनाभिहित इतरः समाधत्ते—स्त्रिय इति परमायाः प्रीतेः कारणं स्त्रिय एव भवन्ति । ताभ्यो हि प्रीत्युत्पत्तिदर्शनाल्लोके । अन्यद् व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

भाष्याशय—शाकल्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस पदार्थ को जानते हैं जिसका आयतन काम है । रहने की जगह हृदय है जिसके मनःस्वरूप प्रकाश है और जो सब जीवात्मा का शरण है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं उस पदार्थ को जानता हूं वह "कामस्वरूप" पदार्थ है क्योंकि काम का शरीर अर्थात् स्वरूप काम ही है । विधिपूर्वक गृहाश्रम को अवलम्बन कर दाम्पत्य विषय की जो परमप्रीति है उसका नाम काम है । वह प्रीति हृदय देश में रहती है इस हेतु इसका "मन ही ज्योति" है इसी हेतु काम को "मनोज" वा "मनसिज" कहते हैं और इसको सब ही जीवात्मा चाहते हैं चींटी से लेकर ज्ञानी पर्य्यन्त इसके वश है । अतः सब आत्मा का यह "परायण" भी है । यह दाम्पत्य संयोग मिलाप से उत्पन्न होता है इस हेतु इसका कारण स्त्रियां हैं ॥ ११ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच * ॥ १२ ॥

* रूपाण्यैव यस्यायतनम् । चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति चक्षुरिति होवाच ॥ १२ ॥ शत० का० ४ । अ० ६ । ब्रा० ७ ॥

अनुवाद— जिस पुरुष का रूप ही आयतन, चक्षु ही लोक, मन ही ज्योति है और जो सब जीव का उत्तम आश्रय है ऐसे पुरुष को जो निश्चितरूप से जाने । हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय वही ज्ञानी हो सकता है । याज्ञ० समा०—जिसको आप सब जीव का आश्रय कहते हैं उस पुरुष को मैं जानता हूं । इसमें सन्देह नहीं आदित्य में जो यह शक्ति है वही यह है । हे शाकल्य ! आप पूछते ही जायं । शाकल्य—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ? याज्ञ०—सत्य ॥ १२ ॥

पदार्थ—(यस्य) जिस पुरुष का (रूपाणि+एव) शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र ये सात रूप हैं । ये ही सात रूप (आयतनम्) शरीर=आश्रय है (चक्षुः+लोकः) नेत्र ही ठहरने की जगह है (मनः+ज्योतिः) मन ही प्रकाश है और (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (यः+वै+विद्यात्) जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य) हे याज्ञवल्क्य ! (सः+वै+वेदिता+स्यात्) वही ज्ञानी हो सकता है । यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा शाकल्य की यह बात सुन याज्ञ० कह०—(तम्+पुरुषम्) उस पुरुष को (अहम्+वेद) मैं जानता हूं (यम्) जिसको हे शाकल्य ! (त्वम्) आप (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट (आत्थ) कहते हैं (यः+अयम्) जो यह (आदित्ये+पुरुषः) आदित्य=सूर्य में जो शक्ति है अर्थात् सूर्यरूपपदार्थ यद्वा आदित्य शब्द का अर्थ नेत्र है । नेत्ररूप जो पदार्थ है (सः+एव+एषः) वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वह आदित्यस्वरूप पुरुष व नेत्रस्वरूप पदार्थ है, मैं उसको अच्छे प्रकार जानता हूं । शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं (शाकल्य) हे शाकल्य ! (वद+एव) क्यों आप चुप होते हैं । पूछते ही जायं । यह सुन शा० पू० (तस्य का देवता) उस रूप की उन्नति का कारण कौन है ? (इति) यह मेरा प्रश्न है (ह+उवाच) याज्ञवल्क्य ने कहा कि (सत्यम्+इति) सत्य=ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति मानी गई है, सत्य का अर्थ चक्षु भी होता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—यस्य पुरुषस्य रूपाणि शुक्ल-नील-पीत-रक्त-हरित-कपिश चित्राणि सप्त आयतनमाश्रयः । चक्षुर्लोकः स्थानम् । मनोज्योतिरित्यादिपूर्ववत् । आदित्ये पुरुषः आदित्यशक्तिः आदित्यस्वरूपः पदार्थः । यद्वा आदित्योपलक्षित चक्षुः पुरुषः आदित्य-पुरुषेणाभिधीयते । तस्य का देवतेति तदुत्पत्तिकारणं पृच्छति । सत्यमिति समाधानम् । सत्यं ब्रह्म । आदित्यपुरुषकारणं ब्रह्मैवास्ति । ब्रह्मावेक्षणतः सर्वोत्पत्तिसमाम्नात् सूर्यतएव सर्वाणि शुक्लादीनि रूपाणि जायन्ते । अतः सूर्यपुरुषस्य रूपाण्यायतनम् । सूर्यप्रकाशानु-ग्रहीतमेव चक्षुः स्वविषयं विषयीकरोति । दृश्यते हि चक्षुर्गतिर्व्याहती रात्रावादित्य-रहितायाम् । प्राणिनां शरीरमध्ये च चक्षुषि विशेषतया सूर्याऽऽलोकग्रहणस्थानम् । अतश्चक्षुर्लोकः । लोक इह स्थानम् । मनसा विनेन्द्रियाणामकिञ्चित्करत्वात् सर्वत्र म ज्योतिर्विवक्षितम् । शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भाष्याशय—शाकल्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! उस पदार्थ को क्या आप जानते हैं जिसका आयतन रूप है । रहने की जगह चक्षु है । मन ज्योति है और जो सर्व जीवात्मा का परायण है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मैं उसको जानता हूं वह आदित्यस्वरूप पदार्थ है (यहां आदित्य का अर्थ नेत्र भी है) इस हेतु "सूर्यस्वरूप व नेत्ररूप पदार्थ" दोनों अर्थ होते क्योंक शुक्ल पीत आदि ही इसके

रूप हैं। जैसे सूर्य में सात रूप हैं वैसे नेत्र में भी सात ही रूप हैं। जो नेत्रेन्द्रिय गोलक है वही इसके रहने की जगह है। इस हेतु चक्षु इसका लोक है। मन से सब का सम्बन्ध है। अतः मन ज्योति है। इसकी उत्पत्ति का कारण सत्य है। देखने से सत्यासत्य का विचार होता है। सत्य के लिये ही इसकी उत्पत्ति है। इसका सत्य ही कारण है सत्य का चक्षु होता है। सूर्यपक्ष में यों संगति है सूर्य की उत्पत्ति विशेषतया नेत्र के लिये है। इस हेतु सूर्य की उत्पत्ति का कारण नेत्र है। इसी हेतु उपनिषदों में चक्षुनिमित्त सूर्य की उत्पत्ति मानी गई है॥ १२॥

आकाश एव यस्याऽऽयतनं श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच * ॥ १३ ॥

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का आकाश ही आयतन श्रोत्र लोक और मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है। हे याज्ञवल्क्य! जो निश्चितरूप से उस पदार्थ को जानता है। निश्चय, वही ज्ञानी हो सकता है। याज्ञवल्क्य समाधान कर०—मैं उस पदार्थ को जानता हूं जिसको आप सब जीव का परायण कहते हैं। हे शाकल्य! जो यह श्रौत्र प्रातिश्रुत्क पदार्थ है वही यह है। हे शाकल्य! आप प्रश्न पूछते ही चलें। शा० पू०—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है? याज्ञ० स०—दिशाएं॥ १३॥

पदार्थ—(यस्य+आकाशः+एव+आयतनम्+श्रोत्रम्+लोकः+मनः+ज्योतिः) जिस पदार्थ का आकाश ही शरीर वा परमाश्रय है। कर्ण—गोलक ही ठहरने की जगह है। मन ही प्रकाश है और जो (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+तम्+पुरुषम्+यः+वै+विद्यात्) सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है। उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने (याज्ञवल्क्य+सः+वै+वेदिता+स्यात्) हे याज्ञवल्क्य! वही ज्ञानी हो सकता है। यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं। ऐसा मैं मानूंगा। शाकल्य की यह बात सुन याज्ञ० कह०—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) उस पुरुष को मैं जानता हूं जिसको हे शाकल्य! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्त-गुणविशिष्ट (आत्थ+यः+अयम्+श्रौत्रः+प्रातिश्रुत्कः) कहते हैं जो यह कर्णोद्भव प्रतिध्वन्यात्मक (पुरुषः) पदार्थ है जिसको आप पूछते हैं। प्रश्न (तस्य+का+देवता+इति) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है? समाधान—(ह+उवाच+दिशः+इति) याज्ञवल्क्य ने कहा कि दिशाएं हैं॥ १३॥

भाष्यम्—आकाश इति। श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः=शाब्दः पुरुषः शाब्दी शक्तिः। श्रोत्रे भवः श्रौत्रः। तत्रापि प्रातिश्रुत्कः प्रतिश्रुत्प्रतिश्रवणम् प्रतिध्वनिः तत्र भवः प्रातिश्रुत्कः। यद्यपि शब्दः श्रोत्रे जायते तथापि विशेषतया प्रतिश्रवणसमये तस्य विस्पष्टतया प्रत्यक्षता भवति। अतः प्रातिश्रुत्कः। तस्योत्पत्तिकारणं दिशः। शब्द आकाशे तिष्ठति अतः शाब्दपुरुषस्याकाश आयतम् प्राणिनः श्रोत्राभ्यां शब्दं शृण्वन्ति। अतः शब्दस्य श्रोत्रं लोकः लोकः स्थानम्। प्रथमं दिक्षु शब्दः प्रसरति ततः कर्णमायाति अतो दिगुत्पत्तिकारणमिति संगतिः। शेषं पूर्ववत्॥ १३॥

---

* आकाश एव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोको मनो ० ० य एवायं वायौ पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्राण इति होवाच॥ १३॥ शत० कां० १४। अ० ६। ब्रा० ९॥ १३॥

भाष्याशय—शाकल्य पूछते हैं कि जिस पदार्थ का यह शरीर तो आकाश हो और श्रोत्र ठहरने की जगह हो, मन ज्योति हो, हे याज्ञवल्क्य ! वह कौन पदार्थ है ? समाधान—वह प्रतिध्वन्यात्मक शब्द है। जो कान में उत्पन्न होता है क्योंकि शब्द का आश्रय महान् आकाश कहा है। जब शब्द उत्पन्न होता है तो कर्णों के द्वारा ही अनुभव होता है। अतः कर्ण ठहरने की जगह है, इत्यादि ॥ १३ ॥

तम एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदितास्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः सः एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरीति होवाच * ॥ १४ ॥

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का तम ही आयतन, हृदय लोक, मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है। उस पुरुष को जो निश्चितरूप से जाने, हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय, वही ज्ञानी हो सकता है। याज्ञ० कह०—जिसको आप सब आत्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष (पदार्थ) को जानता हूं। इसमें सन्देह नहीं। जो वह छायामय पुरुष है वही यह है, हे शाकल्य ! आप पूछते ही चलें। शाकल्य पूछते हैं—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ? याज्ञ० समा०—मृत्यु ॥ १४ ॥

पदार्थ—(तमः+एव+यस्य+आयतनम्+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योतिः) जिसका अन्धकार ही शरीर है, हृदय देश ही रहने की जगह है, मन ही प्रकाश है और (सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+तम्+पुरुषम्+यः+विद्यात्+सः+वै+वेदिता+स्यात्) सब जीव का आश्रय है उस पदार्थ को जो जान सके। निश्चयरूप से उसको जो जानता है वही ज्ञानी हो सकता है। यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा। शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ) उस पुरुष को मैं जानता हूं जिसको हे शाकल्य ! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं (यः+अयम्+छायामयः+पुरुषः+सः+एव+एषः) जो यह छायामय=छाया पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूं। शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं। (शाकल्य+वद+एव) हे शाकल्य ! क्यों आप चुप होते हैं पूछते ही जायें यह सुन शाकल्य पूछते हैं। (तस्य+का+देवता+इति+ह+उवाच+मृत्युः) उस तम की उत्पत्ति का कारण कौन है ? यह मेरा प्रश्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि मरण—श्वास ही उत्पत्ति का कारण है ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तम इति। तमः लोके दर्शनशक्त्यवरोधकं प्रकाशभिन्नं रात्र्यादि समये उत्पत्तिमत्तम उच्यते। एवमेव विद्यावरोधकं ज्ञानभिन्नं मूर्खत्वाद्यवस्थायामुत्पत्तिमदज्ञानमपि तमःशब्दवाच्यम्। छायामयः छादयति आच्छादयति आवृणोति आलोकमज्ञानम्वा सा छाया। प्रचुरा छायेति छायामयः छायास्वरूपः। पुरुषः शक्तिः। छायाज्ञानम्। अस्याज्ञानमयस्य पुरुषस्य। तमः शरीरम्। अज्ञानस्याऽज्ञानमेव शरीरमस्ति। यथा कामस्य

---

* तम एव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोको मनः ० ० य एवायं छायामयः पुरुषः स एव वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥ १६ ॥ शतपथ का० १४। अ० ६। ब्रा० ६ ॥ १६ ॥

शरीरं काम उक्तस्तथैवात्रापि नान्या कल्पना। इदमज्ञानमपि हृदये बुद्धौ एव तिष्ठति। अतोऽस्य हृदयं लोकः स्थानम्। अस्योत्पत्तिकारणं किम्? मृत्युः मरणं त्रासः। मरणत्रासएव जनान् व्याकुलयति ॥ १४ ॥

भाष्याशय—तमः—लोक में दर्शनशक्ति के अवरोधक, प्रकाश से भिन्न और रात्र्यादि समय में उत्पन्न होनेवाली वस्तु को तम कहते हैं। इसी का दूसरा नाम "अन्धकार" है। इसी प्रकार विद्या का अवरोधक, ज्ञान से भिन्न और मूर्खत्वादि अवस्था में जिसकी उत्पत्ति हो उसे भी तम कहते हैं अर्थात् अज्ञान ॥

पुनः शाकल्य पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! जिस पदार्थ का तम ही शरीर हो, हृदय ही स्थान हो, मन ही आलोक हो और जो सब आत्मा का परायण (स्वभाव) हो वह कौन पदार्थ है क्यों आप उसको जानते हैं। यदि जानते हैं तो आप अवश्य ज्ञानी हैं यदि नहीं जानते हैं तो आपका वृथा अहङ्कार है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि इसी पुरुष के जानने से कोई विद्वान् समझा जाय तो मैं उसको जानता हूं। वह छायामय पुरुष है अर्थात् "छाया" है। जो बुद्धि को छा लेवे आच्छादन करले उसे छाया कहते हैं। जैसे लोक में छाया का शरीर तम=अन्धकार है वैसे ही बुद्धि को आवरण करनेवाली जो एक शक्ति है उसका स्वरूप क्या है? अज्ञान, इसी को तम कहते हैं। इसका निवास-स्थान कौन है? हृदय। क्योंकि हृदय से ही इसका भी ज्ञान होता है वा हृदय में ही इस का भी वास है। इस अज्ञान का भी प्रकाशक मन है और यह अज्ञान सब आत्मा का स्वभाव है। यदि अज्ञान आत्मा का स्वभाव नहीं तो वो कहां से आवे। इसकी उत्पत्ति का कारण मृत्यु है। मृत्यु= मरणत्रास। इसका भाव अनेक हो सकता है। बुद्धि की आवरण शक्ति जो छाया है उसकी उत्पत्ति का कारण "मृत्यु" कहा जाता। लोक में देखो किसी के धर्मपुस्तक में लिखा है कि आचार्य ने सहस्र वर्ष की हड्डी से उसी आदमी को (जिस की वह हड्डी है) जिला दिया अब यदि इस बात को तुम नहीं मानोगे तो उस सम्प्रदाय के लोग तुम्हें मार डालेंगे इस हेतु इस मरण के भय से इसको मान रहे हो। तो कहो, इस छाया का कारण मृत्यु हुआ न। अथवा तुम्हें जाति से निकाल बाहर करेंगे और जाति से पृथक् होने को मूर्ख लोग मरणसमान समझते हैं। इस हेतु उस अज्ञान का कारण क्या हुआ? मरण ही न। जिनमें सत्यता की प्रबल शक्ति आई, वे मूर्खों के हाथों से हजारों मारे गये हैं और पुनः पीछे उसकी पूजा करने लगे वा महात्मा समझने लगे। ईसा मारे गये, मुहम्मद को लड़ाई करनी पड़ी। सौक्रेटीज को विष दिया गया। रामानुज को बड़ी २ विपत्ति भोगनी पड़ी है। दयानन्द को विष दिया गया। लेखराम को एक मुसलमान ने छुरी भोंक कर प्राण लिया परन्तु जिनमें सत्यता का साहस नहीं वे मरण त्रास से बुद्धि को मलीन कर रहे हैं। इस प्रकार देखेंगे तो लाखों कोटियों मनुष्यों ने इसी त्रास से अपनी बुद्धि के ऊपर अज्ञान रूपी महती छाया डाल रक्खी है।

अब विचारो कि ईश्वर की सृष्टि में जितने पदार्थ हैं वे प्रयोजनवान् हैं। अब कोई पूछे कि छाया का वा अन्धकार का क्या प्रयोजन है? मृत्यु ही इस का प्रयोजन कहा जायगा ॥ १४ ॥

रूपाण्येव यस्याऽऽयतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्व-स्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं

सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच * ॥ १५ ॥

अनुवाद—जिस पदार्थ का रूप ही आयतन है। हृदय लोक है। मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है। उस पुरुष को जो निश्चितरूप से जाने, हे याज्ञवल्क्य! निश्चय वही ज्ञानी है, याज्ञवल्क्य समा०— जिसको आप जीवात्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष को जानता हूं, इसमें सन्देह नहीं आदर्श में जो यह पुरुष है वही यह है। हे शाकल्य पूछते ही जाओ। तब पुनः शाकल्य पूछते हैं—उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है? याज्ञवल्क्य—उत्पत्ति का कारण प्राण है ॥ १५ ॥

पदार्थ—(यस्यः+रूपाणि+आयतनम्+चक्षुः+लोकः+ज्योतिः+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का रूप ही शरीर है, नेत्र गोलक ही रहने की जगह है। मन ही प्रकाश है और सब जीव का आश्रय है (तम्+पुरुषम्+यः+विद्यात्+स+वै+वेदिता+स्यात्) उस पदार्थ को जो जान सके, निश्चित-रूप से उसको जो जानता है वही ज्ञानी हो सकता है, शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं (तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद) उस पुरुष को मैं जानता हूं (यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ) जिसको हे शाकल्य! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं (यः+अयम्+आदर्शे+पुरुषः+सः+एव+एषः) जो यह, आदर्श में पुरुष=पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वही आदर्शमय पदार्थ है। मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूं। शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं। (शाकल्य+वद+एव) हे शाकल्य! आप चुप क्यों होते हैं? पूछते ही जायँ। यह सुन शाकल्य (तस्य+का+देवता+इति+ह+उवाच+असुः+इति) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है? यह मेरा प्रश्न है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण ही है ॥ १५ ॥

भाष्यम्—रूपाणि भास्वराणि शुक्लादीनि। आदर्शः आसमन्ताद् दृश्यते प्रति-बिम्बोऽनेन स आदर्शः प्रतिबिम्बाधारे पदार्थे। तस्योत्पादकः असुः प्राणः वायुः। अन्यद् गतार्थम् ॥ १५ ॥

आप एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्व-स्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽ-त्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच + ॥ १६ ॥

अनुवाद—जिस (पदार्थ) का आप (जल) ही आयतन है, हृदय ही लोक है, मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है। उस पदार्थ को जो निश्चितरूप से जाने, हे याज्ञवल्क्य! निश्चय वही ज्ञानी है। याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं। जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं,

* रूपाण्येव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोकोमनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति चक्षुरिति होवाच ॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ ॥१२॥

+ आप एव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोकोमनो ० ० य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥ १७ ॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ६ ॥ १२ ॥

मैं उस पदार्थ को जानता हूं इस में सन्देह नहीं, जो ये जल में पदार्थ हैं वही यह है। हे शाकल्य ! पूछते ही जाओ, तब पुनः शाकल्य पूछते हैं, उसका कारण कौन है ? याज्ञवल्क्य समा०—वरुण अर्थात् जल ही कारण है ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यस्य+आपः+आयतनं+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योतिः+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का जल ही शरीर है हृदय ही रहने की जगह है मन ही प्रकाश है और जो सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्+यः+वै+विद्यात्+याज्ञवल्क्य+स+वै+वेदिता+स्यात्) उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने, हे याज्ञवल्क्य ! वही ज्ञानी हो सकता है। यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा। शाकल्य की यह बात सुन याज्ञवल्क्य कहते हैं—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद+यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ+यः+अयम्+अप्सु+पुरुषः+सः+एव+एष) उस पुरुष को मैं जानता हूं जिसको हे शाकल्य ! आप सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुणविशिष्ट कहते हैं। जो यह जलीय पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वही जलमय पदार्थ है। मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूं। शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उस से पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं। (शाकल्य+वद+एव) हे शाकल्य क्यों आप चुप होते हैं पूछते ही जायं। यह सुन शाकल्य पू० (तस्य+का+देवता+इति+ह+उवाच+वरुण+इति) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ? यह मेरा प्रश्न है। याज्ञ० कहा कि वरुण ही उस की उत्पत्ति का कारण है ॥ १६ ॥

रेत एव यस्याऽऽयतनं हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच * ॥ १७ ॥

अनुवाद—रेत ही जिसका आयतन है, हृदय ही लोक है, मन ज्योति है और जो सब जीवात्मा का परायण है उस पदार्थ को जो निश्चितरूप से जाने। हे याज्ञवल्क्य ! निश्चय वही ज्ञानी है। याज्ञ० समा०—जिसको आप सब जीवात्मा का परायण कहते हैं मैं उस पुरुष को जानता हूं। इस में सन्देह नहीं जो यह पुत्रमय पदार्थ है वही यह है। हे शाकल्य ! पूछते ही जाओ तब पुनः शाकल्य पू०—उसका कारण कौन है ? याज्ञव०—प्रजापति ॥ १७ ॥

पदार्थ—(यस्य+रेतः+एव+आयतनम्+हृदयम्+लोकः+मनः+ज्योतिः+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्) जिस पदार्थ का रेत ही शरीर है। हृदय देखने का साधन है वा रहने की जगह है। मन ही प्रकाश है और जो सब जीवात्मा का उत्तम आश्रय है (तम्+पुरुषम्+यः+वै+विद्यात्+याज्ञवल्क्य+सः+वै+वेदिता+स्यात्) उस पुरुष को जो अच्छे प्रकार जाने, हे याज्ञवल्क्य ! वही ज्ञानी हो सकता है। यदि आप उसको जानते हैं तो आप ही ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ हैं ऐसा मैं मानूंगा। शाकल्य की यह बात सुन याज्ञ० क०—(तम्+पुरुषम्+अहम्+वेद) उस पदार्थ को मैं जानता हूं (यम्+त्वम्+सर्वस्य+आत्मनः+परायणम्+आत्थ+यः+अयम्+पुत्रमयः+पुरुषः+सः+एव+एषः) जिसको हे शाकल्य ! आप सब

* रेत एव यस्यायतनम्। चक्षुर्लोकोमनो ० ० य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥ १८ ॥ शत० कां० १४ । अ० ६ । ब्रा० ॥ ६ ॥

जीवात्मा का उत्तम आश्रय और पूर्वोक्तगुण विशिष्ट कहते हैं । जो यह पुत्रमय पदार्थ है वही यह है अर्थात् जिसके विषय में आप पूछते हैं वही पुत्रमय पदार्थ है । मैं इसको अच्छे प्रकार जानता हूं । शाकल्य के प्रश्न का समाधान करके उससे पुनः पूछने के लिये याज्ञवल्क्य प्रेरणा करते हैं (शाकल्य+वद+एव) हे शाकल्य ! क्यों आप चुप होते हैं ? पूछते ही जायं । यह सुन शाकल्य पू०—(तस्य+का+देवता+इति+ह+उवाच+प्रजापतिः) उसकी उत्पत्ति का कारण कौन है ? यह मेरा प्रश्न है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्रजापति ही उसकी उत्पत्ति का कारण है ॥ १७ ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वां स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता३ इति ॥ १८ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य ! निश्चय ही, आपको इन ब्रह्मवादियों ने "अङ्गारावक्षयण" बनाया है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच+शाकल्य+इति+इमे+ब्राह्मणाः+स्वित+त्वाम्+अङ्गारावक्षयणम्+अक्रत३) याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे शाकल्य ! इन ब्रह्मवादियों ने निश्चय ही आप को अन्न्याधार अंगेठी बनाया है अङ्गारावक्षयण=जलते हुए खण्ड २ पदार्थ का नाम अङ्गार है । जिस में अग्नि जलाया जाय उस बर्तन का नाम "अङ्गारावक्षयण" है । यहां तात्पर्य यह है कि हास्यरूप से शाकल्य को कोपित करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे शाकल्य ! इन ब्राह्मणों ने मुझ को अङ्गारस्थानीय और आपको अन्न्याधार स्थानीय पात्र बनाया है । मेरे उत्तररूप वचन आपको भस्म कर रहे हैं, उसको आप नहीं जानते हैं ॥ १८ ॥

भाष्यम्—शाकल्येति । याज्ञवल्क्यः शाकल्यं हास्येन प्रकोपयन्निव ब्रवीति । तथाहि—स्विदिति वितर्के । हे शाकल्य ! अहमित्थं वितर्कयामि । यदि मे कुरुपञ्चालानां समवेताः ब्राह्मणा ब्रह्मनिष्ठाः । नूनं त्वाम् । अङ्गारावक्षयणमङ्गाराधारमिव अग्रसरम् । अक्रत अकार्षुः । अङ्गारा ज्वलदग्निप्रविष्टाः पदार्थाः । तेऽवक्षीयन्ते विनश्यन्ति यस्मिन्पात्रे तदङ्गारावक्षयणम्, प्रायः शीतकाले यस्मिन्पात्रे वह्निं प्रज्वाल्य सेवन्ते तत्पात्रमङ्गारावक्षयणम् । तस्मिन्हि प्रक्षिप्ता अङ्गाराः शनैः शनैरवक्षीयन्ते विनश्यन्ति । हे शाकल्य ! इमे ब्राह्मणाः मामङ्गारस्थानीयम् त्वान्तु तत्पात्राधारस्थानीयञ्च कृतवन्त इति निश्चयः । मम प्रतिवचनरूपा अङ्गारास्त्वां प्राप्य भस्मीकुर्वन्ति । त्वन्तु तन्न जानासि । अक्रतेत्यत्र प्लुतिर्विचारार्था ॥ १८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद स देवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥ १९ ॥

अनुवाद—शाकल्य ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! आपने कुरु और पञ्चाल देश के ब्राह्मणों को निरादर करके जो भाषण किया सो क्या ब्रह्म को जानते हुए किया है । याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं देवसहित और प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानता हूं । शाकल्य—यदि आप देवता और प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हैं तो (इस प्राची दिशा में कौन देवता है सो कहें, इत्यादि २० वें से सम्बन्ध है)।

पदार्थ—(शाकल्यः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्य+इति+कुरुपञ्चालानाम्+ब्राह्मणान्+यद्+इदम्+अत्यवादीः) शाकल्य ने कहा—हे याज्ञवल्क्य ! कुरु और पञ्चाल देशों के ब्रह्मवादी पुरुषों को जो यह अनादर करके आपने भाषण किया है अर्थात् आपने जो अभी कहा है कि इन ब्राह्मणों ने स्वयं डरकर तुम को "अङ्गारावक्षयण" बनाया है सो (किम्+ब्रह्म+विद्वान्+इति) क्या ब्रह्म को जानते हुए कहा है अर्थात् यदि आप ब्रह्मवेत्ता हैं और इस कारण आपने सब का निरादर किया है तब तो यह निरादर सह्य है । यदि ब्रह्म जाने विना ही आपने निरादर किया है तो सह्य नहीं है सो आप कहें कि क्या आप ब्रह्म जानते हैं, शाकल्य के इस अभिप्राय को जान निरभिमानी याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं ब्रह्म को तो नहीं जानता हूं और ब्रह्मिष्ठ पुरुषों को बारंबार प्रणाम करता हूं । हां, मैं (दिशः+वेद) पूर्व, दक्षिण, पश्चिमादि दिशाओं को अवश्य जानता हूं जिनको एक पामर भी जानता है । विशेषता इतनी ही है कि (सदेवाः+सप्रतिष्ठाः) देव और प्रतिष्ठासहित इन दिशाओं को मैं जानता हूं क्योंकि इन चारों दिशाओं में मैं भ्रमण करता हूं इनको जानता हूं । ब्रह्म को तो नहीं जानता । इसमें यदि आपको पूछना हो तो अवश्य पूछलें । याज्ञवल्क्य के भाव को न समझ कर क्रोध में आकर शाकल्य पूछते हैं (यद्+सदेवाः+सप्रतिष्ठा+दिशः+वेत्थ+अस्याम्+प्राच्याम्) यदि देवसहित प्रतिष्ठासहित दिशाओं को जानते हैं तो इस प्राची दिशा में कौन देव है सो कहें । इत्यादि उत्तरग्रन्थ से सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्येति । याज्ञवल्क्यस्य हितोपदेशमपि विपरीतार्थं मत्वा क्रुद्धः सन्नाह शाकल्यः—हे याज्ञवल्क्य ! कुरुपञ्चालानां देशानाम् । ब्राह्मणान् ब्रह्मिष्ठान् यदिदम् त्वमत्यवादीरतिक्रम्यावोचत् । एते स्वयं मत्तो भीता विवादेवा असमर्थाः सन्तः त्वामङ्गारावक्षयणमिवाग्रसरं कृतवन्त इत्यनुपदमेव सर्वान् तिरस्कृत्य त्वं यदवोचः तत्किम् त्वं ब्रह्म विद्वान् सन्नब्रवीः अयमाशयः । यदि त्वं ब्रह्म वेत्सि । एवं ब्रह्मवेदनगौरवेण ब्राह्मणान् प्रति यदि तवायमतिक्रमः तर्हि सोऽपि सोढव्यः । यदि अविदित्वैव ब्रह्म त्वं सर्वान् ब्रह्मवादिनोऽतिक्रामसि तर्हि न क्षन्तव्यम् । अहं मन्ये त्वं न ब्रह्म वेत्सि । अतस्त्वं ब्रह्म अविदित्वा इमानधिक्षिपसि । इयं तव मूर्खता । तत्कथय किं त्वं ब्रह्म वेत्सि ! एवं शाकल्येनाभिहितोऽस्याभिप्रायञ्च ज्ञात्वा याज्ञवल्क्य आह—हे शाकल्य ! नाहं ब्रह्म वेद्मि । ब्रह्मविद्भ्यो भूयो नमस्कुर्वे । अहं तु केवलं दिशो जानामि । यास्तु पामरा हालिका अपि जानन्ति । देवैः प्रतिष्ठाभिश्च साकं दिशोऽहं जानामि इयमेव विशेषता दिक्षु सदैव भ्रमामि अतो दिङ्मात्रज्ञानन्तु वर्तते न ब्र[illegible] । यदि तवात्र किमपि प्रष्टव्यमस्ति तर्हि पृच्छ— एवमुक्तः शाकल्यः सानुवादं पृच्छति—यद्यदि । त्वम् । सदेवाः सप्रतिष्ठा दिशः वेत्थ जानासि तर्हि । "किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीति" कथयेत्युत्तरेण ग्रन्थेन सम्बन्धः ॥ १६ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २० ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस प्राची दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—आदित्य । शाकल्य—वह आदित्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—चक्षु अर्थात् दर्शन निमित्त । शाकल्य—वह चक्षु किस निमित्त (किसलिये) प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—रूपों (शुक्ल पीत) के निमित्त क्योंकि रूपों को चक्षु से ही देखता है । शाकल्य—वे रूप किस निमित्त हैं ? याज्ञवल्क्य—हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त (ईश्वरीय विभूति का मनुष्यों को बोध हो इस निमित्त) क्योंकि बुद्धि से ही रूपों को जानता है क्योंकि इस बुद्धि के निमित्त ही रूप प्रतिष्ठित होते हैं । शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हां, यह ऐसा ही है ॥ २० ॥

पदार्थ—शाकल्य पूछते हैं—(अस्याम्+प्राच्याम्+दिशि+किंदेवतः+असि+इति) इस प्राची (पूर्व) दिशा में आप किस देवता वाले हैं अर्थात् आप पूर्व दिशा में किस देवता को प्रधान मानते हैं, यह मेरा प्रश्न है । याज्ञवल्क्य समाधान करते हैं—(आदित्य+देवतः+इति) इस प्राची दिशा में मैं सूर्यदेव वाला हूं अर्थात् इस दिशा में मैं सूर्य को प्रधान देव मानता हूं । आगे शाकल्य "प्रतिष्ठा" पूछते हैं । सत्कार पूर्वक स्थापना का नाम प्रतिष्ठा है । जिसकी "प्रतिष्ठा" हुई है उसे प्रतिष्ठित कहते हैं अथवा उत्पत्तिप्रयोजन का नाम प्रतिष्ठा है । दोनों अर्थ आगे सर्वत्र घटेंगे (सः+आदित्यः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति) वह आदित्य किस निमित्त=किसलिये प्रतिष्ठित है अर्थात् जगत्कर्त्ता ईश्वर ने इस सूर्य को किस प्रयोजन के लिये जगत् में स्थापित किया है अथवा किस हेतु सूर्य की उत्पत्ति हुई है यह प्रश्न का भाव है । समाधान—(चक्षुषि+इति) नेत्र के निमित्त अर्थात् दर्शन निमित्त अर्थात् विशेष कर सूर्य की उत्पत्ति आंखों के निमित्त हुई है अथवा सूर्य को भगवान् ने जो प्रतिष्ठा दी है सो आँखों के लिये ही है अथवा भगवान् ने आदर पूर्वक जो सूर्य को स्थापित किया है वह आंखों के लिये है अथवा इस प्राणी के शरीर में सूर्यदेव की अधिक प्रतिष्ठा कहां है ? तो नेत्र में है । इत्यादि प्रश्न और समाधान का भाव जानना । आगे भी ऐसा ही है । प्रश्न—(कस्मिन्+नु+चक्षुः+प्रतिष्ठितम्) किस निमित्त चक्षु प्रतिष्ठित है ? नयन की उत्पत्ति किसलिये है ? समाधान—(रूपेषु+इति+हि+चक्षुषा+रूपाणि+पश्यति) शुक्ल पीत आदि रूपों के बोध के लिये क्योंकि नेत्र से रूपों को सब देखते हैं । प्रश्न—(कस्मिन्+नु+रूपाणि+प्रतिष्ठितम्) किस निमित्त ईश्वर ने रूपों की प्रतिष्ठा की है । समाधान—(हृदये+इति) हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त । परमेश्वर ने जो हम लोगों को बुद्धि दी है उसका भी तो कोई विषय (खुराक) होना चाहिये । ईश्वरीय विभूतियों पर विविध विचार करना ही इसका विषय है । अतः आगे इस प्रकरण में सर्वत्र अन्तिम समाधान "हृदय" ही है । हृदय नाम हृदयस्थ बुद्धि का है । इसके विषय (खुराक) के निमित्त रूपों की उत्पत्ति है यह समाधान है इसको स्वयं ऋषि विस्पष्ट कहते हैं । (हि+हृदयेन+रूपाणि+जानाति+हि+हृदये+एव+रूपाणि+प्रतिष्ठितानि+भवन्ति) क्योंकि हृदयस्थ बुद्धि से रूपों को जानता है जिस हेतु हृदय में ही शुक्लादि वर्ण प्रतिष्ठित होते हैं । नेत्र रूपकरण द्वारा बुद्धि में ही रूप का भी बोध होता है । याज्ञवल्क्य के समाधान को सुन शाकल्य स्वीकार करते हैं (याज्ञवल्क्य+एतद्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह आपकी वस्तु ऐसी ही आप जैसा कहते हैं वैसी ही है । इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

भाष्यम्—किंदेवत इति । हे याज्ञवल्क्य ! यदि त्वं सदेवाः सप्रतिष्ठा दिशो जानाति तर्हि कथय—अस्यां प्राच्यां दिशि । त्वं किंदेवतोऽसि । का देवता यस्य सः किंदेवतः । प्राच्यां दिशि त्वं कां देवतां मन्यसे । प्राच्यां दिशि का देवतेति प्रष्टव्ये "प्राच्यां दिशि किंदेवतोऽसीति प्रश्नः प्रश्नविचित्रतां ध्वनयति । ऋषीणां विचित्रा हि ग्रन्थनप्रणाली ।

पाणिनीयव्याकरणे सन्त्यस्य बह्वन्युदाहरणानि । केचित्तु मुनेर्दिगुपासनातादात्म्यसम्पत्तिरिहैव जातेति बोधयितुमिति व्याचक्षते । तन्न मनोरमम् । न हि ब्रह्मवादिनो मुनयो ब्रह्मोपासनां विहाय दिशादीन् पदार्थानुपासते । प्रश्नानुरूपं समाधत्ते—प्राच्यां दिशि । अहमादित्यदेवतोऽस्मि । आदित्यः सूर्यो देवता यस्य मम स आदित्यदेवतः । देव एव देवता । पूर्वस्यां दिशि । अहमादित्यं देवं प्रधानं मन्ये । प्रतिष्ठां पृच्छति—स आदित्यः कस्मिन् प्रयोजने प्रतिष्ठित इति । अत्रोत्पत्तिप्रयोजनं प्रतिष्ठा । सा संजाताऽस्येति । प्रतिष्ठितः "तारकादिभ्य इतच्" कस्मै प्रयोजनाय स आदित्य उत्पादित इति प्रश्नस्य भावः । समाधत्ते—चक्षुषि इति । निमित्तार्थोऽत्र सप्तमी । चक्षुर्निमित्तं सूर्यस्य प्रतिष्ठास्ति । पृच्छति—कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति रूपदर्शननिमित्ताय । कारणमाह—सर्वः प्राणी चक्षुषा करणेन रूपाणि शुक्लादीनि पश्यति । कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति प्रश्नः । हृदये हृदिस्थायां बुद्धौ । रूपाणि प्रतिष्ठितानि सन्तीति होवाच याज्ञवल्क्यः । कारणमाह—सर्वः जनो हि यतो हृदयेन रूपाणि जानाति हि यतः हृदय एव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीति । याज्ञवल्क्यस्य समाधानं ज्ञात्वा शाकल्यः स्वीकरोति । हे याज्ञवल्क्य ! एतद्वस्तु । एवमेव । मया ईदृशमेव वर्ततेऽप्येवं स्वीक्रियत इत्यर्थः ॥

यद्वैवं व्याख्यातव्यम् । सूर्य्यः कस्मिन्निमित्ते प्रतिष्ठितः । सत्कारपूर्वकं स्थापनं प्रतिष्ठा सा जातास्येति प्रतिष्ठितः । ब्रह्मणा जगत्कर्त्रा कस्मै प्रयोजनाय आदित्यः प्रतिष्ठितोऽस्ति । यद्वा । कस्मै प्रयोजनाय सूर्याय प्रतिष्ठा दत्ता । यद्वा कस्मै प्रयोजनाय अस्य सूर्यस्य जगति स्थापना कृता । इत्यादयः प्रश्नस्य भावाः । चक्षुर्निमित्ताय दर्शननिमित्ताय सूर्यस्य प्रतिष्ठा । यदि सूर्यो न स्यात्तर्हि कः किं पश्येत् । यद्वा जीवानां शरीरमध्ये सूर्यस्य नयने विशेषा प्रतिष्ठाऽस्तीति अतो नयनप्रतिष्ठितो हि सूर्यः इति समाधानाभिप्रायः । पुनः कस्मिन्निमित्ते चक्षुः प्रतिष्ठितमिति प्रश्ने । शुक्लपीतादीनां रूपाणामवलोकनाय चक्षुः प्रतिष्ठितमिति साधनम् । पुनः कस्मै प्रयोजनाय रूपाणां प्रतिष्ठेति प्रश्ने । हृदयस्थबुद्धिनिमित्ताय ब्रह्मणः परमात्मा विभूतेर्बोधाय रूपाणां प्रतिष्ठेति भावः । यथेह शरीरस्य भोजनं विविधा ओषधयः करणानां शब्दादयः । तथैव बुद्धेरपि केनापि विषयेण भाव्यम् । ईश्वरसृष्टेषु पदार्थेषु सोपपत्तिर्विचारणैव बुद्धेर्विषयः । अतो बुद्धिविषयायैव सर्वेषामुत्पत्तिरिति स्थितम् । अतः सर्वेषु वक्ष्यमाणेषु पर्य्यायेषु हृदये इति समाधानम् । इह प्राप्तत्वाद् रूपाणि हृदय इति समाधानम् । अग्रेऽप्येवमेव व्याख्यातव्यं सर्वत्र । समानं हि प्रकरणमेतो विशेषमेव व्याख्यास्यामः । ग्रन्थसंकोचकरणाद् ॥ २० ॥

किंदेवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २१ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस दक्षिण दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—अहोरात्रस्वरूप काल। शाकल्य—वह अहोरात्रस्वरूप किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—यज्ञ निमित्त। शाकल्य—वह यज्ञ किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—दक्षिणा के निमित्त। शाकल्य—वह दक्षिणा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—श्रद्धा निमित्त क्योंकि जब श्रद्धा करता है तब ही दक्षिणा देता है क्योंकि श्रद्धा के ऊपर ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य—वह श्रद्धा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त क्योंकि बुद्धि से ही श्रद्धा को जानता है क्योंकि बुद्धि के निमित्त ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है। शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हां, यह ऐसा ही है ॥ २१ ॥

पदार्थ—शाकल्य पूछते हैं कि याज्ञवल्क्य ! (अस्याम्+दक्षिणायाम्+दिशि+किंदेवतः+असि+इति) इस दक्षिण दिशा में किस देवता वाले आप हैं अर्थात् इस दक्षिण दिशा में किस देवता को प्रधान मानते हैं यह मेरा प्रश्न है। समाधान—(यमदेवः+इति) अहोरात्ररूप काल ही इसका प्रधान देव है। आगे प्रतिष्ठा पूछते हैं—(सः+यमः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः) वह अहोरात्ररूप काल किस निमित्त प्रतिष्ठित है। (यज्ञे+इति+यज्ञः+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठितः+इति+दक्षिणायाम्+इति) यज्ञ के निमित्त। वह यज्ञ किस निमित्त प्रतिष्ठित है दक्षिणा के लिये (दक्षिणा+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिता+इति+श्रद्धायाम्+इति) वह दक्षिणा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? श्रद्धा के निमित्त (हि+यदा+एव+श्रद्धत्ते+अथ+दक्षिणाम्+ददाति+हि+श्रद्धायाम्+एव+दक्षिणा+प्रतिष्ठिता) क्योंकि जब ही श्रद्धा करता है तब दक्षिणा देता है क्योंकि श्रद्धा निमित्त ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है (श्रद्धा+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिता+हृदये+इति+ह+उवाच) वह श्रद्धा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? हृदय के निमत्त ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। हृदय निमित्त श्रद्धा है इस हेतु स्वयं देते हैं। (हि+हृदयेन+श्रद्धाम्+जानाति+हि+हृदये+एव+श्रद्धा+प्रतिष्ठिता+भवति) क्योंकि हृदय से श्रद्धा जानता है क्योंकि हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित होती है। इस उत्तर को सुन कर शाकल्य कहते हैं (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य यह ऐसा ही है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—किंदेवत इति। पूर्ववदिदं प्रकरणम्। अतो विशेष एव व्याख्यायते। यमः अहोरात्ररूपः कालः। अथवा क्षणविपलदण्डप्रहराहोरात्रपक्षमासवर्षादिस्वरूपोऽखण्डकालः सूर्यहेतुना प्रतीयते। सः यमः। यज्ञोऽध्यवसायः। शुभकर्मापरपर्यायवाची। शुभकर्मानुष्ठानमिह यज्ञशब्देन व्यवह्रियते। अध्ययनमपि यज्ञः। कूपवाप्यादिकरणमपि यज्ञः। स च यज्ञः अहोरात्र एवानुष्ठीयते। अतो यज्ञनिमित्ताय यमस्याहोरात्रस्योत्पत्तिः। स च यज्ञः। दक्षिणानिमित्ताय भवति। कर्त्तव्यकर्मयोग्यतानुसारेण फलप्रदानं दक्षिणा। विविधानि कर्माणि यज्ञे वा आचरन्ति। तद्दक्षिणायै। ईश्वरतः काचिद्दक्षिणा यजमानतो वा काचित् प्राप्यते। सा च दक्षिणा श्रद्धानिमित्ताय। सर्वे श्रद्धावन्तो भवेयुरिति ईश्वरेण यजमानेन वा दक्षिणा दीयते। सा च श्रद्धा हृदये प्रतिष्ठिता ॥ २१ ॥

भाष्याशय—यम—पुराण में भी कहा गया है कि सूर्य का पुत्र यम है सूर्य के कारण से अहोरात्र रूप जो एक काल प्रतीत होता है वही सूर्य का पुत्र है दूसरा नहीं और उसी अहोरात्र से पक्ष, मास, अयन, वर्ष आदि बनते हैं। इस हेतु अहोरात्र स्वरूप ही पक्षादिक हैं। यह अहोरात्र रूप देवता किस निमित्त बनाया गया। इस प्रश्न का उत्तर क्या हो सकता है ? निस्सन्देह यज्ञ ही इसका उत्तर है। जितने शुभ अध्यवसाय, व्यवहार, व्यापार, उद्योग हैं उन सबों का एक नाम "यज्ञ" है।

अध्ययन, दान, वृक्षादिरोपण, कूप वापी आदिकों को करना करवाना आदि सब ही शुभ कर्म "यज्ञ" ही है। अब प्रश्न होता है वह यज्ञ किस लिये है ? दक्षिणा के निमित्त ॥ गृहस्थ लोग परिश्रम पूर्वक खेती करने पर यथायोग्य अन्न पाते हैं। यह अन्न लाभ व्यवसायी गृहस्थ के लिये दक्षिणा है। विद्या अध्ययन करके राज पुरस्कार प्राप्त करना विद्या व्यवसायी के लिये दक्षिणा है। आजकल यज्ञानुष्ठानकर्त्ता को यजमान की ओर से जो मिलता है, वह दक्षिणा कहलाती है परन्तु परिश्रमजन्य फल प्राप्ति का नाम "दक्षिणा" है। कोई दक्षिणा ईश्वर की ओर से और कोई दक्षिणा यजमान की ओर से मिलती है। इत्यादि स्वयं विचार कर लेना।

वह दक्षिणा किसलिये है ? निस्सन्देह श्रद्धा के लिये है। यदि परिश्रम का फल न उपलब्ध हो तो कौन उसको करे इस हेतु क्या ईश्वर की क्या राजादिकों की ओर से जो कुछ परिश्रम का फल मिलता है वह विश्वास की वृद्धि के लिये है। इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि जैसे ऐहिलौकिक फल यथायोग्य अवश्य प्राप्त होता है वैसे ही पारलौकिक फल भी अवश्यमेव प्राप्त होता है। वह श्रद्धा, निश्चय, हृदयस्थ बुद्धि के विषय के ही लिये है क्योंकि ईश्वर की महिमा बुद्धि के द्वारा ही समझ सकता है ॥ २१ ॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २२ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस प्रतीची (पश्चिम) दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—वरुण (मेघ)। शाकल्य—वह पर्जन्य देव किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—जल के निमित्त। शाकल्य—वह जल किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—रज वीर्य के निमित्त। शाकल्य—वह रज किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदय निमित्त। इसी हेतु जब सदृशरूपवाला सन्तान होता है तो लोग कहते हैं कि मानो यह हृदय से निकला है अर्थात् मानो हृदय से निर्मित हुआ है क्योंकि हृदय में ही 'रेत' प्रतिष्ठित है। शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हां, यह ऐसा ही है ॥ २२ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+प्रतीच्याम्+दिशि+किंदेवतः+असि) इस प्रतीची (पश्चिम) दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! किस देववाले आप हैं ? समाधान—(वरुणदेवतः+इति+सः+वरुणः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति+अप्सु+इति) वरुणदेववाला हूं। वह वरुण किस निमित्त है ? जल के निमित्त (आपः+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिताः+इति+रेतसि+इति) वह जल किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? कर्मफलभोगसाधन जो शरीर उसके बीजरूप रेत के निमित्त (रेतः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितम्+इति हृदये+इति) वह रेत किसलिये प्रतिष्ठित है ? हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त (तस्मादपि+प्रतिरूपम्+जातम्+आहुः+हृदयाद्+इव+सृप्तः) उसी हेतु माता पिता के सदृश पुत्र को उत्पन्न हुए देखकर लोग कहते हैं कि यह सन्तान मानो हृदय से निकला है अर्थात् (हृदयाद्+इव+निर्मितः+हि+हृदये+एव+रेतः+प्रतिष्ठितम्+भवति+इति) मानो हृदय से निर्मित हुआ है क्योंकि हृदयस्थ बुद्धि के लिये ही रेत प्रतिष्ठित है। इस समाधान को सुन शाकल्य कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+एवम्+एव+एतत्) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है अर्थात् आप का समाधान बहुत समीचीन है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—किंदेवत इति । वरुणो देवताऽस्येति वरुणदेवतः । मेघस्य वरुणनामधेयम् । स च । अप्सु जलेषु प्रतिष्ठितः । कर्मफलभोगसाधनशरीरस्य बीजमिह रजःशब्देन व्यवहृतम् । अहृदयो हि न बीजं स्थापयितुं शक्नोति । अतस्तदपि हृदयस्थबुद्ध्यर्थं एव । अत्र लौकिकनिदर्शनं ब्रवीति । तस्मादपि तस्मादेव कारणाद् । प्रतिरूपम् पितुरनुरूपम् पुत्रं जातमुत्पन्नमवलोक्य । जनाः आहुः—अयं सन्तानः हृदयादिव सृप्तो निर्गतः । हृदयादिव निर्मितं इत्यर्थः ॥ २२ ॥

भाष्याशय—वरुण—मेघ का नाम वरुण है । इसी हेतु पुराण में उक्त है कि जल का देवता "वरुण" है क्योंकि जल मेघ से आता है । जल का कारण मेघ है । यथार्थ में परम्परया इसका भी कारण सूर्यदेव ही है परन्तु अव्यवहित कारण मेघ है । वह जल जीव के शरीर के निर्माण के लिये है । वह भी रज, वीर्य, बुद्धि के लिये है । अज्ञानपुरुष इस तात्पर्य को क्या जान सकता, निःसन्देह ईश्वरीय महत्त्व बुद्धि से ही जाना जाता है ॥ २२ ॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ २३ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस उदीची (उत्तर) दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—ईश्वर अथवा विविध ओषधि । शाकल्य—वह ईश्वर किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—दीक्षा, विविध व्रत के निमित्त । शाकल्य—वह दीक्षा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—सत्यता के निमित्त । इसी हेतु दीक्षित पुरुष को आचार्य कहते हैं कि "सत्य बोलो" क्योंकि सत्य के निमित्त ही दीक्षा की प्रतिष्ठा है । शाकल्य—वह सत्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदयस्थ बुद्धि के निमित्त क्योंकि हृदय से ही सत्य को जानता है क्योंकि हृदय के निमित्त ही सत्य प्रतिष्ठित है । शाकल्य—हे याज्ञवल्क्य ! हाँ यह ऐसा ही है ॥ २३ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+उदीच्याम्+दिशि+किन्देवतः+असि) इस उदीची (उत्तर) दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! किस देवता वाले आप हैं ? समाधान—(सोमदेवतः+इति) सोमदेववाला मैं हूं । सोम नाम ईश्वर और विविध ओषधियों का (खाद्य पदार्थमात्र का सोम या ओषधि नाम है) (सः+सोमः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति+दीक्षायाम्+इति) वह ब्रह्म किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? विविध व्रत के लिये (दीक्षा+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठिता+इति+सत्ये+इति+तस्माद्+अपि+दीक्षितम्+आहुः) वह दीक्षा किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? सत्य के लिये । इसी कारण दीक्षित पुरुष को आचार्य उपदेश देते हैं कि (सत्यम्+वद+इति+हि+सत्ये+एव+दीक्षा+प्रतिष्ठिता+इति) सत्य बोलो क्योंकि सत्य के लिये ही दीक्षा प्रतिष्ठित है (सत्यम्+कस्मिन्+नु+प्रतिष्ठितम्+इति+हृदये+इति+हि+हृदयेन+सत्यम्+जानाति+हि+हृदये+एव+सत्यम्+प्रतिष्ठितम्+भवति) सत्य किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? हृदयस्थ बुद्धि के लिये ही क्योंकि हृदय से सत्य को जानता है क्योंकि हृदय में ही सत्य प्रतिष्ठित है । इसको सुन (ह+उवाच+याज्ञवल्क्य+एवम्+एव+एतत्) शाकल्य बोले ! हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है अर्थात् आप का समाधान बहुत समीचीन है ॥ २३ ॥

भाष्यम्—किन्देवत इति । सोमो देवता यस्य स सोमदेवतः । ईश्वरे ओषधिषु च सोमशब्दः । कस्मै प्रयोजनाय ब्रह्मोपास्महे मन्यामहे पूजयामः इत्येवंविधे प्रश्ने व्रतार्थे इति समाधानम् । ईश्वरानुग्रहादृते कः खलु एकमपि व्रतं समापयेत् सर्वतोभावेन अध्ययनं व्रतम् । रक्षा व्रतम् । परोपकारकरणं व्रतम् । वीर्यरक्षा व्रतम् । परदारकुदृष्टिविरतिर्व्रतमित्यादीनि सहस्रशोऽवश्यमनुष्ठेयानि व्रतानि कथं पूर्येरन् यदि ब्रह्मकृपा न स्यात् । सा च दीक्षा । सत्ये सत्यभाषणादि व्यापारे प्रतिष्ठिता । तस्मादेवकारणात् दीक्षासमये दीक्षितं पुरुषम् आचार्या गुरवो वा कथयन्ति सत्यं वदेति । इतरस्मिन् पक्षे सोम ओषधयः । इह या विविधा ओषधय ब्रह्मणा पुरा सृष्टाः सृज्यन्ते च स्रक्ष्यन्ते च ताः कस्मै प्रयोजनायेतिप्रश्ने विविधव्रत सहायतार्थमेवोत्तरम् । कथमिव विविधा ओषधीरुत्पाद्यजीवपालनरूपव्रतं सम्यङ् निर्वाहयन्तु । आगते महति दुर्भिक्षे सञ्चितैरन्नैर्बुभुक्षितान् जीवयन्तु । विविधान् यज्ञान् सम्पादयन्तु । ओषधीर्विना किमपि शुभकर्मानुष्ठातुं न कोऽपि शक्नोति । सर्वं व्रतं सत्ये परिसमाप्यते । अन्यदतिरोहितम् ॥ २३ ॥

भाष्याशय—ईश्वर को क्यों मानें ? क्यों पूजें ? क्यों उपासना करें इत्यादि प्रश्न स्वभावतः होता है । समाधान यह है कि विविध व्रत के पूर्ण के लिये । ईश्वर के अनुग्रह विना कौन मनुष्य सब व्रत को सब तरह से पूर्ण कर सकता है । अध्ययन व्रत है । रक्षा व्रत है । परोपकारकरण व्रत है । वीर्यरक्षा व्रत है । परस्त्री पर कुदृष्टि का विराम व्रत है इत्यादि सहस्रशः अवश्य अनुष्ठेय व्रत हैं अर्थात् ऐहिक जीवन के लिये इन व्रतों का अनुष्ठान करना परम आवश्यक होता है । यदि ईश्वरकृपा न हो तो इनकी पूर्ति होना कठिन है । इस हेतु विविध व्रत पूरणार्थ ईश्वर का मानना आदि आवश्यक है । वह सम्पूर्ण व्रत सत्य के ऊपर ही निर्भर है । यदि सत्यता नहीं है तो सब ही तुच्छ है । इत्यादि भाव का विचार करना ॥

द्वितीय पक्ष में—सोम नाम विविध ओषधियों का है । संसार में फल, मूल, कन्द, अन्न, लता, वीरुध आदि स्थावर पदार्थ हैं उनका एक नाम सोम वा ओषिधि है, उन ओषधियों को भी ईश्वर ने किसलिये पूर्वकाल में बनाया था बनाते हैं या बनावेंगे । निःसन्देह विविध व्रत की पूर्ति के लिये ही । कैसे—प्रजाएं विविध ओषधियों को उत्पन्न करके जीव पालनरूप व्रत अच्छे प्रकार निर्वाह कर सकें महादुर्भिक्ष जब २ आवे तब २ उस सञ्चित अन्नों से बुभुक्षितों को जिलानारूप व्रत कर सकें । ऐसे विविध यज्ञ करें । ओषधि विना किसी भी शुभ कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता । इस हेतु ओषधि भी विविध व्रत के लिये ही है । एवं वे व्रत सत्य के लिये हैं । वे हृदय के लिये हैं । इस प्रकार आगे उभय पक्ष की समानता ही है ॥ २३ ॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेव इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥ २४ ॥

अनुवाद—शाकल्य—इस ध्रुवा दिशा में कौन देवता है ? याज्ञवल्क्य—अग्नि (ब्रह्म), शाकल्य—वह ब्रह्म किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—वेदवाणी निमित्त । शाकल्य—वह वेदवाणी किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—हृदय निमित्त । शाकल्य—हृदय किस निमित्त प्रतिष्ठित है ? ॥ २४ ॥

पदार्थ—(अस्याम्+ध्रुवायाम्+दिशि+किन्देवत+असि) इस ध्रुवा दिशा में हे याज्ञवल्क्य ! आप कौन देववाले हैं ? समाधान—(अग्निदेवत+इति+सः+अग्निः+कस्मिन्+प्रतिष्ठितः+इति) अग्निदेव वाला हूं । वह अग्नि देव किस में प्रतिष्ठित है ? (वाचि+इति) वेदवाणी और मनुष्य की सर्वसाधारण वाणी में । (वाक्+कस्मिन्+प्रतिष्ठिता+इति+हृदये+इति) वह वाणी किस में प्रतिष्ठित है ? हृदयस्थ बुद्धि में । (कस्मिन्+नु+हृदयम्+प्रतिष्ठितम्+इति) हृदय किस में प्रतिष्ठित है ? ॥ २४ ॥

भाष्यम्—किन्देवत इति । उपसंहरञ्छाकल्यः सार्वत्रिकं देवं पृच्छति । ध्रुव अविचलिता । उपरि वा मध्येऽधोऽधो वा योऽयं महानाकाशोऽवकाशो दृश्यते सैव ध्रुवा दिक् । अस्यां ध्रुवायां दिशि एको जाज्वल्यमानो भगवान् भूतभावन ईश्वर एव प्राप्तोऽस्ति । स एवाग्निशब्देनेह शब्दितः । स चेश्वरः देववाण्यां प्रतिष्ठितः । वाचैव वेदवाण्यैव ब्रह्म विजानीमः । इयमपीतरा वाणीवाक् । इमामितरामपि वाणीं विना ईश्वरं कथं विदुः । अन्यत्स्पष्टम् ॥ २४ ॥

भाष्याशय—ध्रुवा—यहां ध्रुवा शब्द का अर्थ अविचलित, ऊपर वा मध्य वा नीचे जो महा आकाश देख पड़ता है उसी का नाम है । अग्नि—सर्वत्र अपनी क्रिया से प्रत्यक्षवत् जाज्वल्यमान ईश्वर का नाम अग्नि है । उपसंहार में सर्वत्र व्यापक ब्रह्म के विषय में शाकल्य पूछते हैं कि सर्वत्र व्यापक देव कौन है । इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर है और वह ईश्वर वेदवाणी वा सर्वसाधारण वाणी ही तो प्रतिष्ठित है । यहां "अग्नि" शब्द का अर्थ आग्नेयशक्ति भी होना सम्भव है क्योंकि आग्नेयशक्ति के विना कोई कार्य्य नहीं हो सकता इत्यादि मनन करना ॥ २४ ॥

अहंल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मस्स्याच्छ्वानो वैतदद्युर्वयांसि वैतद्विमथ्नीरन्निति ॥ २५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य ने कहा—रे अहंल्लिक ! जो तुम मानते हो कि यह हृदय हम से कहीं अन्यत्र है तो यदि यह हृदय हम लोगों से कहीं अन्यत्र होता तो इसको कुत्ते खाजाते अथवा इसको पक्षी नोंच डालते ॥ २५ ॥

पदार्थ—हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? यह प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य को बड़ा क्रोध हुआ अतिशय कोपित हो विदग्ध वा शाकल्य आदि नामों से इसको सम्बोधन न करके "अहंल्लिक" इस नाम से सम्बोधित कर समाधान करते हैं (अहंल्लिक+इति+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) अरे अहंल्लिक ! निशाचर ! प्रेत ! ऐसा सम्बोधन कर याज्ञवल्क्य बोले (यत्र+एतत्+अन्यत्र+अस्मत्+मन्यासै) अरे अहंल्लिक ! जो तुम इस हृदय को हम से कहीं अन्यत्र मानते हो अर्थात् हम लोगों के शरीर से कहीं दूसरी जगह इस हृदय को मानते हो (यद्+एतत्+अस्मत्+अन्यत्र+स्यात्) यदि यह हृदय हम से अर्थात् हमारे शरीर से कहीं अन्यत्र होता तो (एतत्+श्वानः+वा+अद्युः) इस शरीर को कुत्ते खा जाते (वयांसि+वा+एतत्+विमथ्नीरन्+इति) अथवा गृध्र आदि पक्षी इसको नोंच डालते । इससे सिद्ध हुआ कि शरीर में ही यह हृदय प्रतिष्ठित है । अरे अहंल्लिक ! क्या तू इसे भी नहीं जानता था जो ऐसा प्रश्न किया है । अतः ज्ञात होता है कि तेरी यह जान बूझ कर धृष्टता है ॥ २५ ॥

आशय—अहंल्लिक शब्द—"अहनि लीयते इति अहंल्लिकः" जो दिन में कहीं छिप जाय और रात्रि में दीखे उसे अहंल्लिक कहते हैं, निशाचर, राक्षस आदि । विदग्ध का मूर्खतासूचक प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य ने क्रुद्ध हो ऐसा सम्बोधन किया है ॥ २५ ॥

कस्मिन्नु त्वञ्चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नुदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्य्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति ॥ २६ ॥ (क)

अनुवाद—शाकल्य ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य ! किस में तुम (तुम्हारा शरीर) और यह आत्मा (हृदय) प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—प्राण में । शाकल्य—प्राण किस में प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—अपान में । शाकल्य—अपान किस में प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—व्यान में । शाकल्य—व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य उदान में । शाकल्य—उदान किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य—समान में । सो यह आत्मा नेति २ शब्द से कहा जाता है । वह अगृह्य है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता । वह अशीर्य=अविनाश्य, अक्षयणीय है क्योंकि इसका क्षय नहीं होता । वह असङ्ग है क्योंकि वह आसक्त नहीं होता । वह असित=अबद्ध है क्योंकि न यह व्यथित और न हिंसित होता है ॥ २६ ॥ (क)

पदार्थ—(कस्मिन्+नु+त्वम्+आत्मा+च+प्रतिष्ठितौ+स्थः+इति) पुनः शाकल्य पूछते हैं कि किस आधार पर आप अर्थात् आप का शरीर और आत्मा अर्थात् हृदय प्रतिष्ठित है इसका समाधान कीजिये । याज्ञ०—(प्राणे+इति) प्राण में शरीर और हृदय दोनों प्रतिष्ठित हैं । शाकल्य पूछते हैं—(कस्मिन्+नु+प्राणः+प्रतिष्ठित+इति) किस में वह प्राण प्रतिष्ठित है ? याज्ञ०—(अपाने+इति) अपान में वह प्राण प्रतिष्ठित है । शाकल्य—(कस्मिन्+नु+अपानः+प्रतिष्ठितः+इति) किस में वह अपान प्रतिष्ठित है ? याज्ञ०—(व्याने+इति) व्यान में अपान प्रतिष्ठित है । शाकल्य—(कस्मिन्+नु+व्यानः+प्रतिष्ठितः+इति) किस में व्यान प्रतिष्ठित है (उदाने+इति) उदान में व्यान प्रतिष्ठित है । शाक०—(कस्मिन्+नु+उदानः+प्रतिष्ठितः+इति) किस में उदान प्रतिष्ठित है । याज्ञवल्क्य—(समाने+इति) समान में वह उदान प्रतिष्ठित है । (सः+एषः+आत्मा+नेति+नेति) सो यह आत्मा नेति २ शब्द से कहा जाता है यह आत्मा (अगृह्यः+न+हि+गृह्यते) अगृह्य=ग्रहण के अयोग्य है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता (अशीर्य्यः+न+हि+शीर्य्यते) यह अविनाश्य है क्योंकि इसका विनाश नहीं होता (असङ्गः+न+हि+सज्यते) यह सङ्गरहित है क्योंकि यह किसी में आसक्त नहीं होता (असितः+न+व्यथते+न+रिष्यति) यह बन्धनरहित है क्योंकि न यह व्यथित होता और न यह हिंसित होता है ॥ २६ ॥ (क)

एतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तञ्चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । तं ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्द्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥ २६ ॥ (ख)

अनुवाद—ये आठ आयतन हैं। आठ लोक हैं। आठ देव हैं। आठ पुरुष हैं। सो जो इन पुरुषों को अच्छे प्रकार जान और समझ अतिक्रान्त हुआ है। हे शाकल्य! उस औपनिषद् पुरुष के विषय में तुम से मैं पूछता हूं यदि तुम उसको मुझ से नहीं कहोगे तो निश्चय विस्पष्टरूप से तुम्हारा मूर्धा गिर जायगा। शाकल्य—इसको न समझ सके। इनका मूर्धा विस्पष्टरूप से गिरा और इनकी हड्डियों को कुछ अन्य वस्तु मान तस्कर चुरा लेगए॥ २६॥ (ख)

पदार्थ—पूर्व कण्डिकाओं में १—पृथिवी, २—काम, ३—रूप, ४—आकाश, ५—तम, ६—रूप, ७—आप और ८—रेत ये आठ आयतन कहे गये हैं। १—अग्नि, २—हृदय, ३—चक्षु, ४—श्रोत्र, ५—तम, ६—चक्षु, ७—हृदय और ८—हृदय ये आठ लोक। १—अमृत, २—स्त्री, ३—सत्य, ४—दिशा, ५—मृत्यु, ६—असु, ७—वरुण और ८—प्रजापति ये आठ देव हैं। १—शरीर, २—काममय, ३—आदित्य पुरुष, ४—प्रातिश्रुत्क, ५—छायामय, ६—आदर्श पुरुष, ७—जलमय और ८—पुत्रमय पुरुष, ये आठ पुरुष हैं। यह प्रथम जानना उचित है। अब शाकल्य से स्वयं ऋषि याज्ञवल्क्य पूछते हैं। हे शाकल्य! (एतानि+अष्टौ+आयतनानि) मैंने आप से पृथिवी आदि आठ आयतन (अष्टौ+लोकाः+अष्टौ+देवाः+अष्टौ+पुरुषाः) अग्नि आदि आठ लोक, अमृत आदि आठ देव, शरीर आदि आठ पुरुष कहे हैं। इनके सम्बन्ध में मैं आप से यह पूछता हूं कि (सः+यः+तान्+पुरुषान्) सो जो कोई उन पुरुषों को (निरुह्य) अच्छे प्रकार जान और (प्रत्युह्य) निज अन्तःकरण में स्थापित कर (अत्यक्रामत्) शारीरिक सम्पूर्ण धर्म का अतिक्रमण करता है (तम्+औपनिषदम्+पुरुषम्+त्वा+पृच्छामि) उस उपनिषद् के तत्त्ववित् पुरुष के सम्बन्ध में तुम से पूछता हूं (तम्+चेत्+मे+न+विवक्ष्यसि+मूर्धा+ते+विपतिष्यति+इति) यदि उस पुरुष को मुझ से तुम नहीं कह सकोगे तो तुम्हारा शिर इस सभा में विस्पष्टरूप से गिर जायगा। (तम्+ह+न+मेने+शाकल्यः) उस प्रश्न को शाकल्य न समझ सका (तस्य+मूर्धा+विपपात) तब इसी कारण इसका मूर्धा गिर पड़ा (अपि+ह+अस्य+अस्थीनि) और इसकी हड्डियों को (अन्यत्+मन्यमानाः) अन्य उत्तम २ वित्त समझ कर (परिमोषिणः+अपजह्रुः) चोरगण चुरा लेगए। भाव इसका यह है कि विद्वत्सभा में परास्त होना ही मानो शिर का गिरना है और परास्त होने पर मनुष्य का मुख सूख जाता, देह कांपने लगता, बेवकूफ सा इधर उधर देखने लगता परन्तु जो धृष्ट धूर्त पुरुष होता है उसका हारने पर शिर तो नीचा होजाता परन्तु क्रोध से शरीर जलने लगता, देह का रक्त शुष्क हो जाता, हड्डियां सर्वथा निर्बल होजाती हैं, घूमकर पृथिवी पर हाथ पैर छितरा के पड़ जाता है, कोई उन्माद रोग का बहाना कर लेता, ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर कहा जाता है कि इसकी हड्डियों को भी मानो चोर चुरा लेगये॥ २६॥ (ख.)

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान् वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥ २७॥

अनुवाद—तब पुनः याज्ञवल्क्य बोले कि हे पूज्य ब्राह्मणो! आप में से जिसकी कामना हो वह मुझे पूछे अथवा आप सब ही मुझ से पूछें। अथवा जिसकी कामना हो उससे मैं पूछता हूं। अथवा आप सब ही से मैं पूछता हूं। उन ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य से पूछने में वा पूछे जाने में किन्हीं का साहस नहीं हुआ॥ २७॥

पदार्थ—(अथ+ह+उवाच) जब शाकल्य समाधान न कर सके और इन का शिर नीचे गिर गया तदनन्तर याज्ञवल्क्य बोले कि (भगवन्तः+ब्राह्मणाः) हे भगवान् ब्राह्मणो ! (वः+यः+कामयते) आप लोगों में से जो कोई मुझ से प्रश्न करना चाहते हो (सः+मा+पृच्छतु) वह मुझ से पूछे (वा+सर्वे+मा+पृच्छत) अथवा आप सब कोई मुझ से प्रश्न करें अथवा यदि आप पूछना न चाहें तो (वः+यः+कामयते) आप में से जो चाहते हों आप में से उसको मैं ही पूछना चाहता हूं (सर्वान् वा+वः+पृच्छामि+इति) अथवा आप सबको मैं पूछता हूं ? समाधान करें (ते+ह+ब्राह्मणाः+न+दधृषुः) इस प्रकार पूछने पर भी वे ब्राह्मण कोई धृष्ट न हुए अर्थात् किन्हीं ने ऐसा साहस न किया। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य ने ७ श्लोकों से इन ब्राह्मणों को पूछा और स्वयं समाधान किया, इस प्रकार जनक की सभा के वाद विवाद समाप्त हुए, उन सात श्लोकों को २८ वें कांड में इससे आगे देखो ॥ २७ ॥

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ—

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा ।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पटिका बहिः ॥ २८ ॥ १ ॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः ।
तस्मात्तदातृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादि वाहतात् ॥ २८ ॥ २ ॥

अनुवाद—उनको इन श्लोकों से याज्ञवल्क्य ने पूछा—जैसे वनस्पति वृक्ष है वैसा ही यह पुरुष है। इसमें असत्यता नहीं, उसके केश मानो पत्ते हैं। इसका चर्म्म मानो बाहरी बकल है। इसके चर्म्म से रुधिर निकलता, वृक्ष के भी बकल से निर्यास (गोंद) निकलता है ॥ २८ ॥ १—२ ॥

पदार्थ— प्रथम यहां तीन श्लोकों से वृक्ष और पुरुष की समानता कहेंगे। (तान्+ह+एतैः+श्लोकैः+पप्रच्छ) याज्ञवल्क्य ने उन सभास्थ ब्राह्मणों को इन वक्ष्यमाण श्लोकों के द्वारा पूछा. वे श्लोक ये हैं (यथा+वनस्पतिः+वृक्षः) जैसे वन में महान् वृक्ष शोभित होता है "यहां वनस्पति अन्य वृक्ष का विशेषणमात्र है, वन का पति अर्थात् महान्" (तथा+एव पुरुषः) वैसा ही सब प्राणियों में पुरुष है (अमृषा) मृषा+मिथ्या। अ=नहीं। अर्थात् वृक्ष के समान पुरुष है, इसमें सन्देह नहीं। आगे दोनों की समानता दिखलाते हैं—(अस्य+लोमानि+पर्णानि) पुरुष के जो केश हैं वे ही मानो पर्ण=वृक्ष के पत्ते हैं (त्वग्+अस्य+उत्पाटिका+बहिः) मनुष्य का जो चर्म्म है वही मानो वृक्ष की बाहरी त्वचा के समान है (अस्य+त्वचः=एव+रुधिरम्+प्रस्यन्दि) जैसे मनुष्य के चर्म्म से रुधिर निकलता है वैसा ही (त्वचः+उत्पटः) वृक्ष के वल्कल से उत्पट=निर्यास गोंद निकलता है (आहतात्+वृक्षात्+रसः+इव) जैसे आहत वृक्ष से रस निकलता है वैसा ही (आतृण्णात्+तस्मात्+तत्+प्रैति) हिंसित पुरुष से वह रुधिर निकलता है। इन कारणों से वृक्ष और पुरुष दोनों समान हैं ॥ २८ ॥ १—२ ॥

मांसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्नाव तत्स्थिरम् ।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥ २८ ॥ ३ ॥

अनुवाद—इस (पुरुष) के मांस मानों वृक्ष की वल्कल के तह पर तह है इसके स्थिर स्नाव (भीतर की नाड़ी) मानो वृक्ष का कीनाट (वृक्ष की शिरा) है, हड्डियां मानो भीतर के दारु हैं और पुरुष का मज्जा और वृक्ष का मज्जा दोनों तुल्य हैं ॥ २८ ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अस्य+मांसानि+शकराणि) पुरुष के शरीर में जो मांस है वह वृक्ष की त्वचा के तह दरतह के सदृश है। (तत्+स्थिरम्+स्नाव) पुरुष का स्थिर जो स्नाव=नाड़ी है वह (कीनाटम्) वृक्ष की शिरा के तुल्य है (अस्थीनि+अन्तरतः+दारूणि) हड्डियां आन्तरिक दारु के तुल्य हैं (मज्जा+मज्जोपमा+कृता) मज्जा, मज्जा के समान है, इस प्रकार वृक्ष और पुरुष तुल्य है। अब आगे पुरुष के कारण की जिज्ञासा करेंगे ॥ २८ ॥ ३ ॥

यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान् मूलात् प्ररोहति ॥ २८ ॥ ४ ॥
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत् प्रजायते ।
धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः ॥ २८ ॥ ५ ॥

अनुवाद—किन्तु वृक्ष कट जाने पर भी जड़ से पुनः नवीनतर उगता है मृत्यु से मारित पुरुष किस मूल से पुनः उत्पन्न होता ? (यह मेरा प्रश्न है) ॥ २८ ॥ ४ ॥

पुरुष रेत से होता है ऐसा न कहें क्योंकि वह जिन्दे से होता है, निश्चय वृक्ष तो मरजाने पर भी झट बीज से उत्पन्न हो जाता है ॥ २८ ॥ ५ ॥

पदार्थ—अब वृक्ष—पुरुष की समानता दिखला याज्ञवल्क्य प्रश्न पूछते हैं—(यद्+वृक्णः+वृक्षः) जब जड़ छोड़कर वृक्ष काटा जाता वा इसकी शाखाएं काटी जाती हैं तब (पुनः+मूलात्+नवतरः+रोहति) पुनः मूल से वा छिन्न शाखा के स्थान से और नवीन वृक्ष उगता है, यह प्रत्यक्ष है (स्वित्+मृत्युना+वृक्णः+मर्त्यः) परन्तु जब मरणधर्म्मा मनुष्य को मृत्यु मार लेता है (कस्मात्+मूलात्+प्ररोहति) तब वह पुरुष किस मूल से पुनः उत्पन्न होता है ? हे ब्राह्मणो ! यह मेरा प्रश्न है ॥ २८ ॥ ४ ॥

(रेतसः+इति+मा+वोचत) यदि कहो कि वीर्य्य से ही मनुष्य उत्पन्न हो जाता है, यह प्रश्न ही आप का तुच्छ है, इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि रेत से पुरुष हो जाता है ऐसा मत कहें क्योंकि (तत्+जीवतः+प्रजायते) वह रेत तो जीवित पुरुष से ही होता है वृक्ष का तो अन्य ही हिसाब है (धानारुहः+इव+वै+वृक्षः) वृक्ष कटजाने पर भी अपने बीज से उत्पन्न होता है इस प्रकार (प्रेत्य+अञ्जसा+संभवः) मर कर भी अच्छी तरह से वृक्ष उत्पन्न होता रहता है। धानारुह=धाना=बीज। उससे जो हो वह धानारुह। इव शब्द यहां विरुद्ध धर्म्म दिखलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, वै शब्द प्रसिद्ध को दिखलाता है। भाव यह है कि जैसे वृक्ष मरजाने पर भी अपने मूल और बीज से पुनः उत्पन्न हो जाता है यह प्रसिद्ध है। वैसे ही मरने के पश्चात् मनुष्य का कोई भी मूलकारण नहीं दीखता जिससे उसकी उत्पत्ति कही जाय परन्तु इसका भी वृक्षवत् कोई कारण होना चाहिये ॥ २८ ॥ ५ ॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत् ।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥ २८ ॥ ६ ॥
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः ।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति ॥ २८ ॥ ७ ॥

अनुवाद—यदि मूलसहित वृक्ष को उखाड़ देवें तो वह पुनः उत्पन्न नहीं होता किन्तु मृत्यु से मारित मनुष्य किस मूल से प्ररोहित होता है ॥ २८ ॥ ६ ॥

जो उत्पन्न हो चुका है वह पुनः नहीं होता है। निश्चय इसको पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? जो विज्ञान और आनन्दरूप ब्रह्म है, वही धनदाता, स्थिर और ब्रह्मविद् का परायण है ॥ २८ ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यद्+समूलम्+वृक्षम्+आवृहेयुः) यदि जड़ सहित वृक्ष को उत्पाटित कर देवें तो (पुनः+न+आभवेत्) वह पुनः उत्पन्न नहीं होता (स्वित्+मृत्युना+वृक्णः+मर्त्यः) किन्तु मृत्यु से मारित मनुष्य (कस्मात्+मूलात्+प्ररोहति) किस मूल से उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥ ६ ॥

(जातः+एव+न+जायते) जो उत्पन्न हो चुका वह पुनः उत्पन्न नहीं होता अर्थात् जो उत्पन्न हो चुका है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता यह बात नहीं परन्तु प्रश्न मेरा यह है कि (नु+एनम्+पुनः+कः+जनयेत्) इस मृतपुरुष को पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? यह आप लोग कहें। इस प्रश्न का उत्तर किन्हीं ब्राह्मणों से जब नहीं हुआ तब स्वयं ऋषि उत्तर देते हैं, वह यह है—(विज्ञानम्+आनन्दम्+ब्रह्म) जो विज्ञान और आनन्द ब्रह्म है वही सब का कारण है जो (रातिः+दातुः) धन को दान करते हैं अर्थात् कर्मसङ्गी हैं (तिष्ठमानस्य) जो ज्ञान में दृढ़ हैं और (तद्+विदः+इति) जो उस ब्रह्म के जाननेहारे हैं। इन सब का (परायणम्) वही ब्रह्म परमगति है। रातिः=धन यह षष्ठ्यर्थ में प्रथमा है। परायण पर+अयन=पर=उत्कृष्ट, अयन=गति ॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये तृतीयाध्यायस्य भाष्यं समाप्तम् ॥ ३ ॥

* ओ३म् *

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायारम्भः

जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज तं होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानिति । उभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

अनुवाद—कभी एक दिन की यह वार्त्ता है कि विदेहाधिपति जनक महाराज बैठे हुए थे । इसी समय वहां महर्षि याज्ञवल्क्य आ पहुंचे उनसे जनक महाराज बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आप किस प्रयोजन से यहां आये हैं ? पशुओं की इच्छा करते हुए अथवा अण्वन्तों (अति सूक्ष्म तत्त्वों) को चाहते हुए (आप यहां आये हैं), याज्ञवल्क्यजी ने उत्तर दिया कि हे सम्राट् ! दोनों ही के लिये ॥ १ ॥

पदार्थ—प्रजाओं के विविध प्रकार के ऊंच नीच वचन सुनने तथा आचार्यों के उपदेश ग्रहण करने के निमित्त मनोविनोदार्थ (ह+वैदेहः+जनकः+आसाञ्चक्रे) कदाचित् विदेह देश के अधिपति जनक महाराज बैठे हुए थे । (अथ+याज्ञवल्क्यः+आवव्राज) अनात्मविद् स्वल्पज्ञ मनुष्यों से उपदेश सुनते हुए महाराज को जान उससे अयथार्थग्राही राजा न होजायँ इस अनुग्रह से उसी काल में याज्ञवल्क्य आ पहुंचे । अनवसर आए उनको देख विधिवत् पूज आसन पर बैठा (तम्+ह+उवाच+याज्ञवल्क्य+किमर्थम्+अचारीः) उनसे राजा हास्य से बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! किस निमित्त अनवसर आप आये हुए हैं ? क्या (पशून्+इच्छन्) गोधन की इच्छा करते हुए आप इस समय आये हुए हैं ? क्योंकि प्रायः मनुष्य राजा के समीप इसी आशय से दौड़ते हैं परन्तु आप तो अभी विवाद से सबों को परास्त करके गायों को लेगये हैं । अतः उसके लिये तो आपका आगमन कदाचित् नहीं होगा । इस हेतु राजा दूसरा पक्ष पूछते हैं । हे याज्ञवल्क्य ! क्या (अण्वन्तान्) जिनका अन्त अत्यन्त सूक्ष्म है ऐसे जो तत्त्व उनकी इच्छा करते हुए आप आये हैं अर्थात् अन्य आचार्यों ने जो कुछ अनुशासन कृपया मुझे दिये हैं वे सम्यक् दर्शन (अच्छे प्रकार ज्ञान) के साधन हैं या नहीं ? यह मुझे ग्रहण करवाने के लिये मेरे ऊपर अनुकम्पा करके आप आये हैं । यह अनवसर आपका आगमन क्यों है (इति+ह+उवाच+सम्राट्+उभयम्+एव+इति) राजा का वचन सुन वे याज्ञवल्क्य बोले कि हे सार्वभौम राजन् ! दोनों ही अर्थात् पशु ग्रहणार्थ तथा तत्त्व-निर्णयार्थ इन दोनों के लिये मैं यहां आया हूँ । इति समास सूचक है ॥ १ ॥

भाष्यम्—प्रजानामुच्चावचानि वाक्यानि श्रोतुमाचार्याणाञ्चोपदेशं ग्रहीतुं च मनोविनोदाय कदाचिज्जनको ह वैदेहो विदेहाधिपतिः । आसाञ्चक्रे आसीन आसीत् । अथासीनं शृण्वन्तं चोपदेशमनात्मविद्भ्यः स्वल्पज्ञेभ्यो महाराजं निश्चित्य तेनायथार्थग्राही माभूद्राजेत्यनुग्रहेण तस्मिन्नेव समये याज्ञवल्क्यस्तत्र आवव्राज आगतवान् । अनवसरे आगतमाचार्यं विधिना प्रपूज्य आसने उपवेश्य हास्येन तं याज्ञवल्क्यमुवाच राजा ।

हे याज्ञवल्क्य ! किमर्थं कस्मै निमित्ताय अचारीः मत्समीपमागतः । कच्चित्त्वं पशून् गाः ग्रहीतुमिच्छन् कामयमानः सञ्जागतः । यतो राजसमीपं प्रायोऽनेनाऽशयेन जना धावन्ति । गावस्तु सम्प्रत्येव त्वया विवादेन सर्वानतिक्रम्य हृताः । अतस्तदर्थं तवाऽऽगमनं कदाचिन्न भविष्यति । अतो राजा पक्षान्तरं पृच्छति । उत हे याज्ञवल्क्य ! अण्वन्तान् इच्छन् अणुरत्यन्तसूक्ष्मोऽन्तो येषां तान् अण्वन्तान् अतिसूक्ष्मान्तानि तत्त्वानि अवधारयितुं कदाचित्त्वमागतः । इतरैराचार्यैर्मह्यं यान्यनुशासनानि कृपया प्रदत्तानि तानि सम्यग् दर्शनसाधनानि आहोस्विन्नेतीति मां ग्राहयितुमनुकम्पया समायातोऽसि कथमनवसरे तवाऽऽगमनम् । इति सम्राजो वचनं हास्यकरमवलोक्य हे सम्राट् ! सार्वभौम ! उभयम्—पशून् अण्वन्तान् चेच्छन्नहमागतोऽस्मीन्युवाच याज्ञवल्क्यः सम्यग् राजते इति सम्राट् "येनेष्टं राजसूयेन, मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडथ राजकम्" । येन राजसूयेन क्रतुविशेषेण इष्टम् ब्रह्मणो यजनं कृतम् । यश्च मण्डलस्य प्रभुः । यश्च स्वाज्ञया इतरान् सर्वान् राज्ञोऽनुशास्ति । ईदृशविशेषणत्रयेण सहितो राजा सम्राट् कथ्यते ॥ १ ॥

भाष्याशय—"अण्वन्त" अणु+अन्त । जिनका अन्त सूक्ष्म है । यहां मूल में "तत्त्वशब्द का पाठ नहीं है परन्तु प्रकरण के अभिप्राय से तत्त्व शब्द लिया गया है" जो आध्यात्मिक विज्ञान बहुत सूक्ष्म है विरला ही कोई समझ सकता है उसे "अण्वन्त" कहते हैं । "सम्राट्—सम्+राट्" जो अच्छी तरह से सब प्रकार से सुशोभित हो उसे सम्राट् कहते हैं । यह पदार्थ है । अमरकोश कहता है (येन) जिसने (राजसूयेन) राजसूय नाम के यज्ञ से (इष्टम्) ब्रह्म यजन किया है (यः+च) और जो (आज्ञया) अपनी आज्ञा से (राज्ञः) अन्यान्य राजाओं को (शास्ति) शासन करता है (सः सम्राट्) वह सम्राट् कहाता है ॥ १ ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येतदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ २ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उस को हम सुनें । जनक—शैलिनि जित्वा ने मुझसे कहा है कि वाणी ही परम आदरणीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—

जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुष (अपने शिष्य को) उपदेश देवे वैसे शैलिनी जित्वा ने कहा है कि "वाणी ही ब्रह्म है (आदरणीय वस्तु) है" क्योंकि न बोलते हुए (मूक पुरुष) को क्या लाभ हो सकता है परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ? जनक—मुझ से नहीं कहे हैं । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! तब यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—वाणी ही आयतन है आकाश (परमात्मा) प्रतिष्ठा है इस वाणीरूप आदरणीय वस्तु को "प्रज्ञा" मानकर उपासना करें । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रज्ञता क्या है ? याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! वाणी ही (इसकी प्रज्ञता है) हे सम्राट् ! वाणी से ही बन्धु जाना जाता है । ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित, यह लोक और परलोक और सब प्राणी वाणी से ही जाने जाते हैं । हे सम्राट् ! वाणी ही परम आदरणीय वस्तु है । आगे फल कहते हैं—इस (पुरुष) को वाणी नहीं छोड़ती है । सब प्राणी (मिलकर) इस की रक्षा करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है जो साधक इस प्रकार जानता हुआ इस वाणीरूप ब्रह्म की उपासना करता है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) आपको हाथी के समान एक साँड के साथ एक सहस्र गायें देता हूं । याज्ञवल्क्य—राजन् ! मेरे पिता की एक यह सम्मति थी कि शिष्य को विना समझाये उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ २ ॥

पदार्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे सम्राट् ! (ते+कश्चित्+यत्+अब्रवीत्+तत्+शृणवाम) आपको किसी आचार्य ने जो कुछ उपदेश दिया है उसको हम सुनें । अर्थात् आप के बहुत आचार्य हैं इस हेतु आप बहुश्रुत हैं परन्तु उस २ उपदेश की यथार्थता=उचित अर्थ को आप धारण करते हैं वा नहीं और वे आचार्य भी आपको यथार्थ शिक्षा देते हैं वा नहीं ? इन बातों का निर्णय करने के लिये मैं यहां आया हूं । इस हेतु हे राजन् ! उन लोगों ने आप को जो कुछ उपदेश दिया है उसको प्रथम मैं सुनना चाहता हूँ । उसमें यदि कोई न्यूनता होगी तो उसको पूर्ण करूंगा । याज्ञवल्क्य के इस वचन को सुनकर जनक महाराज बोले कि (शैलिनिः+जित्वा+मे+अब्रवीत्+वाग्+वै+ब्रह्म+इति) शिलिनाचार्य के पुत्र जित्वा ने मुझ से कहा कि वाणी ही ब्रह्म है अर्थात् परम आदरणीय वस्तु है । शैलिनि के कहे हुए उपदेश की प्रशंसा के लिये शैलिनि भी आप्त पुरुष है इसका भी वचन श्रोतव्य है । इस हेतु आगे तीन विशेषण याज्ञवल्क्य कहते हैं (यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ब्रूयात्+तथा+शैलिनिः+अब्रवीत्+तत्+वाग्+ब्रह्म+इति) जैसे अच्छी माता वाला पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष अपने शिष्य को उपदेश देवे वैसे ही शैलिनि ने आप से कहा कि "वाणी ही ब्रह्म है" स्वयं मुनि याज्ञ० हेतु कहते हैं—(हि+अवदतः+किं+स्यात्) क्योंकि न बोलते हुए मूक=गूँगा पुरुष को क्या लाभ है उस हेतु "वाणी ही ब्रह्म है" शैलिनि का यह कथन उचित है (तु+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+ते+अब्रवीत्) परन्तु उस वाणीरूप ब्रह्म का शरीर तथा आश्रय भी आप से उसने कहा है क्या ? जनक कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+मे+न+अब्रवीत्) मुझ से आयतन और प्रतिष्ठा तो उसने नहीं कही है । याज्ञवल्क्य कहते हैं तब (सम्राट्+एतद्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह विज्ञान=उपदेश एक पैरवाला है यह तीन चरणों से हीन केवल एक चरण की यह उपासना है इस हेतु यह त्याज्य है । राजा कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+वै+सः+नः+ब्रूहि) हे याज्ञवल्क्य ! तब निश्चय करके वह परम माननीय तत्त्वविद् आप ही मेरे आचार्य हैं सो आप ही हम लोगों को उपदेश देवें । याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे राजन् ! (वाग्+एव+आयतनम्) वाणी का शरीर वाणी ही है अर्थात् विविधपद विविध भाषाएं विविध मनुष्य

पश्चादिकों के वचन आदि ही वाणी का शरीर है (आकाशः+प्रतिष्ठा) अन्तर्यामी परमात्मा ही इसका आश्रय है (यहां आकाश शब्द परमात्मवाचक है, क्योंकि अन्ततोगत्वा सब का आश्रय वही परमात्मा है) (एतत्+प्रज्ञा+इति+उपासीत) हे सम्राट् ! इस वाणी रूप ब्रह्म को अच्छा विज्ञान मान कर वाणी सम्बन्धी गुणों का अध्ययन करें । जनक पूछते हैं—(का+प्रज्ञता+याज्ञवल्क्य+इति) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रज्ञता=विज्ञान कौन है ? अर्थात् वाणी के जानने के लिये कौन शास्त्र है ? (ह+उवाच+सम्राट+वागेव) याज्ञवल्क्य बोले कि हे सम्राट् वाणी ही इसका शास्त्र है । आगे कारण कहते हैं—(वै+सम्राट्+वाचा+बन्धुः+प्रज्ञायते) निश्चय ही हे राजन् ! वाणी से बन्धु, मित्र, निज, पर सब जाना जाता है । (ऋग्वेदः+यजुर्वेदः+सामवेदः+अथर्वाङ्गिरसः+इतिहासः+पुराणम्+विद्याः+उपनिषदः+श्लोकाः+सूत्राणि+अनुव्याख्यानानि+व्याख्यानानि) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद, इतिहास और पुराण, पशुविद्या, वृक्षविद्या, भूगोलविद्या, इत्यादि विद्याएं, उपनिषदें=अध्यात्मविद्याएं, श्लोकबद्ध काव्य, अति संक्षिप्त सारवाले, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब वाणी से ही जाना जाता है । (इष्टम्+आशितम्+पायितम्+अयम्+लोकः+परः+च+लोकः+सर्वाणि+भूतानि+सम्राट्+वाचैव+प्रज्ञायते) विविध यागसम्बन्धी धर्म्म, अन्न सम्बन्धी दान, पान-योग्य वस्तुसम्बन्धी धर्म्म यह पृथिवी लोक, इस पृथिवी स पर जो सूर्य्यादि लोक लोकान्तर विद्यमान हैं और उस उस लोक के सब प्राणी अथवा पृथिवी आदि महाभूत ये सब पदार्थ हे राजन् ! वाणीविज्ञान से ही अच्छे प्रकार जाने जाते हैं अतः हे सम्राट् (वाग्+एव+परमं+ब्रह्म) वाणी ही परम ब्रह्म है । आगे फल कहते हैं— यः+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपासते+एनम्+वाग्+न+जहाति) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस वाणीशास्त्र को अध्ययन करता है इस उपासक को वाक् शास्त्र नहीं त्यागता है । और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति) इस साधक की सब प्राणी रक्षा करते हैं और (देवः+ भूत्वा+देवान्+अप्येति) वाणीशास्त्र के प्रभाव से स्वयं दिव्य गुण विशिष्ट होकर अच्छे अच्छे विद्वान् अच्छे अच्छे अपूर्व वस्तु को प्राप्त करता है । इतना वचन सुनकर (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच+हस्त्यृषभम्+सहस्रम्) महाराज जनकजी कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! हाथी के समान एक ऋषभ के साथ सौ गाएं देते हैं । आप उसे ग्रहण करें यह सुन (स+होवाच+याज्ञवल्क्यः) वह याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे राजन् ! (मे+पिता+अननुशिष्य+न+हरेत) मेरे पिताजी का यह मत था कि न सिखला करके अर्थात् शिष्य को अच्छे प्रकार बोध और कृतार्थ न करके न हरण करना चाहिये । उससे कुछ लेना न चाहिये (इति) ऐसा मैं भी मानता हूं । इस हेतु मैं भी आप से धन लेना नहीं चाहता हूं ॥ २ ॥

भाष्यम्—यस्ते इति । हे सम्राट् ! सम्प्रति ते तुभ्यं यः कश्चिदाचार्य्यः । तत् किमपि अब्रवीदुपादिशत् । तत्सर्वं वयं शृणवाम । तव सन्त्यनेकाचार्य्याः । अतस्त्वं बहुश्रुतः । तत्तद्याथार्थ्यमपि धारयसि न वा, एवं तेऽपि परमार्थमुपदिशन्ति न वेति निर्णेतुमागतोऽस्मि । अतो हे सम्राट् ! यत्किमपि ते तैरुपदिष्टं तत्प्रथमं श्रोतुमिच्छामि । तत्र यदि कापि न्यूनता स्यात् । तर्हि प्रपूरयिष्यामि । इति याज्ञवल्क्यवचनं श्रुत्वा "जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति" वाग्वै परमादरणीयं वस्त्विति मेऽब्रवीदित्युवाच जनकः । शिलिनस्याऽपत्यं शैलिनिः । जित्वेति नामवान् कश्चिदाचार्यः । जयति जितवान्वा जित्वा । वाक्प्राबल्येन भवत्येव जनः सभायाः जेता वाग्विद्यायां नैपुण्यप्राप्त्याया विजितसमस्ताज्जित्वेति नामधेयम् । अत्र गौणेऽर्थे ब्रह्मशब्दप्रयुक्तिरादरार्थं द्योतयति । बहुनाऽऽदरेण वाग्विद्याऽधिगन्तव्या ।

शैलिनिनोपदिष्टमर्थं स्तोतुकामस्तस्याऽऽसत्वप्रयोजकीभूतं शुद्धित्रयमाह—यथेति । प्रशस्ता माता यस्य स मातृमान् । आपञ्चवर्षात् प्रथमवयसि यस्य पुत्रस्य जननी अनुशासित्री विद्यते । प्रशस्तः पिता यस्य स पितृमान् । ततः पञ्चमवर्षादूर्ध्वमुपनयपर्यन्तं यस्य पिता शिक्षकोऽस्ति । प्रशस्त आचार्यो यस्य आचार्यवान् । उपनयनादूर्ध्वमासमावर्तनाद् यस्यानुशासिताऽऽचार्यो विद्यते ॥

भूम निन्दा प्रशंसासु, नित्ययागेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

ईदृशत्रिशेषणत्रयेण विशिष्टः कश्चित्पुरुषः यथा स्वशिष्याय ब्रूयात् तथा स शैलिनिस्तुभ्यं तद्वाग्वै ब्रह्मेत्यब्रवीत् । अत्र मुनिरेव हेतुमाह–अवदतो मूकस्य पुरुषस्य किं स्यात् । न हि तस्येह वाऽमुत्र वा किञ्चिदपि प्रयोजनं विद्यते । निःस्पृहः खलु तूष्णीमास्ते ऐहिकामुष्मिकफलभोगवितृष्णः कश्चिद्यतिरवदन् भ्रमति जगतीम् । न तेन काप्युपकृतिर्जगतामतः सर्वकर्म परित्यज्य मूकेन न भाव्यम् । एतेन अहं ब्रह्मास्मीति मत्वा नैष्कर्म्याचरणमनुचितमित्यपि दर्शितम् । अतस्तद्वचनमाप्तत्वदादेयमित्यत्र न किमपि वाच्यमस्ति । तु किन्तु हे सम्राट् ! ते तुभ्यम् । सः तस्य वाग्ब्रह्मणः । आयतनं शरीरम् । प्रतिष्ठाञ्च त्रिष्वपि कालेष्वाश्रयञ्चाऽब्रवीत् किम्? इति याज्ञवल्क्येन पृष्टो राजा न मे ब्रवीतीत्युवाच—न मह्यमायतनं न च प्रतिष्ठामाब्रवीदित्यर्थः । तर्हि हे राजन् ! एतदुपासनम् । एकपादेव वर्त्तते । एकः पादो यस्य तदेकपाद् । त्रिभिश्चरणैरहितमिदमुपासनम् । अतो हेयमित्याशयः । हे याज्ञवल्क्य ! यदि एकपादिदम् तर्हि सर्वभावज्ञः सर्वपदार्थतत्त्वविन्ममाचार्यस्त्वमस्त्येव । स त्वमेव नोऽस्मभ्यं ब्रूहि एतदर्थमेव आगतोऽपि वर्तसे । हे राजन् ! तर्हि शृणु । अस्य वाग्ब्रह्मणः । आयतनं शरीरं वागेव वचनमेव । विविधभाषाः विविधपश्वादीनां भाषणमित्यादि शरीरम् । प्रतिष्ठा तु आकाशः । अत्र प्रकरणे परमात्मवाची आकाशशब्दः सर्वत्र वेदितव्यः । अन्ततो गत्वा परमात्मैव सर्वेषामाश्रयः । हे राजन् ! एतद्वाग्ब्रह्म । प्रज्ञेति प्रकृष्टं विज्ञानमिति मत्वा उपासीत विचारयेदधीयीत । जनकः पृच्छति—हे याज्ञवल्क्य ! तस्य का प्रज्ञता ? प्रकृष्टा ज्ञा यस्येति प्रज्ञम् । प्रज्ञस्य भावः प्रज्ञता । यद्वा प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञम् तस्य भावः । याज्ञवल्क्य आह—हे सम्राट् ! तस्य वागेव प्रज्ञता । नाऽन्यदित्यर्थः । अत्र हेतुमाह मुनिः । हे सम्राट् ! वै निश्चयेन । वाचैव बन्धुः प्रज्ञायते । अयं अस्मद्बन्धुरस्तीति वाण्या भाषणे कृते ततोऽयं मम बन्धुरिति विज्ञायते । ततो विज्ञातः यथायोग्यं स सत्कारमालभते । इह हि वागेव कारणम् । एवम् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राणि अनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि इमानि सर्वाणि वाचैव विज्ञायन्ते । एतेषामर्थस्तु मैत्रेयीब्राह्मणे द्वितीयेऽध्याये उक्तो वेदितव्यः । तथा इष्टं यागनिमित्तं धर्मजातम् । हुतं होमनिमित्तम् । आशितमन्नदाननिमित्तं । पायितं पेयवस्तुदाननिमित्तधर्मजातम् । तथा अयञ्च लोकः इह लोकस्थ सर्ववृत्तान्तः । तथा परश्च लोकः । अस्माल्लोकात्परो यो विविधसूर्यादिर्लोको दृश्यते तत्स्थः सामान्येन वृत्तान्तश्च । एवं सर्वाणि च भूतानि तत्तल्लोकस्थप्राणिजातानि । यद्वा पृथिव्यादीनि महाभूतानि । इत्यादीनि जगति सहस्रशो विद्यमानानि वस्तूनि तत्त्वानि वा । वाचैव प्रज्ञायन्ते । अतो हे सम्राट् ! वाग्वै परमं ब्रह्म परममादरणीयं

वस्तु । वाग्वा आदर्तव्या । आदरबुध्या च तद्गतधर्मा अध्येतव्याः । अग्रे एतदुपासकस्य फलमाह—नैनमिति । यः कश्चिदुपासकः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विद्वान् जानन् सन् । एतद्वाग्ब्रह्मोपास्ते अधीते विचारयति । एनमुपासकम् । वाग् कदापि न जहाति त्यजति वाग्विलासविद्यायां वर्धत एव सः । न केवलो वाण्या अनुग्रहः । तत्प्रभावेण तु सर्वाणि भूतानि प्राणिनः एनमुपासकम् अभिरक्षन्ति अभितः पालयन्ति । तस्मिन् आपतन्त्या महत्या अपि विपत्तेः सकाशात्तं वाग्मिनं बलिदानाद्युपहारैः रक्षन्ति एवम् देवो भूत्वा देवान् अप्येति इहहि संजातदेवभावो परमविद्वान् भूत्वा देवान् दिव्यगुणयुक्तान् पुरुषान् दिव्यान् गुणान् वा अभूतपूर्वाणि दिव्यानि विज्ञानानि वा अप्येति प्राप्नोति । अपिपूर्वकादितेः लटि रूपम् । अहो वाग्देवता यस्मिन् प्रसीदति । तस्य यशः को न गायति । वाल्मीकिव्यासादीनां महाकवीनां प्रातःस्मरणीयं नामधेयं गृहे गृहे कदा न कीर्त्यते । "किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नएवान्तानिति" पृष्टेन याज्ञवल्क्येन उभयमेव सम्राडिति प्रत्युक्तम् । अएवन्तानि तत्त्वान्युपदिष्टानि । याज्ञवल्क्येन सम्प्रतिजनककर्तृकप्रदेयाः पशव एव शिष्यन्ते । अतः स्वप्रतिज्ञामनुस्मरन्नुपदेशेन सुप्रसन्नः सन् वैदेहो जनकस्तं प्रत्युवाच—हे याज्ञवल्क्य ! हस्त्यृषभं गवां सहस्रं तुभ्यमहं ददामि त्वं तत्त्वी[illegible] । [illegible]स्ततुल्य एक ऋषभो यस्मिन् तद्हस्त्यृषभम् । यस्मिन् गवां सहस्रे एक ऋषभो महोक्षो गजसमानोऽस्ति । एवं गावश्चापि दोग्ध्र्यो दीयन्ते ब्रह्मविदे । अतो हे याज्ञवल्क्य ! घटोध्न्यः सर्वाः वर्त्तन्ते । एवं सम्राड्वचनं श्रुत्वेतर आह—हे सम्राट् । अननुशिष्य शिक्षामकृत्वा शिष्याय सम्यग् शिक्षां न दत्वा तं कृतार्थञ्च न कृत्वा ततो धनं न हरतेति । मे मम पिता मन्यते मन्यते स्म । अहमपि एतदेव मन्ये । अत इदानीं न गोसहस्र स्वीकारः ॥ २ ॥

भाष्याशय—"जित्वा" जो सभा में विजयी होवे वा जिसने सभा जीती है उसे "जित्वा" कहते हैं । यह बात प्रसिद्ध है कि जिसको वाणी विद्या में निपुणता प्राप्त होगी वह अवश्य ही विजयी होगा । यह शिलिनाचार्य का पुत्र वाणी विद्या में ही निपुण था और इसी का उपदेश दिया करता था । अतः इसका नाम जित्वा था ।

"वाग् वै ब्रह्म" यहां ब्रह्म शब्द गौण अर्थ में आया है । यहां केवल आदर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आदर से वाणीशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये और इस पवित्र वाणी को मिथ्यादि भाषण से कदापि दूषित न करे अतः यहां "ब्रह्म" श[illegible] पाठ है ।

मातृमान् इत्यादि—राजा जनक को शैलिनि जित्वा के वचन पर अविश्वास अश्रद्धा न होजाय इस हेतु यह आप्त पुरुष है क्योंकि इसने माता, पिता, आचार्य से शिक्षा पाई है । इत्यादि विषय कहने को "मातृमान्" आदि तीन विशेषण कहते हैं । जिसकी माता अच्छी विदुषी हो और और पञ्चवर्ष तक उस माता से शिक्षा पाई हो उसे 'मातृमान्' । इसी प्रकार उपनयन संस्कार पर्य्यन्त जिसने विद्वान् पिता से शिक्षा पाई हो उसे "पितृमान्" एवं समावर्त्तन पर्य्यन्त गुरु के आश्रय रहकर पूर्ण अध्ययन किया हो, आचार्य भी उसे यत्नपूर्वक पढ़ाता हो उसे "आचार्यवान्" कहते हैं । हे राजन् ! यह जित्वा इन तीन गुणों से संयुक्त है इस हेतु इसका कथन सत्य है क्योंकि जो लोग भाषण नहीं करते हैं वा ऐहिक पारलौकिक सुखरूप फल को त्याग कर वाणी द्वारा किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होते हैं और इसी को परमधर्म मानकर "मूक" बन जाते हैं । अथवा अपने को "अहं ब्रह्मास्मि" मान सब कर्म से निवृत्त

हो मौन साध बैठ जाते हैं। उस मनुष्य से अपना और जगत् का क्या लाभ हो सकता है। इस हेतु वाणी आदरणीय है। यहां जित्वा का कथन सर्वथा सत्य है, परन्तु इस वाणी का आयतन और प्रतिष्ठा ये दो अङ्ग और होते हैं सो उन्होंने आप से कहे या छिपा रक्खे यदि छिपा रक्खे अथवा उनके विषय में आपने पूछा ही नहीं। अथवा यहां तक वे जानते ही न हों तब यह उपासना उचित नहीं। यह केवल "एकपाद्" एक ही पैर वाला है। आयतन नाम शरीर का है "वागेव" वाणी का शरीर क्या है ? निःसन्देह विविध भाषाएं इसका शरीर इस हेतु वाणी शास्त्र के अध्ययन के लिये विविध भाषा जाननी चाहियें। पशु पक्षी आदि की मधुर ध्वनि के तत्त्वों को विचारना चाहिये। एवं अपनी वाणी सर्वदा शुद्ध रखनी चाहिये। परन्तु हे राजन् ! इन सबों के प्रयोजन के ऊपर ध्यान देना चाहिये।

आकाश—इन वाणियों का आश्रय अन्त में वही ब्रह्म है। सारी वाणी का मूलकारण ब्रह्म है उस ब्रह्म से प्रथम वेदरूप वाणी निकली तब संसार में अनेक भाषाएं काव्यादि हुईं। इस हेतु सब का अन्तिम तात्पर्य ब्रह्म ही है। हे राजन् ! इसकी भी जो परम प्रतिष्ठा हो उसे ही जानो। इस प्रकरण में सर्वत्र आकाश शब्द परमात्मा वाचक है। जो कुछ विद्या प्राप्त होती है वह वाणी के द्वारा ही। अतः बुद्धि का कारण मानो वाणी ही है इस हेतु इसको "प्रज्ञादेवी" मानकर इसके सारे गुणों को पूर्णतया विचारें। हे राजन् ! ये ही तीन इसके अवशिष्ट चरण हैं तीन ये और चतुर्थ आदर इन चारों के साथ वाणी का अध्ययन करो।

परमं ब्रह्म=परम आदरणीय वस्तु। "देवो भूत्वा देवान् अप्येति" यह नियम है कि योग्य होकर योग्य को पाता है। विद्वान् होने पर विद्वानों की गोष्ठी का अनुभव करता है। विविध ऐश्वर्य को भोगता है। अपूर्व विद्याओं को निकालता, अच्छे अच्छे गुण इसमें आते हैं। इत्यादि भाव जानना। जिसने वाग्देवता को अपने वश में कर लिया है। उसके यश को कौन नहीं गाता है। वाल्मीकि व्यासादि महाकवियों के प्रातःस्मरणीय नाम का गृह गृह में कब कीर्तन नहीं होता है ?

"हस्त्यृषभम्" राजा ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि आप किसलिये यहां आये हैं ? क्या पशुओं की वा तत्त्वनिर्णयों की इच्छा से ? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया था कि दोनों के लिये। अब तत्त्वनिर्णय करना जो इनका काम था सो इन्होंने किया। राजा की ओर से पशु देना बाकी रहा। इस हेतु राजा अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करते हुए प्रार्थना करते हैं कि इतने उपदेश के लिये आप को १००० गाय देते हैं। वे सब गायें बड़ी पुष्ट, दूध देने वाली हैं। और इसके साथ एक गज समान अतिबलिष्ठ ऋषभ महोक्ष सांड भी देते हैं (हस्तिसम ऋषभो यस्मिन्) हस्ति समान एक ऋषभ है जिसमें ऐसा समास होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य के पिता का यह सिद्धान्त था कि जबतक शिष्य अच्छे प्रकार न समझ जाय और कृतकृत्य न हो जाय तब तक उससे गुरुदक्षिणा कुछ नहीं लेनी चाहिये। इस हेतु याज्ञवल्क्य ने उस पुरस्कार को अस्वीकार किया। क्योंकि अभी तक शङ्काओं के समाधान नहीं हुए थे।

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का

प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥३॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें। जनक—शौल्बायन उदङ्क ने मुझ से कहा है कि प्राण ही आदरणीय वस्तु है। याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् उपदेश देवे वैसे ही शौल्बायन ने कहा है कि "प्राण ही आदरणीय वस्तु है" क्योंकि प्राणरहित को "क्या लाभ" हो सकता। परन्तु क्या उन्होंने आप से उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ?। जनक—मुझ से नहीं कहे हैं। याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है। जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हम से कहें। याज्ञवल्क्य—प्राण ही आयतन है आकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है। (इस प्राणरूप आदरणीय वस्तु) को "प्रिय" मानकर अध्ययन करे। जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है ?। याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! प्राण ही (इसकी प्रियता है) हे सम्राट् ! निश्चय प्राण की ही कामना के लिये अयाज्य (यज्ञ करवाने के अयोग्य पुरुष) को यज्ञ करवाता है। अप्रतिगृह्य (जिससे दान नहीं लेना चाहिये) का प्रतिग्रह लेता है। जहां वध की आशङ्का है उस दिशा में भी जाता है। यह सब कार्य हे सम्राट् ! प्राण की कामना के लिये ही मनुष्य करता है। अतः हे सम्राट् ! प्राण ही परम आदरणीय वस्तु है। इसको प्राण नहीं त्यागता, इसकी रक्षा सब प्राणी करते हैं। देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जो इस प्रकार जानता हुआ इस (प्राणरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है। जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक सांड के साथ सहस्र गायें देता हूं। हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाये विना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ३ ॥

पदार्थ—राजा से द्वितीयवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृणवाम) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें (इति) जनक महाराज कहते हैं—(शौल्बायनः+उदङ्क+मे+अब्रवीत्+प्राणः+वै ब्रह्म) शुल्वाचार्य के पुत्र उदङ्काचार्य ने मुझ से कहा है कि प्राण ही परम आदरणीय वस्तु है। (इति) याज्ञवल्क्य कहते हैं—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ब्रूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे। (तथा+शौल्बायनः+तत्+अब्रवीत्+प्राणः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही शौल्बायन= शुल्वाचार्य के पुत्र ने उसको कहा है कि प्राण ही परम आदरणीय वस्तु। (हि) क्योंकि (अप्राणतः+किम्+स्यात्+इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) विना प्राण के मनुष्य को लाभ क्या हो सकता है। अस्तु। उन्होंने आपसे उस प्राणरूप आदरणीय वस्तु का आश्रय और प्रतिष्ठा भी कही है। जनक—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है। याज्ञवल्क्य—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण का है। अर्थात् तीन चरणों से हीन है (इति)। जनक—(याज्ञवल्क्य+सः+वै+नः+ब्रूहि) हे याज्ञवल्क्य ! परम विद्वान् तत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य सो आप ही हम लोगों को उपदेश देवें। याज्ञवल्क्य कह०—हे राजन् ! (प्राणः+एव+

आयतनम्+आकाशः+प्रतिष्ठा+एतत्+प्रियम्+इति+उपासीत) प्राण का आयतन प्राण ही है परन्तु प्रतिष्ठा आकाश=ब्रह्म है इस प्राणरूप परम आदरणीय वस्तु को " प्रिय " मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे। जनक पू०—(याज्ञवल्क्य+का+प्रियता) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है। याज्ञवल्क्य (ह+उवाच+सम्राट्+प्राणः+एव) बोले कि हे सम्राट् ! प्राण ही अर्थात् प्राण की प्रियता प्राण ही है। इस में अनेक कारण दरसाते हैं। (सम्राट्+प्राणस्य+वै+कामाय+अयाज्यम्+याजयति) हे सम्राट् ! प्राण=जीवन की ही कामना के लिये जिसको यज्ञ नहीं करवाना चाहिये उस अयाज्य पुरुष को भी लोग यज्ञ करवाते हैं। (अप्रतिगृह्यस्य+प्रतिगृह्णाति) जिससे दान नहीं लेना चाहिये ऐसे अप्रतिगृह्य पुरुष से भी दान लेते हैं। और (तत्र+वधाशङ्कम्+अपि+भवति+याम्+दिशम्+एति) उस दिशा में वध की आशङ्का भी है तथापि जिस दिशा को जाता है अर्थात् जहां मरने की भी आशङ्का है उस दिशा को भी जाता है (सम्राट्+प्राणस्य+एव+कामाय) हे राजन् ! प्राण की ही कामना के लिये ये सब कार्य करते हैं अतः (सम्राट्+प्राणः+वै+परमम्+ब्रह्म) हे सम्राट् ! प्राण ही प्रियतर वस्तु है। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपासते+एनम्+प्राणः+न+जहाति) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस प्राणरूप परम प्रिय आदरणीय वस्तु का धर्म वा गुणों का अध्ययन करता है। इस उपासक को प्राण नहीं त्यागता है। और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति) इस उपासक की सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करते हैं। (देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) परम विद्वान् हो अथवा दिव्य ज्ञानी हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है। (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! (हस्त्यृषभम्+सहस्रम्+ददामि+इति) जिसमें हाथी के समान एक बैल है अर्थात् गज समान एक बैल (सांड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये देता हूं। आप स्वीकार करें। (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+अननुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते थे कि न शिक्षा देकर अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये विना शिष्य से कुछ लेना नहीं चाहिये। हे राजन् ! इस सम्मति के अनुकूल मैं हूं आप को मैंने पूरी शिक्षा नहीं दी है और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं, इस हेतु आपसे अभी कुछ नहीं ले सकता ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यदेवेति। द्वितीयवारं सम्राजं जनकं याज्ञवल्क्यः पृच्छति। शौल्बायनः। शुल्बस्याचार्यस्यापत्यं शौल्बायनः उदङ्को नामतः। उदङ्को नाम कश्चिदाचार्यः। प्राणो वायुः सामान्यतः। ब्रह्म परमादरणीयं प्रियं वस्तु। प्राण एव आयतनम्। अतः संचारिणः प्राणस्य बाह्यवायुरेवाऽऽयतनम्। यद्वा वायुसहितं प्राणेन्द्रियमेवाऽऽयतनम्। एतत्प्राणस्वरूपं परमादरणीयं वस्तु प्रियमिति प्रियं मत्वोपासीत तद्गतगुणा अधिगन्तव्याः। प्राणस्य प्रियत्वे हेतुमाह—हे सम्राट् प्राणस्यैव कामाय अन्नपानादिना प्राणस्यैव प्रतिपालनाय अयाज्यम् याजयितुमयोग्यं दुष्टकर्माचरन्तं पतितं पुरुषम्। सन्त्यनेके पुरुषाः घोरकर्माणः ते स्वकृतदोषमार्जनाय लोके च प्रख्यातिलाभाय यियक्षन्ति। परन्तु तेऽयाज्या एव। ईदृशं पापिनमपि प्राणकामाय याजयति। एवम् अप्रतिगृह्यस्य यस्मादुग्रकर्मणश्चौरादेः दानं न ग्रहणीयमस्ति। तस्य सकाशादपि प्रतिगृह्णाति। दानमाददाति। अपि च यां दिशं तस्करादिसंकीर्णामपि दिशम् एति गच्छति। तत्र तस्यां दिशि वधाशङ्कम् वध निमित्तमाशङ्कम् वधाशङ्का भवति तथापि तां दिशं वित्तार्थं यात्येव। हे राजन् ! एतत्सर्वं

प्राणस्य कामायैवाऽऽचरति । अतः प्राणो वै परमं ब्रह्म । परमादरणीयं प्रियं वस्तु । अन्यत् सर्वमुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे वर्क्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्त माहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवोभूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपासते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ४ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा हो उसको हम सुनें । जनक—वार्ष्णवर्क्कु ने मुझ से कहा कि चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् उपदेश देवे । वैसे ही वार्ष्णवर्क्कु ने कहा है कि चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है क्योंकि न देखते हुए मनुष्य को क्या लाभ हो सकता है । परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसकी आयतन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं । जनक—मुझसे नहीं कही है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हमसे कहें । याज्ञवल्क्य—चक्षुरिन्द्रिय ही आयतन है । आकाश (ब्रह्म) ही प्रतिष्ठा है । इस (चक्षुरूप आदरणीय वस्तु) को सत्य मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक—इसकी सत्यता क्या है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! चक्षु ही (इसकी सत्यता है) हे सम्राट् ! चक्षु से ही देखते हुए पुरुष को लोग पूछते हैं कि क्या तूने इसको देखा है । वह यदि कहता है कि मैंने देखा है तब सत्य होता है । अतः हे सम्राट् ! चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है इसको चक्षु नहीं त्यागता । इसकी रक्षा सब प्राणी करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार जानता हुआ इस (प्राणरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक—इस शिक्षा के लिये हाथी के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गायें देता हूं ! याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाये विना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ४ ॥

पदार्थ—राजा से तृतीयवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृणवाम+इति) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें । जनक महाराज कहते हैं—(वार्ष्णः+वर्क्कुः+मे+अब्रवीत्+चक्षुः+वै+ब्रह्म) वृष्णाचार्य के पुत्र वर्क्कु नामक आचार्य ने मुझ से कहा है कि चक्षु ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य क०—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ब्रूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे । (तथा+वार्ष्णः+तत्+अब्रवीत्+चक्षुः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही वार्ष्ण वर्क्कु ने उसको कहा कि चक्षु ही परम आदरणीय वस्तु है (हि+अपश्यतः+किम्+स्यात्) क्योंकि न देखते हुए पुरुष को क्या लाभ

हो सकता है (इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) परन्तु उन्होंने आपसे उस चक्षुरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहा है । जनक०—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञवल्क्य—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण का है अर्थात् तीन चरणों से हीन है । (इति) जनक०—(याज्ञवल्क्य+स+वै+नः+ब्रूहि) हे याज्ञवल्क्य—परम विद्वान् परम तत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों से उपदेश करें । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! (चक्षुः+एव+आयतनम्+आकाशः+एनत्+सत्यम्+उपासीत) चक्षुरिन्द्रिय का चक्षुगोलक ही आयतन शरीर है ब्रह्म ही अन्त में आश्रय है । इस चक्षुरात्मक परम आदरणीय प्रिय वस्तु को सत्य मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे । ज० पू०—(याज्ञवल्क्य+का+प्रियता) हे याज्ञवल्क्य ! इसकी प्रियता क्या है । याज्ञ०—(ह+उवाच+सम्राट्+चक्षुः+एव) बोले कि हे सम्राट् ! चक्षुरिन्द्रिय की सत्यता चक्षु ही है । (सम्राट्+चक्षुषा+पश्यन्तम्+आहुः) हे सम्राट् ! जब एक द्रष्टा और श्रोता दोनों विवाद करते हुए किसी निर्णय के लिये मध्यस्थ के निकट आते हैं तो जिसने नेत्र से देखा है उस पुरुष से वे मध्यस्थ लोग पूछते हैं कि (अद्राक्षीः+इति+सः+आह+अद्राक्षम्+इति+तत्+सत्यम्+भवति) क्या तूने अपने नेत्र से उसको देखा है इस के बाद यदि वह कहता है कि मैंने इसको अपनी आँखों से देखा है तब उसका कथन सत्य होता है । क्योंकि आँखों से देखी हुई वस्तु में व्यभिचार नहीं हो सकता और जो यह कहता है कि मैंने आँख से देखा तो नहीं परन्तु सुना है । इस की बात विश्वसनीय नहीं होती । क्योंकि इसमें सम्भव है कि यह असत्य हो सकता है, इस हेतु चक्षु ही सत्य है इसको सत्य मानकर गुणों का अध्ययन करे । हे राजन् ! (चक्षुः+वै+परमम्+ब्रह्म) चक्षु ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+विद्वान्+एनत्+उपासते) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस चक्षुरूप परम प्रिय आदरणीय वस्तु के धर्म वा गुणों का अध्ययन करता है (एनम्+चक्षुः+न+जहाति+एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति+देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) इस उपासक को चक्षु नहीं त्यागता है और इस उपासक को सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करते हैं परम विद्वान् हो अथवा दिव्य दृष्टि हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है। (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच+हस्त्यृषभम्+सहस्रम्+ददामि+इति) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जिसमें हाथी के समान एक बैल है अर्थात् गज समान एक बैल (सांड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये देता हूं आप स्वीकार करें (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+अननुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिता मानते थे कि न शिक्षा देकर अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये विना शिष्य से कुछ न लेना चाहिये । हे राजन् इस सम्मति के अनुकूल मैं हूं । आपको मैंने पूरी शिक्षा नहीं दी है और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं । इस हेतु आपसे अभी कुछ मैं नहीं ले सकता हूं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—यदिति वार्ष्णोवृष्णस्याऽऽचार्य्यस्यापत्यम् । नामतो वर्क्कुः । कश्चिद् वर्क्कुर्नामाचार्यः । चक्षुर्वै परमादरणीयं प्रियवस्तु । चक्षुर्गोलकं चक्षुष आयतनं शरीरम् । आकाशो ब्रह्म । एनच्चक्षुरात्मकं ब्रह्म "सत्य" मिति मत्वोपासीतः । चक्षुषः सत्यत्वे हेतुमाह मुनिः—हे राजन् ! यदा द्रष्टृश्रोतारौ विवदमानौ पुरुषौ निर्णयार्थमागच्छतः । तदा मध्यस्था चक्षुषा पश्यन्तं पुरुषं प्रति आहुः किं भोः ! त्वमिदं किं स्वचक्षुषा अद्राक्षीः । स यदि कथयति । अहमिदं स्वचक्षुषाऽद्राक्षम् । तदा तत्सत्यं मन्यन्ते अव्यभिचारात् । इतरमसत्यम् व्यभिचारात् । अतश्चक्षुर्वै सत्यम् । अन्यत्सर्वमुक्तार्थम् ॥ ४ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवाऽऽयतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत काऽनन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां काञ्चदिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रं श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट्! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें। जनक—भारद्वाज गर्दभीविपीताऽऽचार्य ने मुझ से कहा है कि श्रोत्र ही परम आदरणीय प्रियवस्तु है। याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् उपदेश देवे। वैसे ही भारद्वाज ने कहा है कि श्रोत्र ही परम प्रिय आदरणीय प्रिय वस्तु है, क्योंकि न सुनते हुए (बधिर) पुरुष को क्या लाभ हो सकता है। परन्तु क्या उन्होंने आपसे उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी कही है? जनक—मुझ से नहीं कही है। याज्ञवल्क्य—हे सम्राट्! निश्चय, यह (उपासना) एक चरण का है। जनक—हे याज्ञवल्क्य! सो आप ही हमसे कहें। याज्ञवल्क्य—श्रोत्रेन्द्रिय ही आयतन है और आकाश (परमात्मा) ही आश्रय है। इस (श्रोत्ररूप ब्रह्म) को "अनन्त" मानकर अध्ययन करे। जनक—हे याज्ञवल्क्य! इसकी अनन्तता क्या है। याज्ञवल्क्य—हे सम्राट्! दिशा ही (इस श्रोत्र की अनन्तता) है। हे सम्राट्! उसी हेतु, निश्चय कोई पुरुष जब (याम्+काम्+अपि) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व इन सबों में से किसी (दिशम्) दिशा को (गच्छति) जाता है तब (अस्याः) इस दिशा के (अन्तम्) पार को (नैव) कदापि भी नहीं (गच्छति) जाता है। अर्थात् दिशा का अन्त नहीं पाता है (हि) क्योंकि (दिशः) दिशाएं (अनन्ताः) अनन्त हैं। जिसका अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं। इसमें शङ्का होती है कि श्रोत्र का आकाश से सम्बन्ध कहा गया है दिशा से तो नहीं। इस पर कहते हैं कि (दिशः+वै+सम्राट्+श्रोत्रम्) दिशा ही श्रोत्र है अर्थात् आकाश ही उस उस प्रदेश से सम्बद्ध होकर उस उस दिशा का नाम वाला होता है, क्योंकि आकाश के अतिरिक्त दिशा कोई वस्तु नहीं। अतः हे सम्राट्! श्रोत्र ही परम आदरणीय वस्तु है। इसको श्रोत्र नहीं त्यागता इसकी रक्षा सब प्राणी करते हैं। देव होकर देवों को प्राप्त करता है। जो इस प्रकार जानता हुआ इस (श्रोत्ररूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है। जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गायें देता हूं। याज्ञवल्क्य—हे राजन्! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाये बिना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ५ ॥

भाष्यम्—भारद्वाजो भरद्वाजगोत्रोत्पन्नः। गर्दभीविपीतो नाम कश्चिदाचार्यः। ननु श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धमाहुर्विचक्षणाः। न हि श्रोत्रदिशोः। तर्हि कथं दिशो वर्णनम्।

श्रोत्रं श्रोत्रकारणं दिग्देवतेत्यर्थः । श्रोत्रमेव श्रोत्रेन्द्रियमेव । आयतनं शरीरम् । एतच्छ्रोत्रात्मकं ब्रह्म अनन्त इति मत्वोपासीत तद्गतगुणा अधिगन्तव्याः इत्यर्थः । दिशोऽनन्ततां दर्शयति—हे सम्राट् ! यतो दिशोऽनन्ता वर्तते । तस्माद्वै हेतोः यः कश्चित्पुरुषः यां काञ्च दिशं प्राचीं वा दक्षिणां वा प्रतीचीं वा उदीचीं वा ध्रुवां वा ऊर्ध्वां वा गच्छति । स गन्तापुरुषः । नैव । अस्या दिशः । अन्त पारम् गच्छति । हि यतः—अनन्ता दिशः सन्ति न विद्यतेऽतो यासां ता अनन्ताः अन्यत्सर्वं व्याख्यातप्रायम् ॥ ५ ॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्य्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ६ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें । जनक—जाबाल सत्यकाम ने मुझ से कहा है कि मन ही आदरणीय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् उपदेश देवे । वैसे ही जाबाल सत्यकाम ने कहा है कि मन ही आदरणीय वस्तु है, क्योंकि विना मन के पुरुष को क्या लाभ है । परन्तु क्या उन्होंने आप से उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी कहे हैं ? जनक—मुझ से नहीं कहे हैं । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय, यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—मन का मन ही आयतन है आकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है । इस मनःस्वरूप परम आदरणीय वस्तु को आनन्द मान कर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी आनन्दता क्या है ? याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! मन की आनन्दता मन ही है । हे सम्राट् ! प्रथम मन ही पुरुष को स्त्री के निकट ले जाता है । तब उस स्त्री में प्रतिरूप पुत्र उत्पन्न होता है वह आनन्द है । अतः हे सम्राट् ! मन ही परम आदरणीय वस्तु है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गायें देता हूं । याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मेरे पिताजी की यह सम्मति थी कि शिष्य को समझाये विना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ६ ॥

पदार्थ—राजा से पञ्चमवार याज्ञवल्क्य पूछते हैं—हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृणवाम) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें (इति+जाबालः+सत्यकाम+मे+अब्रवीत्+मनः+वै+ब्रह्म) जनक महाराज कहते हैं कि जाबाला स्त्री के पुत्र सत्यकामाचार्य ने मुझ से कहा है कि मननवृत्ति ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य कहते हैं—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ ब्रूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य

को उपदेश देवे (तथा+जाबालः+तत्+अब्रवीत्+मनः+वै+ब्रह्म+इति) वैसे ही जाबाल सत्यकाम ने उसको कहा है कि मन ही परम आदरणीय वस्तु है (हि+अमनसः+किं+स्यात्) क्योंकि जिसमें मननवृत्ति नहीं उसको इस लोक परलोक में क्या लाभ हो सकता । (इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) परन्तु आप से उस मनःस्वरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहा है ? जनक कहते हैं—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है । याज्ञवल्क्य क०—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट् ! यह उपासना एक चरण की है अर्थात् तीन चरण से हीन है । (इति+याज्ञवल्क्य+सः+वै+नः+ब्रूहि) जनक क०—हे याज्ञवल्क्य ! परम विद्वान् परम तत्त्ववित् जो हम लोगों के आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों से उपदेश कहें । याज्ञ० क०—हे राजन् ! (मनः+एव+आयतनम्+आकाशः+प्रतिष्ठा) मन का शरीर मन ही है और आकाश प्रतिष्ठा है । अन्ततोगत्वा जैसे सब की प्रतिष्ठा ब्रह्म है वैसे ही इसकी भी प्रतिष्ठा ब्रह्म ही है । (एतत् आनन्दः+इति+उपासीत) इस मनःस्वरूप ब्रह्म को आनन्दस्वरूप मानकर इसके गुणों का अध्ययन करे । जनक क०—(याज्ञवल्क्य+का+आनन्दता) हे याज्ञवल्क्य ! मन की आनन्दता क्या है ? याज्ञ० क०—(ह+उवाच+सम्राट्+मन+एव) बोले कि हे सम्राट् ! मन ही है । आगे मन की आनन्दता में हेतु कहते हैं । सामान्यरूप से मनुष्य जब स्त्री की कामना करता है तब (मनसा+वै+स्त्रियम्+अभिहार्यते) मन ही उस पुरुष को स्त्री के प्रति ले जाता है । तब (तस्याम्+प्रतिरूपः+पुत्रः+जायते) उस स्त्री में अपने रूप के समान पुत्र उत्पन्न होता है । (सः+आनन्दः) वह पुत्र आनन्दप्रद होता है इस हेतु हे सम्राट् ! मन को आनन्द मानकर इसके गुण अध्येतव्य हैं । इसी हेतु (मनः+वै+परमम्+ब्रह्म) मन ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है आगे फल कहते हैं । (यः+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपास्ते) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस मनोरूप परमप्रिय आदरणीय वस्तु के धर्म वा गुणों का अध्ययन करता है । (एनम्+मनः+न+जहाति) इस उपासक को मन नहीं त्यागता है । और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+अभिरक्षन्ति+देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) इस उपासक की सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करते हैं दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है । (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच+हस्त्यृषभम्+सहस्रम्+ददामि+इति) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! जिस में हाथी के समान एक बैल अर्थात् गज समान एक बैल (सांड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये देता हूं । आप स्वीकार करें (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+अननुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते थे कि न शिक्षा देकर के अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये बिना शिष्य से कुछ लेना न चाहिये । हे राजन् इस सम्मति के अनुकूल मैं हूं । आपको मैंने पूरी शिक्षा नहीं दी है । और आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं, इस हेतु आप से अभी कुछ मैं नहीं ले सकता ॥ ६ ॥

भाष्यम्—यदिति । जाबालः जाबालाया जाबालानाम्न्या स्त्रिया अपत्यम् सत्यकाम आचार्यः । मनो मननवृत्तिरेव परममादरणीयं प्रियवस्तु । अमनसो हि किं स्यात् । अन्यत्रोक्तम् "स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीय इति । अथाधीते । कर्माणि कुर्वीय इति । अथ कुरुते । पुत्रांश्च पशूंश्च इच्छेय इति । अथेच्छते" इत्यादिपदैर्मनसो सङ्कल्पपूर्विकाः क्रियाप्रवृत्तयो दर्शिताः । मनस आयतनमपि मन एव मन इन्द्रियम् । एतन्मनोरूपं ब्रह्म "आनन्द" इति मत्वोपासीत । मनस आनन्दत्वं साधयति । हे सम्राट् ! यदा पुरुषः

सामान्येन स्त्रियं कामयते । तदा प्रथमं मनसैव स पुरुषः स्त्रियं प्रति । अभिहार्य्यते नीयते । मन एव प्रथमं तं कामयमानं पुरुषं स्त्रियं प्रति नयति । तदाऽऽनन्देन संयुज्य तस्यां स्त्रियाम् प्रतिरूपः स्वानुगुण आनन्दातिशयस्य प्रदाता पुत्रो जायते । पुत्रोत्पत्तिरानन्दहेतुरिति स्वयमेव वक्ति । स पुत्र आनन्द आनन्दयतीति । तद्धेतुत्वाद्वा आनन्दः । आनन्दस्वरूपः । शेषं पूर्ववत् ॥ ६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति तथा मातृमान् पितृमानाचार्यवान् ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किं स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्याऽऽयतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिरक्षन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥ ७ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! जो ही कुछ आप से किसी ने कहा उस को हम सुनें । जनक—शाकल्य विदग्ध ने मुझ से कहा है कि हृदय ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है । याज्ञवल्क्य—जैसे कोई मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् उपदेश देवे वैसे ही शाकल्य विदग्ध ने कहा है कि "हृदय ही आदरणीय वस्तु है" क्योंकि (अहृदयस्य+किम्+स्यात्) जिस के हृदय नहीं है उस पुरुष को यहां वा वहां क्या लाभ है । परन्तु क्या उन्होंने आप से उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी कही है ? जनक—मुझ से नहीं कही है । याज्ञवल्क्य—हे सम्राट् ! निश्चय यह (उपासना) एक चरण का है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सो आप ही हम से कहें । याज्ञवल्क्य—हृदय ही आयतन है । आकाश ही प्रतिष्ठा है । इस (हृदयस्वरूप आदरणीय वस्तु) की (स्थितिः+इति) स्थिति मानकर इस के गुणों का अध्ययन करें । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! इसकी स्थितता क्या है । याज्ञवल्क्य—हृदय ही इसकी स्थितता है । हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आयतन है । हे सम्राट् ! हृदय ही सब भूतों का आश्रय है । क्योंकि हे सम्राट् ! हृदय में ही सब भूत प्रतिष्ठित होते हैं । अतः हे सम्राट् ! हृदय ही परम आदरणीय वस्तु है इसको हृदय नहीं त्यागता । इसकी रक्षा सब प्राणी करते हैं । देव होकर देवों को प्राप्त करता है । जो इस प्रकार जानता हुआ इस (हृदयरूप आदरणीय वस्तु) की उपासना करता है । जनक—(इस शिक्षा के लिये) हाथी के समान एक सांड के साथ एक सहस्र गायें देता हूं । याज्ञवल्क्य—हे राजन् मेरे पिताजी की यह सम्मत्ति थी कि शिष्य को समझाये बिना उससे कुछ लेना नहीं चाहिये ॥ ७ ॥

पदार्थ—राजा से पुनः याज्ञवल्क्य पूछते हैं कि हे सम्राट् ! (यद्+एव+ते+कः+चित्+अब्रवीत्+तत्+शृणवाम) जो ही कुछ आप से किसी ने कहा है उसको हम सुनें । (इति) जनक महाराज

कहते हैं (शाकल्यः+विदग्धः+मे+अब्रवीत्+हृदयम्+वै+ब्रह्म) शाकल्याचार्य के पुत्र विदग्धाचार्य ने मुझ से कहा है कि हृदय ही परम माननीय प्रिय वस्तु है। याज्ञ० कह०—(यथा+मातृमान्+पितृमान्+आचार्यवान्+ब्रूयात्) जैसे मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् विद्वान् अपने शिष्य को उपदेश देवे (तथा+शाकल्यः+विदग्धः+तत्+अब्रीवत्) वैसे ही शाकल्याचार्य के पुत्र विदग्ध ने उसको कहा है कि (हृदयम्+वै+ब्रह्म+हि+अहृदयस्य+किम्+स्यात्) हृदय ही परम आदरणीय प्रिय वस्तु है क्योंकि हृदयरहित पुरुष को यहां वा वहां क्या लाभ हो सकता है। (इति+तु+ते+तस्य+आयतनम्+प्रतिष्ठाम्+अब्रवीत्) परन्तु उन्होंने आपसे उस हृदयरूप आदरणीय वस्तु का शरीर और आश्रय भी कहे हैं। जनक—(मे+न+अब्रवीत्) मुझ से न आयतन और न प्रतिष्ठा कही है। याज्ञ०—(सम्राट्+एतत्+एकपाद्) हे सम्राट्! यह उपासना एक चरण का है अर्थात् तीन चरण से हीन है (इति) जनक—(याज्ञवल्क्य+सः+वै+नः+ब्रूहि) हे याज्ञवल्क्य! परम तत्ववित् जो हम लोगों के आचार्य आप हैं सो आप ही हम लोगों को उपदेश देवें। याज्ञ० क०—हे राजन्! (हृदयम्+एव+आयतनम्) हृदय ही आयतन=शरीर है (आकाशः+प्रतिष्ठा+एतत्+स्थितिः+इति) अन्त में परमात्मा ही इसकी भी प्रतिष्ठा आश्रय है इस हृदयरूप प्रिय वस्तु की स्थिति मानकर इसके गुण का अध्ययन करे। जनक पू०—(याज्ञवल्क्य+का+स्थितता) हे याज्ञवल्क्य! इसकी स्थितता क्या है? याज्ञ०—(ह+उवाच+सम्राट+हृदयम्+एव) बोले कि हे राजन्! हृदय ही इसकी स्थितता है। स्थितता का हेतु कहते हैं—(हृदयम्+वै+सम्राट्+सर्वेषाम्+भूतानाम्+आयतनम्) हे सम्राट्! हृदय ही सब भूतों का आयतन है। आगे इसी को विस्पष्टरूप से कहते हैं—(हृदयम्+वै+सम्राट्+सर्वेषाम्+भूतानाम्+प्रतिष्ठा) हे सम्राट्! हृदय ही सब भूतों का आश्रय है। (हि+हृदय+एव+सर्वाणि+भूतानि+प्रतिष्ठितानि+भवन्ति) क्योंकि हे सम्राट्! हृदय में ही सब भूत प्रतिष्ठित होते हैं। आगे फल कहते हैं—(यः+एवम्+विद्वान्+एतत्+उपास्ते+एनम्+प्राणः+न+जहाति) जो कोई उपासक इस प्रकार जानते हुए इस प्राणरूप परमप्रिय आदरणीय वस्तु के धर्म वा गुण का अध्ययन करता है, इस उपासक को प्राण नहीं त्यागता है। और (एनम्+सर्वाणि+भूतानि+ अभिरक्षन्ति) इस उपासक की सब प्राणी सब प्रकार से रक्षा करते हैं (देवः+भूत्वा+देवान्+अप्येति) परम विद्वान् हो अथवा दिव्य ज्ञानी हो दिव्य गुण अर्थात् अपूर्व वस्तुओं को प्राप्त करता है। (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच+हस्त्यृषभम्+सहस्रम्+ददामि+इति) विदेहाधिपति जनक महाराज ने कहा कि हे याज्ञवल्क्य! जिसमें हाथी के समान एक बैल है। अर्थात् गज समान एक बैल (सांड) के साथ एक सहस्र गायें आपको इस शिक्षा के लिये देता हूं। आप स्वीकार करें। (सः+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः+मे+पिता+अमन्यत+अननुशिष्य+न+हरेत+इति) वे सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य बोले कि मेरे पिताजी मानते थे कि न शिक्षा दे करके अर्थात् पूर्ण शिक्षा और शिष्य को कृतार्थ किये विना शिष्य से कुछ नहीं लेना चाहिये। हे राजन्! इस सम्मति के अनुकूल मैं हूं। आपको मैंने पूर्ण शिक्षा नहीं दी है आप भी पूर्णतया कृतार्थ नहीं हुए हैं। इस हेतु आप से मैं अभी कुछ नहीं ले सकता ॥ ७ ॥

भाष्यम्—यदिति। शकलस्याऽऽचार्यस्यापत्यं शाकल्यः। विदग्धोनामतः। हृदयं वै ब्रह्म। परममादरणीयं प्रियं वस्तु। एतद्धृदयस्वरूपं प्रियं वस्तु "स्थितिराधार" इति मत्वोपासीत। हृदयस्य स्थिततां साधयति। सर्वेषां भूतानां हे सम्राट् हृदयमेवाऽऽयतनं

स्वयमेव विस्पष्टयति । हे सम्राट् ! हृदयं वै सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा । हि यतः—हृदय एव हृदयाभ्यन्तर एव । सर्वाणिभूतानि प्रतिष्ठितानि सन्ति । अन्यद्विशदार्थम् ॥ ७ ॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानुमाशाधीति स होवाच यथा वै सम्राण् महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्माऽस्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन् वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानीति ॥ १ ॥

अनुवाद—विदेहाधिपति जनक महाराज सिंहासन पर से उठ समीप में जाते हुए बोले कि हे याज्ञवल्क्य ! आपको मेरा नमस्कार हो । मुझ को उपदेश देवें । वे बोले हे सम्राट् ! जैसे बहुत दूर मार्ग का जानेहारा पुरुष रथ वा नौका को अपना साधन बनाता है वैसे ही आप भी इन उपनिषदों से समाहितात्मा हैं । ऐसे पूज्य और धनाढ्य होने पर भी आपने वेद पढ़े हैं । आपको उपनिषदें कही गई हैं । यहां से छूट कर आप कहां जायेंगे (क्या इसको जानते हैं ?) जनक—हे भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता जहां मैं जाऊंगा । याज्ञवल्क्य—निश्चय करके मैं आपको उसका उपदेश करूंगा जहां आप जायेंगे । जनक—कृपा करके भगवन् ! कहें ॥ १ ॥

पदार्थ—(जनकः+वैदेहः+ह) विदेहराज्याधिपति जनक महाराज (कूर्चात्+उपावसर्पन्+उवाच) सिंहासन से उठकर ऋषि के निकट जाते हुए बोले कि (याज्ञवल्क्य+नमः+ते+अस्तु) हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार होवे (मा+अनुशाधि+इति) मुझ को उपदेश दीजिये । जनकजी के यह नम्र वचन सुन (सः+ह+उवाच) वे ऋषि बोले (सम्राट्+यथा+वै+महान्तम्+अध्वानम्+एष्यन्) हे सम्राट् ! जैसे कोई बहुत दूर मार्ग का जानेहारा पुरुष (रथम्+वा+नावम्+वा+समाददीत) रथ वा नौका वा अन्य कोई योग्य सवारी लेता है (एवम्+एव+एताभिः+उपनिषद्भिः+समाहितात्मा+असि) वैसे ही इन उपनिषदों से आप समाहितात्मा हैं अर्थात् आपका आत्मा, रथनौकादि स्थानीय उपनिषदों के ज्ञान विज्ञानों से परिपूर्ण है । अतः आप साधनसम्पन्न हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक बात आप से पूछना चाहता हूं सो बतलावें । एवम्+वृन्दारकः+आढ्यः+सन्+अधीतवेदः) इस प्रकार आप लोकों से पूज्य और धनाढ्य होने पर भी आपने वेदों का अध्ययन किया है (उक्तोपनिषत्कः) आप से गुरुओं ने उपनिषदों के ज्ञान भी कहे ऐसे आप (इतः+विमुच्यमानः+क्व+गमिष्यसि+इति) यहां से छूटकर

कहां जायेंगे यह आप कहें । इस पर जनकजी कहते हैं कि (भगवन्+अहम्+तत्+न+वेद) भगवन् ! मैं उसको नहीं जानता हूं कि (यत्र+गमिष्यामि+इति) जहां जाऊंगा । आप कृपया बतलावें कि मुझे यहां से छूटकर कहां जाना होगा । (अथ+अहम्+वै+ते+तत्+वक्ष्यामि+यत्र+गमिष्यसि+इति) हे राजन् ! मैं निश्चयरूप से आपसे उस स्थान का उपदेश करूंगा जहां आप जायेंगे (ब्रवीतु+भगवन्+इति) हे गुरो ऋषे ! भगवान् कृपा कर मुझ को वह बतलावें ॥ १ ॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥ २ ॥

अनुवाद—जो यह दक्षिण अक्षि (नयन) में पुरुष है । यह इन्ध नाम से प्रसिद्ध है । इसी इन्ध को देवगण इन्द्र ऐसा परोक्ष नाम से पुकारते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

पदार्थ—(यः+अयम्) जो यह (दक्षिणे+अक्षन्+) दहिनी आंख में (पुरुषः) पुरुष है (एषः+इन्धः+ह+वै+नाम) यह इन्ध नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् इस पुरुष का नाम इन्ध है । (तम्+वै+एतम्+इन्धम्+सन्तम्) उसी इस इन्ध को (इन्द्रः+इति+परोक्षेण+एव+आचक्षते) इन्द्र इस परोक्ष ही नाम से पुकारते हैं अर्थात् इस पुरुष का नाम तो इन्ध है परन्तु इन्द्र कहते हैं । (हि+देवाः+परोक्षप्रियाः+इव+प्रत्यक्षद्विषः) क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं और प्रत्यक्ष बात से द्वेष रखते हैं । इन्ध—ञि इन्धी दीप्तौ, दीप्त्यर्थक इन्ध धातु से इन्ध और इदि परमैश्वर्ये, परमैश्वर्यार्थक इदि धातु से इन्द्र बनता है । जो गुप्त व अव्यक्त हो और स्पष्ट न हो उसको यहां परोक्ष कहते हैं और जो व्यक्त, स्पष्ट व प्रसिद्ध है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । वेदों और लोकों में जीवात्मा का नाम इन्द्र बहुधा आया है, किन्तु इन्ध ऐसा नाम कहीं नहीं देखा जाता । यहां ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं कि इसका नाम तो इन्ध ही है इसी इन्ध को इन्द्र कहते हैं । जिस कारण इस शरीर में परम दीप्तिमान् जीव है । इसीसे इसकी शोभा और कान्ति है, अतः इसको इन्ध कहते हैं । जैसे इस शरीर में जीवात्मा व्यापक है इसी प्रकार परमात्मा इस जगत्रूप महाशरीर में व्यापक है, हे जनक ! इसी आत्मा और परमात्मा के निकट आपको जाना होगा । ऐसा ऋषि का भाव है ॥ २ ॥

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूप मेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाऽथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥ ३ ॥

अनुवाद—अब जो यह वाम नेत्र में पुरुषकार प्रतीत होता है वह इस इन्द्र की विराट् नाम की पत्नी है । इन दोनों का यह संस्ताव=मिलने का स्थान है जो यह हृदय के मध्य में आकाश है । इन दोनों का यह अन्न है जो हृदय के भीतर एक पिण्ड है । इन दोनों का यह वस्त्र है जो यह हृदय के भीतर जाल के समान हैं । इन दोनों का यह गमन करने का मार्ग है जो हृदय

देश से ऊपर नाड़ी गई है । जैसे सहस्र हिस्सों में विभक्त एक केश (अत्यन्त सूक्ष्म होता है) वैसे ही इस आत्मा की हिता नाम की नाड़ियां हैं जो हृदय के अभ्यन्तर में प्रतिष्ठित हैं । इन ही नाड़ियों द्वारा देह में व्याप्त होता हुआ अन्न झरता रहता है इसी कारण यह आत्मा इस शरीर आत्मा की अपेक्षा अत्यन्त शुद्धाहारी सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ) पूर्वकण्डिका में जिस इन्द्र का निरूपण आया है अब उसकी स्त्री, भोजन, विश्राम आदि का वर्णन आरम्भ करते हैं—(वामे+अक्षणि+एतत्+पुरुषरूपम्) वाम नयन में जो यह पुरुषाकार व्यक्ति प्रतीत होती है (एषा+अस्य+विराट्+पत्नी) यह इसकी विराट् नाम की स्त्री है (तयोः+एषः+संस्तावः) इस इन्द्र और इन्द्राणी का यह संस्ताव है अर्थात् जहां मिलकर दोनों स्तुति व परस्पर वार्तालाप करते हैं वह संस्ताव है (यः+एषः+अन्तर्हृदये+आकाशः) जो यह हृदय के अभ्यन्तर आकाश अर्थात् अवकाश है (अथ+यः+एषः+अन्तर्हृदये+लोहितपिण्डः) जो यह हृदय के भीतर लाल पिण्ड है (एतद्+एनयोः+अन्नम्) यह इन दोनों का अन्न है (अथ+यद्+एतद्+अन्तर्हृदये+जालकम्+इव) जो हृदय के मध्य में जाल के समान अनेकानेक छिद्रयुक्त चादर है (एतत्+एनयोः प्रावरणम्) यह इन दोनों का प्रावरण अर्थात् ओढ़ने का वस्त्र है (अथ+या+एषा+ऊर्ध्वा+हृदयाद्+नाडी+उच्चरति) जो यह हृदयदेश से ऊपर को नाड़ी गई है (एषा+एनयोः+संचरणी+सृतिः) यह इन दोनों की संचरणी सृति है । सृति=मार्ग । संचरणी जिस मार्ग से दोनों इधर उधर विचरण करते हैं वह संचरणी । अर्थात् नाड़ी ही इन दोनों का चलने फिरने का रास्ता है । और भी अनेक नाड़ियां हैं उन्हें भी दृष्टान्त देकर बतलाते हैं । (यथा+केशः+सहस्रधा+भिन्नः) जैसे एक केश के सहस्र भाग किए जायें वे केश जितने सूक्ष्म पतले होवेंगे (एवम्+अस्य+हिताः+नाम+नाड्यः+अन्तर्हृदये+प्रतिष्ठिताः+भवन्ति) वैसे ही इस जीवात्मा की हिता नामधारी बहुत सी नाड़ियां हृदय के अभ्यन्तर प्रतिष्ठित हैं (एताभिः+वै) इन ही नाड़ियों के द्वारा (एतत् आस्रवत्) यह सम्पूर्ण देहव्यापक अन्न (आस्रवति) सर्वदा जीवात्मा के लिये गिरता रहता है इसी अन्न को मानो जीवात्मा खाता है (तस्माद्+एषः) इसी कारण यह जीवात्मा (अस्मात्+शारीरात्+आत्मनः) इस शारीर आत्मा अर्थात् इस देह की अपेक्षा (प्रविविक्ताहारतरः+इव+भवति) बहुत शुद्धाहारी सा प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग् दक्षिणे प्राणा प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वाः दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति । अभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः । स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥ ४ ॥

अनुवाद—इस (जीवात्मा) की पूर्व दिशा प्राण हैं जो पूर्व की ओर जाते हैं । इसकी दक्षिण दिशा प्राण हैं जो दक्षिण की ओर जाते हैं । इसकी पश्चिम दिशा प्राण हैं जो पश्चिम की ओर जाते हैं । इसकी उत्तर दिशा प्राण हैं जो उत्तर की ओर जाते हैं । इसकी ऊर्ध्व दिशा प्राण हैं जो ऊपर जाते हैं । इसकी नीचे की दिशा प्राण हैं जो नीचे को जाते हैं । इसकी सब दिशाएं सब ही प्राण हैं । सो यह

आत्मा इस दशा में न, न शब्द से कहा जाता है । यह आत्मा अगृह्य है क्योंकि इसका ग्रहण नहीं होता । यह अक्षय है क्योंकि इसका क्षय नहीं होता । यह असङ्ग है क्योंकि यह कहीं आसक्त नहीं होता । यह असित=बन्धन रहित है क्योंकि न तो यह व्यथायुक्त और न किसी से हिंसित होता । याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे जनक ! आप अभय तक पहुँच चुके हैं । जनक वैदेह ने भी प्रत्युत्तर दिया कि हे याज्ञवल्क्य ! आप को भी अभय प्राप्त होवे । हे भगवन् ! जो आप अभय की शिक्षा देते हैं । आप को मैं नमस्कार करता हूँ । आप की सेवा के लिये ये विदेह हैं और यह मैं (आपका दास) हूं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तस्य+प्राची+दिक्+प्राणाः+प्राञ्चः) इस जीवात्मा की पूर्व दिशा प्राण हैं जो पूर्व दिशा की ओर जाते हैं । (दक्षिणा+दिक्+प्राणाः+दक्षिणे) इस की दक्षिण दिशा प्राण हैं जो दक्षिण की ओर जाते हैं । (प्रतीची+दिक्+प्राणाः+प्रत्यञ्चः) इसकी पश्चिम दिशा प्राण हैं जो पश्चिम की ओर जाते हैं । (उदीची+दिक्+प्राणाः+उदञ्चः) इसकी उत्तर दिशा प्राण हैं जो उत्तर की ओर जाते हैं । (ऊर्ध्वा+दिक्+प्राणाः+ऊर्ध्वाः) इसकी ऊपर की दिशा प्राण हैं जो ऊपर जाते हैं । (अवाची+दिक्+प्राणाः+अवाञ्चः) इसकी नीचे की दिशा प्राण हैं जो नीचे को जाते हैं । (सर्वाः+दिशः+सर्वे+प्राणाः) इसकी सब दिशाएं सब प्राण हैं (सः+एषः+न+इति+न+इति) इस दशा में सो यह जीवात्मा न, न शब्द से कहा जाता है । (आत्मा+अगृह्यः+न+हि+गृह्यते) यह आत्मा अगृह्य है, क्योंकि यह पकड़ा नहीं जाता है (अशीर्य्यः+न+शीर्य्यते) यह अक्षय है क्योंकि यह कभी क्षीण नहीं होता (असङ्गः+न+हि+सज्यते) यह असङ्ग है क्योंकि यह कहीं आसक्त नहीं होता (असितः+न+व्यथते+न+रिष्यति) यह बन्धनरहित है क्योंकि न यह व्यथित और न हिंसित होता है । इस प्रकार उपदेश देते हुए (याज्ञवल्क्यः+ह+उवाच) याज्ञवल्क्य बोले कि (जनक+अभयम्+वै+प्राप्तः+असि+इति) हे जनक ! आप निर्भयता तक पहुँच चुके हैं अब आगे क्या चाहते हैं । इस पर (सः+ह+जनकः+वैदेहः+उवाच) वे जनक वैदेह बोले (याज्ञवल्क्य+त्वा+अभयम्+गच्छतात्) हे याज्ञवल्क्य ! आपको भी अभय प्राप्त होवे (भगवन्+यः+नः+अभयम्+वेदयसे) हे परमपूज्य ऋषे ! जो आप हम लोगों को अभयब्रह्म सिखलाते हैं (ते+नमः+अस्तु) उस आपको हम लोगों का नमस्कार प्राप्त हो । हे ऋषे ! मैं विशेष क्या कहूं (इमे+विदेहाः) ये सम्पूर्ण विदेह देश आपकी सेवा के लिये है और (अयम्+अहम्+अस्मि) मैं आपका दास भी उपस्थित हूं । आपकी जो आज्ञा हो सो करूँ ॥ ४ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥ २ ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकं ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तं हास्मै ददौ तं ह सम्राडेव पूर्वः पप्रच्छ ॥ १ ॥

अनुवाद—एक समय की वार्ता है कि याज्ञवल्क्य मुनि जनक वैदेह के निकट चले और मन में विचारने लगे कि आज मैं कुछ न बोलूंगा अथवा आज वहां चलकर इस "जनक" के साथ संवाद करूंगा। इस अभिप्राय से याज्ञवल्क्य मुनि जनक वैदेह के निकट गये। एक दिन की यह बात है कि कर्मकाण्ड करते हुए जनक वैदेह और याज्ञवल्क्य मुनि "अग्निहोत्र" के विषय में संवाद करने लगे थे। उस समय (जनक के विचार में निपुणता देख परितुष्ट हो) याज्ञवल्क्य मुनि ने उनको वर दिया। जनक ने सविनय निवेदन किया कि हे मुने ! मुझ पर यदि आप की कृपा है तो "कामप्रश्न" अर्थात् जब मैं चाहूं तब ही आपसे मैं पूछ सकूं यही वर मुझे दीजिये। याज्ञवल्क्य ने उनको वही वर दिया। (इस हेतु इस संवाद में भी) पहले महाराज ही पूछने लगे ॥ १ ॥

पदार्थ—(ह+याज्ञवल्क्यः+जनकम्+वैदेहम्+जगाम) कदाचित् याज्ञवल्क्य मुनि मन में कुछ करके जनक वैदेह के निकट चले। जनक महाराज का यह नियम था कि जब जब याज्ञवल्क्य इनके निकट आते थे तब तब वे अवश्य ही कुछ गूढ़ तत्त्व इनसे पूछा करते थे। जिस हेतु याज्ञवल्क्य इनके उपदेष्टा थे और राजा भी परम श्रद्धावान् थे। परन्तु आज मार्ग में जाते हुए किसी कारण के उद्देश से (सः+मेने) वे याज्ञवल्क्य विचारने लगे कि (नः+वदिष्ये+इति) आज मैं राजा को कुछ भी उपदेश न दूंगा। केवल चुप चाप बैठकर कुछ सुना करूंगा। अथवा "समेने न वदिष्ये" यहां (सम्+एनेन+वदिष्ये) इस प्रकार भी पदच्छेद हो सकता है। तथा इन सबों का यह अर्थ होगा (एनेन+सम्+वदिष्ये) इस जनक के साथ संवाद करूंगा अर्थात् मैं जनक को बहुत शिक्षा देता रहता हूं, अब भी ये सुबोध हुए हैं या नहीं, तत्त्वों को समझा है या नहीं, इत्यादि बातों की परीक्षा के लिये आज चलकर इस जनक से संवाद (परस्पर विवाद) ही करूंगा। उपदेश न दूंगा। इस अभिप्राय से (अथ+याज्ञवल्क्यः+जनकम्+वैदेहम्+जगाम) याज्ञवल्क्य जनक वैदेह के निकट गये। ये दोनों अर्थ हो सकते हैं। यहां शङ्का होती है कि "मैं न बोलूंगा" ऐसा सङ्कल्प करने पर भी पुनः याज्ञवल्क्यजी क्यों बोले और द्वितीय पक्ष में परीक्षा के लिये संवाद करना था तब आचार्य को ही प्रथम पूछना चाहिये सो न होकर महाराज का ही प्रश्न देखते हैं। इन दोनों में हेतु क्या है ? इन दोनों में वरदान ही हेतु है। आगे इस वरदान प्रसङ्ग को दिखलाते हैं (अथ+ह+यत्+अग्निहोत्रे+जनकः+वैदेहः+च+याज्ञवल्क्यः+च+समूदाते) एक समय की बात है जब कर्मकाण्ड में सब कोई प्रवृत्त थे, उस समय अग्निहोत्र के विषय में जनक वैदेह, अन्य राजा भी याज्ञवल्क्य तथा अन्य मुनिगण संवाद करने लगे। उस समय जनक की संवाद-निपुणता देख संतुष्ट हो (याज्ञवल्क्यः+तस्मै+वरम्+ददौ+ह+सः+ह+कामप्रश्नः+वव्रे) याज्ञवल्क्य मुनि ने उन जनक को वरदान दिया। यह बात सब लोगों में विदित है। उन राजा ने कामप्रश्न रूप वर मांगा। अर्थात् जब मैं चाहूं आप किसी दशा में हों, मैं आपसे प्रश्न पूछ सकूं। इसी का नाम "कामप्रश्न" है (तम्+ह+अस्मै+ददौ) यह वर राजा को दिया अर्थात् जब आप चाहें तब मुझ से पूछ सकते हैं। हे सम्राट् ! यह वर आप को मैं देता हूं। इसी कारण याज्ञवल्क्य को स्वेच्छा विना बोलना पड़ा। अतः (सम्राट+एव+पूर्वः+पप्रच्छ) महाराजा ही पहले पूछने लगे ॥ १ ॥

भाष्यम्—जनकमिति। कदाचिद् याज्ञवल्क्यः किमपि मनसि कृत्वा। जनकं ह वैदेहं प्रति जगाम। वव्राज गतवान्। यदा यदा याज्ञवल्क्य आगच्छति तदा तदा राजाऽवश्यमेव किञ्चिद् गूढं वस्तु तं पृच्छति। यतः स तस्योपदेष्टा, राजापि परमश्रद्धावान्। अद्य तु पथि गच्छन् किमपि कारणमुद्दिश्य स याज्ञवल्क्यो "राजानं

प्रति न वदिष्ये नोपदेक्ष्ये" इति मेने विचारितवान्। यद्वा समेनेन वदिष्ये इत्यत्र सम् एनेन वदिष्ये इतिपदच्छेदः। राजा सम्प्रत्यपि सुबोद्धा जातो न वेति परीक्षार्थम् एनेन अनेन राज्ञा सह सम् वदिष्ये सम्वाद परस्परं प्रश्नोत्तररूपेण विवादमेव करिष्ये न त्वद्योपदेक्ष्ये। इत्यतो याज्ञवल्क्यो जनकं प्रति जगामेत्यन्वयः। ननु न वदिष्ये इति संकल्पे कृतेऽपि पुनरपि भाषणे को हेतुः? वरदानमेव हेतुः। ननु सम्वदिष्ये परीक्षार्थमिति द्वितीयपक्षेऽपि आचार्येण प्रथमं प्रष्टव्ये कथं पूर्वं राज्ञः प्रश्नः। इत्यत्रापि वरदानमेव हेतुः। तं वरदानप्रसङ्गं कर्मकाण्डवृताऽऽख्यायिकयाऽऽह—ह किल। अथ कदाचित्। अग्निहोत्रे अग्निहोत्रनिमित्ताय। यद्यत्र कर्मकाण्डे। वैदेहो जनकः याज्ञवल्क्यश्च। समूदाते सम्वादं कृतवन्तौ चादन्येऽपि। तत्र जनकस्य अग्निहोत्रविषयकं विज्ञानमधिकं विदित्वा परितुष्टो याज्ञवल्क्यः तस्मै स्वशिष्याय जनकाय। वरं ददौ दत्तवान्। स ह सर्वार्थसम्पन्नः सम्राट् लौकिकवरं अनिच्छुको योग्यं कामप्रश्नमेव इच्छा प्रश्नमेव वव्रे। हे याज्ञवल्क्य! यदा यदाहमिच्छेयं तदा तदा कस्यामपि दशायां वर्त्तमानं स्वेच्छानुसारेण त्वां प्रति प्रक्ष्यामीत्येष वरो दीयतां यदि सुप्रसन्नेन भूयते। अथ ह याज्ञवल्क्य तं वरम्। अस्मै जनकाय ददौ। ह किल। अतः तं याज्ञवल्क्यं पूर्वः पूर्वं सम्राडेव पप्रच्छ पृष्टवान्॥ १ ॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति। आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचाऽऽदित्येनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥२॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है? (अर्थात् इसका ज्योति कौन है?) इति। याज्ञवल्क्य—हे सम्राट्! यह पुरुष आदित्यज्योति है (इसका आदित्य ज्योति है) क्योंकि आदित्यरूप ज्योति से ही यह बैठता है। इतस्ततः जाता है। कर्म करता है और पुनः लौट कर आता है। जनक—हे याज्ञवल्क्य! यह ऐसा ही है॥ २॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं—(याज्ञवल्क्य+अयम्+पुरुषः+किंज्योतिः+इति) हे याज्ञवल्क्य! यह जीवात्मा किस ज्योतिवाला है इसमें ज्योति कहां से आता है? याज्ञवल्क्य (ह+उवाच+सम्राट्+आदित्यज्योतिः+इति) बोले कि हे सम्राट्! यह पुरुष आदित्य ज्योति है अर्थात् इसको आदित्य से ज्योति मिलती है (अयम्+आदित्येन+एव+ज्योतिषा+आस्ते) आगे इसमें अनेक हेतु कहते हैं। यह पुरुष आदित्यस्वरूप ज्योति से ही बैठता है। पुनः (पल्ययते कर्म+कुरुते+विपल्येति) इधर उधर जाता है। विविध कर्म करता है। पुनः कर्म करके अपने अपने स्थान पर लौट जाता है। यह सब व्यवहार आदित्यरूप ज्योति से ही करता है इस हेतु यह पुरुष आदित्यज्योति है। राजा यह वचन सुनकर स्वीकार करते हैं (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य! यह विज्ञान ऐसा ही है जैसा आप कहते हैं, यह ऐसा ही है॥ २॥

भाष्यम्—अयं जीवात्मा प्रत्यक्षेण गृह्यते अनुमानेनापि। यदि जीवो नाम कश्चित् स्वतन्त्रो देहावयवसमुदायाद् भिन्नो न सिद्ध्येत्। हन्त तर्हि किं शुभानुष्ठानेन। एवञ्च तर्हि कथं केन दोषेणापराधेन वा कोऽपि दुःखी कृतः कोऽपि च केन पुण्येनातिशयितः सुखी सम्पादितः। अत आत्मतत्त्वं जिज्ञासमानो जनको वैदेहः पृच्छति। हे याज्ञवल्क्य! अयं पुरुषः पुरि शरीरे वर्त्तमानो जीवात्मा। किंज्योतिः किंज्योतिर्विद्यते यस्य सः

किंज्योतिरिति बहुव्रीहिः। अयं जीवात्मा शरीरादिवद् बाह्यतः किमपि ज्योतिरपेक्षते उत तस्मिन् स्वयं ज्योतिरस्ति। यदि बाह्यज्योतिषाऽयं ज्योतिष्मान् तर्ह्यनित्यः यदि स्वयं ज्योतिष्मान् तर्हि केन प्रकारेण तद्विज्ञातव्यमिति ब्रूहि। याज्ञवल्क्यः खलु प्रश्नस्याशयं विदित्वापि प्रथमं जनकबुद्धिपरीक्षणार्थं बाह्यज्योतींषि चतुर्भिः पर्यायैः। व्याचष्टे। हे सम्राट्! अयमात्मा आदित्यज्योतिरस्ति आदित्यः सूर्यो ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः। अत्र हेतून् वक्ति। हे सम्राट्! आदित्येनैव ज्योतिषाऽनुगृहीतेन चक्षुषा करणेन सहितः। अयं पुरुषः। आस्ते उपविशति। तथा पल्ययते पर्य्ययते परितः अयते—आदित्ये भासमाने चक्षुषा पश्यन् इतश्चेतश्च गन्तुं शक्नोति गत्वा च कर्म्म कुरुते ऐहिकं क्षेत्रादिशोधनम्। आमुष्मिकं यज्ञाद्यनुष्ठानं विविधं कर्म साधयते। पुनरपि विपल्येति विपरि एति विपरीतेन आगच्छति। स्वस्वस्थानं प्रति कर्म्म कृत्वा निवर्तते। एतत्समानमन्यदपि भूयो व्यवहारानुष्ठानमादित्यज्योतिषैवायं करोत्यत आदित्यज्योतिरयं पुरुषः। वचनमिदं श्रुत्वा हे याज्ञवल्क्य! एवमेवैतत् यथात्वमात्थ तत्सत्यमेवेति स्वीकरोति जनकः ॥ २ ॥

भाष्याशय—यह जीवात्मा प्रत्यक्ष रूप से गृहीत नहीं होता। अनुमान में अनेक शङ्काएं हुआ करती हैं और प्रत्यक्ष में देखते हैं कि यह जीवात्मा सर्वदा बाह्य सामग्री चाहता है। उसके विना क्षणमात्र भी नहीं रह सकता। अतएव आत्मसत्ता में पदे पदे सन्देह होता है। यदि देह के अवयव समुदाय से भिन्न, स्वतन्त्र जीव नाम कोई पदार्थ सिद्ध न हो तब खेद की बात है कि शुभानुष्ठान से क्या? एवञ्च किस दोष वा अपराध के कारण क्यों कोई तो दुःखी किया गया और कोई किस पुण्य से क्यों अतिशय सुखी बनाया गया? इस हेतु आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करते हुए जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! इस जीवात्मा में स्वयं प्रकाश है अथवा कहीं बाहर से प्रकाश आता है? यदि बाह्य ज्योति से यह ज्योतिष्मान् कहलाता है तब शरीर के समान यह भी एक विनश्वर पदार्थ सिद्ध होगा। यदि इसमें स्वयं ज्योति है तो इसको कैसे जान सकते हैं सो आप कृपा करके मुझको समझावें।

याज्ञवल्क्य यद्यपि प्रश्न का अभिप्राय समझते ही थे तथापि महाराज की बुद्धि की परीक्षा के लिये बाह्य ज्योतियों को ही पांच कण्डिकाओं से कहते हैं।

(आस्ते) प्रत्यक्ष में देखते हैं कि जबतक सूर्य का उदय रहता है तबतक आंखों से देखते हैं सूर्य के अस्त होने पर आंख से नहीं दीखता है। इससे सिद्ध है कि सूर्य ही नेत्र का कारण है। अतः इधर उधर जाना आना भी सूर्य की ज्योति के कारण से ही होता है। जब आंख से देख लेता है कि यह स्थान बैठने के योग्य है तब वहां बैठता है। आंख से मार्ग की परीक्षा करता हुआ चलता है। आंख से देखता हुआ क्षेत्र का शोधन करता वा अग्निकुण्ड में घृतादि की आहुति देता है। आंख ही सर्व कर्म का कारण है। और उस आंख का कारण सूर्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह स्वयं ज्योति नहीं ॥२॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है (इति) याज्ञवल्क्य—चन्द्रमा ही इसका ज्योति होता है (इति) चन्द्रमारूप ज्योति से ही

यह बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है । यह ऐसा ही है ॥ ३ ॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं कि (याज्ञवल्क्य+आदित्ये+अस्तमिते+अयम्+पुरुषः+किंज्योतिः+एव) हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला ही रहता है । याज्ञवल्क्य (चन्द्रमा+एव+अस्य+ज्योतिः+भवति+इति) चन्द्रमा ही इसमें ज्योति होता है इसमें अनेक कारण कहते हैं (चन्द्रमसा+एव+ज्योतिषा+अयम्+आस्ते+पल्ययते) चन्द्रमारूप ज्योति से ही यह पुरुष बैठता है इधर उधर जाता है (कर्म+कुरुते+विपल्येति) कर्म करता है और पुनः लौट आता है । जनक यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान ऐसा ही है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य के कथन को स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्य—दिवाऽऽदित्यज्योतिः न रात्रौ । व्यवहरन्तो रात्रावपि दृश्यन्ते जनाः । कथन्तत् । अतो वद याज्ञवल्क्य ! आदित्ये अस्तमिते अस्तंगते सति । अयं पुरुषः किंज्योतिः । तदा हे राजन् ! अस्य प्रकृतस्य पुरुषस्य आदित्येनानुगृहीतः चन्द्रमा ज्योतिर्भवति । अन्यत् सर्वंपूर्ववदर्थम् ॥ ३ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! दिन में आदित्य की ज्योति रहती है, रात्रि में तो नहीं परन्तु रात्रि में भी सब व्यवहार करते हुए मनुष्य देख पड़ते हैं । इस हेतु विस्पष्टतया आप कहें कि आदित्य अस्त होजाने पर इस पुरुष की कौनसी ज्योति रहती है । जिससे सब व्यवहार करता है । याज्ञव०—हे राजन् ! यह आदित्य अपने किरणों से चन्द्रमा को भासित करता है । सूर्य का प्रतिनिधिस्वरूप यह चन्द्रमा ही इस पुरुष का रात्रि में प्रकाश है । इत्यादि भाव जानना ॥ ३ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवाऽयं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ४ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! सूर्य के अस्त होजाने पर और चन्द्रमा के भी अस्त होने पर पुरुष किस ज्योतिवाला ही होता है (इति) याज्ञवल्क्य—अग्नि ही इसका ज्योति है (इति) अग्निरूप ज्योति से ही यह बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ४ ॥

पदार्थ—जनक पूछते हैं—हे याज्ञवल्क्य ! (आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्रमसि अस्तमिते+अयम्+पुरुषः+किंज्योतिः+एव) सूर्य के अस्त हो जाने पर और चन्द्रमा के अस्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला ही रहता है अर्थात् उस समय इसकी कौन ज्योति है । याज्ञवल्क्य—(अस्य+अग्निः+एव+ज्योतिः+भवति) इस पुरुष की अग्नि ही ज्योति होती है । (इति) इसमें अनेक कारण कहते हैं (अग्निना+एव+ज्योतिषा+अयम्+पुरुषः+आसते+पल्ययते) अग्निरूप ज्योति से ही यह पुरुष बैठता है । इधर उधर जाता है । (कर्म+कुरुते+विपल्येति) कर्म करता है पुनः लौट आता है । जनक यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विज्ञान ऐसा ही है । इस प्रकार याज्ञवल्क्य के कथन को स्वीकार करते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! कृष्णपक्षेऽपि व्यवहरन्तो जना दृश्यन्ते । कथमेतत् ! वद याज्ञवल्क्य ! तयोर्द्वयोरभावे किंज्योतिरयं पुरुषः । एवंपृष्टो याज्ञवल्क्यो ब्रूते । शृणु महाराज ! आदित्यः खलु सर्वेषु पदार्थेषु स्वज्योतींषि स्थापयित्वा अस्तमेति । अतः किमपि योग्यं पदार्थमग्निना प्रज्वाल्य जना व्यवहरन्तीति । इहापि आदित्यमेव कारणम् । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ४ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! कृष्णपक्ष में भी व्यवहार करते हुए मनुष्य देख पड़ते हैं । सो कैसे ? इस हेतु आप वर्णन करें कि सूर्य और चन्द्रमा इन दोनों के अभाव में इस पुरुष के लिये कौनसी ज्योति रहजाती है । याज्ञवल्क्य०—हे राजन् ! सुनो आदित्य सब पदार्थों में निज ज्योतियों को स्थापन करके अस्त होता है । अतः किसी योग्य पदार्थ को अग्नि से प्रज्वलित करके मनुष्य सब व्यवहार करते हैं । यहां भी आदित्य ही कारण है ॥ ४ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर और अग्नि के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला ही होता है (इति)। याज्ञवल्क्य—वाणी ही इसकी ज्योति होती है (इति)। वाणी रूप ज्योति से ही यह बैठता है। इधर उधर जाता है। कर्म करता है। पुनः लौट आता है (इति) हे सम्राट् ! उसी कारण जहां निज हस्त भी विशेष रूप से विज्ञात नहीं होता और जहां वाणी उच्चरित होती है वहां वाणी की सहायता से जाता ही है। जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

पदार्थ—जनक पू०—(अस्तमिते+आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्रमसि+शान्ते+अग्नौ+अयम्+पुरुषः +किंज्योतिः+एव) आदित्य के छिप जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर और अग्नि को भी शान्त होजाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला रहता है अर्थात् उस समय इसके व्यवहार के लिये कौनसी ज्योति रह जाती है । याज्ञवल्क्य—(अस्य+वाग्+एव+ज्योतिः+भवति) इस पुरुष की वाणी ही ज्योति होती है । इसमें अनेक कारण कहते हैं (वाचा+एव+ज्योतिषा+आस्ते+पल्ययते+कर्म+कुरुते विपल्येति+इति) वचनरूप ज्योति से ही बैठता, इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट कर आजाता है । (सम्राट्+तस्माद्+वै+यत्र+स्वः+पाणिः+अपि+न+विनिर्ज्ञायते) हे सम्राट् ! उसी कारण जिस अन्धकारमय स्थान में स्वकीय हाथ भी अच्छे प्रकार नहीं विदित होते हैं (अथ+यत्र+वाग्+उच्चरति+ तत्र+उपन्येति+एव) परन्तु जहां वाणी उच्चरित होती अर्थात् वाणी का उच्चारण प्रतीत होता है वहां अवश्य पहुंच जाता है । जनक यह सुन कर कहते हैं—(याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! यदा तमिस्रायां प्रज्वलितो वह्निरपि न भवति । तदापि जना व्यवहरन्ति । इतश्चेतश्च गच्छन्ति । स्थानात्स्थानं भ्रमन्ति । कथमेतत् । अतो वद याज्ञवल्क्य ! तेषां त्रयाणामप्यभावे किंज्योतिरयं पुरुषः । हे सम्राट् ! वाचि आदित्यज्योतिः

स्थापितमस्ति । तेजोमयी वागित्युक्तमन्यत्रापि । तया वाचा वदन्त आह्वयन्तः इहागच्छ तत्र याहि इत्येवं परस्परं निर्दिशन्तो व्यवहरन्ति । तस्माद्वै सम्राट् । यत्र यस्मिन् अन्धतमसेऽपि स्वः पाणिः निज हस्तोऽपि । न विनिर्ज्ञायते विशेषेण न ज्ञायते । अथापि अस्यामपि दशायाम् । यत्र यस्मिन्प्रदेशे वाग् वाणी उच्चरति उद्भवति जनैरुच्चार्यते तत्र तस्मिन्प्रदेशे उपन्येति एव उप समीपं निगच्छत्येव तत्र सन्निहितो भवत्येव । अतो हे सम्राट् ! वाचैव ज्योतिषा तदाऽयं सम्पन्नो भवतीति वेदितव्यम् । इहाप्यादित्यमेव कारणम् । अन्यत्स्पष्टम् ॥ ५ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य ! जब अति अन्धकारमय रात्रि में प्रज्वलित अग्नि भी नहीं रहता। तब भी तो मनुष्य व्यवहार करते हैं इधर उधर जाते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हैं सो कैसे ? अतः मुझे यह आप कहें कि तीनों का जब अभाव हो जाता है तब इस पुरुष की कौनसी ज्योति रह जाती है । हे सम्राट् ! वाणी में आदित्य की ज्योति स्थापित है । यह वाणी तेजोमयी है यह अन्यत्र कहा गया है । तब वाणी से बोलते हुए लोगों को पुकारते हुए यहां आओ, वहां जाओ, इस प्रकार परस्पर इशारा करते हुए व्यवहार करते हैं । इसी हेतु जिस समय निज हस्त भी नहीं दीखता तब भी वाणी के द्वारा सब व्यवहार कर लेते ही हैं । यहां पर भी आदित्य ही कारण है इसमें सन्देह मत करो ॥ ५ ॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽस्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥ ६ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के शान्त हो जाने पर और वाणी के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला ही रहता है । याज्ञवल्क्य—इसका आत्मा (निज) ही ज्योति होती है, निज स्वरूप ज्योति से ही बैठता है । इधर उधर जाता है । कर्म करता है । पुनः लौट आता है । जनक—हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है यह ऐसा ही है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(आदित्ये+अस्तमिते+चन्द्रमसि+अस्तमिते+अग्नौ+शान्ते+वाचि+शान्तायाम्+अयम्+पुरुषः+किंज्योतिः+एव) सूर्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और वाणी के भी शान्त होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला ही रहता है (इति) याज्ञवल्क्य क०—(अस्य+आत्मा+एव+ज्योतिः+भवति) इस पुरुष का निज स्वरूप ही ज्योति होती है (अयम्+आत्मना+एव+ज्योतिषा+आस्ते+अपल्ययते+कर्म+कुरुते+विपल्येति) यह निज स्वरूप ज्योति ही से बैठता है, इधर उधर जाता है, कर्म करता है, पुनः लौट आता है । जनक यह वचन सुन (याज्ञवल्क्य+एतत्+एवम्+एव) हे याज्ञवल्क्य ! यह विषय ऐसा ही है इस प्रकार याज्ञवल्क्य के वचन को स्वीकार करते हैं ॥ ६ ॥

भाष्यम्—हे याज्ञवल्क्य ! सन्ति त्वन्या अप्यवस्थाः । यत्र न सूर्यो न चन्द्रमा नाग्निर्न च वाणी भवति । तत्रापि व्यवहरन्ति जनाः । एका स्वप्नाऽवस्था । द्वितीया समाध्यवस्था । तृतीया गोप्यावस्था—यत्र ऐकागारिको वा जारो वा दूतो वा न कांश्चित्पुरुषान्

स्वात्मानं प्रकटीकर्तुमीहते। चतुर्थी रोगाद्युपहतावस्था—यत्र रोगेण पीडितो भाषणादि-ष्वशक्तोऽपि। "अयं मे पिता। इयं माता। अयं बन्धुः"। इत्याद्यभ्यन्तरेण सर्वं विजानाति। एकेन्द्रियविकलो मूकः खल्वपि सर्वं व्यवहरति। अतो वदैव याज्ञवल्क्य! तेषां चतुर्णामप्यभावे किं ज्योतिरयं पुरुष इति। इदानीं संवादेनायं बुध्यते वितर्कते समूहते चेति विदित्वा परितुष्टः सन् याज्ञवल्क्यो जीवात्मनो वास्तवं परमार्थस्वरूपं विवृणोति। हे सम्राट्! नायं जीवात्मा बाह्यां सामग्रीमेवापेक्ष्य लब्धसत्ताकोऽस्ति। अयं नित्यः शाश्वतः स्वतन्त्रः पुरुषः कश्चिदस्ति। स तेषु सर्वेषु पूर्वोक्तेषु शान्तेष्वपि स्वकीयया भासा भासते। तदा स्वीयेन ज्योतिषैव ज्योतिष्मान् भवति। यदि सर्वदा बाह्य सामग्री सापेक्षा भवेत्। तर्ह्यस्याऽनित्यताऽऽपद्येत। भाषणादि व्यापारवस्तु समवेतत्वेनास्मिन् वर्तते। मुक्तावपि तेषां स्थित्यव्यभिचारणादतः सम्राट्! ईदृशमात्मानं विद्धि ॥ ६ ॥

भाष्याशय—हे याज्ञवल्क्य! अन्य अवस्थाएं भी हैं जहां न सूर्य न चन्द्रमा न अग्नि और न वाणी रहती है। उन अवस्थाओं में मनुष्य व्यवहार करते हैं। एक स्वप्नावस्था। दूसरी समाध्यवस्था। तृतीय गोप्यावस्था जिस अवस्था में चोर अथवा जार अथवा दूत किन्हीं पुरुषों से अपने को प्रकट करना नहीं चाहते हैं। चतुर्थी रोगादि से अपहतावस्था जिस में रोगादि से पीड़ित हो भाषणादि में असमर्थ भी "यह मेरा पिता है" "यह मेरी माता है" "यह मेरा बन्धु है" इत्यादि विषय को अभ्यन्तर से जानता है। हे याज्ञवल्क्य! एकेन्द्रिय से रहित मूक पुरुष भी तो सब व्यवहार करता है इस हेतु आप मुझे समझावें कि उन चारों के अभाव में भी इस पुरुष को कौनसी ज्योति होती है। जिससे वह व्यवहार करता है। अब यह राजा बूझता, तर्क करता, अच्छे प्रकार ऊहा भी करता है इस सम्वाद से यह जान परितुष्ट हो ऋषि जीवात्मा के वास्तविक परमार्थ स्वरूप को प्रकाश करते हैं। हे सम्राट्! यह जीवात्मा बाह्य सामग्री की ही अपेक्षा से निज सत्ता वाला नहीं है किन्तु यह नित्य शाश्वत स्वतन्त्र पुरुष कोई है। वह उन पूर्वोक्त सबों के शान्त होने पर भी निज ज्योति से भासित होता है अर्थात् उस समय निज ज्योति से ही ज्योतिष्मान् होता है। हे राजन्! यदि यह जीवात्मा सदा बाह्य सामग्री की अपेक्षा करने वाला हो तो इसकी अनित्यता हो जायगी। हे राजन्! इसमें निज स्वभाव भाषणादि व्यापार सदा ही रहते हैं। इसका व्यभिचार कदापि नहीं होता। मुक्ति अवस्था में भी इनका रहना सिद्ध है। अतः हे सम्राट्! प्रथम ऐसे आत्मा को जानो ॥ ६ ॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥ ७ ॥

अनुवाद—जनक—हे याज्ञवल्क्य! कौनसा वह आत्मा है? याज्ञवल्क्य—जो यह विज्ञानमय, इन्द्रियों से परिवेष्ठित हृदय में विराजमान स्वयं ज्योतिःस्वरूप पुरुष है (वह आत्मा है) यद्वा जो यह इन्द्रियों में विज्ञानमय, हृदय में रहने वाला स्वयं ज्योतिःस्वरूप पुरुष है। वह एक रस से दोनों लोकों में गमन करता है। मानो ध्यान करता हुआ और अभिलाषा करता हुआ दोनों लोकों में गमन करता है परन्तु वह स्वप्नवान् होकर इस लोक को और दुःख के रूपों को लांघ जाता है ॥ ७ ॥

पदार्थ—जनक महाराज पूछते हैं कि हे याज्ञवल्क्य! आपने पूर्व में कहा है कि इस पुरुष का आत्मा ही ज्योति होता है अर्थात् यह जीवात्मा स्वयं ज्योतिःस्वरूप है। यहां सन्देह होता है। इस

शरीर में इन्द्रिय और अन्तःकरण भी विद्यमान हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं। तब क्या इस शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण समुदाय से वह ज्योति उत्पन्न होता है अथवा कोई इनसे अतिरिक्त पुरुष है। ज्योतिष्मान् स्वतन्त्र, अतः हे याज्ञवल्क्य ! मुझे समझाकर कहें कि इन इन्द्रियादिक में मध्य (कतमः+आत्मा+इति) आत्मा कौन सा है ? क्या इन्द्रिय ? अथवा अन्तःकरण अथवा इन्द्रियसहित यह समुदाय शरीर आत्मा है या इन से कोई भिन्न आत्मा है ? इस प्रश्न का याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—(यः+अयम्+प्राणेषु+विज्ञानमयः) जो यह इन इन्द्रियों के मध्य में विराजता हुआ अत्यन्त ज्ञानवान् है। वह आत्मा। अथवा (प्राणेषु) मन के द्वारा सब इन्द्रियों के निकट जाकर उन सबों को सजीव कर प्रोज्ज्वलित कर रहा है और जैसे महाराज अमात्य वर्गों को ले उन्हें चारों तरफ़ बैठा विचार करता तद्वत् जो विचार करने वाला है वह आत्मा है (हृदि+अन्तःज्योतिः+पुरुषः) जो हृदय में रहता है और जिनके अभ्यन्तर में ज्योति हो सूर्यवत् स्वयं ज्योतिःस्वरूप सब शरीरों में रहनेवाला जो है वह आत्मा है। पुनः शङ्का होती है कि क्या दीप के समान वह जीवात्मा यहां ही लयभाव को प्राप्त हो जाता है। इसका अन्य लोक नहीं है। इस पर कहते हैं (सः+समानः+सन्+उभौ+लोकौ+अनुसंचरति) वह समानरूप से दोनों लोकों में गमन करता है अर्थात् देहादि से भिन्न कर्ता भोक्ता कोई है जो मर कर दूसरे जन्म में भी निजोपार्जित फल का भोक्ता होता है और एक रूप से दोनों लोक में स्थित रहता यह भाव उभौ लोकौ और समान शब्द से सूचित किया है। अब पुनः दिखलाते हैं कि न मूर्छितसा न उन्मत्तसा और न अविद्वान् होता हुआ यह जीवात्मा इस शरीर को त्यागता किन्तु (ध्यायति+इव+लेलायति+इव) निज उपार्जित सब धर्म्म अधर्म का ध्यान और अत्यन्त अभिलाषा करता हुआ अर्थात् अहो आज मुझे सब त्यागने पड़ेंगे क्या ये पुनरपि कभी मुझे मिलेंगे या नहीं, अहो आज प्रिया का भी त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार विचार करता हुआ ये सब मुझे पुनरपि प्राप्त होवें, ऐसी कामना करता हुआ इस शरीर को कर्म के वश से त्याग अन्य शरीर के ग्रहण के लिये यहां से जाता है। कैसे यह जाना जाता है सो आगे स्वप्न के दृष्टान्त से कहते हैं—(हि+सः+स्वप्न+भूत्वा+इमम्+लोकम्+मृत्योः+रूपाणि+अतिक्रामति) क्योंकि वह स्वप्नावस्था को प्राप्त होकर इस लोक और दुःखों की सब अवस्थाओं को लांघकर गमन करता है अर्थात् यह सब का अनुभव सिद्ध है कि यह स्वप्न में कभी देखता है कि मैं स्वर्ग को प्राप्त हो मैं सुखों का अनुभव कर रहा हूँ और अब मुझे किञ्चित् भी दुःख नहीं है। इस प्रकार के अनेक विध स्वप्न देखता है इस लोक में भी परलोक के सुखों का अनुभव करता है इस से मालूम होता है कि परलोक कोई भिन्न वस्तु है इसलिये जन्मान्तर भी है। अथवा जनक ने पूछा कि कौनसा आत्मा है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो विज्ञानमयादि है। और जो (उभौ+लोकौ+समानः+सन्+सः+अनुसंचरति) जागरण और स्वप्नस्वरूप दोनों लोकों में समानरूप से विचरण करता है यह आत्मा है (ध्यायतीव+लेलायतीव) इन दोनों पदों का पूर्ववत् अर्थ है। जागरणावस्था से स्वप्नावस्था में कुछ भेद कहते हैं (सः+हि+स्वप्नः+भूत्वा+इमम्+लोकम्+मृत्योः+रूपाणि+अतिक्रामति) वह स्वप्नावस्था को प्राप्त हो इस जागरणावस्था के दुःख के सर्व अवस्थाओं को अतिक्रमण करके रहता है क्योंकि स्वप्न में एक दरिद्री पुरुष भी अपने को राजा मान आनन्द करता है ॥ ७ ॥

भाष्यम्—याज्ञवल्क्य ! यदुक्तं भगवता आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यत्र संदिह्यते। इह शरीरे इन्द्रियाण्यन्तःकरणं चापि वदन्ति तद्विदः। किमेतत्समुदायाज्ज्योतिरुद्भवति। उत कोऽप्येतेभ्योऽतिरिक्तः पुरुषोऽस्ति यो ज्योतिष्मान् स्वतन्त्रोऽस्ति। अतो ब्रूहि

याज्ञवल्क्य ! एतेषामिन्द्रियादीनां मध्ये कतम आत्मा कोऽयमात्मास्ति ? किमिन्द्रियाणि ? उतान्तःकरणम् ? उतैतेभ्यो भिन्नः कश्चित् ? याज्ञवल्क्यः समाधत्ते—हे सम्राट् । योऽयं प्राणेषु प्राणापरनामकेष्विन्द्रियेषु मध्ये विज्ञानमयो वर्तते स आत्मा । अत्र सामीप्ये सप्तमी । यः खलु सर्वेषामिन्द्रियाणां निकटं मनोव्यापारेण गत्वा तानि सर्वाणि प्रोज्ज्वलयति । अमात्यान् महाराज इव तानि परितः स्थितानीव विधाय सर्वं विचारमारभत इव । यं विनैतानि किमपि कर्तुं न समर्थयन्ते । स आत्मा इन्द्रियेभ्योऽतिरिक्तत्वेन वेदितव्यः । कथंभूतः स विज्ञानमयः प्रचुरं विज्ञानं विज्ञानशक्तिर्यत्र सः । स क्वास्तीत्यपेक्षायां—हृदि हृन्मध्ये तिष्ठति । पुनः—अन्तर्ज्योतिः अन्तर्निजस्वरूपाभ्यन्तरे ज्योतिर्यस्य सः सूर्यादिवत् । न बाह्यत एव स ज्योतिषा भासते किन्तु स स्वयंज्योतिरस्तीति भावः । पुनः—पुरुषः सर्वासु पूर्षु स्थितः । अत्रैव प्रदीपवद्विलीयते नास्यास्त्यतोलोकान्तरमिति सन्देहं निराकुर्वन्नाह—समान इति । स पुरुषः समानः सन् । एति वा उभौ लोकौ । इमं लोकं परञ्च लोकम् । अनुसञ्चरति व्रजति । अस्त्ययं देहाद्भिन्नः कर्ता भोक्ता यः प्रेत्य परस्मिन् जन्मन्यपि निजोपार्जितफलभाग् भवतीति उभयलोकगमनवर्णनेन सूचितम् । हे राजन् ! न मूर्च्छित इव नचाऽविद्वान् सन् न चोन्मत्त इवायं परलोकं गच्छति । किं तर्हि ध्यायतीव स्वोपार्जितौ धर्माधर्मौ चिन्तयन्निवानुसंचरतीत्यर्थः । पुनः—लेलायतीव अत्यर्थमभिलषतीव अहो मम इमे सर्वेऽद्य त्याज्या भवन्ति । कदाप्येते पुनरपि मिलिष्यन्ति नवेति । अहो अद्य प्रियापि हेया इति विचारयन् पुनरपि एते मां प्राप्नुवन्त्विति कामयमान इवेदं शरीरं कर्मवशेन विहाय अन्यद् ग्रहीष्यन् याति । कश्चिदासकामो मरणवेलायां न संसारभोगान् ध्यायन्नुत्क्रामति । कश्चित्तु ध्यायन्नेव । अतो विप्रतिपत्तिसूचक इव शब्दः । कथमवगम्यत इति । सह्यात्मा स्वप्नो भूत्वा स्वप्नवान् भूत्वा इमं लोकम् । अतिक्रामति अतिक्रम्य व्रजतीव । तथा मृत्योर्दुःखस्य सर्वाणि रूपाणि सर्वावस्थाः अतिक्रामति । कदाचिदयं स्वप्ने अहं स्वर्गं लोकं प्राप्य सर्वं सुखमनुभवामि । एवं मम सम्प्रति किमपि दुःखं नास्ति । इत्येवंविधान विविधान् स्वप्नान् पश्यति । अतोऽस्मिन् लोकेऽपि इतरलोकसुखमनुभवतीति अस्ति परलोक इति सूचितम् । यद्वा उभौ जागरणस्वप्नरूपौ द्वावपि लोकौ ध्यायतीव लेलायतीव ध्यायन्निव लेलायन्निव अनुसरति इन्द्रियैः सह विषयं विषयं प्रति धावति । स्वप्ने त्वियान् विशेषः । स हि स्वप्नो भूत्वा स्वप्नावस्थां प्राप्य । इमं लोकं जागरणरूपं लोकम् । तथा तत्स्थस्य मृत्योर्दुःखस्य रूपाणि सर्वावस्थाः अतिक्रामति उल्लंघयति । यतो दरिद्रोऽपि स्वप्ने नृपायते ॥ ७ ॥

स वा ऽयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥ ८ ॥

अनुवाद—सो यह पुरुष उत्पन्न हो शरीर को प्राप्त करता हुआ पापों से सम्मिलित होता है और जब वह मरता है और ऊपर को जाता है तब सब पापों को छोड़ जाता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—पुनः आत्मा का परलोक विषय कहते हैं—(सः+वा+अयम्+पुरुषः+जायमानः+शरीरम्+अभिसंपद्यमानः+पाप्मभिः+संसृज्यते) सो यह पुरुष जीवात्मा उत्पन्न होता हुआ अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त करता हुआ अशुभ कर्मजन्य अखिल अधर्मों से संगत होता है अर्थात्

अखिल अधर्म्म इसको सम्प्राप्त होते हैं और पुनः (म्रियमाणः+उत्क्रामन्+पाप्मनः+विजहाति) जब मरने लगता है और मरकर ऊपर को उठता है तब सब पापों को त्याग कर देता है ॥ ८ ॥

भाष्यम्—पुनरस्य परलोकं दर्शयति । स वायं पुरुषः । जायमानः नाङ्कुरादिवदुत्पद्यमानः । किन्तु शरीरम् । अभिसम्पद्यमानः शरीराच्छरीरं प्राप्नुवन् । पाप्मभिः पापैः पूर्वार्जितैरधर्म्मैः । अशुभकर्मजन्यैरधर्म्मैरित्यर्थः संसृज्यते संसृष्टः संगतो भवति । पुनरपि म्रियमाण उत्क्रमन् ऊर्ध्वं गच्छन् । पाप्मनः पापानि विजहाति त्यजति । इदं कस्यचित् पुण्यातिशालिनः पुरुषस्य वर्णनम् । कोऽपि हि पुण्यः पुरुषः संचितानि पापजन्यानि दुःखानि भोक्तुं शरीरमादत्ते । भोगेन तानि समाप्य शुद्धो निर्म्मलः सन्नुत्क्रामति ॥ ८ ॥

भाष्याशय—यह किसी पुण्यशाली पुरुष का वर्णन है क्योंकि कोई कोई पुण्यवान् पुरुष पापजन्य दुःखों को भोगने के लिये शरीर धारण करते हैं । भोग से उनको क्षय करके शुद्ध निर्मल हो ऊपर जाते हैं । जायमानः—जैसे बीज से अंकुर अथवा मृत्तिका से घट होता है तद्वत् यह उत्पन्न नहीं होता । इस हेतु "जायमानः इसी का शरीरम्+अभिसंपद्यमानः" व्याख्यान है अर्थात् एक शरीर को त्याग दूसरे शरीर में जाना है आत्मा का मरण जन्म है । मरण समय में सब मनुष्य के पाप नष्ट हो जाते हैं सो बात नहीं किन्तु किन्हीं किन्हीं महात्मा के सब पाप नष्ट होजाते हैं । इसमें भी सन्देह नहीं । इस हेतु यह किसी योगी का वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है । यहां केवल पुनर्जन्म दिखलाने के अभिप्राय से कहा गया है ॥ ८ ॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदञ्च परलोकस्थानञ्च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानञ्च । अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति । स यत्र प्रस्वपित्यस्यलोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेनभासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति ॥ ९ ॥

अनुवाद—निश्चय उस इस पुरुष के दो ही स्थान होते हैं—यह लोकस्थान और परलोकस्थान, दोनों का सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान होता है । इस सन्ध्यस्थान में स्थित होकर दोनों इस स्थान को और परलोक स्थान को देखता है । परलोक स्थान में इस जीवात्मा का जैसा आक्रम (आश्रम) होता है । वहां पर भी उसी आक्रम को लेकर दोनों पापों और आनन्दों को देखता है । जिस काल में वह आत्मा विविध स्वप्नों को देखता है । उस समय सर्ववासनायुक्त इस लोक की एक मात्रा (वासना अंश) को लेकर अपने से ही उसे नष्टकर पुनः बना अपने प्रकाश से अपनी ही ज्योति से स्वप्न-क्रीडा को आरम्भ करता है । इस अवस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है ॥ ९ ॥

पदार्थ—पूर्व में जो कुछ अर्थ कहे गये हैं उनको ही स्वप्न के दृष्टान्त से पुनः कहते हैं—(वै) निश्चय अर्थात् इस वक्ष्यमाण वर्णन में किंचित् भी सन्देह नहीं । (तस्य+अस्य+पुरुषस्य+द्वे+एव+स्थाने+भवतः) उस इस पुरुष नामधारी जीवात्मा के दो ही स्थान होते हैं । एक तो (इदम्+च) प्रत्यक्षतया दृश्यमान भोग के लिये प्राप्त जो इस में गृहीतस्थान है और दूसरा (परलोकस्थानम्) आगामी जन्म में प्राप्तव्य जो स्थान अर्थात् जन्म के अनन्तर मरण और मरण के अनन्तर जन्म इस प्रकार घटीयन्त्र के समान इसके दो स्थान होते हैं और इसी प्रकार जागरण के अनन्तर स्वप्न और स्वप्न के

अनन्तर जागरण । यद्यपि प्रधानतया ये ही दो स्थान हैं तथापि गौण तृतीयस्थान भी होता है। इससे आगे कहते हैं (सन्ध्यम्+तृतीयम्+स्वप्नस्थानम्) इस लोक परलोक तथा जागरण सुषुप्ति इन दोनों की सन्ध्य में अर्थात् मध्य में तीसरा स्वप्नस्थान है। जैसे जागरण और सुषुप्ति के मध्य एक स्वप्न की अवस्था होती है वैसे है इस लोक तथा परलोक की सन्धि स्वप्न है क्योंकि मरण वेला में स्वप्नवद्दशा प्राप्त होती है अथवा मरण के अनन्तर देवयान वा पितृयान जो मार्ग है मानो वही सन्धिस्थान (तस्मिन्+सन्ध्ये+स्थाने+तिष्ठन्+उभे+स्थाने+पश्यति+इदञ्च+परलोकस्थानञ्च) उस सन्ध्यस्थान में रहता हुआ दोनों स्थान देखता है। क्रियाकलाप सहित इस लोक को तथा परलोक स्थान को अर्थात् इस लोक में जो जो कर्म करता है मरणकाल में उन सबों को स्मरण करता है। इन ही सञ्चित कर्मों का फल वहां से जाकर पाता है। इसको भावना के द्वारा देखता है, परमार्थरूप से नहीं। इस प्रकार स्वप्न में भी जागरण दृष्ट वस्तुओं को और स्वप्नकाल में मानो नूतन नूतन अन्यान्य बहुत वस्तुओं को देखता है। वर्त्तमान जन्म पूर्वजन्म के धर्माधर्म्म का सूचक होता है। इसको दिखलाते हैं, किसी सुखी शान्त विद्यावान् परोपकारी को देखकर लोग कहते हैं कि इसके पूर्वजन्म का यह फल है और किसी क्रूर मूर्खादि को देख अहो यह नारकी (नरक निवासी) पुरुष है ऐसा कहते हैं। इस विषय को स्वयं उपनिषद् दर्शाती है (अथ+परलोकस्थाने+अयम्+यथाक्रमः+भवति) और परलोक स्थान में यह जीवात्मा जिस आश्रय वाला होता है (तम्+आक्रमम्+आक्रम्य+पाप्मनः+आनन्दान्+च+उभयान्+पश्यति) उसी आश्रय को लेकर अधर्मजन्य दुःखों व धर्मजन्य सुखों को पाता है। आगे स्वप्न के दृष्टान्त से इसके ज्योति को साधते हैं (सः+यत्र+स्वपिति) वह जीवात्मा जिस काल में स्वप्नक्रीड़ा करना आरम्भ करता है उस समय (सर्वावतः+अस्य+लोकस्य+मात्राम्+आदाय+वि+स्वयम्+विहत्य+स्वयं+निर्माय+स्वेन+भासा+स्वेन+ज्योतिषा+प्रस्वपिति) सब वासनाओं से युक्त इस गृही वा जाग्रत लोक के कुछ अंश को लेकर अपने से ही उसे मिटाकर पुनः अपने से ही उसे निर्माण कर (स्वेन+भासा) निज तेज से (स्वेन+ज्योतिषा) निज ज्योति से (प्रस्वपिति) विशेष विशेष स्वप्न की क्रीड़ा करना आरम्भ करता है। (अत्र) इस अवस्था में (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (स्वयं+ज्योतिः) स्वयं ज्योति (भवति) होता है अर्थात् इस अवस्था में सूर्यादि ज्योति की अपेक्षा न कर के आत्मा में जो स्वाभाविक ज्योति है उसी की सहायता से सब क्रीड़ा करता है ॥ ९ ॥

भाष्यम्—पूर्वोक्तानर्थान् पुनरपि स्वप्ननिदर्शनेन ब्रवीति। वै इति निश्चयं द्योतयति। अत्र वक्ष्यमाणे विषये न संशयितव्यम्। तस्यैतस्य प्रकृतस्य सर्वासु पूर्षु स्थितस्य पुरुषाख्यस्य जीवस्य। द्वे एव स्थाने भवतः। एव शब्दोऽवधारणार्थः। न न्यूनं नाधिकञ्चेत्यर्थः। के ते द्वे स्थाने इदं प्रत्यक्षतया दृश्यमानं भोग्यत्वेन प्राप्तं इह जन्मोत्पत्तिस्थानम्। यद्वा जाग्रद्रूपस्थानमिदं शब्देनाह। द्वितीयं परलोकस्थानञ्च। आगामिनि जन्मनि प्राप्तव्यस्थानमेव परलोकस्थानम्। यद्वा सुषुप्तावस्थारूपम्। यद्यपि इमे एवं द्वे स्थाने प्रधाने भवतः। तथापि अस्य तृतीयमपि स्थानं वर्तते। स्वप्नस्थानं तृतीयम्। किंविशिष्टम्। सन्ध्यम्। तयोर्द्वयोः सन्ध्योर्भवं सन्ध्यम्। त्रयाणां पूरणम् त्रयम्। यथा जागरणसुषुप्त्योः सन्धिः स्वप्नः। तथैवेहलोकपरलोकयोः सन्धिः स्वप्नः। मरणवेलायां स्वप्नवद्दशोपलब्धिः देवयानपितृयानमार्गगमनमेव स्वप्नतुल्यम्। तस्मिन् स्वप्नाख्ये सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नयमात्मा उभे। इदञ्च परलोकस्थानञ्च पश्यति। इह यानि यानि कर्माणि कृतानि मरणकाले तानि सर्वाणि स्मरति। एतेषामेव कृतसंचितकर्मणां फलमितोगत्वा

भोक्तव्यमिति भावनया पश्यति न तु परमार्थतः। एवञ्च स्वप्ने जागरणदृष्टानि तथा नूतनानीव च तत्काले सृष्टानि अन्यान्यपि भूरीणि वस्तूनि पश्यति। वर्तमान जन्म पूर्वस्य जन्मनो धर्माधर्मौ सूचयति। तथाहि—सुखिनं शान्तं विद्यावन्तं परोपकारिणमवलोक्यास्य प्राक्तनजन्मफलमेतदिति क्रूरं मूर्खमित्येवमादिं दृष्ट्वा अहो नारकीयं पुरुष इति लोका भणन्ति इदमेवाग्रे विस्पष्टयति। अथायं पुरुषः। परलोकस्थाने यथाक्रमो भवति आक्रामत्येनेनेत्याक्रमः आश्रमः अवष्टम्भो विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञालक्षणो यादृश आक्रमो यस्य स यथाक्रमः अयं पुरुषः। परलोकस्थाने प्रतिपत्तव्ये निर्मिते। यादृशेनाऽऽक्रमेण संयुक्तो भवति तमाक्रमं बीजभूतमाक्रम्य अवष्टभ्य। इह जन्मनि। उभयान् पाप्मनः पापानि पापजनितदुःखानि। आनन्दांश्च पुण्यजनितसुखानि च उभयानि कर्मफलानि पश्यति प्राप्नोति। यदि परलोकपुण्यात्मा तर्हीहापि सुखानि पश्यति। यदि पापी तर्हीहापि दुःखानि पश्यति प्राप्नोतीत्यर्थः। स्वप्नदृष्टान्तेन अस्य स्वयं ज्योतिष्मत्त्वं दर्शयति। स प्रकृत आत्मा। यत्र यस्मिन् काले। प्रस्वपिति प्रकर्षेण स्वप्नमनुभवति। तदा सर्वावतः सर्वाः क्रियाकलापवासना विद्यन्तेऽस्येति सर्वावतः। अस्य लोकस्य अहरहो भुज्यमानस्य जागरितस्वरूपस्य लोकस्य। मात्रां काञ्चिदेव वासनामादाय। तां स्वयं निहत्य निश्चेष्टां विधाय। अन्तःकरणे। अन्याञ्च मात्रां निर्माय रचयित्वा स्वेन स्वकीयेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वप्ता स्वप्नक्रीडां कर्तुमारभते। अत्रास्यामवस्थायाम्। अयं जीवः। स्वयमेव ज्योतिर्भवति। नहि तत्र किमपि सूर्यादिज्योतिरपेक्षते। अतोऽयं स्वयं ज्योतिरयमात्मेति वेदितव्यम्॥ ९॥

भाष्याशय—सन्ध्यम्=सन्धि में जो हो। आक्रम=जैसे प्रासाद के ऊपर चढ़ने के लिये श्रेणी (सिढ़ी) लगी रहती है। तद्वत् यहां से परलोक गमन के लिये विद्या, कर्म, पूर्वज्ञान ये श्रेणियां हैं, परलोक=यहां वर्तमान जन्म का नाम लोक और जो गत जन्म वा भविष्यत् जन्म है वह परलोक। जैसे—अनुमान करो कि यहां जो लोग शरीर धारण किये हुए हैं वे अवश्य दूसरे जन्म को भोग करके आये हैं और उस गत जन्म के सञ्चित कर्मों को भी साथ ले आए हैं। जैसे यहां से जो जायगा सो यहां के सञ्चित कर्मों को लेकर जायगा और भविष्यत् जन्म में वर्तमान जन्म के कर्म परलोक कहलावेंगे इत्यादि अनुसंधान करना॥ ९॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्राऽऽनन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽऽनन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता॥ १०॥

अनुवाद—स्वप्नावस्था में न रथ, न रथयोग (रथ के घोड़े आदि), न मार्ग है परन्तु वह रथों, रथयोगों और पथों की सृष्टि करलेता है। वहां आनन्द, मोद, प्रमोद नहीं हैं परन्तु वह आनन्दों, मोदों और प्रमोदों की सृष्टि करलेता है। वहां छोटे छोटे सरोवर, खात और नदियां नहीं हैं परन्तु वह सरोवरों, खातों और नदियों की सृष्टि कर लेता है क्योंकि वह कर्ता है॥ १०॥

पदार्थ—पुनरपि स्वप्नक्रीड़ा की दशा का वर्णन करते हैं (तत्र+रथाः+न+भवन्ति+रथयोगाः) उस स्वप्नावस्था में युद्ध के लिये प्रसिद्ध रथ नहीं होते हैं और न रथ के बैल घोड़े आदिक होते हैं और (न+पन्थानः+अथ+रथान्+रथयोगान्+पथः+सृजते) रथ के चलने के लिये मार्ग भी नहीं होते हैं परन्तु

रथों को, रथ के ढोने वाले घोड़ों को और रथ के चलनेवाले मार्गों को वह जीवात्मा अपनी क्रीड़ा के लिये बना लेता है। पुनः (आनन्दाः। मुदः। प्रमुदः। न+भवन्ति+अथ+ आनन्दान्+मुदः+प्रमुदः+सृजते) सामान सुख पुत्रादि सम्बन्धी निमित्त हर्ष अत्यन्त हर्ष ये सब स्वप्न में नहीं होते हैं परन्तु आनन्द, मोद और प्रमोदों को बना लेता है। एवं (वेशान्ताः। पुष्करिण्यः। स्रवन्त्यः। न+भवन्ति) स्नान वा जलक्रीड़ा के लिये छोटे सरोवर मनुष्य रचित खात तड़ाग नदियां नहीं होती हैं (अथ+वेशान्तान्। पुष्करिण्यः+ स्रवन्त्यः+सृजते) तथापि उन सरोवरों, पुष्करिणियों, नदियों को बना लेता है (हि+सः। कर्त्ता) क्योंकि इस स्वप्नावस्था में आत्मा ही कर्त्ता धर्त्ता संहर्त्ता है। इस हेतु सब पदार्थों को बना लेता है ॥ १० ॥

भाष्यम्—पूर्वया कण्डिकया जीवस्य स्वयं ज्योतिष्ट्वमवधारितं तदयुक्तम्। कथम्? स्वप्नेऽपि सर्वेषामादित्यादीनां सत्त्वात्। समाधत्ते—न, लघुनि शरीरे कथं सूर्यादीनां समावेशः। शङ्कते—द्रष्टान्तानां कलिकत्तादीनां महतां नगराणां कथं चेतसि समावेशः। समा०—तेषां तु बुद्धौ समावेशः। शङ्का—इहापि बुद्धावेव कथं न मन्यते। सर्वजागरण—क्रियाकलापसंस्कारवासना बुद्धौ सङ्क्रान्ताः स्वप्नेऽवभासन्ते। यद्येवं स्यात्तर्हि अश्रुतव्याकरणः शिशुरपि पाणिनिसूत्रं भाषमाण उपलभ्येत। ईदृशो व्यापारो न क्वापि लब्धः। अतो बुद्धिसंक्रान्तसंस्कारवासनानामेव स्वप्ने प्रादुर्भाव इति मन्तव्यम्। शङ्कते—ननु कस्तत्रोद्बोधकः स्मारको वा। समाधत्ते—यथोन्मुक्ताज्जलोद्गिरणयन्त्रा-त्तावज्जलधाराः परिपतन्ति यावत्पुनरपि स नावरुध्यते, यथा वा प्रमत्तो वा व्याधिग्रस्तो वा असम्बद्धमेव प्रलपति न हि तत्र किमप्युद्बोधनम्। तथैव शिरसि संक्रान्ताः संस्कारा जले फेना इवोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। यदा पुनः शनैः शनैः प्रगाढनिद्रा आगच्छति तदा प्रतिबद्धजलोद्गिरणयन्त्रादिव न तस्मात् किमपि निःसरति। अतः स्वप्नदृष्टान्तेन यदात्मनः स्वयं ज्योतिष्ट्वं साधितं तल्लोकदृष्ट्यैव वेदितव्यम्। अग्रे पुनरपि स्वप्नक्रीडादशा वर्ण्यते—नेति तत्र स्वप्नावस्थायाम्। रथाः स्यन्दना युद्धाय मृगयाक्रीडायै वा न सन्ति। रथयोगा अश्वादयो न भवन्ति। युज्यन्ते ये ते योगा रथानां वाहका अश्वादयः। तथा रथगमनाय पन्थानो मार्गा अपि न भवन्ति परमार्थेन। अथ तथापि मानसव्यापारे रथान् रथयोगान् पथश्च स्वक्रीडार्थं तानुत्पादयति। पुनः—आनन्दाः सुखसामान्यानि। मुदः पुत्रादिसम्बन्ध-निमित्ता हर्षाः। प्रमुदः मुद एव प्रकृष्टाः प्रमुदः। स्वप्ने इमे आनन्दादयो न भवन्ति। अथ तत्रापि आनन्दान् मुदः प्रमुदश्च सृजते। एवम् तत्र स्नानाय वेशान्ताः क्षुद्रसरांसि "वेशान्तः पल्वलश्चाल्पसरो वापी तु दीर्घिका" इत्यमरः। ते न भवन्ति। पुष्करिण्यः खातानि न भवन्ति "पुष्करिण्यां तु खातं स्यात्" इत्यमरः। स्रवन्त्यो नद्यः स्रवन्ति यास्ताः ता अपि न भवन्ति। अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः पुष्करिणीः स्रवन्त्यः स्रवन्तीः, सृजते। उभयत्र द्वितीयार्थे प्रथमा आर्षी। हि यस्मात्कारणात् स जीवात्मा स्वप्नावस्थायां स्वयं कर्ताऽस्ति। अतः सर्वं सृजत इत्यर्थः॥ १० ॥

भाष्याशय—पूर्व कण्डिका के द्वारा 'आत्मा स्वयं ज्योति है" यह निर्धारित हुआ। इस पर कोई कहते हैं कि यह अयुक्त है क्योंकि स्वप्न में भी सूर्यादि पदार्थ विद्यमान रहते हैं।

उत्तर—नहीं, क्योंकि इस लघु शरीर में सूर्यादिकों का समावेश कैसे हो सकता है।

शङ्का—देखे हुए कलकत्तादिक महान् नगरों का शरीर में कैसे समावेश होता है।

उत्तर—उनका तो बुद्धि में समावेश होता है।

शङ्का—तो इनका भी बुद्धि में ही समावेश क्यों नहीं समझते हैं क्योंकि जागरण की क्रियाकलाप की सम्पूर्ण वासनाएं बुद्धि में संक्रान्त होके स्वप्नावस्था में अवभासित होती हैं। यदि ऐसा न मानो तो जिसने व्याकरण नहीं पढ़ा है उस शिशु को भी पाणिनि के सूत्र स्वप्न में बोलने चाहियें परन्तु ऐसा व्यापार कहीं नहीं देखा गया। इस हेतु बुद्धि में संक्रान्त संस्कारों का ही स्वप्न में प्रादुर्भाव मानना चाहिये।

शङ्का—उन संस्कारों का उद्बोधक वा स्मारक कौन पदार्थ है ? क्योंकि उद्बोधक विना किसी परोक्ष वस्तु की स्मृति नहीं होती।

उत्तर—जैसे उन्मुक्त जल—फुहारे से तबतक बराबर जलधारायें गिरती रहती हैं जबतक पुनः वह बन्द न कर दिया जाय अथवा जैसे उन्मत्त वा रोगग्रस्त असम्बद्ध प्रलाप करता है, यहां कोई भी उद्बोधक नहीं। वैसे ही शिर में संक्रान्त संस्कार जल में फेन के समान उठते और लीन होते रहते हैं। जब पुनः प्रगाढ़ निद्रा आती हैं तब जैसे बन्द किये हुए फुहारे से जल नहीं निकलता वैसे ही उस शिर से कुछ भी स्वप्न नहीं आता। स्वप्नावस्था में प्रतिबन्धक के अभाव से शिरोरूप यन्त्र खुल जाता है इस हेतु उससे स्वप्नरूप जल निकलने लगते हैं। इस हेतु स्वप्न के दृष्टान्त से जो आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व साधा गया है वह लोकदृष्टि से ही किया गया है। ऐसा अनुसन्धान करना॥ १०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरैति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः॥ ११॥

अनुवाद—इसमें ये श्लोक होते हैं। यह जीवात्मा स्वप्न के द्वारा शरीर को निश्चेष्ट बना स्वयं असुप्त पदार्थों को चारों तरफ़ से देखता रहता है। वह हिरण्मय एकहंस जीवात्मा पुरुष, इन्द्रियों की तेजोमात्रा को लेकर पुनः जागरण स्थान को आता है॥ ११॥

पदार्थ—(तत्+एते+श्लोकाः+भवन्ति) उस पूर्वोक्त विषय में ये श्लोक प्रमाण होते हैं। यह जीवात्मा (स्वप्नेन+शारीरम्+अभि+प्रहत्य+असुप्तः+सुप्तान्+अभिचाकशीति) स्वप्न के द्वारा स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर को इन्द्रियों के सहित निश्चेष्ट बना आपने न सोता हुआ अन्तःकरण की वृत्ति के आश्रित सब पदार्थों को चारों तरफ़ से देखता रहता है अर्थात् साक्षीरूप स्थित रहता है। यह स्वप्नावस्था का वर्णन हुआ। आगे जागरणावस्था को कहते हैं (शुक्रम्+आदाय+पुनः+स्थानम्+एति) सब इन्द्रियों की तेजोमात्रा को लेकर फिर भी जागरण स्थान को आता है। आगे तीन विशेषणों से आत्मा का वर्णन करते हैं (हिरण्मयः+पुरुषः) ज्योतिःस्वरूप और सब शरीररूप पुरियों में स्थित है। पुनः (एकहंसः) अकेला ही दोनों लोकों में गमनागमन करनेवाला है॥ ११॥

भाष्यम्—तदिति। तत्र तस्मिन्नुक्तविषये। एते वक्ष्यमाणाः श्लोकाः प्रमाणानि भवन्ति। तथाहि स्वप्नेनेति—एष जीवात्मा। स्वप्नेन स्वप्नभावेन। शारीरं शरीरमत्र स्वार्थे वृद्धिः। इन्द्रियसहितमिदं पाञ्चभौतिकं शरीरम्। अभिप्रहत्य निश्चेष्टीकृत्य। असुप्तः स्वयमलुप्तदृग्रूपत्वादसुप्तः। सुप्तान् अस्तमितान् अन्तःकरणाऽऽश्रितान् सर्वपदार्थान्। अभिचाकशीति अभितः चाकशीति पश्यति। अथ जागरितं दर्शयति—शुक्रं सर्वेषामिन्द्रियाणां तेजोमात्राम्। आदाय गृहीत्वा। स्थानं जागरितस्थानम्। ऐति

आगच्छति । आ+एति । कीदृशः पुनः स पुरुषः ? हिरण्मयः चैतन्यज्योतिः स्वभावः । पुनः पुरुषः सर्वासु पूर्षु स्थितः । पुनः एकहंसः एक एव जाग्रत्स्वप्नेहलोकपरलोकादि हन्ति गच्छति हिनस्ति वेत्येकहंसः हन हिंसागत्योः । शरीरानुगता या एका चेतनेन जीवेन प्रदीप्ता चेतना शक्तिरस्ति साहि विश्राममन्तरेण न सर्वदा नैरन्तर्येण कार्याणि कर्तुं समर्था । सा च सर्वाणीन्द्रियाणि उपसंहृत्य स्वस्वविषयात् प्रत्यावर्तयति । तदाऽऽत्मा करणाऽभावेन स्वस्थः सन् सर्वान् व्यापारान् पश्यन् हृदि विश्राम्यति अतोऽस्याऽसुप्तत्वम् ॥ ११ ॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा । स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥ १२ ॥

अनुवाद—वह ज्योतिःस्वरूप, एकहंस अमृत तथा पुरुष जीवात्मा निकृष्ट शरीररूप नीड़ (घोसलें) को प्राण से रक्षा करता हुआ शरीररूप नीड़ से, मानो बाहर विचरण कर जहां जहां कामना होती है वहां वहां जाता है ॥ १२ ॥

पदार्थ—(सः+अमृतः+हिरण्मयः+पुरुषः+एकहंसः+अवरम्+कुलायम्+प्राणेन+रक्षन्+कुलायात् बहिः+चरित्वा+अमृतः+यत्र+कामम्+ईयते) वह मरणधर्म से रहित, स्वयं ज्योतिस्वरूप, सब प्रकार के शरीर में निवास करनेवाला, एकाकी दोनों लोक में विचरण करनेवाला, जो जीवात्मा है सो नीच निकृष्ट शरीररूप नीड़ (घोसले) को प्राण के द्वारा रक्षा करता हुआ शरीररूप नीड़ से मानो बाहर विचरण करके सदा ही अमृतरूप होता हुआ जिस जिस विषय में कामना होती है वहां वहां बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् जाता है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—प्राणेनेति । पुनरपि स्वप्नमेव विशेषरूपेण वर्णयति—सः अमृतोऽनुच्छित्तिधर्मा नित्यो जीवात्मा । अवरं न वरमवरमनुत्कृष्टम् । कुलायं कौलीयत इति कुलायं नीडं शरीरमित्यर्थः "कुलायो नीडमस्त्रियाम्" इति कोशः । प्राणेन पञ्चवृत्तिकेन प्राणेन मुख्येन । रक्षन् मृतमिति भ्रमो मा भूदिति पालयन् सन् कुलायात् शरीरनीडाद् बहिश्चरित्वा मानसव्यापारसम्पर्केण बहिश्चरणमिव कृत्वा न वास्तवेन यत्र कामं यत्र यत्र विषयेषूद्भूतवृत्तिः कामो भवति । तं कामं प्रति ईयते नीयते गच्छतीत्यर्थः । अमृत इत्याद्यभ्यासः कामं कामं प्रत्याशक्तोऽयमिति भ्रान्तिनिवारणाय । बुद्ध्युपहित एव इतस्ततः प्रव्रजति । न स्वयं स्वयं किमपि कामयते । अन्यत् पूर्ववत् ॥ १२ ॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि । उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ १३ ॥

अनुवाद—वह देव जीवात्मा स्वप्नस्थान में विविध उच्च नीच भाव को प्राप्त होता हुआ अनेक रूपों को बनाता है । कभी स्त्रियों के साथ आनन्द अनुभव करता हुआ कभी हंसता हुआ और कभी विविध भयों को देखता हुआ स्वप्न में खेल करता है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(देवः+स्वप्नान्ते+उच्चावचम्+ईयमानः+बहूनि+रूपाणि+कुरुते) दिव्य गुणवाला यह जीवात्मा स्वप्नस्थान में उच्च=ब्राह्मणादि भाव को और अवच=निकृष्ट पशु पक्षी प्रभृति भाव को प्राप्त करता हुआ अनेक वासनामय शरीर को अपनी क्रीड़ा के लिये बनता है अर्थात् कभी तो विद्वान् होकर शिष्य को पढ़ाता है । कभी स्वयं शिष्य बनकर पढ़ता है । कभी हाथी से ताड़ित होकर रोता

हुआ भागता है। इस प्रकार स्वप्न में अनेक उच्चता नीचता को प्राप्त होता है। इसी को आगे श्रुति कहती है (उत+स्त्रिभिः+सह+मोदमानः+इव+उत+अपि+जक्षत्+इव+भयानि+पश्यन्) या कभी स्त्रियों के साथ मानो क्रीड़ा करता या कभी अपने बन्धु बान्धव व मित्र प्रभृतियों के साथ हास करता हुआ कदाचित् भयजनक सिंह व्याघ्र हाथी सर्पादिकों को मानो देखता हुआ वह आत्मा स्वप्नस्थान में क्रीड़ा करता है ॥ १३ ॥

भाष्यम्—स्वप्नान्त इति। देवो द्योतनात्मको दिव्यस्वभावो जीवात्मा स्वप्नान्ते स्वप्नस्थाने। उच्चावचम् उच्चं ब्राह्मणादिभावम् अवचं तिर्यगादिभावञ्च। ईयमानो बुध्या नीयमानः सन् रूपाणि संस्कारमयानि शरीर जातानि। बहूनि भूरीणि। कुरुते स्वप्नस्थाने कदाचिद् विद्वान् भूत्वा शिष्यानध्यापयति। कदाचित् पठति कदाचिद् गजेन ताड्यमानः क्रन्दन् पलायते इत्यादीनि बहूनि रूपाणि कुरुते। इदमेव विस्पष्टयति श्रुतिः—कदाचिदयं जीवः स्त्रीभिः सह सार्धम्। मोदमान इव क्रीडमान इव उतापि जक्षदिव बन्ध्वादिभिः सह हसन्निव। उतापि भयानि विभेत्येभ्य इति भयानि हिंस्रव्याघ्रादीनि। पश्यन्नवलोकयन्निव भवति ॥ १३ ॥

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति। तन्नाऽऽयतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यते अथो। खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥ १४ ॥

अनुवाद—(सब कोई) इस जीवात्मा के आराम (क्रीड़ा) को देखते हैं उस (आत्मा) को कोई भी नहीं देखता। कोई कहते हैं कि उसको सहसा न जगावे क्योंकि इस देह के लिये वह स्थान दुर्भिषज्य होजाता है जहां वह जीवात्मा प्राप्त नहीं होता। कोई आचार्य कहते हैं—इसका जागरित देश ही स्वप्न देश है क्योंकि जागता हुआ यह जो जो देखता है सोकर भी उन्हीं को देखता है इस अवस्था में यह स्वयं ज्योति होता है। जनक महाराज कहते हैं—सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूं। इसके आगे विमोक्ष (सम्यग् ज्ञान) के लिये मुझे उपदेश देवें ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अस्य+आरामम्+पश्यन्ति) इस जीवात्मा के क्रीड़ास्थान वा कृत्रिम उपवन को सब कोई देखते हैं। यदि इसकी क्रीड़ा को देखते हैं तो कदाचित् उसे देख सकते हैं वा देखते होंगे। इस पर कहते हैं—(कः+चन+तम्+न+पश्यति) कोई भी मनुष्य उस क्रीड़ा करनेवाले जीवात्मा को नहीं देखता है क्योंकि वह बहुत सूक्ष्म है। जैसे शिशु क्रीड़ा से निवारित होने पर उदासीन होता है। वैसे ही स्वप्न क्रीड़ावान् जीवात्मा को यदि कोई जगावे तो वह भी अप्रसन्न सा होता है क्योंकि वह इसमें कुछ आनन्द पा रहा है। इस हेतु (आहुः+तम्+आयतम्+न+बोधयेत्) कोई आचार्य कहते हैं कि उस सुप्त पुरुष को सहसा शीघ्रता में न जगावे। विशेष कर जब यह गाढ़निद्रा में रहता है उस समय इसको जगाना उचित नहीं। इससे शरीर में कई प्रकार की हानि होजाती है। इसको आगे कहते हैं—(यम्+एषः+न+प्रतिपद्यते+अस्मै+दुर्भिषज्यम्+भवति) जिस देश में यह जीवात्मा नहीं पहुंच सकता, देह के उस देश की चिकित्सा दुष्कर हो जाती है अर्थात् सहसा उठने से कभी कभी देखा जाता है कि कोई अङ्ग कुछ विकल होजाता है उसे शून्यता, अन्धता आदि दोष प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा किसी को अनुभव है परन्तु (अथो+खलु+आहुः+अस्य+एषः+जागरितदेशः+एव)

कोई अन्य आचार्य कहते हैं—इस पुरुष का यह स्वप्न का विषय जागरित का ही विषय है (हि+जाग्रत्+यानि+पश्यति+सुप्तः+तानि) क्योंकि जागता हुआ यह पुरुष जिन जिन सिंह गज मनुष्यादिकों को देखता है, सोता हुआ भी पुरुष उनको ही देखता है। इस हेतु जागरण और स्वप्न में कुछ भेद नहीं और न कहीं आत्मा जाता है और न कहीं से आता है। इस हेतु सहसा जगाने में भी कोई क्षति नहीं। यह इसका भाव है। हे जनक ! (अत्र+अयम्+पुरुषः+स्वयं+ज्योतिः+भवति) इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं ज्योति होता है। इतनी ही विशेषता है। यद्यपि यहां रथादि नहीं है तथापि जागरितवासना के बल से यहां सब कुछ देखता सुनता है। इतनी बात सुन महाराज जनक कहते हैं कि हे आचार्य याज्ञवल्क्य ! (सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददामि) सो मैं आपका शिष्य और आप से प्राप्त बोधवाला हुआ हूं अतः आप को एक सहस्र गाएं देता हूं। (अतः ऊर्ध्वम्+विमोक्षाय+एव+ब्रूहि) इस के आगे सम्यग् ज्ञान के उपदेश देवें ॥ १४ ॥

भाष्यम्—आराममिति । सर्वे जनाः अस्य स्वप्नवतः पुरुषस्य । आराममाक्रीडनं पश्यति । रमणं रामः आसमन्ताद् भवेन रामो यत्र सः । यद्वा आरमन्ति आक्रीडन्ति यत्र स आरामः कृत्रिमं वनं "आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्" इत्यमरः । अयमात्मापि स्वप्नस्थाने क्रीडारूपं नूतनं नूतनं वनं रचयति । तमेवारामं जनाः पश्यन्ति । किन्तु कश्चन कोऽपि । तमात्मानम् । साक्षात्कारेण न पश्यति । आत्मक्रीडासाक्षात्कारेण तस्याऽपि प्रत्यक्षतया दर्शनं भवतीति शङ्काव्युदासनाय न तं पश्यति कश्चनेत्यभिहितम् । आत्मनोऽत्यन्तसूक्ष्मत्वाद्दर्शनाऽनर्हत्वमुक्तम् । इतिशब्दः श्लोकसमाप्तिसूचकः । यथा शिशुः क्रीडाया निवार्यमाण उदास्ते । तथैव सुष्वापक्रीडावन्नात्मापि । यतस्तत्राऽऽनन्दमनुभवति । अतः केचिदाचार्य्याः आहुः कथयन्ति । तं गाढं प्रसुप्तं पुरुषम् । आयतं भृशमत्यर्थं सहसा न बोधयेत् नोत्थापयेत् । हि यतः एषः पुरुषः सहसा प्रतिबोधितः सन् । यं यं इन्द्रियप्रदेशं न प्रतिपद्येत न प्राप्नोति तस्मै देहाय देहस्य तस्य तस्य भागस्य ह स्फुटं दुर्भिषज्यं भवति दुःखेन भिषक्कर्म भवति । केषाञ्चिदयमनुभवोऽस्ति कदाचित्सहसा बोधितस्य पुरुषस्याऽङ्गवैकल्यं दृष्टम् । यतः प्रस्वापे सर्वाणीन्द्रियाणि व्यापारविरतानि सन्ति । यथा जाग्रत्पुरुषः स्वस्थोऽकस्माद् भयादिकमवलोक्य व्याकुली भवति । पलायमानः सन् कश्चित्स्खलति । कुचित्पतति एवमेव सहसा प्रतिबोधिते पुरुषे । इन्द्रियाणामपीदृश्यवस्था भवति तदा यदङ्गं विकलं भवति । तस्य चिकित्सापि दुष्करी । नाम सर्वेषां सिद्धान्तः । अथ खल्वाहुः केचिदन्ये आचार्या आहुः । अस्य जीवस्य अयं जागरित देशएव जागरितविषय एव । एष स्वप्नदेशोऽपि । नानयोर्भेद इत्यर्थः । इदमेव विस्पष्टयति—हि यतः । जाग्रत् सन् । यानि यानि सिंहादि पदार्थजातानि पश्यति । तानि तान्येव । सुप्तोऽपि पश्यति । अतः सहसा प्रतिबोधेनापि न काऽपि क्षतिः । नायं कुत्रापि देहाद् बहिर्याति न च कुतोऽप्यागच्छति । रोगस्य वाय्वादिकारणं भवितुमर्हति । सुप्तपुरुषस्यावयवशैथिल्याद्वायुः प्रविश्य शरीरे विकारमुत्पादयति । तेन यदा कदाचित् महानुपद्रवो दैहिकः प्रभवति । अत्रावस्थायामियत्येव विशेषता । अयं पुरुषः । अत्र स्वयं ज्योतिर्भवति । न तत्र रथा न रथयोगाः । तथापि जागरणवासनाप्राबल्येन तत्र प्रत्यक्षमिव प्रतिभाति । एवं मुनिवचनं श्रुत्वा राजा ब्रूते—योऽहं त्वया सम्यग् बोधितः । भगवते परमपूज्याय भवते । गवां सहस्रं ददामि । हे याज्ञवल्क्य ! अत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहि—

एतत्पर्यन्तं यत्त्वया कथितं तत्सर्वं मयाऽवधारितम् परन्त्वनेन विज्ञानेन केवलेन न मोक्षोपलब्धिरिति मन्ये। यतो विद्याया एकदेश एव निर्णीतः। अत ऊर्ध्वं यद्विज्ञानमस्ति तद्विमोक्षाय विशेषेण मोक्षो भवत्यनेन विमोक्षः सम्यग्ज्ञानम्। तस्मै विमोक्षाय ब्रूहि उपदिश इति ॥ १४ ॥

भाष्याशय—आराम=क्रीड़ा वा क्रीड़ा का स्थान वा ग्राम के निकट राजाओं का जो कृत्रिम उपवन होता हैं उसको "आराम" कहते हैं। जीवात्मा स्वप्नस्थान में अनेक क्रीड़ास्थान रचता है इस हेतु यह इसका "आराम" है। दुर्भिषज्य=जिसकी चिकित्सा होनी कठिन है। किसी किसी का यह अनुभव है कि जैसे स्वस्थ जाग्रत् पुरुष अकस्मात् भय उपस्थित होने पर अति व्याकुल हो जाता है। वहां से भागता है, कहीं स्खलित होता और कहीं गिर पड़ता इससे इसको बहुत दुःख होता है। वैसे ही, प्रसुप्त पुरुष को जगाने पर सब इन्द्रिय व्याकुल हो अपने विषय की ओर दौड़ती हैं। उससे शरीर में कभी कभी हानि देखी गई है परन्तु यह सब का अनुभव नहीं। स्वप्न और जागरण में भेद नहीं और रोग का कारण वायु आदि हो सकते हैं। शयन करने पर शरीर के अङ्ग अति शिथिल हो जाते हैं उनमें बाह्य वायु प्रवेश करके कभी कभी बड़ी हानि उत्पन्न करती है। कभी बहुत भोजन कर खूब चलती हवा में सोने पर पेट में वायु घुस कर अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है। इत्यादि रोग के कारण हैं, केवल जगाना नहीं ॥ १४ ॥

स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १५ ॥

अनुवाद—याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे जनक! आप निश्चय जानें कि सो यह आत्मा इस सम्प्रसाद (सुषुप्ति की अवस्था) में स्थित होकर सब दुःखों से पार उतर जाता है। प्रथम रमण तथा भ्रमण कर पुण्य और पाप को देखकर ही संप्रसाद में प्राप्त होता है पुनः प्रतिन्याय (जिस मार्ग से गया था इसके उलटा जैसे गया तैसे), प्रतियोनि (जिस स्वप्नस्थान को छोड़ के सुषुप्ति में गया था) उसी स्थान के प्रति स्वप्न के लिये ही दौड़ता है। वह आत्मा वहां जो कुछ देखता है उससे बद्ध नहीं होता क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक कहते हैं—हे याज्ञवल्क्य! एक सहस्र गायें देता हूं इसके आगे सम्यग्ज्ञान के लिये ही आप उपदेश देवें ॥ १५ ॥

पदार्थ—(वै+सः+एषः+एतस्मिन्+सम्प्रसादे) निश्चय, सो यह आत्मा इस सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त होकर सब दुःखों को भूल जाता है। जीवात्मा जिस स्थान में अधिक प्रसन्न हो उसे सम्प्रसाद कहते हैं। किस क्रम से उस अवस्था को प्राप्त होता है सो आगे कहते हैं—(रत्वा+चरित्वा+पुण्यञ्च+पापम्+दृष्ट्वा+एवं) स्वप्नावस्था में बन्धु बान्धवों अथवा स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर तब मन के व्यापार के द्वारा इधर उधर ग्राम वा नगर वा नदी इत्यादि स्थानों में प्राप्त हो। मानो इस प्रकार बहिश्चरण भ्रमण करके तब पुण्य के फल सुख को और पाप के फल दुःख को देख कर ही स्वप्न से सम्प्रसाद में जाता है, यही क्रम है। (पुनः+प्रतिन्यायम्+प्रतियोनि+आद्रवति) फिर जैसे गया था वैसे ही जिस स्वप्न से गया था उस स्वप्नरूप योनि के लिये दौड़ता है। किसलिये दौड़ता है (स्वप्नायैव+तत्र+सः+यत+

किञ्चित्+पश्यति+तेन+अनन्वागतः+हि+अयम्+पुरुषः+असङ्गः) स्वप्न के लिये ही दौड़ता है। उस स्वप्नस्थान में वह आत्मा जो कुछ सुखदुःखजनक पदार्थ देखता है उस पदार्थ से वह बद्ध नहीं होता है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। (एवम्+एव०) इस वचन को सुनकर राजा स्वीकार करते हैं हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है इत्यादि पूर्ववत् जानना ॥ १५ ॥

भाष्यम्—स इति। सम्प्रसादः सुषुप्तम्। सम्यक् प्रसीदति प्रहृष्यति जीवात्मा यस्मिन् स्थाने स सम्प्रसादः। ननु जागरेऽपि महाब्राह्मणाः महाराजस्तदन्यश्च संप्रसीदति। नान्येऽपि सर्वे ह्यस्मिन् दुःखायन्त एव योगिनो वा तत्त्वविदो वा जागरावस्थायामेव ब्रह्मविभूतिं दर्शं दर्शं यथा प्रहृष्यन्ति न तथा सुषुप्तौ। अकिञ्चनो भूरिधनलाभेन, कश्चिद् वर्षतो श्यामवारिमुचो दर्शनेन, अतिशयित इच्छुकोऽपुत्रः पुत्रजन्मना तथान्येऽकेऽपि संगीतकेन, केऽपि नाट्यदृश्येन, केऽपि ऐन्द्रजालिकक्रीडया यथाऽऽनन्दमनुभवन्ति न तथा किमपि वस्तु सुषुप्तौ तेषां प्रतिभाति। तस्मिन् नत्राऽऽनन्दं न च दुःखं वाऽनुभवन्ति। सर्वेषां प्रपञ्चानां तत्र शान्तिरस्ति। कथमस्य संप्रसाद इति नामकल्पना। सामधत्ते—जागरणे यानि सुखसाधनत्वेन मतानि तान्यपि व्यभिचरन्ति। तान्येव हि कस्यचित् सुखकराणि। कस्यचिदुपेक्ष्याणि, कस्यचिद् दुःखान्येव। कोऽपि किमपि स्पृहयति। हेयोऽस्पृश्योऽपि शूकरोऽस्माकं भवत्येव स्पृहणीयः खादकानां पोषकानाञ्च। एवं मनोहराण्यपि सुगन्धितान्यपि कुसुमानि कस्यचिदुदासीनस्य निःस्पृहस्य मनो नाऽऽकृष्यन्ति। सुषुप्तौ तु सर्वेषामुत्तममध्यमाधमानां तुल्यैवानन्दोपलब्धिः। यदि सुषुप्तिर्नाभविष्यत्तर्हि प्राणिनां जीवनधारणमपि न स्यात्। उन्मत्तादीनां तदभावादेव वैकल्यम्। बहवो जना गुरुचिन्ताऽऽक्रान्ताः सन्तस्तां गमयितुमुपायान्तरमलभमानाः प्रस्वापमेव शरणमन्विच्छन्ति। महाराजादीनामपि न सदा सुखानुभव एव। सर्वे हि रुग्णा भवन्ति। तेऽपि रुग्णाः सन्तः यदा निद्रां लभन्ते। तदाऽऽहुः अहो जातो महाराजस्य विश्रामः। सुखेन स हि स्वपिति। किं बहुना। अतः सुषुप्तस्यैव सम्प्रसादत्वमित्यवधार्यते।

अथ कण्डिकार्थः—स वा एष प्रकृतो जीवात्मा एतस्मिन् संप्रसादे सुषुप्तौ स्थित्वा मृत्यो रूपाणि तरति। केन क्रमेण सम्प्रसीदतीत्याकाङ्क्षायामाह—रत्वा सम्बन्धिभिः सह प्रथमं रमणं कृत्वा। ततश्चरित्वा इतस्ततो मनोव्यापारेण ग्रामं वा नगरं वा नदीं वा एवमादीनि स्थानानि प्राप्यैवं बहिश्चरणमिव कृत्वा। ततः पुण्यञ्च पापञ्च दृष्ट्वा पुण्यफलं सुखं पापफलं दुःखञ्चानुभूय। ततः सम्प्रसादे सम्प्रसीदतीति ज्ञातव्यम्। ततः पुनरपि प्रतिन्यायम्। अयनमायोगमनम्। नि+आयः=न्यायः। प्रति पूर्वस्माद् गमनात्प्रातिलोम्येन निश्चयेन आयोगमनं यथास्यात्तथा प्रतियोनि स्वप्नस्थानं प्रत्याद्रवति। किमर्थं—स्वप्नायैव स्वप्नानुभवायैव। पुनरपि सुषुप्तेः स्वप्नस्थानमायति। येन क्रमेण स गतस्तद्विपरीतक्रमेणैवाऽऽयतीत्यर्थः। तत्र तस्मिन् स्वप्ने यत् किञ्चित् पश्यति। तेन दर्शनेन स जीवात्मा। अनन्वागतोऽननुबद्धो भवति। कुतः हि यतः अयं पुरुषः। असङ्गः न विद्यते। सङ्गो यस्य सोऽसङ्गः। न केनचित् संसर्गेण स आत्मा बद्धो भवति। इत्थं मुनिवचनं श्रुत्वा महाराजोऽङ्गीकरोति। एवमेवैतत्। हे याज्ञवल्क्य ! यत्त्वया कथ्यते तत्सत्यमेव। सोऽहं भगवते सहस्रं ददामि। अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि। ननु जागर इव स्वप्नेऽपि ताड्यमानः क्रन्दत्युच्चैः। तर्हि कथमसङ्ग इति। समाधत्ते—नहि स्वप्ने राजा

भूत्वा राजा अकिञ्चनो भूत्वाऽकिञ्चनो भवति। तेन स्वप्ने किञ्चित्सिध्यति किञ्चिन्नेत्युभयं दृश्यते। दुःखादिकं भवति। राज्यादिप्राप्तिर्न भवति। एतेन मानसव्यापारेण यत्किमपि सम्बध्यते तदेव प्राप्यते नह्यन्यदिति सिद्धम्। यथा जागरेऽपि कदाचित् संकल्पेन व्यथते। जागरे यः कश्चिद्विद्वान् स विद्वानेव सर्वदा तिष्ठति। अतः स्वप्नेऽसङ्गत्वं पुरुषस्यैकदेशाभिप्रायेण ॥ १५ ॥

भाष्याशय—सम्प्रसाद=जिस अवस्था में यह जीवात्मा (संप्रसीदति) बहुत प्रसन्न हो। सुषुप्ति अवस्था में सब से अधिक प्रसन्न होता है अतः उपनिषदों में सुषुप्ति अवस्था का नाम सम्प्रसाद आता है।

शङ्का—जागरित अवस्था में भी तो महाब्राह्मण महाराज और दूध पीनेवाले बच्चे बड़े प्रसन्न रहते हैं इसके अतिरिक्त अन्य सब कोई भी इस अवस्था में दुःखित ही नहीं रहते, योगी वा तत्त्वविद् पुरुष जागरणावस्था में ही ब्रह्मविभूति को देख देख जितने हृष्ट होते हैं सुषुप्ति में ऐसे नहीं होते और जैसे महादारिद्री बहुत धन पाने से: जैसे सब मनुष्य वर्षा ऋतु में श्याम वारिद के देखने से, अपुत्री अतिशय इच्छुक जन पुत्रजन्म महोत्सव से और इसके अतिरिक्त कोई गीत से, कोई नाट्य के दृश्य से, कोई ऐन्द्रजालिक की क्रीड़ा से आनन्द का अनुभव करता है। वैसी कोई भी आनन्ददायक वस्तु सुषुप्ति में भासित नहीं होती है। न उस में दुःख वा सुख का ही बोध होता है। क्योंकि सकल प्रपञ्च यहां शान्त हैं। तब इसको सम्प्रसाद कैसे कहते ?

समाधान—जागरणावस्था में जो पदार्थ सुख के साधन माने हुए हैं। उनका भी व्यभिचार देखते हैं क्योंकि वे ही किसी के सुखकर किसी के उपेक्ष्य और किसी के दुःखप्रद होते हैं। कोई किसी को प्रिय समझता है, कोई किसी को। जो शूकर हम लोगों का हेय और अस्पृश्य है वह भी खानेवाले और पोषक का स्पृहणीय है। एवं मनोहर सुगन्धित कुसुम भी किसी उदासीन निःस्पृह मनुष्य के मन को आकृष्ट नहीं करता परन्तु सुषुप्ति में उत्तम, मध्यम, अधम सब को बराबर सुखोपलब्धि होती है। यहां न्यूनाधिक्य नहीं और न किसी को इससे विराग ही होता है। यदि सुषुप्ति नहीं होती है तो प्राणियों का जीवन धारण भी नहीं होता। उन्मत्त आदिकों को उसके अभाव से ही विकलता रहती है। बहुत जन भारी चिन्ता से आक्रान्त होने पर उस चिन्ता को दूर करने के लिये उपायान्तर न पाते हुए सुषुप्तिरूप शरण की इच्छा करते हैं। महाराजादिकों को भी सदा सुख नहीं रहता क्योंकि सब ही रुग्ण होते हैं। वे भी रुग्ण होने पर जब निद्रा प्राप्त करते हैं तब लोग कहते हैं कि अहो आज महाराज को विश्राम हुआ क्योंकि सुख से सोते हैं। बहुत क्या कहें इसी हेतु सुषुप्ति को ही सम्प्रसाद कहा है।

रत्वा चरित्वा०—ईश्वरीय नियम है कि जब शयन करता है तब अवश्य ही कुछ स्वप्न देखेगा, कभी क्रीड़ा करेगा, कभी इधर उधर दौड़ेगा, कभी पुण्य और पापों को देखेगा, परन्तु यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं। छोटा बालक प्रायः स्वप्न नहीं देखता है एवं कोई कोई अतिशय निद्रालु स्वप्न देखे विना ही सुषुप्ति में प्राप्त हो जाते हैं।

प्रतिन्याय—"प्रति+नि+आय" तीन शब्द मिलकर बनता है। आय=गमन, नि=विशेष। जैसे गमन और प्रतिगमन, उपकार और प्रत्युपकार आदि शब्द हैं। तद्वत् "प्रतिन्याय" शब्द भी है। तब=न्याय=निगमन=जाना और प्रतिन्याय=लौटना, आना अर्थात् जिस क्रम से सुषुप्ति में आत्मा जाता उसके उलटा लौटता है। प्रतियोनि। प्रति+योनि। योनि=स्थान। योनि के प्रति यहां प्रतिदिन प्रत्येक

मनुष्य आदि में जो "प्रति" शब्द का अर्थ है वही यहां भी है। उपसर्ग के अनेक अर्थ होते हैं। जिस स्थान से आया था उसी स्थान के प्रति उसी ओर जाता है। जितने इसके स्थान हैं अर्थात् स्वप्न, जागरित, सुषुप्ति इन सब में जाता रहता है अथवा "प्रति" का अभिलक्षण उद्देश्य भी अर्थ होता है। जहां से आया था उसी के उद्देश्य से पुनः चलता है। अनन्वागतः। (न अन्वागत=अनन्वागत) अबद्ध असङ्ग (न विद्यते सङ्गो यस्य) अलिप्त। यहां शङ्का होती है कि जागरण के समान ही स्वप्न में में भी गज से वा सिंह से ताड्यमान होने पर ज़ोर से चिल्लाता है। तब स्वप्न में "पुरुष असङ्ग" है यह कथन कैसे बन सकता है ?

समाधान—स्वप्न में कोई राजा बनकर राजा नहीं होता। दरिद्री ही दरिद्री नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न में कुछ बात सिद्ध होती कुछ नहीं सिद्ध होती। ये दोनों बातें पाई जाती हैं। स्वप्न में मानसिक चेष्टा के साथ जो सम्बन्ध रखता है वह सब प्राप्त होता है। जैसे मूत्र करना, रोना, हंसना इत्यादि बातें प्राप्त होती हैं परन्तु राज्यादिक नहीं। मानसव्यथा जागरण में भी होती है परन्तु विशेषता यह है कि जागरण में दोनों ही होती हैं। जागरण में जो विद्वान् होगा वह सदा विद्वान् रहेगा। जो धनिक होगा वह धनिक रहेगा। इस हेतु स्वप्न में उस पुरुष को असंग कहा है ॥ १५ ॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥ १६ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह जीवात्मा इस स्वप्न में रमण और भ्रमण कर अपने पुण्य और पाप को देखकर ही जैसे गया था उससे उलटा जागरण के लिये पुनः स्थान को दौड़ता है। यहां वह आत्मा जो कुछ देखता है उससे वह बद्ध नहीं होता क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। जनक महाराज कहते हैं कि हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है सो मैं आप को एक सहस्र गायें देता हूं। इस के आगे मोक्ष के लिये मुझे उपदेश देवें ॥ १६ ॥

पदार्थ—(वै+सः+एषः+स्वप्ने+रत्वा+चरित्वा+पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा+एव+प्रतिन्यायम्+प्रतियोनि+बुद्धान्ताय+एव+आद्रवति) निश्चय सम्प्रसाद से लौटा हुआ वह आत्मा स्वप्न में रमण कर इधर उधर भ्रमण कर पुण्य और पाप को देखकर ही जिस क्रम से गया था उससे उलटा अपने स्थान के प्रति जागरण के लिये ही दौड़ता है। किसलिये दौड़ता है (बुद्धान्तायैव+तत्र+सः+यत्+किञ्चित्+पश्यति+तेन+अनन्वागतः+हि+अयम्+पुरुषः+असङ्गः) स्वप्न के लिये ही उस स्वप्नावस्था में जो वह आत्मा जो कुछ सुखजनक पदार्थ देखता है उस पदार्थ से वह बद्ध नहीं होता है क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है। इस वचन को सुनकर राजा स्वीकार करते हैं। (याज्ञवल्क्य+एवम्+एव+एतत्) हे याज्ञवल्क्य ! यह ऐसा ही है (सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददामि+अतः+ऊर्ध्वम्+विमोक्षाय+एव+ब्रूहि+इति) सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूँ, इसके आगे का विज्ञान बतलावें ॥ १६ ॥

भाष्यम्—सः इति। स्वप्नाज्जागरप्रत्यागमनमाह—स वा एष सम्प्रसादात्प्रत्यागतः। स्वप्ने स्वप्नावस्थायाम्। बुद्धान्तायैव जागरणायैव। जागरणव्यापारायैवेत्यर्थः। अन्यानि पदानि पूर्वोक्तार्थानि ॥ १६ ॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥ १७ ॥

अनुवाद—निश्चय, सो यह आत्मा इस जागरण में रमण और भ्रमण कर पुण्य और पाप को देखकर ही पुनः प्रत्यागमन से अपने स्थान के प्रति स्वप्न के लिये ही दौड़ता है ॥ १७ ॥

पदार्थ—जागरण दिखलाया गया। पुनः जागरण से स्वप्न, उससे पुनः सुषुप्ति को प्राप्त होता है। चक्रभ्रमण के समान यह व्यापार सदा हुआ ही करता है। वैराग्य के लिये प्रत्यक्ष विषय को भी पुनः पुनः मुनि कहते हैं—(सः+वै+एषः+अस्मिन्+बुद्धान्ते+रत्वा+चरित्वा+पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा+एव+पुनः+प्रतिन्यायम्+प्रतियोनि+स्वप्नान्ताय+एव+आद्रवति) स्वप्न से प्रत्यागत वह जीवात्मा इस जागरण में रमण चरण=भ्रमण करके पुण्य और पाप को देकर ही पुनः प्रत्यागमन से स्थान के प्रति स्वप्न के लिये ही दौड़ता है ॥ १७ ॥

भाष्यम्—स इति। जागरणं दर्शितम्। पुनस्तस्मात्स्वप्नं तस्मात्पुनः सम्प्रसादं याति। अयं चक्रभ्रमणवद् व्यापारः सदैव भवतीति दर्शयितुमुत्तरो ग्रन्थः। प्रत्यक्षमपि विषयं वैराग्यहेतो पुनः पुनर्दर्शयति कारुणिको मुनिः। स वा एष स्वप्नात्प्रत्यागतः बुद्धान्ते जागरणे। रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च। स्वप्नान्तायैव। आद्रवति। स्वप्नस्यान्तो लयो यस्मिन् स स्वप्नान्तः सुषुप्तिः तस्मै। यद्वा। स्वप्नान्तयैव स्वप्नायैव। स्वप्नान्तश्च बुद्धान्तश्च वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १७ ॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसञ्चरति पूर्वञ्चापरञ्चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तञ्च बुद्धान्तञ्च ॥ १८ ॥

अनुवाद—उस विषय में यह दृष्टान्त है—जैसे महामत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तटों के ऊपर क्रम से जाता आता रहता है। वैसे ही यह पुरुष स्वप्नान्त बुद्धान्त दोनों अन्तों को जाता आता रहता है ॥ १८ ॥

पदार्थ—पूर्वोक्त विषय को ही दृष्टान्त से कहते हैं—(तत्+यथा+महामत्स्यः) उस विषय में यह दृष्टान्त है जैसे बड़ा मत्स्य नदी के वेग से जिसकी गति अवरुद्ध न हो ऐसा जो स्वतन्त्र बलिष्ठ मत्स्य उसे महामत्स्य कहते हैं अर्थात् मत्स्यराज (पूर्वञ्च+अपरञ्च+उभे+कूले+अनुसञ्चरति) पूर्व और अपर दोनों तटों पर क्रम से सञ्चार करता रहता है। कभी पूर्व तट पर जा वहाँ से लौट अपर तट पर जाता है (एवम्+एव+अयम्+पुरुषः+स्वप्नान्तम्+च+बुद्धान्तम्+एतौ+उभौ+अन्तौ+अनुसञ्चरति) इसी दृष्टान्त के अनुसार यह पुरुष स्वप्न और जागरण इन दोनों में क्रम से सञ्चार करता है। कभी जागता है। कभी स्वप्न देखता है। कभी सुषुप्ति में लीन हो जाता है ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तदिति। पूर्वोक्तमेव विषयं दृष्टान्तेनाह—तत्तस्मिन् विषय अयं दृष्टान्तः। यथा येन प्रकारेण। महामत्स्यः महांश्चासौ मत्स्यो मीनः। यो हि न नदीवेगेनावरुद्धगतिः स महामत्स्यो स्वतन्त्रः। बलिष्ठो मत्स्यराजः। उभे कूले उभे तटे। नद्याः पूर्वमपरञ्च तटम्। स्वेच्छानुसारेण। अनुसञ्चरति। अनुक्रमेण सञ्चरति। कदाचित्पूर्वं कदाचिदपरं याति। आयाति यथाकामम्। एवमेव तथैव। अयं पुरुषः। एतौ इमौ उभौ अन्तौ स्वप्नान्तञ्च स्वप्नं बुद्धान्तञ्च जागरणञ्च अनुसञ्चरति। कदाचिज्जागर्ति कदाचित्स्वपिति।

कदाचित्सुष्वपिति। अत्र तु न स्वतन्त्रो जीवः। विवशो भूत्वैव स्वपिति। यदि न स्वप्यात्तर्हि रुग्णो वा मृतो वा विक्षिप्तो वोन्मत्तो वाकार्ये सर्वथाऽसमर्थो वा भवेत्। अन्नं विना कथमपि प्राणान् पञ्चदशदिनानि बिभर्त्येपि। न पुनः स्वप्नं विना। शरीरमुपादायेयं व्यवस्था। अशरीरः सन् स्वेच्छानुसारी भवति॥ १८॥

भाष्याशय—इस मत्स्य के दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक में इतना भेद है। इस कार्य में जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं, विवश होकर ही जीवात्मा सोता है यदि न सोवे तो या रुग्ण या मृत या विक्षिप्त या उन्मत्त या कार्य में सर्वथा असमर्थ हो जायगा। अन्न के बिना किसी प्रकार १०-१५ दिन प्राण धारण भी कर सकता हैं परन्तु स्वप्न के विना नहीं। शरीर धारण करने से यह व्यवस्था है। अशरीर आत्मा स्वच्छन्द है। यहां केवल गमनागमनरूप दृष्टान्त से तुल्यता है॥ १८॥

तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति॥ १९॥

अनुवाद—उस विषय में यह दृष्टान्त है—जैसे इस महान् आकाश में श्येन वा सुपर्ण नामक विहग इधर उधर विविध पतन करके श्रान्त होने पर अपने पक्षों को पसार नीड़ (घोंसले) के लिये मन धारण करता है। वैसे ही यह पुरुष इस अन्त (सुषुप्ति स्थान) के लिये दौड़ता है जहां शयन करने पर न तो कुछ चाहता है और न किसी स्वप्न को देखता है॥ १९॥

पदार्थ—अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—(तत्+यथा+अस्मिन्+आकाशे+श्येनः+वा+सुपर्णः+वा+विपरिपत्य+श्रान्तः+पक्षौ+संहत्य+संलयाय+एव+ध्रियते) उस विषय में यह दृष्टान्त है जैसे लोक में देखा जाता है कि इस प्रसिद्ध भौतिक अपरिमित रुकावटरहित महान् आकाश में श्येन नामक पक्षी अथवा गरुड़ नाम का पक्षी अथवा सुन्दर पतन करने वाला श्येन नाम का पक्षी जीविका वा केवल क्रीडा के लिये ही विविध पतन उड़ान करके थकित होने पर दोनों पक्षों को पसारकर अपने नीड़ में गमन के लिये ही मन करता अर्थात् अपने घोंसले में जाकर अपने को धारण करता है (एवम्+एव+अयम्+पुरुषः) इसी दृष्टान्त के समान यह जीवात्मा जागरण में विविध कर्म करके अतिशय थककर सोता है। केवल शयन करने से ही विश्रान्ति न पाकर गाढ़ निद्रा लेना चाहता है। सो यह आत्मा इस हेतु (एतस्मै+अन्ताय+धावति) इस प्रसिद्ध सुषुप्तिरूप स्थान के लिये ही दौड़ता है क्योंकि उन दोनों में विश्राम नहीं (यत्र+सुप्तः+कञ्चन+कामम्+न+कामयते+कञ्चन+स्वप्नम्+न+पश्यति) जिस सुषुप्ति में सोकर अर्थात् जिस सुषुप्ति को पाकर किसी इच्छा को नहीं चाहता है और किसी स्वप्न को भी नहीं देखता है ऐसी जो विश्रामप्रद सुषुप्ति की अवस्था है उसी के लिये दौड़ता है॥ १९॥

भाष्यम्—तदिति। अपरं दृष्टान्तमाह। तत्तस्मिन् विषये दृष्टान्तः। अस्मिन् प्रत्यक्षे आकाशे अपरिमितेऽसम्बाधे महति वियति। श्येनो वा आक्रमणकारी श्येननामकः पक्षी वा अथवा सुपर्णो वा खगेश्वरो महाबलिष्ठो पक्षी। विस्पष्टार्थविहगद्वयोपादानम्। यद्वा। सुपर्णः शोभनपतनशीलः श्येनः। स खलु शोभनं पतित्वा इतरान् विहगान् आक्रामति। यद्वा। सुशोभने पर्णे पत्रसमानौ पक्षौ यस्य स सुपर्णः। "पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्" इत्यमरः। यथा विहगस्य द्वौ पक्षौ प्रसिद्धौ तथैवास्य जीवस्य धर्माधर्मरूपौ द्वौ

पक्षौ। ताभ्यां विहग इवेतस्ततो नीयते। स श्येनः सुपर्णो वा विपरिपत्य विविधपरिपतनं कृत्वा जीविकार्थे वा क्रीडार्थैव परितो धावनं कृत्वा ततः श्रान्तः क्लान्तः उड्डयनेऽसमर्थः सन्। पक्षौ संहृत्य संप्रसार्य्य। संलयायैव नीडायैव ध्रियते नीडगमनायैव मनो दधाति। सम्यग् लीयते विश्रामं लभतेऽस्मिन्निति संलयः तस्मै संलयाय। एवमेव। यथा श्येनदृष्टान्तस्तथैव अयं पुरुषः। स्वप्नं जागरञ्चैतावान्तौ सम्यगनुभूय विविधां क्रीडां कृत्वा एतस्मै प्रसिद्धाय सुषुप्ताख्याय अन्ताय स्थानाय धावति। अन्तं विशिनष्टि। यत्र यस्मिन्नन्ते सुप्तः शायितः सर्वजागरत्स्वप्नप्रपञ्चविरहितः। कञ्चन कमपि काममभिलाषं न कामयते नेच्छति। न कञ्चन कमपि स्वप्नं पश्यति। ईदृशायान्ताय धावतीति सम्बन्धः॥ १९॥

भाष्याशय—श्येन और सुपर्ण ये दो पक्षी हैं। परन्तु "सुपर्ण" विशेषण भी हो सकता है। पर्ण=पत्र=पक्ष। सु=सुन्दर=शोभन=अच्छे जिसके पक्षरूप पत्र हैं उसको सुपर्ण कहते हैं। यद्वा जिसका पतन=उड्डयन=उड़ान अच्छा हो। श्येन (बाज) पक्षी अन्य पक्षियों के ऊपर बड़ी चतुराई से आक्रमण करता है और जैसे विहग के दो पक्ष होते हैं वैसे ही इस जीवात्मा के धर्माधर्म रूप दो पक्ष हैं। जिनकी सहायता से इधर उधर विविध स्थानों में यह विहग के समान जाता आता रहता है। संलय—जिसमें लीन हो जिसमें विश्राम करे जैसे पक्षी अपने नीड में विश्राम करता है। तद्वत् यह जीवात्मा सुषुप्तिरूप गृह में जाकर पूर्ण सुख को पाता है, इति॥ १९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छायति गर्त्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥ २०॥

अनुवाद—इस जीवात्मा के भ्रमणादि क्रिया के लिये इस शरीर में बहुतसी नाड़ियां हैं। उन नाड़ियों का नाम हिता है क्योंकि वे हित करनेवाली हैं। वे उतनी सूक्ष्म हैं जितना एक केश का सहस्रवां भाग हो। वे शुक्ल, नील, पिङ्गल, हरित और लोहित रस से पूर्ण हैं। अब पुनः जिस स्वप्नावस्था में प्रतीत होता है कि इस पुरुष को कोई मार रहे हैं। मानो कोई इसको वश में ला रहे हैं। मानो कोई हाथी इसको चारों तरफ भगा रहा है। मानो यह (स्वप्न देखनेवाला पुरुष) गढ़े में गिर रहा है अर्थात् जागता हुआ यह पुरुष जिस भय को देखता है। उसी को यहां अविद्या के कारण सत्य मानता है और जिस स्वप्नावस्था में "मैं देव के समान हूं, मैं राजवत् हूं, मैं ही सब कुछ हूं, ऐसा मानता हूं" वह इसका परलोक है॥ २०॥

पदार्थ—(अस्य+ताः+वै+एताः+नाड्यः+हिताः+नाम) इस स्वप्नद्रष्टा जीवात्मा के भ्रमणादि क्रिया के लिये इस शरीर में वे प्रसिद्ध नाड़ियां=शिराएं हैं जो "हिता" कहलाती हैं क्योंकि इन सूक्ष्म नाड़ियों से शरीर का हित होता है अतः इनको "हिता" कहते हैं। वे नाड़ियां पुनः कैसी हैं—(यथा+केशः+सहस्रधा+भिन्नः+तावता+अणिम्ना+तिष्ठन्ति) जैसे एक केश सौ हिस्सों में चीरा जाय तब वह हजारहवां भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है उतनी ही सूक्ष्मता के साथ विद्यमान हैं। पुनः वे कैसी हैं—(शुक्लस्य+नीलस्य+पिङ्गलस्य+हरितस्य+लोहितस्य+पूर्णाः) श्वेत नीले पीले हरे और लाल

रङ्ग के रस से पूर्ण हैं, इस प्रकार नाड़ियों का वर्णन करके पुनः स्वप्न की विशेषता को कहते हैं (अथ+यत्र+एनम्+घ्नन्ति+इव+जिनन्ति+इव+हस्ती+इव+विच्छादयति+गर्तम्+इव+पतति) अब जिस स्वप्नावस्था में अविद्या के कारण यह प्रतीत होता है कि इस स्वप्नद्रष्टा पुरुष को मानो कोई मार रहे हैं, मानो कोई इसको अपने वश में कर रहे हैं, मानो हाथी इसको भगा रहा है, मानो किसी गढ़े में गिर रहा है। हे राजन् ! (जाग्रत्+यद्+एव+भयम्+पश्यति+अत्र+तत्+अविद्यया+मन्यते) जगता हुआ अर्थात् जागरितावस्था में स्थिर होकर जो जो भय देखता है इस अवस्था में उसी उसी भय को अज्ञानता से सत्य ही मानता है। यह निकृष्ट स्वप्न का वर्णन है आगे उत्तम स्वप्न कहते हैं—(अथ+यत्र+देवः+इव+राजा+इव+अहम्+एव+इदम्+सर्वम्+इति+मन्यते+सः+अस्य+परमः+लोकः) और जिस स्वप्न में यह स्वप्न-द्रष्टा, मैं पूर्ण विद्वान् के समान हूं, मेरे निकट सब प्रजाएं व्यवहार निर्णय के लिये आती हैं। मैं निग्रह अनुग्रह करने में समर्थ हूं, मैं ही यह सब हूँ, इस प्रकार अविद्या के कारण मानता है। वह सर्वभाव अर्थात् वह विचार इसका परम आनन्द स्थान है ॥ २० ॥

भाष्यम्—एष जीवो देहेऽस्मिन् चरति तत्र केन पथा केनाऽऽधारेणेत्याकाङ्क्षयामाह—अस्य जीवस्य भ्रमणादिक्रिया निमित्ताय। अस्मिन् शरीरे। ता वै प्रसिद्धा नाड्यो धमन्यो वर्तन्ते। "नाडी तु धमनिः शिरा" इत्यमरः। किंविशिष्टा हिता नाम हितकारिण्यो नामेति प्रसिद्धम्। यदि शिरा न स्युस्तर्हि देहबन्धनान्यपि न सम्भवेयुः। अतो देहरूपस्य जीवगृहस्य हितसाधनत्वाद् हिता उच्यन्ते। पुनः यथैकः केशः काष्ठमिव क्रकचेन सहस्रधा सहस्रशो भिन्नो विभक्तो भवेदंशशः। तस्य सहस्रतमभागस्य कोशस्य यादृशं सूक्ष्मं रूपं स्यात् तादृशेन। अणिम्नाऽणुत्वेन युक्ताः तिष्ठन्ति अत्यन्तसूक्ष्मा इत्यर्थः। पुनः शुक्लस्य रसस्य, नीलस्य, पिङ्गलस्य, हरितस्य लोहितस्य रसस्य च शुक्लादिभी रसविशेषैः पूर्णाः सन्ति *। एताभिर्नाडीभिरयमितस्ततः सर्पति अथवा यथा नरो वंशाधारेषु तथैव नाडीसु स्थितः सन्नयमात्मा लीलां करोति। पुनः स्वप्नलीलां विवृणोति—अथ यत्र यस्मिन् स्वप्ने प्रतीतिरियम्—केऽपि बलिष्ठाः। एनं स्वप्नपुरुषं घ्नन्तीव हिंसन्तीव। केऽपि जिनन्तीव भृत्यादिरूपेण वशीकुर्वन्तीव। कदाचित् कोऽपि हस्ती गज आगत्य। एनं पुरुषम्। विच्छादयतीव विद्रावयतीव। तथा कदाचिदयम् गर्तं जीर्णकूपादिकं प्रति पततीवेत्येवं लक्ष्यते। कदाचिद्धंति कदाचिद्धन्यते कदाचिद्दासीकरोति कदाचित् क्रियते। एवं कर्तृत्वकर्मत्वोभयलिङ्गवान् भवतीत्यर्थः। कथमेवम्। अत्र कथयति—जाग्रत्सन् जागरितावस्थायां वर्तमानः सन्। यद् भयं भीतिमधर्महेतुकं दुःखमत्यर्थं पश्यति। तत्सर्वम्। अत्र स्वप्ने। अविद्यया कुसंस्कारेण मानससंक्रान्तवासनयेत्यर्थः। मन्यते न परमार्थतया पश्यति किन्तु

---

* अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति। शुक्लस्य, नीलस्य, पीतस्य, लोहितस्य इति। असौ वा आदित्यः पिङ्गलः। एष शुक्लः। एष नीलः। एष पीतः। एष लोहितः ॥१॥ तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः। स्वप्नं न विजानाति। आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥ छा० ८। ६। १॥ अथ यदा सुषुप्तो भवति। यदा च न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि। हृदयात् पुरीततमभि प्रतिष्ठन्ते। ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते·········बृह० ।२। १। १६॥ हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति·········बृह० ४। २। ३॥ इत्यादयः श्रुतयो द्रष्टव्याः ॥

रज्जौ सर्पमिव मन्यते इति निकृष्टस्वप्नः। अथोत्तमस्वप्नो वर्ण्यते अथ कदाचित्। यत्र यस्मिन् स्वप्ने जाग्रद्वासनावासितः सन्। अहं देव इवास्मि पूर्णप्रज्ञ इवास्मि मां सर्वे सर्वोपचारैरुपतिष्ठन्ते इति मन्यते। कदाचित् निग्रहानुग्रहयोर्विधाता राजेवाहम् व्यवहार-निर्णयाय सर्वाः प्रजा मामेव धावन्ति। अहं यथाशास्त्रं निर्णयामीति मन्यते। कदाचिदिदं सर्वं भुवनं प्रशास्मि। अस्मिन् ग्रामे अहमेव सर्वोऽस्मि। नाधिकतरो मत्तः कोऽपीति मन्यते। स सर्वोऽस्मीति सर्वात्मभावः सर्वसामर्थ्यलाभः। अस्य स्वप्नपुरुषस्य परम उत्कृष्टो लोक आनन्दस्थानम्। यद्यपि इदमपि मिथ्यैव। तथापि तृणमपि दुःखात्सुखं गरीयः ॥२०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरमेव मेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्प-रिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नाऽऽन्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥ २१ ॥

अनुवाद—निश्चय, इस पुरुष का सो यह रूप कामविवर्जित पापरहित तथा निर्भय है। इसमें जैसे निज प्रिया वनिता से आलिङ्गित पुरुष न बाहर और न भीतर कुछ जानता है वैसे ही यह पुरुष निज विज्ञानवान् स्वरूप से युक्त हो न बाह्य और न भीतर कुछ जानता है निश्चय सो यह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित रूप है ॥ २१ ॥

पदार्थ—(वै+अस्य+तत्+एतत्+रूपम्+अतिच्छन्दाः+अपहतपाप्म+अभयम्) निश्चय इस सुषुप्त पुरुष का सो यह वक्ष्यमाण रूप कामरहित, पापरहित और निर्भय है। (तत्+यथा+प्रियया+स्त्रिया+सम्परिष्वक्तः+किञ्चन+बाह्यम्+न+वेद) उस अवस्था में जैसे मनोहारिणी अनुकूला निज प्रिया वनिता से अच्छे प्रकार आलिङ्गित कोई पुरुष बाहरी किसी वस्तु को नहीं जानता है (अन्तरम्+न+एवम्+एव+अयम्+पुरुषः+आत्मना+प्राज्ञेन+सम्परिष्वक्तः+न+बाह्यम्+किञ्चन+वेद+न+आन्तरम्) और अभ्यन्तर वस्तु को भी नहीं जानता है। इसी दृष्टान्त के अनुसार यह सुषुप्ति सुख भोक्ता पुरुष निज विज्ञानवान् रूप वा स्वभाव से संमिलित हो न तो बाहरी किसी वस्तु को जानता है और न आन्तरिक वस्तु को जानता है। पुनः अन्त में इसके वास्तविक रूप को कहते हैं—(अस्य+तत्+एतद्+रूपम्+वै+आप्तकामम्) इस पुरुष का सो यह सुषुप्त्यवस्था सम्बन्धी रूप निश्चय प्राप्तकाम है अर्थात् इसमें सब कामनाएं प्राप्त हैं पुनः (आत्मकामम्+अकामम्+शोकान्तरम्) केवल ब्रह्म की ही कामना जिसमें हो वह आत्मकाम पुनः अकाम=निष्काम तथा शोकरहित है ॥ २१ ॥

भाष्यम्—तदिति। कण्डिका द्वयेन सुषुप्त्यवस्थां वर्णयति—अस्य सुषुप्तस्य पुरुषस्य तदेतद् वक्ष्यमाणम्। रूपमभयं न भयं भीतिर्विद्यते यस्मिन् रूपे तदभयम्। पुनः कथं भूतम् अपहतपाप्म। अपहतो व्यपगतः पाप्मा पापधर्म्मजनितदुःखं यस्मात्तदपहत-पाप्म। पुनः अतिच्छन्दाः अतिक्रान्तो गतः छन्दः कामो यस्मात्तदतिछन्दं कामविरहितम्। अत्र दैर्घविसर्गौ छान्दसौ गाढायां निद्रायामागतायां न किमपि पश्यति न शोचति नानुभवत्येवंविधं किमपीदृशविशेषणत्रयविशिष्टं सुषुप्तम्। दृष्टान्तेन पुनरपि विशदयति। तत्तत्र सुषुप्तौ यथा प्रियया सर्वथा मनोहारिण्या स्त्रिया स्वकीयया वनितया। संपरिष्वक्तः सम्यगालिङ्गितः सन् पुरुषः साधारणतया। बाह्यं बहिर्गतं किञ्चन किमपि वस्तु न नैव वेद् जानाति। आन्तरं दुःखादिकमपि न जानाति। एवमेव। अयं सुषुप्तः पुरुषः। प्राज्ञेन

प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। यद्वा ज्ञानं। ज्ञा प्रकृष्टा ज्ञा ज्ञानं यस्य स प्रज्ञः स एव प्राज्ञः प्रकृष्टज्ञानवता स्वभावेन आत्मना निजेन प्रज्ञानवता स्वभावेन संपरिष्वक्तः। संमिलितः। न बाह्यं किञ्चनकिञ्चिद्वस्तु वेद। नाऽऽन्तरं वस्तु किमपि जानाति। पुनरप्युपसंहारेणास्य रूपं विशिनष्टि। तद्वै एतद् वर्णितम्। अस्य सुषुप्तस्य रूपम्। कीदृशं तत् आप्तकामम् काम्यन्ते ये ते कामाः सुखादयः। आप्ताः प्राप्ताः कामा यस्मिन् तदाप्तकामम्। पुनः आत्मकामः आत्मा परमात्मसुखमेव कामो यत्र तदात्मकामम्। पुनः अकामम्। आत्मसाक्षात्कारादन्यः कामो न विद्यते यत्र तदकामम्। पुनः शोकान्तरम्—शोकाद् भिन्नम् शोकरहितम्। ईदृशं रूपमस्यात्र भवति।

केचिदाहुः। सुषुप्तौ जीवः परेण ब्रह्मणा संगच्छते। अस्मादेव हेतोरात्यन्तिकं सुखमालभते। तदयुक्तम्। जागरिते यादृक् सम्बन्धो जीवस्य ब्रह्मणा सहास्ति। तादृगेव सुषुप्तेऽपि। यदि सर्वस्मिन् दिने सुष्वापेनैव ब्रह्म प्राप्नुयात्तर्हि बहुपरिश्रमधनादिसाध्येन यज्ञानुष्ठानेन किं प्रयोजनम्। सर्वाणि शुभानि कर्माणि हित्वा सर्वदा सुषुप्तिमेवोपासीत। तथातिशयितः पापिष्ठोऽपि सुषुप्तिं प्राप्नोत्येव। सोऽपि ब्रह्मणा संपरिष्वक्तो वाच्यः। हन्त तर्हि किं ज्ञानाभ्यासेन। किं धर्मानुष्ठानेन च। अत ईदृङ् मतिः कस्यचिदुन्मत्तस्येति हेया। अतएव प्राज्ञशब्देन न ब्रह्मग्रहणम्। जीवात्मा खलु जागरावस्थायामिन्द्रियविषयबाहुल्याच्चञ्चलो भवति। बुद्धिशक्त्याक्षणेन सहस्रशो विषयाननुधावति। तेन परिश्रान्तो भवति। सुषुप्तौ विषयाभावात् स्वस्थस्तिष्ठति। एष हि स्वाभाविकं स्वरूपमात्मनः ॥ २१ ॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनान्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥ २२ ॥

अनुवाद—यहां पिता अपिता होता है, माता अमाता होती है, लोक अलोक होते हैं, देव अदेव और वेद अवेद होते हैं। यहां स्तेन (चोर) अस्तेन होता है। भ्रूणघाती अभ्रूणघाती और चाण्डाल अचाण्डाल होता है पौल्कस अपौल्कस और श्रमण अश्रमण होता है। तापस अतापस होता है। यहां इसका रूप पुण्य से असम्बद्ध और पाप से असम्बद्ध रहता है क्योंकि यह उस अवस्था में हृदय के सब शोकों को पार उतर जाता है। ॥ २२ ॥

पदार्थ—ईश्वर की ऐसी महिमा है कि गाढ़ सुषुप्ति में किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता इसी को विस्तारपूर्वक कहते हैं। प्रथम सब से पिता पुत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध जगत् में है इसका भी ज्ञान नहीं रहता (अत्र+पिता+अपिता+माता+अमाता+भवति) यहां पिता यह नहीं जानता है कि मैं इस का पिता हूं यह मेरा पुत्र है और इसी प्रकार मैं इनका पुत्र हूं ये मेरे पिता हैं ऐसा बोध नहीं रहता है और इसी प्रकार माता अमाता, पुत्री अपुत्री होती है। मरण के बाद पिता माता का सम्बन्ध छोड़ना पड़ता है किन्तु मेरा अच्छे कुल में अच्छे लोक में जन्म हो, ऐसी आशा बनी रहती है परन्तु यहां यह भी नहीं रहता (लोकाः+अलोकाः+देवाः+अदेवाः) अभिलषित लोक भी अलोक हो जाते हैं अर्थात् लोकान्तर की भी इच्छा नहीं रहती मैं सब से अच्छा ही हूं यह भी इच्छा नहीं रहती देव अदेव होते हैं। वेद तो सर्वप्रिय वस्तु हैं। इसी के द्वारा सर्वधर्म सञ्चय किया जाता। इसका संस्कार तो रहना

चाहिये इस पर कहते हैं (वेदाः+अवेदाः) वेद भी अवेद हो जाते हैं। इनका भी बोध नहीं रहता है। इस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध और शुभकर्मफलेच्छा तथा शुभकर्मसाधन इन सबों का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान नहीं रहता। एवमस्तु। अत्यन्त घोर कर्म का संस्कार रहता है या नहीं इस पर कहते हैं (अत्र+स्तेनः+अस्तेनः+भवति) इस अवस्था में सुवर्ण आदिक के कर्त्ता महापातकी चोर भी अपने को नहीं समझता है कि मैं पातकी=स्तेन हूँ ! अतः स्तेन भी अस्तेन होता है। इसी प्रकार (भ्रूणहा+अभ्रूणहा+चाण्डालः+अचाण्डालः+पौल्कसः+अपौल्कसः+श्रमणः+अश्रमणः+तापसः+अतापसः) ब्राह्मणघाती वा बालघाती भी अब्राह्मणघाती हो जाता, महानीच पतित चाण्डाल भी अचाण्डाल होता है, महानिकृष्ट मनुष्य भी अपौल्कस होता है, संन्यासी असंन्यासी तपस्वी वानप्रस्थाश्रमी अनापस होता है। बहुत क्या कहें। इस अवस्था में पुरुष का रूप (पुण्येन+अन्वागतम्+पापेन+अनन्वागतम्+हि+तथा+हृदयस्य+सर्वान्+शोकान्+तीर्णः+भवति) पुण्य से असम्बद्ध तथा पाप से भी असम्बद्ध रहता है क्योंकि उस अवस्था में हृदय के सब शोकों को तैरकर स्थित रहता है ॥ २२ ॥

भाष्यम्—अत्रेति। सुषुप्तौ सर्वप्रपञ्चानां लयो भवतीति सर्वेषां प्रत्यक्षानुभवः। तत्रेदं मीमांस्यते—जन्यजनकभावसम्बन्धस्तु प्रबलतरो घनिष्ठः। सोऽनेन कायेन कथं विस्मर्तव्यः। अहो प्रबलतरसम्बन्धोऽपि तत्र न ज्ञायत इत्याश्चर्यमेतत्। अचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणोलीलामवधारयितुं कः शक्नुयात्। तदेतदाह—श्रुतिः। अत्रास्यामवस्थायाम्। पिता अपिता भवति। यं पुत्रं क्षणमपि नयनाद्बहिर्गतमाकलय्य परितप्यते। यस्यार्थे प्राणानपि तृणं मन्यते। तस्याहं जनकोऽयं ममजन्योऽयं मम नयनानन्दकरश्चटुभाषीशिशुरित्याकारकप्रबलपितृसम्बन्धबोधोऽपि निवर्तते। एवमेव ममायं पितास्ति। अहं पुत्रोस्मीत्यपि बोधः। माता च परमस्नेहस्याधारभूताऽऽत्मजाद् भिन्नेव वर्तमाना। साप्यत्र=अमाता भवति, इयं दुहितेति न जानाति। इयं मम मातास्तीत्यपि कन्या न वेत्ति। अयं सम्बन्धोनिवर्ततां नाम। आसन्ने मृत्यौ प्रियं पुत्रं त्यजन्तौ पितरौ तथा चिन्तयतः। यथा इतः प्रेत्य कर्मणा दानेनेष्टेनाऽऽपूर्तेन च जेतव्या लोकाः प्राप्स्यंते न वेति कीदृशास्ते इत्यादिचिन्तां कुरुतः। ईदृग् विचारोऽप्यत्र निवर्तते। अत आह—लोका इति जेतव्याः पुण्येन लोका अलोका भवन्ति। महत्त्वप्राप्तिकामनाऽपि प्रयाति। अत आह—देवा अदेवा इति। आशीर्वादोऽभ्यस्ताः। यान् द्वारीकृत्य ब्रह्मविदितम्। इतरस्मिन्लोके परमसहायकस्य धर्मस्य संचयः कृतः। ते वेदा अपि अवेदा भवन्ति। नहि तत्र वेदवेदनं भवति। इत्थं प्रबलः सम्बन्धो वा शुभानि कर्माणि वा महत्त्वप्राप्त्यभिलाषो वा परमं पवित्रं ज्ञानं सर्वं तत्र यथानावभासते। तथैव अशुभसंस्कारवासना अपि निवर्तन्ते। तथाहि—अत्रावस्थायां स्तेनो हिरण्यादीनाम्। स्तेनयति चोरयति महापातकी अस्तेनो भवति स्तेनभावस्तस्मिन्काले निवर्तते। भ्रूणहा मुख्यब्राह्मणहंता गर्भस्थबालकघात्यन्तक्रूरकर्म्मामहापातक्यपि अभ्रूणहा भवति भ्रूणहन्तृत्वमपयाति। न केवलमागन्तुकेन कर्म्मणा निवृत्तः। किन्तर्हि अत्यन्तनिकृष्टजातिप्रापकेण सहजेनापि कर्मणा विरहित एवायमित्याह—चाण्डाल इति। चाण्डालो ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातश्चण्डालः अचण्डालो भवति। स एव पौल्कसः अपौल्कसो भवति। एवं श्रमणीयो परमेब्रह्मणि विश्राम्यति यो वा तपश्चरणेन श्राम्यति क्लाम्यति स श्रमणः परिव्राट् सोप्यश्रमणो भवति। तथा तापसस्तपस्वी। अतापसः अतपस्वी भवति। सम्बन्धजनकानां कर्म्मणा

मानन्त्याद् द्विधोपसंहृत्य तदतीतत्वमाह—अनन्वागतमिति। तत्प्रकृतमात्मरूपं पुण्येन शास्त्रविहितेन कर्म्मणा अनन्वागतमसम्बद्धं तथा पापेन विहिताकरणप्रतिषिद्धक्रियाकरण-लक्षणेनाप्यनन्वागतमात्मरूपम्। कुत इत्यपेक्षायां तद्धेतुकामात्ययादित्याह—तीर्णो इति। हि यस्मादतिच्छन्दादिवाक्योक्तरूप आत्मा तदा तस्मिन् सुषुप्तिकाले हृदयस्य हृदयस्थाया बुद्धेः सम्बन्धिनः। सर्वान् शोकान् तद्धेतुभूतान् कामान् तीर्णोऽतिक्रान्तो भवतीत्यर्थः ॥२२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥ २३ ॥ यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद् द्वितीमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत ॥ २४ ॥

अनुवाद—निश्चय, उस अवस्था में वह (जीवात्मा) नहीं देखता है सो नहीं किन्तु देखता हुआ वह उसको नहीं देखता क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं क्योंकि वह अविनाशी है किन्तु उस अवस्था में जिसको वह देख सके ऐसी उससे भिन्न द्वितीय वस्तु ही नहीं। इस हेतु नहीं देखता ॥ २३ ॥ निश्चय, उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं सूंघता है सो नहीं किन्तु सूंघता हुआ वह उसको नहीं सूंघता है क्योंकि घ्राता की घ्राति (घ्राणशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु इस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य भिन्न वस्तु हो जिसको वह सूंघे ॥ २४ ॥

पदार्थ—वह जीवात्मा (तत्+न+पश्यति) उस अवस्था में कुछ नहीं देखता। ऐसा (यत्+वै) जो आप निश्चयरूप से मानते हैं या संसार में लोग मान रहे हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (पश्यन्) देखता हुआ वह आत्मा विद्यमान है अर्थात् वह अपने को तथा अपने सचिव वर्गों को देखता हुआ ही इस अवस्था में भी वर्त्तमान है परन्तु (तत्+न+पश्यति) अपने से भिन्न बाह्य वस्तु को नहीं देखता। यह स्मरण रखना चाहिये कि यहां दो विषय कहते हैं। एक दर्शन और दूसरा अदर्शन अर्थात् अपने को देखता अन्य को नहीं। प्रथम पक्ष में हेतु देते हैं (हि) क्योंकि इस अवस्था में भी (द्रष्टुः) देखनेवाले जीवात्मा की (दृष्टिः) दर्शनशक्ति का (विपरिलोपः) सर्वथा विनाश (न+विद्यते) विद्यमान नहीं है अर्थात् इस अवस्था में भी दर्शनशक्ति की तो विद्यमानता है ही। हां, जाग्रदवस्थावत् नहीं इसको सब कोई मानता है। पूर्वोक्त अर्थ में हेतु कहते हैं—(अविनाशित्वात्) वह दर्शनशक्ति अविनाशी है जिस हेतु आत्मा अविनाशी है इस हेतु वह आत्मा देखता तो है। अब अन्य वस्तु क्यों नहीं देखता है इसमें हेतु कहते हैं—(तु+तत्) परन्तु उस सुषुप्ति में (ततः) उस अपने से और अपने सङ्गी प्राणादिकों से (अन्यद्विभक्तम्) अन्य भिन्न (द्वितीयम्) दूसरी वस्तु (न+अस्ति) नहीं है (यत्+पश्येत्) जिसको वह देखे अर्थात् देखने को वहां कोई सामग्री नहीं इस हेतु अन्य वस्तु को वह नहीं देखता ॥ २३ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+जिघ्रति) वह आत्मा नहीं सूंघता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (जिघ्रन्) सूंघता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+जिघ्रति) उन पदार्थों को नहीं सूंघता है अर्थात् इसमें सूंघने की शक्ति है (हि) क्योंकि (घ्रातुः) सूंघनेवाले जीवात्मा की (घ्रातेः) घ्राणशक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) सर्वथा विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है। वह आत्मा को कदाचित्

त्याग नहीं सकती । गन्ध मालूम क्यों नहीं होता इस में कारण कहते हैं—(तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) सूंघने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+जिघ्रेत्) जिसको वह सूंघे अर्थात् इस अवस्था में निज स्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर सूंघे तो किसको सूंघे । इस हेतु सुगन्धिज्ञान तो नहीं विदित होता परन्तु सुगन्धिज्ञान है ॥ २४ ॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते न हि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत् ॥ २५ ॥ यद्वै तन्न वदति वदन् वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥ २६ ॥ यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतु श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात् ॥ २७ ॥ यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥ २८ ॥ यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् स्पृशेत् ॥ २९ ॥ यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥३०॥

अनुवाद—निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा स्वाद नहीं लेता । सो नहीं किन्तु स्वाद लेता हुआ वह उसको नहीं स्वादता क्योंकि रसयिता की रसयति (स्वादग्रहण शक्ति) का विपरिलोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो=भिन्न वस्तु हो जिसका वह स्वाद ले ॥२५ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं बोलता ऐसा जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय बोलता हुआ वह उसको नहीं बोलता क्योंकि वक्ता की वक्ति (भाषणशक्ति का) विपरिलोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय-वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह बोले ॥ २६ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं सुनता । ऐसा जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय सुनता हुआ वह उसको नहीं सुनता क्योंकि श्रोता की श्रुति (श्रवणशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह सुने ॥ २७ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा मनन नहीं करता ऐसा जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय मनन करता हुआ वह उसको नहीं मनन करता क्योंकि मन्ता की मति (मननशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह मनन करे ॥ २८ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा स्पर्श नहीं करता ऐसा जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं । निश्चय स्पर्श करता हुआ वह उसको नहीं स्पर्श करता क्योंकि स्प्रष्टा की स्पृष्टि (स्पर्शशक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥ निश्चय उस अवस्था में वह जीवात्मा नहीं जानता ऐसा जो आप कहते हैं सो ठीक

नहीं। निश्चय, जानता हुआ वह उसको नहीं जानता क्योंकि विज्ञाता की विज्ञाति (जानने की शक्ति) का विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु उस अवस्था में द्वितीय वस्तु नहीं जो उससे अन्य हो जिसको वह जाने ॥ ३० ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (तत्०) उस अवस्था में (न+रसयते) वह आत्मा स्वाद नहीं लेता है इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (रसयन्) स्वाद लेता हुआ ही वह आत्मा है (तत्+न+रसयते) उन पदार्थों का रस नहीं लेता अर्थात् इसमें स्वाद लेने की शक्ति है। (हि) क्योंकि (रसयितुः) स्वाद लेनेवाले जीवात्मा की (रसयतेः+विपरिलोपः+न+भवति) रसयति= स्वाद लेने की शक्ति का विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है। स्वाद मालूम क्यों नहीं होता ? (तत्०) उस अवस्था में स्वाद लेने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+रसयेत्) जिसका वह स्वाद ले अर्थात् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर स्वाद ले तो किस का ले । २५ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+वदति) वह आत्मा नहीं बोलता (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (वदन्) बोलता हुआ ही वह आत्मा (तत्+ न+वदति) उनको नहीं बोलता अर्थात् इसमें बोलने की शक्ति है। (हि) क्योंकि (वक्तुः) बोलनेवाले जीवात्मा की ((वक्तेः) भाषण करने की शक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है भाषण मालूम क्यों नहीं होता ? इसमें कारण— (तत्०) उस अवस्था में भाषण की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+वदेत्) जिसको वह बोले अर्थात् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर बोले तो किसको बोले। इस हेतु भाषण तो नहीं विदित होता, परन्तु भाषणज्ञान है ॥ २६ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+शृणोति) नहीं सुनता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (शृण्वन्) सुनता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+शृणोति) उनको नहीं सुनता है अर्थात् इसमें श्रवणशक्ति है (हि) क्योंकि (श्रोतुः) सुननेवाले जीवात्मा की (श्रुतेः) श्रवणशक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है। श्रवण मालूम क्यों नहीं होता ? (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) सुनने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं (यत्+शृणुयात्) जिसको वह सुने ॥ २७ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+मनुते) वह आत्मा मनन नहीं करता (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (मन्वानः) मनन करता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+ मनुते) उनका मनन नहीं करता है (हि) क्योंकि (मन्तुः) मनन करनेवाले जीवात्मा की (मतेः) मननशक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह अविनाशी शक्ति है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) मनन की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+मन्वीत) जिसको वह माने ॥ २८ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+स्पृशति) वह आत्मा नहीं स्पर्श करता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (स्पृशन्) स्पर्श करता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+स्पृशति) उन पदार्थों को नहीं स्पर्श करता है (हि) क्योंकि (स्प्रष्टुः) स्पर्श करनेवाले जीवात्मा की (स्पृष्टेः) स्पर्श करने की शक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) विनाश नहीं होता

(अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) स्पर्श करने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+स्पृशेत्) जिसको वह स्पर्श करे ॥ २९ ॥ (वै) निश्चय (तत्) उस अवस्था में (न+विजानाति) वह आत्मा नहीं जानता है (यत्) इस बात को जो आप मानते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि (वै) निश्चय (विजानन्) जानता हुआ ही वह आत्मा (तत्+न+विजानाति) उन पदार्थों को नहीं जानता है (हि) क्योंकि (विज्ञातुः) जाननेवाले की (विज्ञाते) विज्ञानशक्ति का (विपरिलोपः+न+विद्यते) सर्वथा विनाश नहीं होता (अविनाशित्वात्) क्योंकि वह शक्ति अविनाशी है (तत्) उस अवस्था में (न+द्वितीयम्) जानने की दूसरी वस्तु नहीं है (ततः+अन्यत्) उस जीवात्मा से अन्य (विभक्तम्) पृथक् वस्तु नहीं है (यत्+विजानीयात्) जिसको वह जाने अर्थात् इस अवस्था में निजस्वरूप से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं है फिर वह जाने तो किसको जाने इस हेतु विज्ञान तो नहीं विदित होता परन्तु विज्ञान है ॥ ३० ॥

यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद् वदेदन्योन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ॥ ३१ ॥

अनुवाद—निश्चय, जिस अवस्था में अन्य ही वस्तु होवे वहां अन्य अन्य को देखे, अन्य अन्य को सूंघे, अन्य अन्य का स्वाद लेवे, अन्य अन्य को बोले, अन्य अन्य को सुने, अन्य अन्य का मनन करे, अन्य अन्य को छूवे, अन्य अन्य को जाने ॥ ३१ ॥

पदार्थ—(यत्र+वै) जिस जागरित वा स्वप्न में (अन्यद्+इव) अपने से अन्य ही वस्तु (स्यात्) होवे (तत्र) उस अवस्था में (अन्यः) अन्य पुरुष (अन्यत्+पश्येत्) अपने से अन्य वस्तु को देखे (अन्यः+अन्यत्+जिघ्रेत्) अन्य पुरुष अपने से अन्य कुसुमादि को सूंघे (अन्यः+अन्यत्+रसयेत्) अन्य अपने से भिन्न अन्नादिकों का रस लेवे (अन्यः+अन्यद्+वदेत्) अन्य अन्य शब्दों को बोले (अन्यः+अन्यत्+शृणुयात्) अन्य अन्य को सुने (अन्यः+अन्यत्+मन्वीत) अन्य अन्य वस्तु का मनन करे (अन्यः+अन्यत्+स्पृशेत्) अन्य अन्य फलादिकों को छूवे (अन्यः+अन्यत्=विजानीयात्) अन्य अन्य शास्त्रादिकों को जाने ॥ ३१ ॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—वह परमात्मा जल के समान; एकद्रष्टा अद्वैत है। हे सम्राट्! ऐसा जो परमात्मा है वही ब्रह्मलोक है अन्य नहीं। याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार इनको अनुशासन किया हे राजन्! इस जीवात्मा की यही परमगति है। इसकी यही परमसम्पत्ति है। इसका यही परम लोक है। इसका यही परम आनन्द है। इसी आनन्द की एक कला को लेकर अन्य सब प्राणी भोग कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

पदार्थ—वह परमात्मा (सलिलः+भवति) जल के समान है (एकः) एक है (द्रष्टा) देखनेवाला है (अद्वैतः) अद्वितीय है (एषः+ब्रह्मलोकः) यह परमात्मा ही ब्रह्मलोक है इस परमात्मा से भिन्न कोई ब्रह्मलोक नहीं (सम्राट्) हे सम्राट्! आपको ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार (याज्ञवल्क्य) याज्ञवल्क्य ने (ह+एनम्+अनुशशास) इस जनक महाराज को उपदेश दिया। हे

राजन् ! (अस्य) इस जीवात्मा का (एषा+परमा+गतिः) यह ब्रह्मप्राप्ति ही परम गति है (अस्य) इस जीवात्मा का (एषा+परमा+सम्पद्) यही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है (अस्य) इनका (एषः+परम+लोकः) यह परमलोक है (अस्य) इसका (एषः+परमः+आनन्दः) यही परम आनन्द है । हे राजन् ! (अस्य+एव+आनन्दस्यः) इसी ब्रह्मानन्द की (मात्राम्) एक कला को लेकर (अन्यानि+भूतानि) सब प्राणी (उपजीवन्ति) भोग करते हैं ॥ ३२ ॥

स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवभवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्म्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्म्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनो कामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥ ३३ ॥

अनुवाद—सो जो कोई मनुष्यों में राद्ध, समृद्ध, दूसरों के अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी समस्त भोगों से सम्पन्नतम होता है सो मनुष्यों का परम आनन्द है । मनुष्यों के जो शत (सौ) आनन्द हैं वह पितरों का एक आनन्द जिन्होंने भूमण्डलों को जीता है । जितलोक पितरों के जो सौ आनन्द हैं वह गन्धर्वों का एक आनन्द गन्धर्वों के जो शत आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है । जो कर्म से देवत्व को प्राप्त होते हैं वे कर्मदेव कहलाते हैं । कर्मदेवों के जो शत आनन्द हैं वह आजानदेवों के और अपाप अकामहत श्रोत्रिय का एक आनन्द है । प्रजापति के जो शत आनन्द हैं वह ब्रह्म का और अपाप अकामहत श्रोत्रिय का एक आनन्द है । हे सम्राट् ! यही परम आनन्द है । यही ब्रह्मलोक है । याज्ञवल्क्य ने यह शिक्षा दी । जनक महाराज कहते हैं कि सो मैं आपको एक सहस्र गायें देता हूं इससे आगे विमोक्ष के लिये उपदेश देवें । यहां पर याज्ञवल्क्य भयभीत होगये कि राजा ने मुझको सब तत्वों से शून्य कर दिया । इस राजा ने मुझको सब धन के लिये अ रोध किया अर्थात् मुझको ही सब धन देदिया है * ॥ ३३ ॥

पदार्थ—आनन्द की मीमांसा करते हैं—(मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (सः+यः) सो जोई पुरुष (राद्धः) सर्वऋद्धि प्राप्त हृष्ट पुष्ट बलिष्ठ (समृद्धः) धनधान्य पशु पुत्रपौत्रादि से भरपूर (अन्येषाम्) पृथिवी के सब मनुष्यों का (अधिपतिः) स्वतन्त्र राजा और (मानुष्यकैः) मनुष्य सम्बन्धी (सर्वैः) समस्त (भोगैः) भोगों से (सम्पन्नतमः) अतिशय सम्पन्न (भवति)

* तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसी प्रकार आनन्दमीमांसा है ।

होता है ऐसे पुरुष का जो आनन्द है (सः) वह आनन्द (मनुष्याणाम्+परमः+आनन्दः) मनुष्यों के मध्य परम आनन्द है। इससे बढ़कर मनुष्यों में आनन्द नहीं (अथ) और (मनुष्याणाम्+ये+शतम्+आनन्दाः) मनुष्यों में ऐसे ऐसे जो सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+पितॄणाम्+आनन्दः) वह पितरों के एक आनन्द अर्थात् एक आनन्द के समान है (जितलोकानाम्) जिन पितरों ने पृथिवी पर सब लोकों का विजय प्राप्त किया है। मनुष्यों का जो १०० आनन्द है वह पितरों का एक आनन्द है (अथ+ये+शतम्+पितॄणाम्+जितलोकानाम्+आनन्दाः) और लोकविजयी पितरों के जो १०० गुने आनन्द हैं (सः+एकः+गन्धर्वलोके+आनन्दः) वह गन्धर्व लोक में एक आनन्द है। पितरों के १०० आनन्द के तुल्य गन्धर्व का एक आनन्द है। (अथ+ये+शतम्+गन्धर्वलोके+आनन्दाः) और जो गन्धर्व लोक में सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+कर्मदेवानाम्+आनन्दः) कर्मदेवों का वह एक आनन्द है (ये+कर्मणा) जो लोग कर्म के द्वारा (देवत्वम्+अभिसंपद्यन्ते) देवत्व को पाते हैं वे कर्मदेव हैं। गन्धर्व के १०० आनन्द=कर्मदेव का १ आनन्द। (अथ+ये+शतम्+कर्मदेवानाम्+आनन्दाः) और कर्मदेवों के जो सौ गुने आनन्द हैं (सः+एकः+आजानदेवानाम्+आनन्दः) आजानदेवों का वह एक आनन्द है (यः+च) और जो (श्रोत्रियः) वेद के पढ़नेवाले (अवृजिनः) वैदिककर्मों के अनुष्ठान से पाप रहित और (अकामहतः) सकल कामना से भी रहित हैं। इनका भी आनन्द आजानदेव के समान है अर्थात् जितना आनन्द आजानदेवों का है उतना ही श्रोत्रियों का भी है। कर्मदेव के १०० आनन्द=आजानदेवों का १ आनन्द (अथ+ये+शतम्+आजानदेवानाम्+आनन्दाः) आजान देवों के जो १०० गुने आनन्द हैं (सः+एकः+प्रजापतिलोके+आनन्दः) प्रजापति लोक में वह एक आनन्द के समान है (यः+च+श्रोत्रियः+अवृजिनः+अकामहतः) जो वेद के पढ़नेवाले पापरहित और निष्काम हैं। इनका भी आनन्द प्रजापति के आनन्द के समान है आजानदेव के १००=प्रजापति का १ आनन्द (अथ+ये+ते+शतम्+प्रजापतिलोके+आनन्दाः) और जो प्रजापतिलोक के सौगुने आनन्द हैं (सः+एकः+ब्रह्मलोके+आनन्दः) ब्रह्मलोक का वह एक आनन्द है (यः+च+श्रोत्रियः+अवृजिनः+अकामहतः) और जो श्रोत्रिय पापरहित निष्काम है उनका भी आनन्द ब्रह्मानन्द के समान ही है प्रजापति के १०० आनन्द=ब्रह्म का और श्रोत्रिय का १ आनन्द है। (इति+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) याज्ञवल्क्य बोले कि (सम्राट्) हे सम्राट्! (अथ+एषः+एव+परमः+आनन्दः) यही परम आनन्द है (एषः+ब्रह्मलोकः) यही ब्रह्मलोक है। इस वचन को सुन जनक महाराज कहते हैं—(सः+अहम्) सो मैं (भगवते+सहस्रम्+ददामि) आपको सहस्र गायें देता हूं (अतः+ऊर्ध्वम्) इसके आगे (विमोक्षाय+एव) सम्यक् ज्ञान के लिये ही मुझे (ब्रूहि) उपदेश करें इतनी बात सुन (अत्र+ह) यहां (याज्ञवल्क्यः+बिभयाञ्चकार) याज्ञवल्क्य डर गये। क्यों? (मेधावी+राजा) यह परम ज्ञानी राजा ने (माम्) मुझ को (सर्वेभ्यः+अन्तेभ्यः) सम्पूर्ण धनों के लिये (उदरौत्सीत्) अनुरोध किया अर्थात् मुझको सर्वस्व देने पर प्रस्तुत होगया है हज़ारों गायें देता जाता है। सब धन क्या मुझको ही देदेगा इस हेतु याज्ञवल्क्य डरे। अथवा परमतत्त्व का भी नाम "अन्त" है तब यह अर्थ हुआ कि यह (मेधावी+राजा) परमज्ञानी राजा है। इसने (सर्वेभ्यः+अन्तेभ्यः) समस्त ज्ञानतत्त्वों से (माम्+उदरौत्सीत्) मुझ को पूछ पूछ कर शून्य कर दिया है अर्थात् यह राजा मुझ से सब ज्ञान ले लिया। फिर आगे इसको क्या उपदेश दूंगा। यह परम बुद्धिमान् है। इत्यादि विचार से याज्ञवल्क्य को डर हुआ परन्तु पिछला अर्थ ठीक नहीं ॥ ३३ ॥

स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यञ्च पापञ्च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥ ३४ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह जीवात्मा इस स्वप्नस्थान में रमण और बहिश्चरण कर और पाप पुण्य को देख जिस प्रकार गमन किया था वैसे ही स्थान स्थान के प्रति जाग्रत अवस्था के लिये ही दौड़ता है ॥ ३४ ॥

पदार्थ—(वै) निश्चय (सः+एषः) सो यह जीवात्मा (एतस्मिन्+स्वप्नान्ते) इस स्वप्नस्थान में (रत्वा) पहिले विविध पदार्थों के साथ क्रीड़ा करके पश्चात् (चरित्वा) मानो शरीर से बाहर निकल उस उस देश ग्राम में गमन, इष्ट मित्रादिकों के साथ संगम प्रभृति अनंत व्यापार को सम्पादन कर (पुण्यञ्च+पापञ्च+दृष्ट्वा) हृदय में वासना के उद्भव के अनुसार पाप पुण्य को देख (पुनः) पुनः पुनः (प्रतिन्यायम्) जैसे गमन किया था प्रतिकूल=उलटा (प्रतियोनि) स्थान स्थान के प्रति (बुद्धान्तायैव) जागरणस्थान के लिये ही (आद्रवति) दौड़ता है ॥ ३४ ॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्ज्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनान्वारूढमुत्सर्जद्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३५ ॥

अनुवाद—सो जैसे सुसमाहित शकट, बहुत शब्द करता हुआ मार्ग में जाता है। वैसे ही जिस काल में यह मरने के निमित्त ऊर्ध्वश्वासी होता है उस काल में यह शारीर आत्मा निज प्राज्ञ (विज्ञानवान्) स्वभाव से संयुक्त हो अति शब्द करता हुआ जाता है ॥ ३५ ॥

पदार्थ—शरीर को कैसे त्यागता है। किनके साथ और कैसे जाता है। इत्यादि जीव गति का वर्णन यहां से प्रारम्भ करते हैं—(तत्+यथा) उस विषय में दृष्टान्त कहते हैं जैसे इस लोक में (सुसमाहितम्+अनः+उत्सर्जत्+यायात्) बहुत भारों से लदी हुई अर्थात् भारों से आक्रान्त शकट=गाड़ी चीं चीं आदि शब्दों को करती हुई चले अर्थात् मार्ग में चलती है (एवम्+एव) इसी गाड़ी के दृष्टान्त के समान ही (अयम्+शारीरः+आत्मा) यह शरीर में निवास करनेवाला आत्मा (आत्मना+प्राज्ञेन+अन्वारूढम्:+उत्सर्जन्+याति) ज्ञानवान् स्वभावरूप भार से संयुक्त हो वियोगकाल के दुःख से रोता हुआ जाता है। किस समय यह दशा होती है सो आगे कहते हैं—(यत्र+ऊर्ध्वोच्छ्वासी+भवति) जिस काल में यह पुरुष ऊर्ध्वश्वासी होता है अर्थात् मरणकाल में जब ऊर्ध्वश्वास चलने लगता है। उस समय में यह जीवात्मा गाड़ी के समान नाद करता हुआ यहां से विदा होता है ॥ ३५ ॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपता वाऽणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याऽऽद्रवति प्राणायैव ॥ ३६ ॥

अनुवाद—सो यह पुरुष जिसकाल में जरावस्था से कृशता को प्राप्त होता है अथवा किसी उपतापी रोग से कृशता को प्राप्त होता है। उस काल में जैसे अपने बंधन से छूटकर आम्रफल वा उदुम्बर फल अथवा पिप्पल फल गिर पड़ता है वैसे यह पुरुष इन अवयवों से छूटकर गिरता है और जैसे आया था वैसे ही प्राण के लिये ही योनि योनि के प्रति दौड़ता है ॥ ३६ ॥

पदार्थ—(यत्र) जिस काल में (सः+अयम्) सो यह पुरुष (जरया+वा) जरावस्था की प्राप्ति के कारण से (अणिमानम्) अणुत्व=कृशत्व को (नि+एति) विशेषता के साथ प्राप्त करता है

अर्थात् जब वृद्धावस्था के कारण स्वभाव से ही बहुत दुर्बल होजाता अथवा (उपतपता+वा) दुःख देनेवाले किसी नैमित्तिक रोग के कारण (अणिमानम्+निगच्छति) अणुत्व=कृशता को प्राप्त होता है। (ततः) उस समय (यथा) जैसे (आम्रम्+वा) आम्रफल अथवा (उदुम्बरम्+वा) उदुम्बर=गूलर का फल अथवा (पिप्पलम्+वा) पीपल का फल (बंधनात्) अपने बंधन से (प्रमुच्यते) छूटकर गिर पड़ता है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के अनुसार (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (एभ्यः+अङ्गेभ्यः) इन हस्त पादादिक अवयवों से (संप्रमुच्य) अच्छे प्रकार छूटकर (पुनः) फिर (प्रतिन्यायम्) जैसा आया था वैसा ही (प्रति+योनि) योनि योनि के प्रति (आद्रवति) दौड़ता है। (प्राणाय+एव) प्राण के लिये अर्थात् कर्म के फल भोग के लिये ही ॥ ३६ ॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥ ३७ ॥

अनुवाद—सो जैसे राजा का आगमन सुन उग्र प्रत्येनस, सूत और ग्रामणी आदिक राज-कर्मचारी "यह राजा आरहा है यह आ रहा है" इस प्रकार प्रजाओं को ख़बर देते हुए अन्न, पान, आवसथ आदिक राज-सामग्रियों को जोड़कर प्रतीक्षा करते हैं। वैसे ही जीवात्मा की गति को इस प्रकार जाननेवाले पुरुष के लिये भी सब कोई प्रतीक्षा करते हैं कि यह ब्रह्मवित् पुरुष आरहा है यह आना ही चाहता है ॥ ३७ ॥

पदार्थ—(तत्+यथा) उस विषय में दृष्टान्त कहते हैं जैसे (आयान्तम्+राजानम्) आते हुए राजा को जान (उग्राः) उग्र=भयङ्कर कर्म करनेवाले पुलिस (प्रत्येनसः) एनस्=पाप अपराध, एक एक पाप वा अपराध के दण्ड देनेवाले न्यायाधीश (मजिस्ट्रेट) (सूतग्रामण्यः) सूत=सारथि=हय गज के निरीक्षण करनेवाले तथा ग्रामणी=ग्राम ग्राम के अधिष्ठाता पञ्च ये सब मिलकर (अन्नैः) खाने के विविध गेहूं चावलादि अन्नों से (पानैः) पीने के योग्य दूध मधु लेह्यादि पानों और (आवसथैः) विविध प्रकार के रहने के योग्य प्रासाद, हर्म्य, खेमे, तम्बू आदिक स्थानों से (प्रतिकल्पन्ते) प्रतीक्षा करते हैं अर्थात् राजा के लिये अन्नपान स्थानों को प्रस्तुत करके राह देखते हैं (अयम्+आयाति) हे प्रजाओ ! हे इष्टमित्रो ! यह राजा आ रहा है (अयम्+आगच्छति+इति) यह अब आना ही चाहता है। आप लोग सावधान रहें। राजा को कोई क्लेश न हो, वह आपके अनाचार न देखें। इस प्रकार प्रजाओं में ख़बर पहुंचाते हुए राजा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं (एवम्+एव) इस दृष्टान्त के अनुसार (ह) यह प्रसिद्ध है कि (एवं+विदम्) इस प्रकार से जाननेवाले के लिये (सर्वाणि+भूतानि) सब प्राणी (प्रतिकल्पन्ते) राह देखते रहते हैं कि (इदम्+ब्रह्म) यह ब्रह्मवित् पुरुष (आयाति) आता है (इदम्+आगच्छति) यह ब्रह्मविद् आ रहा है ॥ ३७ ॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेम-मात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥ ३८ ॥

अनुवाद—सो जैसे पुनः जब राजा वहां से प्रस्थान करना चाहता है तब उसको विदा करने के लिये उसके अभिमुख उग्र, प्रत्येनस, सूत और ग्रामनायक एकत्रित होते हैं। वैसे ही जब यह

आत्मा ऊर्ध्वं श्वास लेना प्रारम्भ करता है तब उस अन्तकाल में इस आत्मा के चारों ओर सब प्राण उपस्थित होते हैं ॥ ३८

पदार्थ—मरणवेला में जीवात्मा के साथी कौन होते हैं सो दृष्टान्त से कहते हैं–(तत् यथा) उस विषय में दृष्टान्त है कि (प्रयियासन्तम्) वहां से प्रस्थान करने की इच्छा करते हुए (राजानम्) राजा को जान विदा करने और आदर देने को (उग्राः) उग्र कर्म करनेवाले पुलिस (प्रत्येनसः) एक एक अपराध के निर्णय करनेवाले धर्माधिकारी मजिष्ट्रेट (सूतग्रामण्यः) घोड़े हाथी आदि वाहनों के प्रबन्धकर्त्ता और ग्राम के पञ्च प्रभृति सब कोई मिलकर (अभिसमायन्ति) राजा के सामने आते हैं (एवम्+एव) इस दृष्टान्त के अनुसार (अन्तकाले) अन्त समय में (सर्वे+प्राणाः) सब वागादिक इन्द्रिय (आत्मानम्) जीवात्मा को यहां से प्रस्थान करते हुए देख इसके निकट उपस्थित होते हैं। क्या जब बिलकुल ही शरीर को त्याग देता है तब वा प्रथम ही वे उपस्थित होते हैं इस पर कहते हैं (यत्र) जिस काल में (ऊर्ध्वोच्छ्वासी+भवति) यह जीवात्मा ऊर्ध्वं श्वास लेना आरम्भ करता है (एतत्) इस ऊर्ध्वं श्वास के समय में वे सब एकत्रित होते हैं ॥ ३८ ।

इति तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य सम्मोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्त्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥ १ ॥

अनुवाद—सो यह जीवात्मा जब अति दुर्बल हो मूर्च्छितसा होता है तो ये वागादि प्राण तब इस जीवात्मा के अभिमुख उपस्थित होते हैं। वह तैजस् अंशों को चारों तरफ़ से खींच कर समेटता हुआ हृदय को ही जाता है। जब सो यह चाक्षुष पुरुष विमुख हो अपने स्वामी के प्रति लौटता है। तब वह बाहर से अरूपज्ञ होता है ॥ १ ॥

पदार्थ—इस शरीर के अङ्गों से जीवात्मा कैसे पृथक् होता सो कहते हैं—(यत्र) जिस काल में (सः+अयम्) सो यह जीवात्मा (अबल्यम्) दुर्बलता को (न्येत्य=नि+एत्य) अतिशय प्राप्त कर अर्थात् बहुत दौर्बल्य को पा (सम्मोहम्+इव) मानो मूर्छावस्था=अविवेकिता को (न्येति) प्राप्त करता है। उस समय सब अङ्गों से प्राणों के साथ जीवात्मा का निष्क्रमण होता है। निष्क्रमण का क्रम कहते हैं—(अथ) तब (एते+प्राणाः) ये वागादिक इन्द्रिय (एनम्) इस जीवात्मा के (अभिसमायन्ति) सम्मुख में आते हैं। तब (सः) वह जीवात्मा (एताः) इन (तेजोमात्राः) तेज के अंश वागादिकों को अथवा वागादिकों के साथ शरीर के तैजस् अंशों को (समभ्याददानः) अच्छे प्रकार से शरीर के सब ओर से लेता हुआ (हृदयम्+एव) हृदय की ओर ही (अन्ववक्रामति) जाता है। आगे एक एक

इन्द्रिय का आगमन कहते हैं (यत्र) जिस समय सब से प्रथम (स+एषः+चाक्षुषः+पुरुषः) यह चक्षुरिन्द्रिय पुरुष (पराङ्) बाह्यविषयों से विमुख हो (पर्य्यावर्तते) आत्मा के सहाय के लिये पीछे लौटता है (अथ) तब (सः) कर्ता भोक्ता पुरुष (अरूपज्ञः+भवति) रूप को पहिचानने वाला नहीं होता है ॥ १ ॥

भाष्यम्—स इति। सोयमात्मा। यत्र यस्मिन् मरणकाले दैहिकधर्मेण अबल्यं=दौर्बल्यम्। नेत्य नितरामेत्य प्राप्य सम्मोहमिव सम्यङ्मूर्च्छामिव न्येति नि एति नितरां गच्छति। अथ तदा प्रयियासन्तं राजानममात्यग्रामणीसूतादय इव। एनं दीर्घमध्वानं प्रतिष्ठासमानमिदमुपात्तं शरीरञ्च जिहासन्तमात्मानम्। एते प्राणा वागादीनीन्द्रियाणि अभिसमायन्ति अभिमुखे उपस्थिता भवन्ति आज्ञाप्रतिपालनाय। तदास्य जीवात्मनः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः सम्प्रमोक्षणं जायते। तत्प्रकारमाचष्टे—स जीवः। एता इमास्तेजोमात्राः तेजसो मात्रा सूर्यादिवत् रूपादिविषयप्रकाशकत्वाच्चक्षुर्वागादीन्द्रियाणि तेजोमात्राः कथ्यन्ते। यद्वा। शरीरस्य सर्वास्तेजोमात्रास्तैजसा अंशाः मरणसमये शरीरस्य शैत्याऽऽगमः प्रत्यक्षः। अतस्तेजोमात्रा अपयन्तीत्यनुमानम्। तास्तेजोमात्राः इन्द्रियैःसह समभ्याददानः सम्यक्तया अभितः आददानो गृह्णानः संहरमाणः। हृदयमेव हृदयप्रदेशमेव अन्ववक्रामति अन्ववगच्छति। प्रयियासुर्नियतं स्थानमाश्रित्य सुहृदादीनामिव। हृदयस्थानं गत्वेन्द्रियादीनां स्वसहचराणामागमनं प्रतीक्षते। मरणसमये जीवस्य रूपाद्यज्ञानसाधनपूर्वकमिन्द्रियसम्मिलनं दर्शयति। अग्रे चक्षुरागमनमाह। यत्र यस्मिन् काले चक्षुषिभवः चाक्षुषः पुरुषः। अत्र चक्षुःशक्तिः पुरुषशब्देनाभिहितः पुरुषापरपर्य्यायात्मसहचरत्वात्। पराङ्प्रत्यावर्तते। बाह्यचक्षुर्गोलकं विहाय पराङ् विषये विमुखः सन्। लिङ्गशरीरं प्रति स्वामिसाहाय्यार्थं पर्य्यावर्तते निवर्तते। अथ तदा स पुरुषः बाह्यतोऽरूपज्ञो भवति। न रूपं जानातीत्यरूपज्ञः। न मुमूर्षूरूपंजानातीति। यथा सुषुप्तो पश्यन्वै न पश्यति जिघ्रन्वै न जिघ्रति, रसयन्वै न रसयति। इत्यादिना जीवात्मधर्माणामविनाशित्वं प्रदर्शितम् एवमेव मरणसमये बाह्यतोऽपश्यन्नपि पश्यत्यन्तः। अजिघ्रन्नपि जिघ्रत्यन्तः। इत्यादि सर्वविषयज्ञानमन्तरस्तीति ज्ञातव्यम्। अग्रे सर्वेषामिन्द्रियाणामेकीभवनं वक्ष्यति ॥ १ ॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ २ ॥

पदार्थ—मरण के समय उसके चारों ओर बैठे बन्धुमित्र ज्ञाति आदिक कहते हैं कि (एकीभवति) इसके नयनेन्द्रिय अब बाह्य स्थूल चक्षुगोलक को छोड़कर सूक्ष्म लिङ्गशरीर वा हृदय आत्मा के साथ एक हो रहा है अर्थात् सम्मिलित हो रहा है इस हेतु अब (न+पश्यति) यह पुरुष हम लोगों

को नहीं देखता है (इति+आहुः) इस प्रकार सब बैठे हुए मनुष्य परस्पर बोलते हैं। जब प्राणशक्ति को नहीं पाते हैं तो (आहुः०) वे लोग कहते हैं कि इसकी घ्राणेन्द्रिय आत्मा से सम्मिलित होता है। इस हेतु (न+जिघ्रति) यह मुमूर्षु जन पुष्पादिकों को नहीं सूंघ सकता। सूंघने की शक्ति जाती रही। ऐसा ही भाव आगे भी जानना। (एकीभवति) रसनेन्द्रिय भी अब आत्मा के साथ मिल रहा है। इस हेतु यह (न+रसयते) अब किसी पदार्थ का स्वाद नहीं ले सकता है ऐसा कहते हैं (एकीभवति+न+वदति) वागिन्द्रिय सम्मिलित होता है। अतएव यह नहीं बोल सकता (एकीभवति+न+शृणोति) श्रवणेन्द्रिय आत्मा से मिलता है इसी हेतु यह नहीं सुनता है (एकीभवति+न+मनुते) सब इन्द्रियों का अधिपति मन भी बाहर से अन्तर्लीन हो रहा है इस हेतु अब यह कुछ नहीं समझ सकता है (एकीभवति+न+स्पृशति) अब स्पर्श का भी इन्हें बोध नहीं रहा। स्पर्शज्ञान भी लिंगात्मा के साथ जा मिला। इस प्रकार (एकीभवति+न+जानाति०) सम्पूर्ण बाह्य ज्ञान सिमिटकर आत्मा के साथ मिल रहा है अतएव इनमें किसी प्रकार का बोध नहीं रहा (तस्य+ह+एतस्य) उस इस आत्मा के (हृदयस्य+अग्रम्) हृदय का अग्रभाग (प्रद्योतते) विशेषरूप से चमकने लगता है अर्थात् हृदय स्थान में मानो ईश्वर से मिलने को गया था वहां इसके सहचर भी आ मिले अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह भी वहां प्राप्त हुआ हृदय का प्रकाशित होना मानो ईश्वर का प्रसाद है (एषः+आत्मा) यह शरीर को को त्याग करता हुआ जीव (तेन+प्रद्योतनेन) उसी महाप्रकाश के साथ (निष्क्रामति) इस शरीर से निकलता है किस मार्ग से निकलता है सो आगे कहते हैं—(चक्षुष्टः) नेत्र के मार्ग से यह आत्मा शरीर से निकलता है (वा) अथवा (अन्येभ्यः+शरीरदेशेभ्यः) अन्यान्य कर्ण नासिका आदिक शरीर के मार्गों से यह जीवात्मा निर्गत होता है (तम्+उत्क्रान्तम्) जब यह आत्मा निर्गमनोत्सुक होता है तो उसके पीछे पीछे (प्राणः+अनूत्क्रामति) प्राण ऊपर को चलता है (प्राणम्+अनूत्क्रामन्तम्) प्राण के अनूत्क्रमण के पीछे (सर्वे+प्राणाः+अनूत्क्रामन्ति) सब इन्द्रिय मानो पीछे पीछे गमन करते हैं। पूर्व में कहा गया है कि यह मूर्छित सा हो जाता है। यहां सन्देह होता है कि क्या यह उसी मूर्छावस्था में विदा होता है इस पर कहते हैं—(सविज्ञानः+भवति) यह जीवात्मा इस समय पूर्ववत् ज्ञानवान् होता है और (सविज्ञानम्) विज्ञान स्थान को ही यहां से (अन्ववक्रामति) प्रस्थान करता है। आगे पाथेय कहते हैं अर्थात् यह आत्मा उपार्जन करके किन पदार्थों को साथ ले जाता है (विद्याकर्मणी) विद्या विज्ञान और कर्म (तम्) उसके पीछे (समन्वारभेते) सम्यक् प्रकार से जाते हैं (च) और (पूर्वप्रज्ञा) पूर्व जन्मानुभूत बुद्धि भी इसके साथ साथ जाती ॥ २ ॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥ ३ ॥

अनुवाद—जैसे तृणजलायुका नाम की पिपीलिका तृण के अन्त भाग को जाकर दूसरे आक्रम का आश्रय करके अपने शरीर के पूर्वभाग को अग्रिम स्थान में रखती हुई चलती है। वैसे ही यह आत्मा इस शरीर को निश्चेष्ट बना अविद्या को दूरकर अन्य शरीररूप आक्रम को आश्रय कर अपने को पूर्व शरीर से पृथक् करता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—यह जीवात्मा अपने प्राणादिक सहचरों तथा विद्या, कर्म पूर्वप्रज्ञारूप तीन प्रकार के पाथेय को साथ ले एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति की इच्छा करता हुआ किस प्रकार से प्राप्त करता है। इस विषय को दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—(तत्+यथा) उसमें यह दृष्टान्त है—लोक में प्रसिद्ध है कि

जिस प्रकार से (तृणजलायुका) तृणजलायुका नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटीसी पिपीलिका होती है। वह (तृणस्य+अन्तम्+गत्वा) तृण के अन्तिमभाग में पहुंच दूसरे तृणपर जाने की इच्छा करती हुई (अन्यम्+आक्रामम्) प्रथम अन्य आक्रम=आश्रय को (आक्रम्य) आश्रित कर अर्थात् उस तृण को अपने अग्रिमभाग से दृढ़ता से पकड़कर तब (आत्मानम्+उपसंहरति) शरीर के पिछले भाग को उस तृणस्थान से उठाकर अग्रिम तृणस्थान में रखती है। अर्थात् जब दूसरे तृण को दृढ़ता से पकड़ लेती है तब पिछले तृण को छोड़ती है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (अयम्+आत्मा) यह आत्मा (इदम्+शरीरम्) इस गृहीत जीर्णशरीर को (निहत्य) निश्चेष्टित अचेतन बना (अविद्याम्) स्त्री पुत्र मित्रादिकों के वियोगजनित शोक को (गमयित्वा) दूर करके (अन्यम्+आक्रमम्) दूसरे शरीररूप आश्रय को (आक्रम्य) पकड़ कर तब (आत्मानम्+उपसंहरति) उस शरीर से अपने को पृथक् करता है। अर्थात् ईश्वरीय प्रबन्ध से जीवात्मा को विदित होजाता है कि मुझे यहां से किस शरीर में जाना होगा। जब यह सर्वथा ज्ञात होजाता है तब इस शरीर को छोड़ता है क्योंकि स्थूल-शरीर विना कर्तृत्व भोक्तृत्व बनता नहीं। अतः तृणजलायुकावत् इस शरीर को छोड़ता तत्काल दूसरे शरीर में जाता है॥ ३॥

भाष्यम्—तद्यथेति। सर्वान् सहचरान् विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञाश्चेति पाथेयत्रयञ्चादाय देहाद्देहान्तरं प्रतिपित्सुः कथमिव प्रतिपद्यत इत्यतो दृष्टान्तपूर्वकमाह—तत्तत्रैष दृष्टान्तः। यथा येन प्रकारेणेहलोके तृणजलायुका अङ्गुष्ठमात्रा सुप्रसिद्धा पिपीलिका। तृणस्यान्त-मवसानं गत्वा। अन्यमाक्रममाक्रम्य गम्यमानं तृणमग्रभागेन दृढतया गृहीत्वा तत आत्मा-नमुपसंहरति। स्वकायपूर्वावयमग्रिमावयवस्थाने स्थापयति। आक्रम्यते इत्याक्रमः। एवमेव अयमात्मा। इदमुपात्तं शरीरम् निहत्य पातयित्वा निश्चेष्टं कृत्वा अविद्यां स्त्रीपुत्र-मित्रादिवियोगजनितं शोकम्। गमयित्वा विहाय। अन्यमाक्रममुपादीयमानं देहाख्यमाक्र-ममाश्रयम् आक्रम्य। प्रसारितया वासनयैव केवलया तत्र गत्वा। आत्मानमुपसंहरति। तत्रैवाहमित्यात्मभावं प्रतिपद्यते। न तु पूर्वदेहे॥ ३॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमे-वायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम्॥ ४॥

अनुवाद—सो जैसे स्वर्णकार सुवर्ण की मात्रा को लेकर दूसरा नवतर और कल्याणतर रूप को बनाया करता है। वैसे ही यह आत्मा इस शरीरको निश्चेष्ट बना अविद्या को दूरकर दूसरा नवतर और कल्याणतर पित्र्य अथवा गान्धर्व अथवा दैव अथवा प्राजापत्य अथवा ब्राह्मरूप को धारण करता अथवा जिसने अविद्या को दूर नहीं किया है वह अन्य प्राणियों के शरीरों में से किसी एक शरीर को धारण करते हैं॥ ४॥

पदार्थ—कोई ऊर्ध्व, कोई अधोधः, कोई मध्यस्थान को जाते हैं। यह शास्त्र तत्त्वविद् पुरुषों का विचार है। क्योंकि यह जीव कर्मानुसारी है परन्तु न तो कोई सर्वदा नीचे को ही गिरता और न कोई ऊपर को ही उठता जाता है इस अर्थ को दृष्टान्त के साथ कहते हैं (तत्) इसमें यह दृष्टान्त होता है (यथा) जैसे इस लोक में (पेशस्कारी) सुवर्ण के भूषण बनानेवाले निपुण स्वर्णकार (पेशसः+मात्राम्) सोने की मात्रा कुछ हिस्से वा खण्ड (उपादाय) लेकर (अन्यत्) दूसरा

(नवतरम्) पहिले भूषण की अपेक्षा अधिक नूतन और (कल्याणतरम्) अधिक सुन्दर (रूपम्) रूप को (तनुते) बनाता है (एवम्+एव) इसी दृष्टान्त के समान (अयम्+आत्मा) यह जीवात्मा (इदं+शरीरम्) इस गृहीतदेह को (निहत्य) निश्चेष्ट कर (अविद्याम्) अखिलमङ्गलप्रतिबन्धकारिणी अज्ञानतान्धकारमण्डली को (गमयित्वा) उपार्जित ज्ञानरूप आलोक से अपने से दूर हटाकर अर्थात् जिसने अविद्या को नाशकर विद्यारूप ज्योति को पाया है। वह सदाचारी सुकृती जीवात्मा (अन्यत्+नवतरम्) अन्य नूतन और (कल्याणतरम्) पूर्वापेक्षया अधिक कल्याणसाधक (रूपम्) रूप को (कुरुते) धारण करता है। वे कल्याणतररूप कौन कौन हैं सो आगे कहते हैं—(पित्र्यम्+वा) जगत्पालक पितरों का रूप (वा) अथवा (गान्धर्वम्) केवल ब्रह्मसम्बन्धी गान के गानेवाले नारदादि के समानरूप (वा) अथवा (दैवम्) दिव्यगुणविशिष्ट योगियों का रूप (प्राजापत्यम्) प्रजापालन तत्पर मनुष्यों का रूप (वा) अथवा (ब्राह्मम्) ब्रह्मप्राप्ति साधनयोग्य रूप को यह जीवात्मा धारण करता है और ये ही सब कल्याणतर रूप हैं (वा) अथवा जिसने अविद्या को दूर नहीं किया है वह (अन्येषाम्+भूतानाम्) अन्य पशुपक्षी सरीसृपादिक रूप को धारण करता है। भाव यह है कि जैसा कर्म इसका रहता है मर करके भी उसी कर्म के अनुसार वैसी योनि में प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—केऽप्यूर्ध्वं केऽप्यधः केऽपि मध्यं यान्तीति शास्त्रतत्त्वविदां परामर्शः कर्मानुसारिणो हि जीवाः। किन्तु न हि सर्वदाऽधोऽध एव पतन्ति न चोर्ध्वोर्ध्वमेवोत्तिष्ठन्ति। इममर्थं सदृष्टान्तमाह—तद्यथा—पेशस्कारी सुवर्णकारः। पेशसः सुवर्णस्य मात्रां पिण्डमुपादाय गृहीत्वा। अन्यन्नवतरं पूर्वस्माद् भूषणादधिकतरं नूतनम्। तथा च कल्याणरूपं ततोऽपि सुन्दरतरमलङ्काररूपम्। तनुतेर्निर्म्मिमाति। कश्चित् पटुः सुवर्णकारः प्रत्यहं पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं भूषणं सुन्दरतरं निर्म्माति एवमेवाऽऽत्मा। इदमुपात्तं शरीरं निहत्य निश्चेष्टं कृत्वा। अविद्यां गमयित्वा निखिलमङ्गलप्रतिबन्धकारिणीमज्ञानतान्धकारमण्डलीम् गमयित्वा उपार्जितज्ञानाऽऽलोकेन स्वस्माद् दूरे प्रक्षिप्य। अविद्यारहितः कश्चित्पुरुष इत्यर्थः। अन्यन्नवतरं। पूर्वस्माज्जीर्णाच्छरीरादधिकं नवीनम्। तथा कल्याणतरं विशेषमङ्गलसाधनम् रूपं कुरुते धारयति। किं किं कल्याणतरं रूपमस्तीत्याकांक्षायामाह—पित्र्यम् पितॄणां जगत्पालकानां सम्बन्धि। गान्धर्वं केवलब्रह्मविषयकगीतिगायकानां सम्बन्धि। दैवं दिव्यगुणविशिष्टानां योगिनां सम्बन्धि। प्राजापत्यं प्रजापालनतत्पराणां पुरुषाणां सम्बन्धि। ब्राह्मम्वा पूर्णब्रह्मविदां सम्बन्धि ब्रह्मप्राप्तिसाधनयोग्यं वान्यतमं शरीररूपमयमात्मा सुकृतिः कश्चिद्धारयति। यदि स पूर्वमेव पित्र्ये शरीरेऽस्ति। तर्हि तद्विहाय ततोधिककल्याणसाधनं गान्धर्वं शरीरं दधातीति उत्तरोत्तरयोज्यम्। यस्त्वविद्यानागमयत्। सोन्येषां पशुपक्षिसरीसृपादीनां भूतानां प्राणिनामन्यतमं रूपं बिभर्ति। यथा कर्मा यथाक्रतुर्भवति पुरुषः प्रेत्यापि तादृशो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्म्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः

पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह आत्मा ब्रह्मवेत्ता है । विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय एवं सर्वमय है । जिस हेतु इदम्मय अदोमय है । अतः इसको सर्वमय कहते हैं जैसे कर्म के अनुष्ठान और आचरण का अभ्यासी होता है वैसा ही होता है । साधु कर्म करने वाला साधु होता पाप कर्म करनेवाला पापी होता है । पुण्य कर्म से पुण्यवान् और पाप कर्म से पापी होता है कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है जैसी कामना होती है वैसा ही इसको क्रतु (अध्यवसाय=व्यापार) होता है जैसा इसका अध्यवसाय होता है वैसा ही कर्म करता है जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है ॥ ५ ॥

पदार्थ—जैसे इस लोक में एक ही मनुष्य आत्मा के धर्म से विज्ञानी शरीर गुणों से सुन्दर और हिरण्य पशु आदिक बाह्य साधनों से धनिक कहलाता है । उसके गुण के अनुसार गुणी कहा गया है । इन्हीं को आगे विस्तार से वर्णन करते हैं यथा-(वै) निश्चय (सः+अयम्+आत्मा) सो यह जीवात्मा (ब्रह्म) अपने स्वभाव से ही ब्रह्मवेत्ता है अमरकोश में तथा मेदिनी में कहा गया है कि वेद, तत्व, तप, ब्रह्म, ऋत्विक् और विप्र=ब्रह्मवेत्ता प्रजापति इतने अर्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग होता है । अतः यहां ब्रह्मशब्दार्थ ब्रह्मवेत्ता है । पुनः यह जीवात्मा स्वभाव से कैसा है (विज्ञानमयः) सम्पूर्ण ज्ञान से भरा हुआ है इसी हेतु यह ब्रह्मवेत्ता भी है आगे इन्द्रिय के धर्म से धर्मवान् आत्मा का वर्णन करते हैं (मनोमयः) मन इन्द्रियमय=मननशक्तिविशिष्ट है (प्राणमयः) प्राण अपान समानादिक प्राणमय है पुनः (चक्षुर्मयः) रूप ज्ञान से नयनमय (श्रोत्रमयः) शब्दज्ञान से श्रोत्रमय, इसी प्रकार गन्धज्ञान से घ्राणमय, स्वाद ग्रहण से रसनामय और स्पर्शज्ञान से त्वङ्मय, अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों से युक्त है । आगे पृथिवी आदिक पञ्चमहाभूत भी इस आत्मा के शरीर से आरम्भ होता है और इस कारण जैसे मनुष्य पशु हिरण्यादिक से धनवान् कहलाते हैं वैसे ही इन पृथिव्यादिकों से पृथिवीमय आदि कहलाता है सो कहते हैं (पृथिवीमयः) स्थूल शरीर से यह जीवात्मा पृथिवीमय है (आपोमयः) रक्त वीर्य आदिक से यह जलमय (वायुमयः) प्राण अपान व्यान समान उदान और बाह्य वायु से यह वायुमय (आकाशमयः) अभ्यन्तर अवकाश के कारण आकाशमय और (तेजोमयः) सम्पूर्ण शरीर में उष्णता के कारण तेजोमय है, इस हेतु पञ्चमहाभूत कहलाता है । इससे यह भी जानना कि इस जीवात्मा का शरीर एक भौतिक भी होता है । (अतेजोमयः) कोई शरीर तो तेज से बिलकुल रहित है । इस हेतु यह जीवात्मा अतेजोमय है । इसी विशेषण से एक भौतिक शरीर का अनुमान होता है । पृथिवीमय आदि जब कह चुके तो "अतेजोमय" की क्या आवश्यकता क्योंकि पृथिवीमय आपोमय आदि कहने से ही अतेजोमय की सिद्धि हो गई पुनः अतेजोमय की क्या आवश्यकता । पृथिवीमयादिक विशेषणों से सम्मिलित का भी बोध होता है । जैसे वह शरीर पृथिवीमय वायुमयादिक पञ्चमय है । अतः अतेजोमय कहने से यह सूचित होता है कि तेज तो उसमें न हो परन्तु और चार भूत हों । एवं किसी में पार्थिव अंश न हो परन्तु अन्य अन्य चार अंश हों । उसे पृथिवीमय कहेंगे । अनापोमय, अवायुमय भी कह सकते हैं और इससे यह सिद्ध हुआ कि पांचभौतिक, चातुर्भौतिक, त्रैभौतिक,

द्वैभौतिक और ऐकभौतिक भी शरीर होता है । अब आगे विरुद्ध गुण कहते हैं—जैसे अग्नि में उष्णत्व है शीतत्व नहीं । जल में शीतत्व है उष्णत्व नहीं । परन्तु आत्मा में उष्णत्व शीतत्ववत् परस्पर विरुद्ध गुण भी है इसको आगे कहते हैं (काममयः+अकाममयः) यह जीवात्मा काममय और अकाममय दोनों है जिस किसी समय राजा आदि में अधिक काम पाते हैं और किन्हीं योगियों में काम लेश भी नहीं अथवा वृक्षादिक शरीर में कुछ कामना नहीं पाई जाती है (क्रोधमयः+अक्रोधमयः) क्रोधमय और अक्रोधमय (धर्म्ममयः+अधर्म्ममयः) कोई जीव बाल्यावस्था से ही निज शास्त्रानुसार कर्म्म करना आरम्भ करता है । कोई विपरीत चलता है इस हेतु धर्म्ममय और अधर्म्ममय दोनों ही हैं विशेष कहांतक वर्णन करें यह जीव (सर्वमयः) सर्वमय है । कैसे जानते हैं कि यह सर्वमय । उत्तर—मनुष्य ने जहांतक सुना है, विचारा है, देखा है, अनुमान किया वहांतक ही कामना करता है । वह कामना दो प्रकार की है । ऐहिक और आमुष्मिक, तीसरी कामना ही नहीं अब देखते हैं कि यह जीव ऐहिक और आमुष्मिक, जितनी कामनाएं हैं उन सबों को चाहता है । इस हेतु यह सर्वमय है इसकी कामना का कहीं भी अन्त नहीं इसको कहते हैं (यत्) जिस हेतु (एतत्) यह जीवात्मा (इदम्मय) इहलौकिक सर्ववासनावासित है और (अदोमयः) पारलौकिक सुख कामनामय भी है (तत्) उस कारण से वह सर्वमय है (इति) यह सिद्ध हुआ कर्म से ही यह जीव उस योनि को प्राप्त होता है इस हेतु कहते हैं (यथाकारी) जिस प्रकार के कर्म्मों को अभ्यास करता है (यथाचारी) जिस प्रकार आचरणों का अभ्यास करता है (तथाभवति) वैसा ही वह जीवात्मा होता है । इसी विषय को आगे विस्पष्ट करते हैं (साधुकारी) शुभ उत्तम कर्मों के करनेवाला (साधुः+भवति) उत्कृष्ट उच्चतर आदि होता है और (पापकारी) पाप कर्म करनेवाला (पापः+भवति) पापी, शूकर, श्वान आदिक होता है (पुण्येन+कर्मणा) पवित्र वैदिककर्म से (पुण्यः) पुण्यवान् और (पापेन) पाप अर्थात वेदविरुद्ध कर्म के अनुष्ठान से (पापः+भवति) पापी होता है, पूर्व में कहा गया है कि पुण्य और पाप ही संसार का साधारण कारण है । उनका भी कोई कारण कहना चाहिये कैसे पाप वा पुण्य कर्म में प्रवृत्ति होती है, न चाहता हुआ भी बलात्कार किस प्रकार पाप में पुरुष नियोजित होजाता है, ऐसी शङ्का होती है (अथो) इस शङ्का के अनन्तर (खलु+आहुः) निश्चितरूप से कोई कहते हैं कि (अयम्+पुरुषः) यह पुरुष (काममयः+एव) ऐहिक पारलौकिक अभिलाषा का नाम काम है उन सब कामों से यह पुरुष युक्त है महर्षि लोग कहते हैं कि क्या वैदिक क्या लौकिक जितने कर्म्मों के अनुष्ठान हैं उनका मूलकारण काम ही है ;क्योंकि मनन करता हुआ पुरुष जिन कामनाओं की इच्छा करता है उन कामनाओं के वशीभूत हो उन उन कामनाओं के लिये वह प्रसिद्ध होता है । जैसे किसी को वीरता की कामना है तो वह उसके लिये वैसी ही चेष्टा करेगा और उसी वीरता के लिये उसकी प्रसिद्धि भी होगी । कामना-रहित पुरुषों की कोई भी क्रिया नहीं होती । इसी हेतु काममय ही पुरुष है यह सिद्ध होता है किस रीति से कामना की वृद्धि और फल प्राप्त होता है सो कहते हैं—(सः) वह कामनामय पुरुष (यथाकामः+भवति) जिस प्रकार की कामना से युक्त होता है (तत्क्रतुः+भवति) क्रतु=अध्यवसाय=परिश्रम व्यापार, कार्य्यतत्परता, कार्य्य में आसक्त होना इन सबों का नाम क्रतु है । वैदिक यज्ञों का भी नाम क्रतु है वैसा ही उसका परिश्रम होता है (यत्क्रतुः+भवति) और जैसे उद्योग से वह युक्त होता है (तत्कर्म) वैसे ही कर्म्म को (कुरुते) करता है (यत्कर्म्म+कुरुते) जैसा कर्म करता है (तत्+अभिसम्पद्यते) वैसे ही फल पाता है ॥ ५ ॥

तदेष श्लोको भवति ॥ तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

अनुवाद—उसमें यह श्लोक प्रमाण होता है । इस जीवात्मा के मरण समय में अत्यन्त गमनशील अथवा लिङ्गशरीरसहित मन जहां आसक्त होता है वहां ही यह आसक्त हो उसी विषय के प्रति जाता है । वह यहां जो कुछ कर्म करता उस कर्म के फलों के भोग से अन्त=समाप्त कर उस लोक से पुनरपि इस लोक में कर्म करने के लिये ही आता है । इस प्रकार कामनावाला इधर उधर मारा फिरता है जो अकामयमान पुरुष है वह शरीर त्यागानन्तर भी अन्यत्र कहीं नहीं जाता, जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते वह पुरुष ब्रह्मवित् होकर ब्रह्म को ही पाता है ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तत्) उस पूर्वकथित अर्थ में (एषः+श्लोकः) यह श्लोक (भवति) प्रमाण होता है (अस्य) इस काममय पुरुष के मरणवेला में (लिङ्गम्) अत्यन्त गमनशील लिङ्गशरीरसंयुक्त (मनः) मन (यत्र) जिस गन्तव्यफल में (निषक्तम्) अतिशय आसक्त हो जाता है (सक्तः) उसी में आसक्त होकर आत्मा भी (तद्+एव) उसी फल के प्रति (कर्मणा) कर्म के साथ (एति) जाता है (अयम्) यह फल भोगासक्त जीव (इह) इस लोक में (यत्+किञ्च) जो कुछ कर्म (करोति) करता है (तस्य+कर्मणः) उस कर्म के फल को भोग करते हुए (अन्तम्+प्राप्य) अन्ततक पहुंचकर अर्थात् उस कर्म के फल को समाप्त कर (तस्मात्+लोकात्) उस लोक से (अस्मै+लोकाय) इस मनुष्यलोक में (कर्मणे) कर्म करने के लिये (पुनः+एति) पुनरपि आता है (इति+नु) इस प्रकार (कामयमानः) कामना करनेवाला जीव इधर उधर जाया करता है । आगे निष्काम पुरुष की गति कही जायगी । भाव यह है कि उस उस भोग योनि में कर्मफल पाकर पुनरपि कर्म के लिये इसी मनुष्यशरीर में आता है पूर्वार्ध में कहा है कि कामना करनेवाला पुरुष मरणानन्तर कर्मभोग के लिये अन्य शरीर में जाता है कि जो कामना नहीं करता है उसकी क्या दशा होती है सो कहते हैं—(अथ) परन्तु (अकामयमानः) अखिल कामनारहित जो पुरुष है वह कहीं नहीं जाता यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। आगे निष्काम पुरुष के चार विशेषण कहते हैं (यः) जो (अकामः) मनोहर शब्द सुन्दररूप स्वादिष्ट भोजन सुख स्पर्शादिक जो बाह्यकाम हैं उनसे रहित (निष्कामः) अन्तःकरण में स्थित जो वासनात्मक कामनाएं हैं वे जिससे निकल गई हैं वह निष्कामः इसमें भी क्या कारण (आप्तकामः) जिसने सब काम प्राप्त करलिये हैं । इसमें भी क्या कारण (आत्मकामः) जिस पुरुष को केवल परमात्मा ही काम अर्थात् कमनीय इच्छा योग्य है अन्य वस्तु नहीं अथवा केवल परमात्मा में ही जिसका काम इच्छा है उसे आत्मकाम कहते हैं । आशय यह है कि जिसने केवल परमात्मा की ही कामना की है और उसके अनुग्रह से वह प्राप्त भी होगया है तब वह यथार्थ में आप्तकाम होगया । जिसने ईश्वर प्राप्त किया उसने सब काम पालिये इसमें सन्देह ही क्या । अतएव उसे अन्य कामनाएं कुछ भी अवशिष्ट लब्धव्य नहीं रहीं अतः वह निष्काम है । जो निष्काम है उसे ही तो संसार में "अकाम" भी कहते हैं ऐसा जो अकाम पुरुष है उसको कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं इसमें हेतु कहते हैं—(तस्य) उस निष्कामी पुरुष के (प्राणाः) वाणी आदि इन्द्रिय (न+उत्क्रामन्ति)

उद्=ऊपर। क्रामन्ति=जाते हैं। जिस हेतु लोक में माना हुआ है कि मरकर के जीव ऊपर जाता है। अतः इस गमन का नाम "उत्क्रमण" अर्थात् ऊर्ध्वगमन है बहुत से प्रयोग लोकदृष्टि से होते हैं वेद दृष्टि से नहीं। ब्रह्मज्ञानी को कोई कामना नहीं रहती इस हेतु इन्द्रिय जाय तो कहां जाय। उस ब्रह्मज्ञानी की क्या दशा होती है सो आगे कहते हैं—(ब्रह्म+एव+सन्) ब्रह्मवित् होकर के ही (ब्रह्म) परमात्मा को (अप्येति) पाता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तदिति। तत्तस्मिन्नर्थे एष श्लोको भवति। अस्योद्भूताभिलाषस्या ऽऽसन्नमृत्योर्जनस्य। लिङ्गं लिङ्गति गच्छतीति लिङ्गमतिशयगामिमनः। लिङ्गं सप्तदशा-वयवात्मकं मनः। यद्वा प्रमात्रादिसाक्षी येन साद्येण मनसा लिङ्ग्यते तन्मनोलिङ्गम्। यत्र यस्मिन् गन्तव्ये फले निषक्तं नितरामतिशयेनासक्तं भवति। तस्मिन्नेव मनसा प्रेरितो जीवात्मा आसक्तः सन् तदेवमनोभिलषितं फलं प्रति कर्मणा उपार्जितसञ्चितभोगावशिष्ट-निखिलकर्मफलेन सह एति गच्छति। नन्वेतद् भोगानन्तरं कामाभावान्मुक्तो भविष्यतीत्यत आह—प्राप्यति। अयं जीवात्मा इहास्मिँल्लोके यत्किञ्च किञ्चित् कर्म्म करोति तस्य कर्मणः सञ्चितधनस्येव भोगेनान्तं समाप्तिम् प्राप्य कृत्वा तस्माल्लोकात् तस्माद् भुक्तभोगाल्लोकात् पुनरपि एतस्मै लोकाय। एतस्मिन् मनुष्यलोके। कर्म्मणे कर्मकरणार्थम्। ऐति आगच्छति। एवन्नु खलु कामयमानः संसरति कामिनः पुरुषस्येयं व्यवस्थोक्ता अकामयमानस्त्वग्रे वक्ष्यते। उक्तं पूर्वार्धे कामयमानः संसरति। एतावता अकामयमानो न संसरतीत्यर्था-दायाति। समं हि ब्रह्म सर्वत्र यथा सम्राट् राजधान्यां सर्वदा वसति कदाचिदेव स्थानान्तरं प्रतिष्ठते। न तथा ब्रह्मणः क्वचिदेको वासः। आकाशवदेकरूपेण सर्वं विश्वमिदमभ्यश्नुते। न न्यूनं नाधिकं क्वचिदस्ति। येत्वनात्मविद अनौपनिषदा वैकुण्ठे वा पयोदधौ वा गोलोके वा गिरौ या तदीयां वसतिं मन्यन्ते। तेषां वचांसि श्रुतिविरोधात् शिष्टाग्रहणात् बुधवृद्धास्वीकारादनुमानविरहाच्च प्रमत्तप्रलापवदुपेक्ष्याणि। सर्वप्रमाणसिद्धायामीश्वरस्य व्यापकतायां क्वचिदपि न्यूनाधिक्यवर्जितायां ब्रह्मप्राप्तो जीवः क्व गच्छतु। इममेवार्थं व्याचक्षते अकामयमान इति अकामयमानो यः खलु ब्रह्मैव कामयते न स क्वापि व्रजति ब्रह्मणः सर्वत्रैव तुल्यत्वेन स्थितत्वात्। यत्रैव शरीरपातस्तत्रैव ब्रह्माप्तिः। असति पाते पितस्य ब्रह्मोपलब्धिः। अग्रे चत्वारि विशेषणान्युच्यन्ते। यः पुरुषः अकामः बाह्यशब्दाद्यर्थविषयकामरहितः। तदपि कुत इत्यत आह—निष्कामः अन्तःस्था वासनात्मका कामा निष्क्रान्ता यस्मात्सनिष्कामः। अत्रापि हेतुः—आप्तःकामः आप्ताः कामा येन स आप्तकामः। अत्रापि हेतुः—आत्मकामः काम्यत इतिकामः कर्मणि घञ्। आत्मा परमात्मा एव कामः कमनीय इच्छाविषयीभूतो यस्य स आत्मकामः। यः खलु परमात्मानं प्राप्तः स सर्वान् कामान् प्राप्तः। अतः स आप्तकामः। य आप्तकामः तेनेतरे सर्वे कामा त्यक्ताः अतो निष्कामः। यो निष्काम स अकाम एवोच्यते। एवं व्यावृत्तकामः कुतो न संसरति अत्र लौकिकमपि हेतुं दर्शयति—यतस्तस्य। प्राणा वागादयः नोत्क्रामन्ति। तर्हि स किं भूतो भवतीत्याह—ब्रह्मैवेति। स ब्रह्मैव सन् ब्रह्मविदेव सन्। ब्रह्म परमात्मानम् अपि एति प्राप्नोति। यदा साधकः ब्रह्मविद् भवति। तदा ब्रह्मापि प्राप्नोतीत्युपनिषद् आश्वासयति साधकान् ॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति । यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति । तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥ ७ ॥

अनुवाद—उस विषय में यह श्लोक होता है । इस (ब्रह्म प्राप्ति कामनावाले पुरुष) की हृदयाश्रित जो कामनाएं हैं वे सब प्रकार हृदय से निकल जाती हैं तब मर्त्य पुरुष भी अमृत होजाता और यहां ही ब्रह्मानन्द में व्याप्त अर्थात् निमग्न होजाता । इसमें दृष्टान्त कहते हैं—जैसे सर्प की त्वचा शरीर से विगलित हो वल्मीक के ऊपर पड़ी रहती है । उसकी रक्षादिक करने के लिये न सर्प यत्न ही करता है और न पुनः उसे लेना ही चाहता है वैसा ही जीवन्मुक्त का यह शरीर स्थित रहता है । इसी हेतु यह जीवन्मुक्त पुरुष अशरीर और अमृत कहा जाता है और वही प्राण अर्थात् जीवन्मुक्त है । इसमें ब्रह्मस्वरूप तेज विद्यमान रहता है । इसको सुनकर जनक वैदेह ने कहा कि सो मैं आपको सहस्र गायें देता हूं ॥ ७ ॥

पदार्थ—(तत्+एष+श्लोकः+भवति) उस ब्रह्मप्राप्ति के साधन के विषय में यह श्लोक होता है । उसका यह अर्थ है—(अस्य+हृदि+श्रिताः+ये+कामाः+सर्वे) जो साधक ब्रह्मप्राप्ति की साधना करना चाहता है उस मुमुक्षु पुरुष के हृदयरूप भित्ति के ऊपर खचित जो ऐहलौकिक वा पारलौकिक कामनाएं हैं वे सब कामनाएं (यदा+प्रमुच्यन्ते+अथ+मर्त्यः+अमृतः+भवति+अत्र+ब्रह्म) जिस समय में हृदय से बिलकुल निकलकर छिन्न भिन्न होजाते हैं तब मरणधर्मवाला मनुष्य भी मरणरहित होजाता है और शरीर में वह रहता हुआ भी ब्रह्मानन्दरूप महासमुद्र को (समश्नुते) अच्छे प्रकार प्राप्त करता है अर्थात् उसमें निमग्न होजाता है (इति) यह शब्द श्लोक समाप्ति द्योतक है । शङ्का होती है कि जब मर्त्यजन अमृत होगया तब भी यदि शरीर रहे तब "अमृतत्वप्राप्ति" भी व्यर्थसी प्रतीत होती है क्योंकि शरीर के साथ वर्त्तमान जीवात्मा को प्रिय और अप्रिय नहीं त्यागते क्योंकि ऐसा ही कहा गया है । "सशरीर=शरीरसहित वर्त्तमान पुरुष के प्रिय और अप्रियों का नाश नहीं होता । जो अशरीर है उसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते" और भी देखो । सदेह पुरुष की अशना—पिपासा (भूखप्यास) आदि द्वन्द्व में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसे कौन निवारण कर सकता है । शरीरवाले की मुक्ति नहीं हो सकती । फिर आप जीवन्मुक्त का वर्णन कैसे करते हैं इस शङ्का के निरसन के लिये उत्तर ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं । (तत्+यथा) जीवन्मुक्त के देह में और जीवन्मुक्त के विषय में दृष्टान्त कहा जाता है—जैसे लोक में देखते हैं कि (अहिनिर्ल्वयिनी+मृता+वल्मीके+प्रत्यस्ता+शयीत) सर्प की त्वचा मरने पर अर्थात् जब सर्प के शरीर से छूटकर नीचे गिर पड़ती है तब मिट्टी के ढेर के स्थान में फेंकी हुई पड़ी रहती है । सर्प का उस त्वचा के ऊपर कुछ भी स्नेह नहीं (एवम्+एव+इदम्+शरीरम्+शेते) इसी दृष्टान्त के अनुसार जीवन्मुक्त का यह गृहीतशरीर मृतवत् रहता है अर्थात् शरीर में जीवन्मुक्त को आस्था नहीं रहती । यदृच्छया जो कुछ प्राप्त हुआ उससे निर्वाह करते हुए योगी शरीर की चिन्ता कुछ नहीं रखते (अथ+अयम्+अशरीरः+अमृतः+प्राणः) इसी कारण यह जीवन्मुक्त पुरुष शरीरवाला होता हुआ भी शरीररहितसा ही है मर्त्य होने पर भी अमृत ही है जीवन्मुक्त है । शरीरादि में उसी की अनास्था बुद्धि क्यों होती है इस पर कहते हैं—उसमें (ब्रह्म+एव+तेजः) ब्रह्मस्वरूप तेज विद्यमान

रहता है। इस अनुशासन को सुनकर (जनकः+वैदेहः+ह+उवाच) जनक वैदेह बोले कि (सः+अहम्+भगवते+सहस्रम्+ददामि) सो मैं आपको सहस्र गायें देता हूं ॥ ७ ॥

भाष्यम्—तदिति। तत्तत्र मुक्तिप्राप्तिसाधनेऽर्थे एष श्लोकः प्रमाणं भवति। अस्यात्मकामस्य मुमुक्षोः पुरुषस्य सर्वे कामाः। दृष्टानुश्रविकाभिलाषा निःशेषतो यदा प्रमुच्यन्ते प्रकर्षेण मुक्ता विगलिता हृदयदेशादपगता भवन्ति। ये वासनारूपेण हृदि श्रिताः हृदयरूपायां भित्तौ खचिताः सन्ति। ते च कामा उत्थायोत्थाय ज्ञानिनमपि भ्रमयन्ति। अतस्ते समूलतः प्रथमं निःसारयितव्याः। विगलितेषु कामेषु किं भवतीत्याकांक्षायामाह—अथेति। अथ मर्त्योऽपि मरणधर्मोऽपि मनुष्यः। अमृतोऽमरो भवति। किं तदमृत्वं क वेत्यत आह—अत्रास्मिन्नेव शरीरे जीवन् सन्नेवेत्यर्थः। ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मदर्शनं साक्षात् सम्यक्तया प्राप्नोति। यद्वा ब्रह्मानन्दम्। सम्यग् अश्नुते व्याप्नोति "अशूव्याप्तौ संघाते च। धूमेनेव कामेन विहीनः साधको वह्निरिव प्रकाशते। एवं तदा वास्तवं ब्रह्मानन्दमनुभवितुं समर्थो भवतीत्यर्थः। इतिशब्दः श्लोक समाप्तिसूचकः। ननु मर्त्येऽमृते जातेपि यदि शरीरं तिष्ठेत्तर्हि अमृतत्वप्राप्तिर्व्यर्था प्रतीयते। नहि सशरीरं पुरुषं प्रिया प्रिये त्यजतः। तथाहि—"न वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" अन्यच्च सदेहस्य अशनापिपासादिद्वन्द्वे स्वाभाविकी प्रवृत्तिं निवारयितुं कोऽर्हति। सशरीरस्यामृतत्वोपलब्धिरेव निर्धारयितुं न शक्या। अस्यां विचिकित्सायामाह: तत्तत्र जीवन्मुक्तदेहे जीवन्मुक्ते च दृष्टान्तो यथालोके—अहिनिर्ल्वयिनी अहिः सर्पः तस्य निर्ल्वयिनी त्वक् सा अहिनिर्ल्वयिनी। मृता सर्पशरीरप्रध्वस्ता। पुनः वल्मीके पिपीलिकानिर्मिते मृत्तिकापुञ्जे वल्मीकोपलक्षिते स्वस्थाने इत्यर्थः। प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ता अनायासेन त्यक्तासती। शयीत उपेक्षणीया भवति सर्पेण। त्यक्तां त्वचं न पुनः सर्प आदित्सति। एवमेव इदं स्थूलं शरीरं जीवन्मुक्ते न त्यक्तं मृतमिव शेते सम्बन्धविवर्जितं तिष्ठति। सत्यपि शरीरे अनास्था बुद्धिर्जायते। यदृच्छया प्रातया वृत्त्या जीवन् तिष्ठति। अथास्मात्कारणात् अयं जीवन्मुक्तः सशरीरेऽपि सन्। अशरीरः मर्त्येऽपि अमृतः प्राणः प्राणिति जीवतीति प्राणोजीवन्मुक्तः कथं शरीरेऽनास्थेत्यत आह—ब्रह्मैवेति। तस्मिन् ब्रह्मैव तेजो वर्तते। तस्मिन् पुरुषे ब्रह्मस्वरूपतेजो वर्तते। अतोनान्यत्किमप्यपेक्षते। शरीरे तिष्ठन्नपि ब्रह्मैव समश्नुते। इत्येवमनुशासनं श्रुत्वा सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनकः ॥ ७ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति। अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तोमयैव। तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वा विमुक्ताः ॥ ८ ॥

अनुवाद—इस विषय में ये श्लोक प्रमाण होते हैं। अणु सर्वत्र विस्तीर्ण और पुरातन जो पथ है मुझे वह प्राप्त हुआ है, मैंने ही इसको विचारा है वा प्रचार किया है उस पथ से अन्य ब्रह्मवित् धीर जीवन्मुक्त पुरुष इस शरीरपात के अनन्तर ही स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ ८ ॥

पदार्थ—(तत्+एते+श्लोकाः) उस विषय में ये वक्ष्यमाण श्लोक प्रमाण हैं। यहां कोई मुनि ब्रह्मविद्यारूप मार्ग का वर्णन करते हैं (अणुः+विततः+पुराणः) अतिसूक्ष्म यह मार्ग सर्वत्र फैला हुआ है। किसी को यह शंका न हो कि यह कोई नवीन मार्ग है। अतः कहते हैं

कि पुराण अर्थात् वेदविहित है ऐसा जो (पन्थाः+माम्+स्पृष्टः) ब्रह्मविद्यारूप मार्ग है उसने मुझको स्पर्श किया है अर्थात् वह सूक्ष्म मार्ग मुझे प्राप्त हुआ है तो क्या वह मार्ग स्वयं कृपा करके आप के निकट आगया इस पर कहते हैं—नहीं किन्तु (मया+एव) बड़े परिश्रम से मैंने इसको पीछे विचारा है अर्थात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि अनेक विधि कर्म के अनन्तर मैंने इसको जाना है। क्या इसको अन्य भी कोई जानते हैं या नहीं इस पर कहते हैं—(अपि+ब्रह्मविदः+धीराः+तेन+स्वर्गम्+लोकम्+यान्ति) अन्य ब्रह्मविद् परमात्मविज्ञानी निश्चल पुरुष भी इसी सूक्ष्ममार्ग से सुखमय धामको जाते हैं। कब जाते हैं और क्या इस शरीर के ही साथ जाते हैं इस सन्देह को दूर करने के लिये कहते हैं कि (इतः+ऊर्ध्वाः+विमुक्ताः) इसके अनन्तर अर्थात् इस स्थूलशरीर के छूटने के अनन्तर ही सब बन्धनों से विमुक्त हो स्वर्गलोक को जाते हैं अथवा जीवन्मुक्तजन शरीरपात के अनन्तर इस मार्ग से जाते हैं ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एते श्लोकाः प्रमाणानि भवन्ति। एष पन्थाः। मां स्पृष्टः प्राप्त इत्यन्वयः। कथंभूतः अणु सूक्ष्मो न स्थूलदृष्टिभिर्गम्य इत्यर्थः। विततः सर्वत्र विस्तीर्णो व्याप्तः। पुराणः नित्यवेदप्रकाशितत्वान्मान्य इत्यर्थः। किमीश्वरानुग्रहेण स्वत एव त्वां प्राप्त इत्यत आह—अनुवित्त इति मयैव नान्यैरित्यर्थः। अनुवित्त आचार्य्यानुशासनस्य वेदानाञ्च पौनःपुनिकमननानन्तरं विचारितः प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा पुराणोप्ययं पन्थाः। अस्मिन् युगे मयैव अनुवित्तः निष्ठां प्रापितः। एवेत्ययमन्ययोगव्यवच्छेदार्थो न भवतीत्यभिप्रेत्याऽऽह तेनेति। अन्येपि ये ब्रह्मविदो ब्रह्मज्ञानिनो ब्रह्मविदन्ति जानन्ति ये ते ब्रह्मविदो धीरा निर्द्वन्द्वा साधने निश्चलाः विमुक्ताः जीवन्मुक्ताः सन्ति। ते इतोऽस्माद्देहपातात्। ऊर्ध्वमनन्तरमेव तेन ब्रह्मविद्यामार्गेण। स्वर्गं लोकं परमानन्दस्वरूपमेव लोकम्। यान्ति गच्छन्ति ॥ ८ ॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितञ्च। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

अनुवाद—उस मार्ग के विषय में कोई इस मार्ग को शुक्ल, कोई नील, कोई पिङ्गल, कोई हरित, कोई लोहित कहते हैं। यह पथ ब्रह्मवित् सुप्रसिद्ध ब्राह्मण ने प्रतिष्ठित किया है। ब्रह्मवित्, पुण्यकृत् और तैजस पुरुष इस पथ से परमानन्द को पाते हैं ॥ ९ ॥

पदार्थ—(तस्मिन्+शुक्लम्+आहुः+उत+नीलम्) उस पूर्वोक्त पथ के विषय में कोई यह पथ शुक्ल—अर्थात् शुद्ध है ऐसा कहते हैं अथवा कोई इसको शरदृतु के मेघ के समान नील बतलाते हैं। कोई (पिङ्गलम्+हरितम्+लोहितम्+च) अग्नि की ज्वाला के समान पिङ्गल कहते हैं। कोई वैदूर्य मणि के समान हरित कोई जपाकुसुमतुल्य रक्त कहते हैं (ह+ब्रह्मणा+एषः+पन्थाः+अनुवित्तः) जिसने सब एषणाएं त्याग दी हैं, तत्व विचारे हैं, शास्त्रवेद जान गये हैं, ऐसे ब्रह्मविद् ब्राह्मण नेय ह पथ (अनुवित्तः) बहुत विचार करके पश्चात् निश्चित किया है (ब्रह्मवित्+पुण्यकृत+च+तैजसः+तेन+एति) ब्रह्मवेत्ता पुण्य करनेवाले और तेजस्वी मुनि उस पथ से मोक्ष पाते हैं ॥ ९ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ १० ॥ अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते

प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वांसोऽबुधो जनाः ॥ ११ ॥ आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥ १२ ॥

अनुवाद—वे अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं, जो अविद्या की उपासना करते हैं। उससे भी अधिक तम में वे प्रविष्ट होते हैं जो केवल विद्या में ही रत रहते हैं ॥ १० ॥ जो लोक अज्ञान वा अप्रकाशरूप महा अन्धकार से सदा आवृत रहते हैं वे अनन्द नाम से प्रसिद्ध हैं अर्थात् उसका नाम अनन्द है। जो अविद्वान् और अबोद्धा जन हैं वे मरकर उनको ही प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे मरने के अनन्तर उन्हीं अज्ञानीजनों में वा अन्धकारावृत भुवनों में उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥ मैं यह हूं, इस प्रकार से प्रत्यक्ष करके यदि कोई पुरुष उस परमात्मा को जाने तब पुनः किस वस्तु की कामना के लिये क्या इच्छा करता हुआ शरीर के पीछे स्वयं भी दुःखित होवे ॥ १२ ॥

पदार्थ—वे (अन्धम्+तमः+प्रविशन्ति) अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं (ये+अविद्याम्+उपासते+ ततः+भूयः+इव) जो अविद्या की उपासना करते हैं, उससे भी मानो विद्यायाम् अधिक (तमः+ते+ ये+ह) तम में वे प्रविष्ट होते हैं जो निश्चय (विद्यायाम्+रताः) विद्या में ही रत हैं ॥ १० ॥ लोक—लोक शब्द के अनेक अर्थ हैं (लोकस्तु भुवने जने) भुवन और जन अर्थ में प्रायः इसका अधिक प्रयोग है। जैसे पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक आदि। और मनुष्य अर्थ में भी यह बहुत प्रयुक्त होता है। मनुष्य में भी कोई कोई ऐसे अज्ञानी होते हैं कि वे ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं जानते, अभी तक कोल, भील और ऐफ्रिकानिवासी पशुओं के समान ही हैं। सभ्यदेश में भी विद्वान् के गृह में कोई कोई बड़े मूर्ख उत्पन्न होते हैं यह प्रत्यक्ष ही है। बहुत से स्थान ऐसे हैं जहां सूर्य्य की किरण अथवा सूर्य्य की उष्णता भी नहीं पहुंच सकती है, अति गभीर समुद्र के तले उष्णता नहीं पहुंचती है। अन्य भी ऐसे बहुत स्थान होंगे इस हेतु दोनों अर्थ यहां होसकते हैं (लोकाः+अन्धेन+तमसा+ आवृताः) जो जन=मनुष्य अथवा स्थान अन्धा बनानेवाले अज्ञातरूप वा अप्रकाशरूप तम से ढके हुए हैं (ते+अनन्दाः+नाम) वे लोक अनन्द=आनन्दरहित कहलाते हैं। (अविद्वांसः) जो अज्ञानी हैं। केवल सामान्य अज्ञानी नहीं किन्तु (अबुधः+जनाः+ते+प्रेत्य+तान्+अभिगच्छन्ति) जो कुछ नहीं समझ सकते हैं ऐसे जो मनुष्य हैं वे अज्ञानी मनुष्य मर करके उनको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् उन्हीं अन्धकारावृत मनुष्यों में अथवा स्थानों में जन्म लेते हैं ॥ ११ ॥ (अयम्+अस्मि+इति) यह मैं हूं अर्थात् प्रायः अज्ञानी से अज्ञानी पुरुष भी यह समझता है कि मैं गौर, मैं कृष्ण, मैं ग़रीब, मैं रोगी, मैं विद्वान् हूं इत्यादि। यहां यह उदाहरण इसलिये कहा गया है कि प्रायः सब कोई अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से जानता है। सो जिस प्रकार अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष जानता है कि मैं यह हूं इसी प्रकार से अर्थात् प्रत्यक्षतया (चेत्+पुरुषः+आत्मानम्+विजानीयात्) यदि कोई पुरुष उस परमात्मा को जानलेवे। तब वह कदापि भी शरीर पाकर दुःख नहीं पाता है इसको आगे कहते हैं—तब वह परमात्मवित्पुरुष (किम्+इच्छन्+कस्य+शरीरम्+अनुसञ्ज्वरेत्) क्या इच्छा करता हुआ किस पदार्थ की कामना के लिये शरीर के पीछे दुःखित होवे। अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के अनन्तर पुरुष को कोई भी इच्छा नहीं रहती। जब कोई इच्छा ही नहीं तब पुनः किस कामना के लिये शरीर को धारण करेगा क्योंकि इच्छा की पूर्ति के लिये ही शरीर धारण है ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अन्धमिति। प्रशस्तविद्यामार्गप्रवृत्त्यर्थमज्ञानादि निन्दति। अन्धयत्यन्ध- मवरोधात्मकं भयजनकम्। तमः तमउपलक्षितां तमःप्रधानानां वृक्षादियोनिं ते प्रविशन्ति

प्रपद्यन्ते। सर्वदैव अज्ञानप्रधानयोनिमाश्रित्य तिष्ठन्तीत्यर्थः। के? ये अविद्यामुपासते। ज्ञानोपार्जनकेवलसाधनीभूतां मनुष्ययोनिं प्राप्यापि ये सद्विद्यां नोपासते। अज्ञानतामेव वहु मन्यन्ते ज्ञानोपार्जनेन किं सेत्स्यन्तीति वदन्तः। ननु विद्यावन्तोपि केचिदज्ञानिनइव निष्क्रिया निस्तब्धा अभिमानिनो दृश्यन्ते। तर्हि किं विद्यया अतईदृशं विद्यावन्तमपि निन्दन्ति। ते ततस्तस्माद्‌विद्यावतोपि। भूय इवाधिकमिव तमः प्रविशन्ति। के? ये उत विद्यायां रताः। ज्ञानं प्राप्यापि लोभाद्वा देशाचारभयाद्वा आलस्याद्वान्यस्मात्कारणाद्वा तदनुकूलं नानुतिष्ठन्ति। यद्वा विद्यायामेव रता न कर्म्मणीत्यर्थः। यथा नवीना वेदान्तिनो ज्ञाने वर्तमाना अपि न कांचित् शुभामपि क्रियामनुतिष्ठन्ति अहं ब्रह्मास्मीति वन्दतः। ते तु अन्धतामसीं योनिं प्रविशन्ति। यस्या आमहाकल्पान्नोद्धारः। अतो नाज्ञानिभिर्भाव्यं न च विद्याभिमानिभिर्भूत्वा कर्म्म त्याज्यम् ॥ १० ॥ लोकस्तु भुवने जने। मनुष्येष्वपि सन्त्यनेके पशुसमानाः। कोला भीला आफ्रिकानिवासिनश्चेदानीमपि नेश्वरं किमपि जानन्ति। सभ्ये समाजे गृहे चापि जडमतयः सर्वथा विवेकशून्यमनसश्च वहवो दृश्यन्ते। ते नूनमज्ञानान्धतमसैरावृत्ताः सन्ति। कतिचित्समुद्रा ईदृशा गभीराः सन्ति येषां तलं रवेः किरणा उष्णताश्चापि न प्राप्नुवन्ति। तत्रापि श्रूयते जीवनिकायोद्भावः। सूर्यस्य प्रकाशेन रहितानि भुवनान्यपि महामहाश्चर्यान्वितायां जगत्यां भवितुमर्हन्ति परः शतानि। अतो लोकशब्देन द्वयमपि ग्राह्यं भुवनं जनश्चेति। अथमन्त्रार्थः। ये लोका जना भुवनानि वा। अन्धेनान्धकारिणा। तमसा अज्ञानस्वरूपेण। अप्रकाशस्वरूपेण वा आवृता आच्छादिताः सन्ति। ते लोका लोके वेदे च अनन्दा नाम प्रसिद्धाः। नन्द आनन्दो न विद्यते नन्दो येषां ते अनन्दा आनन्दरहिता इत्यर्थः। एतद्वर्णनप्रयोजनमाह—ये जना अविद्वांसो न केवलं सामान्यतोऽविद्वांसः किन्तु अवुधः अवोद्धारः सन्ति न वुध्यन्त इत्यवुधः ते प्रेत्य मृत्वा। तानुक्तान् लोकान्। अभिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति अन्धतमसाऽऽवृतेषु जनेषु भुवनेषु वा भूयो भूय उद्भवन्ति। हे जना विद्वांसो वोद्धारश्च भवतेत्युपदिशति ॥ ११ ॥ आत्मानमिति—अज्ञानितरोपि—अहं गौरोस्मि, अहं कृष्णोस्मि, अहम् किञ्चनोस्मि, अहं रुग्णः, अहं सुखी, अहं विद्वानित्यपरोक्षतयावैत्ति। अतः श्रुतिः स्वानुभवविषयीभूतवस्तुद्वारेण वोधयितुं प्रवर्तते। तथाहि अयमस्मि अहं गौरोस्म्यहं कृष्णोस्मीति प्रत्यक्षप्रत्ययवत्। यः कश्चित्पुरुषः पुरुषः। आत्मानं परमात्मानं निग्रहानुग्रहसमर्थमानन्दराशिं ब्रह्म विजानीयाच्चेत्तर्हि न पुनरपि वितते प्रकृतिपाशे पतेत्। एतदेवाह—अपरोक्षतयाऽखिलाधारस्य ब्रह्मणो विज्ञानानन्तरम्। कस्यापूर्वस्य पदार्थस्य कामाय लाभाय ज्ञाते ब्रह्मणि अपूर्वपदार्थाभावात्। किमिच्छन्। किमदृष्टं किमश्रुतं किमघ्रातं किमस्वादितम् किमस्पृष्टं किमभीष्टं वस्तु इच्छन् कामयमानः सन् शरीरमनुसञ्ज्वरेत्। शरीरतापमनुतप्येत ॥ १२ ॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्सन्देघे गहने प्रविष्टः। स विश्वकृत्स हि सर्व्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उलोक एव ॥ १३ ॥ इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः। ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥ १४ ॥

अनुवाद—जिस साधक का जीवात्मा विचारवान् और प्रतिबुद्ध परमज्ञानी हो गया है जो आत्मा इस गहन शरीर में प्रविष्ट है। वह साधक विश्वकृत् बहुत कुछ कर सकता है क्योंकि वह सब पदार्थ का कर्त्ता है इसी का लोक है। वह लोकस्वरूप ही है ॥१३॥ यदि हम लोग यहां हीं रहते हुए इसको जानते हैं तो हमारी कृतकृत्यता है। यदि नहीं जानते तो बड़ी हानि है क्योंकि जो उसको जानते हैं वे अमृतरूप होते हैं अन्य पुरुष दुःख को ही पाते हैं ॥ १४ ॥

पदार्थ—इस श्लोक से परमात्मज्ञानी की परम प्रशंसा करते हैं। इसको संस्कृत में अर्थवाद कहते हैं (यस्य+आत्मा) जिस साधक का जीवात्मा (अनुवित्तः+प्रतिबुद्धः) बहुत श्रवण मनन निदिध्यासनादि व्यापार के पीछे परमविचारवान् हुआ है और प्रत्येक पदार्थ का ज्ञानी अथवा परमात्मा के प्रति जो बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञता को प्राप्त किया है। जो आत्मा (अस्मिन्+गहने) इस कठिन (सन्देघे) देह में प्रविष्ट है (सः+विश्वकृत्) वह सब कार्य कर सकता है (हि+सः+सर्वस्यकर्त्ता) क्योंकि वह सब का कर्त्ता है (तस्य) उसी का लोक है (सः+उ+लोकः+एव) वही लोक ही है यह निश्चय है ॥१३॥ मुनि कहते हैं यदि (वयम्+इह+एव) हम लोग इसी शरीर इसी मनुष्य लोक में (सन्तः+ अथ+तद्+विद्मः) रहते हुए किसी प्रकार से उस ब्रह्म को जानते हैं तो ठीक है (न+चेत्) यदि यहां रहकर नहीं जानते (अवेदिः) तब हम लोग अज्ञानी रहेंगे तब इससे (महती) बड़ी (विनष्टिः) हानि होगी क्योंकि शास्त्र की यह मर्यादा है कि (ये+तत्+विदुः) जो इस परमात्मा को जानते हैं (ते+अमृता+भवन्ति) वे अमर होते हैं (अथ+इतरे+दुःखम्+एव+अपि+यन्ति) और जो लोग नहीं जानते हैं वे दुःख को पाते हैं ॥ १४ ॥

भाष्यम्—यस्येति । अनेन श्लोकेन परमात्मविदं बहुतरं प्रशंसति । जनानां प्रवृत्त्यर्थमर्थवादः प्रक्षिप्यते। यस्य साधकस्य आत्मा जीवात्मा अनुवित्तोस्ति श्रवणमनन-निदिध्यासनादिकर्मयोगसाधनं कृत्वा अनुपश्चात् । वित्तोविचारवान् संवृत्तः। पुनः प्रतिबुद्धः। प्रत्येकसूक्ष्मातिसूक्ष्मतरपदार्थस्य ज्ञानी। यद्वा परमात्मानं प्रति बुद्धः सर्वज्ञतां प्राप्तः परमात्मयोगेन सर्वज्ञो जात इत्यर्थः। कः आत्मा ? यः अस्मिन् सन्देघे शरीरे प्रविष्टः संदिह्यते तेजोवन्नादिभिर्भूतैरुपचीयते यः सन्देघोदेहः। घकारश्छान्दसः। किंभूते संदेघे। गहने आध्यात्मिकाद्यनेकार्थसंकीर्णत्वाद् दुर्विज्ञेये । एतेन स्थूलदेहोपाधिविशिष्टः सन्नेवात्मा अनुवित्तः प्रतिबुद्धो भवति न सूक्ष्मशरीरविशिष्टः इति सूचितः । फलमाह—स इति। सः विश्वं सर्वं करोतीति विश्वकृत् प्रायः स जगद्रचनावर्जं सर्वं कर्तुं समर्थः। हि यतः स लोकेऽपि सर्वस्य कर्त्ता दृश्यते। यथा कपिलादयः। तस्य सर्वो लोकः तस्यैव सर्वो लोको वश्यो भवति। स उ लोक एव। स तु सर्वलोकस्वरूप एव। अयं निजः परोवेति भेदज्ञानविपर्यस्तत्वात्तु स्वात्मवत्सर्वं पश्यति। इतरे च स्वभिन्नतया तं पश्यन्ति। अत्र परमहंसो निदर्शनम्। इदानीन्तनेपि समये यत्रैव परमहंसो व्रजति। तत्रैवाभिन्नता दृष्टा। शिशवोपि तत्रसानन्दं क्रीडन्ति। विद्वांसो मीमांसन्ते। स्त्रियो न त्रपन्ते। न च कामिनीं दृष्ट्वा स स्वयं विकुरुते। आत्मवदेव सर्वस्तं पश्यति स सर्वम्। अहो आत्मज्ञानिनां चरितम् ॥ १३ ॥ इहेति—मनुष्ययोनिरेव विद्यासाधिनी। येन प्राप्येमां साधीयसी विद्या साधिता तस्य माङ्गल्यस्य नावधिरित्यनुक्रोशाद्वात्सल्याच्च शिक्षते श्रुतिः। इहैव शरीरे सन्तो वर्त्तमानाः कामादिरहिता भूत्वा वयम्। यदि परमात्मानमथ कथंचिद्विद्मो जानीमस्तर्ह्यस्माकं कृतकृत्यता स्यात् । न चेद्वेदितवन्तः ।

तर्ह्यस्माकम् । महती अनन्तपरिमाणा जन्ममरणलक्षणाविनष्टिर्विनाशः स्यात् । न पूर्वोक्ता-दन्धनमसादुद्धार आप्रलयात् । विनष्टौ हेतुमाह—अवेदिः । वेदनं वेदः सोऽस्यास्तीति वेदिर्वेद्यव वेदिर्नवेदिरवेदी । अज्ञानी विद्याया अभावादर्थादहमज्ञानी भविष्यामि । अत्र जातावेकवचनम् । वयं सर्वे अज्ञानिनो भविष्यामः । तस्य फलं ध्रुवा महती विनष्टिः । शास्त्रस्य त्वैष नियमः—ये तद्ब्रह्मविदुः ते अमृता भवन्ति । अथ पुनर्ये न विदन्ति । ते इतरे अज्ञानिनः दुःखमेव क्लेशमेव अपि यन्ति प्रपद्यन्ते ॥ १४ ॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ १५ ॥ यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते । तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—जब साधक साधन के पश्चात् इस आत्मदेव को देखता है जो भूत भविष्यत् का अनुशासन करनेवाला है । तब वह उस कारण से किसी की निन्दा नहीं करता है ॥ १५ ॥ दिन और रात्रियों के साथ यह संवत्सरकाल जिसके पीछे ही घूम रहा है । जो ज्योतियों का भी ज्योति आयु और अमृत है उसकी उपासना विद्वान्गण करते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—(यदा+अनु+अञ्जसा) जब आचार्य्य के उपदेश के अनुसार अनुष्ठान के पश्चात् साधक साक्षात् (एतम्+आत्मानम्+देवम्) इस परमात्मदेव को (पश्यति+ततः+न+विजुगुप्सते) देखता है वा जान लेता है तब इस आत्मा के साक्षात्कार के कारण किसी जीव से घृणा नहीं करता वा किसी जीव की निन्दा नहीं करता है ॥ १५ ॥ यहां यह शङ्का होती है कि ईश्वर के पहले काल था तो तब ईश्वर उस काल का स्वामी कैसे होसकता है इस पर कहते हैं (अहोभिः+संवत्सरः) दिनों के साथ अर्थात् रात दिन अपने अवयवों से उपलक्षित संवत्सररूप काल (यस्मात्+अर्वाक्+परिवर्त्तते) जिस परमात्मा के पीछे ही घूमता है । (ज्योतिषाम्+ज्योतिः+आयुः+अमृतम्+ह+तत्+देवाः+उपासते) सूर्य्य अग्नि विद्युत् आदि ज्योतियों का भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक है और सम्पूर्ण जगत् का आयु देनेवाला भी वही है और अमर=मरण धर्मरहित है, निश्चय उसी परमात्मा की विद्वान्गण उपासना करते हैं ॥ १६ ॥

भाष्यम्—यदेति । यदा साधनात्परिपक्वमतिः सन् । अनु पश्चात् भूतभव्यस्य कालत्रयस्य । ईशानं स्वामिनम् । देवं द्योतनात्मकम् । आत्मानं परमात्मानम् । अञ्जसासाक्षात् पश्यति जानाति । ततस्तदा परमात्मदर्शनभासितज्ञानात् । न विजुगुप्सते नेमं पन्थानं विद्याचार्यं निन्दति ॥ १५ ॥ यदिति अत्र शङ्कन्ते प्रागीश्वरात्कालस्य विद्यमानत्वात् कथमीश्वरस्तस्य शासितेत्यत उत्तरं पठति । अयं संवत्सरः । अहोभिरहोरात्रावयवैरुपलक्षितः सन् । यस्मादीश्वरात् अर्वाक् पश्चादेव । परिवर्त्तते भ्राम्यति । न तमपि परिच्छिन्नन्तीत्यर्थः । दिग्देशकालानवच्छिन्नत्वादीश्वरस्य । तथा च योगसूत्रं "स हि पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।" तद्ब्रह्म देवाविद्वांसः उपासते । कथंभूतम् ज्योतिषामादित्यादीनामपि । ज्योतिः प्रकाशम् । आयुः । जीवाः सूर्य्यादायुः प्राप्नुवन्तीति प्रवादनिरसनाय आयुरिति विशेषणम् । ब्रह्मैवायुःप्रदमपि । अमृतम् अमृतप्रदम् । अतः सर्वथैवोपासनीयमित्यर्थः ॥ १६ ॥

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥१७॥ प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८ ॥

अनुवाद—जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित है उसी को परमात्मा समझता हूं मैं विद्वान् उसी को ब्रह्म मानता हूं । मैं अमृत उसी को अमृत मानता हूं ॥ १७ ॥ जो साधक प्राण के प्राण को, चक्षु के चक्षु को, श्रोत्र के श्रोत्र को और मन के मन को जानते हैं उन्होंने ही पुराण और अग्र्य ब्रह्म को निश्चितरूप से जाना है ॥ १८ ॥

पदार्थ—(यस्मिन्+पञ्च+पञ्चजनाः+पञ्च+पञ्चजनाः+आकाशः+च) जिस परमात्मा में पञ्च प्रकार के मनुष्य अर्थात् गन्धर्व पितर देव असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और पञ्चम निषाद अथवा पांच पञ्चजन नामक अर्थात् ज्योति प्राण चक्षु श्रोत्र और मन और आकाश (प्रतिष्ठितः+तमेव+आत्मानम्+मन्ये+अमृतः+अमृतम्) प्रतिष्ठित हैं उसी को मैं परमात्मा मानता हूं अमर मैं उसी को अमर मानता हूं ॥ १७ ॥ जो जीवात्मा (प्राणस्य+प्राणम्+चक्षुषः+चक्षु+उत) प्राण का भी प्राण और चक्षु का भी चक्षु और (श्रोत्रस्य+श्रोत्रम्) श्रोत्र का भी श्रोत्र (मनसः+मनः+ये+विदुः+ते+पुराणम्+अग्र्यम्+ब्रह्म+निचिक्युः) और मन का भी मन है ऐसे जीवात्मा को अनुमान के द्वारा जो जानते हैं उन्होंने ही पुराण सर्वश्रेष्ठ वा सब के प्रथम परमात्मा को निश्चय किया है । इसमें सन्देह नहीं ॥ १८ ॥

भाष्यम्—यस्मिन्निति अत्र निरुक्तं पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् इति मन्त्रप्रतीकमुपक्रम्याहयास्को गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति । अमरकोशस्तु मनुष्यपर्यायेषु पञ्चजनशब्दं पठति "मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः । स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पुरुषा नरः" ॥१॥ सप्त सप्तर्षयोद्वामाश्विनौ अष्टौ वसव इत्यादिवत्प्रयोगो ज्ञातव्यो यद्वा षोडश श्लोकोक्तं ज्योतिर्वक्ष्यमाणाष्टादश श्लोकोक्तप्राणचक्षुः श्रोत्रमनांसि इमानि पञ्चवस्तूनि ग्राह्याणि । अथ श्लोकार्थः—यस्मिन् परमात्मनि । पञ्च पञ्चसंख्याकाः पञ्चजनाः मनुष्या उक्त गन्धर्वादयो यद्वा ज्योतिरादयः । पञ्चजनाः पञ्चजनसंज्ञकाः । प्रतिष्ठिताः । आकाशश्चाव्याकृताख्यः सूत्राधारभूतः प्रतिष्ठितः । तमेवात्मानं ब्रह्मामृतम् । विद्वानमृतो जीवात्माऽहं मन्ये स्वीकरोमि नान्यदित्यर्थः ॥ १७ ॥ ये साधकाः प्राणस्य प्राणं प्राणदम् । उतचक्षुषश्चक्षुर्दर्शनशक्तिप्रदम् । एवं श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन ईदृशं जीवात्मानं ये विदुस्त एव पुराणं चिरन्तनमग्र्यमग्रे भवम् । ब्रह्म निश्चिक्युः निश्चयेन ज्ञातवन्तः । ये प्रथमं जीवात्मानं विदन्ति त एव पश्चात् परमात्मानं निश्चिन्वन्ति ॥ १८ ॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १९ ॥

अनुवाद—वह ब्रह्म मन से ही दर्शनीय है उसमें किञ्चित् भी अनेकत्व नहीं जो इसमें अनेकत्व सा देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को पाता रहता है ॥ १९ ॥

पदार्थ—अब ब्रह्मदर्शन का साधन कहते हैं (अनु) पश्चात् अर्थात् आचार्य्य की शिक्षा के अनुसार श्रवण मनन और निदिध्यासन आदि व्यापार के पश्चात् (मनसा+एव+द्रष्टव्यम्+इह+किञ्चन+नाना+न+अस्ति) एकाग्र शुद्ध वशीकृत मन से ही अन्य इन्द्रियों से नहीं वह दर्शनीय है इस द्रष्टव्य ब्रह्म में कुछ भी अनेकत्व भेद नहीं है अर्थात् अनेक ब्रह्म नहीं एक ही है जैसे कोई अज्ञानी सूर्यादिकों को वा इस संसार को भी ब्रह्म मानते हैं कोई उसी शुद्ध ब्रह्म को अनेक भेद करके विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, जीव मानते हैं कोई ब्रह्मा विष्णु महेश के भेद से तीन ब्रह्मों को मानते हैं, इस प्रकार के ब्रह्मविषय में जो अनेक प्रवाद हैं उन सबों के खण्डन के लिये "नेह नानास्ति किञ्चन" कहा है। आगे नानात्व देखनेवाले की निन्दा करते हैं (यः) जो अज्ञानी (इह+नाना+एव+पश्यति+सः+मृत्योः+मृत्युम्+प्राप्नोति) इस ब्रह्म में अनेकत्वसा देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को पाता है अर्थात् मरण से मरण को पाता ही है। इस हेतु ब्रह्म को एक जान उसकी उपासना करे ॥ १९ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मदर्शनसाधनं ब्रूते। श्रवणमनननिदिध्यासनादिव्यापारेभ्योऽनुपश्चादेकाग्रेण संशोधितेन वशीकृतेन मनसैव नान्यैरिन्द्रियैरित्यर्थः। ब्रह्मद्रष्टव्यम्। इह ब्रह्मैव दर्शनीयं वस्तु। इह द्रष्टव्ये ब्रह्मणि। किञ्चन किञ्चिदपि नानाऽनेकत्वं नास्ति नहि ब्रह्मणो नानात्वम्। यथा केचिदादित्यादि ब्रह्म मन्यन्ते। यद्वा त्रिधा ब्रह्म मन्यन्ते इत्याद्यनेकब्रह्मप्रवादप्रत्याख्यानाय नेह नानास्ति किञ्चनेत्युक्तम्। दृढीकरणाय नानात्वदर्शिनं निन्दति। योऽज्ञानी इह ब्रह्मणि नानेवानेकत्वमिव पश्यति स मृत्योर्मृत्युर्मरणान्मरणम् प्राप्नोति। स सर्वदैव मृत्युमुखं प्रविष्टः सन्नेव वर्तते। अत एकं ब्रह्म विदित्वा सदोपासनीयमित्यर्थः॥१९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥ २० ॥ तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तदिति ॥ २१ ॥

अनुवाद—वह ब्रह्म एक ही प्रकार से द्रष्टव्य अप्रमेय और ध्रुव है। यह आत्मा विरज आकाश से पर अज, महान् और ध्रुव है ॥ २० ॥ धीर ब्राह्मण उसको अच्छे प्रकार जान बुद्धि को मोक्षसम्पादिका बनावें। बहुत शब्दों की चिन्ता न करें क्योंकि वह वाणी का ग्लानिकारकमात्र है ॥२१॥

पदार्थ—(अनुएकधा+एव+द्रष्टव्यम्) क्रमशः श्रवण, मनन, निदिध्यासन कर तत्पश्चात् एक प्रकार से ही वह ब्रह्म द्रष्टव्य है (एतद्+अप्रमेयम्+ध्रुवम्) यह ब्रह्म अप्रमेय और ध्रुव=नित्यकूटस्थ है (आत्मा+विरजः+आकाशात्+परः+अजः+महान्+ध्रुवः) वह परमात्मा विरज=रजोगुण रहित और आकाश से भी परे और भिन्न है अतएव अजन्मा महान् और ध्रुव=अविनाशी है ॥ २० ॥ (धीरः+ब्राह्मणः+तम्+एव+विज्ञाय+प्रज्ञाम्+कुर्वीत) धीर ब्रह्मजिज्ञासुजन उसी को विशेषरूप से जान प्रज्ञा=मति को मोक्षसम्पादिका बनावें। आगे व्यर्थ निष्प्रयोजन ग्रन्थों के अध्ययन में दोष कहते हैं (बहून्+शब्दान्+न+अनुध्यायात्) इस कार्य्य के लिये व्यर्थ बहुत शब्दों की चिन्ता न करें (हि+तत्+वाचः+विग्लापनम्+इति) क्योंकि वह व्यर्थ चिन्तन केवल वाणी का श्रमकारकमात्र है ॥ २१ ॥

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण

एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं देवानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्त्येतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमुहैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥ २२ ॥

पदार्थ—(वै+सः+एषः आत्मा+महान्+अजः) निश्चय सो यह परम आत्मा महान् और अज है (यः+अयम् विज्ञानमयः+प्राणेषु) जो यह विज्ञानमय सब प्राणों में विराजमान हो रहा है (यः+एषः+अन्तर्हृदयः+आकाशः तस्मिन्+शेते) जो यह हृदय के बीच आकाश है उसमें यह व्यापक है । केवल इसी में नहीं किन्तु (सर्वस्य+वशी+सर्वस्य+ईशानः+सर्वस्य+अधिपतिः) सब को अपने वश में रखनेहारा सब का शासन करनेहारा और सब का अधिपति है (सः+साधुना+कर्म्मणा+न+भूयान्) वह शुभ कर्म्म से न अधिक (असाधुना+न+एव+कनीयान्) और न अशुभ से छोटा होता है (एष+सर्वेश्वरः+एषः+भूताधिपतिः+एष+भूतपालः+एष+सेतुः) यह सर्वेश्वर यह भूताधिपति यह भूतपाल यह सेतु (एषाम्+लोकानाम्+असंभेदाय+विधरणः) और यह इन भूर्भुवर्लोकादि का विनाश न हो अतः इनका धारण करनेहारा है (तम्+एतम्+ब्राह्मणाः+वेदानुवचनेन+विविदिषन्ति) उस इस परमात्मा को वेदों के अनुवचन=विज्ञान से जानना चाहते हैं । तथा (यज्ञेन+दानेन+तपसा+अनाशकेन+एतम्+एव+विदित्वा+मुनिः+भवति) यज्ञ दान तप और अनशनव्रत अल्प भोजन से इसी को जान मुनि होता है (लोकम्+इच्छन्तः+प्रव्राजिनः+एतम्+एव+प्रव्रजन्ति) ब्रह्मलोक की इच्छा करते हुए संन्यासिगण इसी के समीप पहुंचते हैं वा इसी उद्देश्य से ये सर्व त्याग करते हैं (एतत्+ह+स्म+वै+तत्) इसी संन्यास के कारण (पूर्वे+विद्वांसः+प्रजाम्+न+कामयन्ते) पूर्व समय के विद्वान् प्रजा—संतति और धनादिक नहीं चाहते थे कि (किं+प्रजया+करिष्यामः+येषाम्+नः+अयम्+आत्मा+अयम्+लोकः+इति) प्रजा से क्या करेंगे जिन हम लोगों का सहायक यह आत्मा है और यह दृश्यमान सम्पूर्ण लोक है (ते+ह+पुत्रैषणायाः+च+वित्तैषणायाः+लोकैषणायाः+च+व्युत्थाय+अथ+भिक्षाचर्यम्+चरन्ति+स्म) इसी कारण वे संन्यासी, पुत्रकामना, वित्तकामना और लोक कामना से विरुद्ध हो केवल प्राणयात्रार्थ भिक्षा किया करते थे (या+हि+एव+पुत्रैषणा+सा+वित्तैषणा+या+वित्तैषणा+सा+लोकैषणा+उभे+हि+एते+एषणे+एव+भवतः) जो ही पुत्रकामना है वही वित्तकामना है और जो ही वित्तकामना है वही लोक कामना है । ये दोनों ही कामनाएं होती हैं । यह पूर्व में भी आचुका है । (सः+एषः+आत्मा+नेति+नेति) सो यह परमात्मा नेति नेति शब्द से आदिष्ट होता है (अगृह्यः+न+गृह्यते+अशीर्यः+नहि+शीर्य्यते+असङ्गः+नहि+सज्यते+असितः+न+व्यथते+न+रिष्यति) वह अगृह्य है यह पकड़ा नहीं जाता अहिंसनीय है मारा नहीं जाता । असङ्ग है किसी में आसक्त नहीं होता । बन्धन रहित है व्यथित नहीं होता और न कदापि विनष्ट होता और न इसको पाप पुण्य लगते हैं सो आगे कहते हैं—(पापम्+अकरवम्+इति+अतः+कल्याणम्+अकरवम्+इति+अतः) मैंने पाप किया है अतः दुःख भोगूंगा, मैंने कल्याण

किया है अतः सुख भोगूंगा (एते+ह+एव+न+तरतः) ये दोनों सन्ताप और हर्ष इसको न तैरते=प्राप्त नहीं होते किन्तु (उभे+उ+एते+एषः+एव+तरति) इन दोनों को यही आत्मा तैर जाता है । अर्थात् (कृताकृते+एनम्+न+तपतः) कर्म्म और अकर्म्म इसको नहीं तपाते ॥ २२ ॥

तदेतदृचाभ्युक्तमेषनित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्म्मणा नो कनीयान् तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेनेति तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजो विचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि माञ्चापि सह दास्यायेति ॥ २३ ॥

पदार्थ—(तत्+एतत्+ऋचा+अभ्युक्तम्) पुनः निष्काम ब्रह्मवित् की प्रशंसा करते हैं । पूर्व में जिस संन्यासी का जैसा वर्णन होचुका है ऋचा के द्वारा भी वैसा ही प्रकाशित है । वह यह है—(ब्राह्मणस्य+एषः+महिमा+नित्यः) ब्रह्मवित्पुरुष का यह पूर्वोक्त महिमा=नित्य स्वाभाविक है (न+कर्म्मणा+वर्धते+नो+कनीयान्) वह महिमा न कर्म्म से बढ़ता और न अल्प ही होता (तस्य+एव+पदवित्+स्यात्) उसी महिमा के मार्गवेत्ता मनुष्य हो (तम्+विदित्वा+पापकेन+कर्म्मणा+न+लिप्यते+इति) उसको जान पापकर्म्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् वह ज्ञानी पापकर्म्म में आसक्त नहीं होता, इति शब्द ऋचासमाप्तिद्योतक है (तस्मात्+एवंवित्+शान्तः+दान्तः+उपरतः+तितिक्षुः+समाहितः+भूत्वा+आत्मनि+एव+आत्मानम्+पश्यति) इसलिये ऐसा ज्ञाता पुरुष शान्त दान्त उपरत तितिक्षु और समाहित होके आत्मा में ही आत्मा को देखता है (सर्वम्+आत्मानम्+पश्यति) सब को आत्मतुल्य ही देखता (न+एनम्+पाप्मा+तरति) इसको पाप नहीं तैरता=प्राप्त नहीं होता (सर्वम्+पाप्मानम्+तरति) यह साधक ही सब पाप को तैर जाता है (नैनम्+पाप्मा+तपति+सर्वम्+पाप्मानम्+तपति) इसको पाप तपाता नहीं किन्तु यही पाप को तपाता है (विपापः+विरजः+अविचिकित्सः+ब्राह्मणः+भवति) वह पापरहित, रजोगुणरहित और संशयरहित ब्राह्मण होता है (एषः+ब्रह्मलोकः+सम्राट्+एनम्+प्रापितः+असि) यह ब्रह्मलोक=ब्रह्मवित् पुरुषों का लोक है । हे सम्राट् ! यहांतक आप पहुंचाये गये हैं इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा, यह सुन राजा जनक कहते हैं कि (सः+अहम्+भगवते+विदेहान्+ददामि+माम्+सह+दास्याय+इति) हे परमगुरो ! सो मैं आपको सम्पूर्ण विदेह राज्य देता हूं और सेवा के लिये मैं अपने को भी समर्पित करता हूं ॥ २३ ॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥ २४ ॥ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥ २५ ॥

अनुवाद—निश्चय सो यह महान्, अजन्मा परमात्मा ही अन्न का संहर्त्ता और धनदाता है । जो ऐसा जानता है वह धन पाता है ॥ २४ ॥ सो यह महान् अज परमात्मा अजर, अमर, अमृत, अभय और महान् से महान् है । निश्चय अभय ही ब्रह्म है । जो ऐसा जानता है वह अभय ब्रह्म को ही पाता है ॥ २५ ॥

पदार्थ—(सः+वै+एषः+आत्मा+महान्+अजः) सो यह परमात्मा निश्चय महान् और अजन्मा है (अन्नादः+वसुदानः) अन्न का संहर्त्ता और धनदाता है (यः+एवम्+वेद+वसु+विन्दते) जो ऐसा जानता है वह धन पाता है। अन्नादः अन्नस्य अदः=अन्नभोक्ता, यद्वा अन्नस्य आत्ता=अन्न का संहारकर्त्ता, यद्वा अन्नमासमन्ताद्ददातीत्यन्नादः=जो अन्न को अच्छे प्रकार देवे ॥ २४ ॥ (स+वै+अजरः+अमरः+अमृतः+अभयः) सो यह परमात्मा महान्, अज, अजर, अमृत और अभय है (अभयम्+वै+ब्रह्म०) ब्रह्म अभय ही है निश्चय अभय ब्रह्म ही है (यः+एवम्+वेद+ब्रह्म+भवति) जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म को प्राप्त करता। भू=प्राप्ती अर्थ में भी भू धातु आता है ॥ २५ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥ १ ॥ मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ २ ॥

पदार्थ—यह चतुर्थ अध्याय का पञ्चम ब्राह्मण द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के समान है अतः इसकी सम्पूर्ण व्याख्या नहीं कीजायगी, जहां विशेष है, वहां वहां अर्थ किया जाता है—(अथ+याज्ञवल्क्यस्य+द्वे+भार्य्ये+बभूवतुः+मैत्रेयी+च+कात्यायनी+च) याज्ञवल्क्य की दो भार्य्याएं थीं एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी (तयोः+ह+मैत्रेयी+ब्रह्मवादिनी+बभूव+स्त्रीप्रज्ञा+एव+तर्हि+कात्यायनी) इन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी स्त्रीप्रज्ञा अर्थात् स्त्रियों को उचित बुद्धि जितनी होनी चाहिये उतनी बुद्धिवाली थी (अथ+ह+याज्ञवल्क्यः+अन्यत्+वृत्तम्+उपाकरिष्यन्) जब याज्ञवल्क्य गार्हस्थ्य वृत्ति को त्याग संन्यास वृत्ति को धारण करनेवाले थे तब ॥ १ ॥ (मैत्रेयी+इति+ह+उवाच+याज्ञवल्क्यः) मैत्रेयी को बुला याज्ञवल्क्य ने कहा कि हे प्रिये मैत्रेयी ! (अरे+अहम्+अस्मात्+स्थानात्+प्रव्रजिष्यन्+वै+अस्मि) अरे ! मैं इस गृहरूप स्थान से परिव्राट् होने के लिये प्रव्रजन=प्रस्थान, गमन करनेहारा हूं (हन्त+अनया+कात्यायन्या+ते+अन्तम्+करवाणि+इति) हन्त=यदि आप दोनों की आज्ञा हो तो इन कात्यायनी के साथ आपका अन्त=विच्छेद अर्थात् धनविभाग करके पृथक् करदूं तब मैं यहां से प्रस्थान करूं ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्व्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यांन्वहं तेनामृताऽऽहो३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ ३ ॥ सा

होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥ ४ ॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ५ ॥ स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति, न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति, न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्व्वस्य कामाय सर्व्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्व्वं विदितम् ॥ ६ ॥ * ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्व्वं यदयमात्मा ॥ ७ ॥ स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ८ ॥ स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥ ९ ॥ स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥१०॥ स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं

* टिप्पणी—पृष्ठ २११ से लेकर आगे तक इन सब का अर्थ देखो ।

विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयश्च लोकः परश्चलोकः सर्व्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्व्वाणि निश्वसितानि ॥ ११ ॥ स यथा सर्व्वासामपां समुद्र एकायनमेवं सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेवं सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवं सर्वेषां रसानां जिह्वैकायनमेवं सर्वेषां रूपाणां चक्षुरेकायनमेवं सर्वेषां शब्दानां श्रोत्रमेकायनमेवं सर्वेषां सङ्कल्पानां मन एकायनमेवं सर्व्वासां विद्यानां हृदयमेकायनमेवं सर्वेषां कर्म्मणां हस्तावेकायनमेवं सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवं सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवं सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥ १२ ॥ स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३ ॥ सा हो वाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा ॥ १४ ॥ यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्य्यो न हि शीर्य्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वंशः । पौतिमाष्यो गोपवनाद् गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥ १ ॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो गार्ग्याद् गार्ग्यो

गौतमाद् गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्य्यायणात्पाराशर्य्यायणो गार्ग्यायणाद् गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनि ॥२॥ घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः पाराशर्य्यायणात्पाराशर्य्यायणः पाराशर्य्यात्पाराशर्य्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद् गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्य्यात्काप्यात्कैशोर्य्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद् गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्योवत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौदधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वंसनान्मृत्युः प्राध्वंसनः प्रध्वंसनात्प्रध्वंसन एक ऋषेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभुब्रह्मणे नमः * ॥ ३ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥

---

* टिप्पणी—इस का अर्थ पृष्ठ ३८५ से लेकर आगे तक देखो ।

अथ पञ्चमाऽध्याय प्रारम्भः ॥

प्रजापति और दैवादिकों का संवाद ॥

ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ओम् खं ब्रह्म । खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माऽऽह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १ ॥

अनुवाद—पूर्ण है वह पूर्ण है यह पूर्ण से पूर्ण उदित होता है पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है ओं ही ब्रह्म और ख है । पुराण ही ख है । कौरव्यायणीपुत्र कहते हैं कि वायुविशिष्ट यह आकाश ही ख है । यह ओम् वेद हैं ऐसा ब्रह्मज्ञानियों ने जाना है, क्योंकि जो वेदितव्य ब्रह्म है उसको इसी से:जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अदः+पूर्णम्) इन्द्रियगोचर वह ब्रह्म पूर्ण है। (इदम्+पूर्णम्) यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् भी पूर्ण है क्योंकि (पूर्णात्+पूर्णम्+उदच्यते) पूर्ण ब्रह्म से यह पूर्ण जगत् उदित होता है अर्थात् जो ब्रह्म सर्व प्रकार से पूर्ण है उसका कार्य भी पूर्ण ही होगा इस जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म ही है । अतः यह भी पूर्ण है (पूर्णस्य+पूर्णम्+आदाय) इस पूर्ण जगत् के पूर्णत्व को लेकर अन्त में (पूर्णम्+एव+अवशिष्यते) पूर्ण ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । भाव इसका यह है कि इस अनन्त विश्व की पूर्णता ब्रह्म के अधीन है । अतः मीमांसा करने पर यह सिद्ध होता है कि केवल एक ब्रह्म ही सर्वथा पूर्ण है (ब्रह्म+ओम्+खम्) पूर्व में कहा गया है कि ब्रह्म ही पूर्ण है अब संक्षेप से इसकी उपासना कहते हैं । ओम् और ख इन दो नामों से वह ब्रह्म उपास्य है । सब वेदों और संसार का सार परमात्मा ही है अतः वह ओम् कहाता और परमपुरातन भी वही है अतः यह ख कहाता है क्योंकि (खम्+पुराणम्) ख शब्द पुराण अर्थात् पुरातनवाचक है । (वायुरम्+खम्+इति+कौरव्यायणीपुत्रः+आह+स्म+ह) परन्तु आचार्य कौरव्यायणीपुत्र कहते हैं वायुर=जिसमें सूत्रात्मा वायु व्यापक हो रहा है उस आकाश को ख कहते हैं अर्थात् ब्रह्म की उपासना जब ओम् शब्द के द्वारा करता है तब इसको सर्व जगत् का तत्त्व और सूत्रात्मा वायुविशिष्ट आकाशवत् व्यापक जान उपासना करे । पुनः ओङ्कार का महत्त्व दिखलाते हैं । (वेदः+अयम्+ब्राह्मणाः+विदुः) यह ओङ्कार वेदस्वरूप है । ऐसा ब्राह्मणों ने जाना है क्योंकि (यद्+वेदितव्यम्+एतेन+वेद) जो सर्वथा ज्ञातव्य परमात्मा है उसको इसी ओंकार से जानते हैं ॥ १ ॥

आशय—पूर्व चार अध्यायों में जिन विषयों का विस्तार से निरूपण हुआ है उनही अर्थों का संक्षेप से वर्णन करेंगे, अतः ये आगे के दो अध्याय खिल अथवा परिशिष्ट नाम से पुकारने योग्य हैं ॥ १ ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्य मूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १ ॥

अनुवाद—पिता प्रजापति के समीप, प्रजापति के तीन प्रकार के पुत्र, देव मनुष्य और असुर ब्रह्मचर्य के निमित्त वास कररहे थे इनमें से देव प्रजापति के निकट जाके बोले कि हे पिता ! हम लोगों को शिक्षा दीजिये (प्रजापति ने) उनको द यह अक्षर कहा और कहकर बोले कि हे देवो ! इस द अक्षर का भाव आपने जाना ? देव बोले कि हे पिता ! हमने जानलिया । दाम्यत अर्थात् तुम सब इन्द्रियों का दमन करो यह अनुशासन हम लोगों को आपने दिया है प्रजापति बोले ! हां, तुमने इसका भाव जानलिया है ॥ १ ॥

पदार्थ—(प्राजापत्याः) प्रजापति के पुत्र (त्रयाः+देवाः+मनुष्याः+असुराः) जो देव, मनुष्य, असुर भेद से तीन प्रकार के थे वे (पितरि+प्रजापतौ+ब्रह्मचर्यम्+ऊषुः) वे पिता प्रजापति के समीप ब्रह्मचर्य के निमित्त वास कररहे थे । (देवाः+ब्रह्मचर्यम्+उषित्वा) इनमें से प्रथम देवगण ब्रह्मचर्य का वास करके समावर्त्तन के समय (ऊचुः+ब्रवीतु+नः+भवान्+इति) प्रजापति के समीप जा बोले कि आप हम लोगों को कुछ अनुशासन देवें (तेभ्यः+द+इति+एतद्+अक्षरम्+उवाच) तब प्रजापति ने उनसे "द" इस अक्षर का उपदेश दिया और देके बोले कि हे देवगण ! (व्यज्ञासिष्टा३+इति) क्या तुमने इस द अक्षर का भाव जानलिया ? (व्यज्ञासिष्म+इति+ह+ऊचुः) देवों ने उत्तर दिया कि पिता निश्चय हम सब ने इस द अक्षर का आशय समझलिया (दाम्यत+इति+नः+आत्थ) आपने हमसे कहा है कि तुम सब दाम्यत=अर्थात् अपने इन्द्रियों का दमन किया करो । (ओम्+इति+ह+उवाच+व्यज्ञासिष्ट+इति) तब प्रजापति बोले हां, तुमने इसका भाव समझलिया है ॥ १ ॥

भाष्यम्—पितुः प्रजापतेर्देवमनुष्यासुरभेदेन त्रिविधाः पुत्रा आसन् । ते ब्रह्मचर्यार्थं पितुः समीपेऽवात्सुः । प्रथमं देवाः स्वकीयं ब्रह्मचर्यं विधिना समाप्य समावर्त्तनकाले प्रजापतिमेत्योचुः अस्मभ्यमुपदिशतु पूज्यो भवानिति । प्रार्थितः स बहूपदिष्टमिति विचार्य सम्प्रति अतिशयलघुपरमोपयोगि च अनुशासनं दित्सुस्तत्तत्पुत्राणामान्तरिकभावमपि च ज्ञातुं द इत्येतदक्षरं तेभ्यो देवेभ्योऽनुशशास । अनुशिष्य चाब्रवीत् हे देवाः ! दकारेण ममाशयं यूयं व्यज्ञासिष्टा३ । प्लुतिर्विचारार्था । देवा अपि सम्यग् विचार्य विज्ञायचोचुः भगवन् ! यूयमिन्द्रियाणि दाम्यतेति दकारेणास्मान् शिक्षयसीति वयं विज्ञातवन्तः । तत्तथ्यमतथ्यमिति तु न विद्मः । अत्र भवानेव प्रमाणम् । ओमिति सत्यं यूयं ममाशयं विदितवन्त इदानीमिदमनुशासनं पाथेयं गृहीत्वा गच्छतेति प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् मनुष्यगण इनसे बोले हे पिता ! हमको आप उपदेश देवें । द यही अक्षर इनसे भी प्रजापति ने कहा और कह कर बोले कि तुमने इसको समझा ? मनुष्यों ने कहा कि हां, हमने इसको समझ लिया आप हम लोगों से कहते हैं कि तुम दान दो, हां, तुमने समझ लिया ऐसा प्रजापति ने उनसे कहा ॥ २ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+मनुष्याः+ऊचुः) देवगणों के पश्चात् मनुष्यगण पिता प्रजापति के निकट आकर बोले (ब्रवीतु+नः+भवान्+इति) हे पिता ! हमको भी उचित उपदेश देवें (तेभ्यः+ह+द+इति+एतद्+एव+अक्षरम्+उवाच) इनसे भी इसी द अक्षर का उपदेश प्रजापति ने किया और उपदेश करके बोले कि (व्यज्ञासिष्ट३+इति) हे मनुष्यो ! क्या तुमने दकार से मेरा आशय समझ लिया ? इस पर मनुष्यों ने (ऊचुः+ह+दत्त+इति+नः+आत्थ+व्यज्ञासिष्म+इति) कहा कि हे पिता ! दकार से आप हमको उपदेश देते हैं कि "दत्त" अर्थात् तुम सब दान किया करो ऐसा हमने समझा है । सो ठीक है या नहीं इसमें आप ही प्रमाण हैं । (ओम्+इति+ह+उवाच+व्यज्ञासिष्ट+इति) इस पर प्रजापति ने कहा कि हां, तुमने हमारा आशय समझ लिया । जाओ ऐसा ही किया करो ॥ २ ॥

भाष्यम्—गृहीतानुशासनेषु देवेषु मनुष्या अपि प्रजापतिमेत्योपदेशाय निवेदितवन्तः एभ्योपि प्रजापतिस्तदेव दकाराक्षरं दत्तशब्रवीत् हे मनुष्याः ! किं दकारेण ममाशयं विज्ञातवन्तः । हे प्रजापते ! दकारेण दत्त यूयमिति नोऽनुशास्सीत्येवं व्यज्ञासिष्म । अत्रे भगवान् प्रमाणम् । ओमिति स्वीकारे । मनुष्याणां वेदनं ओमिति शब्देन प्रजापतिः स्वीकरोति ॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनु वदति स्तनयित्नुर्ददद इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयं शिक्षेद्दमन्दानं दयामिति ॥ ३ ॥

अनुवाद—तत्पश्चात् असुरगण इनसे बोले हे पिता ! आप हम लोगों को उपदेश देवें । द यही अक्षर उनसे प्रजापति ने कहा और कहकर बोले कि तुमने इस को समझा ? असुरों ने कहा कि हां, हमने इसको समझ लिया है आप हम से कहते हैं कि तुम 'दयध्वम्" दया किया करो । तब प्रजापति ने कहा कि हां ? तुमने इसको समझ लिया । उसी को दैवीवाणी अनुवाद करता है यह जो मेघदेव (गर्जन) द द द करता है उसका भाव यही है कि दाम्यत=दमन करो, दत्त=दो, दयध्वम्=दया करो । दम, दान और दया इसी तीन का उपदेश करे ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+ह+एनम्+असुराः+ऊचुः) मनुष्यगण को शिक्षा मिलने के पश्चात् असुरगण भी जाके बोले कि हे पिता ! (ब्रवीतु+नः+भवान्+इति) हम लोगों को भी उचित उपदेश देवें (तेभ्यः+इत्यादि०) उनसे भी इसी "द" अक्षर को कहा और कहकर बोले कि तुमने द अक्षर से

हमारा भाव समझा ? (व्यज्ञासिष्मः) असुरों ने कहा हां हमने समझ लिया (दयध्वम्) तुम सब दया किया करो यह उपदेश दकार से दे देते हैं । (ओम्+इति) प्रजापति ने कहा कि हां तुमने भी दकार का तात्पर्य समझ लिया । अब जाओ संसार में इसी कार्य को करो । अब आगे दिखलाते हैं कि प्रजापति के इस अनुशासन का (एषा+दैवी+वाक्+अनुवदति) यह देवी मेघस्थवाणी अनुवाद करती है अर्थात् (स्तनयित्नुः) यह मेघ अपने गर्जन में (द द द) द द द इन तीन दकारों को कहता है और इन तीन दकारों का भाव यह है कि (दाम्यत) दमन करो (दत्त) दान दो (दयध्वम्) दया करो । आजकल भी सब को उचित है कि (दमम्+दानम्+दयाम्) दमन दान और दया (तत्+एतत्+त्रयम्+शिक्षेत्) इन तीनों की शिक्षा दिया करें ॥ ३ ॥

भाष्यम्—देवमनुष्यवदसुरान् शिक्षार्थं प्राप्तान् प्रजापतिस्तदेव दकाराक्षरमब्रवीत् । दयध्वम् कृपां कुरुध्वमित्याशयं तेऽसुरा गृहीतवन्तः तदेतत्प्रजापतेरनुशासनं दैवी वागपि अनुकरोति । केति ? स्तनयित्नुरित्याद्याह—स्तनयित्नुर्मेघोऽपि स्वगर्जने दाम्यत, दत्त, दयध्वमित्येवदकारत्रयेणोपदिशति । तत एव सर्वोऽपि विद्वानिदानीं तदेतत्त्रयं दमं दानं दयां शिक्षेत् ॥ ३ ॥

आशय—महात्मा के निकट पहुँचने पर अपनी अपनी त्रुटि को पूर्ण करना ही महापुरुष के वचन का भाव लोग समझा करते हैं । देवों में इन्द्रिय दमन की, मनुष्यों में दान की और असुरों में दया की त्रुटि प्रायः देखी जाती है । अतः 'द' शब्द से तीनों ने तीन अर्थ ग्रहण किये और प्रजापति भी चाहते थे कि इनही भाव को ये तीनों पृथक् पृथक् समझें । इनसे क्या योगबल सिद्ध नहीं होता ! ॥ ३ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरम-भिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—जो यह हृदय है यही प्रजापति है यही ब्रह्म (बृहत्) है यही सब है । सो यह हृदय त्र्यक्षर है इसमें एक अक्षर "हृ" है इसको निज और पर लाकर देते हैं जो ऐसा जानता है इसमें एक अक्षर "द" है इसको निज और पर देते हैं जो ऐसा जानता है इनमें एक अक्षर "यम्" है स्वर्ग लोक को जाता है जो ऐसा जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—उपनिषदों में और इस अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में भी प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है प्रजापति कोई पुरुष है या अन्य इन्द्रियादिक हैं इस निश्चय के लिये आगे कहते हैं कि यह हृदय ही प्रजापति है अन्य कोई पुरुष विशेष प्रजापति नहीं । यथा—(एष+प्रजापतिः+यद्+हृदयम्)

जो यह हृदय है यही प्रजापति है (एतद्+ब्रह्म+एतत्+सर्वम्) यह हृदय ही ब्रह्म अर्थात् महान् अनन्त है। यह सब है (तत्+एतत्+त्र्यक्षरम्+हृदयम्) सो यह हृदय शब्द त्र्यक्षर है। इसमें तीन अक्षर हैं (हृ+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें एक अक्षर हृञ् हरणे=हरणार्थक हृ धातु से यह हृ बना है क्योंकि (अस्मै+स्वाः+च+अन्ये+च+अभिहरन्ति) निज नेत्र कर्णादि इन्द्रियगण और अन्य शब्द स्पर्शादि विषय अपने अपने कार्य को लाकर इसी हृदय को समर्पण करते हैं अतः हृदय शब्द का हृ अक्षर हृञ् धातु से आया है (यः+एवम्+वेद) जो उपासक इसको इसी प्रकार जानता है उसको भी निज बन्धु बान्धव और अन्य दूरस्थ पुरुष भी विविध पदार्थ समर्पण करते हैं। (दः+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें द यह एक अक्षर है। यह दानार्थक दा धातु से आया है क्योंकि (स्वाः+च+अन्ये+च+अस्मै+ददति) निज इन्द्रिय और अन्य शब्दादि विषय बाहर से लाकर देते हैं। अतः हृदय शब्द का दकार दा धातु से आया है (यः+एवम्+वेद) जो उपासक ऐसा जानता है उसको भी निज और पर धन समर्पण करते हैं (यम्+इति+एकम्+अक्षरम्) इसमें एक अक्षर 'यम्' है यह "इण गतौ" गत्यर्थक इण धातु से आया है क्योंकि (यः+एवम्+वेद+स्वर्गम्+लोकम्+एति) जो कोई इस हृदय को ऐसा जानता है वह इस हृदय के द्वारा स्वर्गलोक को जाता है और इसी हृदय की ओर ज्ञानी पुरुष जाते हैं अर्थात् जिनका हृदय ही प्रथम दुर्बल है वह क्या कर सकता अतः प्रथम हृदय को ही सब प्रकार दृढ़ करे। इन कारणों से मालूम होता है कि हृदय का यकार इ धातु से आया है। यही हृदय प्रजापति है अन्य नहीं ॥ १ ॥

भाष्यम्—उपनिषत्सु प्रजापतिशब्दो बहुशः प्रयुक्तः । तत् कोऽयं प्रजापतिः कश्चित्पुरुषविशेषः जीवोवाइन्द्रियाणिवा एतन्निर्णयार्थमिदं ब्राह्मणमारभ्यते। इदं हृदयमेव प्रजापतिरिति निर्णयः। एष हृदयशब्दो हरतेर्ददातेरितेश्च धातुत्रयान्निष्पन्नोऽस्ति ॥ १ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकान् जितइन्वसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अनुवाद—पूर्वोक्त हृदय को अन्य प्रकार से पुनः कहते हैं सो यह हृदय यही है अर्थात् सत्य ही है। इस हृदय को जो कोई महान् यक्ष प्रथमज और सत्य ब्रह्म जानता है वह इन लोकों को जीतता है। निश्चय वह विजित होकर नष्ट होजाता है जो इसको असत् जानता है जो कोई इस प्रकार इस हृदय को महत् यक्ष प्रथमज और सत्य ब्रह्म जानता है क्योंकि सत्य ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

पदार्थ—पूर्वोक्त हृदय का ही अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं—(तद्+वै+तत्) वह जो हृदय पूर्व में कहा गया है उसी को अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं। द्वितीय तत् शब्द प्रकारान्तर का द्योतक

है (एतद्+एव+तत्+आस) यही वह हृदय है (सत्यम्+एव) अर्थात् सत्य ही यह हृदय है बहुत आदमी हृदय को ही असत्य मान निरुद्योगी नास्तिक बन जाते हैं अतः आचार्य कहते हैं कि इस हृदय को आत्मवत् अविनश्वर मानो। यह सर्वदा आत्मा के साथ विद्यमान रहता है। केवल सत्य ही नहीं किन्तु (सः+यः) सो जो कोई (ह+एतम्+महत्+यक्षम्+प्रथमजम्) इस हृदय को महान् यक्ष=पूज्य, प्रथमज=प्रथमोत्पन्न (सत्यम्+ब्रह्म) और अत्यन्त महान् सत्य, मानता है वह (इमान्+लोकान्+जयति) इन समस्त लोकों को जीतता है और इसके विपरीत (असत्) इस हृदय को असत् जानता है (असौ+जितः+इत्+नु) वह अज्ञानी ज्ञानी से जीता ही जाता है अर्थात हृदय को असत्य मानने हारे सर्वथा मृत्युमुख में गिरते ही रहते हैं। पुनः उक्तार्थ का ही अनुवाद करते हैं (यः+एवम्+एतत्+महद्+यक्षम्+प्रथमजम्+सत्यम्+ब्रह्म+इति+वेद) जो कोई उपासक इस हृदय को महान् यक्ष=पूज्य अग्रज और सत्य ब्रह्म जानता है वही विजयी होता है (हि+सत्यम्+ब्रह्म) क्योंकि सत्य ही ब्रह्म अर्थात् अतिशय महान् है। आशय यह है कि यह हृदय अवश्य ही सत्य है और अतिशय महान् है। इसी हृदय के स्वरूप के पूर्ण ज्ञान न होने से मनुष्य अज्ञानी बना रहता है अतः ऋषि कहते हैं कि ऐ मनुष्यो! इस हृदय को सत्य पूज्य और महत्तम समझो इसीसे तुम्हारा कल्याण है ॥ १ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवां स्तेदेवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति नैनं विद्वांसमनृतं हिनस्ति ॥ १ ॥

अनुवाद—आगे यह सब क्रियात्मकमात्र था। उस क्रिया ने सत्य को प्रकाशित किया जो सत्य ब्रह्म अर्थात् अतिशय महान् है इसी सत्य ब्रह्म ने प्रजापति हृदय का और उस प्रजापति ने इन देवों को प्रकाशित किया वे देव सत्य की ही उपासना करते हैं। वह सत्य अक्षर तीन अक्षर वाला है एक अक्षर स, एक अक्षर त् और एक अक्षर यम् है। प्रथम सकार और अन्तिम यकार सत्य है और मध्यगत त् अनृत दोनों तरफ सत्य से परिगृहीत है अतः सत्य की ही अधिकता रहती है जाननेहारे पुरुष को अनृत नष्ट नहीं करता है ॥

पदार्थ—(अग्रे+इदम्+आपः+एव+आसुः) व्यक्ताव्यक्त के प्रथम अथवा ज्ञानात्मक जगत् के प्रथम यह सब ही क्रियामात्र थी। यहां आप् शब्द क्रियावाचक है उत्पत्ति के साथ साथ प्रथम मनुष्यजाति कर्म्मपरायण थी जैसे बालक प्रथम क्रिया में आसक्त होता है (ताः+आपः+सत्यम्+असृजन्त) उस क्रिया ने सत्य का प्रकाश किया। क्रिया करते करते पदार्थ की वास्तविक सत्यता

प्रतीत होने लगती है। आगे सत्य की प्रशंसा करते हैं (सत्यम्+ब्रह्म) सत्य बहुत ही बड़ा है। सत्य का अन्त नहीं (ब्रह्म+प्रजापतिम्) जब लोगों को सत्य का पता लगा तब उस महान् सत्य ने प्रजापति=हृदय को प्रकाशित किया अर्थात् अन्त में सत्य के अन्वेषण से इस हृदय के महत्त्व और गुणों का भी पता लगा जिससे सारी विद्याएं प्रवाहवत् निकलती हैं। (प्रजापतिः+देवान्) प्रजापति अर्थात् हृदय ने नयन, कर्ण, प्राणादि देवों के गुणों का प्रकाश किया। हृदय के अन्वेषण से यह भी पता लगा कि यदि इन्द्रिय गण अविवश रहें असुरत्व भाव इनका नष्ट न हो और ये देव न बनते तो हृदय भी कुछ नहीं कर सकता है। (ते+देवाः+सत्यम्+उपासते) वे दिव्यगुण सम्पन्न इन्द्रिय सत्य की ही उपासना करते हैं जो देव होंगे वे अवश्य ही सत्य की उपासना करेंगे। आगे दिखलाते हैं कि सर्वथा शुद्ध सत्य की प्राप्ति मनुष्यों से नहीं होती है किञ्चित् असत्य का भाग रह ही जाता है। पक्षपातादि दोषों के कारण इसको सत्य शब्द ही सिद्ध करता है यथा-(तद्+एतत्+अक्षरम्+सत्यम्+इति) इस सत्य शब्द में तीन अक्षर हैं—स त् यः (प्रथमोत्तमे+अक्षरे+सत्यम्) प्रथम सकार और उत्तम अर्थात् अन्तिम यकार ये दोनों अक्षर सत्य हैं अर्थात् स्वरयुक्त होने के कारण सत्य हैं, इन दोनों स, य में परमात्मवाचक अकार विद्यमान है अतः ये सत्य हैं और (मध्यतः+अनृतम्) मध्यगत त् हल होने के कारण अनृत=असत्य है परन्तु (तत्+एतद्+अनृतम्+उभयतः+सत्येन+परिगृहीतम्) सो यह अनृत दोनों तरफ सत्य से ही गृहीत है इसी कारण जगत् में (सत्यभूयम्+एव+भवति) सत्य की ही अधिकता होती है (एवम्+विद्वांसम्+अनृतम्+न+हिनस्ति) ऐसे जाननेहारे को असत्य नष्ट नहीं करता ॥ १ ॥

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योऽन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २ ॥

अनुवाद—सो जो सत्य है वह यह आदित्य है जो यह इस मण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है। सो ये दोनों परस्पर एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं किरणों से वह इसमें प्रतिष्ठित है और प्राणों से यह उसमें (प्रतिष्ठित है) वह जब ऊपर उठनेहारा होता है तब वह इस शुद्ध मण्डल को ही देखता है, ये किरण इसके प्रति पुनः नहीं आते हैं ॥ २ ॥

पदार्थ—जो सत्य इस शरीर में कार्य कर रहा है वही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समानरूप से कार्य कर रहा है। इस भाव को दिखलाते हैं—(तत्+यत्+सत्यम्) सो जो यह सत्य है (तत्+असौ+सः+आदित्यः) वह यह सुप्रसिद्ध आदित्य अर्थात् सर्वत्र सूर्य से लेकर अनन्त जगत् में व्यापक सत्ता है इसे स्वयं कहते हैं (यः+एषः+एतस्मिन्+मण्डले+पुरुषः) जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष है (यः+च+अयम्+दक्षिणे+अक्षन्+पुरुषः) जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है वही आदित्य है (तौ+एतौ+अन्योऽन्यस्मिन्+प्रतिष्ठितौ) सो ये दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं (एषः+रश्मिभिः+अस्मिन्+प्रतिष्ठितः) वह किरणों से इस अक्षिपुरुष में प्रतिष्ठित है (अयम्+प्राणैः+अमुष्मिन्) यह अक्षिपुरुष उस मण्डलपुरुष में प्रतिष्ठित है अर्थात् एक ही सत्ता दोनों में समानरूप में कार्य कर रही है (सः+यदा+उत्क्रमिष्यन्+भवति) सो यह ज्ञानी आत्मा जब यहां से ऊपर उठने हारा होता है तब (शुद्धम्+एव+एतत्+मण्डलं+पश्यति) इस ब्रह्माण्डरूप महामण्डल को शुद्ध ही देखता है इस अवस्था में

(एते+रश्मयः) ये जन्ममरण प्रवाहरूप किरण (एनम्+न+प्रत्यायन्ति) इस के प्रति पुनः नहीं आते हैं अर्थात् वह जन्म दुःख से छूटकर मुक्त हो जाता है ॥ २ ॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ३ ॥

अनुवाद—इस मण्डल में जो यह पुरुष है उसका शिर भूः (भूर्लोक) है । शिर एक होता है यह भूः भी एक अक्षर है । इसके बाहु भुवः (भुवर्लोक) हैं । बाहू दो होते हैं यह (भुवः) भी दो अक्षर हैं । इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् पैर स्वः (स्वर्लोक) है । प्रतिष्ठाएं पैर दो हैं यह (स्व=सुवः) भी दो अक्षर हैं ॥ उसका "अहः" यह उपनिषद् है । जो ऐसा जानता है वह पापका हनन करता है और छोड़ता जाता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—उसी सत्यरूपा महती सत्ता को अन्य प्रकार से दिखलाते हैं । मण्डलस्थ पुरुष पद से मण्डलस्थ सामर्थ्य का ग्रहण नहीं है किन्तु सर्वव्यापक सत्ता से मुख्य तात्पर्य है यथा (यः+एषः+एतस्मिन्+मण्डले+पुरुषः) इस सूर्यमण्डल में जो यह पुरुष है (तस्य+शिरः+भूः+इति) उस पुरुष का शिर भूः+ भूर्लोक अर्थात् पार्थिव लोक है (एकम्+शिरः+एतद्+एकम्+अक्षरम्) शिर भी एक ही होता है और भूः यह भी एक ही अक्षर है (भुवः+इति+बाहू+द्वौ+बाहू+द्वे+एते+अक्षरे) इसके बाहु भुवः=अर्थात् अन्तरिक्ष लोक है । बाहु दो होते हैं यह भुवः पद भी दो अक्षर के हैं (प्रतिष्ठा+स्वः+इति) इसका पैर स्वर्लोक है (द्वे+प्रतिष्ठे+द्वे+एते+अक्षरे) पैर दो हैं यह स्वः भी दो अक्षर हैं (स्वः) यह सुवः के आकार में आजाता है अतः इसको दो अक्षर कहे गये हैं । (तस्य+उपनिषद्+अहः+इति) उसका उपनिषद् अहः है । उपनिषद्=रहस्य, ज्ञान । अहः=हनन और त्यागने द्वारा इसका अर्थ दिन तो होता ही है अर्थात् उस महान् पुरुष का ज्ञान अहः शब्द से करना चाहिये जैसे दिन अन्धकार का नाश कर प्रकाश देता है दिन में पदार्थ विस्पष्ट से भासित होते हैं तद्वत् वह सत्यरूपा पुरुष भी है । यही इसका रहस्य है आगे फल कहते हैं—(यः+एवं+वेद) जो कोई "अहः" शब्द को हन् और हा धातु से सिद्ध जानता है वह (पाप्मानम्+हन्ति+जहाति+च) पाप का हनन करता है और उसको छोड़ देता है । हन=हिंसा करना, हा=छोड़ना इसी से 'जहाति' बनता है ॥ ३ ॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—जो यह दक्षिण अक्षि में पुरुष है उसका शिर भूः (भूर्लोक) है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

पदार्थ—(यः+अयम्+दक्षिणे+अक्षन्+पुरुषः) जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है उसका शिर भूर्लोक है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

—★—

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः सर्व्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥ १ ॥

अनुवाद—मनोमय वह यह पुरुष है महातेज ही इसका सत्यस्वरूप है वह उस अन्तर्हृदय में व्रीहि या जौ के समान अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रतिष्ठित है सो यह सबका ईश्वर है। सब का अधिपति है इस सब का प्रशासन करता है जो कुछ यह है ॥ १ ॥

पदार्थ—(अयम्+पुरुषः+मनोमयः) यह सर्वव्यापी महान् परमात्मा मनोमय अर्थात् ज्ञान विज्ञानमय है। (भाः+सत्यः) महान् तेज ही इसका सत्य स्वरूप है। क्या यह हम लोगों के हृदय में भी है ? इस पर कहते हैं—(तस्मिन्+अन्तर्हृदये+यथा+व्रीहिः+वा+यवः+वा) वह उस हृदय के मध्य में व्रीहि और यव के समान विद्यमान है। व्रीहि=एक प्रकार का अन्न और यव से परमात्मा के साकारत्व और स्थूलत्व की जो शङ्का उत्पन्न होती है इसकी निवृत्ति के हेतु आगे कहते हैं—(सः+एषः+सर्वस्य+ईशानः+सर्वस्य+अधिपतिः) सो यह सब का ईश्वर है और सब का अधिपति है (इदम्+सर्वम्+प्रशास्ति) इस सब को अपनी आज्ञा में रखता हुआ नियम में बद्ध रखता है (यत्+इदम्+किञ्च) जो कुछ स्थावर जङ्गममय संसार भासित होता है उस सब का कर्त्ता धर्त्ता और हर्त्ता वही है ॥ १ ॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

—★—

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युर्ध्येव ब्रह्म ॥ १ ॥

अनुवाद—ब्रह्म को विद्युत् कहते हैं। विदारण करने के कारण वह विद्युत् कहाता है जो कोई ब्रह्म को विद्युत् नाम से जानता है उस उपासक के निकट जाकर (वह ब्रह्म सत्यरूप) इसके सब पापों का नाश कर देता है। विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

पदार्थ—पुनः सत्यस्वरूप ब्रह्म का वर्णन करते हैं। उपनिषदों में जो विद्युत् ब्रह्म कहा गया है क्या इससे भौतिक विद्युत् का ग्रहण है? इस पर कहते हैं कि इस भौतिक बिजली से तात्पर्य नहीं किन्तु (विदानात्) दुष्टों का सर्वदा वह विदारण=विनाश किया करता है इस हेतु (ब्रह्म+विद्युत्+इति+आहुः) ब्रह्म को विद्युत् कहते हैं क्योंकि (विदानात्+विद्युत्) विदारण करने से ही विद्युत् नाम हुआ है, आगे फल कहते हुए विद्युत् शब्दार्थ भी करते हैं (यः+एवम्+विद्युत्+ब्रह्म+इति+वेद) जो कोई

उपासक इस ब्रह्म को विद्युत्=पापविदारक जानता है (एनम्) इस उपासक के समीप जाकर वह सत्य (पाप्मनः+विद्यति) इसके पापों का नाश कर देता है अतः (ब्रह्म+विद्युत्+एव) ब्रह्म विद्युत् ही है। विपूर्वक अव खण्डनार्थक दो धातु से विद्युत् शब्द सिद्ध किया गया है (वि विशेषेण द्यति अवखण्डयति विनाशयतीति विद्युत्) जो विशेषरूप से पापों को विनाश करता है वह विद्युत्, इसका एक नाम रुद्र भी है ॥ १ ॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथाष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारञ्च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

अनुवाद—धेनु मानकर वाणी की उपासना करे, इसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार। इसके स्वाहाकार और वषट्कार दो स्तनों के आश्रय से देव जीते हैं, मनुष्य हन्तकार के आश्रय से, पितर स्वधाकार के आश्रय से, इसका प्राण ऋषभ है मन वत्स है ॥ १ ॥

पदार्थ—(वाचम्+धेनुम्+उपासीत) सत्य ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय दिखलाते हैं। वेदवाणी को दुग्ध देनेहारी गौ के समान समझे। (तस्याः+चत्वारः+स्तनाः०) इसके चार स्तन हैं वे ये हैं स्वाहाकार वषट्कार हन्तकार और स्वधाकार (तस्यै+द्वौ+स्तनौ+स्वाहाकारम्+च+वषट्कारम्+च++देवाः+उपजीवन्ति) इस वाणीरूपा धेनु के दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार के आश्रय से देवगण जीते हैं क्योंकि स्वाहा और वषट् शब्द उच्चारण करके देवों को हवि दिया जाता है (मनुष्याः+हन्तकारम्) मनुष्यगण हन्तकार स्तन के आश्रय से जीते हैं। क्योंकि हन्त यह शब्द कह कर मनुष्यगणों को हवि दिया जाता है इसी प्रकार (स्वधाकारम्+पितरः) स्वधाकार स्तन के आश्रय से पितृगण जीते हैं (तस्याः+प्राणः+ऋषभः) इस वाणीरूपा धेनु का स्वामी वृषभ के समान प्राण ही है और (मनः+वत्सः) मन वत्स है यदि मन और प्राण न हो तो वेदवाणी क्या कर सकती है ॥ १ ॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ १ ॥

अनुवाद—यह अग्नि वैश्वानर है जो यह इस शरीर के अभ्यन्तर में है जिससे यह अन्न पचता है जो यह खायाजाता है उसका यह घोष है कान बन्दकर जिसको सुनता है सो यह जब ऊपर उठने (मरने) लगता है तब वह इस घोष को नहीं सुनता है ॥ १ ॥

पदार्थ—अब पुनः दृष्टान्त द्वारा परमेश्वर की व्यापकता कहते हैं—(अयम्+अग्निः+वैश्वानरः) यह जठराग्नि वैश्वानर नाम का अग्नि है (यः+अयम्+अन्तः+पुरुषे) जो अग्नि सर्व शरीर के भीतर विद्यमान है (येन+इदम्+पच्यते) जिसकी सहायता से भक्षित अन्न पचजाता है (यद्+इदम्+अद्यते) जो अन्न प्राणियों से खायाजाता है वह इसकी सहायता से पचता है । (तस्य+एषः+घोषः+भवति) उस वैश्वानर अग्नि का महाशब्द भी इस देह में हुआ करता है (तत्+कर्णौ+अपिधाय+यम्+शृणोति) जब जब कानों पर हाथ लगा ढांकता है तब इस घोष को सुनता है (सः+यदा+उत्क्रमिष्यन्+भवति) वह जब मरने पर आता है तब (न+एनम्+घोषम्+शृणोति) इस महाशब्द को नहीं सुनता है । जैसे एक प्रकार का सामर्थ्य जिसको वैश्वानर कहते हैं सर्व देह में स्थित होकर शरीर की स्थिति का कारण है । मानो, इसका प्रत्यक्ष भी बोध होता है जब कान बन्दकर भीतर का शब्द सुनते हैं और वह शब्द मरण समय नहीं सुन पड़ता वैसे ही इस ब्रह्माण्डरूप अनन्त महान् शरीर में वैश्वानर सर्वव्यापी परमात्मा स्थित होकर इस सम्पूर्ण जगत् की स्थिति का कारण होता है और इस जगत् की प्रत्यक्षता है इसमें सन्देह ही नहीं, किन्तु जब निःशेष बन्धन से जीव छूट जाता है तब मानो, वह इस संसार को देखता ही नहीं क्योंकि ये प्राकृत पदार्थ इस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, उपासक का मुक्ति अवस्था में प्राप्त होना ही ऊपर उठना है ॥ १ ॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

अथ दशमं ब्राह्मणम् ॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा डम्बरस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

अनुवाद—जब जीवात्मा इस लोक से मरकर प्रस्थान करता है तब वह प्रथम वायु में आता है वहां उसके लिये यह वायु रथचक्र के छिद्र के समान सूक्ष्म मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है तब आदित्य में आता है वहां यह आदित्य भी उसके लिये डम्बर नाम के वादित्र छिद्र के समान मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है वह चन्द्रमा में आता है वहां यह चन्द्रमा भी उसके लिये दुन्दुभि के छिद्र के समान मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है वह तब उस लोक में आता है जो अशोक=शोकरहित और अहिम=हिमरहित है । यहां बहुत वर्षों तक निवास करता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(यदा+वै+पुरुषः+अस्मात्+लोकात्+प्रैति) जब जीवात्मा इस लोक से मरकर चल बसता है तब प्रथम (वायुम्+आगच्छति) वायुलोक में आता है जो सूत्रात्मा नामक एक पदार्थ आकाशवत् अत्यन्त सूक्ष्मरूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थित है जिसकी सहायता से सूर्य तेज आदि प्रकाश सर्वत्र फैलते हैं उसको यहां वायु कहा है। यहां ज्ञानीपुरुषों के प्रस्थान की चर्चा है, ज्ञानीपुरुष मरने के पश्चात् उस अतिसूक्ष्म मानसिक दशा में प्राप्त होता है जिसको वायु कहते हैं, इस अवस्था में अपने मन के द्वारा वह सम्पूर्ण पदार्थों के वास्तविक तत्त्वों को जानता है परन्तु वह इसी अवस्था में नहीं रहता किन्तु (सः+तत्र) वह वायु वहां (तस्मै+यथा+रथचक्रस्य+खम्+विजिहीते) उस ज्ञानी जीवात्मा के लिये रथचक्र के छिद्र के समान मार्ग देता है (तेन+सः+ऊर्ध्वः+आक्रमते) उस छिद्र से वह ऊपर चढ़ता है (सः+आदित्यम्+आगच्छति) तब वह आदित्यलोक में आता है मानसिक वायवीय दशा से भी अतिसूक्ष्म तेजोमय आदित्यदशा में प्राप्त होता है अर्थात् मानसिक सामर्थ्य इसका इतना बढ़जाता है कि सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दीखता है यहां सर्व प्रकार के भय विनष्ट होजाते हैं (तस्मै+सः+तत्र०) उसके लिये वह आदित्य भी डम्बर नाम के बाजा के छिद्र के समान मार्ग देता है उससे वह ऊपर चढ़ता है (सः+चन्द्रमसम्+आगच्छति) वह चन्द्रलोक में आता है यह भी एक मानसिक दशा है इसको चान्द्रमस् दशा कहते हैं (तस्मै+सः+तत्र+विजिहीते+यथा+दुन्दुभेः+खम्) उसके लिये यह चन्द्र भी दुन्दुभि के छिद्र के समान सूक्ष्ममार्ग देता है (सः+तेन+ऊर्ध्वः+आक्रमते) वह उससे ऊपर चढ़ता है (सः+लोकम्+आगच्छति) वह उस लोक में आता जो (अशोकम्+अहिमम्) शोकरहित और हिमरहित है (तस्मिन्+शाश्वतीः+समाः+वसति) वह वहां बहुत वर्ष वास करता है यह ब्रह्मलोक है। इसका कहीं नियत स्थान नहीं ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है समानरूप से सब स्थान में है। जबमनोद्वारा ज्ञान ही अनन्त होजाता है तब ही कहा जाता है कि वह ब्रह्मलोक में प्राप्त है यह भी एक अन्तिम मानसिक दशा है ॥ १ ॥

इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

अथैकादशं ब्राह्मणम् ॥

एतद्वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेदेतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमन्तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—यही परम तप है जो व्याधिग्रस्त हो के तप करता है वह परलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है यही परम तप है जो मृतपुरुष को अरण्य में लेजाता है वह परमलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है यही परम तप है जो प्रेत को अग्नि के ऊपर रखता है वह परमलोक को जीतता है जो ऐसा जानता है ॥ १ ॥

पदार्थ—अब इस परिशिष्ट में दिखलाते हैं कि व्याधि अवस्था में और मरणावस्था में भी ईश्वर की ही कृपा समझे कदापि किंचित् भी चिन्ता न करे किन्तु इसको भी एक महा तप ही समझे। यथा—(एतद्+वै+परमम्+तपः) यही मानो परम तप है (यद्+व्याहितः+तप्यते) जब व्याधि से गृहीत हो उसमें चिन्ता न कर ईश्वर की ही महिमा देखता हुआ तप करता है (परमम्+ह+एव+लोकम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह परमलोक को जीतलेता है जो ऐसा जानता है इसी प्रकार जब ज्ञानीपुरुष मृत्यु को आसन्न जाने उस समय भी परम हर्ष को ही प्रकाशित करे और यह समझे कि (एतत्+वै+परमम्+तपः) यही परम तप है (यम्+प्रेतम्+अरण्यम्+हरन्ति) जब मैं मरजाऊंगा तब मृत मुझ को बन्धु बान्धवगण अरण्य में जलाने के लिये लेजायंगे जो यह विचार है इसी प्रकार (यम्+प्रेतम्+अग्नौ+अभ्यादधति) पुनः जब मैं मरूंगा तब मुझ प्रेत को भस्म करने के लिये अग्नि के ऊपर रक्खेंगे इस प्रकार जो न चिन्ता कर किन्तु हर्ष प्रकाशित करता है विचारता है, मानो वह परमतप ही कर रहा है ॥ १ ॥

इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माऽऽह प्रातृदः पितरं किं स्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्य्यां किमेवास्मा असाधु कुर्य्यामिति स ह स्माऽऽह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्व्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्व्वाणि भूतानि रमन्ते सर्व्वाणि ह वा अस्मिन् भूतानि विशन्ति सर्व्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है सो ठीक नहीं क्योंकि प्राण के विना अन्न सड़ने लगता है। कोई कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है सो ठीक नहीं क्योंकि अन्न के विना प्राण सूखने लगता है किन्तु जब ये दोनों देवताएं अन्न और प्राण मिलकर एक होती हैं तब परमत्व (ब्रह्मत्त्व बृहत्त्व, महत्त्व) को प्राप्त होती हैं। इस तत्त्व को जान और निश्चय कर प्रातृद नाम का कोई आचार्य अपने पिता के निकट आके कहने लगा कि ऐसे जाननेहारे विद्वान् के लिये क्या ही शुभ करूं क्या ही इसके लिये अशुभ करूं यह वचन सुन हाथ से निवारण करता हुआ पिता बोला हे प्रातृद ! ऐसा मत कहो कौन इन दोनों को एक बना कर परमत्व को प्राप्त होता है उस पुत्र से पिता पुनः यह कहने लगा कि हे पुत्र ! वीरशब्द को जानो इस में प्रथम शब्द "वी" है अन्न ही "वी" है क्योंकि अन्न में ही ये सर्व

प्राणी विष्ट अर्थात् प्रविष्ट हैं पुनः पिता ने कहा कि इस में द्वितीय शब्द "र" है प्राण ही "र" है क्योंकि प्राण में ही ये सब प्राणी रमण (आनन्द) करते हैं जो ऐसा जानता है इस में सर्व प्राणी प्रविष्ट होते हैं और इसमें सब प्राणी रमण करते हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—इस परिशिष्ट में अन्न और प्राण का वीरत्व गुण दिखलाते हैं। अन्न और प्राण दोनों परमोपयोगी वस्तु हैं इसमें सन्देह नहीं किन्तु ये उपास्य नहीं। इनके यथाविधि प्रयोग से प्राणी वीर बलिष्ठ होता है। इतनी ही बात है यथा—(एके+अन्नम्+ब्रह्म+इति+आहुः) कोई आचार्य्य कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्मवत् यह भी पूज्य उपास्य है। (तत्+न+तथा) किन्तु यह मत ऐसा मन्तव्य नहीं अर्थात् अन्न ब्रह्म है ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है क्योंकि (प्राणाद्+ऋते+अन्नम्+पूयति) प्राण के विना अन्न सड़ ही जाता है इसमें दुर्गन्धि आही जाती है किन्तु ब्रह्म वैसा नहीं अतः "अन्न ब्रह्म है" यह कथन ठीक नहीं। इसी प्रकार (एके+प्राणः+ब्रह्म+इति+आहुः+तत्+न+तथा) कोई आचार्य्य कहते हैं कि प्राण ब्रह्म है। सो यह ठीक नहीं क्योंकि (अन्नाद्+ऋते+प्राणः+शुष्यति+वै) अन्न के विना प्राण सूख ही जाता है तब ये दोनों अन्न और प्राण कैसे मन्तव्य हैं इस पर प्रातृद नाम का कोई आचार्य कहता है कि (ते+एते+ह+एव+देवते+एकधाभूयम्+भूत्वा+परमताम्+गच्छतः) किन्तु ये दोनों देवताएं एक होकर परमता अर्थात् महत्त्व को प्राप्त करती हैं पृथक् पृथक् नहीं यह इसका परमतत्त्व है। इस तत्त्व को जान प्रसन्न हो (तत्+ह+प्रातृदः+पितरम्+आह+स्म) प्रातृद नाम का कोई पुरुष पिता से जाकर कहने लगा कि हे पिता (एवं+विदुषे) जो कोई अन्न और प्राण को इस प्रकार जानता है उस विद्वान् के लिये (किं+स्विद्+एव+साधु+कुर्य्याम्) कौनसा साधु कर्म करूं कौनसा उपकार कौनसा कल्याण करूं (अस्मै+किम्+एव+असाधु+कुर्याम्) इसके लिये अशुभ ही क्या करूं अर्थात् ऐसे पुरुष नित्यतृप्त और कृतकृत्य होते हैं अतः न ये उपकार से प्रसन्न और अपकार से अप्रसन्न होते हैं। पुत्र के इस सिद्धान्त को भी हानिकर जान (सः+ह+आह+स्म+पाणिना) वह पिता हाथ से निवारण करता हुआ कहने लगा कि (मा+प्रतृद) हे पुत्र प्रातृद् ! ऐसा मत कहो (कः+तु+एनयोः+एकधाभूयम्+भूत्वा+परमताम्+गच्छति+इति) कौन पुरुष इस अन्न और प्राण को एक में मिलाकर महत्त्व को प्राप्त होता है अर्थात् कोई नहीं। तब पुनः इसको कैसे मानना चाहिये इस पर (तस्मै+उ+एतत्+उवाच) उस पुत्र से वह पिता कहने लगा कि पुत्र ! (वी+इति+अन्नम्+वै+वी) इन दोनों को मिलाकर वीर समझो इसमें प्रथम अक्षर "वी" है। अन्न को "वी" कहते हैं (इह+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+अन्ने+विष्टानि) क्योंकि ये सब प्राणी अन्न में ही विष्ट अर्थात् प्रविष्ट रहते हैं यदि अन्न इन्हें न मिले तो इनका अस्तित्व नहीं रह सकता है अतः अन्न ही "वी" है (रम्+इति) वीर शब्द में द्वितीय अक्षर "र" है (प्राणः+वै+रम्+हि+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणे+रमन्ते) प्राण को ही "र" कहते हैं क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही रमण करते हैं यदि प्राण वायु न हो तो ये जीव अपने को कैसे धारण कर सकते हैं इसी के आश्रय से सब जीव आनन्द भोग रहे हैं अतः प्राण ही "र" है इससे सिद्ध हुआ कि इन दोनों को "वीर" ऐसा मान इसके गुणों का अध्ययन करें। आगे फल कहते हैं (सर्वाणि०) जो ऐसा जानता है इसमें सब प्राणी प्रवेश करते हैं और सब प्राणी रमण करते हैं ॥ १ ॥

इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अथ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ १ ॥ यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ २ ॥ साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३ ॥ क्षत्त्रं प्राणो वै क्षत्त्रं प्राणो हि वै क्षत्त्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्त्रमत्रमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ४ ॥

अनुवाद—प्राण को ही उक्थ (स्तोत्र, यज्ञ, सामगान इत्यादि) जाने निश्चय प्राण ही उक्थ है क्योंकि प्राण ही इस सब को उठाता है । इस उपासक से उक्थवित् वीर पुरुष उठता (जन्म लेता) है जो ऐसा जानता है वह उक्थ का सायुज्य और सलोकता को प्राप्त होता है ॥ १ ॥ प्राण को ही यजुः (यजुर्वेद) जाने क्योंकि प्राण ही यजु है क्योंकि प्राण में ही ये सब प्राणी युक्त (जुड़ते) हैं इस की श्रेष्ठता के लिये सब प्राणी संयुक्त होते हैं । यजु के सायुज्य और सलोकता को वह पाता है जो ऐसा जानता है ॥ २ ॥ प्राण को सामवेद जाने । प्राण ही साम है क्योंकि ये सब प्राणी प्राण में ही संगम करते हैं=संमिलन करते हैं । इससे सबही प्राणी मिलते हैं और इसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं साम के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ३ ॥ प्राण को क्षत्र जाने प्राण ही क्षत्र है क्योंकि प्राण ही इस देह को क्षणिति (हिंसा) से त्राण करता है अतः प्राण ही क्षत्र है । वह पुरुष अत्र क्षत्र को विशेषरूप से पाता है क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

पदार्थ—उपनिषदों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध अर्थों का द्योतक उक्थ शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है । वेदों में यह स्तोत्रवाचक आया है । एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में यह अनेकार्थ होजाता है, अतः इस परिशिष्ट में उक्थादि अनेक शब्दों का अर्थ निश्चित करते हैं (उक्थम्। प्राणः+वै+उक्थम्) प्राण को ही उक्थ जाने प्राण ही इस शास्त्र में उक्थ कहाता है, उत् स्था से उक्थ बना है ऐसा मान इस अर्थ को प्राण में घटाते हैं, यथा—(हि+इदम्+सर्वम्+प्राणः+उत्थापयति) क्योंकि क्या स्थावर क्या जङ्गम इस समस्त वस्तुजात को प्राण ही उठाता है अतः प्राण ही उक्थ है "उत्थापयति यत् तद् उक्थम्" आगे फल कहते हैं—(अस्मात्+ह+उक्थविद्+वीरः+उत्+तिष्ठति) ऐसे ज्ञानी विज्ञानी पुरुष से पुत्र भी उक्थवेत्ता और वीर उठता अर्थात् उत्पन्न होता है (उक्थस्य+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह पुरुष जो ऐसा जानता है उक्थ की सलोकता और सायुज्य को पाता है (यजुः) प्राण को यजुः=यजु शब्द से गम्यमान अर्थ युक्त समझे (प्राणः+वै+यजुः) प्राण ही यजु है (इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणे+युज्यन्ते) ये सब भूत प्राण में ही युक्त होते हैं प्राण की सत्ता में ही लीन रहते हैं । आगे फल कहते हैं—(अस्मै+ह+सर्वाणि+भूतानि+श्रैष्ठ्याय+युज्यन्ते) इस तत्व के

जाननेहारे विद्वान् के लिये सब ही प्राणी श्रेष्ठता सम्पादनार्थ युक्त होते हैं अर्थात् यह ज्ञानी हम में श्रेष्ठ हो ऐसा सब ही उद्योग करते हैं और (यजुः+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) यजु के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है। युज् धातु से यजुः शब्द सिद्ध माना है "युनक्तीति यजुः" ॥ २ ॥ (साम) प्राण को सामवत् समझे (प्राणः+वै+साम) प्राण ही साम है (हि+इमानि+सर्वाणि+भूतानि+प्राणे+सम्यञ्चि) क्योंकि ये सब प्राणी प्राण ही में आकर संगत अर्थात् इकट्ठे होते हैं। अतः प्राण ही साम है। आगे फल कहते हैं—(अस्मै सर्वाणि+भूतानि+सम्यञ्चि) इस ज्ञानी के लिये सब प्राणी संगत होते हैं केवल संगत ही नहीं किन्तु (श्रैष्ठ्याय+कल्पन्ते) इसकी श्रेष्ठता के लिये समर्थ होते हैं। (साम्नः+सायुज्यम्+सलोकताम्+जयति+यः+एवम्+वेद) वह साम के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है। यहां सम् अन्च् धातु से साम की सिद्धि मानी गई है "सम्यगञ्चन्ति संगच्छते अस्मिन्निति साम" जिसमें सब कोई संगत हों वह साम है ॥ ३ ॥ (क्षत्रम्) इस प्राण को ही क्षत्र (क्षत्रिय वर्ण अथवा बल) मानकर इसके गुण का अध्ययन करे (प्राणः+वै+क्षत्रम्) प्राण ही क्षत्र है, आगे क्षत्र शब्दार्थ प्राण में घटाते हैं। क्षत् त्र इन दो शब्दों से क्षत्र बना है। शस्त्रादिकों से जो घाव होता है वह क्षत् उससे जो रक्षा करे वह क्षत्र कहाता है। इसी भाव को अब दिखलाते हैं—(एनम्) इस देह को (क्षणितोः+प्राणः+त्रायते) क्षणितुः=क्षत से जिस कारण प्राण बचाता है अतः (प्राणः+हि+वै+क्षत्रम्) प्राण ही क्षत्र अर्थात् क्षत्रिय वर्ण वा बल है, आगे फल कहते हैं—(अत्रम्+क्षत्रम्+प्र+आप्नोति) अत्र=जिसकी। रक्षा=त्राण दूसरे से न हो सके वह अत्र अर्थात् महातेजस्वी ओजस्वी क्षत्र को पाता है और (क्षत्रस्य+सायुज्यम्०) क्षत्र के सायुज्य और सलोकता को पाता है जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ १ ॥

अनुवाद—भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ (दिवौ) इनमें आठ अक्षर हैं और गायत्री के एक चरण में भी आठ ही अक्षर हैं अतः इस गायत्री का यह एक चरण ये तीन-भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं सो जो कोई इसके इस चरण को ऐसा जानता है वह इन तीनों लोकों में जितना प्रासव्य है उतना पाता है ॥ १ ॥

पदार्थ—(भूमिः+अन्तरिक्षः+द्यौः+इति+अष्टौ+अक्षराणि) भू, मि, अं, त, रि, क्ष ये छः अक्षर होते हैं और द्यौ में दि, वौ, विश्लेष करने से दो अक्षर होते हैं इस प्रकार इन तीनों में आठ अक्षर होते हैं और तत्, स, वितु, र्व, रे, ण्यम् (णि, यम्) इस प्रकार (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वै) गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अर्थात् इसमें भी आठ अक्षर हैं इस कारण

(अस्याः+एतद्+उ+ह+एव) इस गायत्री का यह एक पद, निश्चय (एतत्) ये तीनों लोक हैं। आगे फल कहते हैं—(अस्याः+एतद्+पदम्+यः+एवम्+वेद) इसके इस एक पद को जो इस रीति से जानता है (एषु+त्रिषु+लोकेषु+यावत्) इन तीनों लोकों में जितना प्राप्तव्य है (सः+तावद्+ह+जयति) उतना वह पाता है ॥ १ ॥

ऋचो यजूंषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ २ ॥

अनुवाद—ऋ, चः, य, जूं, षि, सा, मा, नि ये आठ अक्षर होते हैं और गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अतः इसका एक पद ये तीनों ऋचः यजूंषि सामानि वेद है यह त्रयीविद्या जितनी है उतना वह पाता है जो इसके इस पद को ऐसा जानता है ॥ २ ॥

पदार्थ—(ऋचः+यजूंषि+सामानि+इति+अष्टौ+अक्षराणि) ऋ, चः, य, जूं, षि, सा, मा और, नि ये आठ अक्षर हैं (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वै) और गायत्री के "भ, र्गो, दे, व, स्य, धी, म, हि" इस एक पद में भी आठ अक्षर हैं अतः (एतस्याः+एतद्+उ+ह) इस गायत्री का यह एक चरण (एतत्) ये तीनों वेद हैं। आगे फल कहते हैं—(यावती+इयम्+त्रयीविद्या) जितनी यह तीनों विद्याएं हैं (तावद्+ह+सः+जयति+यः+अस्याः+एतद्+पदम्+एवम्+वेद) उतना वह पाता है जो इसके इस पद को इस प्रकार जानता है ॥ २ ॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्व्वमुह्येवैष रज उपर्य्युपरि तपत्येवं हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३ ॥

अनुवाद—प्राण अपान और व्यान इन तीन शब्दों में आठ अक्षर हैं और गायत्री का एक पद भी अष्टाक्षर है अतः इसका यह पद ये तीनों प्राण, अपान और व्यान हैं जितना यह प्राणी समुदाय है उतना यह पाता है जो इसके इस पद को ऐसा जानता है अब इसका यही तुरीय दर्शतपद है जो परोरजा है और जो यह तप रहा है जो यह चतुर्थ है वही तुरीय है जो दृष्ट सा है वह दर्शत पद है और यह परोरजा है जो यह सर्व राजसात्मक लोक के ऊपर ऊपर तप रहा है। इसी प्रकार वह (उपासक) भी श्री और यश से प्रकाशित होता है जो इसके इस पद को ऐसा जानता है ॥ ३ ॥

पदार्थ—(प्राणः+अपानः+व्यान+इति+अष्टौ+अक्षराणि) प्राण अपान और व्यान इन तीनों में अष्टाक्षर हैं (गायत्र्यै+एकम्+पदम्+अष्टाक्षरम्+ह+वै) और गायत्री के "धियो यो नः प्रचोदयात्" इस एक पद में भी आठ अक्षर हैं अतः (अस्याः+एतद्+उ+ह+तत्) इस गायत्री का यह पद ये तीन प्राण अपान और व्यान हैं। आगे फल कहते हैं—(यावद्+इदम्+प्राणि+तावत्+ह+सः+जयति) जितना यह प्राणीसमूह है उतना वह प्राप्त करता है (यः+अस्या+एतत्+पदम्+एवम्+वेद) जो उपासक इस गायत्री के (धियो+यो+नः+प्रचोदयात्) इस पद को इस रीति से जानता है, शब्दात्मक गायत्री के तीन पद कहे गए हैं और इसका जो मुख्य वाच्य परमात्मा है यही चतुर्थ पद है इसी भाव को अब

दिखलाते हैं—(अथ) अब शब्दात्मक गायत्री के वर्णन के पश्चात् वाच्य का निरूपण करते हैं। (अस्याः) इसके ये ही—१ तुरीय, २ दर्शतंपद, ३ परोरजा हैं यह तप रहा है इन पदों का स्वयं ऋषि अर्थ करते हैं (यद्+वै+चतुर्थम्+तत्+तुरीयम्) जो चतुर्थ है वही तुरीय है अर्थात् तुरीय शब्द का अर्थ चतुर्थ है (ददृशे+इव+दर्शतम्+पदम्+इति) ददृशसा दर्शत पद है भाव इसका यह है कि परमात्मा सर्वथा दृश्य नहीं होता है इसी हेतु इसको ददृशे इव कहा है अर्थात् दृश्य के समान है परन्तु सर्व मनुष्यों को दृष्टिगोचर नहीं होता यहां "ददृशे" परोक्ष लिट् लकार है इससे भी यह दिखलाया कि यह परोक्ष अथवा पुरातन ऋषियों से दृष्ट सा है यही परमात्मा दर्शनपद अर्थात् दर्शनीय चतुर्थ पद है पुनः (एषः+एव+परोरजाः) यही परोरजा है। परोरजा का स्वयं अर्थ करते हैं (सर्वम्+उ+हि+रजः) जो कुछ हम देखते हैं वे सब रञ्जनात्मक रजोगुण युक्त क्षणिक हैं (एषः हि+एव उपरि+उपरि+तपति) रजोगुण संसार के ऊपर ऊपर जो यह प्रकाशित हो रहा है वह परोरजा है=जो रजस् लोक लोकान्तर से परे है वह परोरजा कहाता है। अब आगे फल कहते हैं—(एवम्+ह+एव+श्रिया+यशसा+तपति) वह उपासक इसी प्रकार शोभा से और यश से प्रकाशित होता है (यः+अस्याः+एतद्+पदम्+एवम्+वेद) जो इस गायत्री के इस चतुर्थ पद को ऐसा जानता है ॥ ३ ॥

सैषा गायत्र्येतस्मिंस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहम-श्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलं सत्यादोगीय इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रेतद्यद्गयांस्तत्रेतस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूं सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणांस्त्रायते ॥४॥

अनुवाद—चतुर्थ जो दर्शत पद है जो पद सर्व के ऊपर रहने के कारण परोरजा कहाता है इस पद के आश्रय में सो यह गायत्री प्रतिष्ठिता है। सत्य के आश्रय में वह पद प्रतिष्ठित है नयन के समान ही सत्य है क्योंकि नयन ही के समान सत्य है इस हेतु जब दो आदमी विवाद करते हुए आते हैं एक तो कहता है कि मैंने देखा है दूसरा कहता है कि मैंने सुना है सो इन दोनों में से जो कहता है कि मैंने देखा है इसी के लिये हम श्रद्धा करते हैं (सुनने वाले के लिये नहीं)। बल के आश्रय में यह सत्य प्रतिष्ठित है। प्राण के समान ही बल है वह सत्य प्राण में प्रतिष्ठित है इस हेतु कहते हैं कि सत्य से बल ओजस्वी है। इसी प्रकार यह गायत्री अध्यात्मक के आश्रय में प्रतिष्ठिता है सो इसने गयों की रक्षा की है निश्चय प्राण ही गय हैं इसने प्राणों की रक्षा की है जिस हेतु इसने गयों की रक्षा की है अतः इसका गायत्री नाम है। सो यह (आचार्य उपनयन के समय वटुक से) जिस सावित्री को कहता है वह यही गायत्री है। वह (आचार्य) जिस (शिष्य) को इस गायत्री का उपदेश देता है उसके प्राणों की यह रक्षा करती है ॥ ४ ॥

पदार्थ—(तुरीये) चतुर्थ=चौथा (परोरजसि) रजस=सूर्यलोक, पृथ्वीलोक, चन्द्रलोक आदि इन लोकों से जो पर=उत्कृष्ट, दूर, ऊपर, विद्यमान हो वह परोरजा है (दर्शते+पदे) दर्शनीय=दृश्यसा पद (एतस्मिन्) इस तुरीये परोरजा दर्शत पद के आश्रय में (सा+एषा+गायत्री+प्रतिष्ठिता) सो यह गायत्री प्रतिष्ठित है अर्थात् यह गायत्री उसी परमात्मा को कहती है (तद्+वै+तत्+सत्ये+प्रतिष्ठितम्)

वह परमात्मपद भी सत्य के आश्रय पर ही प्रतिष्ठित है। यदि सत्य नहीं तो उस परमात्मा के ज्ञान के लिये कौन प्रयत्न करे। जो जितना ही सत्य का अन्वेषण करेगा उसको उतना ही परमात्मा का बोध होगा वह सत्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञातव्य है दूसरे के कथनमात्र पर विश्वास कर उस सत्य को न मान लेवे किन्तु श्रवण मनन निदिध्यासनादि व्यापार से सत्य को प्रत्यक्षरूप से जाने सत्य नेत्र के समान सहायक है इस भाव को जनाने के लिये आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं (चक्षुः+वै+सत्यम्) नयन के समान ही सत्य (चक्षुः+हि+वै+सत्यम्) नयन से जो कुछ देखते हैं उनमें भी अनेक भ्रम होते हैं किन्तु बहुत न्यून दिन में प्रत्यक्षरूप से देखकर कह देते हैं कि यह मनुष्य यह पशु यह सर्प यह रज्जु है कहीं कहीं नेत्र से देखते हुए भी चन्द्र नक्षत्र की आकृति का यथार्थ बोध नहीं कर सकते दूरस्थ पदार्थ के विषय में भी यही दशा है। तथापि समीपस्थ वस्तु को जिसको अच्छी तरह देखते हैं नेत्र से देख निश्चय कर लेते हैं अतः पुनः ऋषि कहते हैं कि चक्षु ही के समान सत्य है (तस्माद्+यद्+इदानीम्+द्वौ+विवदमानौ+ऐयाताम्) इस हेतु जब दो पुरुष विवाद करते हुए आते हैं (अहम्+अदर्शम्+अहम्+अश्रौषम्+इति) एक कहता है कि मैंने देखा है दूसरा कहता है कि मैंने सुना है (यः+एवम्+ब्रूयाद्+अहम्+अदर्शम्+इति) उन दोनों में से जो यह कहे कि मैंने देखा है (तस्मै+एव+श्रद्दध्याम) उसी के ऊपर हम श्रद्धा करेंगे और दूसरे के ऊपर नहीं (तद्+वै+तत्+सत्यम्+बले+प्रतिष्ठितम्+प्राणः+वै+बलम्+तत्+प्राणे+प्रतिष्ठितम्) वह सत्य बल के आश्रय से प्रतिष्ठित है प्राण के तुल्य बल है। प्राण के समान बल में ही वह सत्य प्रतिष्ठित है। बल=धार्म्मिक बल की न्यूनता होजाती है फिर सत्य की प्राप्ति नहीं होती। वह बल प्राण के समान है अतः प्राण को ही बल कहते हैं (तस्माद्+आहुः+सत्यात्+बलम्+ओगीयः+इति) इसलिये कहते हैं कि सत्य से बल ओगीय=ओजस्वी, बलवत्तर है क्योंकि यदि धार्मिक बल नहीं तो सत्य छिप जाता है सत्य की रक्षा के लिये बल की आवश्यकता है (एवम्+उ) जैसे कहा है कि वह तुरीय पद सत्य के ऊपर, सत्य बल के ऊपर प्रतिष्ठित है। बल अध्यात्म वस्तु है इसी प्रकार (एषा+गायत्री+अध्यात्मम्+प्रतिष्ठिता) गायत्री केवल तुरीयपद पर ही प्रतिष्ठित नहीं है किन्तु अध्यात्म जो नयन, श्रोत्र, वागादि प्राण हैं उनमें भी प्रतिष्ठिता है क्योंकि यदि इसको मुख से न बोलें, मन से मनन न करें, बुद्धि से न देखें तो इसका ज्ञान ही कैसे हो सकता। गायत्री यह शब्द ही बतलाता है कि यहप्राणों से सम्बन्ध रखने हारी है कैसे (सः+एषा+इ+गयान्+तत्रे+प्राणाः+वै+गयाः+तान्+तत्रे) गय नाम प्राणों का है त्रै धातु से त्र, त्री आदि शब्द बनते हैं। गयों की जो रक्षा करे वह गायत्री कहाती है (तत्+यद्+गयान्+तत्रे+तस्माद्+गायत्री) जिस कारण इस ऋचाने प्राणों की रक्षा की है अतः इसका गायत्री नाम हुआ, अतः यह अध्यात्म से सम्बन्ध रखती है। पुनः इसकी प्रशंसा करते हैं—(सः) वह प्रसिद्ध आचार्य उपनयन के समय (याम्+एव+अमुम्+सावित्रीम्+अन्वाह) जिस सावित्री की प्रथम एक पद पुनः आधी ऋचा पुनः समस्त ऋचा को बटुक से कहता है (एषा+एव+सा) यह वही गायत्री है इसका देवता सविता है अतः इसको सावित्री कहते हैं यही गायत्री उपनयन के समय में कही जाती है (सः+यस्मै+आह+तस्य+प्राणान्+त्रायते) वह आचार्य्य इस ऋचा को जिससे कहता है उसके प्राणों की यह रक्षा करती है ॥४॥

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवं विद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद् गायत्र्या एकञ्च न पदं प्रति ॥ ५ ॥

अनुवाद—कोई आचार्य इस सावित्री अनुष्टुप् का उपदेश देते हैं वे इसमें हेतु देते हैं कि अनुष्टुप् वाणी है इस हेतु हम वाणी का उपदेश देते हैं (जो इस समय योग्य है) इस पर ऋषि कहते हैं कि ऐसा न करें किन्तु सावित्री गायत्री का ही उपदेश देवें यदि ऐसा जाननेहारा विद्वान् बहुत भी प्रतिग्रह (दान) लेवे तो भी गायत्री के एक पद के भी वह बराबर नहीं है ॥ ५ ॥

पदार्थ—कोई कोई अन्य शाखावलम्बी आचार्य "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इस गायत्री मन्त्र का उपनयन के समय उपदेश नहीं करते किन्तु "तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरङ्गमस्य धीमहि" इस मन्त्र का उपदेश करते हैं। इस ऋचा का देवता सविता है अतः इसको भी सावित्री कहते हैं इसका छन्द अनुष्टुप् है अतः वह अनुष्टुप् कहाता है, यहां ऋषि कहते हैं कि "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इसी गायत्री का अनुशासन करना चाहिये और "तत् सवितुर्वृणीमहे" इस अनुष्टुप् का उपदेश इस इस समय न करे यथा (एके+ताम्+ह+एताम्+सावित्रीम्+अनुष्टुभम्+आहुः) कोई अन्य शाखी आचार्य "तत् सवितुर्वृणीमहे" इस सावित्री अनुष्टुप् का उपनयन के समय उपदेश करते हैं और इस के लिये हेतु देते हैं कि (वाग्+अनुष्टुप्+एतद्वाचम्+अनुब्रूमः+इति) अनुष्टुप् छन्द वाक् अर्थात् वेदस्वरूप है इस हेतु इस वाक् को अनुवचन (उपदेश करते हैं) क्रमशः जिसका उपदेश दिया जाता उसे अनुवचन कहते हैं अनु=ब्रू धातु का यही अर्थ है। (न+तथा+कुर्यात्+गायत्रीम्+एव+सावित्रीम्+अनुब्रूयात्) इस पर कहते हैं ऐसा कोई न करे अर्थात् अनुष्टुप् का उपदेश न करें किन्तु गायत्री का ही उपदेश करे जो सावित्री कहाती है। सविता=जनयिता पिता परमात्मा जिसका देवता हो वह सावित्री। अब आगे फल कहते हैं (यदि+ह+वै+अपि+एवंविद्+बहु+इव+प्रतिगृह्णाति) यदि गायत्रीविद् पुरुष बहुतसा धन प्रतिग्रह अर्थात् दान में लेवे तो भी वह प्रतिग्रह (गायत्र्याः+तत्+एकंचन+पदम्+प्रति+न+हैव) गायत्री के एक पद का भी तुल्य नहीं अर्थात् ऐसा विद्वान् यदि यज्ञ में अधिक दक्षिणा प्रयोजनवश ले लेवे तो वह अधिक नहीं है ॥ ५ ॥

स य इमां स्त्रींल्लोकान् पूर्णान् प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद् द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत् प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पद माप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६ ॥

अनुवाद—सो जो कोई इन पूर्ण तीनों लोकों का प्रतिग्रह (दान) लेता है। वह प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पद के बराबर है और यह त्रयी विद्या जितनी है उतना जो प्रतिग्रह लेता है वह इसके द्वितीय पद के बराबर है और जितना यह प्राणिसमूह है जो उतना प्रतिगृह लेता है वह इस तृतीय पद के बराबर है और इसका यही चतुर्थ दर्शत पद है जो परोरजा है और जो यह प्रकाशित हो रहा है। इसके बराबर कोई वस्तु है ही नहीं फिर वह कहां से उतना प्रतिग्रह लेगा ॥ ६ ॥

पदार्थ—पुनः गायत्री की ही महिमा को विशेषरूप से दिखलाते हैं। सोना, चांदी, पशु, अन्न आदि सामान्य प्रतिग्रह को तुच्छ समझ महा असम्भव प्रतिग्रह को दिखलाते हुए सूचित करते हैं कि गायत्री के तत्त्ववित् किसी प्रतिग्रह को क्यों न लेवे वह अपनी योग्यता से अधिक नहीं लेता है, अतः वह दोषी नहीं। (सः+यः+इमान्+त्रीन्+लोकान्+पूर्णान्+प्रतिगृह्णीयात्) सो जो कोई गायत्रीविद्

पुरुष इन तीनों लोकों को धनधान्य से पूर्ण कर प्रतिग्रह में ले लेवे (सः+अस्याः+एतत्+प्रथमम्+पदम्+आप्नुयात्) वह प्रतिग्रह इस गायत्री के "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इसी प्रथम पद को प्राप्त करेगा अर्थात् इतना प्रतिग्रह गायत्री के प्रथमपद के बराबर है, परन्तु तीनों लोकों का दानदाता और प्रतिग्रहीता कौन है ? (अथ+यावती+इयम्+त्रयी+विद्या+यः+तावत्+गृह्णीयात्+सः+अस्याः+एतद्+द्वितीयं+पदं+आप्नुयात्) और जितनी यह त्रयी विद्या ऋग्, यजु, साम है उतना जो कोई प्रतिग्रह में लेता है वह प्रतिग्रह इस गायत्री के भर्गो देवस्य धीमहि" इसी द्वितीय पद को पाता है अर्थात् उतना प्रतिग्रह गायत्री के द्वितीय पद के बराबर है इसी प्रकार (अथ+यावद्+इदम्+प्राणि+यः+तावत्०) और जितना प्राणीसमूह है उतना कोई प्रतिग्रह लेता है तो वह गायत्री के तृतीय पद "धियो यो नः प्रचोदयात्" के बराबर है। (अथ+अस्याः+एतद्+एव+तुरीयं+दर्शतं+पदं+परोरजा+यः+एषः+तपति) और इसका यही चतुर्थ पद है जो परोरजा है और जो सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है (न+एव+केनचन+आप्यम्) किसी प्रतिग्रह से यह तो प्राप्त हो ही नहीं सकता अर्थात् इस चतुर्थ पद के बराबर कोई दान ही नहीं तब (कुतः+उ+एतावत्+प्रतिगृह्णीयात्) वह उतना कहां से प्रतिग्रह ले सकता है ॥ ६ ॥

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७ ॥

अनुवाद—उस गायत्री का उपस्थान कहा जाता है। गायत्री ! तू एकपदी द्विपदी त्रिपदी और चतुष्पदी है। तू अपद है क्योंकि तू नहीं जानी जाती तुझे नमस्कार हो जो तू चतुर्थपरोरजा दर्शत पद है। वह पापिष्ठ और पापकर्म मुझको प्राप्त न हो। विद्वान् जिस पापिष्ठ से द्वेष करता है वह नष्ट होजाय। उसके लिये अभिलषित पदार्थ समृद्ध न हो अथवा अवश्य ही उस पापिष्ठ का वह काम समृद्ध नहीं होता है जिसके लिये इस प्रकार गायत्रीविद् उपस्थान करता है। मैं इसी अभीष्ट को पाऊं ॥ ७ ॥

पदार्थ—(तस्याः+उपस्थानम्) अब गायत्री का उपस्थान कहते हैं। ध्येय देवता को मन से प्रत्यक्ष देखता हुआ समीप में उपस्थित हो प्रार्थना करने का नाम उपस्थान है। (गायत्री+असि+एकपदी) हे गायत्री ! ये तीनों लोक तेरा एक पद है अतः तू एकपदी है (द्विपदी+त्रिपदी+चतुष्पदी) त्रयी विद्या तेरा द्वितीय पद है अतः तू द्विपदी है। प्राण तेरा तृतीय पद है अतः तू त्रिपदी है। दर्शत पद तेरा चतुर्थ पद है अतः तू चतुष्पदी है (अपद्+असि+न+हि+पद्यसे) यद्यपि तू चतुष्पदी है तथापि तू अपद अर्थात् अपदी है क्योंकि तू नहीं जानी जाती है। यहां गायत्रीवाच्य परमात्मा को ही गायत्रीत्वेन ध्यान कर यह वर्णन किया गया है (नमः+ते+तुरीयाय+दर्शताय+पदाय+परोरजसे) तुझे नमस्कार है जो तू चतुर्थ दर्शत पद है और लोकलोकान्तर से परे रहने के कारण परोरजा कहाती है। हे गायत्री ! (असौ+अदः+मा+प्रापद्+इति) तेरी कृपा से यह पापरूप भयङ्कर शत्रु वा पापिष्ठ पुरुष मुझको कदापि भी प्राप्त न हो (यम्+द्विष्यात्+असौ+अस्मै+कामः+मा+समृद्धि+इति) विद्वान् जिस पापिष्ठ पुरुष से द्वेष करें उसकी कोई अभिलाषा न बढ़ने पावे (वा) अथवा यह निश्चय ही है कि (न+एव+ह+अस्मै+सः+कामः+समृध्यते) इस दुष्ट पापिष्ठ पुरुष का वह अभीष्ट कभी भी नहीं बढ़ता है (यस्मै+

एवम्+उपतिष्ठते) जिस पापिष्ठ के लिये गायत्रीविद् जब यह कहता है कि (अहम्+अदः+प्रापम्+इति) मैं इस अभिलषित वस्तु को पाऊं तब वह उसको अवश्य ही पालेता है। यह गायत्री का महात्म्य है अतः जिसके लिये वह अभिशाप करता है वह अवश्य ही नष्ट होजाता है ॥ ७ ॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नुहो तद्गायत्रीविद्ब्रूथा अथ कथं हस्तीभूतो वहसीति मुखं ह्यस्याः सम्राण् न विदाञ्चकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्वीवाग्नावभ्यादधाति सर्व्वमेव तत् सन्दहत्येवं हैवैवंविद्यद्यपि बह्वीव पापं कुरुते सर्व्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतो जरोऽमृतः सम्भवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—इसके विषय में यह कहा जाता है कि एक समय जनक वैदेह ने आश्वतराश्वि बुडिल नाम के आचार्य से कहा कि यह आश्चर्य की बात है कि आप अपने को गायत्रीविद् कहते हैं तब कैसे हस्ती के समान ढोरहे हैं उनको उत्तर दिया कि हे सम्राट्! मैंने इसका मुख नहीं जाना है जनक ने कहा कि हे आचार्य ! उसका अग्नि ही मुख है सो यदि कोई अग्नि के ऊपर कितना ही बहुत रखता है वह अग्नि उस सब को भस्म कर देता है। ऐसा ही एवंविद् पुरुष यद्यपि बहुतसा प्रतिग्रह-ग्रहणरूप पाप करता है तथापि उस सबको खाके शुद्ध, पूत, अजर और अमर ही होता है ॥ ८ ॥

पदार्थ—(एतत्+ह+वै+तत्) इस गायत्री के विषय में यह एक सम्वाद कहाजाता है (जनकः+वैदेहः) जनक वैदेह सम्राट् ने (अश्वतराश्विम्+बुडिलम्+उवाच) अश्वतर का पुत्र आश्वतराश्वि जो बुडिल नाम का कोई श्रोत्रिय था उनसे कहा कि हे श्रोत्रिय ! (यत्+नु+ह+तत्) नु=वितर्क, ह=आश्चर्य, मैं तर्क करता हूं कि यह आश्चर्य की बात है कि (गायत्रीविद्+अब्रूथाः) आप सर्वदा अपने को गायत्रीविद् कहा करते हैं (अथ+कथम्+हस्तीभूतः+वहसि+इति) तब कैसे हस्ती के समान अर्थात् दूसरे के लिये चारा ढोते हुए वा अन्ध हाथी के समान होके वहन कर रहे हैं अर्थात् इस प्रकार इस संसार में फंसे हुए हैं (मुखम्+हि+अस्याः+सम्राट्+न+विदाञ्चकार+इति) हे सम्राट् ! मैंने इस का मुख नहीं जाना है अतः मैं हस्तीभूत होरहा हूं ऐसा बुडिल ने उत्तर दिया। इस पर (ह+उवाच) राजा ने कहा कि (तस्याः+अग्निः+एव+मुखम्) उस गायत्री का अग्नि ही मुख है । (यदि+ह+वै+अपि+बहु+इव+अग्नौ+अभ्यादधाति) हे श्रोत्रिय ! यदि कोई पुरुष अग्नि के ऊपर बहुतसा इन्धन रखदेता है (तत्+सर्वम्+संदहति) अग्नि उस सब को दग्ध करदेता है (एवम्+ह+एव+एवंविद्+यद्यपि+बहु+इव+पापम्+कुरुते) इसी दृष्टान्त के समान ही गायत्री का मुख अग्नि है ऐसा जाननेहारा पुरुष यद्यपि बहुतसा प्रतिग्रह लेकर अपराध करता है तथापि (तत्+सर्वम्+एव+संप्साय) उस सब दोष को खाकर (शुद्धः+पूतः+अजरः+अमृतः+संभवति) शुद्ध पूत, अजर और अमर होता है ॥ ८ ॥

इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

अथ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ओम् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १ ॥

अनुवाद—सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँका हुआ है। हे पूषन् ! सत्यधर्म्म के दर्शन के लिये तू उसको वहां से अलग कर दे। हे पूषन् ! हे एकर्षे ! हे यम ! हे सूर्य ! हे प्राजापत्य ! प्रतिबन्धकों (विघ्नों) को दूर करदे। तेज दिखला, जिससे कि जो तेरा कल्याणरूप है तेरे उस रूप को मैं देख लूं। जो वह पुरुष है वैसा ही मैं हूं। आन्तरिक वायु (प्राण) बाह्य वायु में मिल जाय मैं तुझ अमृत में मिलूं और यह शरीर भस्मान्त हो जाय। हे सर्वरक्षक ! हे विश्वकर्त्ता ! मुझे स्मरण रख (अथवा हे जीव क्रतो ! हे कर्म्मकारिन् जीव ! परमात्मा सर्वरक्षक ओम् को सुमर, अपना कर्म सुमर, हे क्रतो जीव ! ओम् का स्मरण कर। निजकृतकर्म का स्मरण कर) हे अग्ने प्रकाशमय देव ! अपनी सम्पत्ति दिखलाने के लिये हम को शोभन मार्ग से ले चल हे देव ! तू निखिल ज्ञान विज्ञान और मार्ग को जाननेहारा है। कुटिल पाप को हमसे पृथक् कर तुझे बहुत नमस्कार समर्पित करते हैं ॥ १ ॥

पदार्थ—(हिरण्मयेन+पात्रेण+सत्यस्य+मुखम्+अपिहितम्) सोने के पात्र से सत्य का मुख ढँका हुआ है (पूषन्+सत्यधर्म्माय+दृष्टये) हे सम्पूर्ण जगत् का पोषणकर्त्ता परमात्मा ! उस सत्यधर्म्म के दर्शन के लिये (त्वम्+तद्+अपावृणु) तू उस सत्य के आवरण को दूर कर दे। जैसा सात्त्विक उपासक को प्रार्थना करनी चाहिये वैसा कोई प्रार्थना करता है कि संसार के सब पुरुष प्रायः क्षणिक, सोने, चांदी, पुत्र कलत्र बन्धु आदि सम्पत्तियों में फंसे हुए हैं अथवा यह सांसारिक धन इतने बढ़े हुए हैं कि इनके मद में ईश्वर को सब भूल बैठे हैं। दूसरे अकिंचन पुरुषों को दास बना अपनी पूजा करवाते हैं हे परमात्मा ! किन्तु मैं सत्यधर्म का अन्वेषण करता हूं मुझे सत्य की ओर ले चलो इत्यादि इसका भाव है यहां सत्यधर्म्माय इस पद का कोई कोई यह अर्थ करते हैं "सत्या धर्म्मा यस्य तस्मै सत्यधर्म्माय" सत्यधर्म वाला जो मैं हूं उस मेरे लिये दर्शनार्थ आवरण को दूर कीजिये (पूषन्+एकर्षे+यम+सूर्य+प्राजापत्य) पूषन्=हे पोषक ! एकर्षेः=हे प्रधानद्रष्टा ! यम=हे नियन्ता ! सूर्य=हे प्रेरणकर्त्ता ! प्राजापत्य=हे प्रजाओं में निवासकर्त्ता ! (व्यूह+रश्मीन्) सत्यधर्म के दर्शन में प्रतिबन्धक पाशों को दूर करो (तेजः+समूह) और अपना तेज दिखलाओ (ते+यद्+रूपम्+कल्याणतमम्+ते+तत्+पश्यामि) तेरा जो अतिशय कल्याणकारी स्वरूप है उसको मैं देखूं हे भगवन् ! मैं पापिष्ठ नहीं किन्तु मैं सूर्य के समान शुद्ध हूं (यः+असौ+पुरुषः) जो यह सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि में शुद्ध सामर्थ्य है वह वह जो सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पदार्थ जड़ होने से शुद्ध हैं (सः+अहम्+अस्मि) वैसा

ही शुद्ध मैं हूं अतः मुझे दर्शन देवें। हे भगवन्! यदि इस शरीरसहित मुझ को दर्शन नहीं देते तो तत्पश्चात् भी दर्शन दीजिये (वायुः+अनिलम्) मेरे शरीर में जो यह भीतरी प्राण है वह अब बाह्यवायु में मिलजाय और मैं (अमृतम्) अमृतस्वरूप आपको मिलूं (अथ+इदम्+शरीरम्+भस्मान्तम्) और यह मेरा शरीर भस्मान्त हो जाय (ओम्+क्रतो) हे सर्वरक्षक ओम् परमात्मन्! हे क्रतो हे आश्चर्य्यकर्मकर्त्ता जगत्कर्त्ता (स्मर) मेरा स्मरण कीजिये मुझे मत भूलिये (कृतम्+स्मर) मेरे सब कर्म का स्मरण कीजिये (क्रतो+स्मर+स्मर+कृतम्) दृढता के लिये वे ही वाक्य दुहराए गए हैं। कोई कोई इस भाग का अर्थ जीवात्मपरक करते ईश्वर से प्रार्थना कर निज जीवात्मा से उपासक कहता है कि (क्रतो+ओम्+स्मर) क्रतो=हे कर्म करने हारा जीव! मरने के समय में तू ओम्=परमात्मा का स्मरण कर (स्मर+कृतम्) अपने किये हुए कर्म्म का भी स्मरण कर (क्रतो+स्मर+स्मर+कृतम्) हे जीवात्मन्! परमात्मा का स्मरण कर अपने कृतकर्म को सुमर (अग्ने+सुपथा+अस्मान्) हे सर्वव्यापी तेजस्वी परमात्मन्! सुन्दर मार्ग से हमको (राये+नय) अपनी परम सम्पत्ति दिखलाने के लिये ले चलो (देव+विश्वानि+वयुनानि+विद्वान्) हे देव! तू सर्वज्ञान, सब कर्म, सब मार्ग जानने हारा है हे देव! (जुहुराणम्) परमकुटिल (एनः) पाप को (अस्मद्) हमसे (युयोधि) दूर कर (ते+भूयिष्ठाम्+नमउक्तिम्+विधेम) हे देव! तुझे बहुत से नमस्कार करके तेरी सेवा हम किया करें, यह आशीर्वाद दो ॥ १ ॥

इति पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये पञ्चमाध्यायस्य भाष्यं समाप्तम् ॥

अथ षष्ठाध्यायारम्भः ॥

अथ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ २ ॥ यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३ ॥ यो ह वै सम्पदं वेद सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पत् श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सं हास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४ ॥ यो ह वा आयतनं वेदायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनं स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५ ॥ यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभीरेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६ ॥ ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचु को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह अपने ज्ञातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो ऐसा जानता है वह अपने ज्ञातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है और जिन में होने की इच्छा रखता है उनमें भी वह ज्येष्ठ श्रेष्ठ होता है ॥ १ ॥ जो कोई वसिष्ठा को जानता है वह अपनी ज्ञातियों में वसिष्ठ होता है। वाणी ही वासिष्ठा है। जो ऐसा जानता है वह अपने ज्ञातियों में वसिष्ठ होता है और जिन में होने की इच्छा करता है उन में भी वह वसिष्ठ होता है ॥ २ ॥ जो प्रतिष्ठा को जानता है वह सब में प्रतिष्ठित होता है दुर्ग में प्रतिष्ठित होता है चक्षु ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि चक्षु से ही सम और दुर्ग में प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसा जानता है वह सम में०॥३॥ जो कोई सम्पद् को जानता है वह जिस कामना को चाहता है वह उसको अच्छे प्रकार प्राप्त होता है। श्रोत्र ही सम्पद् है क्योंकि श्रोत्र में ही ये सब वेद संप्राप्त होते हैं। जो ऐसा जानता है उस को वह सब कामनाएं प्राप्त होती हैं जिस को वह चाहता है ॥ ४ ॥ जो कोई आयतन को जानता है वह निज और परजनों का आयतन=आश्रय होता ही है। मन ही आयतन है। जो ऐसा जानता है वह० ॥ ५ ॥ जो कोई प्रजाति को जानता है वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता ही है। रेत

ही प्रजाति है। जो ऐसा जानता है वह० ॥ ६ ॥ सो ये प्राण (इन्द्रियगण) अपनी अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करते हुए प्रजापति के निकट पहुंचे और उन से पूछा कि हम लोगों में वसिष्ठ=सर्वश्रेष्ठ=वसने या वसानेहारा कौन है ? तब प्रजापति ने कहा आप में वही वसिष्ठ है आपमें से जिसके चले जाने से इस शरीर को पापिष्ठ माने ॥ ७ ॥

पदार्थ—(यः+ज्येष्ठम्+च+श्रेष्ठम्+च+वेद) जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वह (स्वानाम्) अपने बन्धु बान्धव और जातियों में (ज्येष्ठः+च+भवति+ह+वै) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता ही है इसमें सन्देह नहीं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कौन है ? सो आगे कहते हैं—(प्राणः+वै+ज्येष्ठः+श्रेष्ठः+च) निश्चय यह शरीरस्थ प्राण ही इन इन्द्रियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, पुनः फल कहते हैं—(स्वानाम्०) इत्यादि पूर्ववत् (अपि+च+येषाम्+बुभूषति) केवल अपने ज्ञातियों में ही नहीं किन्तु जिस किसी के मध्य में वह उपासक ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होना चाहता है उनमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो ही जाता है (यः+एवम्+वेद) पूर्ववत् ॥ १ ॥ (यः+वसिष्ठाम्+वेद) जो कोई वसिष्ठा को जानता है वह (स्वानाम्+वसिष्ठः+भवति+ह+वै) वह अपने ज्ञातियों में अवश्य ही वसिष्ठ=श्रेष्ठ अथवा अतिशय वसने वसानेहारा अथवा पराजय करनेहारा होता ही है। वसिष्ठा कौन है सो आगे कहते है—(वाग्+वै+वसिष्ठा) वह वाणी ही वसिष्ठा है (स्वानाम्+वसिष्ठः) इत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥ (यः+प्रतिष्ठाम्+वेद+समे+प्रतितिष्ठति+वै+=दुर्गे+प्रतितिष्ठति) जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है वह समदेश और काल में प्रतिष्ठित होता है और दुर्ग=दुर्गम देश और दुर्भिक्ष आदि से संयुक्त काल में प्रतिष्ठित होता है (चक्षुः+वै+प्रतिष्ठा+चक्षुषा+हि+वै+समे+दुर्गे+प्रतितिष्ठति) नयन ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि नयन से ही देखकर सम और दुर्ग प्रदेश में पैर अच्छी तरह रखता है। प्रतितिष्ठति इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (यः+सम्पदम्+वेद) जो कोई सम्पद् को जानता है। (अस्मै+सम्पद्यते+ह+वै) उसको वह कामना प्राप्त होती है (यम्+कामम्+कामयते) जिस कामना को वह उपासक चाहता है वह सम्पद् कौन है ? सो आगे कहते हैं—(श्रोत्रम्+वै+सम्पद्) यह श्रोत्र=कान ही सम्पद् है (हि+श्रोत्रे+इमे+वेदाः+अभिसम्पन्नाः) क्योंकि इस श्रोत्र में ही सम्पूर्ण वेद=ज्ञान प्राप्त है और ज्ञान ही सम्पत् है अतः श्रोत्र को सम्पत् कहा है (अस्मै+सम्पद्यते) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४ ॥ (यः+आयतनम्+वेद+स्वानाम्+आयतनम्+भवति+ह+वै) जो कोई आयतन को जानता है वह अपने ज्ञातियों में आयतन=आश्रय होता है (जनानाम्+आयतनम्) अन्यान्य जनों में भी वह आश्रय होता है। आयतन कौन है सो कहते हैं—(मनः+वै+आयतनम्) मन ही आयतन=आश्रय है क्योंकि सब इन्द्रियों का आश्रय मन ही है (स्वानाम्०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ५ ॥ (यः+प्रजातिम्+वेद+प्रजया+पशुभिः+प्रजायते+ह+वै) जो प्रजाति को जानता है वह प्रजा से और विविध पशुओं से सम्पन्न होता है प्रजाति कौन है सो कहते हैं—(रेतः+वै+प्रजातिः) यह रज वीर्य्य ही प्रजाति है (प्रजया) इत्यादि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ इस प्रकार सब इन्द्रियों के गुणों का वर्णन करके इनमें प्राण ही श्रेष्ठ है सो आगे कहते हैं—(ते+ह+इमे+प्राणाः) सो वे वाणी, नयन, श्रोत्र, मन आदि प्राण (अहं+श्रेयसे) मैं ही श्रेष्ठ हूं मैं कल्याणकारी हूं इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता के लिये (विवदमानाः+ब्रह्म+जग्मुः) विवाद करते हुए ब्रह्म=प्रजापति=जीवात्मा के निकट पहुंचे (तत्+ह+ऊचुः) और उस ब्रह्म=प्रजापति से कहा कि (कः+नः+वसिष्ठः+इति) हम सब में कौन वसिष्ठ अर्थात् अतिशय वसने वसानेहारा श्रेष्ठ है इसका निर्णय आप करदें (तत्+ह+उवाच) तब उस ब्रह्मने उनसे कहा कि (वः+यस्मिन्+उत्क्रान्ते) आपमें जिस के चलेजाने से (इदम्+शरीरम्+

पापीयः+मन्यते) इस शरीर को लोक पापिष्ठ मानें (सः+वः+वसिष्ठः+इति) वही आप में वसिष्ठ है । यही निश्चय जानो * ॥ ७ ॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा कला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥ चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणंतः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥ श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचापश्यन्तश्चक्षुषा विद्वांसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥ मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥ रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मद्दते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

अनुवाद—प्रथम इस शरीर से वाणी निकली वह एक वर्ष प्रवास में रह पुनः आ बोली कि मेरे विना आप सब कैसे जीते रहे उन्होंने उत्तर दिया कि जैसे मूक (गूंगा) वाणी से न बोलते हुए किन्तु प्राण से श्वास लेते हुए, चक्षु से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से जानते हुए, रेत से प्रजा उत्पन्न करते हुए रहते हैं वैसे ही तुम्हारे विना हम जीते रह सके। यह सुन वाणी पुनः शरीर में चली गई।' ८ ॥ इसी प्रकार नयन निकला। तब अन्ध पुरुष के समान वे जीते रहे। अन्यान्य पूर्ववत् ॥ ९ ॥ श्रोत्र निकला तब बधिर के समान वे जीते रहे। अन्यान्य पूर्ववत् ॥ १० ॥ मन निकला तब वे बच्चे वा पागल के समान जीते रहे। अन्यान्य पूर्ववत् ॥ ११ ॥ रेत निकला तब क्लीब नपुंसक के समान वे जीते रहे। अन्यान्य पूर्ववत् ॥ १२ ॥

पदार्थ—(वाग्+ह+उच्चक्राम) प्रजापति के निर्णय के पश्चात् परीक्षार्थ प्रथम इस शरीर से वाणी निकली (सा+सम्वत्सरम्+प्रोष्य) वह वाणी एक वर्ष प्रवास में रहकर (आगत्य+उवाच) आकर अपने साथी इन्द्रियों से बोली कि (मत्+ऋते+कथम्+जीवितुम्+अशकत) मेरे विना आप सब कैसे जीते रहे ? (ते+ह+ऊचुः) वे कर्ण आदि अन्यान्य इन्द्रिय उस वाणी से बोले कि (यथा+अकलाः) जैसे बोलने में असमर्थ मूक=गूंगे पुरुष (वाचा+अवदन्त०) वाणी से न बोलते हुए

* इस विषय का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् पञ्चम प्रपाठक प्रथम खण्ड में विस्तार से किया गया है, वहां देखो।

परन्तु प्राण से श्वास प्रश्वास लेते हुए, नयन से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए (मनसा+विद्वांसः+रेतसा+प्रजायमानाः) मन से जानते हुए और वीर्य से सन्तान उत्पन्न करते हुए रहते हैं (एवम्+अजीविष्म+इति) इसी प्रकार हे वाणी ! तेरे विना हम सब जीते रहे (इति+ह+वाक्+प्रविवेश) यह सुन वाणी अपनी हार मान इस शरीर में पुनः बैठ गई ॥ ८ ॥ इसी प्रकार (चक्षुः+ह+उच्चक्राम०) नयन इस शरीर से निकले । तब (यथा+अन्धाः+चक्षुषा+अपश्यन्तः) जैसे अन्धपुरुष चक्षु से न देखते हुए किन्तु प्राण से इत्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥ (श्रोत्रम्+ह) श्रवणेन्द्रिय निकला तब (बधिराः+श्रोत्रेण+अशृण्वन्तः) तब बधिर के समान श्रोत्र से न सुनते हुए इत्यादि पूर्ववत् ॥ १० ॥ (मनः+यथा+मुग्धाः) पश्चात् मन निकला तब मुग्ध=बालक, मूर्ख, पागल के समान वे रहे, इत्यादि पूर्ववत् ॥११॥ (रेतः०+क्लीबाः) पश्चात् वीर्य निकला तब क्लीबवत् अर्थात् नपुंसकवत् वे रहे । इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्त्संवृहेदेवं हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा भगव ! उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥ सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहं संपदस्मि त्वं तत्सम्पदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किञ्चाऽऽश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४ ॥

अनुवाद—अनन्तर जैसे महान् बलिष्ठ और सिन्धुदेशोद्भव घोड़ा अपने पैर के बांधने की कीलों को उखाड़ डाले वैसे ही जब यह प्राण भी इस शरीर से निकल कर बाहर होने लगा तब इसने इन इन्द्रियात्मक प्राणों को भी उखाड़ दिया। तब वे सब प्राण मिलकर बोले हे भगवन् ! आप उत्क्रमण न करें आपके विना हम नहीं जी सकते । तब प्राण ने कहा कि उस मुझको आप बलि करें । उन्होंने स्वीकार किया ॥ १३ ॥ तब वाणी बोली जो मैं वसिष्ठा हूं वह आपकी ही कृपा है आप ही मेरे वसिष्ठ हैं । तब चक्षु बोला जो मैं प्रतिष्ठा हूं वह आपकी ही कृपा है आपही मेरी प्रतिष्ठा देनेहारे हैं तब श्रोत्र बोला जो मैं सम्पद् हूं वह आपकी ही कृपा है आपही मेरी सम्पत् हैं । तब मन बोला जो मैं आयतन हूं आपकी ही कृपा है आपही मेरे आयतन हैं । रेत बोला जो मैं प्रजाति हूं वह आपकी ही कृपा है आपही मेरे प्रजाति हैं । तब प्राण ने कहा हे इन्द्रियगण ! मेरा अन्न और वास क्या होगा ? उन इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि कुत्तों से लेकर कृमि से लेकर और कीट पतंगों से लेकर जो कुछ इस पृथिवी पर प्राणीसमूह हैं उनका जो अन्न है वही आपका अन्न है और जल आपका वास=वस्त्र है । सो जो कोई इस प्रकार अन (प्राण) के इस अन्न को जानता है उसका अन्न कदापि भी अनन्न नहीं होता । और प्रतिग्रह भी अनन्न नहीं होता । इस तत्व को जानते हुए श्रोत्रियगण भोजन के समय आचमन करते हैं और खाकर आचमन करते हैं क्योंकि इस प्रकार इस अन (प्राण) को ही अनग्न करते हुए मानते हैं ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अथ+ह) इस प्रकार जब वाणी श्रोत्र आदिकों की परीक्षा हो गई तब प्राण की बारी आई। इस पर कहते हैं कि (यथा+सैन्धवः+महासुहयः) जैसे सैन्धव=सिन्धु देश का महान् बलिष्ठ घोड़ा (पड्वीशशंकून् संवृहेत्) पैर के बांधने की कीलों को उखाड़ डाले (एवम्+हैव+प्राणः+उत्क्रमिष्यन्) ऐसे ही जब यह प्राण भी इस शरीर को छोड़ उठने लगा तब (इमान्+प्राणान्+संववर्ह) इन वाणी, चक्षु, श्रोत्रादि प्राणों को भी अपने अपने स्थान से उखाड़ कर संग ले चलने लगा अर्थात् प्राण के विना इनमें से कोई भी नहीं रह सकता और प्राण सहित इन्द्रियों के न रहने से यह शरीर पापिष्ठ हो जाता है यह प्रत्यक्ष है, अतः सिद्ध है कि प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है इस प्रकार प्राण की श्रेष्ठता जान (ते+ह+ऊचुः) वे वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन और रेत मिलकर बोले कि (भगवः+मा+उत्क्रमीः+न+वै+त्वत्+ऋते+जीवितुम्+शक्ष्यामः+इति) हे प्राणनाथ ! हे भगवन् ! आप उत्क्रमण न करें इस शरीर को छोड़ हम लोगों के समान बाहर न निकलें क्योंकि आपके विना हम सब नहीं जी सकते हैं (तस्य+उ+मे+बलिम्+कुरुत+इति) तब प्राण बोला कि हे इन्द्रियगण ! यदि आप समझते हैं और मैं आप लोगों में श्रेष्ठ सिद्ध हुआ हूं तब उस मुझको बलि अर्थात् पूजा करें (तथा+इति) उन वागादिकों ने कहा एवमस्तु हम सब आपकी पूजा के लिये प्रस्तुत हैं ॥ १३ ॥ (सा+ह+वाग्+उवाच) सबसे प्रथम वाणी बोली कि स्वामिन् प्राण ! (यद्+वै+अहम्+वसिष्ठा+अस्मि) यद्यपि मैं वसिष्ठा अर्थात् सबको भी वास देनेवाली हूँ तथापि (त्वम्+तद्+वसिष्ठः+असि+इति) आप मेरे वसिष्ठ हैं अर्थात् आप मुझको भी वास देनेवाले हैं अतः आप ही श्रेष्ठ हैं (चक्षुः+यद्+वै+प्रतिष्ठा+अस्मि+त्वम्+तत्प्रतिष्ठः+असि+इति) नयन बोला कि हे प्राण ! यद्यपि मैं प्रतिष्ठा हूं परन्तु आप ही प्रतिष्ठा हैं (श्रोत्रम्+यद्+वै+अहम्+सम्पद्+अस्मि+त्वम्+तत्सम्पद्+असि+इति) तब श्रोत्र बोला कि हे प्राण ! यद्यपि मैं सम्पत् हूं तथापि उसके भी सम्पत् आप ही हैं। (मनः+यद्+वै+अहम्+आयतनम्+त्वम्+तदायतनम्+असि) तब मन बोला हे प्राण ! यद्यपि मैं सबका आश्रय हूं तथापि आप उसके भी आश्रय हैं (रेतः+यद्+वै+अहम्+प्रजातिः+अस्मि+त्वम्+तत्प्रजातिः+असि+इति) तब रेत बोला हे प्राण ! यद्यपि मैं प्रजाति=प्रजा देनेहारा हूँ तथापि आपही उसके भी प्रजाति हैं इस प्रकार सबने प्राण की प्रशंसा की (तस्य+मे+किम्+अन्नम्+किम्+वासः+इति) तदन्तर प्राण ने कहा कि यदि मेरी श्रेष्ठता आप समझते हैं तो यह बतलावें कि मेरा अन्न और वस्त्र क्या होगा इस पर उन प्राणों ने उत्तर दिया कि (आश्वभ्यः+आकृमिभ्यः+आकीटपतङ्गेभ्यः+यद्+इदम्+किञ्च+तत्+ते+अन्नम्) हे प्राण ! कुत्ते कृमि और कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक का जो भोज्यान्न है वही आपका भी अन्न होगा। (आपः+वासः+इति) और जल ही आपका वास=आच्छादन करनेहारा वस्त्र होगा। अब आगे उपासक की प्रशंसा करते हैं (यः+एवम्+अनस्य+एतद्+अन्नम्+वेद) जो उपासक इस प्रकार अन=प्राण के इस अन्न को जानता है (अस्य+जग्धम्+न+ह+वै+अनन्नम्+भवति) उस पुरुष का अन्न कदापि भी अनन्न अर्थात् अभक्ष्य नहीं होता है इसी प्रकार (प्रतिगृहीतम्+न+अनन्नम्) इसका प्रतिग्रह भी अनन्न नहीं होता अर्थात् प्राणवित् पुरुष यदि अग्राह्य गजादि पदार्थों को दान में ले तो भी इसका प्रतिग्रह अनन्न=अभक्ष्य न होगा। आगे प्राण के वस्त्र का वर्णन करते हैं। (तद्विद्वांस०) प्राण का वस्त्र जल है इस विषय को जाननेहारे (श्रोत्रियाः+अशिष्यन्तः+आचामन्ति) श्रोत्रिय भोजन के समय आचमन करते हैं (तत्+एतत्+एव+अनम्+अनग्नम्+कुर्वन्तः+मन्यते) इससे श्रोत्रिय यह समझते हैं कि हम इस प्राण को ही अनग्न अर्थात् आच्छादित करते हैं * ॥ १४ ॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याऽभ्युवाद कुमारा ३ इति स भो ३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १ ॥

अनुवाद—एक समय आरुणेय (अरुणपुत्र) श्वेतकेतु पंचालदेश की सभा में आया, यह वहां सेवकों से सेवा करवाते हुए जैवलि प्रवाहण के समीप पहुंचा उसको देखकर वह (प्रवाहण) बोला हे कुमार ३ ! उसने प्रत्युत्तर में भोः ३ कहा । क्या आप पिता से अनुशिक्षित हैं ? उसने कहा ओम्=हां ॥ १ ॥

पदार्थ—(आरुणेयः+श्वेतकेतुः+ह+वै) किसी अरुणनाम के आचार्य्य का पुत्र सुप्रसिद्ध परन्तु गर्वित श्वेतकेतु नामक एक कुमार किसी एक समय (पञ्चालानाम्+परिषदम्+आजगाम) पंचाल देश की सभा में आया । (सः+परिचारयमाणम्+जैवलिम्+प्रवाहणम्+आजगाम) वह श्वेतकेतु सेवकों से परिचारयमाण=सेवा करवाते हुए जैवलि=जीवल के पुत्र प्रवाहण नाम के राजा के निकट आपहुँचा इसके अहंकार से राजा अच्छी तरह से परिचित था. अतः (तम्+उदीक्ष्य+कुमारा ३+इति+अभ्युवाद) इस श्वेतकेतु को देख अन्यान्य सत्कार न कर उसको बालक समझते हुए राजा ने हे कुमारा ३ ऐसा कहकर अभिवादन किया अर्थात् साधारण पुरुष के समान ही उसके साथ व्यवहार किया । (सः+भोः+इति+प्रतिशुश्राव) उसने भी क्रुद्ध हो गुरुवत् भोः ३ ऐसा कहकर प्रत्युत्तर दिया । राजा पुनः पूछता है (पित्रा+अनुशिष्टः+असि+नु) क्या आपको पिता ने कुछ शिक्षा दी है या नहीं इस पर वह श्वेतकेतु (ओम्+इति+ह+उवाच) प्रत्युत्तर देता है कि ओम्=हां मुझे पिता ने सिखलाया यदि आपको सन्देह हो तो पूछ सकते हैं ॥ १ ॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथाऽसौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्य्यता ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती ३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतं द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानां ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्चेति नाहमत एकं च न वेदेति होवाच ॥ २ ॥

अनुवाद—१—राजा पूछता है—क्या आप जानते हैं कि ये प्रजाएं यहां से मरकर जाती हुई जैसे पृथक् होके अलग अलग होजाती हैं ? कुमार प्रत्युत्तर देता है—मैं नहीं जानता । २—राजा—क्या आप जानते हैं कि पुनः ये प्रजाएं इस लोक में जैसे आती हैं ?, कुमार मैं नहीं जानता । ३—राजा—क्या आप जानते हैं कि इस प्रकार पुनः पुनः जाते हुए भी बहुत से जीवों से वह लोक भरपूर नहीं

होजाता ?, कुमार—मैं नहीं जानता। ४—राजा पू०—क्या आप जानते हैं कि जिस आहुति के पश्चात् जल पुरुषवाचक (पुरुषनामधारी) हो के और अच्छे प्रकार उठके (पुरुष के समान बोलने लगता है ?, कुमार—मैं नहीं जानता। ५—राजा पू०—क्या आप जानते हैं कि देवयान और पितृयाण मार्ग का कौनसा साधन है जिसको करके देवयान और पितृयाण पथ को पाते हैं। क्या आपने ऋषि का वचन नहीं सुना है। जो यह है कि—मरणधर्मी मनुष्य के लिये दो मार्ग मैंने सुना है। एक पितृलोक लेजानेहारा और दूसरा देवलोक लेजानेहारा। यह समस्त जगत् यात्रा करता हुआ इन्हीं दो पथों से मिलता है जो द्युलोक और पितृलोक के बीच में विद्यमान है। कुमार कहता है—इनमें से एक भी मैं नहीं जानता ॥ २ ॥

पदार्थ—१—(वेत्थ+यथा+इमाः+प्रजाः) अब राजा पांच प्रश्न कुमार से पूछता है हे कुमार! क्या आप निश्चित रूप से जानते हैं कि जैसे ये प्रजाएं (प्रयत्यः+विप्रतिपद्यन्ता३+इति) यहां मरकर परलोक की यात्रा करती हुईं जहां से पृथक् पृथक् हो जाती हैं (नेति+ह+उवाच) कुमार ने कहा हे राजन्! मैं नहीं जानता हूं। २—(वेत्थ+उ+यथा+इमम्+लोकम्+पुनः+आपद्यन्ता ३+इति) हे कुमार! क्या आप जानते हैं कि ये जीव पुनः इस लोक को जैसे लौट आते हैं (न+इति+ह+एव+उवाच) कुमार कहता है कि मैं नहीं जानता। ३—(वेत्थ+उ+यथा+एवम्+बहुभिः+पुनः पुनः+प्रयद्भिः) हे कुमार! आप जानते हैं कि इस प्रकार जरामरणादि दुःखों से मरकर यहां से जाते हुए बहुत से जीवों से भी (असौ+लोकः+न+संपूर्यता३+इति) यह लोक कभी भरपूर नहीं होता है (न+इति+ह+एव+उवाच) कुमार ने कहा कि मैं नहीं जानता। ४—(वेत्थ+उ+यतिथ्याम्+आहुत्याम्+हुतायाम्) हे कुमार! क्या आप जानते हैं कि जिस आहुति को अग्नि में डालने के पश्चात् (आपः+पुरुषवाचः+भूत्वा+समुत्थाय+वदन्ती३+इति) जल ही पुरुष बनकर और अच्छे प्रकार उठकर बोलने लग पड़ता है ? (नेति+ह+एव+उवाच) कुमार ने कहा कि मैं नहीं जानता। ५—(वेत्थ+उ+देवयानस्य+वा+पितृयाणस्य+वा+पथः+प्रतिपदम्) हे कुमार! क्या आप जानते हैं कि देवयान और पितृयाण पथ का साधन कौनसा है (यत्+कृत्वा+देवयानम्+वा+पितृयाणम्+पन्थानम्+प्रतिपद्यन्ते) जिस साधन को विधिवत् करके देवयान या पितृयाण मार्ग को ये जीव जाते हैं। यदि कोई शङ्का करे कि ऐसे मार्ग हैं ही नहीं इस पर वेद का प्रमाण देते हैं—(अपि+हि+ऋषेः+वचनम्+न+श्रुतम्) क्या आपने ऋषि के उस वचन को नहीं सुना है जो इन दो मार्गों का निरूपक है वह यह है—(मर्त्यानाम्+द्वे+सृती+अहम्+अशृणवम्) मर्त्य+मरनेहारे मनुष्यों के दो मार्ग मैंने सुने हैं (पितृणाम्+उत+देवानाम्) एक वह मार्ग जो पितृलोक लेजाता है (इदम्+विश्वम्+एजत्) यह सम्पूर्ण जगत् एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हुआ (ताभ्याम्+समेति) उन ही दो मार्गों से अच्छे प्रकार जाते हैं अथवा मिलते हैं। वे दोनें मार्ग कहां हैं ? इस पर कहते हैं कि (पितरम्+मातरम्+च+अन्तरा+यद्) पिता+द्युलोक, माता=पृथिवी। पितृमातृस्थ जो द्युलोक और पृथिवी लोक है इसी के बीच ये दोनों मार्ग विद्यमान हैं। (नि अहम्+अतः+एकञ्चन+वेद+इति+ह+उवाच) वह प्रश्न सुनकर कुमार कहता है कि इन प्रश्नों में से मैं एक भी नहीं जानता हूं ॥ २ ॥

अथैनं वसत्योपमंत्रयाञ्चक्रे नादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तं होवाचेति वाव किल नो भवान् पुरानुशिष्टानवोचदिति कथं सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबंधुरप्राक्षीत्ततो नैकञ्चन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥ ३ ॥

अनुवाद—तब (राजा ने) इसको वास के लिये निमन्त्रण दिया वह कुमार वास का अनादर करके भाग गया वह पिता के निकट पहुंचा और कहने लगा पूर्व में आपने हम लोगों से कहा था कि तुमको हम सिखा चुके। (इस पर पिता कहता है) हे सुमेध! कैसे? कुमार कहता है राजन्यबन्धु ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे मैंने एक भी नहीं समझा। पिता क०—वे कौनसे हैं? पुत्र—ये हैं, प्रतीक कहकर सुना दिये ॥ ३ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+वसत्या+उपमन्त्रयाञ्चक्रे) तब राजा ने कुमार को कुछ दिवस ठहरने के लिये कहा (कुमारः+वसतिम्+अनादृत्य+प्रदुद्राव) वह कुमार राजा के निकट वास का निरादर कर वहां से भाग गया (सः+पितरम्+आजगाम) वह पिता के निकट आपहुंचा (तम्+ह+उवाच+इति) और पिता से इस प्रकार कहने लगा (भवान्+नः+अनुशिष्टान्+पुरा+अवोचत्+इति+वाव+किल) हे पिता! आप हम लोगों से पहिले कह चुके हैं कि अब तुम सब को मैंने शिक्षा देदी जहां इच्छा हो वहां जासकते हो। पुत्र के इस उपालम्भ वचन को सुनकर (कथम्+सुमेधः+इति) पिता कहता है कि हे सुमेध! प्रियपुत्र तुम ऐसी बातें क्यों करते हो कौनसी घटना हुई सो कहो। यह सुन पुत्र श्वेतकेतु कहता है (राजन्यबन्धुः+पञ्च+प्रश्नान्+मा+अप्राक्षीत्) राजाधम उस प्रवाहण ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे थे (न+एकञ्चन+वेद+इति) उन पांचों में से एक भी मैंने नहीं जान पाया (कतमे+ते+इति) पिता पूछता है हे कुमार! वे कौनसे प्रश्न हैं? (इमे+इति+प्रतीकानि+उदाजहार) पुत्र कहता है ये प्रश्न हैं ऐसा कहके उन प्रश्नों के प्रतीक सुना दिये ॥ ३ ॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्व्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्य्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयाञ्चकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तं होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४ ॥

अनुवाद—वह (पिता) बोले हे तात! जिस प्रकार जो कुछ मैं जानता हूं वैसा ही वह सब ही मैंने तुमसे कहा है ऐसा तुम समझो आओ वहां जाकर ब्रह्मचर्य करेंगे। (पुत्र कहता है) आप ही जायं वह गौतम वहां आया जहां प्रवाहण जैवलि की परिषद् थी। उसको आसन दे के जल मंगवाया। तब उसको अर्घ्य दिया और उससे बोले कि भगवन्! भगवान् गौतम के लिये हम वर देते हैं ॥ ४ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) पुत्र के वचन सुन पिता कहने लगा कि (तात+यथा+यद्+किंच+अहं+वेद+तथा+तत्+सर्वम्+तुभ्यम्+अवोचम्) हे तात! प्रिय पुत्र! जिस प्रकार जो कुछ मैं जानता हूं उसी रीति से वह सब ही ज्ञान मैंने तुमसे कहा है (नः+त्वम्+जानीथाः) ऐसा हमको तुम समझो। तुमसे बढ़कर प्रिय मुझे कौन होगा जिसके लिये मैं विद्या छिपा रक्खूंगा। राजा ने जो प्रश्न पूछे हैं उन्हें मैं भी नहीं जानता। यदि तुम उनको जानना चाहते हो तो (प्रेहि+तु) आओ तो (तत्र+प्रतीत्य+ब्रह्मचर्यम्+वत्स्यावः+इति) वहां जाकर हम दोनों ही इस विद्या के लिये ब्रह्मचर्य करते हुए राजा के निकट वास करेंगे (भवान्+एव+गच्छतु+इति) कुमार ने कहा कि आप ही जाइये मैं अब उस राजा के निकट नहीं जाऊंगा (सः+गौतमः+आजगाम) वह गौतम आरुणि वहां आया (यत्र+प्रवाहणस्य+जैवलेः+आस) जैवलि=जीवल का पुत्र प्रवाहण की जहां सभा थी। (तस्मै+आसनम्+आहृत्य+उदकम्+आहारयाञ्चकार) उस राजा ने उस आगत अतिथि को प्रथम आसन देके भृत्यों से जल मंगवाया (अथ+ह+अस्मै+अर्घ्यम्+चकार) पश्चात् इस अतिथि

को अर्घ्य दिया (तम्+ह+उवाच+भगवते+गौतमाय+वरम्+दद्मः+इति) अर्घ्य देकर उनसे कहा कि भगवान् गौतम को हम वर देते हैं वे जो कुछ चाहें हमसे मांग लेवें ॥ ४ ॥

सहोवाच प्रतिज्ञातो मएष वरो यान्तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥ ५ ॥ स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥ ६ ॥ स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रावाराणां परिधानस्य मा नो भवान् बहोरनन्तस्यापर्य्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्म वै पूर्व्वे उपयंति स होपायनकीर्त्त्योवास ॥ ७ ॥

अनुवाद—उसने कहा कि आपने मेरे लिये वर देने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः कुमार के समीप आपने जो वाणी कही थी। उसे मुझ से भी कहें (यही वर है) ॥ ५ ॥ तब राजा बोला कि हे गौतम! दैव वरों में से वह एक वर है अतः उसको न मांगकर मनुष्य सम्बन्धी कोई वर आप मांगें ॥ ६ ॥ तब गौतम कहने लगा कि आप को ज्ञात ही है मेरे हिरण्य, गाएं घोड़े, दासियां, परिवारगण वस्त्र इत्यादिकों की प्राप्ति है आप मेरे लिये बहुत, अनन्त, अपर्यन्त धन के अदाता न होवें। (राजा कहता है) हे गौतम! वह आप तीर्थ अर्थात् विधिपूर्वक इस विद्या के ग्रहण करने की इच्छा करें। गौतम कहता है मैं आप के समीप शिष्य भाव से उपस्थित होता हूं हे राजन्! पूर्व समय में भी वचनमात्र से अनेक ब्राह्मण (क्षत्रियादि के निकट विद्या के लिये) उपस्थित हुए हैं। सो वह गौतम सेवा की कीर्त्तनमात्र से राजा के समीप वास करने लगा ॥ ७ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच+मे+एषः+वरः+प्रतिज्ञातः) प्रवाहण का वरदान सुन वह गौतम कहने लगा कि हे राजन्! आपने मुझको यह वर देने की प्रतिज्ञा कर ली है। अतः मैं अब वर मांगता हूं वह यह है (याम्+तु+वाचम्+कुमारस्य+अन्ते+अभाषथाः) जिसी वचन को आपने मेरे कुमार के समीप कहा था (ताम्+मे+ब्रूहि+इति) उसी वाणी को मुझ से भी कहें ॥ ५ ॥ इस वचन को सुन (सहोवाच+गौतम+तद्+दैवेषु+वै+वरेषु+मानुषाणाम्+ब्रूहि+इति) वह राजा कहने लगा कि हे गौतम! जो वर आप मांग रहे हैं वह दिव्य वरों में से एक वर है उसको कोई देव ही मांग सकता है आप मनुष्य हैं अतः मनुष्य सम्बन्धी हिरण्य, भूमि, गौ आदि वर मांगें ॥ ६ ॥ (सहोवाच+विज्ञायते+ह+हिरण्यस्य+अपात्तम्+अस्ति) राजा का यह वचन सुन वह गौतम कहने लगा कि आपको ज्ञात ही है कि मुझको सुवर्ण की अपात्त=प्राप्ति है इसी प्रकार (गो+अश्वानाम्+दासीनाम्+प्रावाराणाम्+परिधानस्य) गौवों, घोड़ों, दासियों, परिवारों और वस्त्र की प्राप्ति है। आप ऐसे दाता होके ऐसी बातें क्यों करते हैं। (भवान्+नः+अभि+बहोः+अनन्तस्य+अपर्यन्तस्य+अवदान्यः+मा+भूत+इति) आप हमारे प्रति बहु=बहुत, अनन्त=अनन्तफलवाला, अपर्यन्त=जिसकी समाप्ति कभी न हो ऐसे वर देने के लिये अवदान्य=अदानी, अनुदार कदापि न होवें जिस विज्ञान का अनन्त फल है इसे छोड़ अन्य वर मैं कैसे मांग सकता हूं। इस प्रकार की प्रार्थना सुनकर राजा कहने लगा कि (गौतम+सः+वै+तीर्थेन+इच्छासौ) हे गौतम! आप की यदि पूर्ण इच्छा है और अन्तःकरण से प्रार्थना करते हैं तब आप तीर्थ अर्थात् विद्याध्ययन करने के गुरुशिष्य में जितने नियम हैं उन सब नियमों को पालन करते हुए विद्या पढ़ने की इच्छा करें (अहम्+भवन्तम्+उपैमि+इति) राजा का भाव समझ कर गौतम कहता है कि मैं विधिपूर्वक आपके निकट उपस्थित होता हूं। गुरु शिष्य के नियमों को स्वीकार करता हूं किन्तु (पूर्वे+

ह+वाचा+ह+एव+उपयन्ति+स्म) हे राजन् ! पूर्व काल के ब्राह्मण भी विद्याध्ययनार्थ क्षत्रियों के निकट उपस्थित हुए हैं परन्तु शुश्रूषादि उपचार वाणीमात्र से किया करते थे वह नियम मुझे स्वीकृत है आप क्या कहते हैं राजा ने इसको स्वीकार कर लिया। तब (सः+ह+उपायनकीर्त्या+उवास) वह राजा की शुश्रूषा आदि उपचार वाणी से करता हुआ वहां निवास करने लगा।

स होवाच तथा नस्तत्व गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्व्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥ ८ ॥

अनुवाद—राजा बोला कि हे गौतम ! आप भी वैसे ही हमारा कोई अपराध न करें अर्थात् हमारा अपराध क्षमा कर दें जैसे आप के पितामह क्षमा करते आए। यह विद्या इससे पूर्व किसी ब्राह्मण में वास नहीं करती थी। उस विद्या को आपसे मैं कहूंगा कौन पुरुष आप को विद्या के लिये अस्वीकार करेगा जो आप इस प्रकार प्रार्थना का वचन कहते हैं ॥ ८ ॥

पदार्थ—(सः+ह+उवाच) तब राजा कहने लगा (गौतम+त्वम्+न+तथा+मा+अपराधः) हे गौतम ! मैंने जो पहिले कहा था कि यह देववर है। मनुष्यवर आप मांगें इससे कदाचित् आप को बहुत क्लेश हुआ होगा अतः मैं प्रार्थना करता हूं आप भी हमारे अपराधों को वैसे ही क्षमा किया करें इसके बदले में हमारा कोई अपराध न करें। (यथा+तव+च+पितामहाः) जिस प्रकार आपके पितामह हमारे पितामहों पर कृपादृष्टि किया करते थे। वैसी कृपादृष्टि आप भी रक्खें (इयम्+विद्या+इतः+पूर्वम्+कस्मिन्+चन+ब्राह्मणे+न+उवास) हे गौतम ! यह विद्या इसके पहले किसी ब्राह्मण में वास नहीं करती थी इसको आप भी जानते हैं परन्तु यह प्रथम ही है कि क्षत्रिय से ब्राह्मण में यह विद्या जायगी। (ताम्+तु+अहम्+तुभ्यम्+वक्ष्यामि) उस विद्या को मैं आपसे कहूँगा (कः+हि+एवम्+ब्रुवन्तम्+त्वाम्+प्रत्याख्यातुम्+अर्हति+इति) क्योंकि कौन सत्य पुरुष इस प्रकार प्रार्थना करते हुए आप को इस विद्या के देने से निषेध करेगा। एक आप ब्राह्मण दूसरे इस प्रकार नम्र। अतः आपको यह विद्या देता हूं ॥ ८ ॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा सम्भवति ॥ ९ ॥ पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमोविद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमं राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः सम्भवति ॥ १० ॥

अनुवाद—हे गौतम ! यह लोक ही प्रथम अग्निकुण्ड है उसकी समिधा सूर्य है धूम किरण, ज्वाला दिन, अङ्गार दिशाएं और चिनगारियां अवान्तर दिशाएं हैं उस इस अग्निकुण्ड में देवगण श्रद्धा की आहुति देते हैं। उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है ॥ ९ ॥ हे गौतम ! पर्जन्य ही द्वितीय अग्निकुण्ड है उसकी समिधा संवत्सर ही, धूम अभ्र, ज्वाला विद्युत् अङ्गारा अशनि, विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) मेघ शब्द है उस इस अग्नि में देवगण सोमराजा की आहुति देते हैं उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

पदार्थ—राजा यह विनय कर प्रश्नों का समाधान आरम्भ करता है पांच प्रश्न किए गए हैं। पंचमी आहुति में जल किस प्रकार पुरुषवाची होता है इस प्रश्न के अधीन अन्यान्य चार हैं अतः प्रथम इसी का आरम्भ करते हैं (गौतम+असौ+वै+लोकः+अग्निः) हे गौतम ! वह जो बहुत दूरस्थ लोक दीखता है। वही लोक प्रथम अग्नि अर्थात् अग्निकुण्ड है। (तस्य+आदित्यः+एव+समित्) उस अग्निकुण्ड की समिधा सूर्य ही है (धूमः+रश्मयः) उसकी धूम सूर्यकिरण हैं (अर्चिः+अहः) ज्वाला मानो दिन है (अङ्गाराः+दिशः) अंगार पूर्व पश्चिम दिशाएं हैं (विस्फुलिङ्गाः+अवान्तरदिशः) विस्फुलिङ्ग=चिनगारियां, मानो अवान्तरदिशाएं हैं। (तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवा+श्रद्धाम्+जुह्वति) उस इस आदित्यलोकरूप कुण्ड में देवगण=प्राकृत नियम, श्रद्धा के अत्यन्त सूक्ष्म वाष्पीय कणों को डालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+सोमः+राजा+संभवति) उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है। श्रद्धा सोम आदि शब्द जलवाचक हैं । इसमें वेदान्त सूत्र देखो ॥ ९ ॥ (गौतम+पर्जन्यः+वै अग्निः) हे गौतम ! द्वितीय अग्निकुण्ड यह पर्जन्य=परितो जन्यमान सूक्ष्ममेघ है (तस्य+सम्वत्सरः+एव+समिद्+अभ्राणि+धूमः+विद्युत्+अर्चिः) उस पर्जन्यरूप कुण्ड की समिधा यही वर्ष हैं। अभ्र=जल धारण किए हुए मेघ ही धूम है बिजुली ज्वाला है (अशनिः+अंगाराः+ह्रादुनयः+विस्फुलिङ्गाः) प्रकाशयुक्त वज्र अंगार है और मेघ शब्द मानो विस्फुलिङ्ग हैं (तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवाः+सोमम्+राजानम्+जुह्वति) उस इस पर्जन्यरूप अग्निकुण्ड में देवगण=प्राकृत नियम सोम राजा को डालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+वृष्टिः+संभवति) उस आहुति से वृष्टि उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमाऽङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नं सम्भवति ॥ ११ ॥ पुरुषो वाग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः सम्भवति ॥ १२ ॥ योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते ॥ १३ ॥

अनुवाद—हे गौतम ! यह दृश्यमान भूलोक ही तृतीय अग्निकुण्ड है। इसकी पृथिवी ही समिधा, पृथिवीस्थ अग्नि धूम, रात्रि अर्चि, चन्द्रमा अङ्गार और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्नि में देवगण वृष्टि की आहुति देते हैं उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥ हे गौतम ! पुरुष ही चतुर्थ अग्नि है इसका मुख ही समिधा, प्राण धूम, वाग अर्चि, नेत्र अंगार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं उस इस अग्नि में देवगण अन्न की आहुति देते हैं उस आहुति से रेत उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥ हे गौतम ! स्त्रीजाति ही पञ्चम अग्निकुण्ड है उस इस अग्नि में देवगण रेत की आहुति देते हैं उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। सो वह पुरुष जीता रहता है वह उतने ही दिन जीता रहता है जितना उसका भोग रहता है तब वह जब मरता है ॥ १३ ॥

पदार्थ—(अयम्+वै+लोकः+अग्निः+गौतम+तस्य+पृथिवी+एव+समिद्) हे गौतम ! यह दृश्यमान भूलोक ही तृतीय अग्निकुण्ड है इसकी पृथिवी ही समिधा है (अग्निः+धूमः+रात्रिः+अर्चिः+

चन्द्रमाः+अंगाराः+नक्षत्राणि+विस्फुलिङ्गाः) पृथिवीस्थ अग्नि ही धूम है रात्रि अर्चि है चन्द्रमा अंगार है और नक्षत्रगण विस्फुलिङ्ग हैं (तस्मिन्०) उस इस अग्नि में (देवाः+वृष्टिम्+जुह्वति+तस्यै+आहुत्यै+अन्नम्+संभवति) देवगण वर्षा की आहुति डालते हैं उससे अन्न उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥ (गौतम+पुरुषः+वै+अग्निः) हे गौतम ! चतुर्थ अग्निकुण्ड पुरुषजाति है (तस्य+व्यात्तम्+एव+समित्+प्राणः+धूमः+वाग्+अर्चिः+चक्षुः+अंगाराः+श्रोत्रम्+विस्फुलिङ्गाः) इसका मुख ही समिधा है प्राण ही धूम है वाणी ज्वाला है नयन अंगार है और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है (तस्मिन्+एतस्मिन्) उस इस अग्निकुण्ड में (देवाः+अन्नम्+जुह्वति+तस्यै+आहुत्यै+रेतः+संभवति) देवगण अन्न की आहुति देते हैं उस आहुति से रेत=पुरुषवीर्य उत्पन्न होता है ॥ १२ ॥ (योषा+वै+अग्निः) हे गौतम ! पंचम अग्निकुण्ड स्त्रीजाति है उस इस अग्नि में देवगण (रेतः+जुह्वति+तस्यै+आहुत्यै+पुरुषः+संभवति) रेत की आहुति देते हैं उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है (सः+जीवति+यावत्+जीवति) वह जीता रहता है जितने दिन आयु रहती है (अथ+यदा+म्रियते) तब वह जब मर जाता है ॥ १३ ॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गा तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः सम्भवति ॥ १४ ॥

अनुवाद—तब मरने के पश्चात् इस मृत पुरुष को अग्नि क्रियार्थ श्मशान में ले जाते हैं इसका अग्नि ही अग्नि होता है। समिधा ही समिधा, धूम ही धूम, ज्वाला ही ज्वाला, अंगार ही अंगार और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। उस इस अग्नि में बन्धु बान्धवादि रूप देवगण पुरुष की आहुति करते हैं, इस आहुति से पुरुष (जीव) भास्वर वर्ण होता है ॥ १४ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+अग्नये+हरन्ति) तब मरने के पश्चात् इस मृतक पुरुष को बन्धु ऋत्विक् आदि दाह के लिये श्मशान में लेजाते हैं, मानो यह भी एक होम है अतः आगे कहते हैं कि (तस्य+अग्निः+एव+अग्निः+भवति) इसका जलाने वाला अग्नि ही अग्नि होता अर्थात् पूर्वोक्त पञ्चाग्नि सदृश यह अन्य कल्पना नहीं होती। (समित्+समित्+धूमः+धूमः+अर्चिः+अर्चिः+अंगाराः+अंगाराः+विस्फुलिङ्गाः+विस्फुलिङ्गाः) जलाने की लकड़ी ही यहां समिधा है। धूम ही धूम है, ज्वाला ही ज्वाला है, अंगार ही अंगार है और विस्फुलिङ्ग ही विस्फुलिङ्ग है (तस्मिन्+एतस्मिन्+अग्नौ+देवाः+पुरुषम्+जुह्वति) उस इस अग्नि में बान्धवगण पुरुष को डालते हैं (तस्यै+आहुत्यै+पुरुषः+भास्वरवर्णः+संभवति) उस आहुति से वह पुरुष दीप्तिमान् होजाता है। यह वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में नहीं है। यह दाहक्रिया का केवल माहात्म्य है अर्थात् इसको अर्थवाद जाने ॥ १४ ॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥ १५ ॥

अनुवाद—जो कोई इस प्रकार इस पञ्चाग्नि विज्ञान को जानते हैं और जो ये (संन्यासी) अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं वे प्रथम ज्वाला में प्राप्त होते हैं। ज्वाला से दिन में,

दिन से आपूर्य्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में, आपूर्य्यमाण पक्ष से उन छः मासों में जिनमें सूर्य उत्तर की ओर प्रस्थान करता है। उन मासों से देवलोक में देवलोक से आदित्यलोक में आदित्यलोक से वैद्युत्लोक में प्राप्त होते हैं इन वैद्युत्लोक में प्राप्त जीवों को कोई मानस पुरुष आके ब्रह्मलोक में लेजाता है। वे उस ब्रह्मलोक में परमोत्कृष्ट होके बहुत बहुत वर्षों तक वास करते हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है ॥ १५ ॥

पदार्थ—अब प्रथम और पञ्चम प्रश्न का समाधा करते हैं (ते+ये+एवम्+एतद्+विदुः) वे विद्वान्, सत्पुरुष जो इस पूर्वोक्त पञ्चाग्नि विज्ञान को समिदादि सहित जानते हैं वे और (ये+च+अमी+अरण्ये+श्रद्धाम्+सत्यम्+उपासते) जो गृह को त्याग अथवा अलिप्त हो वन में एकान्त वास कर ईश्वर में परमश्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं (ते+अर्चिः+अभिसंभवति) वे दोनों प्रकार के पुरुष प्रथम अर्चि में प्राप्त होते हैं। अर्चि=आर्चिषी, अहन्=आह्निक आदि आनन्द की दशा विशेष के नाम हैं। यहां केवल ज्वाला और दिन से तात्पर्य नहीं छान्दोग्योपनिषद् में इसका विस्तार से वर्णन है वहां देखिये। प्रथम आर्चिषी दशा में प्राप्त होते हैं। तब (आर्चिषः+अहः) आर्चिषी दशा से आह्निक दशा में आह्निक दशा से आपूर्य्यमाण पक्ष अर्थात् शुक्ल पक्षीय दशा में प्राप्त होते हैं (आपूर्य्यमाणपक्षाद्) आपूर्य्यमाण पक्ष से (यान्+षड्+मासान्+उदङ्+आदित्यः+एति) उन छः मासों में प्राप्त होते हैं जिनमें उत्तर की ओर प्रस्थान करता हुआ सूर्य भाषित होता है अर्थात् उत्तरायण दशा में प्राप्त होते हैं (मासेभ्यः+देवलोकम्+देवलोकाद्+आदित्यम्+आदित्याद्+वैद्युतम्) षाण्मासिक दशा से देवलोक में, देवलोक से आदित्यलोक में और आदित्यलोक से वैद्युतलोक में प्राप्त होते हैं (तान्+वैद्युतान्) उन वैद्युती दशा में प्राप्त जीवों को (मानसः+पुरुषः+एत्य) मनोमय पुरुष आकर (ब्रह्म+लोकान्+गमयति) ब्रह्मलोक में पहुंचाता है जब जीव वैद्युती दशा में प्राप्त होता है तब इसके मन के आनन्द की सीमा नहीं रहती। यही असीम मानस व्यापार ही यहां पुरुष है। यही मानसिक व्यापार जीवों को परमात्मा की ओर लेजाते हैं। (तेषु+ब्रह्मलोकेषु+ते+पराः+परावतः+वसन्ति) इस ब्रह्मलोक में वे जीव परमोत्कृष्ट होके बहुत वर्षों तक निवास करते हैं (तेषाम्+न+पुनः+आवृत्तिः) उनकी पुनः आवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे बहुत काल तक परमात्मा का साक्षात् अनुभव करते रहते हैं ॥ १५ ॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनांस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्य्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान् प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्त्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

अनुवाद—जो यज्ञ से, दान से और तप से लोकों को प्राप्त करते हैं वे प्रथम धूम में प्राप्त होते हैं धूम से रात्रि में रात्रि से अपक्षीयमाण (कृष्ण) पक्ष अपक्षीयमाण (कृष्ण) पक्ष से उन छवों मासों में जिनमें सूर्य दक्षिण की ओर जाता हुआ प्रतीत होता है। उन मासों से पितृलोक में पितृलोक से चन्द्र में प्राप्त होते हैं। वे चन्द्र में प्राप्त होके अन्न होते हैं सो जैसे सोमराजा को (सोमरस को) पुनः

पुनः भर भर कर और पी पीकर क्षीण करके पीते हैं वैसे ही देव अर्थात् प्राकृत नियम उन अन्न हुए जीवों को खा जाते हैं। तब वे इसी आकाश में प्राप्त होते हैं आकाश से वायु में, वायु से वृष्टि में, वृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं। वे पृथिवी में प्राप्त होके अन्न होते हैं। तब पुनः जन्म लेकर लौकिक कर्मों के प्रति पुनः उद्योग करते हैं। वे इसी प्रकार से बार बार आते जाते रहते हैं और जो इन दोनों पथों को नहीं जानते हैं वे कीट पतङ्ग होते हैं जो ये दन्दशूक मशकादिक हैं वे होते रहते हैं ॥ १६ ॥

पदार्थ—अब देवयान मार्ग को दिखलाके पितृयाण मार्ग का वर्णन करते हैं (अथ+ये+यज्ञेन+दानेन+तपसा+लोका+जयन्ति) जो कोई यज्ञ से, दान से और तप से पितृलोकादिकों को प्राप्त करते हैं (ते+धूमम्+अभिसंभवन्ति) वे प्रथम धौमी दशा में प्राप्त होते हैं अर्थात् वे जीव इस शरीर को त्याग किंचिज्ज्योति मिश्रित अन्धकार मय दशा में प्राप्त होते हैं (धूमात्+रात्रिम्+रात्रेः+अपक्षीयमाणपक्षम्) धूम से रात्रि में और रात्रि से अपक्षीयमाण पक्ष अर्थात् जिस पक्ष में चन्द्रमा घटता जाता है उस पक्ष में संप्राप्त होते हैं (अपक्षीयमाणपक्षात्+यान्+षट्+मासान्+दक्षिणा+आदित्यः+एति) उस अपक्षीयमाण पक्ष से उन छः मासों में अर्थात् दक्षिणायन में प्राप्त होते हैं जिनमें दक्षिण दिशा की ओर जाते हुए सूर्य्य प्रतीत होते हैं (मासेभ्य+पितृलोकम्+पितृलोकात्+चन्द्रम्) उस दक्षिणायन से पितृलोक में और पितृलोक से चन्द्र में प्राप्त होते हैं (ते+चन्द्रम्+प्राप्य+अन्नम्+भवन्ति) वे चन्द्रमसी दशा को प्राप्त होके किंचिन्मात्र आनन्द भोगते हुए इस अनन्त आकाश में अथवा लोकलोकान्तर में भ्रमण करते रहते हैं तब पुनः प्राकृत नियम इन्हें जन्म ग्रहण करने के लिये विवश करते हैं। यही इनका अन्न होना है यहां एक दृष्टान्त कहते हैं:—(यथा+सोमम्+राजानम्) जैसे सोम राजा अर्थात् सोमरस को जब पीने लगते हैं तब (आप्यायस्व) ऋत्विक् कहते हैं कि हे सोम राजन्! खूब बढ़ो और जब पीजाते हैं तब कहते हैं (अपक्षीयस्व+इति) कि खूब घटो इस प्रकार "आप्यायस्व" "अपक्षीयस्व" इन दो शब्दों का प्रयोग करते हुए पीते हैं (एवम्+तान्+एनान्+तत्र+तत्र+देवा+भक्षयन्ति) इस दृष्टान्त के समान अन्न हुए उन जीवों को वहां वहां देवगण खाजाते हैं अर्थात् प्राकृत नियम इन्हें नीचे को फेंकने लगते हैं। इसी को दिखलाते हुए अब द्वितीय और तृतीय प्रश्न का समाधान करते हैं। (तेषाम्+यदा+तत्+पर्य्यवैति) उन जीवों के जब कर्म्म क्षय होजाते हैं (अथ+इमम्+एव+आकाशम्+अभिनिष्पद्यन्ते) तब इसी आकाश में प्राप्त होते हैं अर्थात् पुनः श्रद्धारूप जलीय वाष्प में मिश्रित होजाते हैं (आकाशाद्+वायुम्+वायोः+वृष्टिम्+वृष्टेः+पृथिवीम्) तब वे आकाश से वायु में वायु से वृष्टि में वृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं तब (ते+पृथिवीम्+प्राप्य+अन्नम्+भवन्ति) वे पृथिवी में प्राप्त होके जौ, गेहूँ, धान आदि अन्न में प्रविष्ट होते हैं (ते+पुनः+पुरुषाग्नौ+हूयन्ते) तब वे अन्न के द्वारा पुरुषरूप अग्निकुण्ड में होमे जाते हैं (ततः+योषाग्नौ+जायन्ते) तब स्त्रीजातिरूप अग्निकुण्ड में वे जीव आते हैं (लोकान्+प्रत्युत्थायिनः) तब जन्म लेकर पुनः यज्ञ दान और तप आदि स्वल्प फलप्रद कर्म्मों को करना आरम्भ करते हैं (ते+एवम्+एव+अनुपरिवर्त्तन्ते) वे केवल कर्म्मपरायण पुरुष इसी प्रकार घटीयन्त्रवत् बारंबार घूमते रहते हैं इससे यह शिक्षा देते हैं कि केवल कर्म्म में ही न लगे रहो किन्तु ज्ञान के द्वारा ब्रह्मविभूति को देखते हुए ब्रह्म की ओर चलो। (अथ+ये+एतौ+पन्थानौ+न+विदुः) अब जो कोई इन दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं अर्थात् न तो श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं और न यज्ञ, दान और तप ही करते हैं (ते+कीटाः+पतंगाः) वे क्षुद्र जीव कीट और पतंग हुआ करते हैं (यद्+इदम्+दन्दशूकम्) केवल कीट पतंग ही नहीं होते हैं किन्तु जो ये अतिसूक्ष्म दांतों से काटनेहारे शोणित चूसनेहारे मशक आदि

जीव हैं ऐसे ऐसे जीव हो होकर मरते जीते रहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में इस मार्ग को जायस्व और म्रियस्व मार्ग कहा है और यह भी उपदेश दिया है इससे घृणा करें ॥ १६ ॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

सः य कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्य्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कंसे चमसे वा सर्व्वौषधं फलानीति सम्भृत्य परिसमूह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्य्याऽऽवृताऽऽज्यं संस्कृत्य पुंसा नक्षत्रेण मन्थं सन्नीय जुहोति यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सं राधनीमहं स्वाहा ॥ १ ॥

पदार्थ—अब यहां से समाप्ति तक कर्मकाण्ड का वर्णन है अतः इसका मूलार्थमात्र किया जाता है (सः।यः+कामयेत) सो जो कोई उपासक कामना करे कि मैं (महत्+प्राप्नुयाम्+इति) सब से महान् परमात्मतत्त्व को और इस लोक में महत्त्व को पाऊं तो वह वक्ष्यमाण क्रम से अनुष्ठान करे (उदगयने) उत्तरायणकाल (आपूर्यमाणपक्षस्य+पुण्याहे+द्वादशाहम्) शुक्ल पक्ष के पुण्य दिन में द्वादश दिन पर्यन्त (उपसद्व्रती+भूत्वा) उपसद्व्रती होके, उपसद्=ज्योतिष्टोम नाम के यज्ञ में जो इष्टियां होती हैं अर्थात् यज्ञिय नियमों को पालते हुए (कंसे+चमसे+वा+औदुम्बरे) कंस=वर्तुलाकार=गोलाकार अथवा चमस्=चमस् सदृश, औदुम्बर=उदुम्बर काष्ठ विरचित किसी एक पात्र में (सर्वौषधम्) सर्व प्रकार के यज्ञसम्बन्धी व्रीहि, जौ, तिल, धान्य, सोमलता इत्यादि जो जो मिल सकें (फलानि+इति) और विविध फलों को (संभृत्य) इकट्ठा कर (परिसमूह्य+परिलिप्य+अग्निम्+उपसमाधाय) गृह्यसूत्रानुसार परिसमूहन=भूमि को नापकर वेदी आदि बना लेपन कर और अग्नि को स्थापित कर (परिस्तीर्य+आवृता।आज्यम्+संस्कृत्य) पुनः कुशों का परिस्तरण कर विधिवत् आज्य को संस्कृत कर (पुंसा+नक्षत्रेण+मन्थम्+संनीय+जुहोति) पुंनामक नक्षत्रों से संयुक्त दिन में सम्पूर्ण पदार्थों को मिला छानबीन यथायोग्य पदार्थों को शुद्ध कर इस प्रकार मन्थ अर्थात् मिश्रित द्रव्य बना उसके ऊपर वक्ष्यमाण विधि के अनुसार दधि, मधु और घृत सींच और एक उपमन्थनी पात्र में खूब मथन कर इस प्रकार बनाए हुए उस मन्थ को अग्नि के समीप रख वक्ष्यमाण रीति पर घृत का हवन करे। आगे हवन के दो मन्त्र कहते हैं—(जातवेदः) हे सब को जाननेहारे परिपूर्ण परमात्मन्! (त्वयि+यावन्तः+तिर्यञ्चः+देवाः) आपके महान् सत्ता में जो तिर्यङ् कुटिल अर्थात् मनुष्यों की उन्नति में विघ्न डालनेहारे दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि देव हैं (पुरुषस्य+कामान्+घ्नन्ति) जो पुरुष सब के पुरुषार्थ को नष्ट

कर देते हैं (तेभ्यः+अहम्+भागधेयम्+जुहोमि) उन सब के लिये अग्नि के द्वारा भाग देता हूं (ते+तृप्ताः+सर्वैः+कामैः+मा+तर्पयन्तु+स्वाहा) वे तृप्त होकर समस्त कामों से मुझे भी तृप्त करें । स्वाहा के अन्त में आहुति देवे । द्वितीय मन्त्र यह है—(या+तिरश्ची) जो कुटिल गतिवाली दुर्भिक्षादि देवता है (अहम्+विधरणी+इति+निपद्यते) मैं ही सब को निग्रह करनेहारी हूं मुझसे सब ही डरते हैं इस निश्चय से सर्वत्र प्राप्त होती है (ताम्+त्वा+घृतस्य+धारया+अहम्+यजे) हे देवते ! उस आपको मैं घृत की धारा से यजन करता हूं (संराधनीम्) वह तू अब सकल काम की पूर्या करनेहारी हो । स्वाहा ॥ १ ॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ॥ २ ॥

पदार्थ—१—ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा २—प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा । ३—वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा । ४—चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा ५—श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा । ६—मनसे स्वाहा । ७—रेतसे स्वाहा । इन सात मन्त्रों को पढ़कर एक एक आहुति देवे । प्रत्येक मन्त्र में दो दो स्वाहा शब्द हैं परन्तु आहुति एक ही है । ये ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, प्राण और वसिष्ठा आदि कौन हैं इनका वर्णन इसी अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में विस्तार से कहा गया है वहां ही देखो । अब (अग्नौ+हुत्वा) सातों मन्त्रों को स्वाहान्त पढ़कर अग्नि में आहुति डाल (संस्रवम्+मन्थे+अवनयति) स्रुवा में लगे हुए आज्य को उपमन्थनी पात्र में जिसमें मन्थ रखा हुआ रखता जाय ॥ २ ॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भूताय स्वाहेति अग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे संस्रवमनयति ॥ ३ ॥

पदार्थ—१—अग्नये स्वाहा, २—सोमाय स्वाहा, ३—भूः स्वाहा, ४—भुवः स्वाहा, ५—स्वः स्वाहा, ६—भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ७—ब्रह्मणे स्वाहा, ८—क्षत्राय स्वाहा, ९—भूताय स्वाहा, १०—भविष्यते, ११—विश्वाय स्वाहा, १२—सर्वाय स्वाहा, १३—प्रजापतये स्वाहा । इन तेरह मन्त्रों से तेरह आहुतियां देवें । स्रुवा में लगे हुए द्रव्य को उपमन्थ नामक पात्र में रखता जाय । अग्नि सोम भूः भुवः ये परमात्मा के नाम हैं । ब्रह्म=ब्रह्मवित्, क्षत्र=धार्म्मिक वीर पुरुष दूसरों का रक्षक, भूत=गत जीव,

भविष्यत्=होनेवाले जीव, विश्व और सर्व=समस्त जीवों के लिये भी आहुति डाली जाती है । अन्त में प्रजापति अर्थात् पुनः परमात्मा के नाम पर आहुति देवे इस प्रकार होम समाप्त करे अब संस्रवसहित इस मन्त्र को दूसरा उपमन्थनी पात्र में पुनः मथन करे और इसी उपमन्थनी से आगे व्यवहार करे ॥ ३ ॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमसि उद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संन्दीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥ ४ ॥ अथैनमुद्यच्छत्यामंस्यामंहि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स मां राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥ ५ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+अभिमृशति) अब जो मन्थ=मिश्रितद्रव्य और संस्रव पात्र में रखते गए हैं उस मन्थ को हाथ से स्पर्श करे और आगे का मन्त्र पढ़े । वह यह है—(भ्रमद्+असि) हे भगवन् ! समस्त कर्म्मों और निखिल जगत् में आप ही भ्रमण करनेहारे हैं (ज्वलद्+असि+पूर्णम्+असि+प्रस्तब्धम्+असि) हे ब्रह्मन् ! आप जाज्वल्मान हैं पूर्ण हैं और आकाशवत् प्रस्तब्ध=निष्क्रिय हैं (एकसभम्+असि) इस जगत् रूप सभा के एक सभापति आप ही हैं (हिंकृतम्+असि+हिंक्रियमाणम्+असि) यज्ञ के आरम्भ में प्रस्तोता आप के ही उद्देश से हिंकार विधि करता है अतः आप ही हिंकृत हैं, यज्ञ के मध्य में भी आप ही हिंकार विधि से पूज्य होते हैं (उद्गीथम्+असि+उद्गीयमानम्+असि) यज्ञ में उद्गाता जो उद्गीथ का गान करता है वह भी आपके ही उद्देश से किया जाता है अतः आप ही उद्गीथ हैं और उद्गीयमान हैं (श्रावितम्+असि+प्रत्याश्रावितम्+असि) आपको ही अध्वर्यु और आग्नीध्र सुनाते हैं अतः आप ही श्रावित और प्रत्याश्रावित हैं (आर्द्रे+संदीप्तम्+असि+विभूः+असि+प्रभूः+असि+अन्नम्+असि+ज्योतिः+असि+निधनम्+असि+संवर्गः+असि) आप ही मेघ में संदीप्त हो रहे हैं आपही विभू=व्यापक हैं । प्रभु=समर्थ हैं । अन्न=प्राणप्रद अन्न आप ही हैं, ज्योति हैं । निधन=प्रलयस्थान आप ही हैं । संवर्ग=संहारकर्त्ता आप ही हैं ॥ ४ ॥ (अथ+एनम्+उद्यच्छति) पूर्वोक्त प्रार्थना करके अब उस मन्थ को हाथ में लेता है और इस समय पुनः ईश्वर से प्रार्थना करता है (आ+मंसि) हे ब्रह्मन् आप सब जानने हारे हैं (ते+महि+आ+मंहि) आप के महत्त्व को हम सब भी जानते हैं (सः+हि+राजा+ईशानः+अधिपतिः) वह आप राजा हैं ईशान=सर्वशासन करनेहारे हैं अतएव सब के अधिपति हैं (सः+राजा+ईशानः) वह राजा ईश्वर भगवान् (मा+अधिपतिम्+करोति+इति) मुझ को भी इस लोक में सर्वाधिपति बनावे ॥ ५ ॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहाः भर्गोदेवस्य धीमहि मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः मधुः द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रचोदयात् । मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः । स्वः स्वाहेति सर्व्वाञ्च सावित्रीमन्वाह सर्व्वाश्च मधुमतीरहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्छिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरी-

कमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वंशं जपति ॥ ६ ॥

पदार्थ—(अथ+एनम्+आचामति) संस्रवसहित जिस मन्थ को हस्त के ऊपर रक्खा था उसको प्रथम चार ग्रास करके आगे के मन्त्रों से चार वार भक्षण करे। प्रथम पठनीयमन्त्र "तत्सवितुः" से लेकर "भूः स्वाहा" पर्य्यन्त है। तत्सवितुर्वरेण्यं का अर्थ सम्पूर्ण गायत्री मन्त्र के साथ देखो (वाताः-मधु+ऋतायते) हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से वायुगण मधुवत् सुखकारी बह रहे हैं (सिन्धवः+मधुः+क्षरन्ति) नदियां मधुर रसपूर्ण चल रही हैं (नः+ओषधीः+माध्वीः+सन्तु) हम जीवों के कल्याण के लिये गेहूं, जौ धान आदि ओषधियां मधुर होवें (भूः+स्वाहा) हे परमात्मन् ! इस प्रकार भूलोक के ऊपर अनुग्रह करो इतना पद प्रथम ग्रास भक्षण करे द्वितीय ग्रास का मन्त्र कहते हैं (नक्तम्+मधु+उत+उषसः) रात्रि और दिन मधु होवें (पार्थिवम्+रजः+मधुमत्) पृथिवी का रज मधुर होवे (नः+द्यौः+पिता+मधु) हमारे कल्याण के लिये यह पालक द्युलोक मधु होवे (भुवः+स्वाहाः) हे भगवन् ! इस प्रकार नभश्चर जीवों को सुखी करते हुए भुवर्लोक को सुखी बनावें। इतना पद द्वितीय ग्रास का भक्षण करें। अब तृतीय ग्रास का मन्त्र कहते हैं (नः+वनस्पतिः+मधुमान्+सूर्य्यः+मधुमान्+अस्तु) हमारे लिये वनस्पति मधुर होवें और सूर्य्य मधुर होवे (नः+गावः+माध्वीः+भवन्तु) हमारे लिये गायें मधुर दुग्ध देनेहारी होवें (स्वः+स्वाहा+इति) इस प्रकार भूलोक और भुवर्लोक को सुख पहुंचाते हुए आप स्वर्लोक को सुखित करें। इससे तृतीय ग्रास का भक्षण करे। अब चतुर्थ ग्रास का मन्त्र कहते हैं—(सर्वाम्+सावित्रीम्+अन्वाह) सम्पूर्ण 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि सावित्री मन्त्र पढ़े (सर्वाः+च+मधुमतीः) और "मधुवाताः" से लेकर "माध्वीर्गावो भवन्तु नः" पर्य्यन्त पद के पश्चात् "अहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा" इतना पद चतुर्थ ग्रास का भक्षण करे। (अहम्+एव+इदम्+सर्वम्+भूयासम्) मैं यह सब होऊं ऐसी आप कृपा करें। अब गायत्री का अर्थ यह है—(देवस्य+सवितुः+तद्+वरेण्यम्+भर्गः+धीमहि) महादेव जगज्जनयिता परमात्मा के उस वरणीय तेज का ध्यान हम सब अन्तःकरण में करें (यः+नः+धियः+प्रचोदयात्) जो हमारे सम्पूर्ण शुभ कर्मों और बुद्धि को पवित्रता की ओर प्रेरणा करे। पुनः आगे का कर्त्तव्य कहते हैं (अन्ततः+आचम्य+पाणी+प्रक्षाल्य) चार ग्रास लेने के पश्चात् आचमन कर दोनों हाथ धोके (अग्निम्+जघनेन+प्राक्शिराः+संविशति) अग्निकुण्ड के पीछे पूर्व की ओर शिर कर के सो जाय (प्रातः+आदित्यम्+उपतिष्ठते) प्रातःकाल उठके सर्वव्यापी परमात्मा का उपस्थान करे इसका यह मन्त्र है (दिशाम्+एकपुण्डरीकम्+असि) हे परमात्मन् ! आप पूर्व पश्चिम आदि समस्त दिशाओं का अधिपति अखण्ड श्रेयस्कारी कमलवत् परम प्रिय हैं अतः आप से प्रार्थना करता हूं कि (अहम्+मनुष्याणाम्+एकपुण्डरीकम्+भूयासम्) मैं भी मनुष्यों में अधिपति होके कमलवत् प्रिय होऊं। इस प्रकार उपस्थान कर। (यथा+एतम्+एता) जिस प्रकार ईश्वरोपस्थान के लिये दूसरी जगह गया था उसी प्रकार लौटकर (अग्निम्+जघनेन+आसीनः+वंशम्+जपीति) और अग्नि के पीछे बैठकर वक्ष्यमाण वंश का जप करे ॥ ६ ॥

तं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७ ॥ एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के

स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ८ ॥ एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ९ ॥ एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकाय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ १० ॥ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ११ ॥ एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥ १२ ॥

पदार्थ—(तम्+एतम्+आरुणिः+उद्दालकः+ह) इस होमविधि को अरुणपुत्र आचार्य उद्दालक ने (वाजसनेयाय+याज्ञवल्क्याय+अन्तेवासिने+उक्त्वा+उवाच) वाजसनेय याज्ञवल्क्य नाम के शिष्य को उपदेश देकर कहा कि हे याज्ञवल्क्य ! (अपि+च, यः+एनम्) जो कोई उपासक इस मन्थ को जो सर्व औषध और सर्व फलों से बनाया गया है (शुष्के+स्थाणौ+निषिञ्चेत्) सूखे वृक्ष के ऊपर सींचे तो उसमें (शाखाः+जायेरन्+पलाशानि+प्ररोहेयुः+इति) शाखाएं उत्पन्न हों और पत्ते लग जायं अर्थात् इसका फल अवश्य हो ॥ ७ ॥ इसी प्रकार इस होमविधि को (वाजसनेयः) वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य पैंग मधुक से कहा ॥ ८ ॥ पैंग मधुक ने अपने शिष्य भागवित्ति चूल से कहा ॥ ९ ॥ भागवित्ति चूल ने अपने शिष्य आयस्थूण जानकि से कहा ॥ १० ॥ आयस्थूण जानकि ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल से कहा ॥ ११ ॥ सत्यकाम जाबाल ने अपने बहुत से शिष्यों को (तम्+एतम्+अपुत्राय+वा+अनन्तेवासिने+वा+न+ब्रूयात्) इस विधि को अपुत्र और अशिष्य को कदापि न कहे ॥ १२ ॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान् दधनि मधुनि घृतउपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति ॥ १३ ॥

पदार्थ—अब इस विधि के लिये पात्र और अन्न आदि का विधान करते हैं (चतुरौदुम्बरः+भवति) गूलर के चार प्रकार के पात्र होते हैं वे ये हैं—(औदुम्बरः+स्रुवः+औदुम्बरः+चमसः+औदुम्बरः+इध्मः+औदुम्बर्यौ+उपमन्थन्यौ) औदुम्बर=गूलर का स्रुव, चमस, समिधा और उपमन्थनी पात्र होते हैं (दशग्राम्याणि+धान्यानि+भवन्ति) दश प्रकार के ग्राम सम्बन्धी धान होते हैं वे ये हैं—(व्रीहियवाः+तिलमाषाः) व्रीहि, जौ, तिल और मास ये चार अन्न प्रसिद्ध ही हैं (अणुप्रियंगवः) विन्ध्याचल प्रदेश में अणुनाम का एक अन्न होता है । प्रियंगु=इसको कहीं कंगु और कहीं काउन कहते है (गोधूमाः+च+मसूराः+च+खल्वाः+च+खलकुलाः+च) गोधूम=गेहूँ मसूर । खल्व=निष्पाव, खलकुल=कुलत्थ=कुरथी ये दश प्रकार के धान्य हैं (तान्+पिष्टान्+दधनि+मधुनि+घृते+उपसिच्य+

आज्यस्य जुहोति) उनको अच्छी तरह पीसकर दही, मधु और घृत को उन पिष्टों के ऊपर सींचकर घृत की आहुति देवे ॥ १३ ॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥ १ ॥ स ह प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियं ससृजे तां सृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्ते नैनामभ्यसृजत् ॥ २ ॥ तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्म्माधिषवणे समिधो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासञ्चरन्त्यासां स्त्रीणां सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासञ्चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥ ३ ॥

पदार्थ—(एषाम्+वै+भूतानाम्+पृथिवी+रसः) श्री मन्थाख्य कर्म्म का उपदेश कर उत्तम सुयोग्य सन्तान के चाहनेहारे मनुष्य के लिये रजोरूप बीज की प्रशंसा है। इन आकाश, वायु, तेज और जल भूतों का रस पृथिवी है (पृथिव्याः+आपः+अपाम्+ओषधयः+ओषधीनाम्+पुष्पाणि+पुष्पाणाम्+फलानि) पृथिवी का रस जल, जल का रस गेहूं, धान आदि ओषधि, ओषधि का रस पुष्प, पुष्प का रस फल, (फलानाम्+पुरुषः+पुरुषस्य+रेतः) फलों का रस पुरुष और पुरुष का रस रेत है ॥ १ ॥ अब सृष्टि की आदि में स्त्री पुरुष का संयोग कैसे हुआ संक्षेप से दिखलाते हैं (सः+ह+प्रजापतिः+ईक्षाम्+चक्रे) यहां प्रजापति उस पुरुष का नाम है जिसने आदि सृष्टि में स्त्री पुरुष के विवाहादि व्यवहार चलाए। उस प्रजापति ने देखा कि (हन्त+अस्मै+प्रतिष्ठाम्+कल्पयानि+इति) मनुष्य अज्ञानी होता है अपने पुत्रोत्पादक सामर्थ्य को व्यर्थ बिगाड़ेगा अतः इसे वीर्य्यरूप सामर्थ्य की प्रतिष्ठा दूं (सः+स्त्रियम्+ससृजे) उसने प्रथम स्त्री जाति को बनाया अर्थात् स्त्री जाति को सब तरह से सुधारा (ताम् सृष्ट्वा+अधः+उपास्त) उस स्त्री जाति को पुरुष की अपेक्षा अधः अर्थात् कुछ न्यून मानकर जगत् में इस जाति की उपासना=आदर सत्कार फैलाया (तस्मात् स्त्रियम्+अधः+उपासीत) अतः आजकल भी स्त्री जाति की उपासना कुछ न्यून रूप से सब कोई किया करें तब ही सुख है (सः+एतं+आत्मनः+एव+प्राञ्चम्+ग्रावाणम्) उसने अपने ही पवित्र शिलावत् स्थिर फलप्रद सामर्थ्य को (समुदपारयत्) स्त्रीजाति में पूर्ण किया (तेन+एनाम्+अभ्यसृजत्) उस पूर्णता से स्त्रीजाति की चारों तरफ प्रतिष्ठा स्थापित की ॥ २ ॥ अब आगे दिखलाते हैं कि स्त्री जाति एक पवित्र वस्तु है इससे ही पुरुष जाति में बड़े बड़े महापुरुष और ब्रह्मवादिनी स्त्रियां उत्पन्न हुआ करती हैं अतः (तस्याः+उपस्थः+वेदिः०)

इसका शरीराङ्ग पवित्र वेदि है इसके प्रत्येक अंग को यज्ञीय पदार्थवत् पवित्र मान आदर की दृष्टि से देखें (यावान्+ह+वै+वाजपेयेन+यजमानस्य+लोकः+भवति+तावान् अस्य+लोकः+भवति) यज्ञ करनेहारे को वाजपेय यज्ञ से जितना फल होता है उतना फल इस पुरुष को होता है (यः+एवम् विद्वान् अधोपहासम्+चरति) जो इस तत्व को जानता हुआ स्त्री जाति के साथ अधोपहास अर्थात् प्रजननरूप यज्ञ सम्पादन करता है (आसाम्+स्त्रीणाम्+सुकृतं वृंक्ते) और वह इन स्त्रियों के शुभ कर्म्म को अपनी ओर लेता है अर्थात् इस जाति को शुभ कर्म्म सिखलाने के कारण इसके ऊपर अधिकारी बनता है (अथ+यद्+इदम्+अविद्वान् अधोपहासम् चरति) और जो मूर्ख इस तत्व को न जानता हुआ धींगाधींगी से अधोपहास नाम का यज्ञ करता है (अस्य+सुकृतम्+स्त्रियः+वृंजते) इसके सुकृत को स्त्रियां लेती हैं अर्थात् उस मूर्ख पुरुष के ऊपर स्त्रियों का अधिकार होता है ॥ ३ ॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान् कुमारहारित आह बहवो मर्य्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वांसोऽधोपहासञ्चरन्तीति बहु वा इदं सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥ ४ ॥

पुनः अन्य प्रकार से इस विज्ञान की प्रशंसा करते हैं—(एतद्+ह+तद्+विद्वान्+उद्दालकः+आरुणिः+आह+स्म) स्त्रीजाति की पवित्रता, पूज्यत्व, आदरणीयत्वादि के विज्ञान को जानते हुए उद्दालक आरुणि कहा करते थे (एतद्+ह+तत्+विद्वान्+नाकः+मौद्गल्यः+आह+स्म) इसी विज्ञान को नाक मौदगल्य कहा करते थे (एतद्+ह+तद्+विद्वान्+कुमारहारितः+आह+स्म) और कुमार हारित कहा करते थे वे उद्दालक आदि कहते हैं कि बहुत ही शोक की बात है कि (बहवः+मर्य्याः+ब्राह्मणायना+निरिन्द्रियः+विसुकृतः) बहुत से मरणधर्म्मी ब्राह्मणायन=अधम ब्राह्मण जो निरिन्द्रिय अर्थात् ईश्वरप्रदत्त इन्द्रियों के न जानने हारे हैं और जो विसुकृत=पुण्यरहित हैं वे (अस्मात्+लोकात्+प्रयन्ति) इस लोक से विना प्रयोजन सिद्ध किए हुए चले जाते हैं । (ये+इदम्+अविद्वांसः+अधोपहासम्+चरन्ति) इस तत्व को न जानते हुए अधोपहास यज्ञ को करते हैं । बहुत से अज्ञानी ऐसे भी हैं (सुप्तस्य+वा+जाग्रतः+वा+बहु+वै+इदम्+रेतः+स्कन्दति) जिनका सोते और जागते हुए भी वीर्य्य पृथिवी पर गिर जाता है ऐसे अधम पुरुष को प्रायश्चित करना चाहिये । आगे प्रायश्चित कहते हैं ॥ ४ ॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः । इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः । पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥ ५ ॥ अथ यद्युदक आत्मानं परिपश्येत्तदभिमंत्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणं सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषा स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥ ६ ॥

पदार्थ—(तद्+अभिमृशेत्+अनु+वा+मन्त्रयेत) उस अपने प्रस्कन्न=गिरे हुए रेत को वह अधम पुरुष प्रथम स्पर्श करे पश्चात् अपने कर्म्म पर पश्चात्ताप करके ईश्वर से प्रार्थना करे कि हे भगवन् !

(यत्+मे+रेतः+अद्य+पृथिवीम्+अस्कासीत्) जो मेरा रेत आज पृथिवी पर स्रवित होगया है (यद्+ओषधीः+अपसरद्+यद्+अपः) जिस रेत ने गिरकर किसी ओषधि अथवा जल को भ्रष्ट किया है इस दोष के मार्जन के लिये आपसे प्रार्थना करता हूं हे भगवन् ! मैं ऐसा दुष्कर्म्म पुनः न होने दूंगा और (इदम्+तद्+रेतः+अहम्+आददे) मैं उस वीर्य को पुनः अपने में लूंगा अर्थात् पुनः ऐसा व्यर्थ कर्म्म न होने दूंगा और जो न्यूनता उससे हुई है उसे पूर्ण करूंगा आपकी कृपा से (पुनः+माम्+इन्द्रियम्+एतु+पुनः+तेजः+पुनः+भगः) पुनः मुझको वीर्य्य प्राप्त हो पुनः तेज और पुनः सौभाग्य और ज्ञान प्राप्त (पुनः+अग्निः+धिष्ण्याः+यथास्थानम्+कल्पन्ताम्) पुनः अग्निस्थानीय तेज बल, पराक्रम ओजस्विता आदि आग्नेय गुण प्राप्त हों। अब आगे इसकी पवित्रता सूचनार्थ और इस अधम पुरुष की शिक्षार्थ ऋषि कहते हैं कि (अनामिकाङ्गुष्ठाभ्याम्+आदाय+स्तनौ+वा+भ्रुवौ+वा+अन्तरेण+निमृज्यात्) उस पतित रेत को अनामिका और अंगूठे से उठा कर दोनों स्तनों अथवा भौहों के बीच में लेप लेवे तत्पश्चात् उसी समय शुद्ध जल से स्नान कर गायत्री का जप करे ॥ ५ ॥ स्त्री के साथ बहुत से नराधम जल में क्रीड़ा करके व अकेला स्नान करता हुआ अपने वीर्य को जल में गिराता है उसके लिये कहते हैं कि (अथ+यदि+उदके+आत्मानम्+पश्येत्) और यदि जल में वीर्य्यपात करते हुए अपने को देखे (तद्+अभि+मन्त्रयेत) तब अपने शरीर को पवित्र कर पुनः ईश्वर से प्रार्थना करे (मयि+तेजः+इन्द्रियम्+यशः=द्रविणम्+सुकृतम्) हे भगवन् ! इस भ्रष्ट कर्म्म से लोक, वेद में निन्दा से जो मेरे तेज वीर्य्य, यश, वित्त और पुण्य नष्ट हुए हैं या आगे होंगे वे मुझ में स्थिर होवें मैं पुनः इस नीच कर्म्म को न करूंगा। इति शब्द यहां मन्त्र समाप्तिद्योतक है। स्त्री की पवित्रता पुनः दिखलाते हैं—(स्त्रीणाम्+एषा+ह+वै+श्रीः) स्त्रियों में से यह विवाहिता स्त्री इस पुरुष की श्री=शोभा, सम्पत्ति, गृहलक्ष्मी है (यद्+मलोद्वासाः) क्योंकि शुद्ध, मल रहित वस्त्र के समान स्वच्छ यह परिणीता स्त्री है। इसका निरादर कदापि करना उचित नहीं (तस्माद्+मलोद्वाससम्+यशस्विनीम्+अभिक्रम्य+उपमन्त्रयेत) इस हेतु वह नर धौत वस्त्र के समान पापरहिता निर्मला अतएव यशस्विनी स्त्री के निकट आकर सन्तानोत्पादनार्थ दोनों एकान्त में बैठ विचार करें परन्तु कभी भी इस विवाहिता स्त्री को निरादर कर अपने इन्द्रिय को कहीं अन्यत्र दूषित न करे ॥ ६ ॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७ ॥ सा चेदस्मै दद्यामिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८ ॥ स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धायोपस्थामस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूंमयीति ॥ ९ ॥

पदार्थ—अब यह दिखलाते हैं कि स्त्रियां भी कई प्रकार की होती हैं सब लक्ष्मी ही नहीं, फिर किसके साथ कैसा व्यवहार करे (सा+चेद्+अस्मै+न+दद्यात्) यदि कोई विवाहिता भार्य्या किसी कारणवश सन्तानोत्पत्ति के लिये अपने को दान न करे तो प्रथम (एनाम्+कामम्+अवक्रीणीयात्) इसको यथेच्छ द्रव्यों और सुवचनों से निज वश में लावे (सा+चेद्+अस्मै+नैव+दद्यात्) इस पर भी पति के अनुकूल वह न होवे तो (कामम्+एनाम्+यष्टया+वा+पाणिना+वा+उपहत्य+अतिक्रामेत) तो

यथेच्छ दण्ड का भय दिखला अथवा हाथ से उसे पकड़ अच्छे प्रकार समझावे और उसे यह भय दिखलावे कि (ते+यशः+यशसा+इन्द्रियेण+आददे) हे वरारोहे ! यदि तू ऐसा करेगी तो मैं अपने यश के हेतु इन्द्रिय के साथ तेरा यश लेलूंगा अर्थात् मैं जन्मभर ब्रह्मचारी रहके तेरा सन्तान न होने दूंगा फिर वृद्धा अवस्था में सन्तान के अभाव से तुझे अनेक क्लेश पहुंचेंगे अतः तू सहमत होजा (इति+अयशाः+एव+भवति) इस प्रकार वह अयशस्विनी अर्थात् इस भय से स्त्री सहमत हो जाती है ॥ ७ ॥ इस प्रकार समझने पर (सा+चेद्+अस्मै+दद्यात्) यदि वह स्त्री सन्तानार्थ अपने को समर्पण करे तो वह इसकी इस प्रकार प्रशंसा करे (ते+यशः+यशसा+इन्द्रियेण+आदधामि+इति) हे सुन्दरि ! तेरे सन्तानरूप यश को मैं यशोहेतुक वीर्य्य से अच्छे प्रकार धारण करता हूं इस प्रकार (यशस्विनौ+एव+भवतः) वे दोनों दम्पती लोक में यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥ (सः+याम्+इच्छेत+मा+कामयेत+इति) यदि कोई पति चाहे कि मेरी स्त्री सदा मुझ से प्रसन्न रहे प्रत्येक कार्य्य में उससे मैं और वह मुझ से सम्मति लिया करे तो इस अवस्था में (तस्याम्+अर्थम्+निष्ठाय) उस स्त्री के लिये सब शुभ प्रयोजन को सिद्धकर (मुखेन+मुखम्+संधाय) उसके मुखोच्चारित वचन से अपने मुखोच्चारित वचन को मिलाकर (अस्याः+उपस्थम्+अभिमृश्य) इसके समीपस्थ स्थान में बैठ समझा बुझा विचार कर (जपेत्) यह संकल्प करे । भाव इस का यह है कि स्त्री के साथ जो प्रतिज्ञा करे उसे अवश्य पूर्ण करे अपने व्यभिचारादि दोष से स्त्री के मन को कभी विरक्त न बनावे । एक ही समय में दो स्त्रियां कदापि न रक्खे उसके समीप बैठकर सम्मति लिया करे । यही मुख से मुख मिलाना है । अब आगे जप (संकल्प) कहते हैं अर्थात् व्यभिचार से बचने के लिये स्त्री के समीप यह प्रतिज्ञा करे (अंगात्+अंगात्+संभवसि) हे कामदेव ! तू अङ्ग अङ्ग से संभूत होता है (हृदयात्+अधिजायसे) परम पवित्र हृदय के संकल्प से उत्पन्न होता है (सः+त्वम्+अंगकषायः+असि) वह तू मेरे अंगों का पवित्र रस है अतः तुझे कहीं भी अन्यत्र भ्रष्ट न करूंगा ऐ वरारोहे ! तुम इस प्रतिज्ञा को सुनो । हे कामदेव ! वह तू (दिग्धविद्धाम्+इव) विषलिप्तशरविद्धा मृगी के समान (इमाम्+अमूम्+मयिमादय+इति) इस मेरी स्त्री को मेरे लिये मदान्विता करो मैं अब से कहीं भी व्यभिचारादि दोषों से स्त्री के मन को आहत न करूंगा ॥ ९ ॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १० ॥ अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११ ॥

पदार्थ—विवाह करने के पश्चात् यदि केवल परोपकार में समय बिताने की प्रबल इच्छा से दोनों सन्तानोत्पत्ति न करना चाहें तो इस अवस्था में दोनों ये उपाय करें (अथ+याम्+इच्छेत्+न+गर्भम्+दधीत) यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री की सम्मति से चाहे कि मेरी स्त्री गर्भवती न होवे अर्थात् हम दोनों ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी रहकर जगदुपकार किया करें तो इस अवस्था में भी (तस्याम्+अर्थम्+निष्ठाय+मुखेन+मुखम्+सन्धाय) उस स्त्री के निमित्त कुछ अर्थ=सम्पत्ति आयोजना कर स्त्री के वचन के साथ अपने वचन को अच्छे प्रकार निबाहता हुआ प्रतिदिन (अभिप्राण्यात् अपान्यात्) दोनों प्राणों को बाहर निकाल बाह्य वायु को लिया करे अर्थात् एकान्त स्थल में प्रतिदिन प्राणायाम करे जिससे दोनों ऊर्ध्वरेता होके परम बलिष्ठ होवें और संकल्प रक्खे

कि (ते+रेतः+रेतसा+इन्द्रियेण+आददे) हे स्त्री ! तेरे रेत को मैं अपने रेतोहेतुक वीर्य के साथ लेता हूं अर्थात् जिस प्रकार मैं परोपकार की दृष्टि से प्राणायाम द्वारा रेतःप्रद इन्द्रिय को रोक रहा हूं इसी प्रकार आप भी अपने संकल्प में दृढ होवें ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करता हूं आप भी ऐसी प्रार्थना किया करें (इति+अरेताः+एव+भवति) इस प्रकार प्राणायाम द्वारा प्रत्येक अरेता=ऊर्ध्वरेता होते हैं ॥ १० ॥ (अथ+याम्+इच्छेत्+दधीत+इति) यदि कोई चाहे कि सन्तान हो तो इस अवस्था में सदा स्त्री के लिये शुभ प्रयोजन सिद्ध किया करे स्त्री के वचन के साथ अपने वचन को सत्य बनाया करे और नित्य दोनों यथासंभव प्राणायाम किया करें शुभ मुहूर्त में यह संकल्प करे कि (रेतसा+इन्द्रियेण) मैं अपने रेतप्रद इन्द्रिय के साथ (ते+रेतः+आदधामि) तेरे रेत को स्थापित करता हूं अर्थात् इस प्रकार स्त्री के मन को सदा प्रसन्न रक्खे (गर्भिणी+एव+भवति) तब वह अवश्य गर्भवती होती है ॥११॥

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तञ्चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमं शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूंस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौराशापराकाशौ त आददेऽसाविति स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवं विद् ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेणनोपहासमिच्छेदुतह्येवंवित्परो भवति ॥ १२ ॥

पदार्थ—व्यभिचार दोष की निवृत्त्यर्थ आगे का प्रकरण आरम्भ करते हैं (यस्य+जायायै+जारः+स्यात्) यदि किसी की स्त्री का कोई जार हो तो (तम्+चेत+द्विष्यात्) उस जार से उसका पति द्वेष करे और इसकी निवृत्ति के लिये यह उपाय करे (आमपात्रे+अग्निम्+उपसमाधाय+प्रति+लोमम्+शरबर्हिः+तीर्त्वा) मिट्टी के कच्चे पात्र में अग्नि को रख शरमय कुशों को प्रतिलोम अर्थात् उलटा दक्षिणाग्र वा पश्चिमाग्र करके बिछा (तस्मिन्+एताः+शरभृष्टीः+प्रतिलोमः+सर्पिषाऽक्ताः+जुहुयात्) उस अग्नि में शरभृष्टि=बाणेषिका=मूंज की शरसमान जो सीकी होती है उसे शरभृष्टि कहते हैं उसको उलटाकर घृत लगा होम करे और यह मन्त्र पढ़े (मम+समिद्धे+अहौषीः) अरे दुष्ट ! तैंने मेरे समिद्ध योषाग्नि में आहुति डाली है अतः (असौ+इति+ते+प्राणपानौ+आददे) मैं देवदत्त तुझ यज्ञदत्त के प्राण और अपान ले लेता हूं (मम+समिद्धे+अहौषीः+असौ+ते+पुत्रपशून्+आददे) तैंने मेरे समिद्धाग्नि में होम किया है तेरे पुत्रों और पशुओं को ले लेता हूं (मम०+इष्टासुकृते+आशापरापकाशौ) तेरे यज्ञ और सुकृत तेरी आशा प्रार्थना और पराकाश=प्रतिज्ञा ले लेता हूं इस प्रकार होम करे (सः+वै+एषः+निरिन्द्रियः+विसुकृतः+अस्मात्+लोकात्+प्रैति) सो यह दुष्ट पापिष्ठ जार निरिन्द्रिय पुरुष कर्मरहित हो इस लोक से प्रस्थान कर जाता अर्थात् मरजाता है (यम्+एवंविद्+ब्रह्मणः+शपति) जिस दुराचारी को ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण शाप देता है (तस्मात्+एवं+विच्छ्रोत्रियस्य+दारेण+न+उपाहासम्+इच्छेत्) इस कारण ऐसे ज्ञानी श्रोत्रिय ब्राह्मण की स्त्री के साथ कदापि उपहास न करे (उत+हि+एवं+विद्+परः+भवति) क्योंकि ऐसा शत्रु होजाता है ॥ १२ ॥

अथ यस्य जायामार्त्तवं विन्देत् त्र्यहं कंसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३ ॥ स य इच्छेत्पुत्रो मे

शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४ ॥

पदार्थ—प्रासङ्गिक विषय को समाप्त कर ऋतु के समय अनुष्ठेय कर्म्म का विधान करते हैं (अथ+यस्य+जायाम्+आर्त्तवम्+विन्देत्) जो पुरुष अपनी जाया को ऋतुमती जाने उसकी स्त्री (अहतवासाः+त्र्यहम्+कंसे+न+पिबेत्) नवीन वस्त्र पहिने हुए रहे और तीन दिन तक कांस्यपात्र में न पीवे और न खाय (एनाम्+नः+वृषलः+न+वृषली+उपहन्यात्) इस स्त्री को न व्यभिचारी पुरुष और न व्यभिचारिणी स्त्री स्पर्श करे (त्रिरात्रान्ते+आप्लुत्य+व्रीहीन्+अवघातयेत्) तीन रात्रि के पश्चात् चतुर्थ दिवस में चरु बनाने के लिये व्रीहि नामक अन्नों को कूट पीसकर तैयार करे ॥ १३ ॥ (सः+यः+इच्छेत+पुत्रः+मे+शुक्लः+जायेत+वेदम्+अनुब्रुवीत+सर्वम्+आयुः+इयात्+इति) सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र शुक्ल=श्वेत हो और एक वेद का वक्ता हो सम्पूर्ण १०८ आयु को प्राप्त करे तो क्षीरौदन अर्थात् चावल के साथ खीर बनवाकर उसमें घृत डाल दोनों स्त्री पुरुष उस खीर को खायं (जनयितवै+ईश्वरौ) तब वे दोनों अवश्य ही वैसे पुत्रोत्पादन में समर्थ होवेंगे ॥ १४ ॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन् वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥ अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्व्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाता मीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥ अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विजिगीथः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्व्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्व्वमायुरियादिति माषौदनं * पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा ॥ १८ ॥

पदार्थ—(अथ+यः+इच्छेत्+पुत्रः+मे+कपिलः+पिङ्गलः+जायेत+द्वौ+वेदौ+अनुब्रुवीत+सर्वम्+आयुः+इयात्+इति) सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र कपिल=पिंगलवर्ण और पिंगलाक्ष हो, दो वेदों का अनुवचन करे सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करे तो (दध्योदनं+पाचयित्वा+सर्पि०) दही के साथ ओदन बनवा घृत मिला दोनों दम्पती उसे खायं अवश्य ही वे दोनों वैसे पुत्रोत्पादन में समर्थ होंगे ॥ १५ ॥ (अथ+यः+इच्छेत्+पुत्रः+मे+श्यामः+लोहिताक्षः+जायेत+त्रीन्+वेदान्+अनुब्रुवीत्+सर्वम्+आयुः+इयात्+इति) सो जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र श्याम और रक्ताक्ष होवे तीन वेदों का वक्ता हो सर्व आयु को प्राप्त करे तो (उदौदनम्+पाच०) जल में चरु बनवा घृत मिला दोनों खायं तब अवश्य ही पुत्रोत्पादन में समर्थ होंगे (अथ+यः+इच्छेत्+दुहिता+मे+पण्डिता+जायेत+सर्वम्+आयुः+इयात्+इति+तिलौदनम्+पाच०) जो कोई चाहे कि मेरी कन्या पण्डिता होवे सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करे तो तिल के साथ ओदन बनवा घृत मिला दोनों उस तिलौदन को खायं तो अवश्य ही ऐसी कन्योत्पादन में दोनों समर्थ होवेंगे ॥ १७ ॥ (अथ+सः+यः+इच्छेत्+मे+पुत्रः+पण्डितः+विजिगीथः+समितिंगमः+शुश्रूषिताम्+

* पाठभेद—मांसौदन भाष्य में इस पर टिप्पणी देखिये ।

वाचम्+भाषिता+जायेत) और जो कोई चाहे कि मेरा पुत्र पण्डित, विजिगीथ=सब प्रकार से गीत=प्रसिद्ध, समितिंगम=सभासद्, सभागन्ता, सुनने के योग्य वाणी का भाषण करने हारा और (सर्वान्+वेदान्+अनुब्रुवीत+सर्वम्+आयुः+इयात् इति) सब वेदों का वक्ता होवे और सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करे तो (मांसौदनं+पाचयित्वा०) अपनी स्त्री से मासौदन माष=उरद, उरद के साथ चावल बनवाकर उसमें घृत मिला दोनों खायं तब अवश्य ही ऐसे पुत्र के उत्पादन में वे दोनों समर्थ होवेंगे (औक्षेण+वा+आर्षभेण वा) औक्ष विधि से अथवा ऋषभ विधि से=ऋषिकृत विधि से यह सब कर्म्म करे।

* माषौदन=सबसे पहिले एक महान् प्रमाद बहुत दिनों से चला आता हुआ प्रतीत होता है। मांसौदन शब्द यहां नहीं आना चाहिये किन्तु माषौदन अर्थात् माषौदन के स्थान में मांसौदनम् लेखकों के भ्रम से वा किसी मांसप्रिय विद्वान् के कर्त्तव्य से इस प्रकार का परिवर्त्तन हुआ है ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि श्रीमन्थकर्म में दश प्रकार के अन्न के नाम आये हैं वे ये हैं व्रीहि, यव, तिल, माष, अणु, प्रियङ्गु गोधूम, मसूर खल्व और खलकुल और इन दश अन्न और सर्वौषध मिलाकर मंथ बनाया जाता है और उसके विधिपूर्वक ग्रहण से यहां तक फल कहा गया है कि सूखे वृक्ष के ऊपर भी यदि यह मंथ रक्खा जाय तो उसमें पत्ते लग जायं इत्यादि वर्णन इसी उपनिषद् के षष्ठाध्याय के तृतीय ब्राह्मण में देखिये। यहां पर तिल शब्द के पश्चात् माष शब्द आया है। इसी प्रकार "तिलौदन" के पश्चात् माषौदन आना चाहिये न कि "मांसौदन" क्योंकि १७ वें खंड में तिलौदन शब्द आया है अतः १८ वें खंड में अवश्य माषौदन चाहिये पूर्व में क्रम देखते हैं कि क्षीरौदन, दध्योदन और उदौदन शब्द आए हैं अब क्षीर, दधि और अन्न को त्याग झट मांस का विधान कर देना यह असंगत प्रतीत होता है अतः यहां माषौदन ही शब्द है यह सिद्ध होता है "मांस" उरद को कहते हैं और जिनके पक्ष में मांसौदन शब्द है उनके पक्ष में भी मांस शब्द का अर्थ मांस करना अनुचित है क्योंकि यहां इसका कोई प्रसंग नहीं। पुष्टिकारक रोगविनाशक प्रतिबन्धनिवारक, चिकित्साशास्त्र विहित उत्तम उत्तम ओषधि का नाम यहां मांस है, क्योंकि यौगिक अर्थ यही होता है (मनः सीदत्यस्मिन् माननीयम् वा शास्त्रैः) जिससे मन प्रसन्न हो और जो शास्त्रों में माननीय हो उसे मांस कहते हैं। औक्ष=उक्ष सेचने। सेचन=सींचने अर्थ में उक्ष धातु है इसी से उक्षन् बनता है। इस उक्षन् शब्द से विशेषण में औक्ष शब्द बनता है सेचन अर्थ में उक्ष धातु के बहुत प्रयोग आते हैं यहां ही १९ में "अभ्युक्षति" देखो, कौन ओषधि किसमें कितनी मिलानी चाहिये एवं विशेष विशेष पाक में कौन कौन द्रवद्रव्य सींचना अर्थात् देना चाहिये इन बातों के वर्णनपरक जो शास्त्र उसे औक्ष शास्त्र कहते हैं। आर्षभ=ऋषभ शब्द से विशेषण में आर्षभ बनता है। ऋषि और ऋषभ दोनों शब्द एकार्थक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि औक्ष शास्त्र के और आर्षभ=ऋषिकृत विधि के अनुसार जितने प्रकार के पाक कहे हैं बनवावें और खायं इसी हेतु अन्त में ये दोनों शब्द दिए हैं। विधि अन्त में कहते हैं—यह उपनिषद् की रीति है जैसे इसी अध्याय के तृतीय ब्राह्मण के अन्त में दश अन्नों के नाम और श्रीमन्थ की विधि कही गई है। यहां औक्ष और आर्षभ शब्द का अन्वय माषौदन आदि से नहीं है इत्यलम् * ॥ १८ ॥

---

* वैद्यक-चरक ग्रन्थ में भी माषौदन वाजीकरण औषध के लिये प्रयुक्त हुआ है—

यो माषयूष्णा भुक्त्वातु घृताढ्यं षष्टिकौदनम्, पयः पिबेत् रात्रिं यः कृत्स्नां जागर्ति वेगवान्। (च०)

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहाऽनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वो धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥ १९ ॥ अथैनामभिपद्यतेऽमोहमस्मि सा त्वं सात्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि संरभावहै सहरेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तय इति ॥ २० ॥

पदार्थ—अब पाक सामग्री और विधि कहके किस दिन यह विधि करें इसके लिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ करते हैं—(अथ+अभिप्रातः+एव) रजोधर्म्म के दिन से चतुर्थ दिवस प्रातःकाल ही सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म्म से निवृत्त होके (स्थालीपाकावृता+आज्यम्+चेष्टित्वा+स्थालीपाकस्य+उपघातम्+जुहोति) स्थालीपाक की आवृत् (विधि) के अनुसार घृत को संस्कृत कर स्थालीपाकों को अच्छे प्रकार देख और थोड़ा थोड़ा लेकर वक्ष्यमाण मन्त्रों से हवन करे १—अग्नये स्वाहा, २—अनुमतये स्वाहा, ३—देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा (हुत्वा+उद्धृत्य+प्राश्नाति) इन तीन मन्त्रों से होम कर स्थाली में अवशिष्ट चरु को लेकर प्रथम पति खाय पश्चात् (प्राश्य+इतरस्याः+प्रयच्छति) खाकर स्त्री को चरु खाने को देवे तब (पाणी+प्रक्षाल्य+उदपात्रम्+पूरयित्वा+तेन+एनाम्+अभ्युक्षति) दोनों हाथों को धो जलपात्र को जल से पूर्ण कर उससे स्त्री को अच्छे प्रकार सींचे इस समय यह मन्त्र पढ़ें (अतः+विश्वासो) हे विश्व के धन ! हे सबके धनस्वरूप परमात्मन् ! जिस कारण पुत्रोत्पादन करने की आज्ञा है और तदनुसार मैं इस उपाय में प्रवृत्त हूं और आपने ही अपनी प्रेरणा से इसमें प्रवृत्त कराया है इस कारण मेरे ही समान (पत्या+सह+अन्याम्+प्रपूर्व्याम्+जायाम्+सम्०) हे परमात्मन् ! अपने अपने पति के साथ अन्यान्य पूर्णा युवती स्त्री क्रीड़ा करती हुई पुत्रोत्पादन करें (इच्छ) ऐसी इच्छा आप करें अर्थात् आप प्रत्येक स्त्री को ऐसी शुभ इच्छा देवें कि वह अपने अपने पति से सुयोग्य सन्तान उत्पन्न करे ॥ १९ ॥ (अथ+एनाम्+अभिपद्यते) इसके पश्चात् एकान्त में अपनी स्त्री के साथ इस प्रकार भाषण करे—(अमः+अहम्+अस्मि) हे प्रिये ! मैं अम अर्थात् प्राणस्थानीय हूं (सा+त्वम्) और तू सा=वाणी स्थानीया है इसी को पुनः कहते हैं (सा+त्वम्+असि+अहम्+अमः) तू वाणी है मैं प्राण हूं (साम+अहम्+अस्मि+ऋक्+त्वम्) मैं सामवेद के समान हूं तू ऋग्वेद के समान है (द्यौः+अहम्+पृथिवी+त्वम्) वर्षारूप बीजप्रद द्यौस्थानीय मैं हूं बीजधारयित्री पृथिवीस्थानीया तू है (एहि+तौ+संरभावहै) हे प्रिये ! आ हम दोनों उद्योग करें (पुंसे+पुत्राय+वित्तये+इति) पुरुषार्थ करनेहारे पुत्र की प्राप्ति के लिये (सहरेतः+दधावहै) हम दोनों मिलकर रेत धारण करें ॥ २० ॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखं सन्धाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टारूपाणि पिंशतु आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥ २१ ॥

पदार्थ—(अथ+अस्याः+ऊरू+विहापयति विजिहीथाम्+द्यावापृथिवी+इति) जैसे द्युलोक से प्रकाश, उष्णता, वर्षादि विविध पदार्थों को पृथिवीस्थ जीव प्राप्त करते हैं और पृथिवी से अन्नादिक

प्राप्त कर प्राण धारण करते हैं इसी द्यावापृथिवी के समान पतिव्रता के प्रत्येक अंग समझे इसी से कल्याण है ऐसा सब कोई माने (तस्याम्०) इसके लिये सम्पूर्ण सुख सामग्री यथाशक्ति यथासंभव प्रस्तुत रक्खे (विष्णुः+योनिम्+कल्पयतु) पुनः इस प्रकार परमात्मा से प्रार्थना करे—सर्वव्यापी परमात्मा इस स्त्री के सर्वावयवरूप गृह को सुखमय बनावे वेदादिक ग्रन्थों में योनिशब्द गृहवाची होता है—(त्वष्टा+रूपाणि+पिंशतु) सम्पूर्ण जगत्कर्त्ता परमात्मा इसके रूप को सुन्दर बनावे (आसिञ्चतु प्रजापतिः+धाता+गर्भम्+ते+दधातु) सर्व प्रजाधिपति धाता विधाता तेरे गर्भ को पवित्रतारूप जल से सिक्त करे और दृढ़ करे (सिनीवालि+गर्भं+धेहि) हे शोभायमान केशान्विते ! उस परमात्मा के अनुग्रह से तू प्रसन्नचित्ता हो गर्भ धारण कर (पृथुष्टुके+गर्भं+धेहि) हे बहुस्तुते प्रिये ! प्रीतिपूर्वक हृष्ट मन होके गर्भाधान करो (पुष्करस्रजौ+अश्विनौ+देवौ+ते+गर्भम्+आधत्ताम्) कमलमाली अर्थात् सुखप्रद ये अहोरात्र रूप देव तेरे गर्भ को अक्षत अनुपहत अच्युत रखकर बढ़ाया करें ॥ २१ ॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्म्मन्थतामश्विनौ तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रियेण गर्भिणी वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥ २२ ॥ सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति । यथा वायुः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्व्वतः । एवा ते गर्भ एजतु सहावैतो जरायुणा । इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः तमिन्द्र निर्ज्जहि गर्भेण सावरां सहेति ॥ २३ ॥

पदार्थ—(हिरण्मयी+अरणी) स्त्री पुरुषरूप जो सुवर्णवत् देदीप्यमान दो अरणी हैं (याभ्याम्+अश्विनौ+निर्मन्थताम्) जिनसे ये अहोरात्र रूपकाल सन्तानरूप अग्नि को मथा करते हैं (ते+तम्+गर्भम्+हवामहे) हे रम्भोरु ! तेरे उस गर्भ को मैं स्थापित करता हूं (दशमे+मासि+सूतवे) दशवें मास में सन्तान होने के लिये । (यथा+पृथिवी+अग्निगर्भा) जैसे अग्नि से पृथिवी गर्भवती है (यथा+इन्द्रेण+द्यौः+गर्भिणी) जैसे सूर्य से द्यौ गर्भिणी है (यथा+दिशाम्+गर्भः+वायु+एवम्+ते+गर्भम्+असौ+इति+दधामि) जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है वैसे ही हे वरारोहे ! यह मैं तेरा गर्भ स्थापित करता हूँ ॥ २२ ॥ (सोष्यन्तीम्+अद्भिः+अभ्युक्षति) प्रसवोन्मुखी भार्य्या को देख आगे के मन्त्रों को पढ़ जल से अभिषिक्त करे, मन्त्र ये हैं—(यथा+वायुः+पुष्करिणीम्+सर्वतः+समिङ्गयति) जैसे वायु तड़ाग को सब ओर से चलायमान करता है (एव+ते+गर्भः+एजतु) इसी प्रकार तेरा गर्भ चलायमान होवे (जरायुणा+सह+अवैतु) और गर्भ वेष्टन चर्म के साथ निकल आवे (इन्द्रस्य+अयम्+सार्गलः+सपरिश्रयः+व्रजः+कृतः) परमात्मा ने इन्द्र=जीवात्मा के लिये इस स्थान को सार्गल=अर्गला सहित और परिवेष्टन सहित बनाया है (इन्द्र ! तम्+निर्जहि) हे जीवात्मन् ! तू उस गर्भ को प्राप्त कर निकलजा और पश्चात् (गर्भेण+सह+सावराम्+इति) पश्चात् गर्भ के साथ मांसपेशी को भी निकालो ॥ २३ ॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कंसे पृषदाज्यं सन्नीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे । अस्योपसन्द्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा । मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान् स्विष्टं सुहुतं करोतु नः स्वाहेति ॥ २४ ॥

पदार्थ—(जाते+अग्निम्+उपसमाधाय+अङ्के+आधाय) जब सन्तान उत्पन्न हो उस समय अग्नि को प्रज्वलित कर अपत्य को गोदी में बैठा (कंसे+पृषदाज्यम्+सन्नीय) कांस-पात्र में दधिमिश्रित घृत रख (पृषदाज्यस्य+उपघातम्+जुहोति) उसको थोड़ा थोड़ा लेकर होम करे। मन्त्र ये हैं—(अस्मिन्+स्वे+गृहे+एधमानः+सहस्रम्+पुष्यासम्) हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से अपने गृह में पुत्र कलत्रादिकों के साथ वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सहस्रों मनुष्यों का मैं पोषण करूं । (अस्य+उपसन्द्याम्+प्रजया+च+पशुभिः+च+मा+छैत्सीत्) इस मेरे अपत्य के गृह में प्रजा और पशुओं के साथ धन सम्पत्ति का कदापि विच्छेद न हो । इतना पद स्वाहान्त एक आहुति देवे (मयि+प्राणान्+त्वयि+जुहोमि+स्वाहा) मुझ पिता में जो प्राण हैं उन्हें तुझ में पुत्र समर्पित करता हूँ इतना कहकर द्वितीय आहुति देवें (कर्म्मणा+यद्+अत्यरीरिचम्) हे भगवन् ! कर्म के द्वारा जो अधिक कर्म्म किया है (यद्वा+न्यूनम्+इह+अकरम्) अथवा न्यून कर्म्म किया है (स्विष्टकृत्+विद्वान्+अग्निः) परम शोभन इष्टप्रद परम ज्ञानी अग्निवत् देदीप्यमान परमात्मा (नः+तत्+स्विष्टम्+करोतु+स्वाहा) हमारे उस अतिरिक्त और न्यून कर्म्म को शोभनेष्टि युक्त और सुहुत करे ॥ २४ ॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधु घृतं सन्नीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति । भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्व्वं त्वयि दधामीति ॥ २५ ॥ अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६ ॥ अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७ ॥

पदार्थ—(अथ+अस्य+दक्षिणम्+कर्णम्+अभिनिधाय) हवन के पश्चात् सन्तान के दक्षिण कान को अपने मुख की ओर करके इसके कान में (वाग्+वाग्+इति+त्रिः) तीन बार वाग् वाग् इस पद को उच्चारण करे (अथ+दधि+मधु+घृतम्+सन्नीय+अनन्तर्हितेन+जातरूपेण+प्राशयति) तब दधि, मधु और घृत को मिला वस्त्वन्तर रहित अर्थात् शुद्ध सोने के चमस से अगले मन्त्रों को पढ़ कर उस मिश्रित दधि मधु घृत को चटावे १—भूस्ते दधामि, २—भुवस्ते दधामि, ३—स्वस्ते दधामि, ४—भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि इन चारों मन्त्रों से चार बार चटावे ॥ २५ ॥ (अथ+अस्य+नाम+करोति) अब इसका नाम करे (वेदः+असि+ इति) "वेदोऽसि" तू वेद है ऐसा नाम करे (तद्+अस्य+तद्+गुह्यम्+एव+नाम+भवति) सो यह नाम इसका गुप्त नाम होता है (अथ+एनम्+मात्रे+प्रदाय+स्तनम्+प्रयच्छति) पश्चात् अपनी गोदी से अपत्य को उसकी माता की गोदी में रख स्तन्य प्रदान करे और उस समय अपनी भार्य्या से यह कहे (यः+ते+स्तनः+शशयः) हे वरारोहे ! जो तेरा दुग्धस्थान बालक हितकारी है (यः+मयोभूः+यः+रत्नधा+यः+वसुविद्+सुदत्रः) जो कल्याणप्रद है जो दुग्धरूप महारत्न का धारण करने हारा है जो सम्पूर्ण वसु का निधान है और परम कल्याणप्रद है (सरस्वति+येन+विश्वा+वार्य्याणि+पुष्यसि) हे विदुषी देवी ! जिस स्तन से तू सम्पूर्ण वरणीय पदार्थ को पुष्ट किया करती है (तम्+इह+धातवे+अकः+इति) उस स्तन को सन्तान को पिलाने के लिये तू प्रस्तुत कर अर्थात् नीरोग पुष्टिकारक पदार्थों के सेवन से और नियम प्रतिपालन से उस पवित्र दुग्ध को बनाकर अपने सन्तान को पोसा कर ॥ २७ ॥
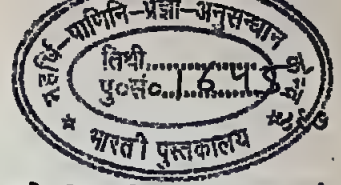
अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतो करदिति । तं वा एतमाहुरतिपिता वताभूरतिपितामहो वताभूः परमां वत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥ २८ ॥

पदार्थ—(अथ+अस्य+मातरम्+अभिमन्त्रयते) इसके पश्चात् पति जातक की माता को अभिमन्त्रण अर्थात् प्रशंसा करे । वह यह है—(इला+असि) इला=पृथिवी, हे वरारोहे ! जैसे पृथिवी नाना औषधियों को पैदा कर सब जीवों की रक्षा कर रही है वैसे ही आप सन्तान को पोषण करनेहारी हैं । (मैत्रावरुणि) हे मैत्रावरुणि ! आप मेरे गृह में मित्र ब्राह्मण, सुहृद् के समान स्नेहमयी और वरुण=न्यायकर्त्ता महाराज के सदृश न्यायकारिणी हैं (वीरे+वीरम्+अजीजनत्) हे वीरे ! आप (विशेषेण+ईरयति+दुष्टान्) दुष्ट दुराचारी कुमार्गियों को दूर करनेहारी हैं उस आपने सन्तान को उत्पन्न किया (सा+त्वम्+वीरवती+भव) वह आप अपने सन्तान से प्रशस्त वीरवती हो (या+अस्मान्+वीरवतः+अकरत् इति) जिसने हमको वीरवान् बनाया है । इस प्रकार मन्त्र सहित गर्भाधानादि कर्म्म करने से कौन फल होता है सो कहते हैं—(वत+आहुः+तम्+एतम्+अतिपिता+अभूः+वत+अतिपितामहः+अभूः) सन्तान की चेष्टा देख सब कोई वत=विस्मित होकर उस इस सन्तान के विषय में कहते हैं कि यह अतिपिता अर्थात् पिता के सब शुभ गुणों को अतिक्रमण करके महोत्कृष्ट गुणशाली हुआ है इसी प्रकार आश्चर्य से कहते हैं कि यह बालक अति पितामह अर्थात् पितामह से भी बढ़कर हुआ है (यः+यशसा+ब्रह्मवर्चसेन+वत+परमाम्+काष्ठाम+प्रापत्) आश्चर्य की बात है कि शोभा यश और ब्रह्मतेज से, यह शिशु परम काष्ठा को प्राप्त हुआ है (एवंविदः+ब्राह्मणस्य+यः+पुत्रः+जायते+इति) ऐसे ज्ञानी के जो पुत्र होता है उससे पिता भी प्रशस्त होता है ॥ २८ ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथ वंशः पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायानीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रः औपस्वतीपुत्रा-दौपस्वतीपुत्रः पराशरीपुत्रात् पराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात कौशिकीपुत्रः आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्रा-द्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात् पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्रा-द्वारर्कारुणीपुत्र आर्त्तभागीपुत्रादार्त्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः साङ्कृतीपुत्रात् साङ्कृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्ती-पुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः

पदार्थ—(अथ+वंशः) यह विद्या परम्परा से कैसे आई इस विषय को अब वर्णन करते हैं द्वितीय अध्याय के अन्त में भी इसी प्रकार का वंश कहा गया है यहां माता के नाम के साथ वंश कहा जाता है क्योंकि अव्यवहित पूर्व में स्त्री ही की प्रशंसा की गई है और स्त्रीजाति की प्रशंसा होनी भी समुचित है ॥

पौतिमाषी पुत्रने कात्यायनी पुत्र से विद्याप्राप्त की ।		कात्यायनी पुत्रने गौतमी पुत्र से
गौतमी पुत्रने भारद्वाजी पुत्रसे ,,	।	भारद्वाजी पुत्रने पाराशरी पुत्रसे
पाराशरी पुत्रने औपस्वती पुत्रसे ,,	।	औपस्वती पुत्रने पाराशरी पुत्रसे
पाराशरी पुत्रने कात्यायनी पुत्रसे ,,	।	कात्यायनी पुत्रने कौशिकी पुत्रसे
कौशिकी पुत्रने आलम्बी पुत्रसे और	}	वैयाघ्रपदी पुत्रने काण्वी पुत्रसे
वैयाघ्रपदी पुत्रसे ··· ···		और कापी पुत्रसे कापी पुत्रने ॥ १ ॥
आत्रेयी पुत्रसे	।	आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्र से
गौतमी पुत्रने भारद्वाजी पुत्र से	।	भारद्वाजीपुत्र ने पाराशरीपुत्र से
पाराशरीपुत्र ने वात्सीपुत्र से	।	वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्र से
पाराशरीपुत्रने वार्कारुणी पुत्रसे	।	वार्कारुणीपुत्रने वार्कारुणीपुत्र से
वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्र से	।	आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे
शौङ्गीपुत्रने सांकेतीपुत्रसे	।	सांकेतीपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे ।
आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे	।	आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्र से ।
जायन्तीपुत्र ने माण्डूकायनीपुत्र से	।	माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्र से ।

शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रोराथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात् कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात् प्राचीनयोगीपुत्रात् साञ्जीवीपुत्रात् साञ्जीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः॥ २ ॥ याज्ञवल्क्याद्याज्ञल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावती वाध्योगाज्जिह्वावान् वाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात् कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात् कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो-नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥ समानामासाञ्जीवीपुत्रात्साञ्जीवीपुत्रो माण्डूकायने-र्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात् कौत्सो महित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वाम-कक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बा-

माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्र से । शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्र से ।
राथीतरीपुत्र ने भालुकीपुत्र से । भालुकीपुत्र ने दो कौञ्चिकीपुत्रों से ।
दो कौञ्चिकीपुत्रों ने वैदभृतीपुत्र से । वैदभृतीपुत्र ने कार्शकेयीपुत्र से ।
कार्शकेयीपुत्र ने प्राचीनयोगीपुत्र से । प्राचीनयोगीपुत्र ने संजीवीपुत्र से
सांजीवीपुत्र ने प्राश्नीपुत्र आसुरीवासी से । प्राश्नीपुत्र ने आसुरायण से ।
आसुरायण ने आसुरी से । आसुरी ने ॥ २ ॥
याज्ञवल्क्य से । याज्ञवल्क्यने उद्दालक से ।
उद्दालक ने अरुण से । अरुण ने उपवेशि से ।
उपवेशि ने कुश्रि से । कुश्रि ने वाजश्रवा से ।
वाजश्रवा ने जिह्वावान् वाध्योग से । जिह्वावान् वाध्योग ने असित वार्षगण से
असित वार्षगणने हरितकश्यप से । हरितकश्यप ने शिल्पकश्यप से
शिल्पकश्यप ने कश्यप नैध्रुवि से । कश्यप नैध्रुविने वाक् से
वाक् ने अंभिणी से । अम्भिणी ने आदित्य से

ये शुक्ल यजु आदित्यप्रोक्त हैं वाजसनेय याज्ञवल्क्य के नाम से प्रकट किए जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापति से लेकर संजीपुत्र तक वंश समान है आगे पुनः इस क्रमसे जानना :—

माण्डवीपुत्र ने माण्डूकायनी से । माण्डूकायनि ने माण्डव्य से
माण्डव्य ने कौत्स से । कौत्स ने माहित्थि से ।
माहित्थि ने वामकक्षायण से । वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से ।
शाण्डिल्य ने वात्स्य से । वात्स्य ने कुश्रि से ।

यनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयम्भु ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥

कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से । याज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से ।
तुरकावषेय ने प्रजापति से । प्रजापति ने ब्रह्म से ।
वह ब्रह्म स्वयंभु है उस ब्रह्म को नमस्कार हो ॥ ४ ॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

षष्ठाध्यायः समाप्तः ।

ग्रन्थश्चायं समाप्तिमगात् ।

इति श्रीमत्काव्यतीर्थ शिवशङ्करशर्म्मविरचिते संस्कृतार्य्यभाषाभाष्ये षष्ठाऽध्यायभाष्यं समाप्तम् ।

इदं सम्पूर्णं भाष्यञ्च समाप्तम् ।

इति शुभं भूयात् ॥
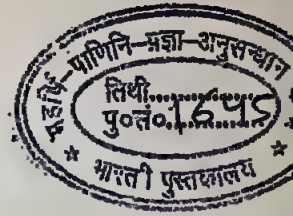
* ओ३म् *

छान्दोग्योपनिषद्भाष्य

इस महोपयोगी ग्रन्थ में अति प्राचीन अनेक ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियों के सम्वाद एवं विचार निम्नलिखित विविध गम्भीर विषयों पर विद्यमान हैं।

"यज्ञ सम्वर्गविद्या, सत्यता, ब्रह्मचर्य्यमहिमा, इन्द्रियशक्ति, पञ्चाग्निविद्या, ब्रह्म तत्त्वमसि, आत्मा, नाम, वाणी, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, धर्म्म के स्कन्ध, मुक्तात्माओं की दशा और शाण्डिल्य विद्यादि"।

वेदान्त के प्रेमी भलीभांति जानते हैं कि सम्पूर्ण वेदान्त छान्दोग्योपनिषद् से बड़ा सम्बन्ध रखता है। अर्थात् वेदान्त के जितने सूत्र हैं उनके उदाहरण प्रायः छान्दोग्योपनिषद् के वाक्य ही हैं। जो जिज्ञासु इस उपनिषद् को पढ़ वेदान्तशास्त्र को पढ़ें तो हम कह सकते हैं कि विना गुरु के वेदान्तशास्त्र को समझ सकेंगे और कोई सन्देह नहीं रहेगा।

इसमें प्रथम मूल (मोटे अक्षरों में), पदच्छेद, संस्कृत भाष्य (अन्वय सहित), अनुवाद (आर्य्यभाषा में), पदार्थ (अन्वय सहित आर्य्यभाषा में), भाष्याशय टिप्पणी (oot Note) और समीक्षा (गूढ़ विषयों पर मीमांसा) का क्रम रक्खा गया है।

ग्रन्थ रायल अठपेजी के १०२३ पृष्ठों पर सुन्दर अक्षरों में छपा है। सर्व साधारण के सुभीते के लिये मूल्य भी केवल १०) रु० मात्र रक्खा गया है।

१०) से अधिक के खरीददारों को वा अन्य १०) की पुस्तकों के साथ छान्दोग्योपनिषद्भाष्य खरीदने पर १२) रु० सैकड़ा कमीशन दिया जावेगा।

प्रबन्धकर्त्ता—

वैदिक-पुस्तकालय, अजमेर।

॥ ओ३म् ॥

आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है ।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार. सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है ।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है ।

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये ।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये ।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ।

७—सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ।

८—अविद्याका नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें ॥